भिक्षु-विचार ग्रन्थावली

ग्रन्थ : २

नव पदार्थ

(राजस्थानी 'नव पदारथ' कृति का विवेचनात्मक हिन्दी अनुवाद)

मूल रचयिता :

आचार्य भीखणजी

सटिप्पण अनुवादक :
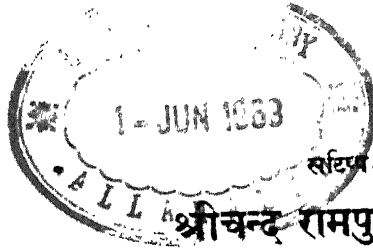
श्रीचन्द रामपुरिया, बी. कॉम., बी. एल.
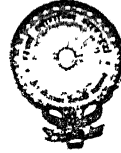
तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में प्रकाशित

प्रकाशक :
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता—१

卐

प्रथमावृत्ति :
सन् १९६१
वि० सं० २०१८

प्रति संख्या :
१५००

मुद्रक :
रेफिल आर्ट प्रेस
कलकत्ता—७

प्रकाशकीय

प्रस्तुत प्रकाशन स्वामीजी की एक विशिष्ट राजस्थानी पद्यकृति 'नवपदारथ' का हिन्दी अनुवाद और सटिप्पण विवेचन है।

मूल ग्रन्थ में जैनधर्म के आधारभूत नौ तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष का विशद विवेचन है। जैन तत्त्वों की मौलिक ज्ञान-प्राप्ति के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के बाद स्वामीजी का द्वितीय चरम-महोत्सव-दिवस भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी संवत् २०१८ के दिन पड़ता है तथा भाद्र शुक्ला नवमी संवत् २०१८ का दिन आचार्य तुलसीगणि के पट्टारोहण के यशस्वी पचीस वर्षों की सफल-सम्पूर्णता का दिन है। दोनों उत्सवों के इस संगम पर प्रकट हुआ यह प्रकाशन बड़ा सामयिक और अभिनन्दन स्वरूप है।

आशा है पाठक स्वामीजी की विशिष्ट कृति के इस विवेचनात्मक संस्करण का स्वागत करेंगे, एवं उसे प्राप्त कर ऐसे ही अध्ययन पूर्ण प्रकाशनों की प्रेरणा देंगे।

श्रीचन्द रामपुरिया
व्यवस्थापक
तेरापन्थ द्विशताब्दी साहित्य-विभाग

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता—१
भाद्र शुक्ला ५, सं० २०१८

प्राक्कथन

पाठकों के हाथों आद्यदेव आचार्य भीखणजी की एक सुन्दरतम कृति का यह सानुवाद संस्करण सौंपते हुए मनमें हर्ष का अतिरेक हो रहा है। आज से लगभग २० वर्ष पहले मैंने इसका सटिप्पण अनुवाद समाप्त किया था। वह 'स्वान्त: सुखाय' था।

एक बार कलकत्ता में चातुर्मास के समय मैं आचार्य श्री की सेवा कर रहा था, उस समय उनके मुखारविंद से शब्द निकले—"नव पदार्थ स्वामीजी की एक अनन्य सुन्दर कृति है, वह मुझे बहुत प्रिय है। इसका आद्योपान्त स्वाध्याय मैंने बड़े मनोयोग पूर्वक किया है।" यह सुन मेरा ध्यान अपने अनुवाद की ओर खिंच गया और उसी समय मैंने एक संकल्प किया कि अपने अनुवाद को आद्योपान्त अवलोकन कर उसे प्रकाशित करूँ।

द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में प्रकाशित होनेवाले साहित्य में उसका भी नाम प्रस्तुत हुआ और इस तरह कार्य को शीघ्र गति देने के लिए एक प्रेरणा मिली। जिस कार्य को बीस वर्ष पूर्व बड़ी आसानी के साथ सम्पन्न किया था, वही कार्य अब बड़ा कठिन ज्ञात होने लगा।

मैंने देखा स्वामीजी की कृति में स्थान-स्थान पर बिना संकेत आगमों के सन्दर्भ छिपे पड़े हैं और उसके पीछे गम्भीर-चर्चाओं का घोष है। यह आवश्यक था कि उन-उन स्थानों के छिपे हुए सन्दर्भों को टिप्पणियों में दिया जाय तथा चर्चाओं के हार्द को भी खोला जाय। इस उपक्रम में प्राय: सारी टिप्पणियाँ पुन: लिखने की प्रेरणा स्वत: ही जागृत हुई।

कार्य में विलम्ब न हो, इस दृष्टि से एक ओर छपाई का कार्य शुरू किया दूसरी ओर अध्ययन और लेखन का। कलकत्ते में बैठकर सम्पादन कार्य करने में सहज कठिनाइयाँ थीं ही। जो परिश्रम मुझ से बन सका, उसका साकार रूप यह है। कह नहीं सकता यह स्वामीजी की इस गम्भीर कृति के अनुरूप हुआ है या नहीं।

तुलनात्मक अध्ययन को उपस्थित करने की दृष्टि से मैंने प्रसिद्ध श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आचार्यों के मतों को भी प्रचुर प्रमाण में प्रस्तुत किया है। और स्वामीजी का उन विचारों के साथ जो साम्य अथवा वैषम्य मुझे मालूम दिया, उसे स्पष्ट करने का भी प्रयास किया है। स्वामीजी आगमिक पुरुष थे। आगमों का गम्भीर एवं तलस्पर्शी

अध्ययन उनकी एक बड़ी विशेषता थी। इस कृति में वह अध्ययन नवनीत का तरह नितरता हुआ दिखाई देगा।

नव पदार्थों के सम्बन्ध में नाना प्रकार की विचित्र मान्यताएँ जैनों में घर कर गई थीं। स्वामीजी ने नव पदार्थ सम्बन्धी आगामिक विचार-धाराओं को उपस्थित करते हुए उनके विशुद्ध स्वरूप का विवेचन इस कृति में किया है। वह अपने-आप में अनन्य है।

इस कृति में कुल बारह ढालें हैं। प्रत्येक का रचना-समय तथा दोहों और गाथाओं की संख्या इस प्रकार है :-

पदार्थ नाम	ढाल-संख्या	दोहा	गाथा	रचना-काल
१—जीव	१	५	६२	श्री दुवारा, १८५५ चैत्र वदी १३
२—अजीव	१	१	६३	श्री दुवारा, १८५५ वैशाख बदी ५ बुधवार
३—पुण्य	२	५	६०	श्री दुवारा १८५५ जेठ बदी ६ सोमवार
		७	६१	कोठारया १८४३ कार्तिक सुदी ४ गुरुवार
४—पाप	१	५	५५	श्री दुवारा १८५५ जेठ सुदी ३, गुरुवार
५—आस्रव	२	५	७४	पाली १८५५ आश्विन सुदी १२
		५	५६	" " १४
६—संवर	१	४	५६	नाथदुवारा १८५६ फाल्गुन बदी १३ शुक्रवार

७—निर्जरा	२	१	६६	नाथ दुवारा १८५६ फाल्गुन शुक्ला १० गुरुवार
		७	५७	नाथ दुवारा १८५६ चैत्र बदी २ गुरुवार
८—बंध	१	९	३०	नाथ दुवारा १८२६ चैत्र बदी १२ शनिवार
९—मोक्ष	१	५	२०	नाथ दुवारा १८५६ चैत्र सुदी ४ शनिवार
१०—जीव-अजीव	१			
	१३	५९	५६६	

उपर्युक्त तालिका को देखने से स्पष्ट है कि पुण्य की दूसरी ढाल जो सं० १८४३ में विरचित है, वह संलग्न कृति के साथ बाद में जोड़ी गयी है। यही बात बारहवीं ढाल 'जीव-अजीव' के विषय में भी कही जा सकती है। यह संयोजन कार्य स्वामीजी के समय में ही हो गया मालूम देता है।

एक-एक पदार्थ के विवेचन में स्वामीजी ने कितने प्रश्न व मुद्दों को स्पर्श किया है, यह आरंभ की विस्तृत विषय-सूची से जाना जा सकेगा।

टिप्पणियों की कुल संख्या २४४ है। उनकी भी विषय-सूचि एक-एक ढाल के वस्तु-विषय के साथ दे दी गई है।

टिप्पणियां प्रस्तुत करते समय जिन-जिन पुस्तकों का अवलोकन किया गया अथवा जिनसे उद्धरण आदि लिये गये हैं उनकी तालिका भी परिशिष्ट में दे दी गयी है। उन पुस्तकों के लेखक, अनुवादक और प्रकाशक—इन सबके प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस पुस्तक का सम्पादन मेरे लिए एक पहाड़ की चढ़ाई से कम नहीं रहा। फिर भी किसी के अनुग्रह ने मुझे निभा लिया।

स्वामीजी की अनन्यतम श्रेष्ठ और आचार्य श्री की अत्यन्त प्रिय यह कृति आचार्य श्री के धवल-समारोह के अवसर पर जनता तक पहुँचा सका, इसीमें मेरे आनन्द का अतिरेक है। दूर बैठे मुझ जैसे क्षुद्र की यह अनुवाद-कृति इस महान् युग-पुरुष के प्रति मेरी अनन्यतम श्रद्धा का एक प्रतीक मात्र है।

कलकत्ता — श्रीचन्द रामपुरिया

भाद्र शुक्ला १, २०१८

अनुक्रमणिका

अजीव पदार्थ के विवेचन की प्रतिज्ञा (दो० १); पांच अजीव द्रव्यों के नाम (गा० १); प्रथम चार अरूपी, पुद्गल रूपी (गा० २); प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व (गा० ३); धर्म, अधर्म, आकाश अस्तिकाय क्यों ? (गा० ४-६); धर्म, अधर्म, आकाश का क्षेत्र-प्रमाण (गा० ७); तीनों शाश्वत द्रव्य (गा० ८); तीनों के गुण-पर्याय अपरिवर्तनशील (गा० ९); तीनों निष्क्रिय द्रव्य (गा० १०); धर्मास्तिकाय का लक्षण और उसकी पर्याय-संख्या (गा० ११); अधर्मास्तिकाय का लक्षण और उसकी पर्याय-संख्या (गा० १२); आकाशास्तिकाय का लक्षण और उसकी पर्याय-संख्या (गा० १३); तीनों के लक्षण (गा० १४); धर्मास्तिकाय के स्कंध, देश, प्रदेश (गा० १५-१६); धर्मास्तिकाय कैसा द्रव्य है ? (गा० १७); परमाणु की परिभाषा (गा० १८); प्रदेश के माप का आधार परमाणु (गा० १९-२०); काल के द्रव्य अनन्त हैं (गा० २१-२२); काल शाश्वत अशाश्वत का न्याय (गा० २३-२६); काल का क्षेत्र (गा०२७); काल के स्कंध, देश, प्रदेश, परमाणु क्यों नहीं ? (गा० २८-३४); जघन्य काल (गा० ३५); काल के भेद (गा०३६-३८); काल के भेदः तीनों काल में एक से (गा० ३८); काल-क्षेत्र (गा० ३९-४०); काल पयार्य : अनन्त (गा० ४०-४२); पुद्गल : रूपी द्रव्य (गा० ४३); द्रव्य भाव पुद्गल की शाश्वतता-अशाश्वतता (गा० ४४-४५); पुद्गल के भेद (गा० ४६); परमाणु (गा० ४७-४८); उत्कृष्ट स्कंध : लोक-प्रमाण (गा० ४९-५०); पुद्गल : गतिमान द्रव्य (गा० ५१); पुद्गल के भेदों की स्थिति (गा० ५२); पुद्गल का स्वभाव (गा० ५३); भाव पुद्गल : विनाशशील (गा० ५४); भाव पुद्गल के उदाहरण (गा० ५५-५८); द्रव्य पुद्गल की शाश्वतता : भाव पुद्गल की विनाशशीलता (गा० ५९-६२); रचना-स्थान और काल (गा० ६३)।

टिप्पणियाँ

[१—अजीव पदार्थ पृ० ६६; २—छः द्रव्य पृ० ६७; ३—अरूपी-रूपी अजीव द्रव्य पृ० ६८; ४— प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व पृ० ६८; ५—पंच अस्तिकाय पृ० ६९; ६—धर्म, अधर्म, आकाश का क्षेत्र-प्रमाण पृ० ७२; ७—धर्म, अधर्म, आकाश शाश्वत और स्वतन्त्र द्रव्य पृ० ७३; ८—धर्म, अधर्म, आकाश विस्तीर्ण निष्क्रिय द्रव्य है पृ० ७४; ९—धर्म, अधर्म और आकाश के लक्षण और पर्याय पृ० ७६; १०—धर्मास्तिकाय के स्कंध, देश, प्रदेश-भेद पृ० ७९; ११—धर्मास्तिकाय विस्तृत द्रव्य है पृ० ८१; १२—धर्मास्तिकाय आदि के माप का आधार परमाणु है पृ० ८१; १३—धर्मादि की प्रदेश-संख्या पृ० ८२; १४—काल द्रव्य का

बन्ध-हेतु (गा० २७-२८); उच्च गोत्र और नीच गोत्र कर्म के बन्ध-हेतु (गा० २९-३०); ज्ञानावरणीय आदि चार पाप कर्म (गा० ३१); वेदनीय आदि चार पुण्य कर्मों की करनी निरवद्य है (गा० ३२); भगवती ८.९ का उल्लेख द्रष्टव्य (गा० ३३); कल्याणकारी कर्म-बन्ध के दस बोल निरवद्य हैं (गा० ३४-३७); नौ पुण्य (गा० ३८); पुण्य के नवों बोल निरवद्य व जिन-आज्ञा में हैं (गा० ३९); नवों बोल क्या अपेक्षा रहित हैं ? (गा० ४०-४४); समुच्चय बोल अपेक्षा रहित नहीं (गा० ४५-५४); नौ बोलों की समझ (गा० ४८-५४); सावद्य करनी से पाप का बन्ध होता है (गा० ५५-५८); पुण्य और निर्जरा की करनी एक है (गा० ५९); पुण्य की ९ प्रकार से उत्पत्ति ४२ प्रकार से भोग (गा० ६०); पुण्य अवाञ्छनीय मोक्ष : वाञ्छनीय (गा० ६१-६३), रचना स्थान और काल (गा० ६४)।

टिप्पणियाँ

[१- पुण्य के हेतु और पुण्य का भोग पृ० २००; २—पुण्य की करनी में निर्जरा और जिन-आज्ञा की नियमा पृ० २०१; ३—'साधु के सिवा दूसरों को अन्नादि देने से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बंध होता है' इस प्रतिपादन की अयौक्तिकता पृ० २०२; ४ पुण्य-बंध के हेतु और उसकी प्रक्रिया पृ० २०३—पुण्य शुभ-योग से उत्पन्न होता है : शुभ योग से निर्जरा होती है और पुण्य सहज रूप से उत्पन्न होता है : जहाँ पुण्य होगा वहाँ निर्जरा अवश्य होगी : सावद्य करनी से पुण्य नहीं होता : पुण्य की करनी में जिन आज्ञा है; ५—अशुभ अल्पायुष्य और शुभ दीर्घायुष्य के बन्ध-हेतु पृ० २०९; ६—अशुभ-शुभ दीर्घायुष्य कर्म के बन्ध-हेतु पृ० २१०; ७—अशुभ शुभ आयुष्य कर्म का बंध और भगवती सूत्र पृ० २११; ८—वंदना से निर्जरा और पुण्य दोनों पृ० २११; ९—धर्मकथा से निर्जरा और पुण्य दोनों पृ० २१२; १०—वैयावृत्य से निर्जरा और पुण्य दोनों पृ० २१३; ११—तीर्थंकर नाम कर्म के बंध-हेतु पृ० २१३; १२—निरवद्य सुपात्र दान से मनुष्य-आयुष्य का बंध पृ० २१९; १३—साता-असाता वेदनीयकर्म के बंध-हेतु पृ० २२०; १४—कर्कश अकर्कश वेदनीय कर्म के बंध-हेतु पृ० २२२; १५—अकल्याणकारी-कल्याणकारी कर्मों के बंध-हेतु पृ० २२२; १६—साता-असाता वेदनीय कर्म के बंध-हेतु विषयक अन्य पाठ पृ० २२४; १७—नरकायुष्य के बंध-हेतु पृ० २२४; १८—तिर्यञ्चायुष्य के बंध-हेतु २२५; १९—मनुष्यायुष्य के बन्ध-हेतु पृ० २२५; २०—देवायुष्य के बंध-हेतु पृ० २२६; २१—शुभ-अशुभ नाम कर्म के बंध-हेतु पृ० २२७; २२—उच्च-नीच गोत्र के बंध-हेतु पृ० २२८; २३—ज्ञानावरणीय आदि चार पाप कर्मों के बन्ध-हेतु पृ० २२९; २४—वेदनीय आदि पुण्य

टिप्पणियाँ

टिप्पणियाँ

[१—आस्रव पदार्थ और उसका स्वभाव पृ० ३६८; २—आस्रव शुभ अशुभ परिणामानुसार पुण्य अथवा पाप का द्वार है पृ० ३७०; ३—आस्रव जीव है पृ० ३७१; ५—आस्रवों की संख्या पृ० ३७२; ६—आस्रवों की परिभाषा पृ० ३७३; ७—आस्रव और संवर का सामान्य स्वरूप पृ० ३८६; ८—आस्रव कर्मों का कर्त्ता, हेतु, उपाय है पृ० ३८७; ९—प्रतिक्रमण विषयक प्रश्न और आस्रव पृ० ३८७; १०—प्रत्याख्यान विषयक प्रश्न और आस्रव पृ० ३८८; ११—तालाब का दृष्टान्त और आस्रव पृ० ३८८; १२—मृगापुत्र और आस्रव-निरोध पृ० ३८९; १३—पिहितास्रव के पाप का बन्ध नहीं होता पृ० ३८९; १४—पंचास्रव संवृत भिक्षु महा अनगार पृ० ३९०; १५—मुक्ति के पहले योगों का निरोध पृ० ३९०; १६—प्रश्नव्याकरण और आस्रवद्वार पृ० ३९१; १७--आस्रव और प्रतिक्रमण पृ० ३९२; १८--आस्रव और नौका का दृष्टान्त पृ० ३९३; १९—आस्रव विषयक कुछ अन्य संदर्भ पृ० ३३४; २०—आस्रव जीव या अजीव पृ० ३९६; २१—आस्रव जीव परिणाम है अतः जीव है पृ० ४०१; २२—जीव अपने परिणामों से कर्मों का कर्त्ता है अतः जीव-परिणाम स्वरूप आस्रव जीव है पृ० ४०१; २३—आचाराङ्ग में अपनी ही क्रियाओं से जीव कर्मों का कर्त्ता कहा गया है पृ० ४०४; २४—योगास्रव जीव कहा गया है पृ० ४०५; २५—भावलेश्या आस्रव है, जीव है अतः सर्व आस्रव जीव हैं पृ० ४०६; २६—मिथ्यात्वादि जीव के उदय निष्पन्न भाव हैं पृ० ४०६; २७—योग, लेश्यादि जीव परिणाम हैं अतः योगास्रव आदि जीव हैं पृ० ४०७; २८—आस्रव जीव-अजीव दोनों का परिणाम नहीं पृ० ४०७; २९—मिथ्यात्व आस्रव पृ० ४०९; ३०—आस्रव और अविरति अशुभ लेश्या के परिणाम पृ० ४०९; ३१—जीव के लक्षण अजीव नहीं हो सकते पृ० ४१०; ३२—संज्ञाएँ अरूपी हैं अतः आस्रव अरूपी है पृ० ४१०; ३३—अध्यवसाय आस्रव रूप हैं पृ० ४१०, ३४—ध्यान जीव के परिणाम हैं पृ० ४११; ३५—आस्रव को अजीव मानना मिथ्यात्व है पृ० ४१२; ३६—आस्रव जीव कैसे ? पृ० ४१२; ३७—आस्रव और जीव के प्रदेशों की चंचलता पृ०४१३; ३८—योग पारिणामिक और उदयभाव है अतः जीव है पृ० ४१९; ३९—निरवद्य योग को आस्रव क्यों माना जाता है ? पृ० ४२०; ४०—सर्व सांसारिक कार्य जीव परिणाम हैं पृ० ४२१; ४१—जीव आस्रव और कर्म पृ० ४२२; ४२—मोहकर्म के उदय से होनेवाले सावद्य कार्य योगास्रव हैं पृ० ४२४; ४३—दर्शन मोहनीयकर्म और मिथ्यात्व आस्रव पृ० ४२५; ४४—आस्रव रूपी नहीं अरूपी है पृ० ४२५]

आस्रव कर्मद्वार हैं, कर्म नहीं (दो० १-२); कर्म रूपी है, कर्मद्वार नहीं (दो० ३-४); बीसों आस्रव जीव-पर्याय हैं (दो०५); मिथ्यात्व आस्रव (गा० १); अविरति आस्रव (गा० २); प्रमाद आस्रव (गा० ३); कषाय आस्रव (गा० ४); योग आस्रव (गा० ५); प्राणातिपात आस्रव (गा० ६); मृषावाद आस्रव (गा० ७); अदत्तादान आस्रव (गा० ८); अब्रह्मचर्य आस्रव (गा० ९) परिग्रह आस्रव (गा० १०); पंचेन्द्रिय आस्रव (गा० ११-१३); मन-वचन-काय-प्रवृत्ति आस्रव (गा० १४-१५); भंडोपकरण आस्रव (गा० १६); सूची-कुशाग्र सेवन आस्रव (गा० १७); भावयोग आस्रव है, द्रव्य योग नहीं (गा० १८); कर्म चतुस्पर्शी हैं और योग अष्टस्पर्शी, अतः कर्म और योग एक नहीं (गा० १९-२०); आस्रव एकान्त सावद्य (गा० २१); योग आस्रव और योग व्यापार सावद्य-निरवद्य दोनों हैं (गा० २२); बीस आस्रवों का वर्गीकरण (गा० २३-२५); कर्म और कर्त्ता एक नहीं (गा० २६); आस्रव और १८ पाप स्थानक (गा० २७-३६); आस्रव जीव-परिणाम हैं, कर्म पुद्गल परिणाम (गा० ३७); पुण्य-पाप कर्म के हेतु (गा० ३८-४६); असंयम के १७ भेद आस्रव हैं (गा० ४७); सर्व सावद्य कार्य आस्रव हैं (गा० ४८); संज्ञाएँ आस्रव हैं (गा० ४९); उत्थान, कर्म आदि आस्रव हैं (गा० ५०-५१); संयम, असंयम, संयमासंयम आदि तीन-तीन बोल क्रमशः संवर, आस्रव और संवरास्रव हैं (गा० ५२-५५); आस्रव संवर से जीव के भावों की ही हानि-वृद्धि होती हैं (गा० ५६-५८); रचना-स्थान और समय (गा० ५९)।

टिप्पणियाँ

[१—आस्रव के विषय में विसंवाद पृ० ४४६; २—मिथ्यात्वादि आस्रवों की व्याख्या पृ० ४४६; ३—प्राणातिपात -आस्रव पृ० ४४६; ४—मृषावाद आस्रव पृ० ४४८; ५—अदत्तादान आस्रव पृ० ४४९; ६—मैथुन आस्रव पृ० ४४९, ७—परिग्रह आस्रव पृ० ४५०, ८—पंचेन्द्रिय आस्रव पृ० ४५२—श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव : चक्षुरिन्द्रिय आस्रव : घ्राणेन्द्रिय आस्रव, : रसनेन्द्रिय आस्रव, : स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव; ९—मन योग, वचन योग और काय योग पृ० ४५४—तीन योगों से भिन्न कार्मण योग है, वही पाँचवा आस्रव है, प्रवर्तन योग से निवर्तन योग अन्य है, शुभ योग संवर और चारित्र है आदि का खण्डन १०—भंडोपकरण आस्रव पृ० ४५९; ११—सूची-कुशाग्रह आस्रव पृ० ४५९; १२—द्रव्य योग, भाव योग पृ० ४६०; १३—द्रव्य योग अष्टस्पर्शी हैं और कर्म चतुस्पर्शी पृ० ४६२; १४—आस्रवों के सावद्य-निरवद्य का प्रश्न पृ० ४६३; १५—स्वाभाविक आस्रव पृ० ४६४; १६—पाप स्थानक और आस्रव पृ० ४६४; १७—अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान

टिप्पणियाँ

टिप्पणियाँ

शुद्धि और वृद्धि

१—पृ० ३६ प्रथम अनुच्छेद, द्वितीय पंक्ति 'समदृष्टि, सममिथ्यादृष्टि' के स्थान में 'मिथ्यात्वी, अकेवली' करें।

२—पृ० ३६ द्वितीय अनुच्छेद 'मोहनीश' के स्थान में 'मोहनीय' करें।

३—पृ० १५१ पा० टि० १ में '६' का अङ्क हटावें

४—पृ० १५१ पा०टि० २ में '६' का अङ्क हटावें

५—पृ० २०३ अंतिम अनुच्छेद, द्वितीय पंक्ति 'काय योग' के स्थान में 'वचन योग' करें।

६—पृ० २१८ प्रथम पंक्ति 'अ' के स्थान में 'अर्थ' करें।

७—पृ० २२१ चतुर्थ पंक्ति 'परजूण' के स्थान में 'परजूरण' करें।

८—पृ० २२१ षष्ट पंक्ति 'जूण' के स्थान में 'जूरण' करें।

९—पृ० २६१ गा० ६ द्वितीय पंक्ति में 'सुनने' के बाद 'आदि' बैठावें।

१०—पृ० २६५ गा० २३-५ पंचम पंक्ति में 'उपशम' के स्थान में 'क्षयोपशम करें।

११—पृ० २६५ गा० २६ द्वितीय पंक्ति में 'उत्कृष्ट' के बाद 'प्रत्याख्यान और उससे कुछ कम' जोड़ें।

१२—पृ० ३२६ पंक्ति ५ 'भोगान्तराय' के बाद 'उपभोगान्तराय' और जोड़ें।

१३—पृ० ४३१ गा० ६ पंक्ति तीसरी में ४; हटा दें।

१४—पृ० ४६७ गा० २६ में 'ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें' के स्थान में 'बारहवें, तेरहवें तथा चौदहवें' करें।

१५—पृ० ५५५ गा० १३ दूसरी पंक्ति में 'अज्ञान' के स्थान में 'ज्ञान' करें।

१६—पृ० ५७२ अन्तिम पंक्ति 'पशु' के स्थान में 'पुरुष' करें।

१७—पृ० ६०५ गा० ५० प्रथम पंक्ति में 'और समदृष्टि श्रावक' के स्थान में 'श्रावक और सम्यक् दृष्टि' करें

१८—पृ० ६११ अन्तिम पंक्ति में 'के' के बाद 'नहीं' शब्द जोड़ें।

नव पदार्थ

: १ :

जीव पदारथ

दुहा

१—नमूं वीर सासण धणी, गणधर गोतम सांम।
तारण तिरण पुरषां तणां, लीजे नित प्रत नांम॥

२—त्यां जीवादिक नव पदारथ तणो, निरणो कीयो भांन भांन।
त्यांनें हलुकर्मी जीव ओलखे, पूरी मन री खांन॥

३—जीव अजीव ओलख्यां विनां, मिटे नहीं मन रो भर्म।
समकत आयां विण जीव नें, रुके नहीं आवतां कर्म॥

४—नव ही पदारथ जू जूआ, जथातथ सरदे जीव।
ते निश्चे समदिष्टी जीवड़ा, त्यां दीधी मुगत री नींव॥

५—हिवे नव ही पदारथ ओलखायवा, जूआ जूआ कहूं छूं भेद।
पहिलां ओलखाऊं जीव नें, ते सुणजो आंण उमेद॥

ढाल : १

[विना रा भाव सुण सुण गुंजे]

१—सासतो जीव दरब साख्यात, कदे घटे नहीं तिलमात।
तिणरा असंख्यात प्रदेस. घटे बधे नहीं लवलेस॥

: १ :

जीव पदार्थ

दोहा

१—जिन-शासन के अधिपति श्री वीर प्रभु[1] को नमस्कार करता हूँ तथा गणधर गौतम[2] स्वामी को भी। इन तरण-तारण पुरुषों का प्रति दिन स्मरण करना चाहिए।

आदि मङ्गल

२—इन पुरुषों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से जीव आदि नवों पदार्थों[3] का स्वरूप-निरूपण किया है। हलुकर्मी जीव इन नव पदार्थों की पूरे मनोयोग पूर्वक ओलख (पहचान) करते हैं।

नव पदार्थ और सम्यकत्व

३—जीव-अजीव की ओलख (पहचान) हुए बिना मन का भ्रम नहीं मिटता; समकित (सम्यकत्व)[4] आए बिना जीव के नये कर्मों का संचार नहीं रुकता।

४—जो प्राणी नव ही पदार्थों में से प्रत्येक में यथातथ्य श्रद्धा रखते हैं, वे निश्चय ही समदृष्टि जीव हैं और उन्होंने मुक्ति की नींव डाल दी।

५—अब नव ही पदार्थ की पहचान के लिये उनके भिन्न-भिन्न स्वरूप बतलाता हूँ। पहले जीव पदार्थ[5] की पहचान कराता हूँ। सहर्ष सुनना।

ढाल : १

१—जीव द्रव्य प्रत्यक्ष शाश्वत है। उसकी अनन्त संख्या कभी घटती नहीं। यह असंख्यात प्रदेशी है। इसके असंख्यात प्रदेशों में तिलमात्र—लेशमात्र भी घट-बढ़ नहीं होती।

द्रव्य जीव : भाव जीव

२—तिणसूं दरबे कह्यो जीव एक, भाव जीव रा भेद अनेक।
तिणरो बहोत कह्यो विसतार, ते बुधवंत जाणे विचार॥

३—भगोती बीसमां सतक मांय, बीजे उदेशे कह्यो जिणराय।
जीव रा तेवीस नांम, गुण निपन कह्या छै तांम॥

४—जीवे[1]* ति वा जीव रो नांम, आउखा नें बले जीवे ताम।
ओ तो भावे जीव संसारी, तिणनें बुधवंत लीजो विचारी॥

५—जीवत्थिकाय[2] जीव रो नांम, देह धरे छै तेह भणी आंम।
प्रदेसां रा समूह ते काय, पुदगल रा समूह भेले छै ताय॥

६—सास उसास लेवे छै तांम, तिणसूं पाणे[3] ति वा जीव रो नांम।
भूए[4] ति वा कह्यो इण न्याय, सदा छै तिहुं काल रे मांय॥

७—सत्ते[5] ति वा कह्यो इण न्याय, सुभासुभ पोते छै नाय।
विन्नू[6] ति वा विषे रो जांण, सबदादिक लीया सर्व पिछांण॥

८—वेया[7] ति वा जीव रो नांम, सुख दुख वेदे छै ठांम ठांम।
ते तो चेतन सरूप छै जीव, पुदगल रो सवादी सदीव॥

९—चेया[8] ति वा जीव रो नांम, पुदगल नी रचणा करे तांम।
विवध प्रकारे रचे रूप, ते तो भूंडा ने भला अनूप॥

---

*ये अङ्क क्रमशः जीव के २३ नामों के सूचक हैं।

१०—जेया[९] ति वा नांम श्रीकार, कर्म रिपू नों जीपणहार।
तिणरो पराक्रम सकत अनंत, थोडा में करे करमां रो अन्त॥

११—आया[१०] ति वा नाम इण न्याय, सर्व लोक फरस्यो छै ताय।
जन्म मरण कीया ठांम ठांम, कठे पाम्यो नहीं आरांम॥

१२—रंगणे[११] ति वा नाम मदमातो, राग धेष रूप रंग रातो।
तिण सूं रहे छै मोह मतवालो, आत्मा नें लगावे कालो॥

१३—हिंडुए[१२] ति वा जीव रो नांम, चिहूं गति मांहें हींड्यो छै ताम।
कर्म हिलोलें ठांम ठांम, कठे पाम्यो नहीं विसराम॥

१४—पोग्गले[१३] ति वा जीव रो नांम, पुदगल ले ले मेल्या ठांम ठांम।
पुदगल मांहें रचे रह्यो जीव, तिणसूं लागी संसार री नींव॥

१५—माणवे[१४] ति वा जीव रो नांम, नवो नहीं सासतो छै तांम।
तिणरी परजा तो पलटे जाय, द्रव्य तो ज्यूं रो ज्यूं रहे ताय॥

१६—कत्ता[१५] ति वा जीव रो नांम, करमां रो करता छै तांम।
तिणसूं तिणनें कह्यो छै आश्रव, तिणसूं लागे छै पुदगल दरब॥

१७—विकत्ता[१६] ति वा नाम इण न्याय, करमां नें विधूणे छै ताय।
आ निरजरा री करणी अमांम, जीव उजलो छै निरजरा तांम॥

१०—जेता : कर्म रूपी शत्रुओं को जीतने वाला होने से [illegible] नाम है; जीव का पराक्रम [illegible] शक्ति (वीर्य) अनन्त है जिससे अल्प में ही [illegible] कर्मों का अन्त ला सकता है।

११—आत्मा : यह नाम इसलिये है कि जीव ने [illegible] जन्म-मरण किया है। नाना जन्मान्तर करते हुए इसने सर्व लोक का स्पर्श किया है। किसी भी जगह इसे विश्राम नहीं मिला।

१०-आत्मा

१२—रंगण : जीव राग द्वेष रूपी रंग में रंगा रहता है और मोह में मतवाला रहकर आत्मा को कलंकित करता है इससे इसका नाम रंगण है।

११-रंगण

१३—हिडुक : कर्म रूपी झूलने में बैठकर जीव चारों गतियों में झूलता रहा है। कहीं भी विश्राम नहीं पाता। इससे जीव का नाम हिडुक है।

१२-हिडुक

१४—पुद्गल : पुद्गलों को (आत्म-प्रदेशों में) जगह-जगह एकत्रित कर रखने से जीव का नाम पुद्गल है। पुद्गल में लिप्त रहने से ही संसार की नींव लगी है।

१३-पुद्गल

१५—मानव : जीव कोई नया नहीं परन्तु शाश्वत है इसलिये उसका नाम मानव है। जीव की पर्याय पलट जाती है परन्तु द्रव्य से वह वैसे-का-वैसा रहता है।

१४-मानव

१६—कर्त्ता : कर्मों का कर्त्ता उपार्जन करने वाला होने से जीव का नाम कर्त्ता है। कर्मों का कर्त्ता होने से ही जीव को आस्रव कहा गया है। इस कर्तृत्व के कारण ही जीव के पुद्गल द्रव्य लगता रहता है।

१५-कर्त्ता

१७—विकर्त्ता : कर्मों को बिखेरता है इसलिये विकर्त्ता नाम है। यह कर्म बिखेरना ही निर्जरा की करनी है। जीव का (अंश रूप) उज्ज्वल होना निर्जरा है।

१६-विकर्त्ता

१८—जए[१७] ति वा नांम तणो विचार, अति हि गमन तणो करणहार।
एक समे लोकान्त लग जाय, एहवी सकत सभाविक पाय॥

१९—जंतु[१८] ति वा जीव रो नांम, जन्म पाम्यो छै ठांम ठांम।
चोरासी लख जोनि रे मांहि, उपज्यो ने निसर गयो ताहि॥

२०—जोणी[१९] ति वा जीव कहिवाय, पर नो उत्पादक इण न्याय।
घट पट आदि वस्त अनेक, उपजावे निज सुविवेक॥

२१—सयंभू[२०] ति वा जीव रो नाम, किण हि निपजायो नहीं नाम।
ते तो छै द्रव्य जीव सभावे, ते तो कदे नहीं विललावे॥

२२—ससरीरी[२१] ति वा नांम एह, सरीर रे अंतर तेह।
सरीर पाछे नांम धरायो, कालो गोरादिक नांम कहायो॥

२३—नायए[२२] ति वा ते कर्मां रो नायक, निज सुख दुख रो छै दायक।
तथा न्याय तणो करणहार, ते तो बोले छै वचन विचार॥

२४—अन्तरप्पा[२३] ते जीव रो नांम, सर्व सरीर व्यापे रह्यो तांम।
लोलीभूत छै पुदगल मांहि, निज सरूप दबे रह्यो त्यांही॥

२५—द्रव्य तो जीव सासतो एक, तिणरा भाव कह्या छै अनेक।
भाव ते लखण गुण परज्याय, ते तो भावे जीव छै ताय॥

२६—भाव तो पांच श्री जिण भाख्या, त्यांरा सभाव जूजूआ दाख्या।
उदें उपसम नें खायक पिछांणो, खय उपसम परिणांमिक जांणो॥

१८— जगत् : जीव में एक समय में लोकान्त तक जाने की स्वाभाविक शक्ति पायी जाती है। इस प्रकार अत्यन्त शीघ्र गति से गमन करने वाला होने से जीव को 'जगत्' कहा गया है। — १७-जगत्

१९—जंतु : जीव जगह-जगह जन्मा है। चौरासी लाख योनियों में वह उत्पन्न हुआ और वहाँ से निकला है। इसलिए इसका नाम जंतु है। — १८-जन्तु

२०—योनि : जीव अन्य वस्तुओं का उत्पादक है। अपने बुद्धि-कौशल से वह घट, पट आदि अनेक वस्तुओं की रचना करता है। इससे 'योनि' कहलाता है। — १९-योनि

२१—स्वयंभूत : जीव किसी का उत्पन्न किया हुआ नहीं है। इसी से इसका नाम स्वयंभूत है। जीव स्वाभाविक द्रव्य है। वह कभी विलय को प्राप्त नहीं होता। — २०-स्वयंभूत

२२—सशरीरी : शरीर में रहने से जीव का नाम सशरीरी है। काले, गोरे आदि की संज्ञा शरीर को लेकर ही है। — २१-सशरीरी

२३—नायक : कर्मों का नायक होने से—अपने सुख-दुःख का स्वयं उत्तरदायी होने से जीव का नाम नायक है। जीव न्याय का करने वाला है, विचार कर बात बोलने वाला है। — २२-नायक

२४—अन्तरात्मा : समस्त शरीर में व्याप्त रहने से जीव अन्तरात्मा कहलाता है। जीव पुद्गलों में लोलीभूत—लिप्त है जिससे उसका (असली) स्वरूप दब रहा है। — २३-अन्तरात्मा

२५—द्रव्य जीव शाश्वत और एक है। भगवान ने उसके भाव अनेक कहे हैं। लक्षण, गुण और पर्याय भाव कहलाते हैं। जीव के लक्षण, गुण और पर्याय भाव जीव हैं[८]। — लक्षण, गुण, पर्याय भाव जीव

२६—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक—इस तरह जिन भगवान ने पाँच भाव बतलाये हैं। इनके स्वभाव अलग-अलग कहे हैं। — पाँच भावों का वर्णन (२६-३४)

२७—उदें तो आठ कर्म अजीव, त्यांरा उदा सूं नीपना जीव।
ते उदय भाव जीव छैं तांम, त्यांरा अनेक जूआ जूआ नांम ॥

२८—उपसम तो मोहणी कर्म एक, जब नीपजें गुण अनेक।
ते उपसम भाव जीव छैं तांम, त्यांरा पिण छै जूआ जूआ नांम ॥

२९—खय तो हुवें छैं आठ कर्म, जब खायक गुण नीपजें परम।
ते खायक गुण छैं भाव जीव, ते उजला रहें सदा सदीव ॥

३०--बे आवरणी नें मोहणी अंतराय, ए च्यारूं कर्म खयउपसम थाय।
जब नीपजे खयउपसम भाव चोखो, ते पिण छे भाव जीव निरदोषो ॥

३१—जीव परिणमें जिण जिण भाव मांहि, ते सगला छे त्यारा रे नांहि।
पिण परिणांमीक सारा छैं तांम, जेहवा तेहवा परिणांमीक नांम ॥

३२—कर्म उदें सूं उदे भाव होय, ते तो भाव जीव छै सोय।
कर्म उपसमीयां उपसम भाव, ते उपसम भाव जीव इण न्याव॥

३३—कर्म खय सूं खायक भाव होय, ते पिण भाव जीव छै सोय।
कर्म खें उपसम सूं खें उपसम भाव, ते पिण छै भाव जीव इण न्याव॥

३४—अे च्यारूं इ भाव छैं परिणांमीक, ओ पिण भाव जीव छै ठीक।
ओर जीव अजीव अनेक, परिणांमीक बिना नहीं एक ॥

२७—उदय तो आठ अजीव कर्मों का होता है। कर्मों के उदय से निष्पन्न जीव 'उदय-भाव जीव' हैं, जिनके अनेक भिन्न-भिन्न नाम हैं।

पाँच भावों से जीव के क्या होता है? (२७-३१)

२८—उपशम एक मोहनीय कर्म का होता है। इसके उपशम से अनेक गुण उत्पन्न होते हैं, जो 'उपशम-भाव जीव' हैं। इनके भी भिन्न-भिन्न नाम हैं।

२९—क्षय आठ ही कर्मों का होता है। कर्म-क्षय से परम क्षायक गुण उत्पन्न होते हैं, जो 'क्षायक-भाव जीव' हैं। ये सदा उज्ज्वल रहते हैं।

३०—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों का क्षयोपशम होता है, जिससे शुभ क्षयोपशम भाव उत्पन्न होता है। यह भी निर्दोष भाव जीव है।

३१—जीव जिन-जिन भावों में परिणमन करता है, वे सब भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु वे सभी पारिणामिक हैं। परिणाम के अनुसार अलग-अलग नाम हैं।

३२—कर्म के उदय से उदय-भाव होता है, जो भाव जीव है। कर्म के उपशम से उपशम-भाव होता है। वह भी भाव जीव है।

पाँच भाव कैसे होते हैं? (३२-३४)

३३—कर्म-क्षय से क्षायक भाव और कर्म-क्षयोपशम से क्षयोपशम भाव होता है। ये दोनों भी भाव जीव हैं।

३४—उपर्युक्त (उदय, उपशम, क्षायक और क्षयोपशम) चारों भाव पारिणामिक हैं; पारिणामिक भाव भी भाव जीव है। जीव या अजीव अनेक हैं पर उनमें से एक भी पारिणामिक भाव से रहित नहीं है।

३५—ए पांचूंइ भाव नें भाव जीव जांणो, त्यांनें रूडी रीत पिछांणो।
उपजे नें विले होय जाय, ते भावे जीव तो छै इण न्याय ॥

३६—कर्म संजोग विजोग सूं तेह, भावे जीव नीपनो छै एह।
च्यार भाव तो निश्चे फिर जाय, खायक भावे फिर नहीं ताय ॥

३७—द्रव्य तो सासतो छे ताहि, ते तो तीनोंइ काल रे मांहि।
ते तो विले कदे नहीं होय, द्रव्य तो ज्यूं रो ज्यूं रहसी सोय ॥

३८—ते तो छेद्यो कदे न छेदावे, भेद्यो पिण कदे नहीं भेदावे।
जाल्यो पिण जले नांहिं, बाल्यो पिण न बले अगन मांहि ॥

३९—काट्यो पिण कटे नहीं कांइ, गाले तो पिण गले नांहि।
बांट्यो पिण नहीं बंटाय, घसे तो पिण नहीं घसाय ॥

४०—द्रव्य असंख्यात प्रदेसी जीव, नित रो नित रहसी सदीव।
ते मास्यो पिण मरे नांहि, बले घटे बधे नहीं कांइ ॥

४१—द्रव्य तो असंख्यात प्रदेसी, ते तो सदा ज्यूं रा ज्यूं रहसी।
एक प्रदेस पिण घटे नांहिं, तीनूंइ काल रे मांहि ॥

४२—खंडायो पिण न खंडे लिगार, नित सदा रहे एक धार।
एहवो छै द्रव्य जीव अखंड, अखी थको रहे इण मंड ॥

३५—इन पांचों ही भावों को भाव जीव जानो। इनको अच्छी तरह पहचानो। जो उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं, वे भाव जीव हैं।

भाव-जीवों का स्वभाव

३६—ये भाव जीव कर्मों के संयोग-वियोग से उत्पन्न होते हैं। चार भाव तो होकर निश्चय ही फिर जाते हैं। क्षायक भाव होकर नहीं फिरता[९]।

वे कैसे उत्पन्न होते हैं ?

३७—द्रव्य जीव शाश्वत है। वह तीनों काल में होता है। उसका कभी विनाश नहीं होता। वह द्रव्य रूप में सदा ज्यों-का-त्यों रहता है।

द्रव्य जीव का स्वरूप (३७-४२)

३८—वह छेदन करने पर नहीं छिदता (अच्छेद्य है), भेदन करने पर नहीं भिदता (अभेद्य है), और न जलाने पर — अग्नि में डालने पर — जलता ही है।

३९—वह काटने पर नहीं कटता, गलाने पर नहीं गलता, बांटने पर नहीं बंटता और न घिसने पर घिसता है।

४०—जीव असंख्यात प्रदेशी द्रव्य है। वह सदा नित्य रहता है। वह मारने पर नहीं मरता, और न थोड़ा भी घटता-बढ़ता है।

४१—जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है। उसके प्रदेश सदा ज्यों-के-त्यों असंख्यात ही रहेंगे। तीनों ही काल में इसका एक प्रदेश भी न्यून नहीं हो सकता।

४२—खण्ड करने पर इसके खण्ड नहीं हो सकते, यह सदा एक धार रहता है। यह द्रव्य जीव ऐसा ही अखण्ड पदार्थ है और अनादि काल से ऐसा चला आ रहा है[१०]।

४३—द्रव्य रा भाव अनेक छैं ताय, ते तो लखण गुण परजाय।
भाव लखण गुण परजाय, ए च्यारूं भाव जीव छैं ताय ॥

४४—ए च्यारूं भला नें भूंडा होय, एक धारा न रहे कोय।
केइ खायकभाव रहसी एक धार, नीपना पछे न घटें लिगार ॥

४५—दरबे जीव सासतो जाणो, तिण में संका मूल म आंणो।
भगोती सातमा सतक रे मांय, दूजे उदेसे कह्यो जिणराय ॥

४६—भावे जीव असासतो जांणो, तिण में पिण संका मूल म आंणो।
ए पिण सातमां सतक रे मांय, दूजे उदेसे कह्यो जिणराय ॥

४७—जेती जीव तणी परजाय, असासती कही जिणराय।
तिण नें निश्चे भावे जीव जांणो, तिणनें रूडी रीत पिछाणो ॥

४८—कर्मां रो करता जीव छै तायो, तिण सूं आश्रव नांम धरायो।
ते आश्रव छै भाव जीव, कर्म लागे ते पुदगल अजीव ॥

४९—कर्म रोके छै जीव ताह्यो, तिण गुण सूं संवर कहायो।
संवर गुण छै भाव जीव, रूकीया छैं कर्म पुदगल अजीव ॥

५०—कर्म तूटां जीव उजल थाय, तिणनें निरजरा कही जिणराय।
ते निरजरा छै भाव जीव, तूटें ते कर्म पुदगल अजीव ॥

४३—द्रव्य के अनेक भाव हैं जैसे लक्षण, गुण और पर्याय। भाव, लक्षण, गुण और पर्याय ये चारों भाव जीव हैं। — द्रव्य जीव के लक्षण आदि सब भाव जीव हैं

४४—ये चारों अच्छे-बुरे होते हैं। ये एक धार—एक-से नहीं रहते। कई क्षायक भाव एक धार रहते हैं, उत्पन्न होने पर फिर नहीं घटते[११]। — क्षायक भाव स्थिर भाव

४५—द्रव्य की अपेक्षा से जीव को शाश्वत जानो। ऐसा भगवान ने भगवती सूत्र के सातवें शतक के द्वितीय उद्देशक में कहा है। इसमें जरा भी शङ्का मत करो। — जीव शाश्वत व अशाश्वत कैसे ? (४५-४६)

४६—भाव की अपेक्षा से जीव को अशाश्वत जानो। ऐसा भगवान ने भगवती सूत्र के सातवें शतक के द्वितीय उद्देशक में कहा है। इसमें भी जरा भी शङ्का मत करो।

४७—जीव की जितनी पर्यायें हैं, उन सबको भगवान ने अशाश्वत कहा है। इनको निश्चय ही भाव जीव समझो और भलीभाँति पहचानो[१२]। — सर्व पर्यायें—भाव जीव

४८—जीव कर्मों का कर्त्ता है, इसीलिए आश्रव कहलाता है। आश्रव भाव जीव है तथा जो कर्म जीव के लगते हैं, वे अजीव पुद्गल हैं। — आश्रव भाव जीव

४९—जीव कर्मों को रोकता है, इस गुण के कारण संवर कहलाता है। संवर गुण भाव जीव है तथा जो कर्म रुकते हैं वे अजीव पुद्गल हैं। — संवर भाव जीव

५०—कर्मों के टूटने पर जीव (अंश रूप से) उज्ज्वल होता है। जिन भगवान ने इसे निर्जरा कहा है। निर्जरा भाव जीव है और जो कर्म टूटते हैं वे अजीव पुद्गल हैं। — निर्जरा भाव जीव

५१—समस्त कर्मां सूं जीव मूकायो, तिण सूं तो जीव मोख कहायो।
मोख ते पिण छै भाव जीव, मूकीया गया कर्म अजीव॥

५२—सबदादिक काम नें भोग, तेहनो करे संजोग।
ते तो आश्रव छै भाव जीव, तिण सूं लागे छै कर्म अजीव॥

५३—सबदादिक काम नें भोग, त्यांनें त्यागे नें पाड़े विजोग।
ते तो संवर छै भाव जीव, तिण सूं रूकीया छै कर्म अजीव॥

५४—निरजरा नें निरजरा री करणी, अे दोनूंइ जीव नें आदरणी।
अे दोनूं छै भाव जीव, तूटां नें तूटें कर्म अजीव॥

५५—कांम भोग सूं पामें आरामो, ते संसार थकी जीव स्हांमो।
ते तो आश्रव छै भाव जीव, तिण सूं लागें छै कर्म अजीव॥

५६—काम भोग थकी नेह तूटो, ते संसार थकी छै अपूठो।
ते संवर निरजरा भाव जीव, जब रूकें तूटें कर्म अजीव॥

५७—सावद्य करणी सर्व अकार्य, अे तो सगला छै किरतब अनार्य।
ते सगलाइ छै भाव जीव, त्यांसूं लागे छै कर्म अजीव॥

५८—जिण आगन्या पाले छै रूडी रीत, ते पिण भाव जीव सुवनीत।
जिण आगन्या लोपे चाले कूरीत, ते तो छै भाव जीव अनीत॥

५१—जीव का समस्त कर्मों से मुक्त हो जाना ही उसका मोक्ष कहलाता है। मोक्ष भी भाव जीव है। जीव का जिन कर्मों से छुटकारा हुआ वे अजीव पुद्गल हैं।

मोक्ष भाव जीव

५२—शब्दादिक कामभोगों का जो संयोग करता है, वह आश्रव भाव जीव है। इससे जो कर्म आकर लगते हैं, वे अजीव हैं।

आश्रव, संवर, निर्जरा—इन भाव जीवों का स्वरूप (५२-५४)

५३—शब्दादिक कामभोगों को त्याग कर उन्हें अलग करना यह संवर भाव जीव है। इससे अजीव कर्मों का प्रवेश रुकता है।

५४—निर्जरा और निर्जरा की करनी, जो दोनों ही जीव द्वारा आदरणीय हैं, भाव जीव हैं। क्षय अजीव कर्मों का हुआ या होता है।

५५—जो जीव कामभोगों में सुखानुभव करता है, वह संसार के सम्मुख है। वह आश्रव भाव जीव है। उससे अजीव कर्म लगते हैं।

संसार की ओर जीव की सम्मुखता व विमुखता (५५-५६)

५६—कामभोगों से जिसका स्नेह टूट गया, वह संसार से विमुख है। वह संवर और निर्जरा भाव जीव है। संवर और निर्जरा से अजीव कर्म क्रमशः रुकते और टूटते हैं[13]।

५७—सर्व सावद्य कार्य अकृत्य हैं—अनार्य कर्त्तव्य हैं। ये सब भाव जीव हैं। इनसे अजीव कर्म आते और लगते हैं।

सर्व सावद्य कार्य—भाव जीव

५८—जो जिन-आज्ञा का अच्छी तरह से पालन करता है, वह सुविनीत भाव जीव है और जो जिन-आज्ञा का उल्लंघन कर कुराह पर चलता है, वह अनीतिवान भाव जीव है[14]।

सुविनीत अविनीत भाव जीव

५९—सूरवीरा संसार रे मांहीं, किणरा डराया डरें नांहीं।
ते पिण छैं भाव जीव संसारी, ते तो हुवो अनंती वारी॥

६०—साचा सूरवीर साख्यात, ते तो कर्म काटें दिन रात।
ते पिण छै भाव जीव चोखो, दिन दिन नेड़ी करे छै मोखो॥

६१—कहि कहि नें कितोएक केहूं, द्रव्ये नें भाव जीव छै बेहूं।
यांनें रूडी रीत पिछांणो, छै ज्यूं रा ज्यूं हीया मांहें जांणो॥

६२—द्रव्ये भाव ओलखावणी ताम, जोड़ कीधी श्रीदुवारे सुठाम।
समत अठारे पचावनों वरस, चेत विद निथ तेरस॥

पाठान्तर :

हु० द ढाल कारिका २१ : 'सयंभू ति वा' के बाद 'छे' और है।

५६—संसार में वे शूरवीर कहलाते हैं जो किसी के डराये नहीं डरते। वे भी संसारी भाव जीव हैं। प्राणी अनन्त बार ऐसा वीर हुआ है। — लौकिक और आध्यात्मिक भाव जीव

६०—सच्चे शूरवीर वे हैं जो दिन-रात कर्मों को काटते हैं। वे शुभ भाव जीव हैं। वे दिन-प्रति-दिन मोक्ष को नजदीक कर रहे हैं[१५]।

६१—मैं कह कर कितना कह सकता हूँ। द्रव्य जीव और भाव जीव दोनों को अच्छी तरह पहचानो और हृदय में यथातथ्य रूप से जानो। — उपसंहार

६२—द्रव्य और भाव जीव को अवलक्षित कराने वाली यह जोड़ श्रीजीद्वार में सं० १८५५ की चैत बदी १३ के दिन सम्पूर्ण की है।

१—वीर प्रभु :

वीर प्रभु अर्थात् तीर्थङ्कर महावीर। आपका जन्म 'नाय'—'ज्ञात' नामक क्षत्रिय राजवंश में हुआ था। आप काश्यप गोत्रीय थे। आपके पिता का नाम राजा सिद्धार्थ था। आपका जन्म वैशाली नगरी के राजा चेटक की बहिन वाशिष्ठ गोत्री त्रिशला देवी की कुक्षि से हुआ था। जैनियों की मान्यता है कि महावीर पहले ऋषभदत्त ब्राह्मण के घर देवानन्दा ब्राह्मणी की कोख में अवतरित हुए थे, परन्तु एक देव विशेष ने बाद में उन्हें त्रिशला देवी की कुक्षि में धर दिया था। आपका जन्म वैशाली नगरी के क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश में, जो कि ब्राह्मण कुण्डपुर के उत्तर की ओर पड़ता था, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। जब से आप त्रिशला देवी की कुक्षि में आये तब से कुल में धन-धान्य, सोने-चाँदी आदि की विशेष वृद्धि होने से माता-पिता ने आपका नाम वर्द्धमान रक्खा। आपके चाचा का नाम सुपार्श्व, ज्येष्ठ भाई का नाम नन्दिवर्द्धन और बड़ी बहिन का नाम सुदर्शना था। आपकी भार्या का नाम यशोदा था, जो कौंडिन्य गोत्री थी। आपके एक पुत्री हुई थी, जिसका नाम प्रियदर्शना था। एक दौहित्री भी थी जिसका नाम यशोमती था।

महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ भगवान की परम्परा के श्रमणों के श्रद्धालु श्रावक थे। उन्होंने बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक धर्म का पालन कर अन्त में संल्लेखना कर देह-त्याग किया था।

माता-पिता के दिवंगत होने के बाद महावीर ने दीक्षा लेने का विचार किया, परन्तु बड़े भाई नन्दिवर्द्धन के आज्ञा न देने और उनके आग्रह से वे दो वर्षों तक और गृहस्थाश्रम में रहे। बाद में ३० वर्ष की पूर्ण यौवनावस्था में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। आपकी दीक्षा विजय मुहूर्त्त में, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग में, मार्गशीर्ष बदी १० के दिन क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश के बाहर ज्ञातृवंशी क्षत्रियों के बनखण्ड उद्यान में हुई। महावीर ने सर्व अलंकार उतार डाले तथा दायें हाथ से दाईं ओर बायें हाथ से बाईं ओर के केशों की पंचमुष्टि लोंच की अर्थात् अपने हाथ से अपने सर्व केश उखाड़ डाले। फिर पूर्वाभिमुख हो सिद्धों को नमस्कार कर व्रत ग्रहण किया—"मैं सर्व सावद्य कार्यों का

त्याग करता हूँ। अब से मैं कोई भी पाप नहीं करूँगा।" इस प्रकार भगवान ने यावज्जीवन के लिये उत्तम सामायिक चारित्र -- साधु-जीवन अङ्गीकार किया।

इसके बाद श्रमण महावीर शरीर-ममता को त्याग बारह वर्षों तक दीर्घ तपस्या करते रहे। वे अपने रहन-सहन में बड़े संयमी थे। तप, संयम, ब्रह्मचर्य, क्षांति, त्याग, सन्तोष आदि गुणाराधन में सर्वोत्तम पराक्रम प्रगट करते हुए तथा उत्तम फल वाले मुक्ति-मार्ग द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। सुख-दुःख, उपकार-अपकार, जीवन-मृत्यु, आदर-अपमान सब में वे समभाव रखते थे। श्रमण महावीर ने देव, मनुष्य और पशु-पक्षियों के अनेक भयानक उपसर्ग अमलीन चित्त, अव्यथित हृदय और अदीन भाव से सहन किये। मन, वचन और काया पर पूर्ण विजय प्राप्त की।

श्रमण महावीर ने बारह वर्षों तक ऐसा ही घोर तपस्वी-जीवन बिताया। तेरहवें वर्ष, ग्रीष्म ऋतु में, बैशाख सुदी १० के दिन, विजय मुहूर्त्त में, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग के समय जृम्भक नामक ग्राम के बाहर, ऋजुबालिका नदी के उत्तर किनारे, श्यामाक नामक गृहस्थ के खेत में व्यावृत नामक चैत्य के ईशान कोने में शाल वृक्ष के पास, श्रमण महावीर गोदोहासन में ध्यानस्थ हुए धूप में तप कर रहे थे। उस समय वे दो दिन के निर्जल उपवासी थे। शुद्ध शुक्ल ध्यान में उनकी आत्मा लीन थी। ऐसे समय उनको परिपूर्ण, अनन्त, निरावरण, सर्वोत्तम केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त हुए। इस तरह श्रमण महावीर अपने पुरुषार्थ से अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ हुए और सर्व भावदर्शी कहलाने लगे। अपने अनुपम ज्ञान से भगवान ने सर्व पदार्थों के स्वरूप को जानकर जन कल्याण और प्राणी हित के लिये उत्तम संयम धर्म का प्रकाश किया। भगवान जैनियों के २४ वें तीर्थङ्कर हुए और इस अर्थ में जैन-धर्म के अन्तिम प्ररूपक और उद्योतक हुए। इसी कारण उन्हें जिन-शासन का अधिपति कहा गया है।

२—गणधर गौतम :

भगवान महावीर के संघ में १४००० साधु थे। भगवान ने इन साधुओं को गणों में—समूहों में बाँट दिया था, और उनके संचालन का भार अपने ग्यारह प्रधान शिष्यों को दिया था। गण-संचालक होने से ये शिष्य गणधर कहलाते थे। इन्द्र—भूति गौतम भगवान महावीर के प्रमुख्य शिष्य और उनके ग्यारह गणधरों में प्रधान थे। वे जाति के ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम वसुभूति और माता का नाम पृथिवी था। उनकी जन्मभूमि राजगृह के नजदीक ही थी। वे वेदों के बहुत बड़े विद्वान थे। उनकी

हुए उस जगह आ पहुँचे। भगवान के दर्शन के लिये जनता उमड़ पड़ी। यज्ञ-स्थान छोड़कर लोग उनके दर्शन के लिये जाने लगे। उनका यह आदर और प्रभाव गौतम को सह्य नहीं हुआ और वे उन्हें तत्त्व-चर्चा में हराने के लिये उनके पास गये। भगवान महावीर अपने ज्ञान-बल से गौतम की शंका पहले से ही जान चुके थे। दर्शन करते ही गौतम की शंकाओं का निराकरण कर दिया। विजित गौतम ने अपने शिष्यों सहित तीर्थंकर भगवान महावीर की शरण ली और उनके संघ में शामिल हो गये। महावीर ने उन्हें गणधर बनाया। उन्होंने जीवनपर्यन्त बड़े उत्कट भाव से भगवान महावीर की पर्युपासना की। भगवान के प्रति भक्ति-जन्य मोह के कारण उन्हें शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त न हो सका। अपने जीवन के शेष दिन भगवान ने गौतम को दूर भेज दिया। निर्वाण-समय दूर रहने से गौतम उनसे मिल न सके। जिससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे मोह-विह्वल हो विलाप करने लगे। ऐसा करते-करते ही उनका ध्यान फिरा। निर्मोही भगवान के प्रति इस मोह की निरर्थकता वे समझ गये। वे अपनी मोह-विह्वलता के लिये पश्चाताप करने लगे। ऐसा करते ही अज्ञान के बादल फटे और उन्हें निरावरण केवलज्ञान प्राप्त हुआ। गौतम प्रभु भगवान महावीर के निर्वाण के बाद कोई १२ वर्ष तक जीवित रहे। वे बड़े ज्ञानी, ध्यानी, भद्र और तपस्वी मुनि थे।

गणधर गौतम भगवान महावीर से नाना प्रकार के तात्त्विक प्रश्न करते रहते और भगवान उनका ज्ञान-गंभीर उत्तर देते। तत्त्वों का सारा ज्ञान इसी तरह के संवादों में सामने आया। भगवान से तत्त्व खुलासा करवाने में गणधर गौतम का सर्व प्रधान हाथ रहा। इसीलिये नव तत्त्वों की चर्चा करते हुए स्वामी जी द्वारा तीर्थंकर महावीर के साथ उन्हें भी नमस्कार किया गया है (देखिए दो० १, २,)।

३—नव पदार्थ :

पदार्थ का अर्थ है—सद् वस्तु। नव पदार्थों के नाम इस प्रकार हैं[1] :

१ जीव	४ पाप	७ बंध
२ अजीव	५ आश्रव	८ निर्जरा
३ पुण्य	६ संवर	९ मोक्ष

१—ठाणाङ्ग ९, ८६७ : नव सब्भावपयत्था प० तं० जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो णिज्जरा बंधो मोक्खो

इस पुस्तक में क्रमशः इन्हीं नव पदार्थों का वर्णन है।

स्वामीजी ने द्वितीय दोहे में इन नवों पदार्थों का भलीभांति ज्ञान प्राप्त करने पर
ज़ोर दिया है। इसका हेतु यह है: ज्ञान से पदार्थों के विषय का संशय दूर होता
है। संशय दूर होने से तत्त्वों में शुद्ध श्रद्धा होती है। शुद्ध श्रद्धा होने से मनुष्य नया
पाप नहीं करता। जब वह पापों का नवीन प्रवाह - आस्रव रोक देता है तब वह संवृत्त
आत्मा हो जाता है। संवृत्त आत्मा तप के द्वारा संचित कर्मों का क्षय करने लगता
है और क्रमशः सर्व कर्म क्षय कर अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है[1]।

नव पदार्थों के ज्ञान बिना जीव की क्या हानि होती है, उसका वर्णन चतुर्थ दोहे
में है।

जो मनुष्य इन नव पदार्थों की भलीभाँति जानकारी नहीं करता उसका संशय दूर
नहीं होता। बिना संशय दूर हुए निष्ठा उत्पन्न नहीं होती। निष्ठा बिना मनुष्य
पाप से नहीं बचता। जो पाप से नहीं बचता उसके नये कर्मों का प्रवेश नहीं रुकता।
जिसके नये कर्मों का प्रवेश नहीं रुकता उसका भव-भ्रमण भी नहीं मिटता। आगम
में कहा है: "सच्ची श्रद्धा बिना चरित्र संभव नहीं है; श्रद्धा होने से ही चरित्र होता
है। जहाँ सम्यक्त्व और चरित्र युगवत् होते -- एक साथ होते हैं, वहाँ पहले सम्यक्त्व
होता है। जिसके श्रद्धा नहीं है, उसके सच्चा ज्ञान नहीं होता। सच्चे ज्ञान बिना
चारित्र-गुण नहीं होते। चारित्र-गुणों के बिना कर्म-मुक्ति नहीं होती और कर्म-मुक्ति के
बिना निर्वाण नहीं होता[2]।"

१—उत्त० २८ : २, ३५

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो जिणेहि वरदंसिहिं॥
नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई॥

२—उत्त० २८ : २९, ३०

नत्थि चरित्तं सम्मतविहूणं दंसणे उ भइयव्वं
सम्मतचरित्ताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं
नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं

पदार्थों में, तत्त्वों में, वस्तुओं में सम्यक्— यथातथ्य श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, दृष्टि या विश्वास का होना समकित अथवा सम्यक्त्व है। मोक्ष-मार्ग में मनुष्य प्रमुख रूप से किन-किन बातों में विश्वास रखे, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यहाँ इसका कुछ विशद विवेचन किया जाता है।

यह संसार एक तत्त्वमय वस्तु है। यह कोई माया, भ्रम या कल्पना नहीं। संसार का अस्तित्त्व है—उसकी सत्ता है। लोक-रचना और व्यवस्था में केवल दो पदार्थ (सद्भूत वस्तु) एक जीव और दूसरे अजीव का हाथ है। अजीव पदार्थ पांच हैं:— (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल और (५) पुद्गल। आकाश अनन्त है। इस अनन्त आकाश के जितने क्षेत्र में जीव और अजीव पदार्थ रहते हैं, उसे विश्व या लोक कहते हैं। इस लोक के बाद अलोक है, जिसमें शून्य आकाश है[1]।

जीव चेतन पदार्थ है[2]। पुद्गल जड़ पदार्थ है। इनके स्वभाव एक दूसरे से बिलकुल भिन्न—विपक्षी हैं। अनादि काल से जीव और अजीव पुद्गल (कर्म) दूध और पानी की तरह एक क्षेत्रावगाही—परस्पर ओतप्रोत हो रहे हैं। इस प्रकार कर्मों के साथ-जड़ पदार्थ के साथ बंधा हुआ जीव नाना प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव करता है। जिन कर्मों का बन्धन फलावस्था में दुःख का कारण है, वे पाप कहलाते हैं। जिनका बंधन सांसारिक सुखों का कारण है, वे कर्म पुण्य कहलाते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद,

---

१—उत्त० ३६ : २

जीवा चेव अजीवा य एस लाए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे अलोगे से वियाहिये॥

उत्त० २८ : ७

धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥

२—उत्त० २८ : १०

× × × जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य॥

कषाय और योग—ये आश्रव हैं। इन कर्म-हेतुओं से जीव-प्रदेशों में नये कर्मों का प्रवाह होता रहता है। चेतन जीव और जड़ पुद्गल एक दूसरे से गाढ़ सम्बन्धित होने पर भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते—चेतन चेतन स्वभाव को नहीं छोड़ता और जड़ जड़ स्वभाव को नहीं छोड़ता। अपने-अपने स्वभाव को हर अवस्था में कायम रखने से इन पदार्थों की सत्ता हमेशा रहती है, जिससे परस्पर ओतप्रोत हुए पदार्थों का पृथक्करण भी हर समय संभव है। जीव और पुद्गल का परस्पर आत्यन्तिक वियोग कर देना ही मोक्ष है। जीव को जड़ कर्मों से मुक्त करना संभव है। मुक्त करने का उपाय संवर और निर्जरा है। नये कर्मों के प्रवेश को रोकना संवर और संचित कर्मों को आत्म-प्रदेशों से झाड़ देना निर्जरा है।

लोक है, अलोक है, लोक में जीव हैं, अजीव हैं, संसारी जीव कर्मों से वेष्ठित—बद्ध है, वह सुख-दुःखों का भोग करता है। वह नये कर्मों का उपार्जन भी करता है। कर्मों से मुक्त होने का जो उपाय है, वह संवर और निर्जरामय धर्म है। इस प्रकार नवों पदार्थ में—सद्भाव वस्तुओं में से प्रत्येक में आस्था रखना—दृढ़ प्रतीति करना—समकित, सम्यक्-दर्शन अथवा सम्यक्त्व कहलाता है :

> जीवाजीवा य बन्धो य पुण्णं पापासवा तहा।
> संवरो निज्जरा मोक्खो सन्तए तहिया नव ॥ १४ ॥
> तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
> भावेणं सद्दहन्तस्स सम्मत्तं तं वियाहियं ॥ १५ ॥

—उत्तराध्ययन अ० २८

स्वामीजी ने चतुर्थ दोहे में ऐसे सम्यक्त्व रखनेवाले को ही सम्यक्-दृष्टि कहा है।

जो मनुष्य उपर्युक्त नव सद्भाव पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के द्वारा सम्यक् श्रद्धा प्राप्त कर लेता है उसका चरित्र भी कभी-न-कभी अवश्य सम्यक् हो जाता है। इस तरह सम्यक् दृष्टि जीव सम्यक् ज्ञान और सम्यक् श्रद्धा को प्राप्त करते ही मुक्ति का शिलान्यास कर डालता है। मुक्ति प्राप्त करना अब उसके लिये केवल काल सापेक्ष होता है।

५—जीव पदार्थ :

जैन दर्शन आत्मवादी है। वह आत्मा के अस्तित्व को मानता है और उसे एक स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करता है। नव पदार्थों में प्रथम पदार्थ जीव है। जीव को पदार्थ—स्वयं अवस्थित तत्त्व—मानने में निम्नलिखित दलीलें हैं :

. (१) 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार का जो अनुभव होता है, वह आत्मा के बिना नहीं हो सकता। यदि ऐसा मान लिया जाय कि शरीर से ही यह अनुभव होता है तब प्रश्न यह खड़ा होता है कि जब हम निद्रावस्था में होते हैं तब यह अनुभव किस के सहारे होता है? यदि आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न न होते तो इन्द्रियों के सुप्त रहने पर ऐसा अनुभव होना संभव न होता। इसलिए यह मानना पड़ता है कि आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

(२) आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है, यह बात इससे भी सिद्ध है कि इन्द्रियों के द्वारा जिस बात या चीज का ज्ञान होता है—वह ज्ञान इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी बना रहता है। यह तभी संभव हो सकता है जब कि इन्द्रियों से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ हो जो इस ज्ञान को स्थायी रूप से रख सकता हो, अर्थात् इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान जिसमें स्मृति रूप से रहता है, वही आत्म पदार्थ है और वह इन्द्रियों से भिन्न है। यदि इन्द्रियाँ ही आत्मा हों, तो उनके नष्ट होने से उनके जरिये प्राप्त ज्ञान भी नष्ट होता, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। ज्ञान तो इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी रहता है। इस तरह ज्ञान का जो आधार है, वह आत्म पदार्थ है। इन्द्रियों के ज्ञान की सीमा हो सकती है, परन्तु जिसके ज्ञान की सीमा नहीं होती—ऐसा जो [illegible] या ज्ञानवान पदार्थ है वही आत्मा या जीव है।

(३) एक और तरह से भी आत्मा का इन्द्रियों से पृथकत्व सिद्ध किया जा सकता है। यह सबके अनुभव में आता है कि कभी-कभी आँखों के सामने से कोई चीज गुजर जाती है तो भी उसका अनुमान तक नहीं होता, कानों के पास में शब्द होते रहने पर भी हम उसको सुन नहीं पाते। आवश्यक इन्द्रियों के रहने पर भी ऐसा क्यों होता है? इसका कारण यह है कि इन्द्रियों के अतिरिक्त एक और पदार्थ है जो इन्द्रियों के कार्य में सहायक होता है। बिना इस पदार्थ की सहायता के देहादि अपना कार्य नहीं कर सकते। जब इस पदार्थ का ध्यान किसी दूसरी ओर रहता है—अर्थात् अमुक चीज को देखने या सुनने आदि की ओर से उसकी उपेक्षा रहती है तब इन्द्रियाँ विद्यमान रहने पर भी प्रवृत्ति नहीं कर सकतीं। इस प्रकार जिसके गौर करने से इन्द्रियाँ कार्य करती हैं वह पदार्थ इन्द्रियों से भिन्न है और वही आत्मा या जीव है।

(४) प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने विषय का ही ज्ञान होता है, परन्तु जिसको सर्व इन्द्रियों के विषय का ज्ञान होता है वही आत्म-पदार्थ है।

(५) जो आँखों से नहीं देखा जाता परन्तु खुद ही आँखों की ज्योति स्वरूप है, कि रूप तो नहीं है परन्तु जो खुद रूप को जानता है, वही आत्म-पदार्थ है ।

(६) जिसका प्रकट लक्षण चैतन्य है और जो अपने इस गुण को किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ता है, जो निद्रा, स्वप्न और जाग्रत अवस्था में सदा इस गुण से जाना जाता है— वही आत्मा या जीव है ।

(७) यदि जानी जाने वाली घट, पट आदि चीजों का होना वास्तविक है तो उनको जानने वाले आत्म-पदार्थ का अस्तित्व कैसे न होगा ?

(८) जिस वस्तु में जानने की शक्ति या स्वभाव नहीं है वह जड़ है और जानना जिसका सदा स्वभाव है वह चैतन्य है । इस प्रकार जड़ और चैतन्य दोनों के भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं, और वे स्वभाव कभी एक न होंगे । दोनों की भिन्नता इन बातों से अनुभव में आती है कि तीनों कालों में जड़, जड़ बना रहेगा और चैतन्य, चैतन्य । (इन दलीलों की विस्तृत चर्चा के लिये देखें 'रायपसेणइय सुत्त', 'जैन दर्शन' और 'आत्म-सिद्धि' नामक पुस्तकें ।)

स्वामीजी पाँचवें दोहे में इसी जीव पदार्थ का विवेचन करने की प्रतिज्ञा करते हैं ।

६—द्रव्य जीव और भाव जीव (गा० १-२) :

चतुर्थ टिप्पणी में यह बताया जा चुका है कि लोक में षट् वस्तुएँ हैं— (१) जीवास्तिकाय, (२) धर्मास्तिकाय, (३) अधर्मास्तिकाय (४) आकाशास्तिकाय, (५) काल और (६) पुद्गलास्तिकाय । इन वस्तुओं को जैन परिभाषा में द्रव्य कहते हैं ।

इन छहों द्रव्यों में से प्रत्येक के अलग-अलग गुण या धर्म हैं । गुण द्रव्य को पहचानने के लक्षण हैं । जिस तरह आजकल विज्ञान में जड़ पदार्थों को जानने के लिये प्रत्येक की अलग-अलग लक्षणावली (properties) बतलाई जाती है उसी प्रकार भगवान महावीर ने संसार के मूलाधार द्रव्यों के पृथक-पृथक लक्षण बतलाये हैं ।

द्रव्य क्या है ?—जो गुणों का आश्रय हो, जिसके आश्रित होकर गुण रहते हैं वह द्रव्य है । और गुण क्या है ?—एक एक द्रव्य में ज्ञानादि रूप जो धर्म रहे हुए हैं वे गुण हैं[1] ।

१—उत्त० २८ : ६

गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा ।

जीव चैतन्य-गुण से संयुक्त है इसलिये द्रव्य है। चेतना जीव पदार्थ में ही होती है अतः वह उसका धर्म और गुण है।

जीव का लक्षण उपयोग है, यह बताया जा चुका है (टि० ४ पा० टि० २)। उपयोग का अर्थ है जानने तथा देखने की शक्ति। जीव में देखने और जानने की अनन्त शक्ति है।

यह अकृत्रिम पदार्थ है। जीव के विश्लेषण से उसमें से कोई दूसरा पदार्थ नहीं निकलता। यह अखण्ड द्रव्य है। इसके टुकड़े नहीं किये जा सकते।

जड़ पदार्थ पुद्गल के टुकड़े करने संभव हैं और टुकड़े करते करते एक सूक्ष्मतम टुकड़ा मिलता है, उसको परमाणु कहते हैं। यह अकेला, स्वतंत्र और अन्तिम—अविभाज्य भाग होता है। परमाणु जितने स्थान को रोकता है उतने को एक प्रदेश कहते हैं। जीव इस माप से असंख्यात प्रदेशी होता है। असंख्यात प्रदेशों का अखण्ड समूह होने से जीव को अस्तिकाय कहा जाता है। अखण्ड पदार्थ होने से जीव का एक भी प्रदेश उससे अलग नहीं किया जा सकता—अर्थात् वह सदा असंख्यात प्रदेशी रहता है। प्रथम ढाल-गाथा में यही बात संक्षेप में कही गई है।

जीव अनन्त हैं परन्तु सर्व जीव वस्तुतः सदृश हैं और इसलिए सभी एक 'जीव द्रव्य' की कोटि में समा जाते हैं। जितने जीव हैं उतनी ही आत्माएँ हैं। प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है और स्वानुभव करता है परन्तु द्रव्य की दृष्टि से सब एक हैं क्योंकि सबमें चैतन्य गुण समान है।

अतः द्रव्यतः जीव एक है। संख्या की दृष्टि से जीव अनन्त हैं। उनकी अनन्त संख्या में न कभी वृद्धि होती है, न कभी ह्रास।

जीव का चेतन गुण उसका खास और अन्य द्रव्यों से पृथक गुण है। द्रव्यों के गुण अपरिवर्तनशील होते हैं। जीव का चेतन गुण कभी अजीव द्रव्य में न होगा और न अजीव द्रव्य का अचेतन या जड़ गुण जीव पदार्थ में होगा। गुणों में परस्पर अपरिवर्तनशील होने से ही द्रव्यों की संख्या ६ हुई है। द्रव्य अपने गुणों से अलग नहीं हो सकता और न गुण ही द्रव्य बिना रह सकते हैं। इस तरह जीव द्रव्य शाश्वत है—चिरंतन है। द्रव्य जीव पर विशद-विवेचन बाद में ढाल गा० ३७-४२ में है।

सोने के आधार से जैसे कंठा, कड़ा आदि नाना प्रकार के अलंकार बनते हैं, वैसे ही द्रव्य जीव के आधार से उसकी नाना अवस्थायें होती हैं। इन्हें भाव (Modifications) कहते हैं। जीव के जितने भाव हैं वे सब भाव जीव कहलाते हैं। द्रव्य जीव एक होता है और भाव जीव अनेक।

७—जीव के २३ नाम (गा० ३-२४):

भगवती सूत्र के २० वें शतक के २ रे उद्देशक का पाठ, जिसमें जीव के नाम बतलाये गये हैं, इस प्रकार है :

"गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पन्नत्ता, तं जहा—जीवे ति वा, जीवत्थिकाये ति वा, पाणे ति वा, भूए ति वा, सत्ते ति वा, विन्नू ति वा, चेया ति वा, जेया ति वा, आया ति वा, रंगणा ति वा, हिंडुए ति वा, पोग्गले ति वा, माणवे ति वा, कत्ता ति वा, विकत्ता ति वा, जए ति वा, जंतु ति वा, जोणी ति वा, संयभू ति वा, ससरीरी ति वा, नायए ति वा, अंतरप्पा ति वा, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते जाव-अभिवयणा ।"

इस पाठ के अनुसार जीव के २२ अभिवचन ही होते हैं। स्वामीजी के सामने भगवती सूत्र का जो आदर्श था, उसमें २३ नाम प्राप्त थे। उपर्युक्त पाठ में वेय (वेद, वेदक) नाम नहीं मिलता । भगवती सूत्र शतक २ उ० १ के आधार पर कहा जा सकता है कि जीव का एक अभिवचन वेद—वेदक भी रहा ।

जीव के इन नामों से जीव-सम्बन्धी अनेक बातों की जानकारी होती है। ये नाम गुणनिष्पन्न हैं—जीव के गुणों को भलीभाँति प्रकट करते हैं।

स्वामीजी ने ४ से २४ तक की गाथाओं में इन २३ नामों का अर्थ स्पष्ट किया है। यहाँ संक्षेप में उनपर विवेचन किया जाता है।

(१) जीव (गा० ४) स्वामीजी ने जीव की जो परिभाषा दी है उसका आधार भगवती सूत्र (२.१) का यह पाठ है : "जम्हा जीवेति, जीवत्तं, आउयं च कम्मं उपजीवति तम्हा 'जीवे'त्ति वत्तव्वं सिया ।" अर्थात् जीता है, जीवत्व और आयुष्य कर्म का अनुभव करता है, इससे प्राणी का नाम जीव है। जीने का अर्थ है प्राणों का धारण करना[1] । जीवत्व का अर्थ है उपयोग—ज्ञान और दर्शन सहित होना[2] । आयुष्य कर्म के अनुभव का अर्थ है निश्चित जीवन-अवधि का उपभोग। जितने भी संसारी जीव हैं सब प्राण सहित होते हैं। ज्ञान और दर्शन तो जीव मात्र के स्वाभाविक गुण हैं। हर एक प्राणी की अपनी-अपनी आयुष्य होती है। इस तरह जीते रहने से प्राणी जीव कहलाता है।

(२) जीवास्तिकाय (गा० ५) 'अस्ति' का अर्थ है 'प्रदेश'। 'प्रदेश' का अर्थ है वस्तु का वह कल्पित सूक्ष्मतम भाग, जिसका फिर भाग न हो सके। काय का अर्थ है 'समूह'।

१—जीवति प्राणान् धारयति (अ-भ० टीका)

२—जीवत्वम् उपयोगलक्षणम् (अ-भ० टीका)

जो प्रदेशों का समूह हो—उसे अस्तिकाय कहते हैं। जीव एक स्वतन्त्र पदार्थ है—यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। जीव स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है और असंख्यात प्रदेशों का समूह है, इसलिये जीवास्तिकाय कहलाता है। जीव अपने कर्मानुसार अनेक देह धारण करता है परन्तु छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े शरीर में भी उसके असंख्यात प्रदेशीपन में कमी या अधिकता नहीं होती। चींटी और हाथी दोनों के जीव असंख्यात प्रदेशी हैं[1]।

(३) प्राण (गा० ६) : स्वामीजी की परिभाषा भगवती सूत्र २.१ के पाठ पर आधारित है। वह पाठ इस प्रकार है : "जम्हा आणमइ वा, पाणमइ वा, उस्ससइ वा, णीससइ वा तम्हा 'पाणे' त्ति वत्तव्वं सिया।" जीव श्वास-निश्वास लेता है इससे वह प्राणी है। 'प्राणी' शब्द का दूसरा अर्थ इस प्रकार है : जैन धर्म में दस जीवन शक्तियां मानी गई हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रिय[2]-बल प्राण, (२) चक्षुरिन्द्रिय-बल प्राण, (३) घ्राणेन्द्रिय[3]-बल प्राण, (४) रसनेन्द्रिय-बल प्राण, (५) स्पर्शनेन्द्रिय-बल प्राण, (६) मन-बल प्राण, (७) वचन-बल प्राण (८) काया-बल प्राण, (९) श्वासोच्छ्वास-बल प्राण और (१०) आयुष्य-बल प्राण। प्रत्येक संसारी जीव में कम-अधिक संख्या में ये प्राण शक्तियाँ मौजूद रहती हैं। सीमित आयु, श्वासोच्छ्वास की शक्ति, पाचों इन्द्रियों में से कम-से-कम स्पर्शनेन्द्रिय, मन, वचन और शरीर में से एक शरीर बल—इस तरह कम-से-कम चार जीवन-शक्तियाँ तो वनस्पति आदि स्थावर जीवों के भी हर समय मौजूद रहती ही हैं। इन बलों, प्राणों, जीवन-शक्तियों का धारण करना ही जीवन है और चूंकि कम-से-कम ४ प्राण बिना कोई संसारी जीव नहीं होता अतः सब जीव प्राणी हैं।

(४) भूत (गा० ६) : इसकी आगमिक परिभाषा इस रूप में है : "जम्हा भूते, भवति, भविस्सति य तम्हा 'भूए' त्ति वत्तव्वं सिया (भग० २.१)।" था, है और रहेगा—जीव का ऐसा स्वभाव होने से वह भूत कहलाता है। स्वामी जी की परिभाषा भी यही है। 'भवन' धर्म की विवक्षा से जीव भूत है।

जीव सदा जीवित रहता है। वह कभी मरता नहीं। किसी भी काल में जीव अपने चैतन्य स्वभाव को नहीं छोड़ता। इसलिए सर्व जीव अपने चैतन्य स्वभाव में सदा जीवित रहते हैं। चेतन स्वभाव को छोड़ना जीव द्रव्य के लिए सम्भव नहीं इसलिए उसका मरण

भी सम्भव नहीं। आत्मा को 'भूत' इसी हेतु से कहा गया है। जीव कभी अजीव नहीं हो सकता, यही उसका भूतत्व है।

(५) सत्त्व (गा० ६): भगवतीसूत्र २.१ में सत्त्व की परिभाषा इस प्रकार मिलती है—"जम्हा सत्ते सुभासुभेहिं कम्मेहिं तम्हा 'सत्ते' त्ति वत्तव्वं सिया।" टीकाकार अभयदेव सूरि ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'सत्ते' का अर्थ है—'सक्त:'—आसक्त अथवा 'शक्त:'—समर्थ। 'कर्म' का अर्थ है क्रिया। जीव सुन्दर असुन्दर क्रिया में—शुभ अशुभ क्रिया में आसक्त अथवा समर्थ है, अतः वह सत्त्व है। स्वामीजी की परिभाषा इसीके अनुरूप है। 'सक्त:' का अर्थ सम्बद्ध भी होता है। शुभाशुभ कर्मों से संबद्ध होने से जीव सत्त्व है।

(६) विज्ञ (गा० ७): इसकी परिभाषा है—"जम्हा तित्त-कडु-कसायं-ऽम्बिल-महुरे रसे जाणइ तम्हा 'विन्नू' त्ति वत्तव्वं सिया (भग० २.१)।"

यह अच्छा शब्द है, यह बुरा शब्द है; यह मधुर है, यह खट्टा है, यह कड़ुवा है; यह सफेद है, यह लाल है; यह दुर्गन्ध है, यह सुगन्ध है; अभी सर्दी पड़ रही है, अभी गर्मी पड़ रही है आदि इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान—अनुभव यदि किसी को होता है तो वह जीव पदार्थ ही है अतः जीव को 'विज्ञ'—कहा गया है। मैं इस स्थिति में हूँ, गरीब हूँ, रुग्ण हूँ, स्वस्थ हूँ आदि बातों का स्पष्ट अनुभव यदि किसी पदार्थ में है तो वह जीव पदार्थ में है। इस हेतु से भी वह 'विज्ञ' कहा गया है।

(७) वेद (गा० ८): स्वामी जी की परिभाषा का आधार यह पाठ है—"वेदेति य सुह-दुक्खं तम्हा 'वेदो' त्ति वत्तव्वं सिया (भग०-२.१)।" वेदना-ज्ञान—सुख-दुःख का अनुभव-ज्ञान जिसमें हो वह 'वेदक' कहलाता है।

संसार में जरा-मरण, आधि-व्याधि से उत्पन्न नाना दुःख तथा धन, स्त्री, पुत्रादि से उत्पन्न नाना सुखों का अनुभव जीव करता है इसलिये उसे 'वेद' या 'वेदक' कहा गया है।

(८) चेता (गा० ९): संसारी जीव, कर्म-परमाणुओं से लिप्त रहते हैं। जब चेतन जीव राग-द्वेष के वशीभूत होकर विभाव में रमण करता है तब उसके चारों ओर रहे हुए कर्म-परमाणु उसके प्रदेशों में प्रवेश कर वहाँ उसी प्रकार अवस्थित हो जाते हैं जिस तरह दूध में डाला हुआ पानी उसमें समा जाता है। दूध और पानी की तरह एक क्षेत्रावगाही हो आत्मा और कर्म परस्पर ओत-प्रोत हो जाते हैं। संसारी जीव इसी न्याय

से चेता—पुद्गलों को संग्रह करने वाला कहा गया है ('चेयाइ त्ति चेता पुद्गलानां चयकारी—अभ०) जीव के शरीरादि की रचना भी इसी कारण से होती है।

(९) जेता (गा० १०) : कर्मों का बन्धन आत्मा की विभाव परिणति से होता है और उनका नाश स्वभाव परिणति से। दोनों परिणतियाँ जीव के ही होती हैं। अतः जैसे वह कर्मों को बाँधने वाला है वैसे ही उनका नाश कर उन पर विजय पाने वाला होने से उसे 'जेता' कहा जाता है।

स्वभाव रूप से ही जीव में अनन्त वीर्यशक्ति होती है। परन्तु कर्मों के आवरण के कारण वह शक्ति मंद हो जाती है। संसारी जीव कर्मों से आबद्ध होने पर भी अपने स्वभाव में स्थित होता है। इसका अर्थ यह है कि कर्मावरण से उसके स्वाभाविक गुण मंद हो जाने पर भी सर्वथा नष्ट नहीं होते। जीव अपने वीर्य का स्फोटन कर दारुण कर्म-बन्धन को विच्छिन्न करने में सफल होता है। इस तरह कर्म-रिपुओं को जीतने का सामर्थ्य रखने से जीव का एक अभिवचन जेता है ('जेय' त्ति जेता कर्मरिपूणाम्—अभ०)।

(१०) आत्मा (गा० ११) : जब तक जीव कर्मों का आत्यन्तिक क्षय नहीं करता उसे बार-बार जन्म-मरण करना पड़ता है और इस जन्म-मरण की परम्परा में वह भिन्न-भिन्न गति (मनुष्य, पशु-पक्षी आदि) अथवा योनियों में उत्पन्न होना और नाश को प्राप्त होता है। जब तक कर्मों से छुटकारा नहीं होता तब तक जीव को विश्राम नहीं मिलता। कर्मों से मुक्ति पाकर ही वह मोक्ष के अनन्त सुख में शाश्वत स्थिर हो सकता है। 'आत्मा', 'हिंडुक', 'जगत' आदि जीव के नाम इसी अर्थ के द्योतक हैं। अभयदेव सूरि ने लिखा है—'आय' त्ति आत्मा सततगामित्वात्।

(११)रंगण (गा०१२) : "रङ्गणं रागः तद्योगाद्रंगणः।" 'रंगण' राग को कहते हैं। राग से युक्त होने के कारण जीव रंगण कहलाता है। संसारी जीव राग-द्वेष की तरंगों में बहता रहता है। उसकी आत्मा राग-द्वेष की भावनाओं से आच्छादित रहती है। इन्हीं राग-द्वेषों में रंगे रहने—अनुरक्त रहने के कारण जीव को रंगण कहा गया है।

(१२) हिंडुक (गा० १३) : इसका प्रायः वही अर्थ है जो 'आत्मा' का है। अभयदेव ने लिखा है—'हिंडुए' त्ति हिण्डकत्वेन हिण्डकः गमनशील इत्यर्थः।"

(१३) पुद्गल (गा० १४) : इसकी व्याख्या अभयदेव सूरि ने इस प्रकार की है—"पूरणाद् गलनाच्च वपुरादीनामिति पुद्गलाः।" सांसारिक जीव जन्म-जन्म में पौद्गलिक शरीर, इन्द्रियाँ आदि को धारण करता रहता है। इससे जीव का नाम पुद्गल है।

जीव कर्म-परमाणुओं का आत्म-प्रदेशों में संचय करता है। शरीर आदि की रचना इसी प्रकार होती है। इससे जीव पुद्गल है। यह व्याख्या सांसारिक जीव की अपेक्षा से है।

एक बार गौतम ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा—"हे भगवन् ! जीव पुद्गली है या पुद्गल ?" भगवान ने उत्तर दिया—"हे गौतम ! श्रोत्रादि इन्द्रियों वाला होने से जीव पुद्गली है। जीव का दूसरा नाम पुद्गल होने से वह पुद्गल है। सिद्ध पुद्गली नहीं हैं क्योंकि उनके इन्द्रियादि नहीं होतीं; परन्तु जीव होने से वे पुद्गल तो हैं ही[1]।"

संसारी प्राणी और सिद्ध जीव दोनों को यहाँ पुद्गल कहा गया है। इसका हेतु आगम में नहीं है। वह हेतु ऊपर बताये गये हेतु से भिन्न होना चाहिये—यह स्पष्ट है। जीव के लिये पुद्गल शब्द का प्रयोग बौद्ध पिटकों में भी मिलता है।

(१४) **मानव (गा० १५)** : द्रव्य मात्र 'उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य' लक्षण वाले होते हैं। उत्पत्ति और विनाश केवल अवस्थाओं का होता है। एक अवस्था का नाश होता है दूसरी उत्पन्न होती है, परन्तु इस सृष्टि (उत्पाद) और प्रलय (व्यय) के बीच में भी ब्रह्म स्वरूप आत्मा ज्यों-की-त्यों रहती है। उसके चेतन स्वभाव व असंख्यात प्रदेशीपन का विनाश नहीं होता। इस तरह नाना पुनर्जन्म करते रहने पर भी आत्मा तो पुरानी ही रहती है। इसलिये इसका 'मानव' नाम रखा गया है। मानव=मा+नव। 'मा' का अर्थ है नहीं। 'नव' का अर्थ है नया। जीव नया न होकर अनादि है। वह 'पुराण' है—बराबर चला आता है इसलिये मानव है (**मा निषेधे नवः-प्रत्यग्रो मानवः अनादित्वात् पुराण इत्यर्थः**)।

(१५) **कर्त्ता (गा० १६)** : आत्मा ही कर्त्ता है। कर्त्ता का अर्थ है कर्मों का कर्त्ता (**'कत्त' ति कर्त्ता कर्मणाम्**)। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये हम यहाँ 'आत्म सिद्धि' नामक पुस्तक का कुछ अंश उद्धृत करते हैं :

"जड़ में चेतना नहीं होती केवल जीव में ही चेतना होती है। बिना चेतन-प्रेरणा के कर्म, कर्म का बन्धन कैसे करेगा ? अतः जीव ही कर्म का बन्धन करता है क्योंकि चेतन प्रेरणा जीव के ही होती है। जीव के कर्म अनायास—स्वभाव से ही होते रहते हैं, यह भी ठीक नहीं है। जब जीव कर्म करता है तभी कर्म होते हैं। कर्म करना जीव की इच्छा पर निर्भर रहने से यह भी नहीं कहा जा सकता कि आत्मा सहज स्वभाव से ही कर्मों

१—**भगवती ८.१०**

का कर्त्ता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्म करना जीव का आत्म-धर्म नहीं है क्योंकि ऐसा होने से तो कर्म का बन्धन उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं करता। यह भी कहना ठीक नहीं है कि जीव असंग है और केवल प्रकृतियाँ ही कर्म बन्ध करती हैं। ऐसा होता तो जीव का असली स्वरूप कभी का मालूम हुआ रहता। कर्म करने में ईश्वर की भी कोई प्रेरणा नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर सम्पूर्ण शुद्ध स्वभाव का होता है। उसमें इस प्रकार प्रेरणा का आरोपण करने से तो उसे ही सदोष ठहरा देना होगा। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आत्मा ही कर्मों का बन्ध करता है। जब जीव अपने चैतन्य स्वभाव में रमण करता है तो वह अपने शुद्ध स्वभाव का कर्त्ता होता है और जब विभाव भाव में रमण करता है तो कर्मों का कर्त्ता कहलाता है।"

"जीव जब तक अपने असली स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्ति रखता है तब तक उसके भाव-कर्मों का बंध होता रहता है। जीव की निज स्वरूप में भ्रान्ति चेतना रूप है। जीव के इस चेतन परिणाम से जीव के वीर्य स्वभाव की स्फूर्ति होती है और इस शक्ति के स्फुरित होने से जड़-रूप द्रव्य कर्म की वर्णनाओं को ग्रहण करता है।"

जीव अच्छे बुरे कार्य करता रहता है और उसके फलस्वरूप कर्म-परमाणु उसके आत्म-प्रदेशों में प्रवेश पा उनके साथ बँध जाते हैं। इस प्रकार जीव कर्मों का कर्त्ता है। इसका तात्पर्यार्थ है कि वह अपने सुख-दुःख का कर्त्ता है।

उत्तराध्ययन सूत्र (२०.३६-३७) में कहा है: "आत्मा ही वैतरणी नदी है, और यही कूट शाल्मली वृक्ष। आत्मा ही कामदुहाधेनु है और यही नन्दन वन। आत्मा ही सुख और दुःख को उत्पन्न करने और न करने वाली है।" इसका कारण यही है कि आत्मा ही सदाचार और दुराचार को करने वाली है। अपने काम के अनुसार उसके कर्मों का बन्धन होता है। ये कर्म ही अच्छा बुरा फल देते हैं। आत्मा सत्कर्म अथवा दुष्कर्म करने में स्वतन्त्र है, इसीलिये कहा गया है "बन्धप्पमोक्खो तुज्झज्झत्थेव"। बन्ध और मोक्ष आत्मा के ही हाथ में हैं।

(१६) विकर्त्ता (गा० १७) : जैसे जीव में कर्म-बंधन की शक्ति है वैसे ही उसमें कर्मों को तोड़ने और उनसे मुक्त होने की भी शक्ति है। इसी कारण से उसे विकर्त्ता कहा गया है। विकर्त्ता अर्थात् **"विशेषतो विच्छेदकः कर्मणाम्।"**

(१७) जगत् (गा० १८) : जीव में एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करने की शक्ति होती है और यह शक्ति इतनी तीव्र होती है कि एक समय (जैन धर्म के अनुसार काल

की इकाई (Unit)) में जीव अपने स्थान से लोक के अन्त तक जा सकता है। गमन करने की इस शक्ति के कारण जीव का नाम जगत् है। कहा भी है—**"अतिशयगमना-ज्जगत् ।"**

(१८) **जन्तु** (गा० १९) : **"जननाज्जन्तुः"** संसारी जीव जन्म-जन्मान्तर करता रहता है, इससे उसका नाम जन्तु है। जीव ने ८४ लाख योनियों में जन्म-मरण किया है।

(१९) **योनि** (गा० २०) : **"योनिरन्येषामुत्पादकत्वात्"**—अन्यों का उत्पादक होने से जीव का नाम योनि है। स्वामीजी ने भी यही परिभाषा दी है—"पर नो उत्पादक इण न्याय।" जीव जीव का उत्पादक नहीं हो सकता क्योंकि जीव स्वयंभूत होता है। वह घट, पट आदि पर वस्तुओं का उत्पादक होता है। इस अपेक्षा से जीव का अपर नाम योनि है।

(२०) **स्वयंभूत** (गा० २१) : आत्मा को किसी ईश्वर ने नहीं बनाया। न वह संयोगी पदार्थ ही है। वह अपने आप में एक वस्तु है—**"स्वयं-भवनात् स्वयंभू"**। वह वस्तुओं के संयोग से बनी हुई नहीं है परन्तु एक स्वतन्त्र स्वयंभूत वस्तु है। न तो वह देह के संयोग से उत्पन्न होती है और न देह के साथ उसका नाश होता है। ऐसा कोई संयोग नहीं जो आत्मा को उत्पन्न कर सके। जो वस्तु उत्पन्न हो सकती है उसी का नाश—विलय भी संभव है। जल— ऑक्सीजन और हाईड्रोजन से बना होने से हम रसायनिक प्रयोगों द्वारा उसमें से उक्त दोनों तत्त्व स्वतन्त्र रूप में प्राप्त कर सकते हैं परन्तु आत्मा को सिद्ध करने वाले—बनाने वाले अन्य द्रव्य प्राप्त न होने से वह स्वयं सिद्ध है। यही 'स्वयंभूत' शब्द का भाव है। आत्मा स्वयं सिद्ध पदार्थ है।

(२१) **सशरीरी** (गा० २२): शरीर अनेक तरह के हो सकते हैं। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण। एक जगह से जाकर दूसरी जगह उत्पन्न होने तक—अर्थात् रास्ते चलते जीव के दो शरीर—कार्मण और तैजस होते हैं। पर्याप्त स्थिति में तीन शरीर जीव के होते हैं—कार्मण, तैजस और औदारिक या वैक्रिय। आहारक शरीर विशिष्ट आत्माओं के हो सकता है। जब तक कर्मों का संयोग रहता है तब तक शरीर का सम्बन्ध भी रहता है इसलिये संसारी जीव को 'सशरीरी' कहा गया है—**"सह शरीरेणेति सशरीरी।"**

(२२) **नायक** (गा० २३) : **"नायकः—कर्मणां नेता"**—जीव कर्मों का नेता है इससे उसका नाम नायक है। स्वामीजी ने गाथा २३ के प्रथम दो चरणों में इसी अर्थ

का प्रतिपादन किया है। कर्मों का नेता होने से अपने सुख-दुःख का भी यह नायक व नेता है इसमें सन्देह नहीं। बाद के चरणों में नायक का दूसरा अर्थ स्वामीजी ने "न्याय का करने वाला" किया है।

(२३) अन्तरात्मा (गा० २४) : "अन्तः मध्यरूप आत्मा, न शरीर रूप इत्यन्तरात्मेति" यह शरीर आत्मा नहीं है। पर इस शरीर के अन्दर जो व्याप्त है वह आत्मा है।

जीव और शरीर—तिल और तेल, छाछ और घी की तरह परस्पर लोलीभूत रहते हैं। जीव समूचे शरीर में व्याप्त रहता है इसलिये उसे 'अन्तरात्मा' कहते हैं।

८—भाव जीव (गाथा २५) :

गाथा २ में दो प्रकार के जीव—द्रव्य जीव और भाव जीव का उल्लेख आया है। गाथा १ में बता दिया गया है कि द्रव्य जीव शाश्वत असंख्यात प्रदेशी पदार्थ है। प्रश्न होता है कि भाव जीव किसे कहते हैं ? इसीका उत्तर २५ वीं गाथा में दिया गया है।

द्रव्य जीव नित्य पदार्थ है पर वह कूटस्थ नित्य नहीं परिणामी नित्य है। इसका तात्पर्यार्थ यह है कि द्रव्य जीव शाश्वत होने पर भी उसमें परिणाम अवस्थान्तर होते रहते हैं। जिस तरह स्वर्ण के कायम रहते हुए उसके भिन्न-भिन्न गहने होते हैं उसी तरह जीव पदार्थ कायम रहते हुए उसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं। द्रव्य जीव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त होता है। जैसे सोने की चूड़ियों को गला कर जब हम सोने का कण्ठा बनाते हैं तो कण्ठे की उत्पत्ति होती है, चूड़ियों का व्यय – नाश होता है और सोना सोने के रूप में ही रहता है उसी तरह जब जीव युवा होता है तो यौवन की उत्पत्ति होती है, बाल्य-भाव का व्यय होता है और जीव जीव रूप ही रहता है।

इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को पारिभाषिक-भाषा में 'पर्याय' कहते हैं। पर्याय वह है जो द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित होकर रहे। पर्याय—अवस्थान्तर द्रव्य और गुण दोनों में होते हैं। जिस तरह जल कभी बर्फ और कभी वाष्प रूप होता है उसी तरह एक ही मनुष्य बालक, युवक और वृद्ध होता है। ये आत्मा द्रव्य के अवस्थान्तर—पर्याय हैं। जिस तरह एक ही पुद्गल कभी शीत और कभी गर्म होता है, जो उसके स्पर्श गुण की अवस्थाएँ हैं, ठीक उसी प्रकार एक ही मनुष्य कभी ज्ञानी और कभी मूर्ख, कभी दुःखी और कभी सुखी होता है। ये आत्मा के चेतन गुण की अवस्थाएँ—पर्यायें हैं।

लक्षण, गुण और पर्याय—ये द्रव्य के भाव हैं। लक्षण और गुण ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। जीव को उपयोग लक्षणवाला, उपयोग गुण वाला कहा गया है इससे स्पष्ट है कि लक्षण और गुण एकार्थक हैं। जीव के जो तेईस नाम बतलाये गये हैं उनसे सांसारिक जीव के अनेक लक्षण व गुण सामने आते हैं। पर्याय का अर्थ है जो एक के बाद एक हो। द्रव्य जीव की अवस्था में जो प्रति-समय परिवर्तन होता है—एक स्थिति का अंत हो दूसरी स्थिति का जन्म होता है वे पर्याय हैं। लक्षण, गुण और पर्याय जीव के भाव हैं। स्वामीजी कहते हैं जो जीव के भाव हैं उन्हें ही भाव जीव कहते हैं। वे अनेक हैं।

जीवों में ज्ञान, दर्शन, आचार, विचार, सुख-दुःख, आयु, यश, ऐश्वर्य, जाति, सुख आदि प्रापकता की समर्थता-असमर्थता की तारतम्यता व भेद देखे जाते हैं। द्रव्यतः एक होने पर भी एक दूसरे से विचित्र मालूम देते हुए ये सब जीव भाव जीव हैं।

गीता में भी यही कहा गया है : "अव्यय आत्मा का कोई विनाश नहीं कर सकता[1]।" "जिस प्रकार इस देह में कौमार्य्य के बाद यौवन और यौवन के बाद बुढ़ापा आता है, उसी प्रकार इस देह में रहने वाले देही को देहान्तर प्राप्त होती है[2]।"

आगे जाकर कृष्ण कहते हैं—"बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दमन, शमन, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतुष्टि, तप, दान, यश, अपयश—प्राणियों के नाना प्रकार के ये भाव मुझ से ही उत्पन्न होते हैं[3]।" अगर यहाँ कृष्ण का अर्थ शुद्ध आत्म-तत्त्व लिया जाय तो अर्थ होगा कि आत्मा कहती है बुद्धि, ज्ञान आदि नाना भाव मुझ शाश्वत तत्त्व आत्मतत्त्व से ही उत्पन्न है।

१—गीता २.१७ :

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

२—गीता २.१३ :

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

३—गीता १०.४,५ :

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥

६—पाँच भाव (२६-३६) :

यहाँ भाव का अर्थ है बँधे हुए कर्मों की अवस्था विशेष अथवा कर्म-बद्ध जीवों की अवस्था विशेष।

संसारी जीव कर्म-बद्ध अवस्था में होते हैं। ये बँधे हुये कर्म हर समय फल नहीं देते। परिपाक अवस्था में ही सुख-दुःख रूप फल देना आरम्भ करते हैं। फल देने की अवस्था में आने को उदयावस्था या उदय भाव कहते हैं। जब बँधे हुये कर्म उदयावस्था में होते हैं, तब उस कर्म-बद्ध जीव की भी विशेष स्थिति होती है। जीव की इस स्थिति विशेष को औदयिक भाव कहते हैं।

इसी प्रकार बँधे हुये कर्मों का उपशान्त अवस्था में होना उपशमावस्था अथवा उपशम भाव है। बँधे हुये कर्मों की उपशान्त अवस्था में उत्पन्न जीव की स्थिति विशेष को औपशमिक भाव कहते हैं।

कर्मों का क्षयोपशांत अवस्था में होना क्षयोपशम अवस्था या क्षयोपशम भाव है। कर्मों की क्षयोपशम अवस्था में उत्पन्न जीव की स्थिति विशेष को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

कर्मों का नाश होना क्षयावस्था या क्षय भाव कहलाता है। बँधे हुये कर्मों की क्षयावस्था में उत्पन्न जीव की स्थिति विशेष को क्षायिक भाव कहते हैं।

सर्व कर्म परिणमन करते रहते हैं—अवस्थान्तर प्राप्त होते रहते हैं। इसे कर्मों की पारिणामिक अवस्था कहते हैं। बँधे हुये कर्मों की पारिणामिक अवस्था में जीव में उत्पन्न अवस्था विशेष को पारिणामिक भाव कहते हैं।

औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन पांच भावों की स्थिति में दो बातें होती हैं—(१) कर्मों का क्रमशः उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और परिणमन। कर्म जड़ पुद्गल हैं। (२) कर्मों के उदय आदि से जीव कितनी ही बातों से निष्पन्न होता है।

कर्म आठ हैं : (१) ज्ञानावरणीय—जो आत्मा की ज्ञान-शक्ति को प्रकट होने से रोकता है; (२) दर्शनावरणीय—जो आत्मा को देखने की शक्ति को रोकता है; (३) वेदनीय—जिससे जीव को सुख-दुःख का अनुभव होता है; (४) मोहनीय—जो आत्मा को मोह-विह्वल करता है, स्व-पर विवेक में बाधा पहुँचाता है; आत्मा के सम्यक् व चारित्र गुणों की घात करता हैं; (५) आयुष्य—जो प्राणी की जीवन-

अवधि—आयु को निर्धारित करता है ; (६) नाम—जो प्राणी की गति, शरीर, परि-स्थिति आदि का निर्यामक होता है ; (७) गोत्र—जो मनुष्य के ऊँच-नीच कुल को निर्धारित करता है और (८) अन्तराय—जो दान, लाभ, भोग-उपभोग व पराक्रम इन चार बातों में रुकावट डालता है।

उदय आठ ही कर्मों का होता है। कर्मों के उदय से जीव को चार गति, छः काय, छः लेश्या, चार कषाय, तीन वेद, समदृष्टि, समिथ्यादृष्टि, अविरति, असंज्ञी, अज्ञानी, आहारता, छद्मस्थता, संयोगी, संसारता, असिद्ध—ये भाव उत्पन्न होते हैं।

उपशम केवल मोहनीय कर्म का ही होता है। इससे उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र प्राप्त होते हैं।

क्षय आठ कर्मों का होता है। कर्मों के क्षय से जीव को केवल ज्ञान, केवल दर्शन, आत्मिक सुख, क्षायक सम्यक्त्व, क्षायक चारित्र, अटल अवगाहना, अमूर्तित्व, अगुरुलघुता, दान लब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि, वीर्य लब्धि की प्राप्ति होती है।

क्षयोपशम चार कर्मों का होता है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। इन कर्मों के क्षयोपशम से जीव में क्रमशः निम्नलिखित बातें उत्पन्न होती हैं : केवल ज्ञान को छोड़कर चार ज्ञान, तीन अज्ञान और स्वाध्याय। पाँच इन्द्रिय और केवल दर्शन को छोड़कर तीन दर्शन। चार चारित्र, देश व्रत और तीन दृष्टि। पाँच लब्धि और तीन वीर्य।

सर्व कर्म पारिणामिक हैं। कर्मों के परिणमन से जीव में अनेक परिणाम होते हैं। वह गति परिणामी, इन्द्रिय परिणामी, कषाय परिणामी, लेश्या परिणामी, योग परिणामी, उपयोग परिणामी, ज्ञान परिणामी, दर्शन परिणामी, चरित्र परिणामी तथा वेद परिणामी होता है[1]।

स्वामी जी कहते हैं कि जड़ कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और परिणमन से जीव में जो जो भाव निष्पन्न होते हैं वे सब भाव जीव हैं।

जीवों के पाँचों—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव भी भाव जीव हैं।

इन भाव जीवों की उत्पत्ति कर्मों के संयोग-वियोग से होती है—यह स्पष्ट ही है।

कर्मों के क्षय से उत्पन्न क्षायिक भाव स्थिर होते हैं। उत्पन्न होने के बाद वे नष्ट नहीं होते। अन्य भाव अस्थिर होते हैं। उत्पन्न होकर मिट जाते हैं।

१—पाँचों भाव विषयक इस निरूपण के लिए देखिए 'अनुयोग द्वार' सूत्र० १२६ तथा तेरा द्वार द्वा० ८

१०—द्रव्य जीव का स्वरूप (गाथा ३७-४२) :

पहली और दूसरी गाथा से यह स्पष्ट है कि जीव के दो भेद होते हैं—(१) द्रव्य जीव और (२) भाव जीव। प्रथम गाथा में द्रव्य जीव के स्वरूप का सामान्य उल्लेख है। टिप्पणी ६ (पृ० २७) में इस सम्बन्ध में कुछ प्रकाश है। यहाँ उसके स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है। द्रव्य जीव के विषय में आगम में निम्न बातें कही गई हैं :

(१) **जीव द्रव्य चेतन पदार्थ है**। एक बार गौतम ने महावीर से पूछा—"भगवन् ! क्या जीव चैतन्य है ?" महावीर ने उत्तर दिया : "जीव नियम से चैतन्य है और जो चैतन्य है वह भी नियम से जीव है[1]।" इससे स्पष्ट है कि जीव और चैतन्य का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। जीव उपयोग युक्त पदार्थ कहा गया है। 'गुणओ उवओग गुणो[2]' **'उवओगलक्खणेणं जीवे[3]'**। उपयोग का अर्थ है ज्ञान—जानने की शक्ति और दर्शन—देखने की शक्ति। उपयोग जीव का गुण या लक्षण है। कहा है—"जीव-ज्ञान, दर्शन तथा सुख-दुःख की भावना से जाना जाता है[4]।"

(२) **जीव द्रव्य अरूपी है**। वह भावतः अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श पदार्थ है[5]। उसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नहीं होते और इसी कारण वह अमूर्त — इन्द्रियागोचर पदार्थ है।

१—भग० ६.१० : जीवेणं भंते ! जीवे, जीवे जीवे ? गोयमा ! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि—नियमा जीवे।

२—ठाण० ५.३.५३० ; भग० २.१०

३—भग० १३.४

४—उत्त० २८ :

> वत्तणालक्खणो कालो जीवो उवओगलक्खणो।
> नाणेणं दंसणेण च सुहेण य दुहेण य॥

५—(क) ठा० ५.३.५३० : जीवत्थिकाए णं अवन्ने अगंधे अरसे अफासे अरूवी··· भावतो अवन्ने अगंधे अरसे अफासे अरूवी

(ख) भग० २.१० : जीवत्थिकाए णं भंते ! कतिवन्ने कतिगंधे कतिरसे कइफासे ? गोयमा ! अवण्णे जाव अरूवी

(ग) ठा० ४.१ : चत्तारि अत्थिकाय। अरूविकाया पं ते···...जीवत्थिकाए

(३) जीव द्रव्य शाश्वत है। ठाणांग (५.३.५३०) में कहा है "कालआ ण कयाइ णासी न कयाइ न भवइ न कयाइ न भविस्सइत्ति भुविं भवइ य भविस्सइ य धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे[1]।" जीव पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा[2]। वह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्वय, स्थित और नित्य है। वह तीनों कालों में जीव रूप में विद्यमान रहता है। जीव कभी अजीव नहीं होता[3]। यही उसकी शाश्वतता है। गीता में कहा है—"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे (२.२०)"—यह जीवात्मा अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता। गीता का निम्न श्लोक भी यही बात कहता है :

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥
२.१२

गौतम ने पूछा—"लोक में शाश्वत क्या है? भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"जीव और अजीव[4]।"

(४) जीव उत्पाद-व्यय संयुक्त है। जीव शाश्वत ध्रुव पदार्थ होने पर भी उसमें एक के बाद एक अवस्था होती रहती है। इन क्रमिक अवस्थाओं को पारिभाषिक शब्दावली में पर्याय कहते हैं। पहली स्थिति का नाश होता है, दूसरी का जन्म होता है और इन परिवर्तित स्थितियों में चैतन्य असंख्यात प्रदेशी द्रव्य जीव वैसा का वैसा रहता है। (देखिए टि० ८ पृ० ३६)

(५) जीव द्रव्य अस्तिकाय है[5]। अस्ति=प्रदेश; काय=समूह। असंख्य अथवा अनन्त प्रदेशों का जो समूह होता है उसे अस्तिकाय कहते हैं। जीव असंख्यात प्रदेशों का

१—भगवती २.१०.११७ में भी ऐसा ही पाठ मिलता है।

२—भगवती १.४.४१

३—ठा० १०.१.६३१ : ण एवं भूयं वा भव्वं वा भविस्सइ वा जं जीवा अजीवा भविस्संति अजीवा वा जीवा भविस्संति

४—ठा० २.४.१५१ के सासया लोए? जीवच्चेव-अजीवच्चेव।

५—(क) भग० २.१० .११७ : कति णं भंते! अत्थिकाया पं०? गोयमा पंच अत्थिकाया प०, तंजहा...जीवत्थिकाए

(ख) ठा० ४.१.३१४
चत्तारि अत्थिकाया अरूविकाया पं० तं०...जीवत्थिकाए

समूह है। वस्तु से संलग्न अपृथक्य सूक्ष्मतम अंश को प्रदेश कहते हैं। परमाणु पुद्गल से अलग हो सकते हैं पर प्रदेश जीव से कभी अलग नहीं हो सकते। एक परमाणु जितने स्थान को रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। इस माप से जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गल अवयव रूप तथा अवयव-प्रचय रूप होता है जबकि जीव एक प्रदेश रूप अथवा एक अवयव रूप नहीं हो सकता। वह हमेशा प्रदेशप्रचय रूप में—प्रदेशों के अखंड समूह के रूप में रहता है। (देखिए टिप्पणी ६ पृ० २८ पेरा ४ तथा टि० ७ पृ० २९ अन्तिम पेरा)

(६) **वह अच्छेद्य, अभेद्य आदि तथा अखंड द्रव्य है।** अस्तिकाय होने से जीव सहज ही इन गुणों से विभूषित होता है। स्वामीजी ने जो यहां वर्णन किया है उसका गीता के निम्न श्लोकों से बड़ा साम्य है।

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।
> अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
> नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
> २.२३.२४

न इस जीवात्मा को शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी गला सकता है और न हवा सुखा सकती है। यह जीवात्मा काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, गलाया नहीं जा सकता, सुखाया नहीं जा सकता। यह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर रहनेवाला है, अचल है और सनातन है। आगम में आत्मा की इस विशेषता का वर्णन इन शब्दों में मिलता है—"से न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ कंचणं सव्व लोए[1]।"

१—आचाराङ्ग १.३.३

भगवती (८.३.३२४) का निम्न पाठ भी इसी बात का समर्थन करता है :

"अह भंते! कुम्मे कुम्मावलिया गोहे गोहावलिया गोणे गोणावलिया मणुस्से मणुस्सावलिया महिसे महिसावलिया एएसि णं दुहा वा तिहा वा संखेज्जहा वा छिन्नाणं जे अंतरा ते वि णं तेहिं जीवपएसेहिं फुडा? हंता! फुडा। पुरिसे णं भंते! (तं अंतरं) ते अंतरे हत्थेण वा पाएण वा अंगुलिया वा सलागाए वा कट्ठेण वा कलिंचेण वा आमुसमाणे वा संमुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अन्नयरेण वा तिक्खेणं सत्थजाएणं आच्छिंदमाणे वा विच्छिंदमाणे वा अगणिकाएणं वा समोडहमाणे तेसिं जीवपएसाणं किंचि आबाहं वा विबाहं वा उप्पायइ छविच्छेदं वा करेइ? णो तिणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं संकमइ।"

(७) जीव द्रव्य कभी विलय को प्राप्त नहीं होता। यह एक सिद्धांत है कि अस्तित्व अस्तित्व में परिणमन करता है और नास्तित्व नास्तित्व में[1]। द्रव्यत: अस्तित्ववान जीव भविष्य में नास्तित्व में परिणमन नहीं कर सकता। गीता में कहा है—"जो असत् है उसका भाव (=अस्तित्व) नहीं होता, जो सत् है उसका अभाव (=अनस्तित्व) नहीं होता—तत्त्वदर्शियों ने इन दोनों बातों को अंतिम सिरे तक जान लिया है[2]।"

(८) जीव द्रव्य संख्या में अनन्त है[3]। एक बार गौतम ने पूछा—"जीव द्रव्य संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त ?" भगवान ने उत्तर दिया—"हे गौतम ! जीव अनंत हैं[4]।" इसी प्रकार भगवान से एक बार पूछा गया—"लोक में अनंत क्या हैं ?" भगवान ने उत्तर दिया—"जीव और अजीव[5]।" जीवों की संख्या में कभी कमी-वेशी नहीं होती। एक बार गौतम ने पूछा—"हे भगवन्। क्या जीव घटते बढ़ते हैं ?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम ! जीव न बढ़ते हैं, न घटते हैं, अवस्थित हैं।" गौतम ने फिर पूछा—"कितने काल तक जीव घटे बढ़े विना अवस्थित रहते हैं।" भगवान ने जवाब दिया—"हे गौतम ! जीव सर्व काल के लिये अवस्थित हैं[6]।"

(९) जीव अनंत होने पर भी द्रव्य जीव एक है। ठाणांग में कहा है—"आत्मा एक है[7]।" चूंकि द्रव्य रूप से सब आत्माएँ चेतन और असंख्यात प्रदेशी हैं अत: वे एक कही जा सकती हैं। (देखिये टि० ६ पृ० २८ पेरा ५)

१—भग० १.३.३२ : से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्ते नत्थित्ते परिणमइ ? हंता गोयमा ! जाव परिणमइ।

२—गीता २.१६ :

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

३—(क) ठा० ५.३.५३० : दव्वओ णं जीवात्थिकाए अणंताइं दव्वाइं

(ख) भग० २.१०.११७ : दव्वओ णं जीवत्थिकाए अणंताइं जीवदव्वाइं।

४—भग० २५.२.७१६ : जीवदव्वा णं भंते ! किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता ? गोयमा ! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता।

५—ठा० २.४. १५१ : के अणंता लोए ? जीवच्चेव अजीवच्चेव।

६—भग० ५.८ २२१ : भन्तेत्ति भगवं गोयमे जाव एवं वयासी—जीवाणं भंते ! किं वड्ढंति हायंति अवट्ठिया ?, गोयमा ! जीवा णो वड्ढंति नो हायंति अवट्ठिया। जीवा णं भंते ! केवइयं कालं अवट्ठिया [वि] ? सव्वद्धं।

७—ठा० १.१ : एगे आया

(१०) यह लोक-द्रव्य है :-"लोग दव्वे", "खेत्तओ लोकपमाणमेत्ते[1] ।" क्षेत्र की दृष्टि से जीव लोक परिमित है। लोक के बाहर जीव द्रव्य नहीं होता। "जहाँ तक लोक है वहाँ तक जीव हैं। जहाँ तक जीव हैं वहाँ तक लोक है[2] ।"

११—द्रव्य के लक्षण, गुणादि भाव जीव हैं (गाथा ४३-४४) :

गाथा २५ में कहा गया है—"भाव ते लखण गुण परज्याय, ते तो भावे जीव छै ताय।" यहाँ इसी बात को पुनः दुहराया गया है। इसका भाव टिप्पणी ८ (पृ० ३६-७) में स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ लक्षण, गुण और पर्याय को भाव जीव कहने के साथ-साथ औदयिक आदि पाँच भावों को भी भाव जीव कहा है। जीव के भाव, लक्षण, गुण और पर्याय अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी हो सकते हैं। अच्छे हों या बुरे, सब भाव जीव हैं। पाँच भावों में से क्षायिक भाव को छोड़कर अवशेष चार भाव स्थिर नहीं रहते। कर्मों के क्षय से निष्पन्न कितने ही क्षायक भाव स्थिर होते हैं।

१२—जीव शाश्वत अशाश्वत कैसे ? (गाथा ४५-४७) :

एक बार गौतम ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा—"जीव शाश्वत है या अशाश्वत।" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम ! जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।" गौतम ने पूछा—"भगवान् ! आप ऐसा किस हेतु से कहते हैं ?" भगवान् ने उत्तर दिया—"गौतम ! जीव द्रव्य की अपेक्षा शाश्वत है और भाव की अपेक्षा अशाश्वत। इस हेतु से कहता हूँ कि जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।"[3] स्वामीजी ने इन गाथाओं में आगम की इसी बात को रखा है। जीव के जितने भी भाव—पर्याय हैं वे उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं। इससे अशाश्वत हैं। जीव द्रव्य स्वयं कभी विलय को प्राप्त नहीं होता इसलिये वह शाश्वत है। "वह था, है और आगे भी रहेगा इसलिए शाश्वत है। जीव नैरयिक होकर तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होता है, तिर्यञ्च योनि से निकल मनुष्य होता है आदि आदि इसलिए अशाश्वत है[4] ।"

१—ठा० ५.३ ५३०

२—ठा० १०.६३१ : जाव ताव लोगे ताव ताव जीवा जाव ताव जीवा ताव ताव लोए

३—भग० ७.२.२७३ : गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—जीवा सिय सासया सिय असासया।

४—भग० ९.३४.३८७
सासए जीवे जमाली ! जं न कयाइ णासि जाव णिच्चे, असासए जीवे जमाली ! जं णं नेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिये भवइ तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ मणुस्से भविता देवे भवइ।

१३ आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष भाव जीव हैं (गाथा ४८-५६) :

नव पदार्थों में जीव और अजीव के उपरांत अवशेष पदार्थ जीव हैं अथवा अजीव—यह एक प्रश्न है। स्वामी जी ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है : अजीव अजीव है क्योंकि वह तीनों कालों में अजीव ही रहता है। पुण्य अजीव है कारण पुण्य कर्म पुद्गल की पर्याय हैं। पुद्गल अजीव है अतः पुण्य अजीव है। इसी कारण पाप भी अजीव है। बंध पदार्थ भी अजीव है क्योंकि वह शुभ अशुभ कर्मों के बंध स्वरूप है। बाकी आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव के भाव हैं अतः जीव हैं[1]। यहाँ इसी प्रसंग का विस्तार के साथ विवेचन है। जीव कर्मों का कर्त्ता है इस कारण वह आश्रव है। जीव कर्मों को रोकने वाला है इसलिये वह संवर है। जीव कर्मों को तोड़ने वाला है इस कारण निर्जरा है। जीव कर्मों का सम्पूर्ण क्षय कर मुक्त होने वाला है अतः मोक्ष है।

आश्रव से कर्म आते हैं। कर्म अजीव हैं। कर्म ग्रहण करने वाला आश्रव जीव है। संवर से कर्म रुकते हैं। रुकने वाले कर्म अजीव हैं। रोकने वाला संवर जीव है। निर्जरा से कर्मों का आंशिक क्षय होता है। क्षय होने वाले कर्म अजीव हैं। कर्मों का आंशिक क्षय करने वाली निर्जरा जीव है। मोक्ष सम्पूर्ण कर्मों का क्षय है। जो क्षय होते हैं वे अजीव कर्म हैं। क्षय करने वाला मोक्ष जीव है।

आश्रव कामभोगों के साथ संयोग स्वरूप है। संवर त्याग रूप है। आश्रव से अजीव कर्म आते हैं। संवर से अजीव कर्म रुकते हैं। निर्जरा से कर्मों का क्षय होता है। संवर, निर्जरा और निर्जरा की करनी आदरणीय हैं। जो जीव आश्रव से संयुक्त होता है वह पाप कर्म का बंध करता है। इससे वह अपने भव-भ्रमण की वृद्धि करता है इसलिये वह स्रोतगामी है संसार के सम्मुख है। जो त्याग और तपस्या रूप संवर और निर्जरा को अपनाता है वह कर्मों को रोकता और तोड़ता हुआ संसार को पार करता है। वह प्रतिस्रोतगामी है।

आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष भाव जीव हैं।

१४—सावद्य निरवद्य सर्व कार्य भाव जीव हैं (गाथा ५७-५८) :

जितने भी कार्य हैं उनको दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) सावद्य और (२) निरवद्य। सावद्य कृत्य हेय हैं, निरवद्य कृत्य उपादेय हैं। सावद्य कृत्य आज्ञा के बाहर हैं, निरवद्य कृत्य आज्ञा के अंदर हैं। जो निरवद्य क्रिया करता है वह विनयी है, जो सावद्य

१—पाना की चर्चा : लड़ी ५ ; तेराद्वार : द्वार ४, ५

क्रिया करता है वह अविनयी है। सावद्य और निरवद्य क्रिया करने वाले दोनों ही भाव जीव हैं।

१५—आध्यात्मिक और लौकिक वीर भाव जीव हैं (गाथा ५९-६०) :

वीर दो तरह के होते हैं—एक सांसारिक वीर और दूसरे आध्यात्मिक वीर। जो कर्म-रिपुओं से युद्ध करने में अपनी शक्ति को लगाते हैं वे आध्यात्मिक वीर हैं। जो सांसारिक रिपुओं से ही युद्ध करते हैं वे आध्यात्मिक वीर नहीं केवल सांसारिक वीर हैं। दोनों ही भाव जीव हैं। आध्यात्मिक वीर मोक्ष को प्राप्त करता है, सांसारिक वीर अपने संसार की वृद्धि करता है।

: २ :

अजीव पदारथ

दुहा

१—हिवे अजीव नें ओलखायवा, त्यांरा कहूं छूं भाव भेद।
थोडा सा परगट करूं, ते सुणजो आंण उमेद।

ढाल : २

(मम करो काया माया कारमी—ए देशी)

१—धर्म अधर्म आकास छै, काल नें पुदगल जांण जी।
अे पांचूंइ दरब अजीव छें, त्यांरी बुद्धवंत करो पिछांण जी।
अे अजीव पदारथ ओलखो* ॥

२—यांमें च्यार दरबां नें अरूपी कह्या, त्यांमें वर्ण गंध रस फरस नांहिं जी।
एक पुदगल द्रव्य रूपी कह्यो, वर्णादिक सर्व तिण मांहिं जी॥

३—अे पांचोइ द्रव्य भेला रहे, पिण भेल सभेल न होय जी।
आप आप तणो गुण ले रह्या, त्यांनें भेला कर सके नहीं कोय जी॥

४—धर्म द्रव्य धर्मास्तीकाय छै, आसती ते छती वस्त ताय जी।
असंख्यात प्रदेस छै तेहनां, काय कही छै इण न्याय जी॥

५—अधर्म द्रव्य अधर्मास्तीकाय छै, आ पिण छती वसत ताय जी।
असंख्यात प्रदेस छै तेहनां, तिणनें काय कही इण न्याय जी॥

---

* यह आंकड़ी है। प्रत्येक गाथा के अन्त में इसकी पुनरावृत्ति होती है।

: २ :

अजीव पदार्थ

: २ :

अजीव पदार्थ

दोहा

१—अजीव पदार्थ[1] की पहचान के लिये उसके भावभेद संक्षेप में प्रगट करता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनना । — अजीव पदार्थ के विवेचन की प्रतिज्ञा

ढाल : २

१—जीव के उपरांत धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पांच द्रव्यों को और जानो। ये पांचों ही द्रव्य अजीव हैं[2] । बुद्धिमान इनकी पहचान करें। — पाँच अजीव द्रव्यों के नाम

२—इनमें से प्रथम चार द्रव्यों को भगवान ने अरूपी कहा है । इनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं है; केवल पुद्गल द्रव्य को रूपी कहा है, उसमें वर्णादि चारों मिलते हैं[3] । — प्रथम चार अरूपी, पुद्गल रूपी

३—ये पाँचों ही द्रव्य एक साथ रहते हैं परन्तु इनमें मिलावट नहीं होती । एक साथ रहने पर भी प्रत्येक अपने-अपने गुणों को लिये हुए रहता है । इनकी मिलावट करना किसी के लिये भी संभव नहीं है[4] । — प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व

४—धर्म द्रव्य अस्तिकाय है । अस्ति अर्थात् जो वस्तु सत् है और काय अर्थात् जिसके असंख्यात प्रदेश हैं। असंख्यात प्रदेशी सत् (अस्तित्व वाली) वस्तु होने से जिन-भगवान ने धर्म द्रव्य को धर्मास्तिकाय कहा है । — धर्म, अधर्म, आकाश अस्तिकाय क्यों ? (गा० ४–६)

५—अधर्म द्रव्य भी अस्तिकाय है । यह भी सत् (अस्तित्व वाली) वस्तु है और इसके असंख्यात प्रदेश हैं, इसलिये अधर्म द्रव्य को भी अस्तिकाय कहा गया है ।

६—आकास द्रव्य आकास्तीकाय छै, आ पिण छती वसत छै नाय जी।
अनंत प्रदेस छै तेहनां, तिणसं काय कही जिण राय जी॥

७—धर्मास्ती अधर्मास्ती काय तो, पेंहली छै लोक प्रमांण जी।
लोक अलोक प्रमांण आकास्ती, लांबी नें पेंहली जांण जी॥

८—धर्मास्ती नें अधर्मास्ती, वले तीजी आकास्तीकाय जी।
अे तीनूं कहीं जिण सासती, तीनूंई काल रे मांय जी॥

९—अे तीनूंई द्रव्य छै जू जूआ, जूआ जूआ गुण परजाय जी।
त्यांरी गुण परज्याय पल्टे नहीं, सासता तीन काल रे मांय जी॥

१०—ए तीनूंई द्रव्य फेली रह्या, ते तो हाले चाले नहीं नाय जी।
हाले चाले ते पुदगल जीव छै, ते फिरे छै लोक रे मांय जी॥

११—जीव नें पुदगल चाले तेहनें, साज धर्मास्तीकाय जी।
अनंता चाले त्यांनें साज छै, तिण सूं अनंती कही परजाय जी॥

१२—जीव नें पुदगल थिर रहे, त्यांनें साज अधर्मास्तीकाय जी।
अनंता थिर रहे त्यांनें साज छै, तिण सूं अनंती कही परजाय जी॥

१३—जीव अजीव सर्व दरब नों, भाजन आकास्तीकाय जी।
अनंता रो भाजन तेह सूं, अनंती कही परजाय जी॥

६—आकाश द्रव्य आकाशास्तिकाय है। यह भी सत् (अस्तित्व वाली) वस्तु है और इसके अनन्त प्रदेश हैं इसलिये जिन भगवान ने आकाश द्रव्य को अस्तिकाय कहा है[५]।

७—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक-प्रमाण पहुली हैं। आकाशास्तिकाय लोकालोक प्रमाण लम्बी और पहुली है[६]। — धर्म, अधर्म, आकाश का क्षेत्र-प्रमाण

८—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन तीनों ही को भगवान ने शाश्वत कहा है। इनका अस्तित्व तीनों काल में रहता है। — तीनों शाश्वत द्रव्य

९—ये तीनों ही द्रव्य अलग-अलग हैं। तीनों के गुण और पर्याय भिन्न-भिन्न हैं। इनके गुण और पर्याय परस्पर में अपरिवर्तनशील हैं (एक के गुण पर्याय दूसरे के नहीं होते)। ये तीनों काल में शाश्वत रहते हैं[७]। — तीनों के गुण पर्याय अपरिवर्तनशील

१०—ये तीनों ही द्रव्य फैले हुए हैं, ये हलन-चलन नहीं करते—निष्क्रिय हैं। केवल पुद्गल और जीव ही सक्रिय (हलन-चलन क्रिया करने वाले) हैं। ये समस्त लोक में हलन-चलन क्रिया करते हैं[८]। — तीनों निष्क्रिय द्रव्य

११—जीव और पुद्गल जो चलन क्रिया करते हैं, उसमें धर्मास्तिकाय का सहारा रहता है। गमन करते हुए अनन्त जीव और पुद्गलों को सहारा देने से धर्मास्तिकाय की अनन्त पर्यायें कही गयी हैं। — धर्मास्तिकाय का लक्षण और उसकी पर्याय - संख्या

१२—स्थिर होते हुए जीव और पुद्गल को अधर्मास्तिकाय सहायक होती है। स्थिर होते हुए अनन्त जीव और पुद्गलों को सहायक होने से अधर्मास्तिकाय की अनन्त पर्यायें कही गई हैं। — अधर्मास्तिकाय का लक्षण और उसकी पर्याय-संख्या

१३—जीव अजीव सर्व द्रव्यों का भाजन आकाशास्तिकाय है। अनन्त पदार्थों का भाजन होने से इसकी अनन्त पर्यायें कही गई हैं। — आकाशास्तिकाय का लक्षण और पर्याय-संख्या

१४—चालवानें साजं धर्मास्ती, थिर रहवानें अधर्मास्तीकाय जी।
आकास विकास भाजन गुण, सर्व द्रव्य रहै तिण मांय जी॥

१५—धर्मास्ती रा तीन भेद छै, खंध ने देस परदेस जी।
आखो धर्मास्ती खंध छै, ते ऊंणो नहीं लवलेस जी॥

१६—एक प्रदेस थी आदि दे, एक प्रदेस ऊंणो खंध न होय जी।
त्यां लग देस प्रदेस छै, तिणनें खंध म जाणजो कोय जी।

१७—धर्मास्तीकाय तो सेंथाले पड़ी, तावड़ा छांहो ज्यूं एक धार जी।
तिणरे बेंटो ने बींटो कोई नहीं, वले नहीं छै कीं सांध लिगार जी॥

१८—पुद्गलास्ती सुं प्रदेस न्यारो पड्यो, तिणनें परमाणु कह्यो जिणराय जी।
तिण सूखम परमाणु थकी, तिण सूं मापी छै धर्मास्तीकाय जी॥

१९—एक परमाणूओ फरसें धर्मास्ती, तिणनें प्रदेस कह्यो जिणराय जी।
इण मापा सूं धर्मास्तीकाय नां, असंख्याता प्रदेस हुवे ताय जी॥

२०—तिण सूं असंख्यात प्रदेसी धर्मास्ती, अधर्मास्ती पिण इमहीज जांण जी।
अनंता आकास्तीकाय नां, प्रदेस इण रीत पिछांण जी॥

२१—काल पदारथ तेहनां, द्रव्य कह्या छै अनंत जी।
नीपनां नीपजे नें नीपजसी वलि, तिणरो कदेय न आवसी अंत जी॥

१४· धर्मास्तिकाय चलने में सहायक है, अधर्मास्तिकाय स्थिर रहने में तथा आकाशास्तिकाय का स्वभाव (गुण) द्रव्यों को स्थान देना है—सर्व द्रव्य उसीमें रहते हैं[९]।

तीनों के लक्षण

१५—धर्मास्तिकाय के तीन भेद हैं· (१) स्कन्ध, (२) स्कन्ध देश, और (३) स्कन्ध-प्रदेश। जरा भी अन्यून—समूची धर्मास्तिकाय को स्कन्ध कहते हैं।

धर्मास्तिकाय के स्कंध, देश, प्रदेश (गा० १५-१६)

१६—एक प्रदेश से आदि कर (लगा कर) एक प्रदेश कम तक स्कन्ध नहीं, पर देश और प्रदेश होते हैं। प्रदेश मात्र भी न्यून को कोई स्कंध न समझे[१०]।

१७—धर्मास्तिकाय धूप और छांह की तरह संलग्न रूप से फैली हुई है। न तो उसके चातुर्दिक कोई घेरा है और न कोई संधि (जोड़) ही[११]।

धर्मास्तिकाय कैसा द्रव्य है ?

१८—पुद्गलास्तिकाय से जो एक प्रदेश पुद्गल अलग हो जाता है उसको जिन भगवान ने परमाणु कहा है। उस सूक्ष्म परमाणु से धर्मास्तिकाय मापा गया है[१२]।

परमाणु की परिभाषा

१९—एक परमाणु जितने धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है उतने को जिन भगवान ने प्रदेश कहा है। इस माप से धर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश होते हैं।

प्रदेश के माप का आधार परमाणु (गा० १९-२०)

२०—इस माप से धर्मास्तिकाय असंख्यात प्रदेशी द्रव्य है। अधर्मास्तिकाय भी उतनी ही है। इसी माप से आकाशास्तिकाय के अनन्त प्रदेश होते हैं[१३]।

२१—काल अजीव द्रव्य है। उसके अनन्त द्रव्य कहे गये हैं। वे उत्पन्न हुए, होते और होंगे। उनका कभी भी अन्त नहीं आयगा।

काल के द्रव्य अनन्त हैं (गा० २१-२२)

२२—गये काल अनंता समां हूआ, वरतमांन समो एक जांण जी।
आगमीये काले अनंता हुसी, ए काल द्रव्य पिछांण जी॥

२३—काल द्रव्य नीपजवा आसरी, सासतो कह्यो जिणराय जी।
उपजे नें विणसे तिण आसरी, असासतो कह्यो इण न्याय जी॥

२४—तिण सूं काल दरब नहिं सासता, ए तो उपजे छै जेम प्रवाह जी।
जे उपजे ते समो विणसे सही, तिणरो कदेय न आवे छै थाह जी॥

२५—सुरज ने चन्द्रमादिक नीं चाल थी, समो नीपजे दगचाल जी।
नीपजवा लेखे तो काल सासतो, समयादिक सर्व अधाकाल जी॥

२६—एक समो नीपजे नें विणसे गयो, पछै बीजो समो हुवे ताय जी।
बीजो विणस्यो तीजो नीपजें, इम अनुक्रमे नीपजता जाय जी॥

२७—काल वरते छै अढाइ धीप में, अढी धीप बारे काल नांहिं जी।
आढी धीप बारला जोतषी, एक ठाम रहे त्यांरा त्यांहिं जी॥

२८—दोय समयादिक भेला हुवे नहीं, तिण सूं काल नें खंध न कह्यो जिणराय जी।
खंध तो हुवे घणा रा समदाय थी, समदाय विण खंध न थाय जी॥

२९—अनंता गये काल समां हूआ, ते एकठा भेला नही हूआ कोय जी।
ए तो उपजेनें विणसे गया, तिण रो खंध किहां कथी होय जी॥

२२—गत काल में अनन्त समय हुए हैं, वर्तमान काल में एक समय है और आगामी काल में अनन्त समय होंगे। यह काल द्रव्य है। इसको पहचानो[१४]।

काल शाश्वत-अशाश्वत का न्याय (गा० २१-२६)

२३—भगवान ने काल द्रव्य को निरन्तर उत्पन्न होने की अपेक्षा से शाश्वत कहा है। यह उत्पन्न होना और विनाश को प्राप्त होता है, इस दृष्टि से इसको अशाश्वत कहा है।

२४—काल द्रव्य शाश्वत नहीं हैं। ये प्रवाह की तरह निरन्तर उत्पन्न होते हैं। जो समय उत्पन्न होता है वह विनाश को प्राप्त होता है। प्रवाह रूप से काल का कभी अंत नहीं आता।

२५—सूर्य और चन्द्रमादि की चाल से समय निरन्तर जल-प्रवाह की तरह उत्पन्न होता रहता है। इस उत्पत्ति की दृष्टि से काल शाश्वत है। समयादि सर्व अद्धा काल की यही बात है।

२६—एक समय उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त होता है कि दूसरा समय उत्पन्न हो जाता है, दूसरे का विनाश होता है कि तीसरा उत्पन्न हो जाता है। इस तरह समय एक के पीछे एक—अनुक्रम से उत्पन्न होते जाते हैं[१५]।

काल का क्षेत्र

२७—काल ढाई द्वीप में वर्तन करता है। उसके बाहर काल नहीं है। ढाई द्वीप के बाहर के ज्योतिषी इसी कारण वहीं के वहीं एक जगह रहते हैं[१६]।

काल के स्कंध, देश, प्रदेश, परमाणु क्यों नहीं? (गा० २८-३२)

२८—दो समय एकत्रित नहीं होते इसलिए जिन भगवान ने काल के स्कंध नहीं कहा है। स्कंध बहुतों के समुदाय से होता है। समुदाय बिना स्कंध नहीं होता।

२९—अतीत काल में अनन्त समय हुए हैं। वे तो जैसे उत्पन्न हुए वैसे ही उनका विनाश भी हो गया। वे कभी एक साथ इकट्ठे नहीं हुए फिर उनका स्कंध कैसे हो?

३०—आगमे काले अनंता समा होसी, ते पिण एकठा भेला नहीं कोय जी।
ते तो उपजनें विललावसी, तिण सूं खंध किसी पर होय जी ॥

३१—वरतमांन समो एक काल रो, एक समा रो खंध न होय जी।
ते पिण उपजेनें विले जावसी, काल रो थिर द्रव्य न कोय जी ॥

३२—खंध विना देस हुवे नहीं, खंध देस विना नहीं प्रदेस जी।
प्रदेश अलगो नहीं हुवे खंध थी, परमाणुओ न हुवे लवलेस जी ॥

३३—तिण सूं काल नें खंध कह्यो नहीं, वले नहीं कह्यो देस प्रदेस जी।
खंध थी छूटे अलगो पड्यां विनां, परमाणूओ कुण कहेस जी ॥

३४—काल ने मापो थाप्यो तीर्थंकरां, चन्द्रमादिक री चाल विख्यात जी।
ते चाल सदा काल सासती, ते वधे घटे नहीं तिल मात जी ॥

३५—तिणसुं मापो तीर्थंकर बांधीयो, जगन समो थाप्यो एक जी।
जगन थितकायं ने द्रव्य नी, तिण सूं उपकारा भेद अनेक जी ॥

३६—असंख्याता समा री थापी आवली, पछे मोहरत पोहर दिन रात जी।
पख मास रित अयन थापीया, दोय अयना रो वरस विख्यात जी ॥

३७—इम कहितां कहितां पल सागरू, उतसर्पणी नें अवसर्पणी जांण जी।
जाव पुद्गल परावर्तन थापीयो, इम काल द्रव्य नें पिछांण जी ॥

३०—आगामी काल में भी अनन्त समय होंगे। वे भी एक-साथ इकट्ठे नहीं होंगे। वे जैसे उत्पन्न होंगे वैसे ही उनका विनाश हो जायगा। तब स्कंध किस तरह होगा ?

३१—वर्तमान काल एक समय रूप है और एक समय का स्कंध नहीं होता। यह एक समय भी उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त हो जाता है। काल का इस तरह कोई स्थिर द्रव्य नहीं होता।

३२—स्कंध बिना काल के देश नहीं होता। स्कंध और देश के बिना प्रदेश नहीं होता। यहाँ स्कंध से प्रदेश अलग नहीं होता है इसलिए काल के परमाणु भी नहीं होता।

३३—इसीलिए काल के स्कंध नहीं कहा है और न देश और प्रदेश ही कहे हैं। स्कंध से छूटकर अलग हुए बिना उसके परमाणु कौन मानेगा[१७] ?

३४—तीर्थंकरों ने काल का माप चन्द्रमादिक की विख्यात चाल—गति से स्थिर किया है। यह चाल—गति सदा तीन काल में शाश्वती है। यह तिल मात्र भी घटती-बढ़ती नहीं[१८]।

३५—तीर्थंकरों ने इसी चाल से काल का माप बांधा है, और जघन्य काल एक 'समय' रूप स्थापित किया है। 'समय' कार्य और काल द्रव्य की जघन्य स्थिति है। उससे अधिक काल की स्थिति के अनेक भेद हैं।

जघन्य काल : समय

३६—असंख्यात समय की आवलिका फिर मुहूर्त, पहर, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और दो अयनों का वर्ष स्थापित किया है।

काल के भेद (गा० ३६-३८)

३७—इस तरह कहते-कहते पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पणी, अवसर्पणी, यावत् पुद्गल-परावर्त स्थापित किए हैं। इस तरह काल द्रव्य को पहिचानो[१९]।

३८—इण विध गयो काल नीकल्यां, इम हीज आगमीयो काल जी।
वरतमान समो पूछै तिण समें, एक समो छै अधाकाल जी॥

३९—ते समो वरते छै अढी दीप में, निरखो एनी दूर जांण जी।
ऊंचो वरते जोतष चक्र लगे, नवसों जोजन परमांण जी॥

४०—नीचो वरते सहस जोजन लगै, माविदेह री दो विजय रे मांय जी।
त्यांमे वरते अनंता द्रव्यां ऊपरे, तिणरूं अनंती कही छै परजाय जी॥

४१—एक एक द्रव्य रे ऊपरे, एक एक समो गिण्यो ताय जी।
तिण सुं एक समा ने अनंता कह्या, काल तणी परजाय रे न्याय जी॥

४२—वले कहि कहि नें किनरो कहूं, वरतमांन समो सदा एक जी।
तिण एकण नें अनंता कह्या, तिणनें ओलखो आण ववेक जी॥

४३—ए काल द्रव्य अरूपी तणा, कह्यो छै अल्प विस्तार जी।
हिवे पुदगल द्रव्य रूपी तणो, विस्तार सुणो एक धार जी॥

४४—पुदगल रा द्रव्य अनंता कह्या, ते द्रव्य तो सासता जांण जी।
भावे तो पुदगल असासतो, तिणरी ववरंत करजो पिछांण जी॥

४५—पुदगल रा द्रव्य अनंता कह्या, ते घटे वधे नहीं एक जी।
घटे वधे ते भाव पदगलु, तिणरा छै भेद अनेक जी॥

३८—इस तरह अतीत काल व्यतीत हुआ है। आगामी काल भी इसी तरह व्यतीत होगा। वर्तमान समय में, जब कि पूछा जा रहा हो, एक समय अद्धाकाल है[२०]।

काल के भेद : तीनों काल में एक से

३९—यह समय तिरछा ढाई द्वीप में वर्तन करता है। ऊँचा ज्योतिष चक्र तक नौ सौ योजन प्रमाण वर्तन करता है।

काल-क्षेत्र (गा० ३९-४०)

४०—नीचे सहस्र योजन तक महा विदेह की दो विजय में वर्तन करता है[२१]। इन सब में काल अनन्त द्रव्यों पर वर्तन करता है इससे काल की अनन्त पर्याय कही गयी हैं।

काल पर्याय : अनन्त (गा० ४०-४२)

४१—एक ही समय को अनन्त द्रव्यों पर गिनने से काल की अनन्त पर्याय कही गयी हैं। काल की पर्याय की दृष्टि से एक समय को अनन्त समय कहा है।

४२—कह कर मैं कितना बतला सकता हूँ। वर्तमान समय सदा एक है। इस एक को ही अनन्त कहा है, यह विवेक पूर्वक समझो[२२]।

४३—अरूपी काल द्रव्य का यह संक्षेप में विवेचन किया है। अब रूपी पुद्गल का विस्तार ध्यान पूर्वक सुनो।

पुद्गल : रूपी द्रव्य

४४—पुद्गल द्रव्य अनन्त कहे गये हैं। इन द्रव्यों को शाश्वत समझो। भाव पुद्गल अशाश्वत हैं। बुद्धिमान द्रव्य और भाव पुद्गल की पहिचान करें।

द्रव्य भाव पुद्गल की शाश्वतता-अशाश्वतता (गा० ४४-४५)

४५—पुद्गल द्रव्य अनन्त कहे हैं। वे एक भी घटते-बढ़ते नहीं। घट-बढ़ तो भाव पुद्गलों की होती है, जिनके अनेक भेद हैं[२३]।

४६—तिणरा च्यार भेद जिणवर कह्या, खंध नें देस प्रदेस जी।
चोथो भेद न्यारो परमांणूओ तिणरो छै ओहीज विसेस जी॥

४७—खंध रे लागो त्यां लग परदेस छै, ते छुटै नें एकलो होय जी।
तिणनें कहीजे परमाणूओ, तिण में फेर पड्यो नहीं कोय जी॥

४८—परमाणु नें प्रदेस तुल छै, तिणरी संका मूल म आंण जी।
आंगल रे असंख्यात में भाग छै तिणनें ओलखो चतुर सुजाण जी॥

४९—उतकष्टो खंध पुदगल तणो, जब सम्पूर्ण लोक प्रमांण जी।
आंगुल रे भाग असंख्यातमें, जगन खंध एतलो जांण जी॥

५०—अनंत प्रदेसीयो खंध हुवे, एक प्रदेस खेत्र में समाय जी।
ते पुदगल फेल मोटो खंध हुवे, ते सम्पूर्ण लोक रे मांय जी॥

५१—समचे पुदगल तीन लोक में, खाली ठोर जायगां नहीं काय जी।
ते आमां स्हामां फिर रह्या लोक में, एक ठाम [illegible] नहीं नाय जी॥

५२—थित च्यारूंइ भेदां तणी, जगन तो एक समो छै तांम जी।
उतकष्टी असंख्याता काल नी, ए भावे पुदगल तणा परिणांम जी॥

५३—पुदगल नो सभाव छै एहवो, अनंता गले ने मिल जाय जी।
तिण सूं पुदगल रा भाव री, अनंती कही परजाय जी॥

४६—पुद्गल द्रव्य के जिन भगवान ने चार भेद कहे हैं—(१) स्कंध, (२) देश, (३) प्रदेश और (४) परमाणु। परमाणु की विशेषता यह है :

पुगद्ल के भेद

४७—स्कंध से लगा रहता है तब तक प्रदेश होता है और यही प्रदेश जब स्कंध से छूट कर अकेला हो जाता है तब उसको परमाणु कहा जाता है। प्रदेश और परमाणु में केवल इतना-सा ही भेद है और कुछ फर्क नहीं।

परमाणु (गा० ४७-४८)

४८—परमाणु और प्रदेश तुल्य हैं। इसमें जरा भी शंका मत लाओ। परमाणु आँगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर होता है। चतुर और विज्ञ लोग परमाणु को पहचानें[२४]।

४६—पुद्गल का उत्कृष्ट स्कंध सम्पूर्ण लोक प्रमाण होता है और जघन्य स्कंध आँगुल के असंख्यातवें भाग जितना होता है।

उत्कृष्ट स्कंध : लोक-प्रमाण (गा० ४६-५०)

५०—अनन्त प्रदेशी स्कंध एक प्रदेश-प्रमाण आकाश (क्षेत्र) में समा जाता है और वही पुद्गल स्कंध फैल कर विस्तृत हो सम्पूर्ण लोक प्रमाण हो जाता है[२५]।

५१—पुद्गल तीनों लोक में सर्वत्र भरे हुए हैं। कोई भी ठौर नहीं जो पुद्गल से खाली हो[२६]। ये पुद्गल लोक में इधर-उधर गतिशील हैं। वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते[२७]।

पुद्गल : गतिमान द्रव्य

५२—इन चारों ही भेदों की कम-से-कम स्थिति एक समय की और अधिक-से-अधिक असंख्यात काल की है[२८]। पुद्गलों के ये परिणाम भाव पुद्गल हैं।

पुद्गल के भेदों की स्थिति

५३—पुद्गल का स्वभाव ही ऐसा है कि अनन्त बिछुड़ते और परस्पर मिल जाते हैं। इसी कारण इन पुद्गलों के भावों की अनन्त पर्याय कही गयी हैं[२९]।

पुद्गल का स्वभाव

५४—जे जे वस्तु नीपजे पुदगल तणी, ते ते सगली विललाय जी।
त्यांनें भावे पुदगल जिणवर कह्या, द्रव्य तो ज्यूं रा ज्यूं रहै ताय जी ॥

५५—आठ कर्म नें शरीर असासता, अे नीपना हूआ छै ताय जी।
तिण सूं भाव पुदगल कह्या तेहनें, द्रव्य तो नीपजायो नहीं जाय जी॥

५६—छाया तावड़ो प्रभा कंत छै, ए सगला सभाव पुदगल जांण जी।
वले अंधारो नें उद्योत छै, ए पुदगल भाव पिछांण जी॥

५७—हलको भारी सुहालो खरदरो, गोल वटादिक पांच संठाण जी।
घड़ा पडाद नें वस्त्रादिक, ए सगला भावे पुदगल जांण जी॥

५८—घरत गुलादिक दसूं विगे, भोजनादि सर्व वखांण जी।
वले सस्त्र विवध प्रकार ना, ए सगला भावे पुदगल जांण जी॥

५९—सइकड़ां मण पुदगल बल गया, पिण द्रव्य नो बल्यो नहीं अंसमात जी।
ए भावे पुदगल ऊपनां हुंता, ते भावे पुदगल विणस जात जी॥

६०—सइकड़ां मण पुदगल ऊपनां, पिण द्रव्य तो नहीं उपनों लिगार जी।
उपनां तेहीज विणससी, पिण द्रव्य नो नहीं विगाड़ जी॥

६१—द्रव्य तो कदेइ विणसे नहीं, तीनोइ काल रे मांय जी।
ऊपजे नें विणसे ते भाव छै, ते पुदगल री परजाय जी॥

५४—पुद्गल से जो वस्तुएं बनती हैं वे सभी विनाश को प्राप्त हो जाती हैं। इनको भगवान ने भाव पुद्गल कहा है। द्रव्य पुद्गल तो ज्यों-के-त्यों रहते हैं[30]।

भाव पुद्गल : विनाश शील

५५—आठ कर्म और पाँचों शरीर पुद्गल से उत्पन्न हैं और अशाश्वत हैं। इसीलिए भगवान ने इनको भाव पुद्गल कहा है। द्रव्य पुद्गल उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

भाव पुद्गल के उदाहरण

५६—छाया, धूप, प्रकाश, कांति इन सब को पुद्गल के लक्षण जानो। इसी प्रकार अंधकार और उद्योत ये भी भाव पुद्गल हैं।

५७—हल्कापन, भारीपन, खुरदरापन और चिकनापन आदि तथा गोलादि पांच आकार तथा घड़े, वस्त्रादि सब चीजें भाव पुद्गल हैं।

५८—घृत, गुड़ आदि दसों विकृतियां तथा सब तरह के भोजन तथा नाना प्रकार के शस्त्र इन सब को भाव पुद्गल समझो[31]।

५९—सैकड़ों मन पुद्गल भस्म हो चुके परन्तु द्रव्य पुद्गल जरा भी नहीं जले। जो उत्पन्न हुए वे भाव पुद्गल थे और जिनका विनाश हुआ वे भी भाव पुद्गल।

द्रव्य पुद्गल की शाश्वतता

भाव पुद्गल की विनाशशीलता

६०—सैकड़ों मन पुद्गल उत्पन्न होते हैं परन्तु द्रव्य पुद्गल उत्पन्न नहीं होता। ये जो उत्पन्न हुए हैं वे ही विनाश को प्राप्त होंगे परन्तु जो अनुत्पन्न पुद्गल द्रव्य हैं उनका विनाश नहीं होगा।

६१—द्रव्य का तीनों ही काल में कभी नाश नहीं होता। उत्पत्ति और विलय भाव पुद्गलों का होता है। ये भाव पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं[32]।

६२—पुदगल नें कह्यो सासतो असासतो, दरव नें भाव रे न्याय जी।
कह्यो छै उत्तराधेन छतीस में, तिण में संका म आंणजो कांय जी॥

६३—अजीव द्रव्य ओळखायवा, जोड़ कीधी श्री दुवारा मझार जी।
संवत अठारे पचावनें, वैसाख विद पांचम बुधवार जी॥

६२—उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ वें अध्याय में पुद्गल को शाश्वत और अशाश्वत कहा है, वह इसी द्रव्य और भाव पुद्गल की भेद-अपेक्षा से—इसमें जरा भी शंका मत लाना[३३]।

६३—अजीव द्रव्य का बोध कराने के लिए यह ढाल श्रीनाथद्वारा में सं० १८५५ की वैशाख बदी पंचमी बुधवार के दिन रची है।

टिप्पणियाँ

१—अजीव पदार्थ (दो० १) :

पदार्थ राशियां दो हैं— (१) जीव और (२) अजीव[1]। संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं उन्हें इन्हीं दो भागों में बाँट सकते हैं। जीव पदार्थ का वर्णन पहली ढाल में किया जा चुका है। दूसरी ढाल में अजीव पदार्थ का विवेचन किया गया है। अजीव पदार्थ जीव पदार्थ का प्रतिपक्षी है[2]। जो जीव न हो वह अजीव है। जीव चेतन है। वह उपयोग ज्ञान और दर्शन लक्षण से संयुक्त होता है। इन्द्रियों और शरीर के अन्दर ज्ञानवान जो पदार्थ अनुभव में आता है, वही जीव है। जो सब चीजों को जान और देख सकता है, सुख की इच्छा करता है और दुःख से भय करता है, जो हिताहित करता है और कर्मों का फल भोगता है, वह जीव पदार्थ है[3]। इसके विपरीत जिसमें चेतन गुण का अभाव हो वह अजीव है। जिस पदार्थ में सुख और दुःख का ज्ञान नहीं है, जिसमें हित की इच्छा और अनहित से भय नहीं है वह अजीव पदार्थ है[4]।

१—(क) ठाणाङ्ग २.४.९५ : **दो रासी पं० तं० जीवरासी चेव अजीवरासी चेव**

(ख) पन्नवणा १ : **पन्नवणा दुविहा पन्नत्ता। तं जहा जीवपन्नवणा य अजीवपन्नवणा य**

२—ठाणाङ्ग २.१.५७ : **जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं, तंजहा जीवच्चेव अजीवच्चेव**

३—पञ्चास्तिकाय २.१२२ :

> **जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं बिभेदि दुक्खादो।**
> **कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं॥**

४—पञ्चास्तिकायः २.१२४, १२५ :

> × × × ×।
> **तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा॥**
> **सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।**
> **जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं॥**

२—छः द्रव्य (गा० १) :

प्रथम ढाल में जीव को द्रव्य कहा है[1] । यहाँ अजीव—अचैतन धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल को द्रव्य कहा है । इस तरह स्वामी जी के निरूपण के अनुसार द्रव्यों की संख्या छः होती है । इस निरूपण के आधार आगम हैं । उदाहरण स्वरूप उत्तराध्ययन में स्पष्टतः द्रव्यों की संख्या छः मिलती है[2] । वाचक उमास्वाति द्रव्यों की संख्या पाँच ही मानते थे । काल को उन्होंने विकल्प मत से द्रव्य बतलाया है[3] । दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द और नेमिचंद्र ने द्रव्यों की संख्या छः ही कही है[4]।

समवायाङ्ग में कहा है—'एगे अणाया' (सम० सू० १) अर्थात् अनात्मा एक है । अनात्मा अर्थात् अजीव। स्वामीजी ने धर्मास्तिकाय आदि पाँच अजीव पदार्थ बतलाये हैं और समवायांग में 'अनात्मा एक है' ऐसा प्ररूपण है । प्रश्न हो सकता है कि यह विभेद क्यों ? इसका उत्तर इस प्रकार है—धर्मास्तिकाय आदि पांचों पदार्थों का सामान्य गुण अचैतन्य है। इस सामान्य गुण के कारण इन पांचों को एक अनात्म कोटि का कहने में कोई दोष नहीं। अनन्त जीवों को चैतन्य गुण की अपेक्षा एक जैसे मान कहा है—'एगे आया' (सम०सू० १) उसी तरह अचैतन्य गुण के कारण पांच को एक मान कहा है 'एगे अणाया'। इसी विविक्षा से आगमों में छः द्रव्यों का विवेचन जीवाजीवविभक्ति के रूप में प्राप्त होता है[5] । दिगम्बर आचार्यों ने भी इसी अपेक्षा से द्रव्य दो कहे हैं । जीव चेतन है और पुद्गल प्रमुख अन्य द्रव्य पाँच उपयोग रहित अचेतन[6] ।

१—ढा० १ गा० १ :

२—उत्त० २८. ८ :

> धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
> अणन्ताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल-जन्तवो ॥

३—तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ :

> अजीवकाया धर्माधर्माकाश पुद्गलाः ॥ १ ॥
> द्रव्याणि जीवाश्च ॥ २ ॥
> कालश्चेत्येके ॥ ३ ॥

४—(क) पञ्चास्तिकायः अधि० १. ६ :

> ते चेव अत्थिकाया तेकालियभावपरिणदा णिच्चा ।
> गच्छंति दवियभावं परियट्टणलिंगसंजुत्ता ॥

(ख) द्रव्यसंगह २३ : एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं ।

५—उत्त० ३६ : २-६

६—प्रवचनसार २.३५ :

> दव्वं जीवमजीव जीवो पुण चेदणोवजोगमओ ।
> पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि अज्जीवं ॥

३—अरूपी रूपी अजीव द्रव्य (गा० २) :

स्वामीजी ने अजीव द्रव्यों के दो विभाग किये हैं—(१) अरूपी और (२) रूपी। आगम में भी ऐसे कथन अनेक जगह उपलब्ध हैं—'**रूविणो चेवरूवी य अजीवा दुविहा भवे**'[1]। 'अजीवरासी दुविहा पन्नत्ता...**रूवी अजीवरासी अरूवी अजीवरासी य**[2]'। आगमों के अनुसार ही अजीव पदार्थ के पाँच भेदों में पुद्गल के सिवा शेष चारों द्रव्य अरूपी—अमूर्त हैं। पुद्गल रूपी—मूर्त है[3]। धर्म, अधर्म, आकाश और काल का कोई आकार नहीं होता और न उनमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श होते हैं। इससे वे चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकते हैं। यही कारण है कि जिससे उन्हें अमूर्त कहा है। पुद्गल के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और संस्थान भी होता है। इन इन्द्रिय-ग्राह्य गुणों के कारण पुद्गल मूर्त—रूपी होता है।

अरूपी रूपी का यह भेद दिगम्बराचार्यों को भी मान्य है। कुन्दकुन्दाचार्य ने इस विषय में इस प्रकार विवेचन किया है : "जिन लिङ्गों—लक्षणों से जीव और अजीव द्रव्य जाने जाते हैं वे द्रव्यों के स्वरूप की विशेषता को लिए हुए मूर्तिक या अमूर्तिक गुण होते हैं। जो मूर्तिक गुण हैं वे इन्द्रिय-ग्राह्य हैं और वे पुद्गल द्रव्य के ही हैं और वर्णादिक भेदों से अनेक तरह के हैं। अमूर्त द्रव्यों के गुण अमूर्तिक जानने चाहिये।...धर्मास्तिकाय आदि के गुण मूर्तिप्रहीण—मूर्ति रहित हैं[4]।" इस कथन का सार यह है—जो इन्द्रिय-ग्राह्य गुण हैं उन्हें मूर्ति कहते हैं। पुद्गल के गुण इन्द्रिय-ग्राह्य हैं इसलिये वह मूर्त—रूपी द्रव्य है। अवशेष द्रव्यों के गुण इन्द्रियग्राह्य नहीं—अमूर्त हैं अतः वे द्रव्य अमूर्त हैं।

४—प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व (गा० ३) :

स्वामीजी ने गा० ३ में दो बातें कही हैं :

(१) पाँचों अजीव द्रव्य एक साथ रहते हैं। जहाँ धर्म है वहीं अधर्म है, वहीं आकाश है, वहीं काल है और वहीं पुद्गल। पाँचों एक क्षेत्रावगाही हैं और परस्पर ओत-प्रोत होकर रहते हैं।

१—उत्त० ३६. ४

२—सम० सू० १४६

३—(क) उत्त० ३६. ६

(ख) सम० सू० १४६ तथा भगवती १८.७ ; ७.१०

४—प्रवचनसार अधि० २. ३८-३६, ४१-४२

(२) एक साथ रहने पर भी पाँचों अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं खोते। द्रव्यों में युगपत्प्राप्तिरूप अत्यन्त संकर होने पर भी—नित्य सदा काल मिलाप होने पर भी—उनका स्वरूप नष्ट नहीं होता और हर द्रव्य अपने स्वभाव में अवस्थित रहता है।

प्रश्न होता है फिर जीव द्रव्य क्या कहीं और रहता है और क्या वह अपना स्वरूप छोड़ सकता है ? अजीव पदार्थ का विवेचन होने से स्वामीजी ने यहाँ पाँच अजीव द्रव्यों के ही एक साथ रहने की चर्चा की है वैसे छहों द्रव्य एक साथ रहते हैं और पाँच अजीव द्रव्यों की तरह जीव द्रव्य भी साथ रह कभी अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता।

स्वामीजी के कथन का आधार आगमों में अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। ठाणाङ्ग में कहा है—'**ण एवं वा भूयं वा भव्वं वा भविस्सइ वा जं जीवा अजीवा भविस्संति अजीवा वा जीवा भविस्संति।**' न ऐसा हुआ है, न होता है और न होगा कि जीव कभी अजीव हो अथवा अजीव कभी जीव। इसका अर्थ है जीव द्रव्य कभी धर्म, अधर्म, आकाश, काल या पुद्गल रूप नहीं होता और न धर्म आदि ही कभी जीव रूप होते हैं। इसी तरह पांचों अजीव द्रव्य भी परस्पर एक दूसरे में परिवर्तित नहीं होते।

इस बात को प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार बताया है—"छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, परस्पर एक दूसरे को अवकाश—स्थान देते हैं और सदा काल मिलते रहते हैं तथापि स्वस्वभाव को नहीं छोड़ते[1]।"

५—पंच अस्तिकाय (गा० ४-६) :

इन गाथाओं में धर्म, अधर्म और आकाश इन तीन द्रव्यों को अस्तिकाय कहा गया है। पुद्गल भी अस्तिकाय है। इस तरह पाँच अजीव द्रव्यों में चार अस्तिकाय हैं। ठाणांग और तत्त्वार्थ सूत्र में भी ऐसा ही कथन है[2]।

१—**पञ्चास्तिकायः अधि० १.७ :**

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति॥

२—**(क) ठाणाङ्ग ४.१.२५२ :**

चत्तारि अत्थिकाया अजीव काया पं० तं०—धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र ५.१ :

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः

प्रथम ढाल गा० ५ में जीव को अस्तिकाय कहा है। इन दोनों कथनों से छः द्रव्यों में काल को छोड़ कर बाकी पाँच अस्तिकाय ठहरते हैं। आगमों में भी अस्तिकाय की संख्या पाँच कही गई है[1]। दिगम्बर आचार्य भी ऐसा ही मानते हैं[2]।

अस्तिकाय 'अस्ति' और 'काय' इन दो शब्दों का यौगिक शब्द है। इसकी दो परिभाषाएँ मिलती हैं :

(१) अस्ति=प्रदेश; काय=समूह। जो प्रदेशों का समूह रूप हो वह अस्तिकाय है[3]।

(२) 'अस्ति' अर्थात् जिसका अस्तित्व है और 'काय' अर्थात् काय के समान जिसके बहुत प्रदेश हैं। जो है और जिसके बहुत प्रदेश है वह अस्तिकाय है[4]।

इन परिभाषाओं में 'अस्ति' शब्द के अर्थ में अन्तर देखा जाता है पर फलितार्थ में कोई अन्तर नहीं।

स्वामीजी ने जो परिभाषा दी है वह उपर्युक्त दूसरी परिभाषा से सम्पूर्णतः मिलती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है : "धर्म आदि अपने अपने सामान्य विशेष अस्तित्व में नियत हैं, अपनी सत्ता में अनन्य हैं, निर्विभाग प्रदेशों द्वारा बड़े अनेक प्रदेशी हैं। इनका नाना प्रकार के गुण और पर्याय सहित अस्तित्वभाव है। इससे ये अस्तिकाय हैं[5]।"

१—ठाणाङ्ग ५.३.४४१ :

पंच अत्थिकाया पं० तं:—धम्मत्थिकाते अधम्मत्थिकाते आगासत्थिकाते जीवत्थिकाते पोग्गलत्थिकाए।

२—द्रव्यसंग्रह २३ :

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥

३—भगवती सार पृ० २३८

४—(क) द्रव्यसंग्रह २४ :

संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥

(ख) प्रवचनसार २.४४,*२ :

भणंति काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं।

५—पंचास्तिकाय : ४,५ :

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं।
अत्थितम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता ॥
जेसिं अत्थिसहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं।
ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं ॥

प्रथम ढाल (गा० १) में जीव को असंख्यात प्रदेशी द्रव्य कहा है। यहाँ गा० ४-५ में धर्म, अधर्म द्रव्य के भी इतने ही प्रदेश बतलाये गये हैं। आकाश के प्रदेश अनन्त हैं (गा० ६)। पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी हैं।

दिगम्बर आचार्य भी यही प्रदेश संख्या मानते हैं।

इस तरह जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल सब अस्तिकाय ह।

जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल सभी अस्तित्ववाली वस्तुएँ हैं। इनका अस्तित्व तर्क से सिद्ध किया जा सकता है।

जीव के अस्तित्व को हम पहले सिद्ध कर चुके हैं (पृ० २५ टि० ५)। अजीव न हो तो जीव संज्ञा ही नहीं बन सकती। इस तरह जीव का प्रतिपक्षी अजीव पदार्थ होगा ही यह स्वयंसिद्ध है। अजीव पदार्थों में पुद्गल रूपी—वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श युक्त होने से प्रगट दृश्य है। सोना और चांदी, आक्सीजन और हाइड्रोजन सब पुद्गल हैं। स्थान के बिना जीव और पुद्गल का रहना सम्भव नहीं हो सकता इसलिये स्थान—आकाश का भी अस्तित्व सिद्ध होता है। आकाश के सहारे ही यदि जीव और पुद्गल की गति या स्थिति होती तब तो लोक अलोक का ही अस्तित्व नहीं रहता। इसलिये आकाश से भिन्न गति स्थिति के सहायक पदार्थ धर्म और अधर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। नया, पुराना आदि भाव काल बिना नहीं होते। अतः काल द्रव्य भी है। इस तरह जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये छहों सद्भाव द्रव्य हैं।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य की अनेक प्रदेशात्मकता भी साबित की जा सकती है। जीव देह संयुक्त होता है। देहवान होने से स्थान आकाश को अवश्य रोकेगा। एक अविभागी पुद्गल परमाणु जितने आकाश को स्पर्श करता है उतने को प्रदेश कहते हैं यह पहले बतलाया जा चुका है। जीव ऐसे अनेक प्रदेशों को स्पर्श करता है इसलिये जीव का कायत्व सिद्ध है। परमाणु एक ही आकाश-प्रदेश को रोकता है। परमाणु को ध्यान में रखने से पुद्गल के प्रदेशत्व नहीं है परन्तु परमाणुओं में पारस्परिक मिलन की स्वाभाविक शक्ति रहती है। अतः उनसे बने स्कन्ध आकाश के अनेक प्रदेशों को रोकते हैं। यही पुद्गल का कायित्व है। धर्म और अधर्म अखण्ड और विस्तीर्ण होने से अनेक प्रदेशों को रोकेंगे ही। तिल में तेल की तरह धर्म और अधर्म लोक-व्यापी हैं और

१—द्रव्यसंग्रह : २५

इस व्यापकता के कारण अनन्त प्रदेशात्मकता अपने आप आ जाती है। धर्म, अधर्म और आकाश के परमाणु जितने छोटे अंशों की कल्पना की जा सकती है परन्तु इन पदार्थों के विभक्त टुकड़े नहीं किये जा सकते हैं इसलिये अनेक प्रदेशों का रोकना अनिवार्य है। आकाश लोकालोक व्यापी और विस्तृत है। उपर्युक्त रूप से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश का अस्तित्व और बहुप्रदेशीपन साबित है। अतः इनका अस्तिकाय नाम उपयुक्त ही है।

पंचास्तिकायों के सिद्धान्त को लेकर भगवान महावीर के समय में भी बड़ा वादविवाद था। श्रमणोपासक मद्रुक और गणधर गौतम से अन्ययूथिकों ने चर्चाएँ कीं। फिर महावीर से समझ कर अनुयायी हुए[1]।

६—धर्म, अधर्म, आकाश का क्षेत्र-प्रमाण (गा० ७) :

इस गाथा में धर्म, अधर्म और आकाश इन अस्तिकायों के क्षेत्र-प्रमाण पर प्रकाश डाला है। स्वामीजी ने प्रथम दो को लोक-प्रमाण कहा है और आकाशास्तिकाय को लोक-अलोक-प्रमाण। यही बात उत्तराध्ययन सूत्र की निम्न गाथा में सूचित है :

धम्माधम्मे य दो चेव, लोगमित्ता वियाहिया।
लोगालोगे य आगासे, समए समयखेत्तिए॥

३६.७।

एक बार गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—"भन्ते! धर्मास्तिकाय कितनी बड़ी है?" महावीर ने उत्तर देते हुए कहा—"गौतम! यह लोक है, लोकमात्र है, लोक-प्रमाण है, लोक-स्पृष्ट है, लोक को स्पृष्ट कर रही हुई है। गौतम! अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए[2]।"

इस विषय में इन द्रव्यों से आकाश का वैधर्म्य है। आकाश लोक-प्रमाण ही नहीं, अलोक-प्रमाण भी है। इसीलिए आकाश के विषय में कहा गया है—"**खेत्तओ लोगालोग-पमाणमित्ते**" ठा० ५.३.४४२।

१—भगवती १८.७; ७.१०

२—भगवती २.१० :

धम्मत्थिकाय णं भन्ते! केमहालए पण्णत्ते
गोयमा! लोए, लोयमेत्ते, लोयप्पमाणे, लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ता णं चिट्ठइ; एवमहम्मत्थिकाए, लोयाकासे,जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए पंच वि एक्काभिलावा

यहाँ यह स्मरणीय है कि जीव का क्षेत्र लोक-प्रमाण है। काल केवल ढाई द्वीप में है—"समय समयखेत्तिए"

७—धर्म, अधर्म, आकाश शाश्वत और स्वतन्त्र द्रव्य (गा० ८-६) :

इन गाथाओं में धर्म, अधर्म और आकाश इन तीनों द्रव्यों के बारे में निम्नलिखित बातें कही गई हैं : (१) तीनों शाश्वत हैं, और (२) तीनों के गुण, पर्याय भिन्न-भिन्न और तीनों काल में अपरिवर्तनशील हैं। हम यहाँ इन दोनों बातों पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

(१) उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—"धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीनों द्रव्य सर्वकालिक और अनादि अनन्त हैं[1]।"

आगमों में अस्तिकाय द्रव्यों का विवेचन करते हुए कहा गया है : "वे कभी नहीं थे ऐसा नहीं, वे कभी नहीं हैं ऐसा नहीं, वे कभी नहीं होंगे ऐसा नहीं; वे थे, हैं और रहेंगे। वे ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य हैं[2]।" इससे पाँचों द्रव्यों की शाश्वतता पर प्रकाश पड़ता है।

एक बार गौतम ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा—"भन्ते ! धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय रूप में काल की अपेक्षा कब तक रहती है ?" महावीर ने उत्तर दिया "गौतम ! 'सव्वद्धं'—सर्वकाल[3]।" यह उत्तर केवल धर्मास्तिकाय पर ही नहीं अद्धाकाल तक सब द्रव्यों पर घटित होता है। इससे धर्म आदि तीन ही नहीं सर्व द्रव्य शाश्वत माने गये हैं, यह स्पष्ट हो जाता है।

(२) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन तीनों के लक्षणों का वर्णन आगे चल कर गाथा ११ से १३ में आया है। इनके गुण और कार्यों की भिन्नता वहाँ से स्पष्ट है। जो द्रव्य और गुण के आश्रित होकर रहे वह पर्याय है। पर्यायें द्रव्य और उनके गुण के अनुकूल होती हैं। भिन्न-भिन्न गुणों वाले अस्तिकायों की पर्यायें भिन्न-भिन्न ही

१—उत्त० ३६.८ :

धम्माधम्मागासा तिन्नि वि एए अणाइया।
अपज्जवसिया चेव सव्वद्धं तु वियाहिया॥

२—ठाणाङ्ग ५.३.४४१ :

कालओ ण कयाति णासी न कयाइ न भवति ण कयाई ण भविस्सइत्ति, भुविं भवति य भविस्सति त धुवे णितिते सासते अक्खए अव्वते अवट्ठिते णिच्चे। भगवती २.१०

३—पण्णवणा : १८ कायस्थिति पद : दारं २२

धम्मत्थिकाए णं पुच्छा। गोयमा ! सव्वद्धं, एवं जाव अद्धासमए

होंगी, यह स्वाभाविक है। धर्म, अधर्म और आकाश तीनों काल में अपने गुण और पर्यायों सहित विद्यमान रहते हैं। इनके गुण और पर्याय भिन्न-भिन्न तो हैं ही, साथ ही साथ किसी भी काल में एक के गुण-पर्याय दूसरे के नहीं होते।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—"धर्म, अधर्म और लोकाकाश अपृथग्भूत (एक क्षेत्रावगाही) और समान परिणाम वाले होते हैं पर निश्चय से तीनों द्रव्यों की पृथक् उपलब्धि है। इन तीनों में एकता अनेकता है। ये तीनों द्रव्य एक क्षेत्र में रहते हैं और एक दूसरे में ओतप्रोत होकर रहते हैं अतः एक क्षेत्रावगाही होने से पृथक् नहीं हैं फिर भी तीनों के स्वभाव और कार्य भिन्न-भिन्न हैं और हरएक अपनी अपनी-सत्ता में मौजूद हैं। एक क्षेत्रावगाह की दृष्टि से अपृथक्त्व होते हुए भी गुण—स्वभाव और पर्याय की दृष्टि से भिन्नता को लिए हुए हैं[1]।"

जो बात धर्म, अधर्म और आकाश के बारे में यहाँ कही गई है वही बाकी द्रव्यों के विषय में घटती है अर्थात् सभी द्रव्य शाश्वत स्वतन्त्र हैं।

८—धर्म, अधर्म, आकाश विस्तीर्ण निष्क्रिय द्रव्य हैं (गा० १०) :

इस गाथा में धर्म, अधर्म और आकाश इन द्रव्यों के बारे में तीन बातें कही गई हैं :

(१) ये तीनों द्रव्य फैले हुए हैं,

(२) तीनों निष्क्रिय हैं, और

(३) पुद्गल और जीव द्रव्य ही सक्रिय हैं। इनके हलन-चलन क्रिया करने का क्षेत्र लोक है।

इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :

(१) यह पहले बताया जा चुका है कि धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य लोक प्रमाण हैं। लोक इनसे व्याप्त है[2] और ये लोक में फैले हुए हैं—लोकावगाढ़—लोक-व्यापी हैं।

१—पञ्चास्तिकाय : १.९६

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा।
पुधगुवलद्धिविसेसा करंति एगत्तमण्णत्तं॥

२ – ठाणाङ्ग : ४.३.३३३ :

चउहिं अत्थिकाएहिं लोगे फुडे पं० तं०—धम्मत्थिकाएणं अधम्मत्थिकाएणं जीवत्थिकाएणं पुग्गलत्थिकाएणं

आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्मास्तिकाय के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसे "**लोगोगाढं पुट्ठं पिहुलम्**[1]" कहा है। पृथुल का अर्थ है स्वभाव से ही सर्वत्र विस्तृत—"**स्वभावादेव सर्वतो विस्तृतत्वात्पृथुलः**[2]।" पृथुल शब्द पर टीका करते हुए जयसेनाचार्य लिखते हैं—"**पृथुलोऽनाद्यंतरूपेण स्वभावविस्तीर्णः न च केवलिसमुद्घाते जीवप्रदेशवल्लोके वस्त्रादिप्रदेशविस्तारवद्वा पुनरिदानीं विस्तीर्णः**[3]।" इसका अर्थ है : जीव-प्रदेश समुद्घात के समय ही लोक-प्रमाण विस्तीर्ण होते हैं पर धर्मास्तिकाय अनादि अनन्त काल से अपने स्वभाव से ही लोक में विस्तृत है। उसका विस्तार वस्त्र की तरह सादि सान्त और एक देश रूप नहीं वरन् स्वभावतः समूचे लोक में अनादि अनन्त रूप से है।

(२) निष्क्रिय का अर्थ है गति का अभाव। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—"जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य निमित्तभूत पर द्रव्य की सहायता से क्रियावंत होते हैं। शेष के जो चार द्रव्य हैं वे क्रियावंत नहीं हैं। जीव द्रव्य पुद्गल का निमित्त पाकर क्रियावंत होते हैं और पुद्गल स्कंध निश्चय ही काल द्रव्य के निमित्त से क्रियावंत हैं[4]।" इसका भावार्थ है—एक प्रदेश से प्रदेशान्तर में गमन करने का नाम क्रिया है। षट् द्रव्यों में से जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य प्रदेश से प्रदेशान्तर में गमन करते हैं और कंप रूप अवस्था को भी धारण करते हैं, इस कारण ये क्रियावन्त कहे जाते हैं। शेष चार द्रव्य निष्क्रिय, निष्कम्प हैं। जीव द्रव्य की क्रिया के बहिरंग निमित्त कर्म नोकर्म रूप पुद्गल हैं। इनकी ही संगति से जीव अनेक विकार रूप होकर परिणमन करता है। और जब काल पाकर पुद्गलमय कर्म नोकर्म का अभाव होता है तब जीव साहजिक निष्क्रिय निष्कम्प स्वाभाविक अवस्थारूप सिद्ध पर्याय को धारण करता है। इस कारण पुद्गल का निमित्त पाकर जीव क्रियावान् होता है। और काल का बहिरंग कारण पाकर पुद्गल अनेक स्कन्ध रूप विकार को धारण करता है। इस कारण काल पुद्गल की क्रिया का सहकारी कारण है। परन्तु इतना विशेष है कि जीव द्रव्य की तरह पुद्गल निष्क्रिय कभी भी नहीं होता। जीव शुद्ध होने के उपरान्त किसी काल में भी क्रियावान् नहीं होगा।

१—**पञ्चास्तिकाय : १.८३**

२—**पञ्चास्तिकाय : १.८३ की अमृतचन्द्रीय टीका**

३—**वही**

४—**पञ्चास्तिकायः १.९८ :**

> **जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा।**
> **पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ॥**

पुद्गल का यह नियम नहीं है। वह परसहाय से सदा क्रियावान् रहता है[1]।

(३) जीव और पुद्गल की हलन-चलन क्रिया का क्षेत्र लोक परिमित है। कहा है : "जितने में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं उतना लोक है। जितना लोक है उतने में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं[2]।"

जीव और पुद्गलों की गति लोक के बाहर नहीं हो सकती—उसके चार कारण कारण बताये गये हैं : (१) गति का अभाव, (२) सहायक का अभाव—(३) रूक्ष होने से और (४) लोक स्वभाव के कारण[3]।

एक बार गौतम ने पूछा : "भन्ते ! क्या महान् ऋद्धिमान देव लोकांत में खड़ा रह अलोक में अपने हाथ आदि के संकोचन न करने अथवा पसारने में समर्थ है ?" महावीर ने जवाब दिया : "नहीं गौतम ! जीवों के आहारोपचित, शरीरोपचित और कलेवरोपचित पुद्गल होते हैं तथा पुद्गलों को आश्रित कर ही जीव और अजीवों (पुद्गलों) के गति पर्याय होती है। अलोक में जीव नहीं हैं, पुद्गल भी नहीं है इस हेतु से देव वैसा करने में असमर्थ हैं[4]।"

६—धर्म, अधर्म और आकाश के लक्षण और पर्याय (गा० ११–१४) :

धर्मास्तिकाय का स्वभाव—जीव और पुद्गल द्रव्यों के गमन में सहायक होना है[5]। जीव और पुद्गल ही गमन-क्रिया करते हैं—धर्म-द्रव्य उनसे यह क्रिया नहीं करता फिर भी धर्म-द्रव्य के अभाव में जीव और पुद्गल द्रव्य की गमन-क्रिया नहीं हो सकती। धर्म-द्रव्य स्वयं निष्क्रिय है। वह दूसरों को भी गति-प्रेरणा नहीं देता। परन्तु जीव और पुद्गल की गमन-क्रिया में उदासीन सहायक होता है। जिस तरह जल मछलियों को तैरने की प्रेरणा नहीं करता परन्तु तिरती हुई मछलियों का सहारा अवश्य होता है, उसी तरह धर्म

१—पञ्चास्तिकाय : १.९८ की बालावबोध टीका

२—ठाणांग १०.७०४ :

> जाव ताव जीवाण त पोग्गलाण त गतिपरिताते ताव ताव लोए जाव ताव लोगे ताव ताव जीवाण य पोग्गलाण त गतिपरिताते एवंप्पेगा लोगट्ठिती।

३—ठा० ४.३.३३७ : चउहिं ठाणेहिं जीवा य पोग्गला य णो संचातेंति बहिया लोगंता गमणताते तं० गतिअभावेणं णिरुवग्गहताते लुक्खताते लोगाणुभावेणं।

४—भगवती १६.८

५—उत्त० २८.९ : गइलक्खणो उ धम्मो

द्रव्य गति की प्रेरणा नहीं करता परन्तु क्रिया करते हुए, गति करते हुए जीव और पुद्गल का सहायक अवश्य होता है[1]। बिना धर्म-द्रव्य के जीव पुद्गलों का स्थानान्तर होना सम्भव नहीं है। धर्मास्तिकाय समूचे लोक में व्याप्त है, सब जगह फैला हुआ है।

अधर्मास्तिकाय और धर्मास्तिकाय एक ही तरह के द्रव्य हैं। धर्मास्तिकाय की तरह ही अधर्मास्तिकाय लोक-प्रमाण विस्तृत है; पर दोनों के कार्यों में फर्क है। जैसे धर्म-द्रव्य गति सहायी है उसी तरह अधर्म-द्रव्य स्थिति सहायक है[2]। जिस तरह गतिमान जीव और पुद्गल को धर्म का सहारा रहता है उसी तरह स्थिति परिणत जीव और पुद्गल को अधर्म के सहारे की आवश्यकता पड़ती है। बिना इस द्रव्य की सहायता के जीव और पुद्गल की स्थिति नहीं हो सकती।

अधर्म-द्रव्य जीव और पुद्गल की स्थिति का उदासीन हेतु है। जिस तरह वृक्ष की छाया चलते हुए यात्रियों को पकड़ कर नहीं ठहराती परन्तु ठहरे हुए मुसाफिरों का आश्रय होती है उसी तरह अधर्म गति-क्रिया करते हुए जीव पुद्गल द्रव्यों को नहीं रोकता परन्तु स्थिर हुए जीव पुद्गलों का सहारा होता है। जिस तरह पृथ्वी चलते हुए पशुओं को रोककर नहीं रखती और न उनको ठहरने की प्रेरणा करती है परन्तु ठहरे हुए पशुओं का आधार अवश्य होती है उसी तरह अधर्म द्रव्य न तो स्वयं द्रव्यों को पकड़ कर स्थिर करता है और न स्थिर होने की प्रेरणा करता है परन्तु अपने आप स्थिर हुए द्रव्यों को पृथ्वी की तरह सहारा देता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य गति स्थिति के हेतु या इन परिस्थितियों के प्रेरक कारण नहीं हैं परन्तु केवल उदासीन या बहिरङ्ग कारण हैं। यदि धर्म और अधर्म ही गति स्थिति के मुख्य कारण होते तब तो गतिशील द्रव्य गति ही करते रहते और स्थित द्रव्य स्थित ही रहते, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। हम हरएक चीज को गति करते हुए और स्थिर होते हुए देखते हैं अतः गति या स्थिति का प्रेरणात्मक या हेतु कारण धर्म या अधर्म नहीं परन्तु वे चीजें खुद हैं। चीजें अपनी ही प्रेरणा से गमन, स्थिति आदि क्रियाएँ करती हैं और ऐसा करते हुए धर्म, अधर्म द्रव्य का सहारा लेती हैं[3]।

१—पंचास्तिकाय : १. ८४-८!
२—उत्त० ८. ६ : अहम्मो ठाणलक्खणो
३—पंचास्तिकाय : १. ८६, ८८-८९

आकाश द्रव्य का स्वभाव जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को स्थान देना—अवकाश देना है[1]। आकाश जीवादि समस्त द्रव्यों का भाजन—रहने का स्थान है। ये द्रव्य आकाश के प्रदेशों को दूर कर नहीं रहते परन्तु आकाश के प्रदेशों में अनुप्रवेश कर रहते हैं। इसलिये आकाश का गुण अवगाह कहा गया है। आकाश अपने में अनन्त जीव और पुद्गलादि शेष द्रव्यों को उसी तरह स्थान देता है जिस तरह जल नमक को स्थान देता है। फर्क केवल इतना ही है कि जल केवल खास सीमा (Saturation point) तक ही नमक को समाता है परन्तु आकाश के समाने की सीमा नहीं है। जिस तरह नमक जल को हटा कर उसका स्थान नहीं लेता परन्तु जल के प्रदेशों में प्रवेश करता है ठीक उसी तरह जीवादि पदार्थ आकाश को दूर हटा कर उसका स्थान नहीं लेते परन्तु उसमें अनुप्रवेश कर रहते हैं।

धर्म, अधर्म और आकाश के अवगाढ गुण पर प्रकाश डालने वाला एक सुन्दर वार्तालाप इस प्रकार है: "एक बार गौतम ने पूछा: 'इस धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में कोई पुरुष बैठने, खड़ा होने अथवा लेटने में समर्थ है?' महावीर ने उत्तर दिया: 'नहीं गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं। पर उस स्थान में अनन्त जीव अवगाढ़ हैं। जिस प्रकार कोई कूटागारशाला के द्वार बन्द कर, उसमें एक यावत् हजार दीप जलावे, तो उन दीपों के प्रकाश परस्पर मिलकर, स्पर्श कर यावत् एक रूप होकर रहते हैं पर उनमें कोई सोने बैठने में समर्थ नहीं होता हालांकि अनन्त जीव वहाँ अवगाढ़ होते हैं। उसी तरह धर्मास्तिकाय आदि में कोई पुरुष बैठने आदि में समर्थ नहीं हालांकि वहाँ अनन्त जीव अवगाढ़ होते हैं[2]'।"

आकाश के दो भेद हैं—एक लोक और दूसरा अलोक। अनन्त आकाश में जो क्षेत्र पुद्गल और जीव से संयुक्त है और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय से भरा हुआ है वही क्षेत्र तीनों काल में लोक कहा जाता है। लोक के बाद जो द्रव्यों से रहित अनन्त आकाश है उसको अलोक कहते हैं। इस तरह साफ प्रगट है कि धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल, जीव द्रव्य आकाश बिना नहीं रह सकते परन्तु इनसे रहित आकाश हो सकता है। इसीलिए पंचास्तिकाय ग्रन्थ में कहा है—"जीव, पुद्गलसमूह, धर्म और अधर्म ये द्रव्य लोक से

१—(क) पञ्चास्तिकाय : १. ९०

(ख) उत्तराध्ययन २८. ९ : भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं॥

२—भगवती १३.४

अनन्य हैं अर्थात् लोक में हैं। लोक से बाहर नहीं हैं। आकाश लोक से बाहर भी है। यह अनन्त है इसे अलोक कहते हैं। आकाश नित्य पदार्थ है, क्रियाहीन द्रव्य है और वर्णादि रूपी गुणों से रहित अर्थात् अमूर्त है।"

अब यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि आकाश जैसे द्रव्यों का भाजन माना जाता है वैसे ही उसे गति और स्थिति का कारण क्यों नहीं माना जाय ? ऊपर दिखाया जा चुका है कि आकाश लोक और अलोक दोनों में है। जैन मान्यता के अनुसार सिद्ध भगवान का स्थान ऊर्ध्व लोकान्त है। इसका कारण यह है कि धर्म और अधर्म द्रव्य उसके बाद नहीं हैं। अब यदि धर्म और अधर्म का अस्तित्व स्वीकार न किया जाय और आकाश ही को गमन और स्थिति का कारण मान लिया जाय तब तो सिद्ध भगवान का अलोक में भी गमन होगा जो वीतराग देव के वचनों के विपरीत होगा। इसलिये गमन और स्थान का कारण आकाश नहीं हो सकता। यदि गमन का हेतु आकाश होता अथवा स्थान का हेतु आकाश होता तो अलोक की हानि होती और लोक के अन्त की वृद्धि भी होती। इसलिये धर्म और अधर्म द्रव्य गमन और स्थिति के कारण हैं परन्तु आकाश नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक द्रव्य हैं; पर ये क्रमशः अनन्त पदार्थों को गमन, स्थिति और अवकाश देते हैं। इन अनन्त वस्तुओं की उपेक्षा से इनकी पर्यायें अनन्त कही गयीं हैं।

१०—धर्मास्तिकाय के स्कंध, देश, प्रदेश भेद (गा० १५-१६)

धर्मास्तिकाय को एक नियत, अक्षत, अव्यय और अवस्थित द्रव्य बताया गया है ऐसी हालत में उसके विभाग कैसे हो सकते हैं—यह एक प्रश्न है ? इसका उत्तर इस प्रकार है : वास्तव में धर्मास्तिकाय अखण्ड द्रव्य है और उसके जुदे-जुदे अंश—विभाग—टुकड़े नहीं किये जा सकते पर अखण्ड द्रव्य में भी अंशों की कल्पना तो हो ही सकती है। एक स्थूल उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। धूप और छाया को अगर हम चाकू से काटना चाहें और उनके अलग-अलग अंश या टुकड़े करना चाहें तो यह असम्भव होगा फिर भी छोटे-बड़े किसी भी माप से हम उसके अंशों की कल्पना कर सकते हैं। इसी तरह धर्मास्तिकाय में भी अंशों की कल्पना कर उसके विभाग बताये गये हैं।

'प्रदेश' का अर्थ है वस्तु का उससे अभिन्न संलग्न सूक्ष्मतम अंश। समूचा अन्यून धर्मास्तिकाय स्कंध है। संलग्न सूक्ष्मतम अंश की अलग कल्पना से अगर एक सूक्ष्मतम अंश की अलग परिगणना की जाय तो वह धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश कहा जायगा। दो प्रदेश, तीन प्रदेश यावत् एक कम सर्व प्रदेश जैसे अंशों—भागों की कल्पना की जाय तो ये धर्मास्तिकाय के देश होंगे। एक प्रदेश भी कम नहीं—समूचा धर्मास्तिकाय स्कन्ध है। इस तरह प्रदेश-कल्पना से धर्मास्तिकाय के स्कन्ध, देश और प्रदेशों का विभाग परिकल्पित है।

जिस तरह धर्मास्तिकाय द्रव्य के स्कन्ध, देश और प्रदेश ये तीन विभाग होते हैं उसी तरह अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के भी तीन-तीन भाग होते हैं। काल द्रव्य के ऐसा विभाग नहीं होता। वह एक अद्धासमय रूप होता है-- यह हम आगे जाकर देखेंगे। इसी विवक्षा से आगमों में अरूपी अजीवों के दस भाग बतलाये हैं[1]।

पुद्गलास्तिकाय का एक भेद परमाणु के नाम से अधिक कहा गया है। इस तरह उसके स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु ये चार भाग होते हैं। इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन आगे चल कर आने वाला है।

यहाँ जो कहा गया है कि समूची अस्तिकाय ही अस्तिकाय होती है, उसका एक अंश नहीं, इस विषय का एक सुन्दर वार्तालाप हम यहाँ देते हैं:

"हे भदन्त! धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश धर्मास्तिकाय है ऐसा कहा जा सकता है?"

"हे गौतम! यह अर्थ संगत नहीं। इसी तरह दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नव, दस, संख्येय और असंख्येय प्रदेश भी धर्मास्तिकाय नहीं कहे जा सकते।"

"हे भदन्त! धर्मास्तिकाय के प्रदेश धर्मास्तिकाय हैं क्या ऐसा कहा जा सकता है?"

"हे गौतम! यह अर्थ संगत नहीं।"

"हे भदन्त! एक प्रदेश न्यून धर्मास्तिकाय धर्मास्तिकाय है, ऐसा कहा जा सकता है?"

"हे गौतम! यह अर्थ संगत नहीं।"

"हे भगवन्! ऐसा किस हेतु से कहते हैं?"

"हे गौतम! चक्र का खण्ड चक्र होता है या सकल चक्र चक्र?"

"हे भगवन्! सकल चक्र चक्र होता है, चक्र का खण्ड चक्र नहीं होता।"

"हे गौतम! जिस तरह पूरा चक्र, छत्र, चर्म, दण्ड, वस्त्र, आयुध, मोदक चक्र, छत्र, चर्म, दण्ड, वस्त्र, आयुध, मोदक होता है, उनका अंश चक्र, छत्र आदि नहीं इसी हेतु से गौतम! ऐसा कहता हूँ कि धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश धर्मास्तिकाय है ऐसा नहीं कहा जा सकता, धर्मास्तिकाय के प्रदेश धर्मास्तिकाय हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता, एक प्रदेश न्यून धर्मास्तिकाय धर्मास्तिकाय है, ऐसा नहीं कहा जा सकता[2]।"

१—(क) उत्त० ३६:५-६:

धम्मत्थिकाए तद्देसे तप्पएसे य आहिए।
अहम्मे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए॥
आगासे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए।
अद्धासमए चेव अरूपी दसहा भवे॥

(ख) समवायाङ्ग सू० १४६

२—भगवती २.१०

"हे भगवन् ! फिर किसे यह धर्मास्तिकाय है ऐसा कहा जा सकता है ?"

"हे गौतम ! धर्मास्तिकाय के असंख्येय प्रदेश हैं। वे सब जब कृत्स्न, प्रतिपूर्ण निःशेष, एकग्रहणग्रहीत होते हैं तब वे धर्मास्तिकाय कहलाते हैं।"

"हे गौतम ! अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के सम्बन्ध में भी ऐसा ही वक्तव्य है। अन्तिम तीन के अनन्त प्रदेश[1] जानो। इतना ही अन्तर है, शेष पूर्ववत्[2]।"

११—धर्मास्तिकाय विस्तृत द्रव्य है (गा० १७) :

गा० १० में कहा गया है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय लोक में और आकाशास्तिकाय लोकालोक में फैली हुई हैं। यह बताया जा चुका है कि वे किस तरह पृथुल—विस्तीर्ण हैं (पृ०८२ टि० ८ (१))। इस गाथा में इसी बात को पुनः मौलिक उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। कहीं पर पड़े हुए धूप या छाया पर हम दृष्टि डालें तो देखेंगे कि वे विस्तीर्ण हैं--भूमि पर संलग्न रूप से छाये हुए हैं। विस्तीर्ण धूप या छाया में बीच में कहीं जोड़ नहीं मालूम देगी, न किसी तरह का घेरा दिखाई देगा। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का स्वरूप भी ऐसा ही समझना चाहिए।

जीव द्रव्य के स्वरूप वर्णन में जीव को शरीर-व्याप्त बताया गया है (पृ० ३६ (२३))। जिस तरह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि लोक-प्रमाण और आकाशास्तिकाय लोकालोक-प्रमाण है उसी प्रकार जीवास्तिकाय शरीर-प्रमाण है। कह सकते हैं कि आत्मा शरीर में धूप और छाया की तरह ही विस्तीर्ण और संलग्न रूप से व्याप्त पदार्थ है।

इस अपेक्षा से पुद्गल और काल के स्वरूप पृथक् हैं। उसका विवेचन बाद में किया जायगा।

१२—धर्मास्तिकाय आदि के माप का आधार परमाणु है (गा० १८) :

हमने टिप्पणी १० (पृ० ८० अनु० २) में कहा है कि पुद्गल का चौथा भेद परमाणु होता है। प्रदेश अविभक्त संलग्न सूक्ष्मतम अंश होता है। परमाणु पुद्गल का वह सूक्ष्मतम अंश है जो

१—जीव के प्रदेश इसी भगवती तथा अन्य आगमों में असंख्येय ही कहे गये हैं। श्वे० दिग० सभी आचार्य ऐसा ही मानते हैं। यहाँ जीव की भी प्रदेश-संख्या अनन्त किस विवक्षा से कही है—समझ में नहीं आता।

२—भगवती २.१०

उससे बिछुड़ कर अकेला—जुदा हो गया हो। पुद्गल का विभक्त सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अंतिम अविभाज्य खण्ड परमाणु है। सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन-भेदन नहीं किया जा सकता वह परमाणु है। इसे सिद्धों—केवलियों ने सर्व प्रमाण का आदि भूत प्रमाण कहा है[1]। यह सूक्ष्मतम परमाणु ही धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के माप का आधार है और उसीसे उनके प्रदेशों की संख्या का परिमाण निकाला गया है।

१३—धर्मादि की प्रदेश-संख्या (गा० १६-२०) :

प्रदेश की परिभाषा इस रूप में मिलती है—"जितना आकाश अविभागी पुद्गल-परमाणु से रोका जाय उसे ही समस्त परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ प्रदेश जानो[2]।"

धर्मादि द्रव्यों की प्रदेश-संख्या क्रमशः असंख्यात आदि कही गई है। वह इसी आधार पर कि वह द्रव्य आकाश के उपर्युक्त कितने प्रदेशों को रोकता है।

दूसरे शब्दों में परमाणु के बराबर आकाश स्थान को प्रदेश कहा जाता है। आकाश के प्रदेश परमाणुओं के माप से अनन्त हैं। इसी तरह धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य के प्रदेश परमाणु के माप से असंख्यात संख्या-रहित हैं। इस तरह प्रदेशों की उत्पत्ति परमाणु से होती है क्योंकि अविभागी पुद्गल परमाणु केवल प्रदेश मात्र होता है। वह आकाश का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म क्षेत्र रोकता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

"जैसे वे (एक परमाणु बराबर कहे गये) आकाश के प्रदेश परमाणुओं के माप से अनंत गिने जाते हैं, उसी प्रकार शेष धर्म, अधर्म, अजीव द्रव्य के भी प्रदेश परमाणु-रूप मापे से माप हुए होते हैं। अविभागी पुद्गल-परमाणु अप्रदेशी - दो आदि प्रदेशों से रहित अर्थात् प्रदेश-मात्र होता है। उस परमाणु से प्रदेशों की उत्पत्ति कही गयी है[3]।

१—भगवती ६.७ : सत्थेण सुतिक्खेण वि छेत्तुं भेत्तुं च जं किर न सक्का, तं परमाणु सिद्धा वयंति आइं पमाणाणं

२—द्रव्यसंग्रह : २७

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्ठद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥

३—प्रवचनसार : अ २.४५ :

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं ।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ।

१४—काल द्रव्य का स्वरूप (गा० २१-२२) :

इन गाथाओं में स्वामीजी ने काल के विषय में निम्न बातें कही हैं :

(१) काल अरूपी अजीव द्रव्य है।

(२) काल के अनन्त द्रव्य हैं।

(३) काल द्रव्य निरन्तर उत्पन्न होता रहता है।

(४) वर्तमान काल एक समय रूप है।

इन पर नीचे क्रमशः विचार किया जाता है :

(१) काल अरूपी अजीव द्रव्य है :

अहोरात्र, मास, ऋतु आदि काल के भेद जीव भी हैं और अजीव भी हैं—ऐसा उल्लेख ठाणाङ्ग में मिलता है[1]। टीकाकार अभयदेव स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं : 'काल के अहोरात्र आदि भेद जीव या अजीव पुद्गल के पर्याय हैं। पर्याय और पर्यायी की अभेद-विवक्षा से जीव-अजीव के पर्याय-स्वरूप काल-भेदों को जीव अजीव कहा है[2]।' यह स्पष्टीकरण काल द्रव्य को स्वतन्त्र द्रव्य न मानने की अपेक्षा से है। हम पूर्व में उल्लेख कर आये हैं कि कुछ आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते। वे काल को जीव अजीव की पर्याय ही मानते हैं और उसे उपचार से द्रव्य कहते हैं[3]। काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं—यह प्रश्न उमास्वाति के समय में ही उठ चुका था। उमास्वाति का खुद का अभिमत काल को स्वतन्त्र द्रव्य न मानने के पक्ष में था (पृ० ६७ टि० २ का प्रथम अनुच्छेद)।

जब आगमों पर दृष्टि डाली जाती है तो देखा जाता है कि वहाँ काल को स्पष्टतः स्वतन्त्र द्रव्य कहा गया है[4]। स्पष्ट उल्लेखों की स्थिति में विचार किया जाय तो

१—ठाणाङ्ग २.४.९५ :

समयाति वा......ओसप्पिणीति वा जीवाति या अजीवाति या पवुच्चति

२—ठाणाङ्ग २.४.९५ की टीका :

समया इति वा आवलिका इति वा यत्कालवस्तु तदविगानेन जीवा इति च, जीवपर्यायत्वात्, पर्यायपर्यायिणोश्च कथञ्चिदभेदात्, तथा अजीवानां—पुद्गलादीनां पर्यायत्वादजीवा इति च।

३—**नवतत्त्वप्रकरणम् (देवेन्द्र सूरि) : उवयारा दव्वपज्जाओ**

४—(क) भगवती २५.४; २५.२ (ख) देखिए पृ० ६७ पा० टि० २

ठाणाङ्ग के उल्लेख में काल के भेदों को जीव अजीव कहने का कारण काल का दोन प्रकार के पदार्थों पर वर्तन है।

दिगम्बर आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में मानते हैं। आचार्य कुन्दकु लिखते हैं—"पाँच अस्तिकाय और छट्टा काल मिलकर छः द्रव्य होते हैं। काल परि वर्तन-लिंग से संयुक्त है। ये षट् द्रव्य त्रिकाल भाव परिणत और नित्य हैं[1]। सद्भा स्वभाव वाले जीव और पुद्गलों के परिवर्तन पर से जो प्रगट देखने में आता है वह नियम से—निश्चयपूर्वक काल द्रव्य कहा गया है[2]। वह काल वर्तना लक्षण है[3]। इस कथन का भावार्थ है—जीव, पुद्गलों में जो समय-समय पर नवीनता-जीर्णता रू स्वाभाविक परिणाम होते हैं वे किसी एक द्रव्य की सहायता के बिना नहीं हो सकते। जैः गति, स्थिति, अवगाहना धर्मादि द्रव्यों के बिना नहीं होतीं वैसे ही जीवों और पुद्गलों के परिणति किसी एक द्रव्य की सहायता के बिना नहीं होती। परिणमन का जो निमित्त कारण है वह काल द्रव्य है। जीव और पुद्गलों में जो स्वाभाविक परिणमन होते हैं उनको देखते हुए उनके निमित्त कारण निश्चय काल को अवश्य मानना योग्य है।

स्वामीजी ने आगमिक विचारधारा के अनुसार काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना है।

ऊपर एक जगह (पृ० ६७ टि० २ अनु० २) हम इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि छह द्रव्यों में जीव को छोड़ कर बाकी पाँच अजीव हैं। काल इन अजीव द्रव्यों में से एक है। वह अचेतन पदार्थ है।

अजीव पदार्थों के जो रूपी अरूपी ऐसे दो भेद मिलते हैं उनमें काल अरूपी है अर्थात् उसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं—वह अमूर्त्त है[4]।

१—**पञ्चास्तिकाय :**

(क) १.६ (पाद टि० ४ पृ० ६७ पर उद्धृत)

(ख) १.१०२

२—**पञ्चास्तिकायः १.२३ :**

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च ।
परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो ।

३—**वही १.२४ :**

वट्टणलक्खो य कालोत्ति ।

४—**पञ्चास्तिकायः १.२४ :**

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य ।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोत्ति ॥

(२) काल के अनन्त द्रव्य हैं :

यह बताया जा चुका है कि संख्या की अपेक्षा से जीव अनन्त कहे गये हैं[१]। धर्म, अधर्म और आकाश की संख्या का उल्लेख स्वामीजी ने नहीं किया, पर वे एक-एक व्यक्ति रूप हैं। पुद्गल अनन्त हैं। यहाँ काल पदार्थ को संख्यापेक्षा से अनन्त द्रव्य रूप कहा है अर्थात् काल द्रव्य एक व्यक्ति रूप नहीं संख्या में अनन्त व्यक्ति रूप है। सर्व द्रव्यों की संख्या-सूचक निम्न गाथा बड़ी महत्त्वपूर्ण है :

धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं इक्कमाहियं।
अणन्ताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल-जन्तवो[२] ॥

इस विषय में दिगम्बर आचार्यों का मत भिन्न है। उनके अनुसार कालाणु संख्या में लोकाकाश के प्रदेशों की तरह असंख्यात हैं[३]। हेमचन्द्र सूरि का अभिमत भी इसी प्रकार का लगता है[४]।

हेमचन्द्राचार्य के सिवा श्वेताम्बर आचार्यों ने काल को संख्या की दृष्टि से अनन्त ही माना है[५]। स्वामीजी ने आगमिक दृष्टि से कहा है : "काल के द्रव्य अनन्त हैं।"

(३) काल निरन्तर उत्पन्न होता रहता है :

जैसे माला का एक मनका अंगुलियों से छूटता है और दूसरा उसके स्थान में आ जाता है। दूसरा छूटता है और तीसरा अंगुलियों के बीच में आ जाता है उसी तरह वर्तमान क्षण जैसे बीतता है वैसे ही नया क्षण उपस्थित हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो रहँटघटिका की तरह एक के बाद एक काल द्रव्य उपस्थित होता रहता है। यह

१—देखिये—पृ० ४३ : (८)

२—उत्तरा० २८.८

३—द्रव्यसंग्रह २२ :

लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥

४—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : सप्ततत्त्वप्रकरणम् (हेमचन्द्र सूरि) :

लोकाकाशप्रदेस्था, भिन्नाः कालाणवस्तु ये।
भावानां परिवर्ताय, मुख्यकालः स उच्यते ॥ ५२ ॥

५—(क) सप्ततत्त्व प्रकरणम् (देवानन्द सूरि) :

पुग्गला अद्धासमया जीवा य अणंता

(ख) नवतत्त्वप्रकरणम् (उमास्वाति) :

धर्माधर्माकाशान्येकैकमतः परं त्रिकमनन्तम्

सन्तति-प्रवाह अतीत में चालू रहा, अब भी चालू है, भविष्य में भी इसी रूप में चालू रहेगा। यह प्रवाह अनादि अनन्त है। इस अपेक्षा से काल द्रव्य सतत उत्पन्न होता रहता है।

(४) वर्तमान काल एक समय रूप है :

काल द्रव्य की इकाई को जैन पदार्थ-विज्ञान में 'समय' कहा गया है। समय काल का सूक्ष्मतम अंश है। सुतीक्ष्ण शस्त्र से छेदन करने पर भी इसके दो भाग नहीं किये जा सकते[1]।

समय की सूक्ष्मता की कल्पना निम्न उदाहरण से होगी। वस्त्र तंतुओं से बनता है। प्रत्येक तंतु में अनेक रूए होते हैं। उनमें ऊपर का रूआ पहले छिदता है, तब कहीं नीचे का रूआ छिदता है। इस तरह सब रूओं के छिदने पर तंतु छिदता है और सब तंतुओं के छिदने पर वस्त्र। एक कला-कुशल युवा और बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को शीघ्रता से फाड़े तो तन्तु के पहले रूए के छेदन में जितना काल लगता है वह सूक्ष्म काल असंख्यात समय रूप है[2]। इसी तरह से कमल-पत्र एक दूसरे के ऊपर रखे जायें और उन्हें वह युवक भाले की तीखी नोक से छेदे तो एक-एक पत्र से दूसरे पत्र में जाते हुए उस नोक को जितना वक्त लगता है वह असंख्यात समय रूप है।

काल के तीन भाग होते हैं—अतीत, वर्तमान और अनागत[3]। वर्तमान काल में हमेशा एक समय उपस्थित रहता है। अतीत में ऐसे अनन्त समय हुए हैं। आगामी काल में अनन्त समय होंगे।

१५—काल द्रव्य शाश्वत-अशाश्वत कैसे ? (गा० २३-२६) :

प्रथम ढाल में जीव को शाश्वत-अशाश्वत कहा गया है। इन गाथाओं में काल किस तरह शाश्वत-अशाश्वत है यह बताया गया है।

वर्तमान समय में काल द्रव्य है; अतीत समयों में से प्रत्येक में काल द्रव्य रहा; अनागत समयों में प्रत्येक में काल द्रव्य रहेगा। काल द्रव्य एक के बाद एक उत्पन्न होता रहता है। उत्पत्ति के इस सतत प्रवाह की दृष्टि से काल द्रव्य शाश्वत है। वह अनादि

१—भगवती ११.१० :

अद्धादोहारच्छेदेणं छिज्जमाणी जाहे विभागं नो हव्वमागच्छइ सेत्तं समए

२—अनुयोग द्वार : पृ० १७५

३—ठाणाङ्ग सू० ३.४.१९२

अनन्त है[1], उत्पन्न काल द्रव्य नाश को प्राप्त होता है और फिर नया काल द्रव्य उत्पन्न होता है। इस उत्पत्ति और विनाश की दृष्टि से काल द्रव्य अशाश्वत हैं।

काल के सूक्ष्मतम अंश समय के सम्बन्ध में जैसे यह बात लागू पड़ती है वैसे ही आवलिका आदि काल के अन्य विभागों के विषय में भी समझना चाहिए।

काल की शाश्वतता-अशाश्वतता के विषय में दिगम्बराचार्यों ने निम्न बात कही है—"व्यवहार काल जीव, पुद्गलों के परिणाम से उत्पन्न है। जीव, पुद्गल का परिणाम द्रव्य काल से संभूत है। निश्चय और व्यवहार काल का यह स्वभाव है कि व्यवहार काल समय विनाशीक है और निश्चय काल नियत—अविनाशी है। 'काल' नाम वाला निश्चय काल नित्य है—अविनाशी है। दूसरा जो समय रूप व्यवहार काल है वह उत्पन्न और विध्वंसशील है। वह समयों की परम्परा से दीर्घांतरस्थायी भी कहा जाता है[2]।"

१६—काल का क्षेत्र (गा० २७) :

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन् ! समय क्षेत्र किसे कहा जाय ?" महावीर ने कहा—"गौतम ! ढाई द्वीप और दो समुद्र इतना समय क्षेत्र कहलाता है[3]।" उत्तराध्ययन में समय-क्षेत्र की चर्चा करते हुए कहा है : **"समए समयखेत्तिए (३६.७)"**। समय-क्षेत्र का वर्णन इस प्रकार है :

जम्बुद्वीप, जम्बुद्वीप के चारों ओर लवण समुद्र, उसके चारों ओर धातकी खण्ड, उसके चारों ओर कालोदधि समुद्र और उसके चारों ओर पुष्कर द्वीप है। इस पुष्कर द्वीप को मानुषोत्तर पर्वत दो भाग में विभक्त करता है। कालोदधि समुद्र तक और उसके चारों ओर के अर्द्ध पुष्कर द्वीप तक के क्षेत्र को समय-क्षेत्र कहते हैं। इसका दूसरा नाम ढाई द्वीप है। इसे मनुष्य क्षेत्र भी कहते हैं।

१—उत्त० ३६.६ :

> **समए वि सन्तइं पप्प एवमेव वियाहिए।**
> **आएसं पप्प साईए सपज्जवसिए वि या ॥**

२—पञ्चास्तिकाय : १.१००–१०१ :

> **कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो।**
> **दोग्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो ॥**
> **कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।**
> **उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥**

३—भगवती २.६

समय क्षेत्र का आयाम विष्कंभ ४५ लाख योजन प्रमाण है[1]।

काल का माप सूर्य आदि की गति पर से स्थिर किया जाता है। मनुष्य क्षेत्र में जहाँ र्य गति करता है वहीं काल के दिवस आदि व्यवहार की प्रसिद्धि है। मनुष्य क्षेत्र के ाहर सूर्य स्थिर होने से काल का माप करना असंभव है। बाद में आने वाली टिप्पणी ० २१ में इसका विशेष स्पष्टीकरण है।

इस विषय में गौतम और महावीर का वार्तालाप बड़ा रोचक है। उसे यहां उद्धृत क़्या जाता है :

"भगवन्! क्या वहाँ (नरक में) गये नैरयिक यह जानते हैं - यह समय है, यह ावलिका है, यह उत्सर्पिणी है, यह अवसर्पिणी है?"

"गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं।"

"ऐसा किस हेतु से कहते हैं भगवन्!"

"गौतम! इस मनुष्य-क्षेत्र में ही समयादि का मान है, इस मनुष्य-क्षेत्र में ही ायादि का प्रमाण है, इस मनुष्य क्षेत्र में ही समयादि के बारे में ऐसा जाना जाता है यह समय है, यह आवलिका है, यह उत्सर्पिणी है, यह अवसर्पिणी है। चूंकि नरक में ो बात नहीं इसलिए कहा है—नरक में गये नैरयिक यह जानते हैं· यह समय है, आवलिका है, यह उत्सर्पिणी है, यह अवसर्पिणी है—यह अर्थ समर्थ नहीं। गौतम! ो भांति यावत् पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों तक समझो।"

"भगवन्! क्या इस (मनुष्य-लोक) में गये हुए मनुष्य यह जानते हैं—यह समय है, आवलिका है, यह उत्सर्पिणी है, यह अवसर्पिणी है?"

"हाँ गौतम! जानते हैं।"

"ऐसा किस हेतु से कहते हैं भगवन्!"

"गौतम! इस मनुष्य-क्षेत्र में ही समयादि का मान है, इस मनुष्य-क्षेत्र में ही समयादि प्रमाण है। इस मनुष्य क्षेत्र में ही समयादि के बारे में ऐसा जाना जाता है कि समय है, यह आवलिका है, यह उत्सर्पिणी है, यह अवसर्पिणी है। इस हेतु से कहा के मनुष्य-लोक में गये मनुष्य यह जानते हैं—यह समय है, यह आवलिका है, यह र्सर्पिणी है, यह अवसर्पिणी है।"

—सम० सू० ४५ :

समयखेत्त णं पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं पन्नत्ते।

"गौतम ! वानव्यंतर, ज्योतिषिक और वैमानिकों के लिए वही समझो जो नैरयिकों के लिए कहा है[1] ।"

दिगम्बर आचार्यों के अनुसार एक-एक कालाणु लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में रत्नों की राशि के समान स्फुट रूप से पृथक्-पृथक् स्थित हैं। वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं[2] ।

१७--काल के स्कंध आदि भेद नहीं हैं (गा० २८-३३):

प्रथम ढाल में जीव को असंख्यात प्रदेशी द्रव्य कहा है (१.१)। धर्म, अधर्म भी असंख्यात प्रदेशी कहे गये हैं। आकाश अनन्त प्रदेशी द्रव्य है। पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी हैं। प्रश्न होता है—काल के कितने प्रदेश हैं ?

यह बताया जा चुका है कि काल का सूक्ष्मतम अंश समय है। वर्तमान काल हमेशा एक समय रूप होता है। दो समय एक साथ नहीं मिलते। एक समय के विनाश के बाद दूसरा समय उत्पन्न होता है। इस कारण दो समय न मिलने से काल का स्कंध नहीं होता। स्कंध नियम से समुदाय रूप होता है। अतीत समय परस्पर में मिलकर कभी भी समुदाय रूप नहीं हुए। बिछुड़े हुए पुद्गल परमाणुओं के मिलने की संभावना रहती है पर समयों के समुदाय की संभावना भविष्य में भी नहीं है। अतः अतीत में काल-स्कंध का अभाव था, वर्तमान में केवल एक ही समय होने से उसका अभाव है और आगे के अनुत्पन्न समय भी परस्पर मिलेंगे नहीं। अतः भविष्यत् में भी उसका अभाव रहेगा[3] ।

स्कंध से अविभक्त कुछ न्यून भाग को देश कहते हैं। जब काल के स्कंध ही नहीं तब देश कैसे होगा ? स्कंध से अविच्छिन्न सूक्ष्मतम भाग मात्र को प्रदेश कहते हैं। स्कंध नहीं, देश नहीं तब प्रदेश की संभावना भी नहीं। परमाणु प्रदेश-तुल्य विच्छिन्न भाग होता

१—भगवती श० ५ उ० ६

२—द्रव्यसंग्रह गा० २२। पृ० ८५ पाद-टिप्पणी ३ में उद्धृत।

३—(क) नवतत्त्व प्रकरण (देवगुप्तसूरि) ३४ :

अद्धासमओ एगो जमतीताणागया अणंताचि।
नासाणुप्पत्तीओ न संति संतोऽथ पडुपन्नो ॥

(ख) चिरन्तनाचार्य रचित अवचूर्णि (नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : ६ पृ० ६)
तथैव अद्धा च कालः स च कालः एकविध एव वर्तमानसमयलक्षणोऽतीता-नागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाऽसत्त्वात्

है। स्कंध ही नहीं तब उससे प्रदेश के जुदा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वैसी हालत में काल द्रव्य का चौथा भेद परमाणु भी नहीं होता है। जीव अस्तिकाय द्रव्य है। अजीव द्रव्य है धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल भी अस्तिकाय हैं[1]। इस तरह छह द्रव्यों में पाँच अस्ति-काय हैं[2]। काल अस्तिकाय नहीं है[3]। काल तीनों काल में होता है अतः अस्ति गुण तो उसमें घटता है पर 'काय' गुण नहीं घटता कारण बहु-प्रदेशी होना तो दूर रहा वह एक प्रदेशी भी नहीं है।

इस सम्बन्ध में दिगम्बर आचार्यों का मन्तव्य इस प्रकार है: "काल को छोड़ पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। काल द्रव्य के एक प्रदेश होता है इसलिए वह कायावान् नहीं है[4]।" कुन्दकुन्दाचार्य ने भी यही कहा है—"कालस्स दु णत्थि कायत्तं" काल के कायत्व नहीं है[5]। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश प्रदेशों से असंख्यात अर्थात् कोई असंख्यात प्रदेशी है, कोई अनन्त प्रदेशी, पर काल द्रव्य के एक से अधिक प्रदेश नहीं होते[6]। समय—काल द्रव्य—प्रदेश रहित है अर्थात् प्रदेश मात्र है[7]। आचार्य कुन्दकुन्द अन्यत्र लिखते हैं:

"आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में मंद गति से जाने वाले परमाणु-पुद्गल को जितना सूक्ष्म काल लगता है उसे समय कहते हैं। उसके बाद में और पहले जो अर्थ नित्य भूत पदार्थ है वह कालनामा द्रव्य है। काल द्रव्य के बिना पाँच द्रव्यों के प्रदेश एक अथवा दो अथवा बहुत और असंख्यात तथा उसके बाद अनन्त इस तरह यथा-योग्य सदा काल रहते हैं। काल द्रव्य का समय पर्याय रूप एक प्रदेश निश्चय कर

१—ठाणाङ्ग ४.१.२५२

२—(क) ठाणाङ्ग ५.३.४४१

(ख) पंचास्तिकायः १.२२

३—(क) सप्ततत्त्वप्रकरणम् (हेमचन्द्र सूरि) :
तत्र कालं विना सर्वे, प्रदेशप्रचयात्मकाः ॥ ४२ ॥

(ख) सप्ततत्त्वप्रकरणम् (देवनन्द सूरि) :
काल विणा पएसबाहुल्लेणं अत्थिकाया

४—द्रव्यसंग्रह : २३.२५ कालस्सेगो ण तेण सो काओ

५—पञ्चास्तिकायः १.१०२

६—प्रवचनसार २.४३ : णत्थि पदेस त्ति कालस्स। अमृतचन्द्र टीका—अप्रदेशः कालाणुः प्रदेशमात्रत्वात्

७—वही २.४६ : समओ दु अप्पदेसो

जानना चाहिए। जिस द्रव्य समय का एक ही समय में यदि उत्पन्न होना, विनाश होना प्रर्वतता है तो वह काल पदार्थ स्वभाव में अवस्थित है। एक समय में काल पदार्थ के उत्पाद, स्थित, नाश नाम के तीनों अर्थ—भाव प्रवर्तते हैं। यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप ही काल द्रव्य का अस्तित्व सर्व काल में है। जिस द्रव्य के प्रदेश नहीं हैं और एक प्रदेश मात्र भी तत्त्व से जानने को नहीं उस द्रव्य को शून्य अस्तित्व रहित समझो[1]।"

१८—(गा० ३४):

इस गाथा के भाव के स्पष्टीकरण के लिए देखिए बाद की टिप्पणी नं० २१।

१६—काल के भेद (गा० ३५-३७):

स्वामीजी ने इन गाथाओं में जो काल के भेद दिये हैं उनका आधार भगवती सूत्र है। वहाँ प्रश्नोत्तर रूप में काल के भेदों का वर्णन इस प्रकार है :

"हे भगवन् ! अद्धाकाल कितने प्रकार का है ?"

"हे सुदर्शन ! अद्धाकाल अनेक प्रकार का कहा गया है। दो भाग करते-करते जिसके दो भाग न हो सकें उस कालांश को समय कहते हैं। असंख्येय समयों के समुदाय की आवलिका होती है। असंख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास, संख्यात आवलिका का एक निःश्वास, हृष्ट, अनवकल्य और व्याधिरहित एक जंतु का एक उच्छ्वास और निःश्वास एक प्राण कहलाता है। सात प्राण का स्तोक, सात स्तोक का लव, ७७ लव का एक मुहूर्त्त, तीस मुहूर्त्त का एक अहोरात्र, पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक संवत्सर, पाँच संवत्सर का एक युग, बीस युग का सौ वर्ष, दस सौ वर्ष का एक हजार वर्ष, सौ हजार वर्ष का एक लाख वर्ष, चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वाङ्ग, चौरासी लाख पूर्वाङ्ग का एक पूर्व और इसी तरह त्रुटितांग, त्रुटित, अडडांग, अडड, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनिपूरांग, अर्थनिपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका होती है। यहाँ तक गणित है—उसका विषय है उसके बाद औपमिक काल है।"

"हे भगवन् ! औपमिक काल क्या है ?"

"सुदर्शन ! औपमिक काल दो प्रकार का है—पल्योपम और सागरोपम।"

१—प्रवचनसार : २.४७–५२

"हे भगवन् ! पल्योपम क्या है और सागरोपम क्या है ?

"सुदर्शन ! सुतीक्ष्ण शस्त्र द्वारा भी जिसे छेदा भेदा न जा सके वह परमाणु है। केवलियों ने उसे आदिभूत प्रमाण कहा है। अनन्त परमाणु समुदाय के समूहों के मिलने से एक उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका, आठ उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका के मिलने से एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका, आठ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका के मिलने से एक ऊर्ध्वरेणु, आठ ऊर्ध्वरेणु के मिलने से एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु के मिलने से एक रथरेणु, आठ रथरेणु के मिलने से देवकुरु और उत्तरकुरु के मनुष्यों का एक बालाग्र, आठ बालाग्र मिलने से हरिवर्ष के और रम्यक के मनुष्य का एक बालाग्र, हरिवर्ष के और रम्यक के आठ बालाग्र मिलने से हैमवत के और ऐरवत के मनुष्य का एक बालाग्र और हैमवत के और ऐरवत के मनुष्य के आठ बालाग्र मिलने से पूर्वविदेह के मनुष्य का एक बालाग्र, पूर्वविदेह के मनुष्य के आठ बालाग्र मिलने से एक लिक्षा, आठ लिक्षा का एक यूक, आठ यूक का एक यवमध्य, आठ यवमध्य का एक अंगुल, ६ अंगुल का एक पाद, बारह अंगुल की एक वितस्ति, चौबीस अंगुल की एक रत्नि (हाथ), अड़तालीस अंगुल की एक कुक्षि, छानवे अंगुल का एक दण्ड, धनुष, युग, नालिका, अक्ष, अथवा मूसल होता है। इस धनुष के माप से दो हजार धनुष का एक गव्यूत, चार गव्यूत का एक योजन होता है।

इस योजन के प्रमाण से आयाम और विष्कंभ में एक योजन, ऊंचाई में एक योजन और परिधि में सविशेष त्रिगुण एक पल्य हो। उस पल्य में एक दिन, दो दिन, तीन दिन और अधिक-से-अधिक सात रात के उगे करोड़ों बालाग्र किनारे तक ठूंस कर इस तरह भरे हों कि न उन्हें अग्नि जला सकती हो, न उन्हें वायु हर सकती हो, जो न कुथित हो सकते हों, न विध्वंस हो सकते हों, न पूतिभाव - सड़न-को प्राप्त हो सकते हों। उसमें से सौ सौ वर्ष के बाद एक एक बालाग्र निकालने से वह पल्य जितने काल में क्षीण, नीरज, निर्मल, निष्ठित निर्लेप, अपहृत और विशुद्ध होगा उस काल को पल्योपम कहते हैं। ऐसे कोटाकोटि पल्योपम काल को जब दस गुना किया जाता है तो एक सागरोपम होता है। इस सागरोपम के प्रमाण से चार कोटाकोटि सागरोपम काल का एक सुषमसुषमा आरा, तीन कोटाकोटि, सागरोपम काल का एक सुषमा, दो कोटाकोटि सागरोपम काल का एक सुषमदुःषमा, ४२ हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम काल का एक दुःषमसुषमा, इक्कीस हजार वर्ष का दुषमा, इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमदुःषमा आरा होता है। इन छहों आरों के समुदाय-काल को अवसर्पिणी कहते हैं। फिर इक्कीस हजार

वर्ष का दुःषमदुःषमा, इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमा, ४२ हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का दुःषम सुषमा, दो कोटाकोटि सागरोपम का सुषमदुःषमा, तीन कोटाकोटि सागरोपम का सुषमा और चार कोटाकोटि सागरोपम का सुषमासुषमा आरा होता है। इन छः आरों के समुदाय को उत्सर्पिणी काल कहते हैं। दस कोटाकोटि सागरोपम काल की एक अवसर्पिणी, दस कोटाकोटि सागरोपम काल की एक अवसर्पिणी होती है। बीस कोटाकोटि सागरोपम काल का अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल चक्र होता है[1]।"

२०—अनन्त काल-चक्र का पुद्गल-परावर्त होता है[2]। (गा० ३८) :

गाथा ३६-३७ में 'समय' से लेकर 'पुद्गल परावर्त' तक के काल के भेदों का वर्णन किया गया है। स्वामीजी कहते हैं—काल के ये भेद शाश्वत हैं। अतीत में काल के यही भेद थे। आगामी काल में उसके यही भेद होंगे। वर्तमान काल हमेशा एक समय रूप होता है।

स्वामीजी का यह कथन ठाणांग के आधार पर है। वहाँ कहा गया है—"काल तीन तरह का है—अतीत, वर्तमान और अनागत। समय भी तीन प्रकार का है—अतीत, वर्तमान और अनागत। आवलिका, आन प्राण, यावत् पुदगल परावर्त—ये सब भी समयकी ही तरह तीन प्रकारके हैं— अतीत, वर्तमान और अनागत[3]।" इसका अर्थ यही है कि काल के भेद सब समय में ऐसे ही होते हैं।

२१—काल का क्षेत्र प्रमाण : (गा० ३६-४०) :

काल द्रव्य के क्षेत्र का सामान्य सूचन पूर्व गाथा २७ में आया है। वहाँ और यहाँ के सूचनों से काल द्रव्य के क्षेत्र के विषय में निम्नलिखित बातें प्रकाश में आती हैं :

(१) काल का क्षेत्र प्रमाण ढाई द्वीप है। उसके बाहर काल द्रव्य नहीं है। यह काल का तिरछा विस्तार है। उर्ध्व दिशा में उसका क्षेत्र ज्योतिष चक्र तक ९०० योजन है। अधोदिशा में सहस्र योजन तक महाविदेह की दो विजय तक है।

(२) काल इतने क्षेत्र प्रमाण में ही वर्त्तन करता है। उसके बाद उसका वर्तन नहीं है।

१—भगवती ६.७

२—भगवती १२.४। पुद्गल के साथ परिवर्त—परमाणुओं के मिलने को पुद्गल-परिवर्त कहते हैं। ऐसे परिवर्त में जो काल लगता है वह यह काल है।

३—ठाणाङ्ग ३.३. १९२

काल का क्षेत्र प्रमाण ढाई द्वीप ही क्यों है इसका कारण गाथा २७ और ३४ में दिया हुआ है[1]। जैन ज्योतिष विज्ञान के अनुसार मनुष्य लोक और उसके बाहर के सूर्य चन्द्रमा आदि ज्योतिषी भिन्न भिन्न हैं। मनुष्य लोक के सूर्य चन्द्रमा आदि गतिशील हैं। वे सदा मेरु के चारों ओर निश्चित चाल से परिक्रमा करते रहते हैं। उस गति में तीव्रता मंदता नहीं आती। उनकी चाल हमेशा समान होती है। उसके बाहर रहने वाले सूर्य चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क स्थिर हैं, गतिशील नहीं हैं[2]। मनुष्य लोक के सूर्य चन्द्रमा आदि की गति नियत चाल से होती है। इसी नियत गति के आधार पर काल के समय आदि विभाग निर्धारित किये गये हैं। मुहूर्त, अहोरात्र,, पक्ष इत्यादि जो काल व्यवहार प्रचलित हैं वे मनुष्य लोक तक ही सीमित हैं—उसके बाहर नहीं। मनुष्य लोक के बाहर यदि कोई काल व्यवहार करना हो और कोई करे तो वह मनुष्य लोक में प्रसिद्ध व्यवहार के आधार पर ही कर सकता है क्योंकि व्यावहारिक काल विभाग का मुख्य आधार नियत क्रिया है। ऐसी क्रिया सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्कों की गति है। परन्तु मनुष्य लोक के बाहर के सूर्य आदि ज्योतिष्क स्थिर हैं। इस कारण उनकी स्थिति और प्रकाश एक रूप हैं।

२२—काल की अनन्त पर्यायें और समय अनन्त कैसे ? (गा० ४०-४२) :

इन गाथाओं में स्वामीजी ने दो बातें कही हैं :

(१) काल की अनन्त पर्यायें हैं।

(२) एक ही समय अनन्त कहलाता है।

इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

(१) काल का क्षेत्र ढाई द्वीप है। ढाई द्वीप में जीव अजीव अनन्त हैं। काल उन सब पर वर्तन करता है। उनमें जो अनन्त परिणाम पर्यायें उत्पन्न होती हैं वे काल द्रव्य के निमित्त से ही होती हैं। अनन्त द्रव्यों पर वर्तन करने से काल की पर्याय संख्या अनन्त कही गई है।

(२) वर्तमान काल सदा एक समय रूप होता है। यह एक समय ही अनन्त द्रव्यों

१—देखिये पृ० ८७ टि० १६

२—उत्तराध्ययन ३६.२०७ :

चन्दा सूरा य नक्खत्ता गहा तारागणा तहा।
ठियाविचारिणो चेव पंचहा जोइसालया ॥

में से प्रत्येक पर वर्तन करता है। समय जिन द्रव्यों पर वर्तन कर रहा है उन द्रव्यों की अनन्त संख्या की अपेक्षा से एक ही समय को अनन्त कहा गया है।

उदाहरण स्वरूप किसी सभा में हजार व्यक्ति उपस्थित हैं और सभापति एक मिनट विलम्ब से पहुँचे तो एक मिनट विलम्ब होने पर भी एक-एक व्यक्ति के एक-एक मिनट का योग कर यह कहा जा सकता है कि वह हजार मिनट लेट है। इसी तरह एक-एक वस्तु पर एक-एक समय गिनकर एक ही समय को अनन्त कहा गया है।

२३—रूपी पुद्गल (गा० ४३-४५):

इन गाथाओं में चार बातें कही गई हैं :

(१) पुद्गल रूपी द्रव्य है।

(२) द्रव्यतः पुद्गल अनन्त हैं।

(३) द्रव्यतः पुद्गल शाश्वत है और भावतः अशाश्वत।

(४) द्रव्य पुद्गलों की संख्या की ह्रास-वृद्धि नहीं होती, भाव पुद्गलों की संख्या में ही ह्रास-वृद्धि होती है।

इन पर यहां क्रमशः विचार किया जाता है।

(१) पुद्गल रूपी द्रव्य है : अन्य द्रव्यों से पुद्गल का जो पार्थक्य है वह इस बात में है कि अन्य द्रव्य अरूपी हैं और पुद्गल रूपी। उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श पाये जाते हैं। इन वर्णादि के कारण पुद्गल इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। इसलिये वह रूपी है।

पुद्गल के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म टुकड़े परमाणु से लेकर बड़े-से-बड़े पृथ्वी स्कन्ध तक में ये मूर्त्त गुण पाये जाते हैं और वे सब रूपी हैं[1]।

यहाँ यह बात विशेष रूप से जान लेनी चाहिए कि प्रत्येक पुद्गल में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श चारों गुण युगपत होते हैं। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श इन चार गुणों में से किसी पुद्गल में एक, किसी में दो, किसी में तीन हों ऐसा नहीं है। सब में चारों गुण एक साथ होते हैं। हाँ यह सम्भव है कि किसी समय एक गुण मुख्य और दूसरा गौण हो, कोई गुण एक समय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और कोई अतीन्द्रिय हो। परन्तु इससे किसी गुण का अभाव नहीं कहा जा सकता। उदाहरण स्वरूप विज्ञान के अनुसार हाइड्रोजन (Hydrogen) और नाइट्रोजन

१—प्रवचनसार : २.४०

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो॥

(Nitrogen) दोनों ही वायु रूप वस्तुएँ (Gas) वर्ण, गंध और रसहीन माने जाते हैं[1]। परन्तु इससे उनमें इन गुणों का सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता। इन गुणों को इनमें सिद्ध भी किया जा सकता है। हाइड्रोजन और नाइट्रोजन का एक स्कंधपिण्ड अमोनिया (Ammonia) नामक वायु है इसमें एक अंश हाइड्रोजन और तीन अंश नाइट्रोजन रहता है। इस अमोनिया पदार्थ में रस और गंध दोनों होते हैं[2]। यह एक सर्व मान्य सिद्धान्त है और आधुनिक विज्ञान शास्त्र का तो मूलभूत सिद्धान्त है कि "असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती और सत् का विनाश नहीं हो सकता।" इस सूत्र के अनुसार अमोनिया में रस और गंध का होना नए गुणों की उत्पत्ति नहीं कही जा सकती परन्तु अमोनिया के अवयव-तत्त्व हाइड्रोजन और नाइट्रोजन में ही इन गुणों के होने का प्रमाण है। क्योंकि अमोनिया का रस और गंध हाइड्रोजन और नाइट्रोजन के इन्हीं गुणों का रूपान्तर है और किन्हीं गुणों का नहीं। इन अवयव तत्त्वों में यदि ये गुण मौजूद न होते तो उनके कार्य (resultant) अमोनिया में भी ये गुण नहीं आ सकते थे। स्कन्ध में कोई ऐसा गुण नहीं आ सकता जो अणुओं में न पाया जाता हो। इससे अप्रगट होते हुए भी हाइड्रोजन और नाइट्रोजन गैसों में रस और गंध की सिद्धि होती है। इसी तरह इनमें वर्ण भी साबित किया जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी पुद्गलों में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श समान रूप से रहते हैं। किसी एक भी गुण का अभाव नहीं हो सकता।

पुद्गल भूतकाल में था, वर्तमान काल में है और भविष्यत काल में रहेगा[3]। वह सत् है। उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य संयुक्त है अतः द्रव्य है।

१—(a) Hydrogen is a colourless gas, and has neither taste nor smell. (Newth's Inorganic Chemistry p. 206)

(b) Nitrogen is a colourless gas without taste or smell. (Newth's Inorganic Chemistry p. 262)

२—Ammonia is a colourless gas, having a powerful pungent smell, and a strong Caustic Soda. (Newth's Inorganic Chemistry p. 304)

३—भगवती : १-४

प्रश्न हो सकता है कि सिर्फ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श ही पुद्गल के गुण क्यों कहे गये हैं, शब्द भी उसका लक्षण होना चाहिए ? जैसे वर्णादि क्रमशः चक्षु-इन्द्रिय आदि के विषय हैं वैसे ही शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है अतः उसे भी पुद्गल का गुण मानना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि गुण द्रव्य के लिंग (पहचानने के चिह्न) होते हैं और वे द्रव्य में सदा रहते हैं। शब्द द्रव्य का गुण नहीं हो सकता क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य में नित्य रूप से नहीं पाया जाता है, उसे केवल पुद्गल का पर्याय ही कहा जा सकता है। कारण यह है कि वह पुद्गल स्कन्धों के पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न होता है। यदि शब्द को पुद्गल का गुण कहा जाय तो पुद्गल हमेशा शब्द रूप ही पाया जाना चाहिए परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं देखा जाता। अतः शब्द पुद्गल का गुण नहीं माना जा सकता।

(२) **द्रव्यतः पुद्गल अनन्त हैं** : संख्या की दृष्टि से पुद्गल अनन्त हैं। इस विषय में वह धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों से भिन्न है जो संख्या में एक-एक हैं। जीव और काल-द्रव्य से उसकी समानता है, जो संख्या में अनन्त हैं। पुद्गल द्रव्यों की संख्या अनन्त बतलाने पर भी सूत्रों में एक भी द्रव्य पुद्गल का नामोल्लेख नहीं मिलता। वस्तुतः एक-एक अविभाज्य परमाणु पुद्गल ही एक-एक द्रव्य हैं। इनकी संख्यायें अनन्त हैं। एक बार गौतम ने पूछा—"भन्ते ! परमाणु संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त ?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम ! अनन्त हैं। गौतम ! यही बात अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक समझो[1]।"

(३) **पुद्गल द्रव्यतः शाश्वत है और भावतः अशाश्वत ।**

(४) **द्रव्य पुद्गलों की संख्या में घट-बढ़ नहीं होती।**

इन दोनों पर बाद में टिप्पणी ३२ में विस्तार से प्रकाश डाला जायगा। पाठक वहाँ देखें।

२४—पुद्गल के चार भेद (गा० ४६-४८) :

इन गाथाओं में पुद्गल के विषय में निम्न बातों का प्रतिपादन है :

(१) पुद्गल का चौथा भेद परमाणु है।

(२) परमाणु पुद्गल का विभक्त अविभागी सूक्ष्मतम अंश है और प्रदेश अविभक्त अविभागी सूक्ष्मतम अंश।

१—भगवती २५.४

(३) प्रदेश और परमाणु तुल्य हैं।

(४) परमाणु अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर होता है।

पुद्गल की इन विशेषताओं पर नीचे क्रमशः प्रकाश डाला जाता है :

(१) पुद्गलका चौथा भेद परमाणु है : पुद्गल के चार भेदों में तीन तो वे ही हैं जो धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य के हैं; यथा-स्कंध, देश और प्रदेश और चौथा भेद परमाणु है। धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्यों से पुद्गल का जो वैधर्म्य है उसीसे यह चौथा भेद सम्भव है। अस्तिकाय होने पर भी पुद्गल अवयवी है। वह परमाणुओं से रचित है। ये परमाणु पुद्गल से अलग हो सकते हैं। जब कि धर्म आदि तीनों द्रव्य अखण्ड हैं। उनसे उनका कोई अंश विलग नहीं किया जा सकता। वे अवयवी नहीं [illegible] रूप हैं। पुद्गल के अवयवी होने से ही उसके टुकड़े, विभाग उससे जुदे हो सकते हैं। पुद्गल का ऐसा पृथक् सूक्ष्मतम अंश परमाणु कहलाता है। पुद्गल के चार भेदों की गणना से रूपी-अरूपी अजीव पदार्थ के १४ भेद होते हैं :

> धम्माधम्मागासा, तियतिय भेया तहेव अद्धा य।
> खंधा देसपएसा, परमाणु अजीव चउदसहा[1] ॥

पुद्गल के चार भेदों की व्याख्या संक्षेप में इस प्रकार की जा सकती है : समग्र ुद्गलकाय को स्कंध कहते हैं। दो प्रदेश से लगाकर एक कम अनन्त प्रदेश तक के उसके अविभक्त अंशों को देश कहते हैं। सूक्ष्मतम अविभक्त अविभाज्य अंश को प्रदेश कहते हैं। प्रदेश जितने विभक्त अविभाज्य अंश को परमाणु कहते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने पुद्गल के भेदों का स्वरूप बताते हुए कहा है : "सकल समस्त ुद्गलकाय को स्कंध कहते हैं। उस पुद्गल स्कंध के अर्द्ध भाग को देश और उसके र्द्ध भाग को प्रदेश कहते हैं। परमाणु अविभागी होता है[2]।" स्कंध-देश और कंध-प्रदेश की जो परिभाषा यहाँ दी गयी है वह श्वेताम्बराचार्यों से भिन्न है। स्कंध के र्द्धभाग को ही क्यों दो प्रदेश से लेकर एक कम अनन्त प्रदेश तक के अपृथक् विभागों ो स्कंध-देश कहते हैं। प्रदेश भी स्कंध के आधे का आधा अर्थात् चौथाई अंश नहीं पर (क्ष्मतम अविभक्त अविभागी अंश है। इसी कारण कहा है : "द्विप्रदेश आदि से अनन्त

---

[1]—नवतत्त्वप्रकरण (देवगुप्त सूरि) : ६

[2]—पञ्चास्तिकाय : १.७५ :

> खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति।
> अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥

प्रदेशी तक के पुद्गल स्कंध हैं। उनके सविभाग भागों को देश जानो। और निर्विभाग भाग रूप जो पुद्गल हैं उन्हें प्रदेश, तथा जो स्कंध-परिणाम से रहित है—उससे असम्बद्ध है—उसे परमाणु कहा जाता है[1]।"

(२) **परमाणु पुद्गल का विभक्त अविभागी अंश है और प्रदेश अविभक्त अविभागी अंश :** पुद्गल के प्रदेश और परमाणु में जो अन्तर है वह पूर्व विवेचन से स्पष्ट है। परमाणु स्वतंत्र और अकेला होता है। वह दूसरे परमाणु या स्कंध के साथ जुड़ा हुआ नहीं होता। जब कि प्रदेश पुद्गल से आबद्ध होता है—स्वतंत्र नहीं होता। प्रदेश और परमाणु दोनों अविभागी सूक्ष्मतम अंश हैं यह उनकी समानता है। एक सम्बद्ध है और दूसरा असम्बद्ध—स्वतंत्र—यह दोनों का अन्तर है।

आकाश, धर्म, अधर्म और जीव के प्रदेश तथा पुद्गलास्तिकाय के प्रदेशों में भी एक अन्तर है। दोनों माप में बराबर होते हैं अतः दोनों में परिमाण का अन्तर नहीं। पर आकाशादि विस्तीर्ण खण्ड द्रव्य होने से अंशीभूत स्कंध से उनके प्रदेश अलग नहीं किये जा सकते जब कि पुद्गल का प्रदेश अंशीभूत पुद्गल-स्कंध से अलग हो सकता है। अंशीभूत पुद्गल-स्कंध से विच्छिन्न प्रदेश ही परमाणु है। "परमाणु द्रव्य अबद्ध असमुदाय रूप होता है[2]।" 'स्कन्धबहिर्भूत शुद्धद्रव्यरूप एव'—वह स्कंध से बहिर्भूत शुद्ध पुद्गल द्रव्य है।

(३) **प्रदेश और परमाणु तुल्य हैं :** प्रदेश और परमाणु दोनों पुद्गल के सूक्ष्मतम अंश हैं इतना ही नहीं वे तुल्य— समान भी हैं। परमाणु पुद्गल आकाश के जितने स्थान को रोकता है उतना ही स्थान पुद्गल-प्रदेश रोकता है। इस तरह समान स्थान को रोकने की दृष्टि से भी परमाणु और पुद्गल-प्रदेश तुल्य हैं। प्रदेश और परमाणु की यह तुल्यता पुद्गल द्रव्य तक ही सीमित नहीं है। धर्मादि द्रव्यों के प्रदेश भी परमाणु तुल्य हैं क्योंकि धर्मादि के परमाणु के बराबर अंशों को ही प्रदेश कहा गया है, यह पहले बताया जा चुका है।

१—नवतत्त्वप्रकरण (देवगुप्त सूरि) गाथा ६ का भाष्य (अभय०) :

दुपदेसाइअणंतप्पएसियंता उ पोग्गला खंधा।
तेसिं चिय सविभागा, भागा देसत्ति नायव्वा ॥ ३५ ॥
ते चेव निव्विभागा होंति पएसत्ति पुग्गला जे उ।
खंधपरिणामरहिया, ते परमाणुत्ति निद्दिट्ठा ॥ ३६ ॥

२—तत्त्वार्थसूत्र (गुज० पं० सुखलालजी) ५.२५ की व्याख्या

(४) **परमाणु अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर होता है :** परमाणु पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म होता है। इसकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी कही गयी है।

आगमों में परमाणु की अनेक विशेषताओं का वर्णन मिलता है। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है :

(१) परमाणु-पुद्गल तलवार की धार पर आश्रित हो सकता है पर उससे उसका छेदन-भेदन नहीं हो सकता। उसमें [illegible] नहीं हो सकता। अगर ऐसा हो तो वह परमाणु ही नहीं रहेगा[1]।

(२) परमाणु-पुद्गल अर्द्धरहित, मध्यरहित और प्रदेशरहित होता है[2]।

(३) वह कदाच् सकंप होता है और कदाच् निष्कंप[3]। जब वह सकंप होता है तो सर्व अंश से सकंप होता है[4]।

(४) परमाणु-पुद्गल परस्पर में जुड़ सकते हैं क्योंकि उनमें चिकनापन होता है। मिले हुए अनेक परमाणु-पुद्गल पुनः जुदे हो सकते हैं पर जुदे होते समय जो विभाग होंगे उनमें से किसी में भी एक परमाणु से कम नहीं होगा। कारण परमाणु अन्तिम अंश और अखण्ड होता है[5]।

(५) परमाणु को स्पर्श करता हुआ परमाणु सर्व भाग से सर्व भाग का स्पर्श करता है। परमाणु के अविभागी होने से अन्य विकल्प नहीं घटता[6]।

(६) दो परमाणुओं के इकट्ठे होने पर द्विप्रदेशी स्कंध होता है। इसी तरह त्रिप्रदेशी यावत् अनन्त प्रदेशी स्कंध होता है[7]।

(७) परमाणु काल की अपेक्षा से परमाणु रूप में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट से असंख्यात काल तक रहता है[8]।

१—भगवती ५.७
२—वही ५.७
३—वही ५.७
४—वही २५.४
५—वही १.१०
६—वही ५.७
७—वही १२.४
८—वही ५.७

(८) परमाणु पुद्गल एक समय में लोक के किसी भी दिशा के एक अन्त से प्रतिपक्षी दिशा के अन्त तक पहुँच सकता है[1]।

(९) परमाणु द्रव्यार्थरूप से शाश्वत है और वर्णादि पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत[2]।

(१०) परमाणु पुद्गल एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श युक्त होता है। उसमें काले, नीले, लाल, पीले या धवल—इन वर्णों में से कोई भी एक वर्ण होता है। सुगंध या दुर्गन्ध में से कोई भी एक गंध होती है। कटुक, तीक्ष्ण, कसैला, खट्टा, मीठा—इन रसों में से कोई एक रस होता है। वह दो स्पर्शवाला—या तो शीत और स्निग्ध, या शीत और रूक्ष, या उष्ण और स्निग्ध, या उष्ण और रूक्ष होता है[3]।

कुन्दकुन्दाचार्य परमाणु के सम्बन्ध में लिखते हैं :

"वह सर्व स्कंधों का अंत्य है—उनका अन्तिम विभाग या कारण है। वह शाश्वत, एक, अविभागी और मूर्त होता है। वह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—इन चार धातुओं का कारण है। परिणामी है। स्वयं अशब्द होते हुए भी शब्द की उत्पत्ति का कारण है। वह नित्य है। वह सावकाश और अनवकाश है। वह जैसे स्कंध के भेद का कारण है वैसे ही स्कंध का कर्त्ता भी है। वह काल-संख्या का निरूपक और प्रदेश-संख्या का हेतु है। एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्शवाला है। ऐसा जो पुद्गल-स्कंध से विभक्त द्रव्य है उसे परमाणु जानो[4]।"

परमाणु कारण रूप है कार्य रूप नहीं, अतः वह अंत्य द्रव्य है[5]। उसकी उत्पत्ति में दो द्रव्यों के संघात की संभावना नहीं, अतः वह नित्य है क्योंकि उसका विच्छेद नहीं हो सकता।

शब्द पुद्गल का लक्षण – गुण नहीं है अतः वह परमाणु का भी गुण नहीं। इसलिए परमाणु अशब्द है। पर स्वयं अशब्द होते हुए भी वह शब्द का कारण कहा गया है।

१—**वही १८.१०**

२—**वही १४.४**

३—**भगवती १८.६**

४—**पञ्चास्तिकाय १.७७, ७८, ८०, ८१**

५—**कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।**
एकरस वर्ण-गन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च॥

इसका हेतु यह है : "शब्द स्कंधों के संघर्ष से उत्पन्न होता है और स्कंध बिना परमाणु के हो नहीं सकते। अतः परमाणु ही शब्द के कारण रूप है[1]।"

परमाणु के बिछुड़ने पर स्कंध टूटने लगता है। इसलिए वह स्कंध के खण्ड का कारण है। परमाणुओं के मिलाप से स्कंध बनता है या पुष्ट होने लगता है इसलिए स्कंध का कर्त्ता है[2]।

अपने वर्णादि गुणों को स्थान देता है अतः सावकाश है। एक प्रदेश से अधिक स्थान को नहीं लेता अतः अनवकाश है अथवा उसके एक प्रदेश में दूसरे प्रदेश का समावेश नहीं होता अतः वह अनवकाश है।

पुद्गल सूक्ष्मतम स्वतंत्र द्रव्य होने से धर्म, अधर्म, आकाश और जीव जैसे अखण्ड और अमूर्त द्रव्यों में प्रदेशांशों की कल्पना की जाती है उसका आधार है। परमाणु जितने आकाश स्थान को ग्रहण करता है उतने को एक प्रदेश मान कर ही उन्हें असंख्यात या अनन्त प्रदेश बतलाये गये हैं[3]। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं : "परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने में जो अन्तर लगता है वह ही समय है[4]।" इस तरह उनके अनुसार काल के माप का आधार भी परमाणु है।

२५—पुद्गल का उत्कृष्ट और जघन्य स्कंध (गा० ४६-५०) :

धर्म, अधर्म और जीव द्रव्य के प्रदेश असंख्यात हैं और आकाश द्रव्य के प्रदेश अनन्त हैं। पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध भिन्न-भिन्न प्रदेशों की संख्या को लिए हुए हो सकते हैं। कोई पुद्गल स्कन्ध संख्यात प्रदेशों का, कोई असंख्यात प्रदेशों का और कोई अनन्त प्रदेशों का हो सकता है[5]।

१—पञ्चास्तिकायः १.७९ :

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो॥

२—(क) स्कन्दन्ते–शुष्यन्ति पुद्गलविघटनेन, धीयन्ते पुष्यन्ति पुद्गल–चटनेनेति स्कंधाः

(ख) उत्त० ३६.११ एगत्तेण पुहुत्तेण, खंधा य परमाणु य

३—(क) प्रवचनसार २.४५

(ख) देखिए पृ० ८२ पाद–टि० ३

४—प्रवचनसार २.४७

५—तत्त्वार्थसूत्र ५.७–११

पुद्गल का सब-से-बड़ा स्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है फिर भी उसके लिये अनन्त आकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह केवल लोकाकाश के क्षेत्र प्रमाण ही होता है। उसी तरह पुद्गल का छोटा-से-छोटा स्कन्ध द्विप्रदेशी हो सकता है परन्तु वह प्रमाण में अंगुल के असंख्यातवें भाग अर्थात् एक प्रदेश आकाश से छोटा नहीं हो सकता। अनन्त प्रदेशी स्कंध लोकाकाश के एक प्रदेश क्षेत्र में समा सकता है और वही स्कंध एक-एक प्रदेश में फैलता हुआ लोकव्यापी हो सकता है।

पुद्गल-स्कंध के स्थान-ग्रहण के सम्बन्ध में प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी ने बड़ा अच्छा प्रकाश डाला है[1]। उसको यहाँ उद्धृत किया जाता है :

"पुद्गल द्रव्य का आधार सामान्य रूप से लोकाकाश ही नियत है। फिर भी विशेष रूप से भिन्न-भिन्न पुद्गल द्रव्यों के आधार क्षेत्र के परिमाण में फर्क है। पुद्गल द्रव्य कोई धर्म, अधर्म द्रव्य की तरह मात्र एक व्यक्ति तो है ही नहीं कि जिससे उसके लिए एकरूप आधार क्षेत्र होने की सम्भावना की जा सके। भिन्न-भिन्न व्यक्ति होने से पुद्गलों के परिमाण में विविधता होती है, एकरूपता नहीं। इसलिए यहां इसके आधार का परिमाण विकल्प से अनेक रूप में बताया गया है। कोई पुद्गल लोकाकाश के एक प्रदेश में तो कोई दो प्रदेश में रहते हैं। इस प्रकार कोई पुद्गल असंख्यात प्रदेश परिमित लोकाकाश में भी रहते हैं। सारांश यह है कि आधारभूत क्षेत्र के प्रदेशों की संख्या आधेयभूत पुद्गल द्रव्य के परमाणु की संख्या से न्यून अथवा इसके बराबर हो सकती है; अधिक नहीं। इसीलिए एक परमाणु एक सरीखे आकाश प्रदेश में स्थित रहता है; परन्तु द्वयणुक एक प्रदेश में भी रह सकता है और दो में भी। इस प्रकार उत्तरोत्तर संख्या बढ़ते-बढ़ते द्वयणुक, चतुरणुक इस तरह संख्याताणुक स्कन्ध तक एक प्रदेश, दो प्रदेश, तीन प्रदेश इस तरह असंख्यात प्रदेश तक के क्षेत्र में रह सकता है, संख्याताणुक द्रव्य की स्थिति के लिये असंख्यात प्रदेश वाले क्षेत्र की आवश्यकता नहीं होती। असंख्याताणुक स्कंध एक प्रदेश से लेकर अधिक से अधिक अपने बराबर के असंख्यात संख्या वाले प्रदेशों के क्षेत्र में रह सकते हैं। अनन्ताणुक और अनन्तानंताणुक स्कंध भी एक प्रदेश, दो प्रदेश इत्यादि क्रम से बढ़ते-बढ़ते संख्यात प्रदेश या असंख्यात प्रदेश वाले क्षेत्र में रह सकते हैं। इसकी स्थिति के लिये अनन्त प्रदेशात्मक क्षेत्र की जरूरत नहीं। पुद्गल द्रव्य के सबसे बड़े स्कंध जिसको अचित महास्कंध कहा जाता है और जो अनंता-

१—तत्त्वार्थसूत्र (गुज०) सू० १४ की व्याख्या

नंत अणुओं का बना हुआ होता है वह भी असंख्यात प्रदेश लोकाकाश में ही समाता है।"

२६-२७—लोक में पुद्गल सर्वत्र हैं। वे गतिशील हैं (गाथा० ५१) :

पुद्गल के दो प्रदेशों से लगाकर अनन्त प्रदेशों तक के स्कंध होते हैं। ये स्कंध एक समान स्थान न लेकर भिन्न-भिन्न परिमाण में लोकाकाश क्षेत्र को रोक सकते हैं। अतः स्कंध लोकाकाश के एक देश में होते हैं और पुद्गल-परमाणु लोक में सर्वत्र; अथवा बादर लोक के एक देश में और सूक्ष्म सर्व लोक में होते हैं[१]। अतः सामान्य दृष्टि से पुद्गल का स्थान तीन लोक नियत है। पुद्गल तीनों लोकों में खचा-खच भरे हुए हैं। थोड़ी भी जगह पुद्गल से खाली नहीं है। ये पुद्गल गतिशील हैं और एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते।

एक बार गौतम के प्रश्न के उत्तर में श्रमण भगवान महावीर ने बतलाया : "परमाणु-पुद्गल एक समय में लोक के पूर्व अन्त से पश्चिम अन्त, पश्चिम अन्त से पूर्व अंत, दक्षिण अन्त से उत्तर अन्त और उत्तर अन्त से दक्षिण अन्त, ऊपर के अन्त से नीचे के अंत और नीचे के अन्त से ऊपर के अन्त में जाते हैं[२]।" परमाणु-पुद्गल की गति कितनी तीव्र है उसका अन्दाज इस उत्तर से हो जाता है।

२८—पुद्गल के चारों भेदों की स्थिति (गा० ५२) :

स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन इस गाथा में किया गया है। अपनी अपनी स्थिति के बाद स्कंध, देश और प्रदेश उसी अवस्था में नहीं रहते परन्तु भेद, संघात या भेदसंघात के सहारे अवस्थान्तरित हो जाते हैं। भेद के सहारे स्कंध छोटा हो जाता है या अणुरूप, संघात से दूसरे स्कंध या परमाणु से मिल कर और बड़ा स्कंध रूप हो जाता है, भेदसंघात से छोटा स्कंध या परमाणु रूप होकर फिर स्कंध रूप हो जाता है। इस तरह स्कंध, देश और प्रदेश परमाणु-पुद्गल की पर्याय हैं। स्कंधादि की उत्पत्ति परमाणु से होती है इसलिये स्कंधादि भेद पर्याय ही हैं।

परमाणु द्रव्यों का बना हुआ नहीं होता इसलिए नित्य है, अनुत्पन्न है, फिर

१—उत्त० ३६.११

लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खेत्तओ ॥
सुहमा सव्वलोगम्मि, लोग देसे य बायरा ॥

२—भगवती १८.१०

भी स्कंध या देश के भेद से परमाणु निकलता है इस दृष्टि से परमाणु की स्कंध से अलग स्थिति पर्याय है। इसीलिए अलग हुए परमाणु की स्थिति को भाव-पुद्गल कहा गया है। "कभी स्कंध के अवयव रूप बन सामुदायिक अवस्था में परमाणुओं का रहना और कभी स्कंध से अलग होकर विशकलित (स्वतन्त्र) अवस्था में रहना यह सब परमाणु की पर्याय—अवस्था विशेष ही है[1]।"

स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु अपने-अपने स्कंधादि रूप में कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक असंख्यात काल तक रहते हैं। स्वामीजी के इस कथन का आधार भगवती सूत्र है[2]।

२९—स्कंधादि रूप पुद्गलों की अनन्त पर्यायें (गा० ५३) :

'पूरणगलन धर्माणः पुद्गलः' पूरण-गलन जिसका स्वभाव हो, उसे पुद्गल कहते हैं अर्थात् जो इकट्ठे होकर मिल जाते हैं और फिर जुदे-जुदे हो बिखर जाते हैं वे पुद्गल हैं। इकट्ठा होना और बिखर जाना पुद्गल द्रव्य का स्वभाव है। इस मिलने-बिछुड़ने से पुद्गल के अनेक तरह के भाव—रूपान्तर होते हैं। अनेक तरह की पौद्गलिक वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। इस तरह उत्पन्न पौद्गलिक पदार्थ भाव पुद्गल हैं। भिन्न-भिन्न स्कंधादि रूप में इनकी अनन्त पर्यायें—अवस्थाएँ होती हैं।

३०—पौद्गलिक वस्तुएँ विनाशशील होती हैं (गा० ५४) :

पुद्गल दो तरह के होते हैं—एक द्रव्य-पुद्गल दूसरे भाव-पुद्गल। द्रव्य-पुद्गल मूल पदार्थ हैं। उनका विच्छेद नहीं हो सकता। चूंकि वे किन्हीं दो पदार्थों के बने हुये नहीं होते अतः उनमें से अन्य किसी वस्तु को प्राप्त करना असम्भव है। ये किन्हीं पदार्थों के कार्य (Product) नहीं होते पर अन्य पदार्थों के कारण (Constituent) होते हैं। इन द्रव्य पुद्गलों से बनी हुई जो भी वस्तुएँ होती हैं उन्हें भाव-पुद्गल कहते हैं। द्रव्य-पुद्गल की सब परिणतियाँ—पर्यायें भाव-पुद्गल हैं। हम अपने चारों ओर जो भी जड़ वस्तुएँ देखते हैं वे सभी पौद्गलिक हैं अर्थात् द्रव्य-पुद्गल से निष्पन्न हैं और भाव-पुद्गल हैं। उदाहरण स्वरूप हमारी काठ की टेबुल, लोहे की कुर्सी, पीतल का पेपरवेट, दफ्ती की फाइलें, प्लास्टिक की कैंची, हमारा निजी शरीर, हमारी निज की इन्द्रियाँ ये सभी भाव-पुद्गल हैं।

१—तत्त्वार्थसूत्र (गुज०) ५.२७ की व्याख्या पृ० २२२

२—भगवती ५.७ : जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जा कालं, एवं जाव अणंत-पएसिओ।

मूल-पुद्गल नित्य होते हैं। वे शाश्वत हैं। भाव-पुद्गल अनित्य होते हैं और नाशवान हैं।

उदाहरण स्वरूप एक मोमबत्ती को ले लीजिये। जलाये जाने पर कुछ ही समय में उसका सम्पूर्ण नाश हो जायगा। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि मोमबत्ती के नाश होने से अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है[1]।

इसी तरह जल को एक प्याले में रखा जाय और प्याले में दो छिद्रकर तथा उनमें कार्क लगाकर दो प्लेटिनम की पत्तियाँ जल में खड़ी कर दी जायें और प्रत्येक पत्ती के ऊपर एक काँच का ट्यूब लगा दिया जाय और प्लेटिनम की पत्तियों का सम्बन्ध तार द्वारा बिजली की बैटरी के साथ कर दिया जाय तो कुछ ही समय में पानी गायब हो जायगा। साथ ही यदि उन प्लेटिनम की पत्तियों पर रखे गये ट्यूबों पर ध्यान दिया जायगा तो दोनों में एक-एक तरह की गैस मिलेगी जो आक्सीजन और हाइड्रोजन होगी[2]।

फेरस सल्फेट और सिल्वर सल्फेट के घोलों को एक साथ मिलाने से उनसे सिल्वर धातु की उत्पत्ति होती है। इस तरह पुद्गलों के विच्छेद और परस्पर मिलने से भाँति-भाँति की पौद्गलिक वस्तुओं की निष्पत्ति होती है।

द्रव्य-पुद्गल स्वाभाविक होते हैं और भाव पुद्गल कृत्रिम। भाव-पुद्गल द्रव्य पुद्गलों से रचित होते हैं, उनकी पर्यायें होती हैं और द्रव्य-पुद्गल स्वाभाविक अनुत्पन्न पदार्थ हैं। ऐसी कोई दो वस्तुएँ नहीं हैं कि जिनसे द्रव्य-पुद्गल उत्पन्न किए जा सकें। जो संयोग से बनी हुई चीजें हैं वे नित्य नहीं हो सकतीं और जो असंयोगज वस्तुएँ हैं उनका कभी विनाश नहीं हो सकता, वे नित्य रहती हैं।

३१—(गा० ५५-५८):

स्वामीजी ने इन गाथाओं में भाव-पुद्गलों के कुछ उदाहरण दिये हैं ; यथा—आठ कर्म, पाँच शरीर आदि। नीचे इन भाव-पुद्गलों पर कुछ प्रकाश डाला जाता है :

१—A Text-Book of Inorganic Chemistry By J.R.Partington, M. B. E., D.Sc. p. 15 Expt. 7

२—A Text-Book of Inorganic Chemistry By G. S. Newth, F. I. C., F. C. S. p. 237

१ : आठ कर्म

पुद्गल दो तरह के होते हैं : एक वे जिनको आत्मा अपने प्रदेशों में ग्रहण कर सकती है और दूसरे वे जो आत्मा द्वारा अपने प्रदेशों में ग्रहण नहीं किए जा सकते। प्रथम प्रकार के पुद्गल आत्म-प्रदेशों में प्रवेश कर वहीं स्थित हो जाते हैं। इन्हें पारिभाषिक शब्द में कर्म कहा जाता है। कर्म आठ हैं, जिनके अलग-अलग स्वभाव होते हैं। (१) ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को रोकता है। (२) दर्शनावरणीय कर्म दर्शन को रोकता है। (३) वेदनीय कर्म सुख-दुःख का अनुभव कराता है। (४) मोहनीय कर्म जीव को मतवाला बना देता है। (५) आयुष्य कर्म जीव की आयु नियत करता है। (६) नाम कर्म जीव की ख्याति, उसके स्वभाव, उसकी लोकप्रियता आदि को निश्चित करता है। (७) गोत्र कर्म, कुल-जाति आदि को निश्चित करता है और (८) अंतराय कर्म से बाधाएँ आती हैं।

२ : पाँच शरीर

शरीर पाँच होते हैं (१) औदारिक शरीर, (२) वैक्रिय शरीर, (३) आहारक शरीर, (४) तैजस् शरीर और (५) कार्मण शरीर[1]।

औदारिक शरीर : इसकी कई व्याख्याएँ की जाती हैं, जैसे :

१—जो शरीर जलाया जा सके और जिसका छेदन-भेदन हो सके वह औदारिक शरीर है[2]।

२—उदार अर्थात् बड़े-बड़े अथवा तीर्थंकरादि उत्तम पुरुषों की अपेक्षा से उदार—प्रधान पुद्गलों से जो शरीर बनता है उसे 'औदारिक' कहते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का शरीर औदारिक कहलाता है[3]।

३—उदरण का अर्थ स्थूल होता है। जो शरीर स्थूल पदार्थों का बना होता है उसे औदारिक शरीर कहते हैं। औदारिक शब्द की उत्पत्ति उदर शब्द से भी हो सकती है। इसलिए उदर-जात को औदारिक शरीर कहा जायगा[4]।

४—जिसमें हाड़, मांस, रक्त, पीब, चर्म, नख, केश, इत्यादिक हों तथा जिस शरीर से जीव कर्म क्षय कर मुक्ति पा सके[5]।

१—**पण्णवणा : १२ शरीर पद १**

२—**तत्त्वार्थसूत्र (गुज० तृ० आ०) पृ० १२०**

३—**नवतत्त्व (हिन्दी भाषानुवाद-सहित) पृ० १५**

४—Panchastikayasara(English)Edited by A. chakravarti. p.88

५—**श्री नवतत्त्व अर्थ विस्तार सहित (प्रकाशक जे० जे० कामदार) पृ० ३४।**

औदारिक शरीर की उपरोक्त व्याख्याओं में चौथी व्याख्या सदोष और अपूर्ण है। क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों के शरीर में यथाकथित हाड़ और मांस नहीं होते फिर भी वे औदारिक शरीरी हैं। औदारिक शरीर की तीसरी व्याख्या भी व्यापक नहीं। औदारिक शरीर स्थूल पदार्थों का ही बना हुआ होता है ऐसी कोई बात नहीं है। सूक्ष्म वायुकाय का शरीर भी औदारिक है, पर वह स्थूल पदार्थों का बना हुआ नहीं कहा जा सकता। उदर से उत्पन्न जीवों के ही नहीं परन्तु सम्मूर्च्छिम जीवों के शरीर भी औदारिक हैं अतः यह तीसरी व्याख्या भी सदोष मालूम देती है।

दूसरी व्याख्या भी कृत्रिम-सी लगती है।

पहली व्याख्या काफी व्यापक है और औदारिक शरीर का ठीक-ठीक परिचय देती है।

वैक्रिय शरीर : उस शरीर को कहते हैं जो कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी पतला, कभी मोटा, कभी एक, कभी अनेक इत्यादि विविध रूपों—विक्रिया को धारण कर सके[1]। यह शरीर देवता और नारकीय जीवों को होता है। पण्णवणा में वायुकाय के वैक्रिय शरीर भी कहा गया है[2]।

आहारक शरीर : जो शरीर केवल चतुर्दश पूर्वधारी मुनि द्वारा ही रचा जा सकता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।

तेजस् शरीर : जो शरीर गर्मी का कारण है और आहार पचाने का काम करता है उसे तेजस् शरीर कहते हैं। शरीर के अमुक-अमुक अंग स्पर्श से गरम मालूम देते हैं, वे तेजस् शरीर के कारण से ही ऐसे मालूम देते हैं[3]।

कार्मण शरीर : कर्म-समूह ही कार्मण शरीर है[4]।

जीवों के साथ लगे हुए आठ प्रकार के कर्मों का विकाररूप तथा सब शरीरों का कारण रूप, कार्मण शरीर कहलाता है[5]। जीव जिन आठ कर्मों से अवबंष्टित होता है,

---

१—तत्त्वार्थसूत्र (गुज० तृ० आ०) पृ० १२१

२—पराणवणा : १२ शरीर पद १

३—श्रीमद् राजचन्द्र भाग २ पृ० ६८६ अंक १७५

४—तत्त्वार्थसूत्र (गुज० तृ० आ०) पृ० १२१

५—नवतत्त्व पृ० १६

उनके समूह को कार्मण शरीर कहते हैं। कोई भी सांसारिक जीव तेजस् और कार्मण शरीर बिना नहीं होता।

स्वामीजी कहते हैं—ये सभी शरीर पौद्गलिक हैं—पुद्गलों से रचित हैं[1]। पुद्गलों की पर्यायें होने से ये नित्य नहीं हैं। ये अस्थायी और विनाशशील हैं।

३ : छाया, धूप, प्रभा—कांति, अंधकार, उद्योत आदि

उत्तराध्ययन में कहा है : "शब्द, अंधकार, उद्योत, प्रभा, छाया, धूप तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श पुद्गल के लक्षण हैं। एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग पर्यायों के लक्षण हैं[2]।" वाचक उमास्वाति के प्राय: इसी आशय के सूत्र इस प्रकार हैं :

स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गला :[3]।
शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च[4]।

स्वामीजी का कथन (गा० ५६-५७) भी ठीक ऐसा ही है और उसका आधार उत्तराध्ययन की उपर्युक्त गाथाएँ हैं। स्वामीजी ने छाया, धूप आदि सबको भाव-पुद्गल कहा है। ये पुद्गल के भिन्न-भिन्न रूप हैं। उसकी पर्याय—अवस्थाएँ हैं। इस बात से दिगम्बराचार्य भी सहमत हैं[5]।

४—उत्तराध्ययन के क्रम से शब्दादि पुद्गल परिणामों का स्वरूप

अब हम उत्तराध्ययन सूत्र के क्रम से शब्दादि भाव-पुद्गलों पर क्रमश: प्रकाश डालेंगे।

१—मिलावें प्रवचन सार २.७६ :

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ।
आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे॥

२—उत्त० २८.१२.१३

३—तत्त्वार्थसूत्र ५.२३

४—तत्त्वार्थसूत्र ५.२४

५—द्रव्यसंग्रह : १६

सद्दो बंधो सुहमो थूलो संठाण भेदतमछाया।
उज्जोदादपसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥

१—**शब्द :** शब्द का अर्थ है ध्वनि, भाषा। शब्द दो तरह से उत्पन्न होता है—(१) पुद्गलों के संघात से और (२) पुद्गलों के भेद से[1]। जब पुद्गल आपस में टकराते हैं या एक दूसरे से अलग होते हैं तो शब्द की उत्पत्ति होती है। इस तरह शब्द प्रत्यक्ष ही पुद्गलों की पर्याय है। शब्द के अनेक प्रकार के वर्गीकरण मिलते हैं :

१—(१) प्रायोगिक—जो शब्द आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं उन्हें प्रायोगिक कहते हैं। जैसे वीणा, ताल आदि के शब्द।

(२) वैश्रसिक—जो शब्द बिना प्रयत्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं उन्हें वैश्रसिक कहते हैं[2]। जैसे बादलों की गर्जना।

२—(१) जीव शब्द—जीवों की आवाज, भाषा आदि।

(२) अजीव शब्द—बादलों की गर्जना आदि।

(३) मिश्र शब्द—जीव-अजीव दोनों के मिलने से उत्पन्न शब्द। जैसे शंख-ध्वनि।

३—तीसरे वर्गीकरण के अनुसार शब्द के दस भेद इस प्रकार हैं :

(१) निर्हारी—घोष पूर्ण शब्द; जैसे घंटे का शब्द;

(२) पिण्डिम—घोष रहित—ढोल आदि का शब्द;

(३) रूक्ष—काक आदि का शब्द;

(४) भिन्न—तुतले शब्द;

(५) जर्जरित—वीणा आदि के शब्द;

(६) दीर्घ—मेघ-ध्वनि के-से शब्द अथवा दीर्घवर्णाश्रित शब्द;

(७) ह्रस्व—मंद अथवा ह्रस्व वर्णाश्रित शब्द;

(८) पृथक्त्व—भिन्न-भिन्न स्वरों के मिश्रण वाला शब्द;

(९) काकली—कोयल का शब्द और

(१०) किंकिणीस्वर—नूपुर आभूषण आदि का शब्द[3]।

१—ठाणाङ्ग २.३. ८१ : दोहिं ठाणेहिं सद्दुप्पाते सिया, तंजहा—साहन्नंताण चेव पुग्गलाणं सद्दुप्पाए सिया भिज्जंताण चेव पोग्गलाणं सद्दुप्पाये सिया

२—पञ्चास्तिकाय १-७९ की जयसेन टीका :

"उप्पादिगो" प्रायोगिकः पुरुषादिप्रयोग प्रभवः "णियदो" नियतो वैश्रसिको मेघादिप्रभव :

३—ठाणाङ्ग : ७.५

४—चौथे वर्गीकरण को एक वृक्ष के रूप में नीचे उपस्थित किया जाता है : (ठाणाङ्ग : ८१)
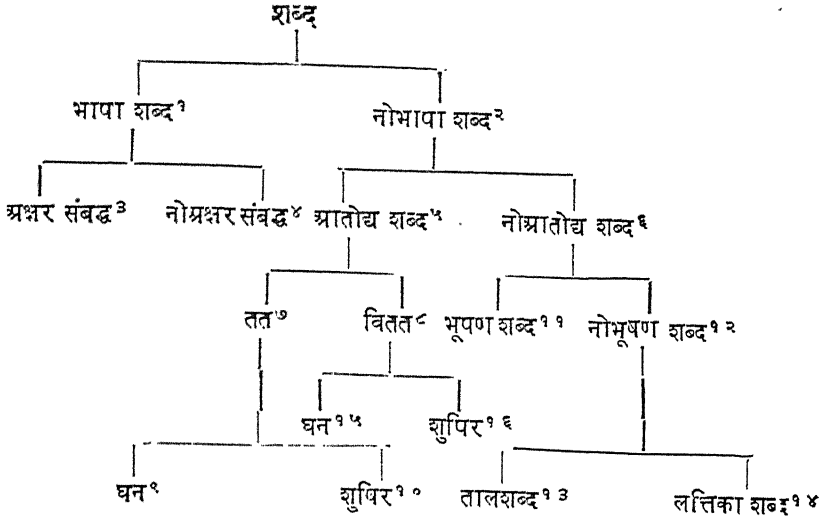
१—मनुष्य अथवा पशु-पक्षियों के शब्द ।

२—अजीव वस्तु का शब्द ।

३—अकार आदि वर्ण रूपी शब्द ।

४—वर्ण रहित अव्यक्त शब्द ।

५—पटह आदि के शब्द ।

६—बांसस्फोट आदि के शब्द ।

७—वीणा, सारङ्गी आदि के शब्द ।

८—मृदंग, पटह आदि के शब्द । टीका—तंत्री आदि से रहित शब्द

९—कांसे के झांझ-पिंजनिका आदि के शब्द ।

१०—मुरली, बांसुरी, शंख आदि के शब्द । टीका के अनुसार पटह, वीणा आदि के शब्द
पञ्चास्तिकाय : १.७९ की जयसेन टीका :

> ततं वीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकं ।
> घनं तु कांस्यतालादि वंशादि शुषिरं मतम् ॥

११—नूपुर (भूषण) आदि के शब्द ।

१२—आभूषण आदि से भिन्न वस्तु के शब्द ।

१३—ताली आदि के शब्द ।

१४—पद-चाप, टाप आदि के शब्द ।

१५—भाणकवत् ...

१६—काहलादिवत्

शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। शब्द या तो शुभ होते हैं या अशुभ। इसी तरह वे (१) आत्त-अनात्त, (२) इष्ट-अनिष्ट, (३) कान्त-अकान्त, (४) प्रिय-अप्रिय, (५) मनोज्ञ-अमनोज्ञ और (६) मनआम-अमनआम होते हैं[1]।

शब्द कानों के साथ स्पृष्ट होने पर सुनाई पड़ता है[2]।

भगवान महावीर ने बतलाया है कि शब्द आत्मा नहीं है। वह अनात्म है। वह रूपी है। वह भाषा वर्गणा के पुद्गलों का एक प्रकार का विशिष्ट परिणाम है[3]।

भाषा का आकार वज्रकी तरह होता है। लोकान्त में उसका अन्त होता है। भाषा दो समयों में बोली जाती है[4]।

२—अंधकार तम, तिमिर। जो अंधा कर देता है—जिसके कारण वस्तुओं का रूप दिखलाई नहीं देता, उसे अंधकार कहते हैं। आतप सूर्य या दीपक के प्रकाश से जो पुद्गल तेजस् परिणाम को प्राप्त करते हैं वे ही श्याम भाव में परिणमन करते हैं। यह अंधकार पुद्गल परिणामी है। यह प्रकाश का विरोधी है।

३—**उद्योत** : तारक, ग्रह, चन्द्रादि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहते हैं। चन्द्रमादि से प्रति समय निकलता हुआ उद्योत पुद्गल प्रवाहात्मक होता है।

४—**प्रभा** : प्रदीप आदि का प्रकाश। सूर्य चन्द्रमा तथा इसी प्रकार के अन्य तेजस्वी पुद्गलों की प्रकाश रश्मियों से जो अन्य उपप्रकाश निकलता है उसे प्रभा कहते हैं। प्रकाश पुद्गलों से निर्झरण करती हुई प्रभा पुद्गलसमूहात्मिका है।

५—**छाया** : यह प्रकाश पर आवरण पड़ने से उत्पन्न होती है। छाया दो तरह की होती है—(१) प्रतिबिम्ब और (२) परछाईं। दर्पण या जल पर पड़ी हुई छाया को प्रतिबिम्ब तथा धूप या प्रकाश में पड़ी हुई आकृति या वस्तु की विपरीत दिशा में पड़ती हुई छाया परछाईं कहलाती है।

१—ठाणाङ्ग २. ३. ८२

२—भगवती ५. ४

पुट्ठाइं सुणेइ, नो अपुट्ठाइं सुणेइ

३—भगवती १३. ७

४—पणवणा ११. १५

वज्जसंठिया, लोगंतपज्जवसिया पण्णत्ता...
दोहि य समएहिं भासती भासं।

६—**आतप :** सूर्यादि का उष्ण प्रकाश।

७—**वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान :** उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है : "स्कंध और परमाणु के परिणाम वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान से पाँच प्रकार के हैं :

"वर्ण से परिणत पुद्गल काले, नीले, लाल, पीले और शुक्ल पाँच प्रकार के होते हैं।

"गंध से परिणत पुद्गल सुगन्ध-परिणत और दुर्गन्ध-परिणत दो तरह के होते हैं।

"रस से परिणत पुद्गल तिक्त, कटु, कषाय, खट्टे और मधुर पाँच प्रकार के होते हैं।

"स्पर्श से परिणत पुद्गल कर्कश, कोमल, भारी, हल्का, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष आठ प्रकार के होते हैं।

"संस्थान से परिणत पुद्गल परिमण्डल, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण और लम्बे—पाँच प्रकार के होते हैं[१]।"

८—**एकत्व :** परमाणु का एक या अधिक परमाणु अथवा स्कंध के साथ मिलना एकत्व है।

६—**पृथक्त्व :** स्कंध से परमाणु का जुदा होना पृथक्त्व है।

१०—**संख्या :** एक परमाणु रूप होना अथवा दो परमाणु से आरंभ कर अनन्त परमाणुओं का स्कंध होना। अथवा द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या के परिमणन का हेतु होना।

११—**संस्थान :** भगवती सूत्र में संस्थान (आकृति) पाँच प्रकार के कहे हैं (१) परिमंडल, (२) वृत्त, (३) त्र्यस्र, (त्रिकोण), (४) चतुरस्र, (चतुष्कोण) और (५) आयत (लंबा)[२]। संस्थानों की संख्या छः भी मिलती है। इसका छठाँ प्रकार अनित्थंस्थ है[३]। संस्थान के सात भेद भी कहे गये हैं : (१) दीर्घ, (२) ह्रस्व, (३) वृत्त, (४) त्र्यंश, (५) चतुरस्र, (६) पृथुल और (७) परिमंडल[४]।

१२—**संयोग**—बंध। यह प्रायोगिक और वैश्रसिक दो प्रकार का होता है। जीव और शरीर का सम्बन्ध अथवा टेबिल के अवयवों का सम्बन्ध प्रयत्न साध्य होने से प्रयोगज है। बादलों का संयोग स्वाभाविक वैश्रसिक है।

१३—विभाग—भेद। मुख्य भेद पाँच हैं[५]। (१) उत्करिक : चीरने या फाड़ने

१—उत्त० ३६. १५-२१

२—भगवती २५. ३

३—भगवती २५. ३

४—ठाणाङ्ग—७.३.५४८

५—पण्णवणा ११.२८

से लकड़ी, पत्थर आदि के जो भेद होते हैं; (२) चूर्णिक पीसने से आटा आदि रूप जो भेद होते हैं; (३) खण्ड—सुवर्ण के टुकड़े के रूप के भेद; (४) प्रतर—अबरख की चादरों के रूप के भेद और (५) अनुतटिका—छाल दूर करने की तरह के भेद जैसे ईख का छीलना[1]।

१४—सूक्ष्मत्व स्थूलत्व—बेल से बेर का छोटा होना सूक्ष्मत्व है। बेर से बेल का बड़ा होना स्थूलत्व है।

१५—अगुरुलघुत्व : 'लोक प्रकाश' में अगुरुलघुत्व और गति को पुद्गल का परिणाम कहा है। परमाणु गुरुलघु रूप में परिणत नहीं होता वह अगुरुलघु है। पुद्गल स्कंध गुरुलघु-परिणाम वाले हैं।

१६—गति : एक स्थल से दूसरे स्थल जाना गति परिणाम है।

ऊपर कहे हुये शब्दादि सोलह भेद पुद्गल के परिणाम हैं। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये हरेक पुद्गल में होते हैं, इसलिये ये पुद्गल के लक्षण हैं। ये सब पुद्गलों में एक साथ पाये जाने से पुद्गल के साधारण धर्म हैं। अवशेष शब्दादि परिणाम पुद्गल के विशेष परिणाम हैं। वे पुद्गलों के सामान्य धर्म नहीं, विशेष धर्म हैं क्योंकि कुछ में पाये जाते हैं और कुछ में नहीं। जब परमाणु स्कंध रूप में परिणत होते हैं तब उनकी जो अवस्थायें होती हैं, जो कार्य उपलब्ध होते हैं, वे शब्दादि रूप हैं। अतः वे सब भाव पुद्गल हैं।

ठाणाङ्ग में पुद्गल के दस ही परिणाम बतलाये गये हैं : (१) बंधन परिणाम, (२) गति परिणाम, (३) संस्थान परिणाम, (४) भेद परिणाम, (५) वर्ण परिणाम (६) रस परिणाम, (७) गंध परिणाम, (८) स्पर्श परिणाम, (९) अगुरुलघु परिणाम और (१०) शब्द परिणाम[2]।

५ : घट-पटह-वस्त्र-शस्त्र-भोजन और विकृतियाँ

घट आदि का उल्लेख पौद्गलिक वस्तुओं के संकेत रूप में है। घट, पटह, वस्त्र, भूषण, खाद्य-पदार्थ आदि उनके कुछ उदाहरण हैं। जिन वस्तुओं में वर्ण, गंध, रस स्पर्श हैं वे सभी वस्तुएँ पौद्गलिक हैं। उनकी संख्या अनन्त है।

मन पौद्गलिक है[3]।

दसों विकृतियाँ घृत, दूध, दही, गुड़, तेल, मिठाई, मद्य, मांस, मधु और मक्खन पौद्गलिक हैं।

सारी पौद्गालिक वस्तुएँ द्रव्य-पुद्गलों से निष्पन्न हैं—उनके रूपान्तर हैं। उन्हें भाव-पुद्गल कहा जाता है।

१—ठाणाङ्ग १०.१.७१३ की टीका। पण्णवणा में फली को फोड़ कर दाने के अलग होने को उत्करिका और कूप, नदी आदि के अनुतटिका भेद को अनुतटिका कहा है।

२—ठाणाङ्ग १०.१.७१३; पञ्चास्तिकाय २.१२६

३—भगवती १३.७ ; प्रवचनसार २.६६

३२—(गा० ५६-६१):

इन गाथाओं में वे ही भाव हैं जो गा० ४४-४५ तथा ५३-५४ में हैं[1]। स्वामीजी ने पुद्‌गल के विषय में निम्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं :

(१) पुद्‌गल द्रव्यतः शाश्वत है और भावतः अशाश्वत।

(२) द्रव्य-पुद्‌गल कभी उत्पन्न नहीं होते और न उनका कभी विनाश ही होता है।

(३) भाव-पुद्‌गल उत्पन्न होते रहते हैं और उन्हीं का विनाश होता है।

(४) भाव-पुद्‌गलों की उत्पत्ति और विनाश होने पर भी उनके आधारभूत द्रव्य-पुद्‌गल ज्यों-के-त्यों रहते हैं।

(५) अनन्त द्रव्य-पुद्‌गलों की संख्या कभी घटती-बढ़ती नहीं।

भगवती सूत्र में पुद्‌गल को द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत कहा है[2]। इसी तरह ठाणाङ्ग में पुद्‌गल को विनाशी और अविनाशी दोनों कहा है[3]। इस तरह स्वामीजी का प्रथम कथन आगम आधारित है।

जीव-द्रव्य के विषय में कहा जाता है :

"जीव भाव-सत्‌रूप पदार्थ है। सुर-नर-नारक-तिर्यञ्च रूप उसकी अनेक पर्यायें हैं। मनुष्य पर्याय से च्युत देही (जीव) देव होता है अथवा कुछ और (नारकी, तिर्यञ्च या मनुष्य)। दोनों भाव—पर्यायों में जीव जीव रूप में रहता है। मनुष्य पर्याय के सिवा अन्य का नाश नहीं हुआ। देवादि पर्याय के सिवा अन्य की उत्पत्ति नहीं हुई। एक ही जीव उत्पन्न होता है और मरण को प्राप्त करता है। फिर भी जीव न नष्ट हुआ और न उत्पन्न हुआ है। पर्यायें ही उत्पन्न और नष्ट हुई हैं। देव-पर्याय उत्पन्न हुई है। मनुष्य-पर्याय का नाश हुआ है। संसार में भ्रमण करता हुआ जीव देवादि भाव—पर्यायों—को करता है और मनुष्यादि भाव—पर्यायों—का नाश करता है। विद्यमान भाव—पर्याय—का अभाव करता है और अविद्यमान भाव—पर्याय—की उत्पत्ति करता है। जीव गुण-पर्याय सहित विद्यमान है। सत् जीव का विनाश नहीं होता; असत् जीव की उत्पत्ति नहीं होती। एक ही जीव की मनुष्य, देव आदि भिन्न भिन्न गतियाँ हैं[4]।"

१—देखिये पृ० १०५ टि० २६, ३०

२—भगवती १.४ ; १४.४

३—ठाणाङ्ग २. ३. ८२ : दुविहा पोग्गला पं तं० भेउरधम्मा चेव नोभेउरधम्मा चेव।

४—पञ्चास्तिकाय १.१६-१८, २१, १९ का सार।

यही बात पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध में भी लागू पड़ती है। विविध लक्षणोंवाले द्रव्यों में एक सत् लक्षण सर्व द्रव्यगत है। सत् का अर्थ है—'उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होना'। पुद्गल-द्रव्य भी सत् वस्तु है। उसके एक रूप का नाश होता है, दूसरे की उत्पत्ति होती है पर मूल द्रव्य सदाकाल अपने स्वभाव में स्थिर रहते हैं और कभी नाश को प्राप्त नहीं होते।

उदाहरण स्वरूप यदि हम जल को उबालते जायें तो हम देखेंगे कि कुछ समय के बाद समूचा जल विलीन हो गया। जब हम एक मोमबत्ती को जलाते हैं तो देखते हैं कि मोम और कपड़े की बत्ती दोनों का अस्तित्व नहीं रहा। यदि मैगनेसियम के तार के एक टुकड़े को अग्नि में खूब गर्म किया जाय तो देखा जाता है कि वह एक तेज प्रकाश देने लगता है और अन्त में एक सफेद वस्तु का अस्तित्व छोड़ देता है जिसका वजन तार के टुकड़े से अधिक होता है। एक छोटे से बीज में से विशालकाय वृक्ष लहलहायमान होता है। जब हम अपने चारों ओर घटित होती हुई विलय और सृष्टि की इस लीला को देखते हैं तो सहज ही प्रश्न उठता है क्या जल नष्ट हो गया? क्या मोम और बत्ती नाश को प्राप्त हो गये? क्या सफेद पदार्थ नया उत्पन्न हुआ है? क्या वृक्ष के शरीर की उत्पत्ति हुई है?

जैन पदार्थ-विज्ञान कहता है जल, मोमबत्ती, मैगनेसियम और बीज का शरीर आदि सब कृत्रिम हैं क्योंकि ये द्रव्य पुद्गलों से निर्मित हैं। वे द्रव्य-पुद्गलों की भिन्न-भिन्न पर्याय-रूप—अवस्थान्तर हैं। भाव पुद्गल हैं। जो नाश, विलय और उत्पत्ति देखी जाती है वह भावों—पर्यायों और कृत्रिम पौद्गालिक वस्तुओं की है। वास्तव में ही भाव पुद्गलों का कृत्रिम पौद्गालिक पदार्थों का नाश और विलय होता है परन्तु भाव—पर्याय—परिवर्तन पुद्गल-द्रव्य के ही होते हैं। वे ही इन भौतिक पौद्गलिक पदार्थों के आधार होते हैं उनका नाश नहीं होता। वे हमेशा ध्रुव रहते हैं। कृत्रिम जल का नाश होता है, पर जिन द्रव्य-पुद्गलों से वह निर्मित है उनका नाश नहीं होता। वृक्ष के शरीर की उत्पत्ति होती है, पर जिन द्रव्य-पुद्गलों के आधार पर उसकी उत्पत्ति हुई है वे पहले भी थे, अब भी हैं और अनुत्पन्न हैं। मैगनेसियम के भारी अवशेष पदार्थ की उत्पत्ति हुई है, पर जिन द्रव्य-पुद्गलों को ग्रहण कर ऐसा हुआ है वे पहले भी मौजूद थे।

द्रव्य-पुद्गल की अविनाशशीलता और भाव-पुद्गल की विनाशशीलता को अन्य प्रकार से इस रूप में बताया जा सकता है :

पुद्गल के चार भाग बतलाये हैं—(१) स्कंध, (२) स्कंध-देश, (३) स्कंध-प्रदेश और (४)

परमाणु। स्कंध-देश और स्कंध-प्रदेश स्कंध के कल्पना-प्रसूत विभाग हैं। क्योंकि-स्कंध के जितने भी टुकड़े किये जाते हैं वे सब स्वतंत्र स्कंध होते हैं। केवल प्रदेश को अलग करने पर स्वतंत्र परमाणु प्राप्त होता है। देश और प्रदेश की स्वतंत्र उपलब्धि नहीं होती। स्वतंत्र अस्तित्व स्कंध अथवा परमाणु का ही होता है। इसीसे वाचक उमास्वाति ने कहा है : "अणवः स्कंधाश्च" (५.२५)—पुद्गल परमाणु रूप और स्कंध रूप है। यही बात ठाणाङ्ग में कही गई है[1]।

स्कंध परमाणुओं से उत्पन्न हैं। वे दो परमाणुओं से लेकर अनन्त परमाणुओं तक के संयोगज हैं। अनन्तपरमाणु स्कंध यावत् द्वयणुक स्कंध तक का विच्छेद संभव है क्योंकि स्कंध परमाणु-पुद्गल के पर्याय विशेष हैं, उनसे रचित हैं, भाव-पुद्गल हैं। जब स्कंधों पर किसी भी ऐसे प्रकार का प्रयोग किया जाता है जिससे उनका भंग या विच्छेद होता हो तो वे परमाणुओं को छोड़ते हैं। पर वे परमाणु सुरक्षित रहते हैं उनका नाश नहीं होता। स्कंध के सब परमाणु स्वतंत्र कर दिये जायँ तो स्कंध का नाश होगा; पर उस स्कंध के परमाणु ज्यों-के-त्यों रहेंगे। बिछुड़े हुये परमाणु जब इकट्ठे होते हैं तो स्कंध बनता है। इस तरह स्कंध की उत्पत्ति होती है परन्तु परमाणुओं का नाश नहीं होता। वे उस स्कंध रूप में सुरक्षित रहते हैं। इस तरह द्रव्य-पुद्गल हमेशा शाश्वत होते हैं। उनकी जितने भी पर्याय हैं, वे विनाशशील हैं। उत्पत्ति पर्यायों की होती है और विनाश भी उन्हीं का।

अणु का स्वरूप बतलाते हुये कहा गया है कि वह अच्छेद्य है, अभेद्य है, अदाह्य है, अग्राह्य है, अनर्द्ध है, अमध्य है, अप्रदेशी है और अविभाज्य है[2]। ऐसी स्थिति में परमाणु पुद्गल के नाश का सवाल ही नहीं उठता।

परमाणु-पुद्गल संख्या में अनन्त कहे गये हैं। अयोगिक और अविनाशशील होने से उनकी संख्या हर समय अनन्त ही रहती है—उसमें घट-बढ़ नहीं होती।

'द्रव्य' के स्वरूप के विषय में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं :

१—ठाणाङ्ग २.३.८२ दुविहा पोग्गला पं० तं० परमाणुपोग्गला चेव नोपरमाणु-पोग्गला चेव।

२—ठाणाङ्ग ३.१. १६५ : ततो अच्छेज्जा पं० तं०—समये पदेसे परमाणू १, एवमभेज्जा २ अडज्भा ३ अगिज्झा ४ अणड्ढा ५ अमज्भा ६ अपएसा ७ ततो अविभातिमा पं० तं० समते पएसे परमाणू ८

"जो अपने सत् स्वभाव को नहीं छोड़ता, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से संबद्ध होता है और जो गुण और पर्याय सहित है उसे द्रव्य कहते हैं। स्वभाव में अवस्थित सत् रूप वस्तु द्रव्य है। अर्थों में---गुण-पर्यायों में संभव-स्थिति-नाश रूप परिणमन करना द्रव्य का स्वभाव है। व्यय रहित उत्पाद नहीं होता, उत्पाद रहित व्यय नहीं होता। उत्पाद और व्यय, बिना ध्रौव्य पदार्थ के नहीं होते। द्रव्य संभव-स्थिति-नाश नामक अर्थों (भावों) से निश्चय कर समवेत है और वह भी एक ही समय में। इस कारण निश्चय कर उत्पादिक त्रिक द्रव्य के स्वरूप हैं। द्रव्य की एक पर्याय उत्पन्न होती है और एक विनष्ट होती है तो भी द्रव्य न नष्ट होता है और न उत्पन्न[1]।" "द्रव्य की उत्पत्ति अथवा विनाश नहीं है। द्रव्य सद्भाव है। उसी द्रव्य की पर्यायें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को करती हैं। भाव (सत् रूप पदार्थ) का नाश नहीं है। अभाव की उत्पत्ति नहीं है। भाव— (सत् रूप पदार्थ) गुण पर्यायों में उत्पादव्यय करते हैं[2]।"

पुद्गल द्रव्य है अतः उस पर भी ये सिद्धान्त घटित होते हैं।

स्वामीजी और आचार्य कुन्दकुन्द के कथनों में कितना साम्य है यह स्वयं स्पष्ट है।

इस विषय में विज्ञान क्या कहता है, अब यह भी जान लेना आवश्यक है।

एम्पी डोक्लस (४९०-४३० ई० पू०) नामक एक ग्रीक तत्त्ववेत्ता ने, जड़-पदार्थ ('मैटर'-matter) विषयक एक सिद्धान्त इस तरह रखा था—"Nothing can be made out of nothing, and it is impossible to annihilate anything. All that happens in the world depends on a change of forms and upon the mixture or seperation of bodies." अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं की जा सकती और न यही संभव है कि किसी चीज का सर्वथा नाश ही किया जा सके। दुनिया में जो कुछ भी है वह वस्तुओं के रूप-परिवर्तन पर निर्भर है तथा उनके सम्मिश्रण और पृथक् होने पर आधारित है।

प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता लेवाइसिये (Laovoisier) ने अनेक प्रयोग कर इसी सिद्धान्त को दूसरे प्रकार से इस तरह रक्खा—"Nothing can be created, and in every process there is just as much sub-

---

[1]—प्रवचनसार २. १-११ का सार।

[2]—पञ्चास्तिकाय १. ११-१५ का सार।

tance (quantity of matter) present before and after the process has taken place. There is only a change or modification of the matter[1]." अर्थात् कोई भी चीज नई उत्पन्न नहीं की जा सकती। किसी भी रसायनिक प्रक्रिया के बाद वस्तु (जड़-पदार्थकी मात्रा) उतनी ही रहती है जितनी कि उस प्रक्रिया के आरम्भ होने के समय रहती है। केवल जड़-पदार्थ का रूपान्तर या परिवर्तन होता है।

इस सिद्धान्त को विज्ञान में 'जड़-पदार्थ की अनश्वरता का नियम' (Law of Indestructibility of matter) या 'जड़-पदार्थ के स्थायित्व का नियम' (Law of Conservation of matter) कहा जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु के वजन—तौल में कमी नहीं आती। मोमबत्ती में जितना वजन होगा प्रायः उतना ही वजन मोमबत्ती के जल जाने पर उससे प्राप्त वस्तुओं में होगा। जितना वजन जल में होगा उतना ही उनसे प्राप्त ऑक्सीजन और हाइड्रोजन में होगा।

इसीलिए इस सिद्धान्त को आजकल इन शब्दों में रखा जाता है :

"No change in the total weight of all the substances taking part in a chemical change has ever been observed.[1]"

अर्थात् रसायनिक परिवर्तनों में भाग लेनेवाली कुल वस्तुओं का भार परिवर्तन के पश्चात् बनी हुई वस्तुओं के कुल भार के बराबर होता है। उनके भार में कभी कोई परिवर्तन नहीं देखा गया।

इस सिद्धान्त का फलितार्थ यह है कि किसी भी रसायनिक या भौतिक परिवर्तन में कोई जड़-पदार्थ न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है केवल उसका रूप बदलता है। चूंकि रासायनिक परिवर्तन में भाग लेनेवाली वस्तुओं का कुल भार परिवर्तन से बनी हुई वस्तुओं के कुल भारके बराबर होता है अतः सिद्ध है कि जड़-पदार्थ उत्पन्न या नष्ट नहीं होता।

पदार्थ के स्थायित्व विषयक उपर्युक्त नियम (Law of Conservation of

---

१—General and Inorganic chemistry by P. J. Durrant M. A., ph. D. p. 5

weight) की तरह ही शक्ति[१] (energy) के विषय में भी स्थायित्व का नियम है। इसका अर्थ है एक प्रकार की शक्ति अन्य प्रकार की शक्ति में परिवर्तित की जा सकती है। पर जड़ पदार्थ की तरह शक्ति भी न नष्ट हो सकती है और न नई उत्पन्न की जा सकती है[२]। शक्ति के नष्ट न होने के इस नियम को 'शक्ति के स्थायित्व का नियम' (Law of conservation of energy) कहा जाता है[३]।

इन दोनों नियमों को वैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया है।

डाल्टन ने १८०३ में परमाणुवाद (Atomic theory) के नियम को विज्ञान जगत के सम्मुख रक्खा। परमाणुवाद के कई महत्त्वपूर्ण प्रतिपादनों में से पहला इस प्रकार है :

"प्रत्येक रसायनिक तत्त्व (Chemical element) अत्यन्त सूक्ष्म कणों का बना हुआ है। इन कणों को परमाणु (atoms) कहते हैं। ये कण रसायनिक क्रियाओं से विभाजित नहीं किये जा सकते। परमाणु रसायनिक तत्त्व (Chemical element) का सूक्ष्मतम भाग है जो किसी रसायनिक परिवर्तन (Chemical change) में भाग ले सकता है[४]।"

१—गर्मी, ध्वनि, प्रकाश आदि शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप माने जाते हैं।

२—The principle of the conservation of energy implies that energy can neither be created nor destroyed; when energy is apparently used it is being transformed into an equivalent quantity of work or heat (General and Inorganic chemistry by P. J. Durrant p. 18)

३—इस नियम को इस प्रकार रखा जाता है : The total energy of any material system is a quantity which can neither be increased nor diminished by action between the parts of the system, although energy may be changed from one form to another. (A text book of Inorganic Chemistry by L. M. Mitra, M. Sc., B. L., p. 115)

४—The chemical elements are composed of very minute particles of matter called atoms, which remain undivided in all chemical changes. The atom is the smallest mass of an element which can take part in a chemical change. (A text book of Inorganic Chemistry by J. R. Partington, M. B. E., D. Sc. (sixth edition) p. 92)

डाल्टन के अणुवाद से 'जड़-पदार्थ के स्थायित्व के नियम' का स्पष्टीकरण इस प्रकार होता है :

डाल्टन के अनुसार प्रत्येक वस्तु अणुओं से बनी हुई है। ये अणु नित्य, अनुत्पन्न और अविनाशी हैं। इसलिए रासायनिक क्रिया से पूर्व अणुओं की संख्या व क्रिया के अन्त में अणुओं की संख्या निश्चित रहती है और चूंकि प्रत्येक अणु का भार निश्चित है अतः रासायनिक क्रिया के पूर्व व पश्चात् कुल वस्तुओं का भार वही रहेगा। अतः जड़-पदार्थ न उत्पन्न किया जा सकता है और न नष्ट ही हो सकता है[1]।"

डाल्टन ने जो अणुवाद का सिद्धान्त दिया है वह जैन परमाणुवाद से सम्पूर्णतः मिलता है।

डाल्टन के अणुवाद के आधार से जैसे विज्ञान का 'जड़-पदार्थ के स्थायित्व का नियम' सिद्ध होता है वैसे ही जैन परमाणुवाद के अनुसार जैन पदार्थवाद के द्रव्य-पुद्गल के स्थायित्व का नियम सिद्ध होता है।

जैन पदार्थवाद के अनुसार परमाणु ही द्रव्य-पुद्गल हैं। वे नाशशील नहीं पर उनसे उत्पन्न वस्तुएँ नाशशील हैं। द्रव्य-पुद्गलों के संयोग से नये पदार्थ बन सकते हैं और उनके बिछुड़ने से विद्यमान वस्तुओं का नाश हो सकता है। उत्पत्ति और विनाश ध्रुव द्रव्य-पुद्गल के स्वाभाविक अंग हैं।

इधर के वैज्ञानिक अन्वेषण भी इसी बात को सिद्ध करते हैं।

आधुनिक रेडियम (Radium) धर्मी तथा अणु सम्बन्धी अनुसन्धानों से ज्ञात हुआ है कि जड़-पदार्थ (matter) शक्ति (energy) में परिवर्तित हो सकता है और शक्ति जड़-पदार्थ में।

जड़-पदार्थ से शक्ति गर्मी, प्रकाश आदि के रूप में बाहर निकलती है। इस तरह जड़-पदार्थ अब अविनाशशील नहीं माना जाता। शक्ति के रूप में परिवर्तित होने पर पदार्थ के भार में कमी आती है। भार की कमी अत्यन्त अल्प होती है और सूक्ष्म साधनों से भी सरलता से नहीं पकड़ी जाती फिर भी वस्तुतः कमी होती है, ऐसा वैज्ञानिक

१—The weight of a chemical system is the sum of the weights of all the atoms in it. Chemical change consists of nothing else than the combination or seperation of these atoms. However the atoms may change their grouping, the sum of their weights, and hence the weight of the system, remains constant. (General and Inorganic Chemistry by P. J. Durrant p. 9-10)

मानते हैं[1] ।

इस तरह जड़-पदार्थ की अनश्वरता के नियम की उपपत्ति में परिवर्तन की आवश्यकता वैज्ञानिकों को मालूम पड़ने लगी और उनका सुझाव है कि आपेक्षिकता की दृष्टि से जड़-पदार्थ के स्थायित्व का नियम' (The law of conservation of matter) और 'शक्ति के स्थायित्व का नियम' (The law of conservation of energy) इन दोनों नियमों को एक ही नियम में समा देना चाहिए तथा उसका नाम 'जड़-पदार्थ और शक्ति के स्थायित्व का नियम' (The law of conservation of mass) रख देना चाहिए[2]।

१—The theory of relativity requires that an emission of energy E in a chemical change should be accompanied by a loss of mass equal to $\frac{E}{c^2}$, where c is the velocity of light. Matter is therefore no longer regarded as indestructible by a chemical change, although the mass lost by conversion to energy in any change which can be controlled in the laboratory is quite beyond detection by the most sensitive balance; the loss of mass attending the combustion of 1 gram of phosphorus is 2.6×10^{-10} (General and Inorganic Chemistry by P. J. Durrant p. 18)

२—Until the present century it was also thought that matter could not be created or destroyed, but could only be converted from one form into another. In recent years it has, however, been found possible to convert matter into radiant energy, and to convert radiant energy into matter. The mass m of the matter obtained by the conversion of an amount E of radiant energy or convertible into this amount of radiant energy is given by the Einstein equation ($E=mc^2$).

Until the present century scientists made use of a law of conservation of matter and a law of conservation of energy. These two conservation laws must now be combined into a single one, the law of conservation of mass, in which the mass to be conserved includes both the mass of matter in the system and the mass of energy in the system. However, for ordinary chemical reactions we may still make use of the "law" of conservation of matter—that matter cannot be created or destroyed, but only changed in form—recognizing that there is a limitation on the validity of this law: it is not to be applied if one of the processes involving the conversion of radiant energy into matter or matter into radiant energy takes place in the system under consideration. (General Chemistry by Linus Pauling pp. 4-5.)

जैन पदार्थविज्ञान उष्णता, शब्द, प्रकाश, गति आदि को द्रव्य-पुद्गल का परिणाम मानता रहा है। आज का विज्ञान जड़-पदार्थ (matter) और शक्ति (energy) को एक दूसरे से भिन्न चीजें भले ही माने[1] पर इतना अवश्य स्वीकार करता है कि ये एक दूसरे में परिवर्तित हो सकते हैं (देखिये पृ० १२२ पा० टि० २)। आइन्स्टीन ने सिद्ध कर दिया है कि शक्ति (energy) में भी भार होता है[2]। पुद्गल की जैन परिभाषा के अनुसार शक्ति के भिन्न भिन्न रूप पौद्गलिक पर्यायें हैं।

शक्ति को जड़-पदार्थ से भिन्न मानने के कारण ही विज्ञान आज जड़-पदार्थ को विनाशशील और उत्पत्तिशील मानने लगा है। जैन पदार्थविज्ञान के अनुसार शक्ति द्रव्य-पुद्गल की पर्याय मात्र है अतः उसकी (शक्ति की) उत्पत्ति और नाश

१—Again, a brick in motion is different from a brick at rest. A piece of iron behaves differently when it is hot or when it is magnetized, or is in motion. We thus form the idea of heat, motion etc., separately from the matter of brick or iron. The thing associated with matter in this way bringing about changes in its condition, is energy. The different forms in which energy may appear are : mechanical energy, heat, sound, light, electrical or magnetic energy, chemical energy.... and one form of energy frequently changes into another form. (A Text Book of Inorganic chemistry by Ladli Mohan Mitra M.Sc. B.L.page II4-43.rd. Edition)

२—For many years scientists thought that matter and energy could be distinguished through the possession of mass by matter and the lack of possession of mass by energy. Then, early in the present century (1905), it was pointed out by Albert Einstein (born 1879) that energy has mass, and that light is accordingly attracted by matter through gravitation. × × The amount of mass associated with a definite energy is given by an equation, the Einstein equation : $E=mc^2$ (General Chemistry by Linus pauling p.4)

द्रव्य-पुद्गल के स्वभाव से सिद्ध है। द्रव्य-पुद्गल तीनों काल में अनुत्पन्न और अविनाशी है।

विज्ञान की अणु (atom) सम्बन्धी धारणा में भी काफी परिवर्तन हुआ है। बहुत समय तक रसायन संसार का विश्वास रहा कि अणु जड़-पदार्थ के सूक्ष्मतम कण हैं। इनको विभक्त नहीं किया जा सकता है। परन्तु धीरे-धीरे भौतिक विज्ञान की प्रगति के कारण अणु का विभाजन होने लगा। ऐसे प्रयोग किये गये जिनसे स्पष्ट हो गया कि अणु विभक्त हो सकता है। और आज अणु के विभक्त होने से अनेक नवीन आविष्कार हुए हैं। इनमें सबसे प्रमुख अणु बम्ब (Atom Bomb) है।

यह भी सिद्ध किया गया है कि अणु भिन्न-भिन्न सूक्ष्म कणों का बना हुआ है। उसकी रचना तीन प्रकार के कणों से बतायी जाती है : (१) प्रोटोन (घनात्मक), (२) इलैक्ट्रोन (ऋणात्मक) (३) और न्यूट्रोन (उदासीन)।

अणु को विभक्त करने की प्रक्रिया में वैज्ञानिक देख रहे हैं कि उसमें उपर्युक्त केवल तीन मूल कण (Fundamental Particles) ही नहीं है पर करीब २० तरह के अन्य कण हैं।

अणु को विभक्त करने के प्रयोगों से एक विचित्र स्थिति सामने आई है—जिसका चित्रण विज्ञान की पुस्तकों में मिलता है[१]।

I—The problem of breaking the atom down into its component particles has progessed from what appeared at first to be a simple, logical solution involving only three fundamental particles, namely, electrons, protons and neutrons, into an entangled, obscure situation, embodying a multiplicity of particles. The known and probable particles coming from the atom total at least 20, with others likely to be added before some resolution is made of the present number. ....It is much easier to return to an earlier hypothesis in which the nucleus is considered as being composed of two building blocks, protons and neutrons, which are collectively called nucleons. Perhaps all the other particles coming from the nucleus are by-products created by interaction of the two types of nucleons. (Fundamental Concepts of Inorganic Chemistry by Esmarch S. Gilreath p. 2.)

डाल्टन के अनुसार जो अणु अविभाज्य था वह आज अन्य ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म कणों से बना हुआ माना गया है जो विद्युत परिपूर्ण हैं और जिनको इलैक्ट्रोन कहते हैं।

जैन-पदार्थ विज्ञान का परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म और अविभाज्य है। वास्तव में डाल्टन का अणु स्कंध रहा। मूल परमाणुओं का विभाजन असंभव है।

रासायनिक विद्वान् व्यवहार में अब भी अणु को ही द्रव्य का अन्तिम अंश समझते हैं और उसको अभी भी सारी प्रयोग सम्बन्धी क्रियाओं के लिए इकाई मानते हैं[1]। जैन दृष्टि से अणु को ही नहीं इलैक्ट्रोन आदि को भी व्यावहारिक अणु कहा जायगा। 'अनुयोगद्वार' में कहा है—परमाणु दो तरह के हैं : सूक्ष्म और (२) व्यावहारिक। सूक्ष्म परमाणु अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभाज्य है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणु पुद्गलों की समुदाय समितियों के समागम से उत्पन्न होता है[2]।

विज्ञान कहता है कि विश्व में वस्तु का वजन या परिमाण (weight or mass) हमेशा समान रहता है। जैन तत्त्वज्ञान कहता है कि विश्व के जितने मूलभूत द्रव्य हैं उनकी संख्या में कमी नहीं होती—वे नाश को प्राप्त नहीं हो सकते। मूलभूत द्रव्यों का नाश नहीं होता। इससे भी यही सार निकलता है कि द्रव्यों का वजन नहीं घटता; वह उतना का उतना ही रहता है। जैनधर्म का यह सिद्धान्त जड़-पदार्थ के लिए ही लागू नहीं परन्तु जीव-पदार्थ और अरूपी अचेतन पदार्थों के लिए भी है इसलिए यह आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्त से अधिक व्यापक है।

जितनी भी पौद्गालिक चीजें बनती हुई मालूम देती हैं वे सब पुद्गल-द्रव्य की

१—But atoms are the units which retain their identity when chemical reactions take place; therefore, they are important to us now. Atoms are the structural units of all solids, liquids and gases. (General Chemistry by Linus Pauling p. 20)

२—**अनुयोग द्वार प्रमाण द्वार :**

परमाणू दुविहे पन्नते तंजहा छुहुमेय ववहारियेय। ...तत्थ णं जे से ववहारिए से णं अणंताणं छुहुमपरमाणुपोग्गलाणं समुदयसमितिसमागमेणं ववहारिए परमाणुपोग्गले निप्फज्जंति।

पर्याय—परिवर्तन मात्र हैं और चीजों का जो नाश होता हुआ नजर आता है वह भी इन पर्याय—पुद्गल-द्रव्यों के परिवर्तित रूप का ही। मूल पुद्गल-द्रव्य की न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। वह ज्यों-का-त्यों रहता है।

जैन मान्यता के अनुसार परिणाम द्रव्य और गुण दोनों में होता है। और यह परिणाम पदार्थ के स्वभाव को लिए हुए होता है[1]। कहने का तात्पर्य यह है कि जड़-पदार्थ का परिवर्तन सदा जड़ रूप ही होगा; वह चेतन रूप नहीं होगा और इस तरह पुद्गल-द्रव्य जड़ स्वभाव को कायम रखते हुए द्रव्य और गुण पर्यायों में परिवर्तन करेगा। "सारांश यह है कि, द्रव्य हो अथवा गुण, हरेक अपनी-अपनी जाति का त्याग किए बिना ही प्रतिसमय निमित्तानुसार भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त किया करते हैं। यही द्रव्यों का तथा गुणों का परिणाम कहलाता है।...द्वयणुक अवस्था हो या त्र्यणुक आदि अवस्था हो, परन्तु इन अनेक अवस्थाओं में भी पुद्गल अपने पुद्गलत्व को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार धोलाश छोड़ कर कालाश धारण करे, कालाश छोड़ कर पीलाश धारण करे, तोभी उन सब विविध पर्यायों में रूपत्व स्वभाव कायम रहता है[2]।" आधुनिक उदाहरण के लिए अमोनिया गैस को ले लीजिए। यह नाइट्रोजन और हाइड्रोजन गैस का बना होता है। अमोनिया हाइड्रोजन और नाइट्रोजन गैसों की तरह ही जड़ पदार्थ होता है इसलिए इसमें मूलतत्त्वों के जड़ स्वभाव की रक्षा है। अमोनिया की कड़वी गंध और तिग्म (Caustic) स्वाद घटक पदार्थों के गंध और स्वाद गुण के रूपान्तर हैं और अमोनिया हाइड्रोजन और नाइट्रोजन गैसों का रूपान्तर। इस तरह पुद्गल-द्रव्य स्वभाव की रक्षा करते हुए द्रव्य और गुण रूप से पर्याय करते हैं। इस सम्बन्ध में जैन तत्त्व विज्ञान आधुनिक विज्ञान से अधिक स्पष्ट और बोधक है।

३३—(गा० ३३):

पर्याय की दृष्टि से पुद्गल-द्रव्य नित्य नहीं हैं क्योंकि अवस्थान्तर—परिवर्तन—प्रतिसमय होता रहता है परन्तु द्रव्य की दृष्टि से पुद्गल नित्य है। उसका कभी विनाश नहीं होता। इस तरह पुद्गल-द्रव्य का शाश्वत और अशाश्वत भेद—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि से है। उत्तराध्ययन में कहा है: "स्कंध और परमाणु सन्तति की अपेक्षा से अनादि

१—तत्त्वार्थसूत्र ५.४१ : तद्भावः परिणामः

२—तत्त्वार्थसूत्र (गु० तृ० आ०) पृ० २४६

अनन्त है और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त हैं[1] ।" स्वामीजी के कथन का आधार यही आगम वाक्य है ।

अतिरिक्त टिप्पणियाँ[2]

३४—षट् द्रव्य समास में

प्रथम दो ढालों में षट् द्रव्यों का वर्णन विस्तारपूर्वक आया है । ठाणाङ्ग तथा भगवती[3] सूत्र में उनका वर्णन चुम्बक रूप में उपलब्ध है । उसमें समूचे विवेचन का सार आ जाता है अतः उसे यहाँ देना पाठकों के लिए बड़ा लाभदायक है :

"संक्षेप में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल प्रत्येक के द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और गुण से पाँच-पाँच प्रकार हैं ।

"द्रव्य से धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है; क्षेत्र से लोकप्रमाण मात्र है; काल से कभी नहीं था ऐसा नहीं, नहीं है ऐसा नहीं, नहीं होगा ऐसा नहीं, वह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है; भाव से अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श—अरूपी अजीव द्रव्य है तथा गुण से गमनगुण वाला है ।

"द्रव्य से अधर्मास्तिकाय एक द्रव्य है; क्षेत्र से लोकप्रमाण मात्र है; काल से कभी नहीं था ऐसा नहीं, नहीं है ऐसा नहीं, नहीं होगा ऐसा नहीं, ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है; भाव से अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श—अरूपी अजीव द्रव्य है तथा गुण से स्थितिगुण वाला है ।

"आकाशास्तिकाय द्रव्य से एक द्रव्य है; क्षेत्र से लोकालोकप्रमाण मात्र अनन्त है; काल से कभी नहीं ऐसा नहीं, नहीं है ऐसा नहीं, नहीं होगा ऐसा नहीं, ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है; भाव से अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श—अरूपी अजीव द्रव्य है तथा गुण से अवगाहनागुण वाला है ।

"जीवास्तिकाय द्रव्य से अनंत द्रव्य है; क्षेत्र से लोकप्रमाण मात्र है; काल से कभी नहीं था ऐसा नहीं, नहीं है ऐसा नहीं, नहीं होगा ऐसा नहीं, ध्रुव, नियत, शाश्वत,

---

१—उत्त० ३६-१३

संतइं पप्प तेऽणाई, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥

२—यहाँ से जो टिप्पणियाँ हैं, उनका सम्बन्ध मूल कृति के साथ नहीं है पर विषय को स्पष्ट करने के लिए वे दी गयी हैं ।

३—(क) ठाणाङ्ग ५.३.४४१
(ख) भगवती २.१०

अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य हैं; भाव से अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श—अरूपी जीव द्रव्य है तथा गुण से उपयोगगुण वाला है।

"पुद्गलास्तिकाय द्रव्य से अनंत द्रव्य है; क्षेत्र से लोकप्रमाण मात्र है; काल से कभी नहीं था ऐसा नहीं, नहीं है ऐसा नहीं, नहीं होगा ऐसा नहीं, ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है; भाव से वर्ण-गंध-रस-स्पर्शवान रूपी अजीव द्रव्य है और गुण से ग्रहणगुण वाला है।

"काल द्रव्य से अनन्त द्रव्य है; क्षेत्र से समयक्षेत्र प्रमाण मात्र है; काल से कभी नहीं था ऐसा नहीं, नहीं है ऐसा नहीं, नहीं होगा ऐसा नहीं, ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित, और नित्य है; भाव से अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श—अरूपी अजीव द्रव्य है तथा गुण से वर्तना गुण है[1]।"

३५–जीव और धर्मादि द्रव्यों के उपकार

धर्मास्तिकाय आदि का जीवों के प्रति क्या उपकार है इस विषय में 'भगवती'[2] में बड़ा सारगर्भित वर्णन है :

"धर्मास्तिकाय द्वारा जीवों का आगमन, गमन, बोलना, उन्मेष, मनोयोग, वचनयोग काययोग, तथा जो तथाप्रकार के अन्य गमन भाव हैं वे सब प्रवर्तित होते हैं। धर्मास्तिकाय गतिलक्षण वाली है।

"अधर्मास्तिकाय द्वारा जीवों का खड़ा रहना, बैठना, सोना, मन का एकाग्रभाव करना तथा जो तथाप्रकार के अन्य स्थिर भाव हैं वे सब प्रवर्तित होते हैं। अधर्मास्तिकाय स्थितिलक्षण वाली है।

"आकाशास्तिकाय जीव द्रव्य और अजीव द्रव्यों का भाजन—आश्रयरूप, स्थान-रूप है। अकाशास्तिकाय अवगाहना लक्षणवाली है।

जीवास्तिकाय द्वारा जीव अभिनिवोधक—मतिज्ञान की अनंत पर्याय, श्रुतज्ञान की अनंतपर्याय, अवधिज्ञान की अनंत पर्याय, मनःपर्यवज्ञान की अनंत पर्याय, केवलज्ञान की अनंत पर्याय, मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगअज्ञान की अनंत पर्याय तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन की अनंत पर्यायों के उपभोग को प्राप्त करते हैं।

१--काल का ऐसा वर्णन उल्लिखित सूत्रों में नहीं है पर अनेक स्थलों के आधार से ऐसा ही बनता है।

२—भगवती १३.४

जीव उपयोग लक्षणवाला है।

"पुद्‌गलास्तिकाय द्वारा जीवों के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर; श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय; मनोयोग, वचनयोग और काययोग तथा श्वासोच्छ्‌वास का ग्रहण होता है। पुद्‌गलास्तिकाय ग्रहणलक्षण वाली है।"

३६—साधर्म्य वैधर्म्य

प्रथम दो ढालों में षट् द्रव्यों का विवेचन है। इन द्रव्यों में परस्पर में क्या साधर्म्य वैधर्म्य है वह यथास्थान बताया जा चुका है। पाठकों की सुविधा के लिए उनकी संक्षिप्त सूचि यहाँ दी जा रही है :

१—षट् द्रव्यों में जीव और पुद्‌गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं और बाकी चार द्रव्य अपरिणामी हैं। पर्यायान्तरप्राप्ति जिसके होती है उसे परिणामी कहते हैं। धर्मादि द्रव्य औपाधिक परिणामी हैं। वे सदा एक रूप में रहते हैं अतः स्वाभाविक परिणामी नहीं। जीव पुद्‌गल स्वभावतः ही परिणमन—पर्यायान्तर—करते हैं अतः परिणामी कहे गये हैं।

२—एक जीव द्रव्य जीव हैं; बाकी पाँच द्रव्य अजीव हैं।

३—एक पुद्‌गल रूपी हैं; बाकी पाँच अरूपी हैं।

४—पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं—सप्रदेशी हैं केवल काल द्रव्य अप्रदेशी है।

५—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं; बाकी द्रव्य अनेक हैं।

६—आकाश क्षेत्र है और अन्य पाँच द्रव्य उसमें रहने वाले—क्षेत्री हैं।

७—जीव और पुद्‌गल दो द्रव्य सक्रिय हैं; बाकी चार अक्रिय हैं।

८—धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य एक रूप में रहते हैं अतः नित्य हैं। जीव और पुद्‌गल एक रूप में नहीं रहते इस अपेक्षा से नित्य नहीं हैं।

९—जीव अकारण है—दूसरे द्रव्यों का उपकारी नहीं; बाकी पाँच कारणरूप हैं—जीव के उपकारी हैं।

१०—जीव कर्त्ता है—पुण्य, पाप, बंध मोक्ष का कर्त्ता है और बाकी पाँच अकर्त्ता।

११—आकाश सर्वगत हैं; और बाकी पाँच असर्वगत।

१२—षट् द्रव्य परस्पर नीरक्षीरवत् अवगाढ़ अर्थात् एक क्षेत्रावगाही हैं परन्तु प्रवेश रहित हैं अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य स्वरूप में परिणत नहीं हो सकता।

साधर्म्य वैधर्म्य की संग्राहक गाथाएँ इस प्रकार हैं :

> **परिणामि जीवमुत्तं, सपएसा एग खित्तकिरियाय ।**
> **णिच्चं कारणकत्ता, सव्वगयमियरेहि अपवेसे ॥**
> **दुण्णि य एगं एगं, पंचत्ति य एग दुण्णि चउरो य ।**
> **पंचय एगं एगं, एएसि एय विण्णेयं ॥**

३७—लोक और अलोक का विभाजन

एक बार गौतम ने भगवान महावीर से पूछा : "भन्ते ! यह लोक कैसा कहा जाता है ?" महावीर ने उत्तर दिया "गौतम ! यह लोक पञ्चास्तिकायमय कहा जाता है[1] ।" दूसरी बार उन्होंने कहा : "धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव जिसमें है वह लोक है[2] ।"

उपर्युक्त उत्तरों से यह प्रश्न उपस्थित होता है— लोक को एक जगह पंचास्तिकायमय और दूसरी जगह षट् द्रव्यात्मक कहा है, क्या इन कथनों में विरोध नहीं है ? भगवान के उत्तर प्रश्नकर्त्ता की भावना को स्पर्श करते हुए हैं। जब प्रश्न के पीछे प्रश्नकर्त्ता की भावना यह रही कि लोक कितने पंचास्तिकाय से निष्पन्न है तो भगवान ने उसका पहला उत्तर दिया। जब प्रश्नकर्त्ता की भावना यह पूछने की रही कि लोक कितने द्रव्यों से निष्पन्न है तो उन्होंने उसका द्वितीय उत्तर दिया। दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं हैं। दोनों उत्तरों का फलितार्थ इस प्रकार है—"लोक षट् द्रव्यात्मक है जिसमें पाँच पञ्चास्तिकाय हैं और छठा काल है, जो अस्तिकाय नहीं ।"

एक तीसरा वार्तालाप इस विषय को सम्पूर्णतः स्पष्ट कर देता है।

गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा : "आकाश दो प्रकार का कहा है—(१) लोकाकाश और (२) अलोकाकाश। लोकाकाश में जीव हैं वे नियम से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय हैं। लोकाकाश में अजीव हैं वे दो प्रकार के हैं—(१) रूपी और (२) अरूपी। जो रूपी हैं वे चार प्रकार के हैं—स्कंध, स्कंध-देश, स्कंध-प्रदेश और परमाणुपुद्गल। जो अरूपी हैं वे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और अद्धाकाल हैं[3] ।"

१—भगवती १३.४

२—उत्त० २८.७

३—भगवती २.१०

इस तीसरे वार्तालाप से स्पष्ट है कि जिन षट् द्रव्यों का वर्णन प्रथम दो ढालों में आया है यह लोक उन्हीं से निष्पन्न है। लोक के बाद शून्य आकाश है जिसे अलोक कहते हैं। वहाँ अन्य कोई द्रव्य नहीं है।

दिगम्बर आचार्यों ने भी लोक का वर्णन पञ्चास्तिकाय और षट् द्रव्य दोनों की अपेक्षाओं से किया है। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं :—

> समवाओ पंचण्हं समउत्ति जिणुत्तमेहि पण्णत्तं।
> सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं[1] ॥
> पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
> वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु[2] ॥

आचार्य नेमिचन्द्र लिखते हैं :

> धम्माधम्माकालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
> आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो[3] ॥

लोकालोक का विभाजन धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय द्रव्यों के हेतु से है क्योंकि ये दोनों ही लोक-व्यापी हैं। लोकालोक का विभाजन जीव, पुद्गल, काल द्वारा सम्भव नहीं क्योंकि पुद्गलों की स्थिति लोकाकाश के एक प्रदेश आदि में विकल्प से अर्थात् अनियत रूप से होती है। जीवों की स्थिति लोक के असंख्यातवें भागादि में होती है[4]। और काल का क्षेत्र केवल ढाई द्वीप ही है। इसीलिए कहा है—"**जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी**[5]"—गमन और स्थिति के हेतु धर्म से और अधर्म के सद्भाव से लोक और अलोक हुआ है। धर्म, अधर्म द्रव्यों का क्षेत्र आकाश का एक भाग है। उसके बाहर इनके अभाव से जीव पुद्गल की गति, स्थिति नहीं होती। इस तरह धर्म, अधर्म द्रव्यों की स्थिति का क्षेत्र उसके बाहर के क्षेत्र से जुदा हो जाता है। यही लोक अलोक का भेद है।

१—पञ्चास्तिकाय १.३। यह बात १.२२, २३ में भी कही है। १.१०२ भी देखिये।

२—प्रवचनसार २.३६

३—द्रव्यसंग्रह २०

४—तत्त्वार्थसूत्र ५. १३-१५

५—पञ्चास्तिकाय १. ८७

३८—मोक्ष-मार्ग में द्रव्यों का विवेचन क्यों ?

प्रश्न उठता है कि मोक्ष-मार्ग में लोक को निष्पन्न करने वाले षट् द्रव्य अथवा पञ्चास्तिकाय के वर्णन की क्या आवश्यकता है ? जहाँ बंधन और मुक्ति के प्रश्नों का ही निचोड़ होना चाहिए वहाँ लोक-अलोक के स्वरूप का विवेचन क्यों ? इसका युक्तिसंगत उत्तर आगमों में है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है : "जब मनुष्य जीव और अजीव—इन पदार्थों को अच्छी तरह जान लेता है, तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है। बहुविध गतियों को जान लेने से उनके कारण पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को जान लेता है, तब जो भी देवों और मनुष्यों के कामभोग हैं, उन्हें जानकर उनसे विरक्त हो जाता है। उनसे विरक्त होने पर वह अन्दर और बाहर के संयोग को छोड़ देता है। ऐसा हो जाने पर वह मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है। इससे वह उत्कृष्ट संयम और अनुत्तर धर्म के स्पर्श से अज्ञान द्वारा संचित कलुष कर्म-रज को धुन डालता है। इससे उसे सर्वगामी केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त होता है और वह लोकालोक को जानने वाला केवली हो जाता है। फिर योग को निरोध कर वह शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है। इससे कर्मों का क्षय कर, निरज हो, वह सिद्धि प्राप्त करता है और शाश्वत सिद्ध होता है[1]।"

इस विषय में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं : "मैं मोक्ष के कारणभूत तीर्थंकर महावीर को मस्तक द्वारा नमस्कार कर मोक्ष के मार्ग अर्थात् कारणरूप षट् द्रव्यों के नवपदार्थ रूप भङ्ग को कहूँगा। सम्यक्त्वज्ञानयुक्त चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। शुद्ध चारित्र रागद्वेष रहित होता है और स्वपरविवेक भेद जिनको हैं उन भव्यों को प्राप्त होता है। भावों का—षट्द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, नवपदार्थों का जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है। उन्हीं पदार्थों का जो यथार्थ अनुभव है वह सम्यग्ज्ञान है। विषयों में नहीं की है अति दृढ़ता से प्रवृत्ति जिन्होंने ऐसे भेद विज्ञानी जीवों का जो रागद्वेष रहित शान्त-स्वभाव है वह सम्यक्चारित्र है[2]।"

इस तरह जीव, अजीव अथवा षट् द्रव्यों आदि का सम्यक् ज्ञान और श्रद्धान सम्यक्चारित्र का आधार है। यही कारण है कि श्रद्धान के बोलों में लोक, अलोक और लोकालोक के निष्पादक जीव और अजीव पदार्थों में दृढ़ श्रद्धा रखने का उपदेश दिया गया है[3]।

१—दसवेंकालिक ४. १४-२५

२—पञ्चास्तिकाय : २. १०५-७

३—सूयगडं : २. ५–६

नात्थि लोए अलोए वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा एवं सन्नं निवेसए॥
नत्थि जीवा अजीवा वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा एवं सन्नं निवेसए॥

पुण्य पदार्थ

: ३ :

पुन पदारथ

दुहा

१—पुन पदारथ छै तीसरो, तिणसूं सुख मानें संसार।
कामभोग शबदादिक पामें तिण थकी, तिणनें लोक जांणे श्रीकार॥

२—पुन रा सुख छै पुदगल तणा, कामभोग शबदादिक जांण।
ते मीठा लागे छै कर्म तणे वसे, ग्यांनी तो जांणे जेंहर समांन॥

३—जेंहर सरीर में त्यां लगे, मीठा लागे नींब पांन।
ज्यूं कर्म उदय हुवे जीव रे जब, लागे भोग इमरत समांन॥

४—पुन तणा सुख कारमा, तिणमें कला म जांणो काय।
मोह कर्म वस जीवड़ा, तिण सुख में रह्या लपटाय॥

५—पुन पदारथ तो सुभ कर्म छै, तिणरी मूल न करणी चाय।
तिणनें जथातथ परगट करूं, ते सुणज्यो चित्त लाय॥

ढाल: १

(जीव मोह अनुकम्पा न आणिये)

१—पुन तो पुदगल री परजाय छै, जीव रे आय लागे ताम रे लाल।
ते जीव रे उदय आवे सुभपणे, तिण सूं पुदगल रो पुन छै नांम रे लाल।
पुन पदारथ ओलखो*॥

---

* यह आंकड़ी प्रत्येक गाथा के अन्त में है।

: ३ :

पुण्य पदार्थ

दोहा

१—तीसरा पदार्थ पुण्य है। इसके संचय से लोग सुख मानते हैं। पुण्य से कामभोग—शब्दादि प्राप्त होते हैं। अतः लोग इसे उत्तम समझते हैं।

पुण्य और लौकिक दृष्टि

२—पुण्य से प्राप्त सुख पौद्गलिक होते हैं। वे कामभोग—शब्दादि रूप हैं। कर्म की अधीनता के कारण जीव को ये सुख मीठे लगते हैं परन्तु ज्ञानी पुरुष ता इन्हें जहर के समान जानते हैं।

पुण्य और ज्ञानी की दृष्टि

३—जिस तरह जब तक शरीर में विष व्याप्त रहता है तब तक नीम के पत्ते मीठे लगते हैं, उसी तरह कर्म के उदय से जीव को कामभोग अमृत के समान लगते हैं।

विनाशशील और रोगोत्पन्न सुख (दो. ३-४)

४—पौद्गलिक पुण्य-सुख विनाशशील हैं। इनमें जरा भी वास्तविकता मत समझो। मोह कर्म की अधीनता से बेचारे जीव नाशवान सुखों में आसक्त हैं।

५—पुण्य पदार्थ शुभ कर्म हैं। उसकी जरा भी कामना नहीं करनी चाहिए[1]। अब पुण्य पदार्थ का यथातथ्य वर्णन करता हूँ, चित्त लगा कर सुनना।

पुण्य कर्म है अतः हेय है

ढाल : १

१—पुण्य पुद्गल की पर्याय है। कर्म-योग्य पुद्गल आत्मा में प्रवेश कर उसके प्रदेशों से बंध जाते हैं। बंधे हुए जो कर्म शुभरूप से उदय में आते हैं उन पुद्गलों का नाम पुण्य है[2]।

पुण्य की परिभाषा

२—च्यार कर्म ते एकंत पाप छै, च्यार कर्म छै पुन नें पाप हो लाल।
पुन कर्म थी जीव नें, साता हुवे पिण न हुवे संताप हो लाल॥

३—अनंता प्रदेस छै पुन तणा, ते जीव रे उदय हुवे आय हो लाल।
अनंतो सुख करे जीव रे, तिणसुं पुन री अनंती परज्याय हो लाल॥

४—निरवद जोग वरते जब जीव रे, सुभपणे लागे पुदगल ताम हो लाल।
त्यां पुदगल तणा छै जू जूआ, गुण परिणामे त्यांरा नाम हो लाल॥

५—साता वेदनीय पणे परणम्यां, साता पणे उदय आवे ताम हो लाल।
ते सुखसाता करें जीव नें, तिणसूं साता वेदनी दीयो नांम हो लाल॥

६—पुदगल परणम्या सुभ आउखापणे, घणो रहणो वांछै तिण ठांम हो लाल।
जाणे जीवियें पिण न मरजीये, सुभ आउखो तिणरो नाम हो लाल॥

७—केइ देवता नें केइ मिनख रो, सुभ आउखो पुन ताय हो लाल।
जुगलीया तिर्यंच रो आउखो, दीसे छै पुन रे मांय हो लाल॥

८—सुभ नामपणे आए परणम्यां, ते उदय आवे जीव रे ताय हो लाल।
अनेक वाना सुध हुवे तेह सूं, नाम कर्म कह्यो जिणराय हो लाल॥

९—सुभ आउखा रा मिनख नें देवता, त्यांरी गति नें आणपूर्वी सुध हो लाल।
केइ जीव पंचिन्द्री विसुध छै, त्यांरी जात पिण पुन विसुध हो लाल॥

२—आठ कर्मों में चार केवल पाप स्वरूप हैं और चार कर्म पुण्य और पाप दो प्रकार के हैं। पुण्य कर्म से जीव को सुख होता है, कभी दुःख नहीं होता[३]।

आठ कर्मों में पुण्य कितने ?

३—पुण्य के अनन्त प्रदेश हैं। वे जब जीव के उदय में आते हैं तो उसको अनन्त सुख करते हैं। इसीलिए पुण्य की अनन्त पर्यायें होती हैं[४]।

पुण्य की अनन्त पर्यायें

४—जब जीव के निरवद्य योग का प्रवर्तन होता है तो उसके शुभ पुद्गलों का बंध होता है[५]। इन कर्म-पुद्गलों के गुणानुसार अलग-अलग नाम हैं।

पुण्य का बंध: निरवद्य योग से

५—जो कर्म-पुद्गल साता वेदनीय रूप में परिणमन करते हैं और सात रूप में उदय में आते हैं वे जीव को सुख कारक होते हैं, इससे उनका नाम 'साता वेदनीय कर्म' रखा गया है[६]।

साता वेदनीय कर्म

६—जब पुद्गल शुभ आयु रूप में परिणमन करते हैं तो जीव अपने शरीर में दीर्घ काल तक जीवित रहने की इच्छा करता है और सोचता है कि मैं जीता रहूँ और मरूँ नहीं; ऐसे कर्म-पुद्गलों का नाम 'शुभ आयुष्य कर्म' है।

शुभ आयुष्य कर्म : उसके तीन भेद-

७—कई देवता और कई मनुष्यों के शुभ आयुष्य होता है जो पुण्य की प्रकृति है। युगलियों और तिर्यञ्चों का आयुष्य भी पुण्य रूप मालूम देता है[७]।

१-देवायुष्य
२-मनुष्यायुष्य
३-तिर्यञ्चायुष्य

८—जो कर्म शुभ नाम रूप से परिणमन करते हैं तथा विपाक अवस्था में शुभ नाम रूप से उदय में आते हैं उनसे अनेक बातें शुद्ध होती हैं इसलिए जिन भगवान ने इनको 'शुभ नाम कर्म' कहा है।

शुभ नाम कर्म : उसके ३७ भेद- (गा० ८-२९)

९—शुभ आयुष्यवान मनुष्य और देवताओं की गति और आनुपूर्वी शुद्ध होती है। कई पंचेन्द्रिय जीव विशुद्ध होते हैं। उनकी जाति भी विशुद्ध होती है।

१-मनुष्य गति
२-मनुष्य आनुपूर्वी
३-देव गति
४-देव आनुपूर्वी
५-पंचेन्द्रिय जाति

१०—पांच शरीर छै सुध निरमला, त्यांरा निरमला तीन उपंग हो लाल।
ते पामें सुभ नांम उदय हूआं, सरीर नें उपंग सुचंग हो लाल॥

११—पेहला संघयण ना रूड़ा हाड छै, पेहलो संठाण रूड़े आकार हो लाल।
ते पामें सुभ नांम उदे थकी, हाड नें आकार श्रीकार हो लाल॥

१२—भला भला वर्ण मिले जीव नें, गमता गमता घणां श्रीकार हो लाल।
ते पामें सुभ नाम उदे हूआं, जीव भोगवे विविध प्रकार हो लाल॥

१३—भला भला मिले गंध जीव रे, गमता गमता घणा श्रीकार हो लाल।
ते पामें सुभ नाम उदे थकी, जीव भोगवे विविध प्रकार हो लाल॥

१४—भला भला मिले रस जीव नें, गमता गमता घणा श्रीकार हो लाल।
ते पामें सुभ नाम उदय थकी, जीव भोगवे विविध प्रकार हो लाल॥

१५—भला भला मिले फरस जीव ने, गमता गमता घणा श्रीकार हो लाल।
ते पामें सुभ नाम उदय थकी, जीव भोगवे विविध प्रकार हो लाल॥

१६—तस रो दशको छै पुन उदे, सुभ नाम उदय सूं जांण हो लाल।
त्यांनें जूआ जूआ कर वरणवूं, निरणो कीजो चतुर सुजांण हो लाल॥

१७—तस नाम शुभ कर्म उदय थकी, तसपणो पामें जीव सोय हो लाल।
बादर सुभ नाम कर्म उदय हूआं, जीव चेतन बादर होय हो लाल॥

१८—प्रतेक सुभ नाम उदे हूआं, प्रतेकसरीरी जीव थाय हो लाल।
प्रज्यापता सुभ नाम थी, प्रज्यापतो होय जाय हो लाल॥

१०—शुद्ध निर्मल पाँच शरीर और इन शरीरों के तीन निर्मल उपाङ्ग—ये सब शुभ नाम कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं। सुन्दर शरीर और उपाङ्ग इसीसे होते हैं। — १०-पाँच शरीर, १३-तीन उपाङ्ग

११—पहिले संहनन के हाड़ अच्छे (मजबूत) और पहले संस्थान का आकार सुन्दर होता है। शुभ नाम कर्म के उदय से ये प्राप्त होते हैं। — १४-प्रथम संहनन, १५-प्रथम संस्थान

१२—अच्छे-अच्छे प्रिय वर्ण, जिनका जीव अनेक प्रकार से भोग करता है, शुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होते हैं। — १६-शुभ वर्ण

१३—अच्छी-अच्छी प्रिय गंध, जिनका जीव अनेक प्रकार से भोग करता है, शुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होती हैं। — १७-शुभ गंध

१४—अच्छे-अच्छे प्रिय रस, जिनका जीव अनेक प्रकार से भोग करता है, शुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होते हैं। — १८-शुभ रस

१५—अच्छे-अच्छे प्रिय स्पर्श, जिनका जीव अनेक प्रकार से भोग करता है, शुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होते हैं। — १९-शुभ स्पर्श

१६—त्रस-दशक पुण्योदय से—शुभ नाम कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं। मैं इनका अलग-अलग वर्णन करता हूँ, सुज्ञ और चतुर लोग तत्त्व का निर्णय करें। — त्रस दशक :

१७—'त्रस शुभ नाम कर्म' के उदय से चेतन जीव त्रसावस्था को पाता है; 'बादर शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव बादर होता है। — २०-त्रसावस्था, २१-बादरत्व

१८—'प्रत्येक शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव प्रत्येकशरीरी होता है; 'पर्याप्त शुभ नाम कर्म' से जीव पर्याप्त होता है। — २२-प्रत्येक शरीरी, २३-पर्याप्त

१९—सुभ थिर नाम कर्म उदे थकी, सरीर ना अवयव दिढ थाय हो लाल।
सुभनाम थी नाभमस्तक लगे, अवयव रूड़ा हुवै ताय हो लाल॥

२०—सोभाग नाम सुभ कर्म थी, सर्व लोक नें वलभ होय हो लाल।
सुस्वर सुभ नाम कर्म सूं, सुस्वर कंठ मीठो हुवे सोय हो लाल॥

२१—आदेज वचन सुभ करम थी, तिणरो वचन मानें सहु कोय हो लाल।
जश किती सुभ नाम उदय हुआं, जश कीरत जग में होय हो लाल॥

२२—अगरुलघू नाम कर्म सूं, सरीर हलको भारी नहीं लगात हो लाल।
परघात सुभ नाम उदे थकी, आप जीते पेलो पामें घात हो लाल॥

२३—उसास सुभ नाम उदे थकी, सास उसास सुखे लेवंत हो लाल।
आतप सुभ नाम उदे थकी, आप सीतल पेलो तपंत हो लाल॥

२४—उद्योत सुभ नाम उदे थकी, सरीर नों उजवालो जाण हो लाल।
सुभ गइ सुभ नाम कर्म सूं, हंस ज्यूं चोखी चाल वखांण हो लाल॥

२५—निरमांण सुभ नाम कर्म सूं, सरीर फोड़ा फूलंगणा रहीत हो लाल।
तीर्थंकर नाम कर्म उदे हूआं, तीर्थंकर हुवे तीन लोक वदीत हो लाल॥

२६—केइ जुगलीयादिक तिरयंच नी, गति नें आण पूर्वी जाण हो लाल।
ते तो प्रतंक दीसे पुन तणी, ग्यांनी वदे ते परमांण हो लाल॥

१९—'स्थिर शुभ नाम कर्म' के उदय से शरीर के अवयव दृढ़ होते हैं; 'शुभ नाम कर्म' से नाभि से मस्तक तक के अवयव सुन्दर होते हैं।	२४-स्थिर अवयव २५-सुन्दर अवयव
२०—'सौभाग्य शुभ नाम कर्म' से जीव सर्व लोक-प्रिय होता है; 'सुस्वर शुभ नाम कर्म' से जीव का कंठ सुस्वर और मधुर होता है।	२६-लोक-प्रियता २७-सुस्वरता
२१—'आदेय वचन शुभ नाम कर्म' से जीव के वचन सबको मान्य होते हैं; 'यश कीर्त्ति नाम कर्म' के उदय से जगत में यश-कीर्त्ति प्राप्त होती है।	२८-आदेय वचन २९-यश कीर्ति
२२—'अगुरुलघु शुभ नाम कर्म' से शरीर हल्का या भारी नहीं मालूम देता है; 'पराघात शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव स्वयं विजयी होता है और दूसरा हारता है।	३०-अगुरुलघु ३१-पराघात
२३—'श्वासोच्छ्वास शुभ नाम कर्म' के उदय से प्राणी सुखपूर्वक श्वासोच्छ्वास लेता है; 'आतप शुभ नाम कर्म' के उदय से जीव स्वयं शीतल होते हुए भी दूसरा (सामने वाला) आतप (तेज) का अनुभव करता है।	३२-उच्छ्वास ३३-आतप
२४—'उद्योत शुभ नाम कर्म' से शरीर शीत प्रकाशयुक्त होता है; 'शुभ गति नाम कर्म' से हंसादि जैसी सुन्दर चाल प्राप्त होती है।	३४-उद्योत ३५-शुभ गति
२५—'निर्माण शुभ नाम कर्म' से शरीर फोड़े फुन्सियों से रहित होता है; 'तीर्थंकर नाम कर्म' के उदय से मनुष्य तीन लोक प्रसिद्ध तीर्थंकर होता है[८]।	३६-निर्माण ३७-तीर्थंकर-गोत्र
२६—कई युगलिया आदि और तिर्यञ्चों की गति और आनुपूर्वी पुण्य की प्रकृति मालूम देती है फिर जो ज्ञानी कहे वह प्रमाण है।	

२७—पेहलो संघेण संठाण वरज नें, च्यार संघेण च्यार संठाण हो लाल।
त्यांमें तो भेल दीसे छै पुन तणो, ग्यांनी वदे ते परमांण हो लाल॥

२८—जे जे हाड छै पेहला संघेण में, तिण मांहिला च्यारां मांय हो लाल।
त्यांनें जाबक पाप में घालीया, मिलतो न दीसे न्याय हो लाल॥

२९—जे जे आकार पेहला संठाण में, तिण मांहिला च्यारां मांय हो लाल।
त्यांनें जाबक पाप में घालीया, ओ पिण मिलतो न दीसे न्याय हो लाल॥

३०—ऊंच गोतपणे आय परणम्या, ते उदे आवे जीव रे तांम हो लाल।
ऊंच पदवी पामें तिण थकी, ऊंच गोत छै तिण रो नांम हो लाल॥

३१—सघली न्यात थकी ऊंची न्यात छै, तिणमें कठे न लागे छोत हो लाल।
एहवा छे मिनष नें देवता, त्यांरो कर्म छै ऊंच गोत हो लाल॥

३२—जे जे गुण आवे जीव रे सुभपणे, जेहवा छै जीव रा नांम हो लाल।
तेहवा इज नाम पुदगल तणा, जीव तणे संयोगे तांम हो लाल॥

३३—जीव सुध हूओ पुदगल थकी, तिणसूं रूड़ा रूड़ा पाया नांम हो लाल।
जीव नें सुध कीधो पुदगलां, त्यांरा पिण सुध छै नांम तांम हो लाल॥

३४—ज्यां पुदगल रा प्रसंग थी, जीव वाज्यो संसार में ऊंच हो लाल।
ते पुदगल ऊंच वाजीया, त्यांरो न्याय न जांणे भूंच हो लाल॥

२७—पहले संस्थान और पहले संहनन के सिवा शेष चार संहनन और संस्थान में पुण्य का मेल मालूम देता है फिर जो ज्ञानी कहे वह प्रमाण है।

२८—जो-जो हाड़ पहले संहनन में हैं उनमें से ही जो शेष चार संहननों में है उनको एकान्त पाप में डालना न्याय-संगत नहीं मालूम देता।

२९—जो-जो आकार पहिले संस्थान में हैं उनमें से ही जो आकार बाकी के चार संस्थानों में हैं उनको भी एकान्त पाप में डालना न्यायसंगत नहीं मालूम देता[९]।

उच्च गोत्र कर्म (गा० ३०-३१)

३०—जो पुद्गल-वर्गणा आत्म-प्रदेशों में आकर उच्च गोत्र रूप परिणमन करती है और उसी रूप में उदय में आती है और जिससे उच्च पदों की प्राप्ति होती है उसका नाम 'उच्च गोत्र कर्म' है।

३१—सबसे उच्च और जिसके कहीं भी छूत नहीं लगी हुई है ऐसी जाति के जो मनुष्य और देवता हैं उनके उच्च गोत्र कर्म है[१०]।

पुण्य कर्मों के नाम गुणनिष्पन्न हैं (गा० ३२-३४)

३२—जो जो गुण जीव के शुभ रूप से उदय में आते हैं उनके अनुरूप ही जीवों के नाम हैं और जीव के साथ संयोग से वैसे ही नाम पुद्गलों के हैं।

३३—जीव पुद्गल से शुद्ध होकर नाना प्रकार के अच्छे-अच्छे नाम प्राप्त करता है। जिन पुद्गलों से जीव शुद्ध होता है उन पुद्गलों के नाम भी शुद्ध हैं।

३४—जिन पुद्गलों के संग से जीव संसार में उच्च कहलाता है वे पुद्गल भी उच्च कहलाते हैं। इसका न्याय मूर्ख नहीं समझते[११]।

३५—पदवी तीथंकर नें चक्रवत तणी, वासुदेव बलदेव महंत रे लाल।
वले पदवी मण्डलीक राजा तणी, सारी पुन थकी लहंत रे लाल॥

३६—पदवी देविंद्र ने नरिंद नी, वले पदवी अहमिंद्र वखांण हो लाल।
इत्यादिक मोटी मोटी पदवीयां, सहु पुन तणे परमांण हो लाल॥

३७—जें जे पुदगल परणम्यां सुभपणे, ते तो पुन उदा सुं जाण हो लाल।
त्यां सुं सुख उपजे संसार में, पुन रा फल एह पिछांण हो लाल॥

३८—बाला विछडीया आए मिले, सेंणा तणो मिले संजोग हो लाल।
ते पिण पुन तणा परताप थी, सरीर में न व्यापे रोग हो लाल॥

३९—हाथी घोड़ा रथ पायक तणी, चोरंगणी सेन्या मिले आंण हो लाल।
रिध विरध ने सुख संपत मिलै, ते पुन तणे परिमांण हो लाल॥

४०—खेतू वत्थू हिरण सोवनादिक, धन धान नें कुम्भी धात हो लाल।
दोपद चोपदादिक आए मिलै, ते तो पुन तणो परताप हो लाल॥

४१—हीरा मांणक मोती मूंगीया, वले रत्नां री जात अनेक हो लाल।
ते सारा मिलै छै पुन थकी, पुन विना मिले नहीं एक हो लाल॥

४२—गमती गमती विनेवंत अस्त्री, ते अपछर रे उणीयार हो लाल।
ते पुन थकी आए मिले, वले पुत्र घणा श्रीकार हो लाल॥

४३—वले सुख पामें देवता तणा, ते तो पूरा कह्या न जाय हो लाल।
पल सागरां लग सुख भोगवे, ते तो पुन तणे पसाय हो लाल॥

पुण्योदय के फल (गा० ३५-४५)

३५—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव तथा माण्डलिक राजा आदि की महान् पदवियाँ सब पुण्य के ही कारण मिलती हैं।

३६—देवेन्द्र, नरेन्द्र और अहमिन्द्र आदि की बड़ी-बड़ी पदवियाँ सब पुण्य के प्रताप से मिलती हैं।

३७—पुद्गलों का शुभ परिणमन पुण्योदय से ही होता है। पुद्गलों के शुभ परिणमन से संसार में सुख की प्राप्ति होती है। इस तरह सारे सुख पुण्य के ही फल हैं, यह समझो।

३८—पुण्य के ही प्रताप से बिछुड़े हुए प्रियजनों का मिलाप होता है; सज्जनों का संग मिलता है। और यह भी पुण्य का ही कारण है कि शरीर में रोग नहीं व्यापता।

३९—पुण्य के ही प्रताप से हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों की चतुरंगिनी सेना प्राप्त होती है और सब तरह की ऋद्धि, वृद्धि और सुख-सम्पत्ति भी उसीके परिमाण से मिलती है।

४०— क्षेत्र (खुली भूमि), वास्तु (घरआदि), हिरण्य, स्वर्ण, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद और कुम्भी धातु ये (नौ प्रकार के परिग्रह) पुण्य के प्रताप से ही मिलते हैं।

४१—पुण्य से ही हीरे, पन्ने, माणिक, मोती, मूंगे तथा नाना तरह के रत्न प्राप्त होते हैं। बिना पुण्य के इनमें से एक की भी प्राप्ति नहीं होती।

४२—पुण्य से ही प्रिय, विनयी और अप्सरा के सदृश रूपवती स्त्री मिलती है और अनेक उत्तम पुत्र प्राप्त होते हैं।

४३—पुण्य के प्रसाद से ही देवताओं के अनिर्वचनीय सुख मिलते हैं और जीव पल्यसागरोपम तक उन्हें भोगता है।

४४—रूप सरीर नों सून्दरपणो, तिणरो वर्णादिक श्रीकार हो लाल।
ते गमतो लागे सर्व लोग नें, तिणरो बोल्यो गमे वारुंवार हो लाल॥

४५—जे जे सुख सगला संसार नां, ते तो पुन तणा फल जांण हो लाल।
ते कहि कहि नें कितरो कहूं, बुधवंत लीज्यो पिछांण हो लाल॥

४६—ए तो पुन तणा सुख वरणव्या, संसार लेखे श्रीकार हो लाल।
त्यांनें मोख सुखां सूं मींडीये, तो ए सुख नहीं मूल लिगार हो लाल॥

४७—पुदगलीक सुख छै पुन तणा, ते तो रोगीला सुख ताय हो लाल।
आतमीक सुख छै मुगत नां, त्यांनें तों ओपमा नहीं काय हो लाल॥

४८—पांव रोगी हुवे तेहनें, खाज मीठी लागे अतंत हो लाल।
ज्यूं पुन उदे हुआं जीव नें, सबदादिक सर्व गमता लागंत हो लाल॥

४६—सर्प डंक लागा जहर परगम्यां, मीठा लागे नींब पान हो लाल।
ज्यूं पुन उदय हूआं जीव नें, मीठा लागे भोग परधांन हो लाल॥

५०—रोगीला सुख छै पुदगल तणा, तिणमें कला म जांणो लिगार हो लाल।
ते पिण काचा सुख असासता, विणसतां नहीं लागे वार हो लाल॥

५१—आतमीक सुख छै सासता, त्यां सुखां रो नहीं कोइ पार हो लाल।
ते सुख सदा काल सासता, ते सुख रहे एक धार हो लाल॥

४४—पुण्यवान के रूप—शरीर की सुन्दरता होती है। उसके वर्णादि श्रेष्ठ होते हैं। वह सबको प्रिय लगता है। उसका बार-बार बोलना सुहाता है।

४५—संसार में जो-जो सुख हैं उन सबको पुण्य के फल जानो[12]। मैं कह कर कितना वर्णन कर सकता हूँ, बुद्धिमान स्वयं पहचान लें।

पौद्गलिक और आत्मिक सुखों की तुलना (गा० ४६-५१)

४६—पुण्य के जो सुख बतलाए गये हैं वे लौकिक (सांसारिक) दृष्टि की अपेक्षा से उत्तम हैं। मुक्ति-सुखों से इनकी तुलना करने से ये एकदम ही सुख नहीं ठहरते।

४७—पुण्य के सुख पौद्गलिक हैं और सब रोगोत्पन्न हैं। मुक्ति के सुख आत्मिक हैं और अनुपम हैं।

४८—जिस तरह पाँव के रोगी को खाज अत्यन्त मीठी लगती है उसी तरह पुण्य के उदय होने पर इन्द्रियों के शब्दादि विषय जीव को सुखकर—प्रिय लगते हैं।

४९—जिस तरह सर्प के डंक मारने से विष फैलने पर नीम के पत्ते मीठे लगने लगते हैं उसी तरह पुण्य के उदय होने पर जीव को भोग मीठे और प्रधान लगते हैं।

५०—पुण्य के सुख रोगोत्पन्न हैं उनमें जरा भी सार मत समझो। फिर ये सुख क्षण-भङ्गुर और अनित्य हैं। इन्हें विनाश होते देर नहीं लगती।

५१—आत्मिक सुख शाश्वत होते हैं। इन सुखों का कोई अंत नहीं है। ये सुख तीनों काल में शाश्वत हैं और सदा एक रस रहते हैं[13]।

५२—पुन तणी वंछा कीयां, लागे छै एकंत पाप हो लाल।
तिणसुं दुःख पामें संसार में, वधतो जाये सोग संताप हो लाल॥

५३—जिणसुं पुन तणी वंछा करी, तिण वांछिया कांम नें भोग हो लाल।
त्यांनें दुःख होसी नरक निगोद नां, वले वाला रा पड़सी विजोग हो लाल॥

५४—पुन तणा सुख असासता, ते पिण करणी विण नहीं थाय हो लाल।
निरवद करणी करे तेहनें, पुन तो सेहजां लागे छै आय हो लाल॥

५५—पुन री वंछा सुं पुन न नीपजे, पुन तो सहजे लागे छै आय हो लाल।
ते तो लागे छै निरवद जोग सूं, निरजरा री करणी सूं ताय हो लाल॥

५६—भली लेश्या ने भला परिणांम थी, निश्चेंइ निरजरा थाय हो लाल।
जब पुन लागे छै जीव रे, सहजे सभावे ताय हो लाल॥

५७—जे करणी करै निरजरा तणी, पुन तणी मन में धार हो लाल।
ते तो करणी खोए नें बापड़ा, गया जमारो हार हो लाल॥

५८—पुन तो चोफरसी कर्म छै, तिणरी वंछा करे ते मूढ हो लाल।
त्यां कर्म नें धर्म न ओलख्यो, करे करे मिथ्यात नीं रूढ हो लाल॥

५९—जे जे पुन थी वस्त मिले तके, त्यांनें त्याग्यां निरजरा थाय हो लाल।
जो पुन भोगवे ग्रिधी थको, तो चीकणा कर्म बंधाय हो लाल॥

६०—जोड़ कीधी पुन ओलखायवा, श्रीजी दुवारा सहर मझार हो लाल।
संवत अठारे पचावनें, जेठ विद नवमी सोमवार हो लाल॥

५२—पुराय की वाञ्छा करने से एकान्त—केवल पाप लगता है जिससे इस लोक में दुःख पाना पड़ता है और जीव के शोक-संताप बढ़ते जाते हैं।

पुण्य की वाञ्छा से पाप-बंध (गा० ५२-५३)

५३—जो पुराय की वाञ्छा—कामना करता है वह कामभोगों की कामना करता है। उसको नरक निगोद के दुःख होंगे और प्रिय वस्तुओं का वियोग होगा[१४]।

५४—पुराय के सुख अशाश्वत हैं परन्तु वे भी शुभ करनी बिना नहीं प्राप्त होते। जो निरवद्य करनी करते हैं उनके पुराय तो सहज ही आकर लगते हैं।

पुण्य-बंध के हेतु (गा० ५४-५६)

५५—पुराय पुराय की कामना से प्राप्त नहीं होते, पुराय तो सहज ही आकर लगते हैं। पुराय निरवद्य योग से तथा निर्जरा की करनी से संचित होते हैं।

५६—भली लेश्या और भले परिणाम से निश्चय ही निर्जरा होती है और तब निर्जरा के साथ-साथ पुराय सहज ही स्वाभाविक तौर पर आकर लग जाते हैं[१५]।

५७—जो पुराय की कामना से निर्जरा की करनी करते हैं वे बेचारे उस करनी का व्यर्थ ही खो कर मनुष्य-जन्म को हारते हैं।

पुण्य काम्य क्यों नहीं? (गा० ५७-५८)

५८—पुराय चतुर्स्पर्शी कर्म हैं। जो उसकी कामना करते हैं वे मूर्ख हैं। वे कर्म और धर्म के अन्तर को नहीं समझते और केवल मिथ्यात्व की रूढ़ि में पड़े हैं[१६]।

५९—पुराय से जो वस्तुएँ मिलती हैं उनके त्याग करने से निर्जरा होती है परन्तु जो पुराय-फल को गृद्ध होकर भोगता है उसके चिकने कर्मों का बंध होता है[१७]।

त्याग से निर्जरा भोग से कर्म-बंध

६०—यह जोड़ पुराय तत्त्व का बोध कराने के लिए श्रीजीद्वार में सं० १८५५ की जेठ बदी ९ सोमवार को की है।

टिप्पणियाँ

१—दोहा : १-५ :

इन प्रारम्भिक दोहों में स्वामी जी ने पुण्य पदार्थ के सम्बन्ध में निम्न बातों का प्रतिपादन किया है :

(१) पुण्य तीसरा पदार्थ है (दो० १) ;

(२) पुण्य पदार्थ से कामभोगों की प्राप्ति होती है (दो०१) ;

(३) पुण्य-जनित कामभोग विष तुल्य हैं (दो० २-४) ;

(४) पुण्योत्पन्न सुख पौद्गलिक और विनाशशील हैं (दो०२, ४) ; और

(५) पुण्य पदार्थ शुभ कर्म है अतः अकाम्य है (दो० ५) ।

नीचे क्रमशः इन पर प्रकाश डाला जाता है :

(१) पुण्य तीसरा पदार्थ है (दो० १) :

भगवान महावीर ने कहा है—"ऐसी संज्ञा मत करो—ऐसा मत सोचो कि पुण्य और पाप नहीं हैं पर ऐसी संज्ञा करो कि पुण्य और पाप हैं[1] ।" उत्तराध्ययन में तथ्य भावों में पुण्य का उल्लेख किया गया है [2]। ठाणाङ्ग में नवसद्भाव पदार्थों में तृतीय स्थान पर पुण्य की गिनती की गई है[3] । संसार में द्वन्द्व वस्तुओं का उल्लेख करते हुए पुण्य और पाप परस्पर विरोधी तत्त्व बताये गये हैं [4] । इससे प्रमाणित होता है कि जैनधर्म में पुण्य की एक स्वतंत्र तत्त्व के रूप में प्ररूपणा है और नव पदार्थों में उसका स्थान तृतीय माना गया है । दिगम्बराचार्यों ने भी पुण्य को स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है[5]।

१—सुयगडं २.५-१६ :

नत्थि पुण्णे व पावे वा नेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि पुण्णे व पावे वा एवं सन्नं निवेसए ॥

२—उत्त० २८.१४ (पृ० २५ पर उद्धृत)

३—ठाणांग ९.६६५ (पृ० २२ पा० टि० १ में उद्धृत)

४—ठाणांग २.५९ :

जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं तंजहा...पुन्ने चेव पावे चेव

५—(क) पंचास्तिकायः २.१०८ :

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं ।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥

(ख) द्रव्यसंग्रह २८ :

आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे ।

तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वों का उल्लेख है[1] और पुण्य और पाप को आस्रव तत्त्व के दो भेद के रूप में उपस्थित किया है[2]। हेमचन्द्राचार्य ने भी सात ही तत्त्व बताए हैं[3] और आस्रव तथा बंध के भेद रूप में भी पुण्य और पाप पदार्थों का उल्लेख नहीं किया है।

संसार में हम दो प्रकार के प्राणियों को देखते हैं—एक सम्पन्न और दूसरे दरिद्र, एक स्वस्थ और दूसरे रोगी, एक दुःखी और दूसरे सुखी। प्राणियों के ये भेद अकस्मात नहीं हैं, पर उनके अपने अपने कर्तृत्व के परिणाम हैं। जो कर्तृत्व प्रथम वर्ग की स्थितियों का उत्पादक है वही पुण्य तत्त्व है।

स्वामी जी ने आगमिक परम्परा के मतानुसार पुण्य को तीसरा पदार्थ माना है।

(२) पुण्य पदार्थ से कामभोगों की प्राप्ति होती है (दो० १)

शब्द और रूप को काम कहते हैं तथा गंध, रस और स्पर्श को भोग [४]।

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श क्रमशः श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के विषय हैं[५]। ये इष्ट या अनिष्ट, कान्त या अकांत, प्रिय अथवा अप्रिय, मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ, मन-आम अथवा अमनआम इस तरह दो-दो प्रकार के होते हैं[६]।

यहाँ कामभोग का अर्थ है—इष्ट, कांत, प्रिय, मनोज्ञ, और मन-आम शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श से युक्त भोग्यपदार्थ। ये कामभोग सजीव भी हो सकते हैं और निर्जीव भी[७]। एक बार भोगने योग्य भी हो सकते हैं और बार-बार भोगने योग्य भी। पुण्य पदार्थ से इन इष्ट कामभोगों की प्राप्ति होती है।

(३) पुण्य-जनित कामभोग विष-तुल्य हैं (दो० २-४):

इन शब्दादि कामभोगों के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ पाई जाती हैं—(१) संसारासक्त

१—तत्त्वार्थसूत्र ६.१-४:

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षस्तत्त्वम्

२—तत्त्वार्थ सूत्र ६.१-४:

३—जीवाजीवाश्रवाश्च संवरो निर्जरा तथा।

बन्धो मोक्षश्चेति सप्त, तत्त्वान्याहुर्मनीषिणः॥

४—भगवती ७.७

५—उत्त० ३२—३६, २३, ४९, ६२, ७५

६—ठाणांग २.३-८३

७—भगवती ७.७

मनुष्य की दृष्टि और (२) उदासीन ज्ञानी पुरुष की दृष्टि । जो कामभोगों में गृद्ध हैं वे कहते हैं—"हमने परलोक नहीं देखा और इन कामभोगों का आनन्द तो आँखों से देखा है—प्रत्यक्ष है । ये वर्तमान काल के कामभोग तो हाथ में आए हुए हैं । भविष्य में कामभोग मिलेंगे या नहीं कौन जानता है ? और यह भी कौन जानता है कि परलोक है या नहीं, अतः मैं तो अनेक लोगों के साथ रहूँगा[1] ।" ज्ञानी कहते हैं—"कामभोग शल्यरूप हैं । कामभोग विष रूप हैं, कामभोग जहर के सदृश हैं[2] । सर्व कामभोग दुःखरूप हैं[3] । अनर्थ की खान हैं[4] ।"

इस दृष्टि भेद के कारण जो संसारी प्राणी हैं वे पुण्य को शब्दादि कामभोगों की प्राप्ति का कारण मान उपादेय मानते हैं और ज्ञानी शब्दादि कामभोगों को विष तुल्य समझ वैषयिक सुखों के उत्पादक पुण्य पदार्थ को हेय मानते हैं ।

स्वामीजी कहते हैं ज्ञानी की दृष्टि ही यथार्थ दृष्टि है, क्योंकि वह मोह रहित शुद्ध दृष्टि है । संसारासक्त प्राणी की दृष्टि मोहाच्छन्न होती है जिससे वह वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नहीं देख पाता और जो वास्तव में सुख नहीं है उनमें सुख मान लेता है । जिस तरह नीम के पत्ते वास्तव में कड़ुवे होते हैं परन्तु सर्प के डंस लेने पर शरीर-व्याप्त विष के कारण वे मीठे लगने लगते हैं वैसे ही पुण्यजात इन्द्रिय-सुख वास्तव में दुःख रूप ही हैं पर मोह कर्म की प्रबलता के कारण वे अमृत के समान मधुर लगते हैं ।

(४) पुण्योत्पन्न सुख पौद्गलिक और विनाशलीला हैं (दो० २४) :

पुण्योदय से प्राप्त सुख भौतिक हैं । ये सुख आत्मा के स्वाभाविक नहीं पर आत्मा से भिन्न पौद्गलिक वस्तुओं से सम्बन्धित होते हैं । ये सुख संयोगिक और वैषयिक हैं, आत्मा के सहज आनन्द स्वरूप नहीं ।

पौद्गलिक वस्तुओं पर आधारित होने के साथ-साथ ये सुख स्थिर नहीं हैं । ये शरीर और इन्द्रियों के अधीन हैं, उनके विनाश के साथ इनका विनाश हो जाता है । ये सुख विषम—चंचल—हानि वृद्धिरूप हैं ।

१—उत्त० ५.५-७

२—उत्त० ९.५३ :

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।

३—उत्त० १३.१६ :

सव्वे कामा दुहावहा ।

४—उत्त० १४.१३ :

खाणी अणत्थाण उ कामभोगा

आत्मिक सुख की तरह ये निराकुल नहीं होते। ये तृष्णा को उत्पन्न करते हैं और कर्म-बंधन के कारण हैं। जहाँ इन्द्रिय-सुख है वहाँ रागादि दोषों की सेना होती है और बंधन भी अवश्यंभावी है।

(५) पुण्य पदार्थ शुभ-कर्म है अतः अकाम्य है (दो० ५):

जीव का परिणमन दो तरह का होता है या तो वह मोह-राग-द्वेष आदि भावों में परिणमन करता है अथवा शुभ ध्यान आदि भावों में। मोह-राग-द्वेष आदि अशुभ परिणाम हैं और धर्म-ध्यानादि भाव शुभ परिणाम। संसारी जीव सर्व दिशाओं में अनेक प्रकार की पुद्गल-वर्गणाओं से घिरा हुआ है। उनमें एक वर्गणा ऐसी है जिसके पुद्गल आत्म-प्रदेशों में प्रवेश कर उनके साथ बंध सकते हैं। जब जीव अशुभ भावों में परिणमन करता है तब इस वर्गणा के अशुभ पुद्गल आत्मा में प्रवेश कर उसके साथ बंध जाते हैं और जब जीव शुभ भावों में परिणमन करता है तब इस वर्गणा के शुभ पुद्गल आत्मा के साथ बंधते हैं। पुद्गलों की यह विशिष्ट वर्गणा कर्म-कर्मणा कहलाती है और बंधे हुए शुभ-अशुभ कर्म विपाकावस्था में सुख-दुःख फल देने की अपेक्षा से पुण्य कर्म और पाप कर्म कहलाते हैं। इस तरह पुण्य कर्म और पाप कर्म दोनों ही पुद्गल की कर्म-वर्गणा के विशिष्ट परिणाम-प्राप्त स्कन्ध हैं।

जीव चेतन है। पुद्गल जड़ है। पुद्गल की पर्याय होने से कर्म भी जड़ है। स्वामीजी कहते हैं कि चेतन जीव जड़ कर्मों की कामना कैसे कर सकता है? पुण्य और पाप जड़ कर्म ही तो उसके संसार-भ्रमण के कारण हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—"अशुभ कर्म कुशील है—बुरा है और शुभ कर्म सुशील है—अच्छा है ऐसा जगत् जानता है। परन्तु जो प्राणी को संसार में प्रवेश कराता है वह शुभ कर्म सुशील—अच्छा कैसे हो सकता है? जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बांधती है और सुवर्ण की भी बांधती है उसी तरह शुभ तथा अशुभ कृत कर्म जीव को बांधते हैं। अतः जीव तू इन दोनों कुशीलों से प्रीति अथवा संसर्ग मत कर। कुशील के साथ संसर्ग और राग से जीव की स्वाधीनता का विनाश होता है। जो जीव परमार्थ से दूर हैं वे अज्ञान से पुण्य को अच्छा मान उसकी कामना करते हैं। पर पुण्य संसार-गमन का हेतु है। अतः तू पुण्य कर्म में प्रीति मत कर[१]।"

स्वामीजी और आचार्य कुन्दकुन्द की विचारधारा में अद्भुत सामञ्जस्य है।

१—समयसार ३ : १४५-१४७, १५४, १५०

२— पुण्य शुभ कर्म और पुद्गल की पर्याय है (ढाल गाथा १) :

इस गाथा में पुण्य को पुद्गल की पर्याय बताते हुए उसकी परिभाषा दी गई है। इस विषय में पूर्व टिप्पणी १ अनुच्छेद ५ में कुछ प्रकाश डाला जा चुका है।

स्वामीजी कहते हैं—आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म-वर्गणा के शुभ पुद्गल यथाकाल उदय में—फल देने की अवस्था में—आते हैं और शुभ फल देते हैं। इन्हें ही पुण्य-कर्म कहते हैं।

जिस तरह तेल और तिल, घृत और दूध, धातु और मिट्टी ओतप्रोत होते हैं उसी तरह जीव और कर्म-वर्गणा के पुद्गल एक क्षेत्रावगाही होकर बन्ध जाते हैं। यह बन्ध या तो अशुभ कर्म-पुद्गलों का होता है या शुभ कर्म-पुद्गलों का। शुभ परिणामों से जो कर्म बन्धते हैं वे शुभ रूप से और जो अशुभ परिणामों से बन्धते हैं वे पाप रूप से उदय में आते हैं।

बन्धे हुए कर्म जब तक फलावस्था में नहीं आते तब तक जीव के सुख-दुःख जरा भी नहीं होता। उदय में आने तक कर्म-पुद्गल सत्तारूप में रहते हैं। कर्म के उदयावस्था में आने पर जब सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं तो बन्ध पुण्य कर्मों का कहा जायगा और विविध प्रकार के दुःख उत्पन्न करने पर बन्ध पाप कर्मों का कहा जायगा। जीव को एक तालाब मानें तो बन्ध उसमें आबद्ध जल रूप होगा। उस तालाब से निकलते हुए—भोगे जाते हुए—जल रूप पुण्य पाप होंगे[1]।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं : "जिसके मोह-राग-द्वेष होते हैं उसके अशुभ परिणाम होते हैं। जिसके चित्तप्रसाद—निर्मल चित्त होता है उसके शुभ परिणाम होते हैं। जीव के शुभ परिणाम पुण्य हैं और अशुभ परिणाम पाप। शुभ-अशुभ परिणामों से जीव के जो कर्म-वर्गणा योग्य पुद्गलों का ग्रहण होता है वह क्रमशः द्रव्य-पुण्य और द्रव्य-पाप है[2]।"

१—तेरा द्वार (आचार्य भीखणजी रचित) : तालाब द्वार

२—पञ्चास्तिकाय २.१३१-२ :

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो॥
सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो॥

जीव का शुभ परिणाम भाव पुण्य है। भाव पुण्य के निमित्त से पुद्गल की कर्म-वर्गणा विशेष के शुभ पुद्गल आत्म-प्रदेशों में प्रवेश कर उनके साथ बन्ध जाते हैं। यह द्रव्य-पुण्य है[1]।

पुण्य कर्म किस तरह पुद्गल-पर्याय है, यह इससे सिद्ध है।

३—चार पुण्य कर्म (ढाल गा० २) :

इस गाथा में दो बातें कही गयी हैं :

(१) आठ कर्मों में चार एकान्त पाप रूप हैं और चार पाप और पुण्य दोनों रूप।

(२) पुण्य केवल सुखोत्पन्न करता है।

इन मुद्दों पर नीचे क्रमशः प्रकाश डाला जाता है :

(१) **आठ कर्मों का स्वरूप** : आत्मा के प्रदेशों में कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का बन्ध होता है। बन्धे हुए कर्मों में भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का निर्माण होता है। मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। इन प्रकृतियों के भेद से कर्मों के भी आठ भेद होते हैं[2] :

(क) जिस कर्म की प्रकृति ज्ञान को आवरण करने की होती है उसे **ज्ञानावरणीय कर्म** कहते हैं।

(ख) जिस कर्म की प्रकृति दर्शन को अवरोध करने की होती है उसे **दर्शनावरणीय कर्म** कहते हैं।

(ग) जिस कर्म की प्रकृति सुख-दुःख वेदन कराने की होती है उसे **वेदनीय कर्म** कहते हैं।

(घ) जिस कर्म की प्रकृति मोह उत्पन्न करने की होती है उसे **मोहनीय कर्म** कहते हैं।

(ङ) जिस कर्म की प्रकृति आयुष्य के निर्धारण करने की होती है उसे **आयुष्य कर्म** कहते हैं।

(च) जिस कर्म की प्रकृति जीव की गति, जाति, यश, कीर्ति आदि को निर्धारण करने की होती है उसे **नाम कर्म** कहते हैं।

१—(क) पञ्चास्तिकाय २. १०८ की अमृतचन्द्राचार्य कृत तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति :
शुभपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानाञ्च पुण्यम्।

(ख) उपर्युक्त स्थल की जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति :
जीवस्य शुभपरिणामो भावपुण्यं भावपुण्यनिमित्तेनोत्पन्नः सद्वेद्यादि शुभप्रकृतिरूपः पुद्गलपरमाणुपिण्डोः द्रव्यपुण्यं

२—उत्त० ३३.२-३ ; ठाणाङ्ग ८.३.५९६

(छ) जिस कर्म की प्रकृति जीव की जाति, कुल आदि को निर्धारण करने की होती है उसे **गोत्र कर्म** कहते हैं।

(ज) जिस कर्म की प्रकृति लाभ, दान आदि में विघ्न-बाधा करने की होती है उसे **अन्तराय कर्म** कहते हैं।

इन आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म एकान्त पाप रूप हैं।

वेदनीय कर्म के दो भेद होते हैं—(क) साता वेदनीय और (ख) असातावेदनीय[1]। साता वेदनीय पुण्य-रूप है।

इसी तरह आयुष्य कर्म के दो भेद हैं— (क) शुभ आयुष्य और (ख) अशुभ आयुष्य। शुभ आयुष्य पुण्य स्वरूप है।

नाम कर्म भी दो प्रकार का है—(क) शुभ नाम कर्म और (ख) अशुभ नाम कर्म[2]। शुभ नाम कर्म पुण्य स्वरूप है।

गोत्र कर्म के भी दो भेद हैं—(क) उच्च गोत्र कर्म और (ख) नीच गोत्र कर्म[3]। गोत्र कर्म पुण्य रूप है।

(२) पुण्य केवल सुखोत्पन्न करते हैं : पुण्य और पाप दोनों एक दूसरे के विरोधी पदार्थ हैं। एक पदार्थ दो परिणमन नहीं कर सकता। पुण्य सुख और दुःख दोनों का कारण नहीं हो सकता। वह केवल सुख का कारण होता है। पुण्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है—'**छहहेऊ कम्मपगई पुन्नं**[4]'—सुख की हेतु कर्म-प्रकृति पुण्य है।

१—(क) उत्त० ३३.७ :

वेयणियं पि य दुविहं, सायमसायं च आहिर्यं।

(ख) ठाणाङ्ग २.४.१०५

२—(क) उत्त० ३३.१३ :

नामं कम्मं तु दुविहं, छहमछहं च आहियं।

(ख) ठाणाङ्ग २.४.१०५

३—(क) उत्त० ३३.१४ :

गोयं कम्मं तु दुविहं, उच्चं नीयं च आहियं

(ख) ठाणाङ्ग २.४.१०५

४—देवेन्द्रसूरिकृत श्री नवतत्त्वप्रकरणम् (नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः) गा० २८

एक बार कालोदायी ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा : "भन्ते ! क्या कल्याण कर्म (पुण्य) जीवों के लिये कल्याण फलविपाकसंयुक्त—अच्छे फल के देने वाले हैं ?" भगवान ने उत्तर दिया : "हे कालोदायी ! कल्याण कर्म (पुण्य) ऐसे ही होते हैं। जैसे कोई एक पुरुष मनोहर, स्वच्छ थाली में परोसे हुए रसदार अठारह व्यंजनयुक्त औषधि-मिश्रित आहार का भोजन करे तो आरम्भ में वह भद्र—अच्छा—नहीं लगता पर पचने पर वह सुरूपता, सुवर्णता, सुगन्धता, सुरसता, सुस्पर्शता, इष्टता, कान्तता, प्रियता, शुभता, मनोज्ञता, मनापता, ईप्सितता, उर्ध्वता आदि परिणाम उत्पन्न करता है, बार-बार सुख रूप परिणमन करता है, दुःख रूप नहीं, उसी तरह हे कालोदायी ! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन, परपरिवाद, रति-अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य का विरमण और त्याग आरम्भ में जीवों को भद्र—अच्छा—नहीं लगता पर बाद में परिणाम के समय सुरूपता, सुवर्णता आदि भाव उत्पन्न करता है, बार-बार सुखरूप परिणमन करता है दुःख रूप नहीं। इसलिये हे कालोदायी ! कल्याण (पुण्य) कर्म जीवों को अच्छे फल देने वाले होते हैं ऐसा कहा है[1] ।"

स्वामीजी ने जो यह कहा है कि पाप से सुख ही होता है दुःख जरा भी नहीं होता वह उपर्युक्त आगम-स्थल से समर्थित है।

४—पुण्य की अनन्त पर्यायें (ढाल गा० ३) :

इस गाथा में स्वामीजी ने जो बात कही है, उसका आधार निम्न आगम-गाथा है :

> सव्वेसिं चेव कम्माणं, पएसग्गमणंतगं ।
> गंठियसत्ताईयं, अंतो सिद्धाण आहियं[2] ॥

—सब कर्मों के प्रदेश अनन्त हैं, जो अभव्य जीवों से अनन्त गुण और सिद्धों के अनन्तवें भाग हैं।

जीव के प्रदेशों के साथ पुण्य कर्मों के अनन्त प्रदेश बंधे हुए रहते हैं। कर्मों में फल देने की सक्रियता परिपाकावस्था में आती है। यह अवस्था कर्मों का उदयकाल कहलाती है। इसके पहले कर्म फल नहीं देते। अनन्तप्रदेशी पुण्य कर्म उदय में आकर अनन्त प्रकार के सुख उत्पन्न करते हैं। इस तरह पुण्य कर्मों की अनन्त पर्यायें—परिणाम—अवस्थाएँ होती हैं।

१—भगवती ७.१०
२—उत्त० ३३.१७

५—पुण्य निरवद्य योग से होता है (ढाल गा० ४) :

स्वामीजी ने इस गाथा में पुण्य कैसे होता है, इस पर संक्षिप्त प्रकाश डाला है। आत्म-प्रदेशों में कर्म-प्रवेश के निमित्त मुख्यतः पाँच हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। पहले चार हेतुओं से पाप कर्म का आगमन होता है। योग का अर्थ है—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति—क्रिया। योग दो तरह के होते हैं—(१) निरवद्य योग और (२) सावद्य योग। अवद्य पाप को कहते हैं। मन, वचन, काया की जो प्रवृत्ति पाप-रहित होती है वह निरवद्य योग है। जो प्रवृत्ति पाप सहित होती है उसे सावद्य योग कहते हैं। सावद्य योग से पाप-कर्मों का अर्जन होता है। निरवद्य योग पुण्य के हेतु हैं। उदाहरण स्वरूप सत्य बोलना निरवद्य योग है और मिथ्या बोलना सावद्य योग। पहले से पुण्य बंधता है और दूसरे से पाप-कर्म।

इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र (अ० ६) के निम्न सूत्र स्मरण रखने जैसे हैं :

कायावाङ्मनः कर्मयोगः ।१।

स आस्रवः ।२।

शुभः पुण्यस्य ।३।

अशुभः पापस्य ।४।

आचार्य उमास्वाति ने अन्यत्र भी लिखा है :

'योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः'[1]

दिगम्बराचार्य भी ऐसा ही मानते हैं[2]।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जीव के या तो शुभ उपयोग होता है अथवा अशुभ उपयोग। शुभ उपयोग से पुण्य का सञ्चय होता है और स्वर्ग-सुख की प्राप्ति होती है। अशुभ उपयोग से पाप का सञ्चय होता है और जीव को कुनर, तिर्यंच, नारक के रूप में संसार-भ्रमण करना पड़ता है। श्रमण शुद्ध उपयोगयुक्त भी होता है। शुद्ध उपयोग-वाला श्रमण आस्रव-रहित होता है और उसे मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है[3]।

१—उमास्वातीयं नवतत्त्वप्रकरणम् (नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः) : आस्रवतत्त्वम्

२—द्रव्यसंग्रह ३८ :

सुह असुह भावजुत्ता पुण्णं पापं हवंति खलु जीवा ।

३—प्रवचनसार २.६४ ; १.११ ; १.१२ ; ३.४५

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि ।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥
धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥
असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णरइयो ।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमदि अच्चंतं ॥
समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥

पुण्य का बंधन शुभ योग से कहें, शुभ भाव से कहें, शुभ परिणाम से कहें अथवा शुभ उपयोग से, एक ही बात है। यह केवल शब्द-व्यवहार का अन्तर है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार वह श्रमण जिसे पदार्थ और सूत्र सुविदित हैं, जो संयम और तप से युक्त है, जो वीतराग है और जिसको सुख-दुःख सम है वह शुद्ध उपयोग वाला होता है[1]। ऐसा श्रमण आस्रव-रहित होता है और पाप का तो हो ही कैसे उसके पुण्य का भी बंधन नहीं होता है[2]। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार चौदहवें गुण स्थान में श्रमण अयोगी केवली होता है और तभी पुण्य का सञ्चय रुकता है। उसके पहले सब श्रमणों को शुभ क्रियाओं से पुण्य का बंध होता है।

६—साता वेदनीय कर्म (ढाल गा० ५) :

गाथा २ (टिप्पणी ३) में बताया जा चुका है कि निम्न चार कर्म पुण्य रूप हैं :

१—सातावेदनीय कर्म,

२—शुभ आयुष्य कर्म,

३—शुभ नाम कर्म, और

४—शुभ गोत्र कर्म।

दिगम्बराचार्य भी इन्हीं चार को पुण्य कर्म कहते हैं[3]।

स्वामीजी ने गाथा ५-३१ में इन चार प्रकार के पुण्य कर्मों का विस्तार से विवेचन किया है।

प्रस्तुत गाथा में सातावेदनीय कर्म की परिभाषा देकर उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

"यदुदयात् सातं सौख्यमनुभवति सत्सातवेदनीयम्[4]"—जिसके उदय से जीव सात—सौख्य का अनुभव करता है वह सातावेदनीय कर्म है।

१—प्रवचनसार १.१४ :

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति॥

२—पञ्चास्तिकाय २.१४२ :

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स॥

३—द्रव्यसंग्रह ३८ :

सादं सुहायं णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च॥

४—अव० वृत्त्यादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरणम् (नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः) ८॥१७॥ की वृत्ति

उत्तराध्ययन में कहा है 'सायस्स उ बहू भेया[1]' सातावेदनीय कर्म के बहुत भेद होते हैं। सात—सौख्य—सुख अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे-जैसे सौख्य का अनुभव होता है वैसे-वैसे ही भेद सातावेदनीय कर्म के होते हैं।

साता (सुख) के छः प्रकार हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रिय साता ; (२) घ्राणेन्द्रिय साता ; (३) रसनेन्द्रिय साता; (४) चक्षुरिन्द्रिय साता (५); स्पर्शनेन्द्रिय साता और (६) नोइन्द्रिय (मन) साता[2]। सातावेदनीय कर्म से इन सब साताओं (सुखों) की प्राप्ति होती है।

मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ गंध, मनोज्ञ स्पर्श, मनः शुभता और वचः शुभता ये सब सातावेदनीय कर्म के अनुभाव हैं[3]।

७—शुभ आयुष्य कर्म और उसकी उत्तर प्रकृतियाँ (ढाल गा० ६-७) :

इन गाथाओं में पुण्यरूप शुभ आयुष्य कर्म की परिभाषा और उसकी उत्तर प्रकृतियों—भेदों का वर्णन है।

शुभ आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ तीन कही गयी हैं :

(१) जिससे देवभव की आयुष्य प्राप्त हो वह **देवायुष्य कर्म** ;

(२) जिससे मनुष्यभव की आयुष्य प्राप्त हो वह **मनुष्यायुष्य कर्म** ; और

(३) जिससे तिर्यञ्चभव की आयुष्य प्राप्त हो वह **तिर्यञ्चायुष्य कर्म**।

प्रायः आचार्यों ने सर्व देव, सर्व मनुष्य और सर्व तिर्यञ्चों की आयुष्य के हेतु आयुष्य कर्म को शुभायुष्य कर्म के अन्तर्गत माना है[4]। स्वामीजी ने शुभ देव, शुभ मनुष्य और युगलिक तिर्यञ्चों की आयुष्य के हेतु आयुष्य कर्मों को ही पुण्यरूप शुभ आयुष्य कर्म के भेदों में ग्रहण किया है। उनके विचार से सर्व देव शुभ नहीं होते, न सर्व मनुष्य शुभ होते हैं और न सर्व तिर्यञ्च ही। शुभ देव, शुभ मनुष्य और युगलिक तिर्यञ्च के भव-विषयक आयुष्य के हेतु कर्म ही शुभ आयुष्य कर्म के उत्तर भेद हैं। स्वामीजी के अनुसार—

१—उत्त० ३३.७ :

२—ठाणाङ्ग ६.३.४८८

३—ठाणाङ्ग ७.३.५८८ :

४—देखिए 'नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः' में संगृहीत सभी नवतत्त्व प्रकरण के पुण्याधिकार

१—जिस कर्म के उदय से शुभ देव-भव का आयुष्य प्राप्त हो वह 'शुभ देवायुष्य कर्म' है।

२—जिस कर्म के उदय से शुभ मनुष्य-भव का आयुष्य प्राप्त हो वह 'शुभ मनुष्यायुष्य कर्म' है।

३—जिस कर्म के उदय से युगलतिर्यंच-भव का आयुष्य प्राप्त हो वह 'शुभ तिर्यंचायुष्य कर्म' है।

जो सर्व तिर्यंचायुष्य कर्म को शुभायुष्य की उत्तर प्रकृति मानते हैं उनके सामने प्रश्न आया कि हाथी, अश्व, शुक, पिक आदि तिर्यंचों का आयुष्य शुभ कैसे है जबकि वे प्रत्यक्ष क्षुधा, पिपासा, तर्जन, ताड़न आदि के दुःखों को बहुलता से भोगते हुए देखे जाते हैं ? इसके समाधान में दो भिन्न-भिन्न उत्तर प्राप्त हैं :

(१) ये तिर्यंच प्राणी पूर्वकृत कर्मों का फल भोगते हैं, पर उनका आयुष्य अशुभ नहीं है क्योंकि दुःख अनुभव करते हुए भी वे हमेशा जीते रहने की ही इच्छा करते हैं कभी मरने की नहीं। नारक हमेशा सोचते रहते हैं—कब हम मरें और कब इन दुःखों से छुटकारा हो ? इससे उनका आयुष्य अशुभ है पर तिर्यंच ऐसा नहीं सोचते। अतः उनका आयुष्य अशुभ नहीं है[1]।

(२) तिर्यंचों में युगलिक तिर्यंच भी आते हैं। उनका आयुष्य शुभ है। उनकी अपेक्षा से तिर्यंचायुष्य को शुभ कहा है[2]।

इस दूसरे स्पष्टीकरण के अनुसार सब तिर्यंचों का आयुष्य शुभ नहीं होना चाहिए।

ठाणाङ्ग में तिर्यंच योग्य कर्मबंध के चार कारण कहे हैं : (१) मायावीपन, (२) निकृतिभाव, (३) अलीक वचन और (४) मिथ्या तोल-माप[3]। ऐसे कारणों से तिर्यंच गति प्राप्त करने वाले तिर्यंच जीवों का आयुष्य शुभ कैसे होगा ?

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं : "अशुभ उपयोग से जीव कुनर आदि होकर सहस्र दुःखों से पीड़ित होता हुआ संसार-भ्रमण करता है[4]।" इससे स्पष्ट है कि वे मनुष्यों के

१—नवतत्त्वप्रकरण (सुमङ्गला टीका) पृष्ठ ५३ : न तेषामायुरशुभमुच्यते, यतो दुःखमनुभवन्तोऽपि ते स्वायुषस्समाप्तिपर्यन्तं जिजीविषवो न कदाचनाऽपि मृत्युं समीहन्ते नारकवत्

२—श्रीनवतत्त्वप्रकरणम् ६।१६ **की वृत्ति (नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः) : ननु तिर्यगायुषः कथमुत्तमत्वम् उच्यते, तस्यापि युगलिकतिर्यगपेक्षया प्रधानत्वं, पुण्यप्रकृतित्वात्।**

३—ठाणाङ्ग ४.४.३७३

४—प्रवचनसार १.१२ (टिप्पणी ४ पा० टि० ३ में उद्धृत)

दो भेद करते रहे। एक कु-मनुष्य और दूसरे उत्तम मनुष्य। उनके अनुसार कु-मनुष्यों का आयुष्य अशुभ उपयोग का परिणाम ठहरता है और वह शुभ आयुष्य कर्म का भेद नहीं हो सकता।

आगम में कहा गया है : "चार कारणों से जीव किल्विषीदेव योग्य कर्म का बंध करता है—अरिहंत के अवर्णवाद से, अरिहंत धर्म के अवर्णवाद से, आचार्योपाध्याय के अवर्णवाद से और चतुर्विध संघ के अवर्णवाद से। ऐसे कारणों से प्राप्त होने वाला किल्विषीदेव गति का आयुष्य शुभ कैसे होगा ?

जो कर्म शुभ योग से आते हैं और विपाकावस्था में शुभ फल देते हैं वे ही पुण्य कर्म हैं। कई मनुष्य, कई देव और कई तिर्यंचों का आयुष्य शुभ हेतुओं का परिणाम नहीं होता। फल रूप में भी उनका आयुष्य अत्यन्त पापपूर्ण और कष्टप्रद होता है।

इस तरह सिद्ध होता है कि उत्तम देव, उत्तम मनुष्य और उत्तम तिर्यंचों के आयुष्य को प्राप्त कराने वाले आयुष्य कर्म ही शुभ हैं।

८—शुभ नामकर्म और उसकी उत्तर प्रकृतियाँ (ढाल गा० ६-२५) :

गाथा ८ में शुभ नामकर्म की परिभाषा दी गई है। बाद की ६ से २६ तक की गाथाओं में शुभ नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों के स्वरूप का, उनके फल-कथन द्वारा अथवा उनकी परिभाषा देकर, विवेचन किया गया है।

नामकर्म की परिभाषा टिप्पणी ३ (१) (च) (पृ० १५५) में दी जा चुकी है। जिस कर्म के उदय से जीव को अमुक गति, एकेन्द्रियादि अमुक जाति प्रभृति प्राप्त होते हैं उसे नामकर्म कहते हैं। जो उदयावस्था में जीव को शुभ गति, शुभ जाति आदि अनेक बातों का प्रापक कर्म है वह 'शुभ नामकर्म' कहलाता है (गा० ८)।

शुभ नामकर्म की उत्तर प्रकृतियां ३७ हैं। नीचे क्रमशः उनका विवेचन किया जाता है :

(१) जिस नामकर्म से शुभ मनुष्य-गति—उच्च मनुष्य-भव की प्राप्ति होती है उसे 'शुभ मनुष्यगति नामकर्म' कहते हैं (गा० ६)।

(२) जिस नामकर्म से शुभ मनुष्यानुपूर्वी मिलती है उसे 'शुभ मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म' कहते हैं (गा० ६)।

जीव जिस स्थान में मरण प्राप्त करता है वहां से उत्पत्ति स्थान समश्रेणी में न होने पर उसे वक्र गति करनी पड़ती है। जिस कर्म से जीव आकाश प्रदेश की

श्रेणी का अनुसरण करता हुआ जहाँ वह मनुष्य रूप से उत्पन्न होने वाला है उस उत्पत्ति क्षेत्र के अभिमुख गति कर सके उसे मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म कहते हैं।

(३) जिस नामकर्म से शुभ देवगति प्राप्त होती है उसे 'शुभ देवगति नामकर्म' कहते हैं (गा० ९)।

स्वामीजी के कथनानुसार गति और आनुपूर्वी आयुष्य के अनुरूप होती है। शुभ आयुष्य के देव और मनुष्यों की गति और आनुपूर्वी भी शुभ होती है।

(४) जिस नामकर्म से शुभ देवानुपूर्वी प्राप्त होती है उसे 'शुभ देवानुपूर्वी नामकर्म' कहते हैं। जिस देव का आयुष्य शुद्ध होता है उसकी आनुपूर्वी भी शुद्ध होती है (गा० ९)।

जिस कर्म के उदय से वक्रगति से देवगति की ओर आते हुए जीव के आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार उत्पत्ति क्षेत्र के अभिमुख गति होती है उसे 'शुभ देवानुपूर्वी नामकर्म' कहते हैं।

(५) जिस नामकर्म से विशुद्ध पंचेन्द्रिय जीवों की जाति—कोटि प्राप्त होती है उसे 'शुभ पंचेन्द्रिय नामकर्म' कहते हैं (गा० ९)।

(६) जिस नामकर्म से जीव को निर्मल औदारिक शरीर मिलता है उसको 'शुभ औदारिक शरीर नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

उदार अर्थात् स्थूल। स्थूल औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से निर्मित शरीर अथवा मोक्ष प्राप्ति में साधन रूप होने से उदार—प्रधान शरीर औदारिक कहलाता है।

(७) जिस नामकर्म से निर्मल वैक्रिय शरीर मिलता है उसे 'शुभ वैक्रिय शरीर नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

छोटे, बड़े, मोटे, पतले आदि विविध प्रकार के रूप—विक्रियाओं को करने में समर्थ शरीर को वैक्रिय शरीर कहते हैं। यह वैक्रिय वर्गणाओं के पुद्गलों से रचित शरीर है। देवों का शरीर ऐसा ही होता है।

यह शरीर स्वाभाविक और लब्धिकृत दोनों प्रकार का होता है।

(८) जिस नामकर्म से निर्मल आहारक शरीर मिलता है उसे 'शुभ आहारक शरीर नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

आहारक शरीर चौदह पूर्वधर लब्धिधारी मुनियों के होता है। संशय होने पर उसके निवारण के लिए अन्य क्षेत्र में स्थित तीर्थङ्कर अथवा केवलज्ञानी के पास जाने के लिए वह अपनी लब्धि द्वारा हस्तप्रमाण तेजस्वी शरीर धारण करता है। यह शरीर आहारक वर्गणा के पुद्गलों से रचित होता है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है।

(९) जिस नामकर्म से निर्मल तैजस शरीर की प्राप्ति होती है उसको 'शुभ तैजस शरीर नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

पाचन क्रिया करनेवाला शरीर तैजस शरीर कहलाता है। यह तैजस वर्गणा के पुद्गलों से रचित होता है। तेजोलेश्या और शीतलेश्या का कारण तैजस शरीर ही होता है।

(१०) जिस नामकर्म से निर्मल कार्मण शरीर की प्राप्ति होती है उसको 'शुभ कार्मण शरीर नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्म-प्रदेशों में प्रवेश कर कर्म रूप में परिणत होते हैं। इन कर्मों का समूह ही कार्मण शरीर है।

(११) जिस नामकर्म से औदारिक शरीर के अङ्गोपांग सुन्दर होते हैं उसको 'शुभ औदारिक अङ्गोपांग नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

(१२) जिस नामकर्म से वैक्रियक शरीर के अङ्गोपांग सुन्दर होते हैं उसको 'शुभ वैक्रियक शरीर अङ्गोपांग नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

(१३) जिस नामकर्म से आहारक शरीर के अङ्गोपांग सुन्दर होते हैं उसे 'शुभ आहारक अंगोपांग नामकर्म' कहते हैं (गा० १०)।

यह स्मरण रखना चाहिए कि अंगोपांग केवल औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों के ही होते हैं, तैजस और कार्मण शरीर के नहीं। जिस तरह जल का स्वयं का आकार नहीं होता पर वह बरतन (पात्र) के अनुसार आकार ग्रहण करता है उसी तरह तैजस और कार्मण शरीर का आकार अन्य शरीरों के आकार की तरह होता है। इसलिए उनके अंगोपांग नहीं होते।

(१४) जिस कर्म के उदय से प्रथम संहनन—वज्रऋषभनाराच की प्राप्ति होती है उसे 'शुभ वज्रऋषभनाराच नामकर्म' कहते हैं (गा० ११)।

अस्थियों के परस्पर गठन को संहनन कहते हैं। वज्र=कील। ऋषभ=पट। नाराच= मर्कटबन्ध। जहाँ अस्थियाँ मर्कट-बंध से बंधी हों, उनपर अस्थि का पट हो, बीच में अस्थि की कील हो—शरीर की अस्थियों का ऐसा बन्धन 'वज्रऋषभनाराच संहनन' कहलाता है। मोक्ष ऐसे संहननवाले व्यक्ति को ही मिलता है।

(१५) जिस नामकर्म के उदय से प्रथम संस्थान—'समचतुरस्र' की प्राप्ति होती है उसे 'शुभ समचतुरस्र संस्थान नामकर्म' कहते हैं (गा० ११)।

सम=समान। चतुर=चार। अस्रि=बाजू।

पर्यंकासन में स्थित होने पर जिस पुरुष के बायें कंधे और दाहिने घुटने, दाहिने कंधे और बायें घुटने, दोनों घुटनों के बीच का अन्तर तथा ललाट और पर्यंक के बीच का अन्तर—ये चारों अन्तर समान हों उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं।

(१६-१९) जिन नामकर्मों से शुभ वर्ण, शुभ गंध, शुभ रस और शुभ स्पर्श मिलते हों अथवा जिन कर्मों से शरीर के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श शुभ होते हों[1], उन कर्मों को क्रमशः 'शुभ वर्ण नामकर्म', 'शुभ गन्ध नामकर्म', 'शुभ रस नामकर्म' और 'शुभ स्पर्श नामकर्म' कहते हैं (गा० १२-१५)।

(२०) जिस नामकर्म के उदय से जीव में स्वतन्त्र रूप से चलने-फिरने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है उसे 'शुभ त्रस नामकर्म' कहते हैं। जिस जीव में धूप से छाया में और छाया से धूप में आने आदि रूप शक्ति हो वह त्रस जीव है (गा० १७)।

(२१) जिस नामकर्म के उदय से जीव का शरीर नेत्रों से देखा जा सके ऐसा स्थूल हो, उसे 'शुभ बादर नामकर्म' कहते हैं (गा० १७)।

(२२) जिस नामकर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे 'शुभ-प्रत्येक शरीरी नामकर्म' कहते हैं (गा० १८)।

(२३) जिस नामकर्म के उदय से जीव स्वयोग पर्याप्तियाँ पूरी कर सके—शरीर, इन्द्रियादि की पूर्णताएँ प्रात कर सके, उसे 'शुभ पर्याप्त नामकर्म' कहते हैं[2] (गा० १८)।

(२४) जिस नामकर्म के उदय से शरीरके अवयव दाँत, अस्थि आदि मजबूत हों उसे 'शुभ स्थिर नामकर्म' कहते हैं (गा० २१)।

(२५) जिस नामकर्म से जीव के नाभि से मस्तक तक के भाग—अंग शुभ हों उसे 'शुभ नामकर्म' कहते हैं (गा० १९)।

(२६) जिस नामकर्म से जीव सबका प्रिय होता है उसे 'शुभ सौभाग्य नामकर्म' कहते हैं (गा० २०)।

(२७) जिस नामकर्म के उदय से जीव को सुस्वर की प्राप्ति होती है, उसे 'शुभ सुस्वर नामकर्म' कहते हैं (गा० २०)।

१—श्री नवतत्त्वप्रकरणम् ६।१६ की वृत्ति 'वण्णचउक्क' त्ति यदुदयाज्जीवस्य शुभो वर्णः शुभो गन्धः शुभो रसः शुभः स्पर्शः स्यादिति वर्णचतुष्कम्।

२—वही : यदुदयादाहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासनिःश्वासभाषामनोभिः परिपूर्णता स्यात् तत्पर्याप्तनामकर्म

(२८) जिस नामकर्म के उदय से जीव का वचन आदेय—लोगों में मान्य हो उसे 'शुभ आदेय नामकर्म' कहते हैं (गा० २१)।

(२९) जिस नामकर्म के उदय से जीव को यश और कीर्त्ति की प्राप्ति होती है उसे 'शुभ यशकीर्त्ति नामकर्म' कहते हैं[1] (गा० २१)।

(३०) जिस नामकर्म के उदय से सर्वजीवोंका शरीर हल्का अथवा भारी नहीं होता उसे 'शुभ अगुरुलघु नामकर्म' कहते हैं (गा० २२)।

(३१) जिस नामकर्म के उदय से अपनी जीत और अन्य की हार होती है उसे 'शुभ पराघात नामकर्म' कहते हैं (गा० २२)।

(३२) जिस नामकर्म के उदय से जीव सुखपूर्वक श्वासोच्छ्वास ले सकता है उसे 'शुभ श्वासोच्छ्वास नामकर्म' कहते हैं (गा० २३)।

(३३) जिस नामकर्म के उदय से जीव स्वयं शीतल होते हुए भी उष्ण तापयुक्त होता है उसे 'शुभ आतप नामकर्म' कहते हैं[2] (गा० २३)।

(३४) जिस नामकर्म से जीव शीतल प्रकाशयुक्त होता है उसे 'शुभ उद्योत नामकर्म' कहते हैं (गा० २४)।

(३५) जिस नामकर्म से जीव को हंस आदि जैसी सुन्दर चाल—गति प्राप्त होती है उसे 'शुभ (विहायो) गति नामकर्म' कहते हैं (गा० २४)।

(३६) जिस नामकर्म से जीव का शरीर फोड़े - फुन्सियों से रहित होता है उसे 'शुभ निर्माण नामकर्म' कहते हैं ; अथवा जिस कर्म से जीव के अवयव यथास्थान व्यवस्थित होते हैं वह 'शुभ निर्माण नामकर्म' है[3] (गा० २५)।

(३७) जिस नामकर्म के उदय से तीर्थङ्करत्व प्राप्त होता है उसे 'शुभ तीर्थङ्कर नामकर्म' कहते हैं (गा० २५)।

६—स्वामीजी का विशेष मन्तव्य (ढाल गा० २६-२९) :

स्वामीजी के मत से कुछ तिर्यञ्चों की गति और आनुपूर्वी शुभ है और इसलिए पुण्य की प्रकृति मानी जानी चाहिए। उदाहरणस्वरूप युगलिया आदि तिर्यञ्चों की। इसी तरह प्रथम संहनन और प्रथम संस्थान के सदृश अस्थियाँ और आकार विशेष जिस संहनन और

१—'शुभ त्रस नामकर्म' से लेकर 'शुभ यशकीर्त्ति नामकर्म' तक (२०-२९) त्रसदशक कहलाता है।

२—श्री नवतत्त्वप्रकरणम् ६।१६ की वृत्ति : यदुदयाद्रविबिम्बे तापवच्छरीरं भवति तत्सूर्यबिम्बस्यातपनामकर्म्म।

३—वही : यदुदयात् स्वस्वस्थानेषु चक्षुराद्यङ्गोपाङ्गानां निष्पत्तिस्तन्निर्माणनामकर्म

संस्थान में हो उन्हें भी पुण्योत्पन्न मानना चाहिए। क्योंकि पुण्योदय के बिना वैसी अस्थियों और आकारों का होना सम्भव नहीं मालूम देता। स्वामीजी कहते हैं—"मैंने जो कहा है वह अपनी बुद्धि से विचार कर कहा है। अन्तिम प्रमाण तो केवलज्ञानी के वचनों को ही मानना चाहिए।"

१०—उच्च गोत्र कर्म (ढाल गा० ३०-३१) :

जिस कर्म के उदय से उच्चकुल आदि की प्राप्ति होती है उसे 'उच्च गोत्र कर्म' कहा गया है। उच्च देव और उच्च मनुष्य उच्च गोत्र कर्मवाले होते हैं।

उच्च गोत्र कर्म से कई प्रकार की विशेषतायें प्राप्त होती हैं—जाति-विशिष्टता, कुल-विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तपोविशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता और ऐश्वर्य-विशिष्टता। इस कर्म के उदय से मनुष्य को जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य विषयक सम्मान व प्रतिष्ठा मिलती है।

ढाल गाथा ३१ के साथ चार शुभ कर्मों का विवेचन समाप्त होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में साता वेदनीयकर्म, शुभ आयुष्यकर्म, शुभ नामकर्म, उच्च गोत्रकर्म के उपरांत सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, रति, पुरुष वेद इन प्रकृतियों को भी पुण्यरूप कहा गया है :

"सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्" (८.२६).

दिगम्बरीय परम्परा में इस सूत्र के स्थान में दो सूत्र हैं—**"सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्"** (२५) और **"अतोऽन्यत् पापम् (२६)"**। इनसे स्पष्ट है कि यह परम्परा सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, रति और पुरुषवेद को पुण्य प्रकृति स्वीकार नहीं करती।

इस विषय में प्रज्ञाचक्षु पण्डित सुखलालजी लिखते हैं : "श्वेताम्बरीय परम्परा के प्रस्तुत सूत्र में पुण्यरूप से निर्देशित सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद ये चार प्रकृतियाँ दूसरे ग्रन्थों में वर्णित नहीं हैं। इन चार प्रकृतियों को पुण्य स्वरूप मानने वाला मत-विशेष बहु प्राचीन हो ऐसा लगता है; कारण कि प्रस्तुत सूत्र में प्राप्त उसके उल्लेख के उपरान्त भाष्य वृत्तिकार ने भी मतभेद दर्शानेवाली कारिकाएँ दी हैं और लिखा है कि इस मंतव्य का रहस्य सम्प्रदाय का विच्छेद होने से हम नहीं जानते, चौदह पूर्वधर जानते होंगे[१]।"

१—तत्त्वार्थसूत्र (गु० तृ० आ०) सू० ८, २६ की पाद टिप्पणी पृ० ३४२।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पुण्य कर्म की सर्वमान्य प्रकृतियाँ ४२ ही हैं :

१—सातावेदनीय कर्म की	१	(गा० ५)
२—शुभ आयुष्य कर्म की	३	(गा० ७)
३—शुभ नामकर्म की	३७	(गा० ९-२५)
४—उच्च गोत्रकर्म की	१	(गा० ३०)
	कुल ४२	

इन ४२ प्रकृतियों का उल्लेख संक्षेप में इस प्रकार मिलता है :

सा-उच्चगोअ-मणुदुग - सुरदुग - पंचिंदिजाइ - पणदेहा ।
आइतितणुवंगा, आइमसंघयण-संठाणा ॥
वण्णचउक्का - गुरुलघु - परघा - ऊसास - आयवुज्जोअं ।
सुभखगइ - निमिण-तसदस - सुरनरतिरिआउ-तित्थयरं ॥
तस-बायर-पज्जत्तं पत्तेयं थिरं सुभं च सुभगं च ।
सुस्सर - आइज्ज - जसं, तसाइदसगं इमं होइ[1] ॥

११—कर्मों के नाम गुणनिष्पन्न हैं (गा० ३२-३४) :

कर्म का नाम उसकी प्रकृति—गुण के अनुरूप होता है। उदाहरण स्वरूप जो सात (सुख) उत्पन्न करता है वह सातावेदनीय कर्म कहलाता है। जिसके जैसा कर्म उदय में होता है वैसा ही उसको फल मिलता है। जैसे जिसके सातावेदनीय कर्म का उदय है उसे सुख की प्राप्ति होती है। जिस मनुष्य के जिस कर्म के उदय से जैसा गुण उत्पन्न होता है उसीके अनुसार उसकी संज्ञा होती है। जैसे सातावेदनीय कर्म के उदय से जिस जीव को सुख होता है वह सुखी कहलाता है। यही बात सब कर्मों के विषय में समझनी चाहिए।

कर्म पुद्गल की पर्यायें हैं। पुद्गलों के—कर्मों के—जो सातावेदनीय आदि भिन्न-भिन्न नाम हैं वे जीव के साथ पुद्गलों के सम्बन्ध से घटित हैं।

जीव सुस्वर, आदेय वचन वाला, तीर्थङ्कर आदि कहलाता है इसका कारण यह है कि वह पुद्गलों के द्वारा शुद्ध बना है।

१—नवतत्त्व प्रकरण (विवेचन सहित) ११, १२, १३

पुद्गल के जो शुभ नाम है जैसे 'तीर्थङ्कर नाम कर्म', 'उच्चगोत्र नामकर्म' वे इस कारण से हैं कि इन पुद्गलों ने जीव को शुद्ध—स्वच्छ किया है।

जिन पुद्गलों के संयोग से जीव सुखी, तीर्थङ्कर आदि कहलाता है वे कर्म भी उत्तम संज्ञा से घोषित किये जाते हैं—उन्हें पुण्य कहा जाता है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि पुद्गल जीव से पर वस्तु है, पुद्गल-संबद्ध होने से ही जीव को संसार-भ्रमण करना पड़ता है फिर पुद्गल से जीव के शुद्ध होने की बात किस तरह घटती है? इसका उत्तर इस प्रकार है : जिस तरह तालाब में गन्दा जल रहने से वह गंदा कहलाता है और स्वच्छ जल रहने से स्वच्छ। उसी तरह पाप कर्मों से जीव मलिन कहलाता है और पुण्य कर्मों से शुद्ध। जिस तरह स्वच्छ या अस्वच्छ जल के सूखने पर ही तालाब रिक्त होता है और भूमि प्रगट होती है वैसे ही शुद्ध-अशुद्ध दोनों प्रकार के कर्म पुद्गलों के क्षय होने से ही जीव शुद्ध-स्वभाव अवस्था में प्रगट होता है। इस तरह पुण्य कर्मों से जीव के शुद्ध होने की बात पापकर्मों के परिशाटन की अपेक्षा से है।

पुण्य का अर्थ है—जो आत्मा को पवित्र करे[1]। अशुभ—पाप कर्मों से मलिन हुई आत्मा क्रमशः शुभ कर्मों का—पुण्य कर्मों का अर्जन करती हुई पवित्र होती है गन्दी नहीं रहती, स्वच्छ होती है। जैसे कुपथ्य आहार से रोग बढ़ता है, पथ्य आहार से रोग घटता है और पथ्य-अपथ्य दोनों प्रकार के आहार का त्याग करने से जीव शरीर से रहित होता है वैसे ही पाप से दुःख होता है, पुण्य से सुख होता है, और पुण्य-पाप दोनों से रहित होने से मोक्ष होता है।

१२—पुण्य कर्म के फल (गा० ३५-४५) :

किस प्रकृति के पुण्य कर्म से किस बात की प्राप्ति होती है, इसका विवेचन (गा० ४ से ३१ में) कर चुकने के बाद प्रस्तुत गाथाओं में स्वामीजी ने पुण्योदय से प्राप्त होने वाले सुखों का सामान्य वर्णन किया है। उपसंहारात्मक रूप से स्वामीजी कहते हैं : "पुण्योदय से ही जीवों को (१) उच्च पदवियाँ; (२) संयोगिक सुख; (३) शारीरिक स्वस्थता; (४) बल और वैभव; (५) सुख-संपदा और समृद्धि; (६) सर्व प्रकार के परिग्रह; (७) सुशील, सुन्दर और विनयी स्त्री और संतान तथा पारिवारिक सुख और (८) सुन्दर

१—पुन्यं नाम पुनाति आत्मानं पवित्रीकरोतीति पुन्यः

होते हैं।"

स्वामीजी पुनः कहते हैं : "इतना ही नहीं देवगति और पल्योपम सागरोपम के दिव्य सुख भी पुण्य के ही फल हैं।"

पुण्योदय से प्राप्त सांसारिक सुखों की यह परिगणना उदाहरण स्वरूप है। जो भी सांसारिक सुख हैं वे पुण्य के फल हैं। सुन्दर शरीर रूप से, सुन्दर इन्द्रिय रूप से; सुन्दर वर्णादि रूप से, सुन्दर उपयोग---परिभोग पदार्थों के रूप में और इसी तरह अन्य अनेक रूप से पुद्गलों का शुभ परिणमन पुण्योदय के कारण ही होता है। पुण्योदय से शुभ रूप में परिणमन कर पुद्गल जीव को संसार में नाना प्रकार के सुख देते हैं; जिनकी गिनती सम्भव नहीं।

स्वामीजी का उपर्युक्त कथन उत्तराध्ययन के अध्ययन ३ से समर्थित है। वहाँ कहा गया है :

"उत्कृष्ट शील के पालन से जीव उत्तरोत्तर विमान वासी देव होते हैं; सूर्य-चन्द्र की तरह प्रकाशमान होते हुये वे मानते हैं कि हमारा यहाँ से च्यवन नहीं होगा। देव संबंधी सुख प्राप्त हुये और इच्छानुसार रूप बनाने की शक्तिवाले देव सैकड़ों पूर्व वर्षों तक विमानों में रहते हैं। वे देव अपने स्थान का आयु-क्षय होने पर वहाँ से च्यवकर मनुष्य योनि प्राप्त करते हैं; वहाँ उन्हें दस अंगों की प्राप्ति होती है। क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, पशु और दास-दासी—ये चार काम स्कन्ध प्राप्त होते हैं। वह मित्र, ज्ञाति और उच्च गोत्रवाला होता है। वह सुन्दर, निरोग, महाबुद्धिशाली, सर्वप्रिय, यशस्वी और बलवान होता है[1]।"

इसी सूत्र में अन्यत्र कहा है[2] :

"गृहस्थ हो या साधु, सुव्रतों का पालन करनेवाला देवलोक में जाता है। गृहवासी सुव्रती औदारिक शरीर को छोड़कर देवलोक में जाता है। जो संवृत भिक्षु होता है वह या तो सिद्ध होता है या महाऋद्धिशाली देव। वहाँ देवों के आवास उत्तरोत्तर ऊपर रहे हुये हैं। वे आवास स्वल्प मोहवाले द्युतिमान देवों से युक्त हैं। वे देव दीर्घ आयुवाले ऋद्धिमत, तेजस्वी, इच्छानुसार रूप बनानेवाले, नवीन वर्ण के समान और अनेक सूर्यों

१—उत्त० ३.१४-१८

२—उत्त० ५.२२, २४-२८

की दीप्तिवाले होते हैं। गृहस्थ हों या भिक्षु जिन्होंने कषायों को शान्त कर दिया है, वे संयम और तप का पालन कर देवलोक में जाते हैं।"

१३—पौद्‌गलिक सुखों का वास्तविक स्वरूप (गा० ४६-५१) :

पुण्य से प्राप्त सुखों का वर्णन कर स्वामीजी प्रस्तुत गाथाओं में सार रूप से कहते हैं—"इन सुखों को जो सुख कहा गया है वह संसारापेक्षा से। इस संसार में जो नाना प्रकार के दुःख हैं उनकी अपेक्षा से ये सुख हैं। यदि उनकी तुलना मोक्ष-सुखों—आत्मिक सुखों से की जाय तो ये सुखाभास रूप ही प्रतीत होंगे।" यही बात स्वामीजी ने प्रारम्भिक दोहों में कही है। इस पर टिप्पणी १(३),(४) में कुछ प्रकाश डाला जा चुका है।

पौद्‌गलिक सुख और मोक्ष-सुख का पार्थक्य इस प्रकार है :

(१) पौद्‌गलिक सुख सापेक्ष होते हैं। एक अवस्था में अच्छे लगते है दूसरी में वैसे नहीं भी लगते। जैसे जो भोजन निरोगावस्था में स्वादिष्ट लगता है वही रोगावस्था में रुचिकर नहीं होता। मुक्त आत्मा के सुख निरंतर सुख रूप होते हैं।

(२) पौद्‌गलिक सुख स्थायी नहीं होते, प्राप्त होकर चले भी जाते हैं। मुक्ति के सुख स्थायी हैं; एक बार प्राप्त होने पर त्रिकाल स्थिर रहते हैं।

(३) पौद्‌गलिक सुख विभाव अवस्था—रुग्णावस्था के सुख हैं; मोक्ष-सुख शुद्ध आत्मा का सहज स्वाभाविक आनन्द है।

जिस तरह पाण्डु रोग वाले व्यक्ति को सभी वस्तुयें पीली ही पीली नजर आती हैं हालाँकि वे वैसी नहीं होतीं वैसे ही इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्धित पौद्‌गलिक सुख मोह-ग्रस्त मनुष्य को सुख रूप लगते हैं हालांकि वे वास्तव में वैसे नहीं होते। विषय सुखों में मधुरता और आनन्द का अनुभव जीव की विकारग्रस्त अवस्था का सूचक है जबकि मोक्ष-सुख आत्मा की स्वाभाविक स्थिति का परिणाम है।

स्वामीजी ने इसे एक मौलिक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। पाँव-रोगी को खुज-लाना सुखप्रद होता है। जैसे खुजलाना पाँव-रोग के कारण सुख रूप मालूम देता है वैसे ही वैषयिक—पौद्‌गलिक सुख कभी सुखप्रद नहीं होते पर मोहग्रस्त आत्मा को मधुर लगते हैं।

(४) पौद्‌गलिक सुख जीव के साथ पुण्य रूपी पुद्‌गल के संयोग के कारण उत्पन्न होते हैं—वे पुण्योदय से होते हैं पर आत्मिक सुख जीव के साथ परवस्तु के संयोग से उत्पन्न

नहीं होते। आत्मा के प्रदेशों से परवस्तु के एकान्त क्षय होने पर अपने आप वस्तु धर्म के रूप में प्रगट होते हैं अतः स्वाभाविक हैं।

(५) सांसारिक सुखों का आधार पौद्गलिक वस्तुएँ होती हैं। इन सुखों के अनुभव के लिये पुद्गलों के भोग की आवश्यकता रहती है। मोक्ष सुख में ऐसी बात नहीं है। उसमें बाह्याधार की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरण स्वरूप पौद्गलिक सुख वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और शब्द संबंधी भोग उपभोग से सम्बन्ध रखते हैं जबकि मोक्ष सुख के लिये इन भोगोपभोग वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। वे आत्मज्ञान में सहज रमणरूप हैं। इस तरह एक सापेक्ष है और दूसरा निरपेक्ष।

(६) पौद्गलिक सुख नाशवान है। 'कुसग्गमित्ता इमे कामा' (उत्त० ७ : २४)—काम भोग कुशाग्र पर स्थित जलबिन्दु के समान अस्थिर हैं। इष्ट वस्तुओं का क्षण-क्षण वियोग देखा जाता है। यह वियोग स्वयं दुःख रूप है। शरीर और इन्द्रियों के स्वयं नाशवान होने से उनसे प्राप्त सुख भी नाशवान हैं। आत्मिक सुख इन्द्रिय जन्य नहीं होते और इसलिये शाश्वत हैं। आत्मा अमूर्त है। वह नित्य पदार्थ है। अधिक सुख उसका निजी गुण है। आत्मा की तरह उसका गुण भी अमर है। आत्मिक सुख अर्थात् शुद्धात्मा का सुख। वह आत्मा के आवरण के क्षय होने से प्रगट होता है, अतः वह सुख आत्मा की तरह ही अक्षय, अव्यय, अव्याबाध और अनन्त है।

(७) पौद्गलिक सुख भोगते समय अच्छे लगते हैं परन्तु फलावस्था में दुःखदायी होते हैं। जैसे किंपाक फल वर्ण, गंध, रस और स्पर्श में सुन्दर और खाने में स्वादिष्ट होता है पर पचने पर प्राणों को ही हरण कर लेता है, वैसे ही पौद्गलिक सुख भोगते समय सुख-प्रद लगते हैं पर विपाक अवस्था में दारुण दुःख देते हैं[1]। उनके सुख क्षणिक हैं और दुःख की परम्परा अनन्त है[2]। मोक्ष सुख जैसे आरम्भ में होते हैं वैसे ही अन्त में होते हैं। वे हमेशा सुख रूप होते हैं।

१—उत्त० ३२. २०

जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे॥

२—उत्त० १४. १३

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥

संक्षेप में "इन्द्रियों से लब्ध सुख दुःख रूप ही हैं क्योंकि वे पराधीन हैं, बाधा सहित हैं, विच्छिन्न हैं; विषम हैं और बंधन के कारण हैं। वे आत्म-समुत्थ —विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अव्युच्छिन्न नहीं होते[1]।"

इस तरह स्वयंसिद्ध है कि पौद्गलिक सुख वास्तविक सुख रूप नहीं केवल सुखाभास हैं।

१४—पुण्य की वाञ्छा से पाप का बंध होता है (गा० ५२-५३) :

स्वामीजी ने इस ढाल के चौथे दोहे में कहा है : 'पुन पदारथ शुभ कर्म छै, तिणरी मूल न करणी चाय।' पुण्य की इच्छा क्यों नहीं करनी चाहिए—इसी बात को यहाँ विशेष रूप से स्पष्ट किया है।

पुण्य की कामना का अर्थ क्या है ? उसका अर्थ है कामभोगों की इच्छा करना, विषय-सुखों को भोगने की इच्छा करना। जो कामभोग—विषय-सुखों को पाने या भोगने की इच्छा करता है उसके एकान्त पाप का बंधन होता है, यह सहज ही बोध-गम्य है। इससे संसार में बार-बार जन्म-मरण करना पड़ता है। भव-भ्रमण की परम्परा बढ़ती है। संसार की वृद्धि होती है। नरक-निगोद के दुःख भोगने पड़ते हैं। विषय-सुख की कामना से उलटा वियोग-जनित दुःख होता है।

उत्तराध्ययन में कहा है '**भोगा...विसफलोवमा** ?' भोग विषफल की तरह हैं। '**पच्छा कडुयविवागा**' वे भोग के समय मधुर लगते हैं पर विपाकावस्था में उनका फल कटुक होता है। '**अणुबंधदुहावहा**[2]' भोग परंपरा दुःख के कारण है। उसी सूत्र में कहा है—'**जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई**[3]।'—जो कामभोग में गृद्ध होता है वह अकेला नरक में जाता है।

स्वामीजी ने जो कहा है उसका आधार ऐसे ही आगम-वाक्य हैं।

१५—पुण्य-बंध के हेतु (गा० ५४-५६) :

इन गाथाओं में स्वामीजी ने निम्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं :

(१) पुण्य की कामना से पुण्य उत्पन्न नहीं होता। वह धर्म-करनी का सहज फल है।

१—(क) प्रवचनसार १.७६

(ख) वही १.१३

२—उत्त० १६.११

३—उत्त० ५.५

(२) निरवद्य योग, भली लेश्या, भले परिणाम से निर्जरा होती है, पुण्य आनुषंगिक रूप से सहज ही लगते हैं।

(३) निर्जरा की करनी से ही पुण्य लगते हैं[1]। पुण्य प्राप्त करने की अन्य क्रिया नहीं है।

स्वामी कार्तिकेय लिखते हैं : "क्षमा, मार्दव आदि दश प्रकार के धर्म पापकर्म का नाश करनेवाले और पुण्य कर्म को उत्पन्न करनेवाले कहे गये हैं परन्तु पुण्य के प्रयोजन-इच्छा से इन्हें नहीं करना चाहिए। जो पुण्य को भी चाहता है वह पुरुष संसार ही को चाहता है क्योंकि पुण्य सुगति के बंध का कारण है और मोक्ष पुण्य के भी क्षय से होता है। जो कषाय सहित होता हुआ विषय सुख की तृष्णा से पुण्य की अभिलाषा करता है उसके विशुद्धता दूर है। पुण्य विशुद्धिमूलक हैं—विशुद्धि से ही उत्पन्न होते हैं। क्योंकि पुण्य की वांछा से तो पुण्य बंध होता नहीं और वांछारहित पुरुष के पुण्य का बंध होता है ऐसा जानकर यतीश्वरो ! पुण्य में आदर (वांछा) मत करो।"

स्वामीजी के मन्तव्य और स्वामी कार्तिकेय के मन्तव्य में केवल वस्तु-विषयक समानता ही नहीं शब्दों की भी आश्चर्यजनक समानता है।

श्लोक ४०८[2] का भावार्थ देते हुए पं० महेन्द्रकुमारजी जैन लिखते हैं :

"सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र तो पुण्यकर्म कहे गये हैं। चार घातिया कर्म, असाता वेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ आयु और अशुभ गोत्र ये पापकर्म कहे गये हैं। दस लक्षण धर्म (क्षमा, मार्दव आदि) को पाप का नाश करनेवाला और पुण्य को उत्पन्न करनेवाला कहा है सो केवल पुण्योपार्जन का अभिप्राय रख कर। इनका सेवन उचित नहीं क्योंकि पुण्य भी बंध ही है। ये धर्म तो पाप जो घातिया कर्म हैं उनका

१—द्वादशानुप्रेक्षा ४०८-४११

> एदे दहप्पयारा, पावकम्मस्स णासिया भणिया।
> पुण्णस्स य संजयणा, पर पुण्णत्थं ण कायव्वा॥
> पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि।
> पुण्णं सग्गइ हेउं, पुण्णखयेणेव णिव्वाणं॥
> जो अहिलसेदि पुण्णं, सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
> दूरे तस्स विसोही, विसोहिमूलाणि पुण्णाणि॥
> पुण्णासए ण पुण्णं, जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती।
> इय जाणिऊण, जइणो, पुण्णेवि म आयरं कुणह॥

२—पाद-टि० १ का प्रथम श्लोक

नाश करनेवाले हैं और अघातियों में अशुभ प्रकृतियों का नाश करते हैं। पुण्यकर्म संसार के अभ्युदय को देते हैं इसलिए इनसे (दस धर्म से) पुण्य का भी व्यवहार अपेक्षा बंध होता है सो स्वयमेव होता ही है, उसकी वांछा करना तो संसार की वांछा करना है और ऐसा करना तो निदान हुआ, मोक्षार्थी के यह होता नहीं है। जैसे किसान खेती अनाज के लिए करता है उसके घास स्वयमेव होती है उसकी वांछा क्यों करे ? वैसे ही मोक्षार्थी को पुण्य बंध की वांछा करना योग्य नहीं[1] ।"

यह स्वामीजी के उद्‌गारों पर सहज सुन्दर टीका है।

मन, वचन, काया की निष्पाप-प्रवृत्ति को शुभ योग या निरवद्य योग कहते हैं।

आत्मा की एक प्रकार की वृत्ति विशेष को लेश्या कहते हैं। लेश्याएँ छ: हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल। प्रथम तीन लेश्याएँ अधर्म लेश्याएँ कहलाती हैं और अन्तिम तीन धर्म लेश्याएँ। अधर्म लेश्याएँ दुर्गति की कारण हैं और धर्म लेश्याएँ सुगति की।

साश्रव, अगुप्त, अविरत, तीव्र आरम्भ में परिणत आदि योगों से समायुक्त मनुष्य कृष्ण लेश्या के परिणामवाला ; ईर्ष्यालु, विषयी, रसलोलुप, प्रमत्त, आरम्भी आदि योगों से समायुक्त मनुष्य नील लेश्या के परिणामवाला ; और वक्र, कपटी, मिथ्यादृष्टि, आदि योगों से समायुक्त मनुष्य कापोत लेश्या के परिणामवाला होता है।

नम्र, अचपल, दान्त, प्रियधर्मी, दृढ़धर्मी, पापभीरू, आत्महितैषी आदि योगों से समायुक्त पुरुष तेजो ; प्रशांतचित्त, दान्तात्मा, जितेन्द्रिय आदि योगों से समायुक्त पुरुष पद्म ; और आर्त्त तथा रौद्रध्यान को त्याग धर्म और शुक्लध्यान को ध्यानेवाला आदि योगों से समायुक्त व्यक्ति शुक्ल लेश्या में परिणमन करनेवाला होता है।

परिणाम दो तरह के होते हैं—शुभ अथवा अशुभ। परिणाम अर्थात् आत्मा के अध्यवसाय।

स्वामीजी कहते हैं निरवद्य योग, धर्म लेश्या और शुभ परिणामों से कर्मों की निर्जरा होती है, संचित पाप-कर्म आत्म प्रदेशों से दूर होते हैं। ऐसे समय पुण्य स्वयमेव आत्म-प्रदेशों में गमन करते हैं। पुण्य कर्मों के लिए स्वतन्त्र क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। शुभ भोग से जब निर्जरा होती है तो आत्मप्रदेशों के कम्पन से आनुषंगिक रूप से पुण्य कर्मों का बंध होता है।

१—द्वादशानुप्रेक्षा पृ० २८३-४

पुण्य की कामना का अर्थ है—कामभोगों की कामना। कामभोगों की कामना करना अविरति है, आर्त्तध्यान है, अनात्मानता भाव है, आत्मभाव को छोड़ परभाव में रमण है। वह न निरवद्य योग है, न शुभ लेश्या है और न शुभ परिणाम। किन्तु सावद्य योग, अशुभ लेश्या और अशुभ परिणाम है। इससे पुण्य नहीं होता, पाप का बंध होता है।

१६—पुण्य काम्य क्यों नहीं (गा० ५७-५८) :

इन गाथाओं में स्वामीजी ने दो बातें कही हैं :

(१) पुण्य चतुःस्पर्शी कर्म है। उसकी वाञ्छा करनेवाला कर्म और धर्म का अन्तर नहीं जानता।

(२) पुण्य प्राप्त करने की कामना से जो निर्जरा की क्रिया करता है वह करनी को खोता है और इस मनुष्य भव को हारता है।

जो आत्मा को कर्मों से रिक्त करे वह धर्म है[1]। संयम और तप धर्म के ये दो भेद हैं[2]। संयम से नये कर्मों का आस्रव रुकता है, तप से संचित कर्मों का परिशाटन होकर आत्मा परिशुद्ध होती है[3]। धार्मिक पुरुष संयम और तप के द्वारा कर्मक्षय में प्रयत्नशील होता है[4]। जो पुण्य की कामना करता है वह उलटा कर्मार्थी है। क्योंकि पुण्य और कुछ नहीं चतुःस्पर्शी कर्म हैं[5]। जो पुण्य की कामना करता है वह संसार की

१—उत्त० २८. ३३ :

एवं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं ॥

२—उत्त० १९. ७७ :

एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥

३—उत्त० २९ प्र० २६-२७

संजमएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? संजमएणं अणण्हयत्तं जणयइ ।
तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? तवेणं वोदाणं जणयइ ॥

४—उत्त० ३३. २५ :

तम्हा एएसि कम्माणं, अणुभागा वियाणिया ।
एएसि संवरे चेव, खवणे य जए बुहो ॥

५—पुण्य किस तरह पुद्गल की पर्याय है यह पहले (टिप्पणी २ पृ० १५४) बताया जा चुका है। कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये आठ स्पर्श हैं। ये आठों स्पर्श पुद्गल में एक साथ नहीं रहते। कर्कश मृदु में से कोई एक, गुरु लघु में से कोई एक, शीत उष्ण में से कोई एक, स्निग्ध रूक्ष में से कोई एक, इस तरह चार स्पर्श उत्कृष्ट में एक साथ रह सकते हैं। परमाणु में स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण इन चार स्पर्शों में से कोई दो अविरोधी स्पर्श होते हैं। कर्म-स्कंध में चार अविरुद्ध स्पर्श होते हैं

ही कामना करता है क्योंकि संसार-भ्रमण केवल पाप से ही नहीं होता पुण्य से भी होता है तथा मोक्ष भी पुण्य और पाप दोनों के क्षय से प्राप्त होता है[1]।

इस तरह स्पष्ट है कि पुण्यार्थी धर्म और कर्म के मर्म को नहीं जानता। जो रहस्य-भेदी आत्मार्थी है वह धर्म की कामना करेगा, कर्म की नहीं।

"जो पौद्गलिक कामभोगों की वांछा करता है वह मनुष्य-भव को हारता है"—स्वामीजी के इस कथन के पीछे उत्तराध्ययन के समूचे सातवें अध्ययन की भावना है। वहाँ कहा गया है : "जिस प्रकार खिला-पिला कर पुष्ट किया गया चर्बीयुक्त, बढ़े पेट और स्थूल देहवाला एलक पाहुन के लिए निश्चित होता है उसी प्रकार अधर्मिष्ट निश्चित रूप से नरक के लिए होता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य एक काकिणी के लिए हजार मुद्राएँ खो देता है, और कोई राजा अपथ्य आम खाकर राज्य को खो देता है उसी प्रकार देवों के कामभोगों से मनुष्यों के कामभोग तुच्छ हैं ; देवों के कामभोग और आयु मनुष्यों से हजारों गुण अधिक हैं। प्रज्ञावान की देवगति में अनेक नयुत वर्ष की स्थिति होती है, उस स्थिति को दुर्बुद्धि मनुष्य सौ वर्ष की छोटी आयु में हार जाता है। जिस प्रकार तीन व्यापारी मूल पूंजी लेकर गये। उनमें एक ने लाभ प्राप्त किया। दूसरा मूल पूंजी लेकर वापस आया। तीसरा मूलधन खोकर लौटा। मनुष्य-भव मूल पूंजी के समान है, देवगति लाभ के समान है। नरक और तिर्यञ्च गति मूल पूंजी को खोने के समान है। विषय-सुखों का लोलुपी मूर्ख जीव देवत्व और मनुष्यत्व को हार जाता है। वह हारा हुआ जीव सदा नरक और तिर्यञ्च गति में बहुत लम्बे काल तक दुःख पाता है जहाँ से निकलना दुर्लभ होता है[2]।"

१७—त्याग से निर्जरा—भोग से कर्म-बन्ध (गा० ५६)

स्थानाङ्ग में कहा है : "शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पाँच कामगुण हैं। जीव इन पाँच स्थानों में आसक्त होते हैं, रक्त होते हैं, मूर्च्छित होते हैं, गृद्ध होते हैं, लीन होते हैं और नाश को प्राप्त करते हैं।

१—उत्त० २१.२४

दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं, निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं, समुद्दपाले अपुणागमं गए॥

२—उत्त० ७. २,४,११-१६

"इन पाँच को अच्छी तरह न जाना हो, उनका त्याग न किया हो तो वे जीव के लिए अहित के कर्त्ता, अशुभ के कर्त्ता, असामर्थ्य को उत्पन्न करने वाले, अनिःश्रेयस के करने वाले और संसार को करने वाले होते हैं। इन पाँच को अच्छी तरह जाना हो, उनका त्याग किया हो तो वे जीव के लिए हित के कर्त्ता, शुभ के कर्त्ता, सामर्थ्य को उत्पन्न करने वाले, निःश्रेयस को करने वाले और सिद्धि को देने वाले होते हैं।

"इन पाँचों का त्याग करने से जीव सुगति में जाता है और त्याग न करने से दुर्गति में जाता है[1]।"

स्वामीजी का कथन इस आगम-वाक्य से पूर्णतः समर्थित है।

पुण्य से नाना प्रकार के ऐश्वर्य और सुख की वस्तुएँ और प्रसाधन मिलते हैं। जो इनका त्याग करता है उसके कर्मों का क्षय होता है, और साथ ही सहज भाव से पुण्य का बंधन होता है पर जो प्राप्त भोगों और सुखों का गृद्धि भाव से सेवन करता है उसके स्निग्ध कर्मों का बंधन होता है जिन्हें दूर करना महा कठिन कार्य होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है : "जो भोगासक्त होता है वह कर्म से लिप्त होता है। अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में भ्रमण करता है, अभोगी त्यागी जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।" "गीले और सूखे मिट्टी के दो गोले फेंके जाँय तो गीला दीवार से चिपक जाता है, सूखा नहीं चिपकता। वैसे ही कामभोगों में मूर्च्छित दुर्बुद्धि के कर्म चिपक जाते हैं। जो कामभोगों से विरक्त होते हैं उसके कर्म नहीं चिपकते[2]।"

१—ठाणांग : ५.१.३९० : पंच कामगुणा पं० तं०—सद्दा रूवा गंधा रसा फासा ३, पंचहिं ठाणेहिं जीवा सज्जंति तं० सद्देहिं जाव फासेहिं ४, एवं रज्जंति ५ मुच्छंति ६ गिज्झंति ७ अज्झोववज्जंति ८, पंचहिं ठाणेहिं जीवा विणिघायमावज्जंति, तं०—सद्देहिं जाव फासेहिं ९ पंच ठाणा अपरिण्णाता जीवाणं अहिताते असुभाते अखमाते अणिस्सेसाते अणाणुगामियत्ताते भवंति, तं०- सद्दा जाव फासा १०, पंच ठाणा सुपरिन्नाता जीवाणं हिताते सुभाते जाव आणुगामियत्ताए भवंति तं०—सद्दा जाव फासा ११, पंच ठाणा अपरिण्णाता जीवाणं दुग्गतिगमणाए भवंति तं०—सद्दा जाव फासा १२, पंच ठाणा परिण्णाया जीवाणं सुग्गतिगमणाए भवंति तं०—सद्दा जाव फासा १३

२—उत्त० २५.४१-४३ :

उवलेवो होइ भोगेसु अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे अभोगी विप्पमुच्चई॥
उल्लो सुक्खो य दो छूढा गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई॥
एवं लग्गन्ति दुम्मेहा जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति जहा से सुक्खगोलए॥

इसी सूत्र में अन्यत्र कहा है : "शब्दादि विषयों से निवृत्त नहीं होनेवाले का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। कामभोगों से निवृत्त होनेवाले का आत्मार्थ नष्ट नहीं होता[1]।"

अन्यत्र कहा है : "घर, मणि, कुण्डलादि आभूषण, गाय, घोड़ादि पशु और दास-दासी इन सबका त्याग करनेवाला कामरूपी देव होता है[2]।"

दिगम्बराचार्य भी ऐसा ही मानते हैं। इस विषय में आचार्य कुन्दकुन्द के कथन का सार इस प्रकार है :

"निश्चय ही विविध पुण्य-शुभ परिणाम से उत्पन्न होते हैं। ये देवों तक सर्व संसारी जीवों के विषयतृष्णा उत्पन्न करते हैं। पुनः उदीर्णतृष्ण, तृष्णा से दुःखित और दुःखसंतप्त वे विषय सौख्यों की आमरण इच्छा करते हैं और उनको भोगते हैं। सुरों के भी स्वभावसिद्ध सौख्य नहीं है। वे भी देह की वेदना से आर्त्त हुए रम्य विषयों में रमण—क्रीड़ा करते हैं। सुखों में अभिरत वज्रायुधधारी इन्द्र तथा चक्रवर्ती शुभ उपयोगात्मक भोगों से देहादि की वृद्धि करते हैं[3]।"

पाप से प्रत्यक्ष दुःख होता है और पुण्य से प्राप्त भोगों में आसक्ति से दुःख होता है। ऐसी स्थिति में "जो 'पुण्य और पाप इनमें विशेषता नहीं', इस प्रकार नहीं मानता वह मोहसंछन्न घोर, अपार संसार में भ्रमण करता है। जो विदितार्थ पुरुष द्रव्यों में राग अथवा द्वेष को नहीं प्राप्त होता वह देहोद्भव दुःख को नष्ट करता है[4]।"

१—उत्त० ७. २५-२६ :

इह कामाणियट्टस्स अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं जं भुज्जो परिभस्सई॥
इह कामाणियट्टस्स अत्तट्ठे नावरज्झई।
पूइदेहनिरोहेणं भवे देवि त्ति मे सुयं॥

२—उत्त० ६.५

गवासं मणिकुंडलं पसवो दासपोरुसं।
सव्वमेयं चइत्ताणं कामरूवी भविस्ससि॥

३—प्रवचनसार १. ७४, ७५, ७१, ७३,

४—वही १. ७७-७८

पुन पदारथ (ढाल : २)

दुहा

१—नव प्रकारे पुन नीपजे, ते करणी निरवद जांण।
बयांलीस प्रकारे भोगवे, तिणरी बुधवंत करजो पिछांण॥

२—पुन नीपजे तिण करणी मझे, तिहा निरजरा निश्चे जांण।
तिण करणी री छँ जिण आगना, तिण मांहे संक म आंण॥

३—केई साधू बाजे जैन रा, त्यां दीधी जिण मारग नें पूठ।
पुन कहे कुपातर नें दीयां, त्यांरी गई अभितर फूट॥

४—काचो पाणी अणगल पावे तेहनें, कहै छै पुन नें धर्म।
ते जिण मारग सूं वेगला, भूला अग्यांनी भर्म॥

५—साध विना अनेरा सर्व नें, सचित अचित दीयां कहे पुन।
वले नांव लेवे ठाणा अंग रो, ते तो पाठ विना छै अर्थ सुन॥

६—किणही एक ठांणा अंग मझे, घाल्यो छै अर्थ विपरीत।
ते पिण सगला ठाणा अंग में नहीं, जोय करो तहतीक॥

७—पुन नीपजे छै किण विधे, जोवो सूतर मांय।
श्री वीर जिणेसर भाषीयो, ते सुणजो चित्त ल्याय॥

पुण्य पदार्थ (ढाल : २)

दोहा

१—पुण्य नौ प्रकार से उत्पन्न होता है। जिस करनी से पुण्य होता है उसे निरवद्य जानो। पुण्य ४२ प्रकार से भोग में आता है। बुद्धिमान इसकी पहचान करे[1]।

पुण्य के नवों हेतु निरवद्य हैं

२—जिस करनी से पुण्य होता है उसमें निर्जरा भी निश्चय ही जानो। निर्जरा की करनी में जिन-आज्ञा है इसमें जरा भी शंका मत करो[2]।

पुण्य की करनी में निर्जरा की नियमा

३—कई जैन साधु कहलाने पर भी जिन-मार्ग को पीठ दिखाकर कुपात्र को दान देने में पुण्य बतलाते हैं। उनकी आभ्यंतरिक आँखें फूट चुकी हैं।

कुपात्र औरसचित्त दान में पुण्य नहीं (दो० ३-६)

४—जो बिना छाना हुआ कच्चा पानी पिलाने में पुण्य और धर्म बतलाते हैं वे जिन-मार्ग से दूर हैं। वे अज्ञानवश भ्रम में भूले हुए हैं।

५—साधु के अतिरिक्त अन्य सबको भी सचित्त-अचित्त देने में वे पुण्य कहते हैं और (अपने कथन की पुष्टि में) स्थानाङ्ग सूत्र का नाम लेते हैं; परन्तु मूल में ऐसा पाठ न होने से यह अर्थ शून्यवत् है।

६—ऐसा विपरीत अर्थ भी स्थानांग की किसी एक प्रति में घुसा दिया गया है परन्तु सब प्रतियों में नहीं है। देख कर जांच करो[3]।

७—पुण्य उपार्जन किस प्रकार होता है इसके लिए सूत्र देखो। सूत्रों में इस सम्बन्ध में वीर जिनेश्वर ने जो कहा है उसे चित्त लगा कर सुनो।

ढाल : २

[राजा रामजा हो रेण छ मासी —ए देशी]

१—पुन नीपजे सुभ जोग सूं रे लाल, सुभ जोग जिण आगना मांय हो। भविक जण।
ते करणी छै निरजरा तणी रे लाल, पुन सहिजां लागे छ आय हो॥ भविक जण॥
पुन नीपजे सुभ जोग सूं रे लाल॥

२—जे करणी करे निरजरा तणी रे लाल, तिणरी आगना देवे जगनाथ हो। भ०*।
तिण करणी करतां पुन नीपजे रे लाल, ज्यूं खाखलो गोहां रे हुवे साथ हो॥ भ०*पु०*॥

३—पुन नीपजे तिहां निरजरा हुवे रे लाल, ते करणी निरवद जांण हो।
सावद्य करणी में पुन नहीं नीपजे रे लाल, ते सुणज्यो चुतर सुजांण हो॥

४—हिंसा कीयां झूठ बोलीयां रे लाल, साधु नें देवे असुध अहार हो।
तिण सूं अल्प आउखो बंधे तेहनें रे लाल, ते आउखो पाप मझार हो॥

५—लांबो आउपो बंधे तीन बोल सूं रे लाल, लांबो आउपो छै पुन मांय हो।
ते हिंसा न करे प्राणी जीव री रे लाल, वले बोले नहीं मूसावाय हो॥

६—तथारूप श्रमण निग्रंथ नें रे लाल, देवे फासू निरदोष च्यारूं आहार हो।
यां तीनां बोलां पुन नीपजे रे लाल, ठाणा अंग तीजा ठाणा मझार हो॥

---

*बाद की प्रत्येक गाथा के अन्त में इसी तरह 'भविक जण' और 'पुन नीपजे सुभ

ढाल : २

१—पुण्य शुभ योग से उत्पन्न होता है। शुभ योग जिन आज्ञा में है। शुभ योग निर्जरा की करनी है; उससे पुण्य सहज ही आकर लगते हैं।

शुभ योग निर्जरा के हेतु हैं, पुण्य बंध सहज फल है

२—जिस करनी से निर्जरा होती है, उसकी आज्ञा स्वयं जिन भगवान देते हैं। निर्जरा की करनी करते समय पुण्य अपने ही आप उत्पन्न (संचय) होता है जिस तरह गेहूँ के साथ तुष।

निर्जरा के हेतु जिन-आज्ञा में हैं

३—जहाँ पुण्योपार्जन होगा वहाँ निर्जरा निश्चय ही होगी; जिस करनी से पुण्य की उत्पत्ति होगी वह निश्चय ही निरवद्य होगी। सावद्य करनी से पुण्य नहीं होता। (इसका खुलासा करता हूँ) चतुर और विज्ञ जन सुनें[४]।

जहाँ पुण्य होता है वहाँ निर्जरा और शुभ योग की नियमा है

४—स्थानाङ्ग सूत्र के तृतीय स्थानक में कहा है कि हिंसा करने से, झूठ बोलने से तथा साधु को अशुद्ध आहार देने से—इन तीन बातों से जीव के अल्प आयुष्य का बंध होता है। यह अल्प आयुष्य पाप कर्म की प्रकृति है।

अशुभ अल्पायुष्य के हेतु सावद्य हैं

५-६-वहीं कहा है कि जीवों की हिंसा न करने से, झूठ नहीं बोलने से और तथारूप श्रमण निर्ग्रन्थ को चारों प्रकार के प्रासुक निर्दोष आहार देने से—इन तीन बातों से दीर्घ आयुष्य का बंध होता है। यह दीर्घ आयुष्य पुण्य में है[५]।

शुभ दीर्घायु के हेतु निरवद्य हैं

७—हिंसा कीयां झूठ बोलीयां रे लाल, साधू नें हेले निंदे ताय हो।
आहार अमनोगम अपीयकारी दीये रे लाल, तो असुभ लांबो आउपो बंधाय हो॥

८—सुभ लांबों आउषो बंधे इण विधे रे लाल, ते पिण आउषो पुन मांय हो।
ते हिंसा न करे प्राणी जीव री रे लाल, वले बोले नहीं मूसावाय हो॥

९—तथारूप समण निर्ग्रंथ नें रे लाल, करे वंदणा नें नमसकार हो।
पीतकारी वेहरावें च्यारूं आहार नें रे लाल, ठाणा अंग तीजा ठांणा मझार हो॥

१०—एहीज पाठ भगोती सूतर मझे रे लाल, पांचमें सतक पष्ठम उदेश हो।
संका हुवे तो निरणों करो रे लाल, तिणमें कूड़ नहीं लवलेस हो॥

११—वंदणा करतां खपावे नीच गोत नें रे लाल, उंच गोत बंधे वले ताय हो।
ते वंदणा करण री जिण आगना रे लाल, उतराधेन गुणतीसमां मांय हो॥

१२—धर्मकथा कहै तेहनें रे लाल, बंधे किल्याणकारी कर्म हो।
उत्तराधेन गुणतीसमां अधेन में रे लाल, तिहां पिण निरजरा धर्म हो॥

१३—करे वीयावच तेहनें रे लाल, बंधे तीर्थंकर नाम कर्म हो।
उत्तराधेन गुणतीसमां अधेन में रे लाल, तिहां पिण निरजरा धर्म हो॥

१४—वीसां बोलां करेनें जीवड़ो रे लाल, करमां री कोड़ खपाय हो।
जब बांधे तीर्थंकर नाम कर्म ने रे लाल, गिनाता आठमा अधेन मांय हो॥

७—इसी तरह स्थानाङ्ग सूत्र के तृतीय स्थानक में कहा है कि हिंसा करने से, झूठ बोलने से, साधुओं की अवहेलना और निन्दा कर उनको अप्रिय, अमनोज्ञ (अरुचिकर) आहार देने से—इन तीन बातों से अशुभ दीर्घ आयुष्य का बंध होता है।

अशुभ दीर्घायुष्य के हेतु सावद्य हैं

८-९—वहीं कहा है कि हिंसा न करने से, मिथ्या न बोलने से और तथारूप श्रमण निग्रंथ को वन्दन-नमस्कार कर उसको चारों प्रकार के प्रीतिकारी आहार दान देने से शुभ दीर्घ आयुष्य कर्म का बंध होता है[६]। यह पुण्य है।

शुभ दीर्घायुष्य के हेतु निरवद्य हैं

१०—ऐसा ही पाठ भगवती सूत्र के पंचम शतक के षष्ठ उद्देशक में है। किसी को शंका हो तो देख कर निर्णय कर ले। इसमें जरा भी झूठ नहीं है[७]।

भगवती में भी ऐसा ही पाठ

११—वंदना करता हुआ जीव नीच गोत्र का क्षय करता है और उसके उच्च गोत्र कर्म का बंध होता है। वंदना करने की जिन आज्ञा है। उत्तराध्ययन सूत्र का २९ वाँ अध्ययन इसका साक्षी है[८]।

वंदना से पुण्य और निर्जरा दोनों

१२—उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में कहा है कि धर्म-कथा करते हुए जीव शुभ कर्म का बंध करता है। साथ ही वहाँ धर्म-कथा से निर्जरा होने का भी उल्लेख है[९]।

धर्म-कथा से पुण्य और निर्जरा दोनों

१३—उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में यह भी कहा है कि वैयावृत्य करने से तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध होता है। साथ ही वहाँ वैयावृत्य से निर्जरा होने का उल्लेख भी है[१०]।

वैयावृत्य से पुण्य और निर्जरा दोनों

१४—ज्ञाता सूत्र के आठवें अध्ययन में यह बात कही गई है कि जीव २० बातों से कर्मों की कोटि का क्षय करता है और उनसे उसके तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध होता है[११]।

जिन बातों से कर्म-क्षय होता है उन्हीं से तीर्थंकर गोत्र का बंध

१५—सुबाहू कुमर आदि दस जणा रे लाल, त्यां साधां नें असणादिक वेहराय हो।
त्यां बांध्यो आउखो मिनख रो रे लाल, कह्यो विपाक सुतर रे मांय हो॥

१६—प्राण भूत जीव सत्व नें रे लाल, दुःख न दे उपजावे सोग नांय हो।
अजुरणया नें अतिप्पणया रे लाल, अपिट्टणया परिताप नहीं दे ताय हो॥

१७—ए छ प्रकारे बंधे साता वेदनी रे लाल, उल्टा कीधां असाता थाय हो।
भगोती सतगंध सातमें रे लाल, छठा उदेसा मांय हो॥

१८—करकश वेदनी बंधे जीवरे रे लाल, अठारे पाप सेव्यां बंधाय हो।
नहीं सेव्यां बंधे अकरकश वेदनी रे लाल, भगोती सातमां सतक छठा मांय हो॥

१९—कालोदाई पूछ्यो भगवांन नें रे लाल, सुतर भगोती मांहि ए रेस हो।
किल्यांणकारी कर्म किण विध बंधे रे लाल, सातमें सतक दसमें उदेस हो॥

२०—अठारे पाप थानक नहीं सेवीयां रे लाल, किल्यांणकारी कर्म बंधाय हो।
अठारे पाप थानक सेवे तेह सूं रे लाल, बंधे अकिल्यांणकारी कर्म आय हो॥

२१—प्रांण भूत जीव सत्व नें रे लाल, बहु सबदे च्यांरूइ मांहि हो।
त्यांरी करे अणुकम्पा दया आणनें रे लाल, दुःख सोग उपजावे नांहि हो॥

२२—अजूरणया नें अतिप्पणया रे लाल, अपिट्टणया नें अपरिताप हो।
यां चवदे सं बंधे साता वेदनी रे लाल, यां उलटा सूं बंधे असाता पाप हो॥

१५—विपाक सूत्र में उल्लेख है कि सुबाहु कुमार आदि दस जनों ने साधुओं को अशनादि देकर मनुष्य-आयुष्य को बांधा[12]।

निरवद्य सुपात्र दान का फल : मनुष्य-आयुष्य

१६-१७-भगवती सूत्र के सातवें शतक के छठे उद्देशक में जिन भगवान ने ऐसा कहा है कि प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को दुःख नहीं देने से, शोक उत्पन्न नहीं करने से, न झूराने* से, वेदना न करने से, न पीटने से और प्रतापना न देने से इस तरह छः प्रकार से साता वेदनीय कर्म का बंध होता है और इसके विपरीत आचरण से असाता-वेदनीय कर्म का बंध होता है[13]।

साता वेदनीय कर्म के छः बंध हेतु निरवद्य हैं

१८—भगवती सूत्र के सातवें शतक के छठे उद्देशक में कहा है कि अठारह पापों के सेवन करने से कर्कश वेदनीय कर्म का बंध होता है और इन पापों के सेवन न करने से अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध होता है[14]।

कर्कश - अकर्कश वेदनीय कर्म के बंध हेतु क्रमशः सावद्य निरवद्य हैं

१९-२०-भगवती सूत्र के सातवें शतक के दसवें उद्देशक में कालोदाई ने भगवान से प्रश्न किया कि कल्याणकारी कर्मों का बंध कैसे होता है ? उत्तर में भगवान ने बतलाया कि अठारह पाप स्थानकों के सेवन नहीं करने से कल्याणकारी कर्म का बंध होता है और इन्हीं अठारह पाप स्थानकों के सेवन से अकल्याणकारी कर्म का बंध होता है[15]।

पापों के न सेवन से कल्याणकारी कर्म सेवन से अकल्याण-कारी कर्म

२१-२२-बहु प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व इनके प्रति दया लाकर अनुकम्पा करने से, दुःख उत्पन्न नहीं करने से, शोक उत्पन्न नहीं करने से, न झूराने से, न रुलाने से, न पीटने से और प्रतापना न देने से, इस प्रकार १४ बोलों से साता वेदनीय कर्म का बंध होता है[16]।

सातावेदनीय कर्म के बंध हेतुओं का अन्य उल्लेख

---

*दूसरों को दुःखी करना।

२३—माहा आरंभी नें माहा परिग्रही रे लाल, करे पंचिंद्रि नी घात हो।
मद मांस तणो भखण करै रे लाल, तिण पाप सूं नरक में जात हो॥

२४—माया कपट नें गूढ माया करे रे लाल, वले बोलै मूसावाय हो।
कूड़ा तोला नें कूड़ा माया करे रे लाल, तिण पाप सूं तिरजंच थाय हो॥

२५—प्रकत रो भद्रीक नें वनीत छै रे लाल, दया नें अमछर भाव जांण हो।
तिण सूं बंधे आउखो मिनख रो रे लाल, ते करणी निरवद पिछांण हो॥

२६—पाले सरागपणे साधूपणो रे लाल, वले श्रावक रा वरत बार हो।
बाल तपसा नें अकांम निरजरा रे लाल, यां सूं पामें सुर अवतार हो॥

२७—काया सरल भाव सरल सूं रे लाल, वले भाषा सरल पिछांण हो।
जेहवो करे तेहवो मुख सूं कहै रे लाल, यांसूं बंधे सुभ नाम कर्म जांण हो॥

२८—ए च्यारूं बोल बांका वरतीयां रे लाल, बंधे असुभ नाम करम हो।
ते सावद्य करणी छै पाप री रे लाल, तिणमें नहीं निरजरा धर्म हो॥

२९—जात कुल बल रूप नो रे लाल, तप लाभ सुतर ठाकुराय हो।
ए आठोई मद करे नहीं रे लाल, तिणसूं ऊंच गोत बंधाय हो॥

३०—ए आठोई मद करे तेहनें रे लाल, बंधे नीच गोत कर्म हो।
ते सावद्य करणी पाप री रे लाल, तिणमें नहीं पुन धर्म हो॥

२३—महा आरम्भ, महा परिग्रह, पंचेन्द्रिय जीव की घात तथा मद्य-मांस के भक्षण से पाप-संचय कर जीव नरक में जाता है[१७]।

नरकायु के बंध हेतु

२४—माया—कपट से, गूढ़ माया से, झूठ बोलने से, झूठे तोल, झूठे माप से जीव तिर्यञ्च (योनि में उत्पन्न) होता है[१८]।

तिर्यञ्चायु के बंध हेतु

२५—प्रकृति के भद्र और विनयवान होने से, दया से और अमात्सर्य भाव से जीव मनुष्य आयु का बंध करता है। भद्रता, विनय, दया और अकपट भाव ये निरवद्य कर्त्तव्य हैं[१९]।

मनुष्यायुष्य के बंध हेतु

२६—साधु के सराग चारित्र के पालन से, श्रावक के बारह व्रत रूप चारित्र के पालन से, बाल तपस्या और अकाम निर्जरा से सुर अवतार—देव-भव प्राप्त होता है[२०]।

देवायुष्य के बंध हेतु

२७-२८-कायिक सरलता से, भावों की सरलता से, भाषा की सरलता से तथा जैसी कथनी वैसी करनी से जीव शुभ नामकर्म का बंध करता है। इन्हीं चार बातों की विपरीतता से अशुभ नामकर्म का बंध होता है। कायिक कपटता आदि सावद्य कार्य हैं। ये पाप के हेतु हैं। इनसे निर्जरा नहीं होती[२१]।

शुभ-अशुभ नाम-कर्म के बंध हेतु

२९-३०-जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, सूत्र (की जानकारी) और ठकुराई इन आठों मदों (अभिमानों) के न करने से जीव के उच्च गोत्र का बंध होता है और इन्हीं आठों मदों के करने से नीच गोत्र का बंध होता है। मद करना सावद्य—पाप क्रिया है। इसमें धर्म (निर्जरा) और पुण्य नहीं है[२२]।

उच्च गोत्र और नीच गोत्र कर्म के बंध हेतु

३१ - ग्यांनावर्णी नें दर्सणावर्णी रे लाल, वले मोहणी नें अंतराय हो।
ये च्यांरूइ एकंत पाप कर्म छै रे लाल, त्यांरी करणी नहीं आग्या मांय हो॥

३२—वेदनी आउखो नांम गोत छै रे लाल, ए च्यांरूई कर्म पुन पाप हो।
तिणमें पुन री करणी निरवद कही रे लाल, तिणरी आग्या दे जिण आप हो॥

३३—ए भगवती सतक आठ में रे लाल, नवमां उदेसा मांय हो।
पुन पाप तणी करणी तणो रे लाल, ते जाणे समदिष्टी न्याय हो॥

३४ करणी करे नीहांणो नहीं करे रे लाल, चोखा परिणामां गुणवंत हो।
समाव जोग वरते तेहनो रे लाल, खिमा करे परीसह खमंत हो॥

३५—पांचूं इन्द्री नें वस कीयां रे लाल, वले माया कपट रहीत हो।
अणागत्यपणो ग्यांनादिक तणो रे लाल, समणपणे छै सहीत हो॥

३६—हितकारी प्रवचन आठां तणो रे लाल, धर्मकथा कहै विसतार हो।
यां दसां बोलां बंधे जीव रे रे लाल, किल्याणकारी कर्म श्रीकार हो॥

३७—ते किल्याणकारी कर्म पुन छै रे लाल, त्यांरी करणी पिण निरवद जांण हो।
ते ठाणा अंग दसमें ठाणे कह्यो रे लाल, तिहां जोय करो पिछांण हो॥

३८—अन पुने पांण पुने कह्यो रे लाल, लेण सेण वस्त्र पुन जांण हो।
मन पुने वचन काया पुने रे लाल, नमसकार पुने नवमों पिछांण हो॥

३१—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म ये चारों एकान्त पाप हैं। जिस करनी से इन कर्मों का बंध होता है वह जिन-आज्ञा में नहीं है[२३]।

ज्ञाणावरणीय आदि चार पाप कर्म

३२—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र ये चारों कर्म पुण्य और पाप दोनों रूप हैं। पुण्य रूप वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म जिस करनी से होते हैं वह करनी निरवद्य है। इस करनी की आज्ञा भगवान देते हैं[२४]।

वेदनीय आदि चार पुण्य कर्मों की करनी निरवद्य है

३३—पुण्य पाप की करनी का अधिकार भगवती सूत्र के आठवें शतक के नवें उद्देशक में आया है। उसका न्याय सम्यक् दृष्टि समझते हैं[२५]।

भगवती ८.९ का उल्लेख दृष्टव्य

३४-३७-करनी कर निदान—फल की इच्छा न करने से, शुभ परिणाम और सम्यक्त्व से, समाधि योग में प्रवर्तन से, क्षमापूर्वक परिषह सहन करने से, पाँचों इन्द्रियों को वश करने से, माया और कपट से रहित होने से, ज्ञानादि की उपासना से, श्रमणत्व से, आठ प्रवचन माताओं से संयुक्त होने से, धर्म-कथा कहने से,—इन दस बोलों से जीव के कल्याणकारी कर्मों का बंध होता है। ये कल्याणकारी कर्म पुण्य हैं और इनको प्राप्त करने की करनी भी स्पष्टतः निरवद्य है। ये दस बोल स्थानाङ्ग सूत्र के दसवें स्थानक में कहे हैं। देख कर पुण्य-करनी की पहिचान करो[२६]।

कल्याणकारी कर्म बंध के दस बोल निरवद्य हैं

३८—अन्न पुण्य, पान पुण्य, स्थान पुण्य, शय्या पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काया पुण्य और नमस्कार पुण्य—इस तरह नौ पुण्य (भगवान ने) कहे हैं।

नौ पुण्य

३९—पुन्य बंधे नव प्रकार सूं रे लाल, ते नवोई निरवद जांण हो।
ते नवोई बोलां में जिण आगना रे लाल, तिणरी करज्यो पिछाण हो॥

४०—कोई कहै नवोई बोल समचे कह्या रे लाल, सावद्य निरवद न कह्या तांम हो।
सचित अचित पिण नहीं कह्या रे लाल, पातर कुपातर रो पिण नहीं नांम हो॥

४१—तिणसूं सचित्त अचित्त दोनूं कह्या रे लाल, पातर कुपातर नें दीयां तांम हो।
पुन नीपजे दीधां सकल नें रे लाल, ते झूठ बोले सूतर रो ले ले नांम हो॥

४२—साध श्रावक पातर नें दीयां रे लाल, तीर्थंकर नामादिक पुन थाय हो।
अनेरां ने दान दीधां थकां रे लाल, अनेरी पुन प्रकत बंधाय हो॥

४३—इम कहै नांम लेई ठाणा अंग नों रे लाल, नवमा ठाणा में अर्थ दिखाय हो।
ते अर्थ अणहुंतो घाल्यो रे लाल, ते भोलां ने खबर न काय हो॥

४४—जो अनेरा नें दीयां पुन नीपजे रे लाल, जब टलीयो नहीं जीव एक हो।
कुपातर नें दीयां पुन किहां थकी रे लाल, समझो आंण ववेक हो॥

४५—पुन रा नव बोल तो समचे कह्या रे लाल, उण ठामें तो नही छै नीकाल हो।
ज्यूं वंदणा वीयावच पिण समचे कही रे लाल, ते गुणवंत सूं लेजो संभाल हो॥

४६—वंदणा कीधां खपावे नीच गोत नें रे लाल, उंच गोत कर्म बंधाय हो।
तीर्थंकर गोत बंधे वीयावच कीयां रे लाल, ते पिण समचे कह्या छै ताय हो॥

३९—पुण्य बंध इन्हीं नौ प्रकार से होता है। ये सब बोल निरवद्य हैं। इन सबमें जिन भगवान की आज्ञा है। बुद्धिमान इस बात की पहचान करें[२७]।

पुण्य के नवों बोल निरवद्य व जिन-आज्ञा में हैं

४०-४१-कई कहते हैं कि भगवान ने नवों बोल समुच्चय—(बिना किसी अपेक्षा के) कहे हैं। सावद्य-निरवद्य, सचित्त-अचित्त, पात्र-अपात्र का भेद नहीं किया है। इसलिए सचित्त-अचित्त दोनों प्रकार के अन्न आदि देने का भगवान ने कहा है, तथा पात्र-कुपात्र दोनों को देने को कहा है सबको देने में पुण्य है। ऐसा कहने वाले सूत्रों का नाम लेकर झूठ बोलते हैं।

नवों बोल क्या अपेक्षा रहित हैं? (गा० ४०-४४)

४२—वे कहते हैं कि साधु श्रावक इन पात्रों को देने से तीर्थङ्कर नामादि पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है तथा अन्य लोगों को दान देने से अन्य पुण्य प्रकृति का बंध होता है।

४३— वे स्थानाङ्ग सूत्र का नाम लेकर ऐसा कहते हैं और नवें स्थानक में अर्थ दिखलाते हैं। परन्तु न होता हुआ अर्थ वहाँ घुसा दिया गया है—भोले लोगों को इसकी खबर नहीं है।

४४—यदि 'अन्य को' देने से भी पुण्य होता है तब तो एक भी जीव बाकी नहीं रहता। परन्तु कुपात्र को देने से पुण्य कैसे होगा? यह विवेक पूर्वक समझने की बात है[२८]।

४५—पुण्य के नौ बोल समुच्चय (बिना खुलाशा) कहे गये हैं; स्थानाङ्ग सूत्र के ९ वें स्थानक में कोई निचोड़ नहीं है। इसी तरह वंदना और वैयावृत्य के बोल भी समुच्चय कहे हैं। गुणी इनका मर्म समझ लें।

समुच्चय बोल अपेक्षा रहित नहीं (गा० ४५-५४)

४६—वंदना करता हुआ जीव नीच गोत्र को खपाता है और उच्च गोत्र का बंध करता है तथा वैयावृत्य करने से तीर्थंकर गोत्र का बंध करता है। ये भी समुच्चय बोल हैं।

४७—तीर्थंकर गोत बंधे बीस बोल सूं रे लाल, त्यांमें पिण समचे बोल अनेक हो।
समचे बोल घणा छै सिधंत में रे लाल, त्यांमें कुण समझे विगर ववेक हो॥

४८—जो अन पुने समचे दीयां सकल नें रे लाल, तो नवोंई समचे जांण हो।
हिवे निरणों कहूं छूं नवां ही तणो रे लाल, ते सुणज्यो चतर सुजांण हो॥

४९—अन सचित अचित दीयां सकल नें रे लाल, जो पुन नीपजे छै ताम हो।
तो इमहीज पुन पांणी दीयां रे लाल, लेण सेण वसतर पुन आंम हो॥

५०—इमहीज मन पुने समचे हुवे रे लाल, तो मन भूंडो वरत्यां पुन थाय हो।
वले वचन पुणे पिण समचे हुवे रे लाल, भूंडो बोल्यांई पुन बंधाय हो॥

५१—काय पुने पिण समचे हुवे रे लाल, तो काया सूं हिंसा कीयां पुन होय हो।
नमसकार पुने पिण समचे हुवे रे लाल, तो सकल नें नम्यां पुन जोय हो॥

५२—मन वचन काया माठा वरतीयां रे लाल, जो लागे छै एकंत पाप हो।
तो नवोंई बोल इम जांणजो रे लाल, उथप गई समचे री थाप हो॥

५३—मन वचन काया सूं पुन नीपजे रे लाल, ते निरवद वरत्यां होय हो।
तो नवोंई बोल इम जांणजो रे लाल, सावद्य में पुन न कोय हो॥

४७—इसी प्रकार २० बातों से तीर्थङ्कर गोत्र का बंध बतलाया गया है। उनमें भी अनेक बोल समुच्चय हैं। इस प्रकार सिद्धान्त में (जैन सूत्रों में) समुच्चय बोल अनेक हैं। बिना विवेक उन्हें कौन समझ सकता है ?

नौ बोलों की समझ (गा० ४८-५४)

४८—यदि सभी को अन्न-दान देने से अन्न पुण्य होता हो तब तो सभी बोलों के सम्बन्ध में यह बात समझो। अब मैं नवों ही बोलों का निर्णय करता हूं। चतुर विज्ञ इसको सुनें।

४९—यदि सचित्त-अचित्त सब अन्न सब को देने से पुण्य होता है तब तो पानी, स्थान, शय्या, वस्त्र आदि भी सचित्त-अचित्त सब सबको देने से पुण्य होगा !

५०—इसी तरह यदि मन पुण्य भी समुच्चय हो तब तो मन को दुष्प्रवृत्त करने से भी पुण्य होगा तथा वचन पुण्य भी समुच्चय हो तो दुर्वचन से भी पुण्य बंधना चाहिए।

५१—यदि काया पुण्य भी समुच्चय हो तो काया से हिंसा करने पर भी पुण्य होना चाहिए। इसी तरह नमस्कार पुण्य भी समुच्चय हो तो सबको नमस्कार करने से पुण्य होना चाहिए।

५२—अब यदि मन, वचन और काया की दुष्प्रवृत्ति से एकान्त—केवल पाप ही लगता हो तब तो नवों ही बोलों के सबन्ध में यह बात जानो। इस प्रकार समुच्चय की बात उठ जाती है।

५३—अब यदि यह मान्यता हो कि मन, वचन तथा काया की निरवद्य प्रवृत्ति से पुण्य होता है तब नवों ही बोलों के सम्बन्ध में यह समझो। सावद्य से कोई पुण्य नहीं होता।

५४—नमसकार अनेरा नें कीयां थकां रे लाल, जो लागे छै एकंत पाप हो।
तो अनादिक सचित दीयां थकां रे लाल, कुण करसी पुन री थाप हो॥

५५ निरवद करणी में पुन नीपजे रे लाल, सावद्य करणी सूं लागे पाप हो।
ते सावद्य निरवद किम जांणीये रे लाल, निरवद में आगया दे जिण आप हो॥

५६—अन पांणी पातर नें बेहरावीयां रे लाल, लेण सयण वस्त्र बेहराय हो।
त्यांरी श्रीजिण देवे आगना रे लाल, तिण ठामें पुन बंधाय हो॥

५७—अन पाणी अनेरा नें दीयां रे लाल, लेण सेण वसतर देवे ताय हो।
त्यांरी देवे नहीं जिण आगन्या रे लाल, तिणरे पुन किहां थी बंधाय हो॥

५८—सुपातर नें दीयां पुन नीपजे रे लाल, ते करणी जिण आगना मांय हो।
जो अनेरा नें दीयांई पुन नीपजै रे लाल, तिणरी जिण आगना नहीं कांय हो॥

५९—ठाम ठाम सुतर में देखलो रे लाल, निरजरा नें पुन री करणी एक हो।
पुन हुवे तिहां निरजरा रे लाल, तिहां जिन आगनां छै वशेष हो॥

६०—नव प्रकारे पुन नीपजे रे लाल, ते भोगवे बयांलीस प्रकार हो।
ते पुन उदे हुवे जीवरे रे लाल, सुख साता पामें संसार हो॥

६१—ए पुन तणा सुख कारिमा रे लाल, ते विणसंतां नहीं वार हो।
तिणरी बंछा नहीं कीजीये रे लाल, ज्यूं पामें भव पार हो॥

५४—यदि पाँच पदों को छोड़ कर अन्य को नमस्कार करने से एकान्त पाप लगता हो तब अन्नादि सचित्त देने में कौन पुण्य की स्थापना करेगा[२९] ?

५५—पुण्य निरवद्य करनी से होता है, सावद्य करनी से पाप लगता है। सावद्य निरवद्य की पहचान यह है कि निरवद्य कार्यों की खुद भगवान आज्ञा देते हैं।

सावद्य करनी से पाप का बंध होता है (गा० ५५-५८)

५६—पात्र को (निर्दोष ऐषणीय) अशन, पान आदि बहराने तथा स्थान, शय्या, वस्त्र आदि देने की जिन देव आज्ञा करते हैं। इनसे पुण्य का बंध होता है।

५७—अन्न-पानी आदि तथा स्थान, शय्या, वस्त्र, पात्र अन्य को देने की जिन भगवान आज्ञा नहीं देते। इसलिये ऐसे दान से जीव के पुण्य-बंध कैसे हो सकता है ?

५८—सुपात्र को देने से पुण्य होता है। यह करनी जिन-आज्ञा सम्मत है; यदि अन्य किसी को देने से भी पुण्य होता है तो उसके लिए जिन-आज्ञा क्यों नहीं है[३०] ?

५९—स्थान-स्थान पर सूत्रों में देख लो कि निर्जरा और पुण्य की करनी एक है। जहाँ पुण्य होता है वहाँ निर्जरा भी होती है और जहाँ निर्जरा होती है वहाँ विशेष रूप से जिन-आज्ञा है।

पुण्य और निर्जरा की करनी एक है

६०—पुण्य नौ प्रकार से उत्पन्न होता है तथा वह ४२ प्रकार से भोग में आता है। जीव के पुण्य का उदय होने से वह संसार में सुख पाता है।

पुण्य की ९ प्रकार से उत्पत्ति ४२ प्रकार से भोग

६१—पुण्य-जात सुख क्षणिक हैं। उनके विनाश होते देर नहीं लगती; इन सुखों की कभी वांछा नहीं करनी चाहिए जिससे कि संसार रूपी समुद्र के पार पहुँचा जा सके।

पुण्य अवाञ्छनीय मोक्ष वाञ्छनीय (गा० ६१-६३)

६२—जिण पुन तणी वंछा करी रे लाल, तिण वंछीया काम नें भोग हो।
संसार बधे कामभोग सूं रे लाल, तिहां पामें जन्म मरण सोग हो॥

६३—वंछा कीजे एक मुगत री रे लाल, ओर वंछा न कीजे लिगार हो।
जे पुन तणी वंछा करै रे लाल, ते गया जमारो हार हो॥

६४ संवत अठारे तयांले समे रे लाल, काती सुद चोथ विसपतवार हो।
पुन नीपजे ते ओलखायवा रे लाल, जोड़ कीधी कोठारचा मझार हो॥

६२—जो पुण्य की कामना करता है वह कामभोगों की ही कामना करता है। कामभोग से संसार की वृद्धि होती है तथा प्राणी जन्म, मृत्यु और शोक को प्राप्त करता है।

६३—कामना केवल एक मुक्ति की करनी चाहिए। अन्य कामना किञ्चित भी नहीं करनी चाहिए। जो पुण्य की वांछा करता है, वह मनुष्य-भव को हारता है[३१]।

६४—पुण्य की उत्पत्ति कैसे होती है यह बताने के लिए सं० १८४३ की कार्त्तिक सुदी ४ गुरुवार को यह जोड़ कोठारचा गांव में की है।

रचना-काल

पुण्य पदार्थ (ढाल : २)

टिप्पणियाँ

१—पुण्य के हेतु और पुण्य का भोग (दो० १) :

स्थानाङ्ग सूत्र में कहा है[1]—"पुण्य नौ प्रकार का है—अन्न पुण्य, पान पुण्य, वस्त्र पुण्य, लयन[2] पुण्य, शयन[3] पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, और नमस्कार पुण्य।"

यहाँ पुण्य का अर्थ है—पुण्य कर्म की उत्पत्ति के हेतु कार्य। अन्न, पान, वस्त्र, स्थान, शयन के निरवद्य दान से, सुप्रवृत्त मन, वचन, काया से तथा मुनि के नमस्कार से पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है। अतः कार्य और कारण को एक मान पुण्य के कारणों को पुण्य की संज्ञा दी गयी है।

स्थानाङ्ग के टीकाकार श्री अभयदेव ने अपनी टीका में नवविध पुण्य को बतलाने वाली निम्न गाथा उद्धृत की है :

> अन्नं पानं च वस्त्रं च आलयः शयनासनम्।
> शुश्रूषा वंदनं तुष्टिः पुण्यं नवविधं स्मृतम्॥

इस गाथा में बताये हुए पुण्यों में छः तो वे ही हैं जो मूल स्थानाङ्ग में उल्लिखित हैं किन्तु मन, वचन और काय के स्थान में यहाँ आसन पुण्य, शुश्रूषा पुण्य और तुष्टि पुण्य हैं। नवविध पुण्य की यह परम्परा अवश्य ही आगमिक नहीं है।

१—ठाणाङ्ग ९. ३. ६७६ :

णवविधे पुन्ने पं० तं० अन्नपुन्ने, पाणपुण्णे, वत्थपुन्ने, लेणपुण्णे, सयणपुन्ने, मणपुन्ने, वतिपुण्णे, कायपुण्णे, नमोक्कारपुण्णे

२—गृह, स्थान

३—शय्या—संस्तारक-बिछाने की वस्तु

दिगम्बर ग्रन्थों में प्रतिग्रहण, उच्चस्थापन, पाद-प्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, मनःशुद्धि, वचन-शुद्धि, काय-शुद्धि और एषण (भोजन) शुद्धि इन नौ को नौ पुण्य कहा है[1]। इन नौ पुण्यों में बहुमान की उन विधियों का संकलन है जो दिगम्बर मत से एक दाता को दान देते समय मुनि के प्रति सम्पन्न करनी चाहिए[2]।

स्वामीजी नौ प्रकार के पुण्यों से उन्हीं पुण्यों की ओर संकेत करते हैं जिनका उल्लेख 'स्थानाङ्ग' आगम में है।

स्वामीजी कहते हैं—"**नव प्रकारे पुन नीपजे, ते करणी निरवद जांण**"—अन्न-दान आदि पुण्य के कारण तभी होते हैं जब वे निरवद्य होते हैं। जब अन्न-दान आदि सावद्य होते हैं तब उनसे पुण्य का बंध नहीं होता।

यह पहले बताया जा चुका है कि कर्मों के दो विभाग होते हैं—(१) पुण्य और (२) पाप। पुण्य का स्वभाव है सुखानुभूति उत्पन्न करना। पाप का स्वभाव है दुःखानुभूति उत्पन्न करना। पुण्य और पाप दोनों ही के अनेक अन्तरभेद हैं। और प्रत्येक भेद की अपनी-अपनी विशिष्ट प्रकृति अथवा स्वभाव है। पुण्य कर्म के ४२ भेद पहले बताये जा चुके हैं। प्रत्येक भेद अपने स्वभाव के अनुसार फल देता है। कर्मों का यह फल देना ही उनका भोग है। पुण्य कर्म अपने अन्तरभेदों की विवक्षा से ४२ प्रकार से उदय में आता है। दूसरे शब्दों में कहा जाता है—जीव पुण्य कर्म का फल भोग ४२ प्रकार से करता है।

२—पुण्य की करनी में निर्जरा और जिन-आज्ञा की नियमा (दो० २):

स्वामीजी यहाँ दो सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं :

१—जिस करनी—क्रिया से पुण्य का बंध होता है उससे निर्जरा अवश्य होती है।

२—वह क्रिया जिन-आज्ञा में होती है—जिनानुमोदित होती है।

स्वामीजी ने इन दोनों ही सिद्धान्तों पर बाद में विस्तृत प्रकाश डाला है (देखिए गा० १-२ आदि)। वहीं टिप्पणियों में विस्तृत विवेचन भी है।

१—**पडिगहणमुच्चठाणं पादोदकमच्चणं च पणमं च ।**
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं ॥

२—**सागारधर्मामृत ५. ४५**

३—'साधु के सिवा दूसरों को अन्नादि देने से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति से भिन्न पुण्य प्रकृति का बंध होता है' इस प्रतिपादन की अयौक्तिता (दो० २-३) :

'अन्न पुण्य' आदि के साथ विशेषणात्मक अथवा व्याख्यानात्मक शब्द नहीं हैं। अतः इनका अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है :

१—पंच महाव्रतधारी मुनि को, जो योग्य पात्र है, प्रासुक एषणीय आहार आदि का देना अन्न पुण्य आदि हैं।

२—पात्रापात्र के भेदातिरिक्त चाहे जो भी हो उसे सचित्त-अचित्त अन्न आदि का देना अन्न पुण्य आदि हैं।

स्वामीजी कहते हैं—"अन्न पुण्य आदि की पहली व्याख्या ही ठीक है। क्योंकि निरवद्य दान से ही पुण्य हो सकता है सावद्य दान से नहीं। अपात्र को सचित्त-अचित्त देना सावद्य दान है वह पुण्य का हेतु नहीं।" उदाहरणस्वरूप स्वामीजी कहते हैं—"जल के एक बिन्दु में असंख्य अप्कायिक जीव हैं। उसमें वनस्पति जीवों की नियमा है। धान्यादि भी सचित्त हैं। जो इन सजीव चीजों का दान करता है उसके पुण्य का बंध कैसे होगा? मुनि ऐसी अप्रासुक वस्तुओं को लेते ही नहीं। वे प्रासुक अचित्त वस्तुएँ लेते हैं। इन वस्तुओं को अपात्र ही ले सकते हैं। अपात्र-दान सावद्य है।"

स्वामीजी कहते हैं कि जो सावद्य दान में पुण्य बतलाते हैं वे ज्ञान-चक्षुओं को खो चुके।

स्वामीजी के समय में कई जैन-साधु ऐसी प्ररूपणा करते रहे कि पंचव्रतधारी साधु को आहार आदि देने से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बंध होता है और साधु के सिवा अन्य को देने से अन्य पुण्य प्रकृति का बंध होता है—ऐसा स्थानाङ्ग में लिखा है।

स्वामीजी कहते हैं—"स्थानाङ्ग के मूल पाठ में ऐसा कुछ नहीं है। जैसे अंक के बिना शून्य का कोई मूल्य नहीं रहता वैसे ही पाठ बिना ऐसा अर्थ करना 'अजागलस्तनवत्' है।" फिर ऐसा अर्थ भी स्थानांग की सब प्रतियों में नहीं है। किसी-किसी प्रति में जो ऐसा अर्थ देखा जाता है वह स्पष्टतः बाद में जोड़ा हुआ है।

स्थानाङ्ग के उस सूत्र की, जिसमें नौ पुण्यों का उल्लेख है, टीका करते हुए अभयदेव सूरि लिखते हैं :

"पात्रायान्नदानाद् यस्तीर्थकरनामादिपुण्यप्रकृतिबन्धस्तदन्नपुण्यमेवं सर्वत्र"—अर्थात् पात्र को अन्न देने से तीर्थंकर नामादि पुण्यप्रकृति का बन्ध होता है। अतः अन्न दान

'अन्न पुण्य' कहलाता है। इसी प्रकार पान से लेकर शयन पुण्य तक जानना चाहिए।

यहाँ पात्र-दान से तीर्थंकर आदि पुण्य-प्रकृति का बंध कहा है न कि हर किसी को अन्नादि देने से। पात्र अप्रासुक नहीं लेता। अतः पात्र को प्रासुक देने से ही पुण्य होता है। उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति का बंध भावों की तीव्रता के साथ सम्बन्धित है। भावों में उत्कृष्ट तीव्रता होने से निरवद्य दान से तीर्थंकर पुण्य-प्रकृति का बंध होता है अन्यथा अन्य पुण्य-प्रकृतियों का। इसका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि साधु को देने से तीर्थंकर पुण्य-प्रकृति आदि का बंध होता है और अन्य को देने से अन्य पुण्य प्रकृतियों का।

४—पुण्य-बंध के हेतु और उसकी प्रक्रिया (गाथा १-३) :

इस ढाल के दोहे १, २ और इन गाथाओं में जो सिद्धान्त दिए गए हैं वे इस प्रकार हैं :

(१) पुण्य शुभ योग से उत्पन्न होता है।

(२) शुभ योग से निर्जरा होती है और पुण्य सहज रूप से उत्पन्न होता है।

(३) जहाँ पुण्य होगा वहाँ निर्जरा अवश्य होगी।

(४) सावद्य करणी से पुण्य नहीं होता।

(५) पुण्य की करणी में जिनाज्ञा है।

हम नीचे इनपर क्रमशः विचार करेंगे।

(१) पुण्य शुभयोग से उत्पन्न होता है : इस विषय में कुछ प्रकाश पूर्व में डाला जा चुका है (देखिए पृ० १५८ टि० ५)। 'योग' का अर्थ है कर्म, क्रिया, व्यापार। योग तीन हैं—कायिक कर्म, वाचिक कर्म और मानसिक कर्म। हिंसा करना, चोरी करना, अब्रह्मचर्य का सेवन करना, आदि अशुभ कायिकयोग हैं। सावद्य बोलना, झूठ बोलना, कटु बोलना, चुगली करना आदि अशुभ वाचिकयोग हैं। दुर्ध्यान, किसी को मारने का विचार, ईर्ष्या, असूया आदि अशुभ मानसिक योग हैं। जो इनसे विपरीत कायिक आदि योग वे शुभ हैं[1]।

हिंसा न करना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना शुभ काययोग हैं। सत्य, हित, मित बोलना शुभ काययोग है। अर्हत आदि की भक्ति, तपोरुचि, श्रुत-विनयादि शुभ मनोयोग हैं[2]। सिद्धसेन कहते हैं—धर्मध्यान, शुक्लध्यान का ध्यान

१—तत्त्वार्थसूत्र ६.१ भाष्य

२—राजवार्तिक ६.३ वार्तिक : अहिंसाऽस्तेयब्रह्मचर्यादिः शुभः काययोगः। सत्यहितमितभाषणादिःशुभोवाग्योगः। अर्हदादिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादिः शुभो मनोयोगः।

कुशल मनोयोग है। मूर्च्छाभाव परिग्रह—अशुभ योग है। मूर्च्छा न रखना कुशल मनोयोग है[1]।

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—काया, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन—हलन-चलन योग है[2]।

जिस तरह मकान के द्वार, तालाब के नाला और नौका के छिद्र होता है वैसे ही जीव के योग होता है। जैसे मकान के द्वार से प्राणी घर में प्रवेश करता है वैसे ही योग से कर्म पुद्गल आत्म-प्रदेशों में आस्रव करते हैं; जैसे नाले के द्वारा तालाब में जल इकठा होता है, वैसे ही योग द्वारा कर्म आत्म प्रदेशों में इकट्ठे होते हैं; जैसे छिद्र द्वारा नौका में जल भरता है वैसे ही योग द्वारा आत्म-प्रदेशों में कर्म संचित होते हैं[3]।

योगयुक्त जीव के आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्दन से कर्म-वर्गणा के पुद्गल आत्मा में प्रवेश करते हैं। यदि योग शुभ होता है तो कर्म पुण्य रूप होते हैं। यदि योग अशुभ होता है तो कर्म पाप रूप होते हैं।

(२) शुभ योग से निर्जरा होती है और पुण्य सहज रूप से उत्पन्न होता है :

इस सम्बन्ध में कुछ प्रकाश पूर्व में डाला जा चुका है (देखिये पृ० १७३-४ टि० १५)। स्वामीजी ने अन्यत्र लिखा है—जब जीव शुभ कर्तव्य—निरवद्य क्रिया करता है तब कर्मों का क्षय होता है। इससे जीव के सर्व आत्म-प्रदेशों में हलन-चलन होती है, जिससे आत्म-प्रदेशों में कर्मों का आश्रव होता है। जब शुभ योग के समय जीव के आत्म प्रदेशों में स्पन्दन होता है तब सहचर नामकर्म के उदय से पुण्य-कर्म आत्म-प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं। मन-वचन-काया के योग प्रशस्त और अप्रशस्त दो तरह के होते हैं। अप्रशस्त योगों से पाप का प्रवेश होता है। प्रशस्त योगों से निर्जरा होती है। निर्जरा होते समय आत्म-प्रदेशों का जो परिस्पन्दन होता है उससे पुण्य-कर्म आकृष्ट होकर आत्म-

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ६.१ की वृत्ति : अनभिध्यादिधर्मशुक्लध्यानध्यायिता वेत्ति मनोयोग : कुशलः, मूर्च्छालक्षणः परिग्रह इति मनोव्यापार एव।

२. सवार्थसिद्धि ६.१ की वृत्ति :
कर्म क्रिया इत्यनर्थान्तरम्। कायवाङ्मनसां कर्म कायवाङ् मनःकर्म योग इत्याख्यायते आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगः

३—(क) तेरा द्वार
(ख) तत्त्वार्थसूत्र भाष्य : शुभाशुभयोः कर्मणोरास्रवणादास्रवः सरः सलिलवाहिनि वाहिस्रोतोवत्

प्रदेशों में स्थान पाते हैं। प्रशस्त योग से ये कर्म विपाकावस्था में अच्छे फल के देने वाले होते हैं इसलिये पुण्य कहलाते हैं[1]।

(३) **जहां पुण्य होगा वहां निर्जरा अवश्य होगी** : स्वामीजी ने आगे चलकर भिन्न-भिन्न सूत्रों के अनेक पाठ दिए हैं जिससे इस सिद्धान्त की वास्तविकता स्वयंसिद्ध होती है। जहां निर्जरा होती है वहां पुण्य नहीं भी हो सकता है। लेकिन जहां पुण्य होगा वहां निर्जरा अवश्य होगी। शुभ योगों से निर्जरा होती है और प्रासंगिक रूप से पुण्य का बंध (देखिये गाथा ४-३७ तथा टिप्पणी ५-२६)।

(४) **सावद्य करनी से पुण्य नहीं होता** : बाद में स्वामीजी ने सूत्रों से अनेक उद्धरण दिये हैं उनसे यह बात स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। इसके लिए पाठक देखें गाथा ४-३७ तथा टिप्पणी ५-२६।

(५) **पुण्य की करनी में जिन-आज्ञा है** : श्वेताम्बर आचार्यों ने शुभ योग से पुण्य का बंध माना है और दिगम्बर आचार्यों ने शुभ उपयोग से। जब पुण्य भी बंधन रूप है तब प्रश्न है उसके उत्पादक शुभ योग अथवा शुभ उपायोग हेय हैं अथवा ग्राह्य ?

ब्रह्मदेव कहते हैं : "जो ज्ञानदर्शनचारित्रमय रत्नत्रयी रूप मोक्ष-मार्ग को नहीं जानता, वही निश्चय नय से हेय होने पर भी पुण्य को उपादेय समझ उसे करता है[2]।" (यहाँ पुण्य का अर्थ है पुण्य को उत्पन्न करने वाले शुभ उपयोग।) जो यह नहीं जानता है कि बंध और मोक्ष का हेतु 'निज' है वही पुण्य और पाप दोनों को

१—**निरजरा री निरवद करणी करतां, करम तणो खय जानो रे।**
जीव तणां परदेश चले छें, त्यांसूं पुन लागे छें आंणो रे॥ ४२॥
निरजरा री करणी करें तिण काले, जीव रा चाले सर्व परदेशो रे।
जब सहचर नाम करम सूं उदे भाव, तिणसूं पुन तणो परवेशो रे॥ ४३॥
मन वचन काया रा जोग तीनूंइ, पसत्थ नें अपसत्थ चाल्या रे।
अपसत्थ जोग तो पाप ना दुवार, पसत्थ निरजरा री करणी में घाल्या रे॥ ४४॥

२—**परमात्मप्रकाश २. ५३ की टीका :**
निजशुद्धात्मानुभूतिरुचिविपरीतं मिथ्यादर्शनं स्वशुद्धात्मप्रतीतिविपरीतं मिथ्याज्ञानं निजशुद्धात्मद्रव्यनिश्चलस्थितिविपरीतं मिथ्याचारित्रमित्येतत्र कारणं, तस्मात्त्रयाद्विपरीतं भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपं मोक्षस्य कारणमिति योऽसौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वयं निश्चयनयेन हेयमपि मोहवशात्पुण्यमुपादेयं करोति पापं हेयं करोतीति भावार्थः

मोह से करता है[1]। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय आत्मा को नहीं जानता वही जीव पुण्य और पाप दोनों को मोक्ष का कारण जानकर करता है[2]।' यहाँ प्रश्न उठता है—परमतवादी पुण्य और पाप को समान मानकर स्वच्छंद रहते हैं, फिर उनको दोष क्यों दिया जाय? इसका उत्तर ब्रह्मदेव इस प्रकार देते हैं : "जब शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप तीन गुप्ति से गुप्त वीतराग-निर्विकल्प समाधि को पाकर ध्यान में मग्न हुए पुण्य और पाप को समान जानते हैं, तब तो जानना योग्य है। परन्तु जो मूढ़ परम समाधि को न पाकर भी गृहस्थ अवस्था में दान, पूजा आदि शुभ क्रियाओं को छोड़ देते हैं और मुनि-पद में छह आवश्यक कर्मों को छोड़ते हैं, वे दोनों बातों से भ्रष्ट होते हैं। वे न तो यती हैं, न श्रावक ही। वे निंदा योग्य ही हैं। तब उनको दोष ही है, ऐसा जानना[3]।"

दिगम्बर विद्वानों की दृष्टि से शुभ, अशुभ और शुद्धोपयोग का स्थान इस प्रकार है : "पंच परमेष्ठी की वंदना, अपने अशुभ कृत्यों की निन्दा और प्रतिक्रमण पुण्य के कारण हैं (मोक्ष के कारण नहीं) इसलिए ज्ञानी पुरुष इन तीनों में से एक भी न तो करता, न कराता, न करते हुए को भला जानता है[4]। एक ज्ञानमय शुद्ध पवित्र भाव को छोड़कर अन्य वंदन, निन्दन और प्रतिक्रमण करना ज्ञानियों को युक्त नहीं[5]। वन्दना करो, निन्दा करो, प्रतिक्रमण लेकिन जिसके अशुद्ध भाव हैं उसके नियम से संयम नहीं हो सकता[6]। शुद्धोपयोगियों के ही संयम, शील, तप होते हैं, शुद्धों के ही सम्यक् दर्शन और सम्यग्ज्ञान होते हैं, शुद्धों के कर्मों का नाश होता है। इसलिए शुद्ध उपयोग ही प्रधान है[7]। विशुद्ध भाव ही आत्मीय है। शुद्ध भाव को ही धर्म समझ कर अंगीकार करो। वही चारों गतियों के दुःखों में पड़े हुए इस जीव को आनन्द स्थान में रखता है[8]। मुक्ति का मार्ग एक शुद्ध भाव ही है[9]। शुभ परिणाम से धर्म—

१—परमात्मप्रकाश २. ५३
२—वही २. ५४
३—वही २. ५५ की टीका
४—वही २. ६४
५—वही २. ६५
६—वही २. ६६
७—वही २. ६७
८—वही २. ६८
९—वही २. ६९

पुण्य मुख्यता से होता है। अशुभ परिणामों से अधर्म—पाप होता है। इन दोनों से रहित—शुद्ध परिणाम से कर्म का बंध नहीं होता[1]।"

"श्री वीतराग देव, द्वादशांग शास्त्र और मुनिवरों की भक्ति करने से पुण्य होता है लेकिन कर्मक्षय नहीं होता[2]। इस कथन के भाव का स्फोटन ब्रह्मदेव ने अपनी टीका में इस प्रकार किया है :

"सम्यक्त्व पूर्वक देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति से मुख्यत: तो पुण्य ही होता है, मोक्ष नहीं होता। प्रश्न उठता है, यदि पुण्य मुख्यता से मोक्ष का कारण नहीं तो त्याज्य ही है ग्रहण योग्य नहीं। यदि ग्रहण योग्य नहीं तो भरत, सगर, राम, पांडवादि ने निरन्तर पंच परमेष्ठि के गुण-स्मरण क्यों किये और दान-पूजादि शुभ क्रियाओं से पुण्य का उपार्जन क्यों किया ? इसका उत्तर यह है—जैसे परदेश में स्थित कोई रामादि पुरुष अपनी प्यारी सीतादि स्त्री के पास से आये हुए किसी पुरुष से बातें करता है, उसका सम्मान करता है, यह सब कारण उसकी अपनी प्रिया के हैं। उसी तरह वे भरत आदि महान् पुरुष वीतराग परमानन्दरूप मोक्ष-लक्ष्मी के सुख अमृत रस के प्यासे हुए संसार की स्थिति के छेदन के लिए, विषय-कषाय से उत्पन्न हुए आर्त्त-रौद्र' ध्यानों के नाश के हेतु श्री पंच परमेष्ठि के गुणों का स्मरण करते हैं और दान-पूजादि करते हैं। पंच परमेष्ठि की भक्ति आदि शुभ क्रियाओं से जो भक्त आदि हैं उनके बिना चाहे पुण्य प्रकृति का आश्रव होता है। जैसे किसान की दृष्टि अन्न पर होती है तृण, भूसादि पर नहीं, वैसे उन्हें बिना चाहा पुण्य का बन्ध सहज ही होता है[3]।"

आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—"यदि श्रामण्य में अर्हदादि में भक्ति, प्रवचन—आगम में अभियुक्तों में वत्सलता होती है वह शुभ उपयोग युक्त चर्या होती है। सरागचर्या में श्रमणों में उत्पन्न श्रम—खेद को दूर करना, वन्दन-नमस्कार सहित अभ्युत्थान, अनुगमन की प्रतिपत्ति निन्दित नहीं है। निश्चय ही सम्यग्दर्शन और ज्ञान का उपदेश देना, शिष्य ग्रहण करना, उनका पोषण करना आदि सराग-संयमियों की चर्या है। जो मुनि सदा काल चार प्रकार के श्रमण-संघ का षट्काय जीवों की विराधनारहित उपकार करता है वह सराग-संयमियों में प्रधान होता है[4]।

१—परमात्मप्रकाश २. ७१

२—वही २. ६१

३—वही २. ६१ की टीका

४—प्रवचनसार ३.४६-४७-४८-४९

"वह श्रमण, जिसे पदार्थ और सूत्र सुविदित हैं, जो संयम और तप से संयुक्त है, जो वीतराग है और जिसको सुख-दुख सम हैं शुद्ध उपयोगवाला है[1] ।

"सिद्धान्त के अनुसार श्रमण शुद्धोपयोगयुक्त और शुभोपयोगयुक्त दो तरह के होते हैं। उनमें जो शुद्धोपयोगयुक्त होते हैं वे आश्रव रहित होते हैं। बाकी आश्रव सहित होते हैं[2] ।"

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि दिगम्बर आचार्यों के अनुसार एक सीमा के बाद शुभयोग हेय हैं। जब तक मुनि शुद्धोपयोग की अवस्था में नहीं पहुँचता तब तक शुभयोग विहित हैं। मुनि को शुद्धोपयोग की अवस्था में पहुँचना चाहिये। फिर उसके लिए वन्दन, प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ भी हेय हैं। शुभयोगों को पुण्य की कामना से तो कभी करना ही नहीं चाहिए।

श्री विनय विजयजी कहते हैं-"संयति मुनियों के भी शुभयोग शुभकर्मों का आश्रव करते हैं, जीव को कर्मरहित नहीं करते। शुभयोग भी मोक्ष-सुख को नाश करनेवाली स्वर्ण-शृंखला के समान हैं। अतः शुभ योगाश्रव का भी परिहार करे[3] ।

स्वामीजी ने लिखा है-"जब मुनि आहार, गमनागमन आदि शुभयोगों को करता है तब निर्जरा के साथ-साथ आनुषंगिक फल के रूप में पुण्य कर्मों का आश्रव भी होता है। जब मुनि शुभयोगों का संवर करता है जैसे उपवास आदि तपस्या करता है तब उसके निर्जरा होती है, पुण्य का आश्रव नहीं होता। जब तक वह शुभयोगों में प्रवृत्त होता है तब तक उसके निर्जरा के साथ-साथ पुण्य का भी बंध होता है। चारित्रिक विकास के तेरहवें गुण स्थान में भी मुनि अयोगी नहीं होता। दिगम्बर आचार्यों के अनुसार वह शुद्धोपयोगी होगा। श्वेताम्बर मत से उसके भी पुण्यकर्म का बंध होता है। आनुषंगिक रूपसे पुण्य कर्मों का बन्धन होने पर भी शुभयोग हेय नहीं क्यों कि वास्तव में वे निर्जरा के ही हेतु हैं। गेहूँ के साथ पयाल की तरह पुण्य तो अनायास आकर्षित होते हैं।

१—प्रवचनसार १.१४

२—वही ३.४४

३—शान्त सुधारस ७.७

शुद्धा योगा रे यदपि यतात्मनां। स्रवंते शुभकर्माणि ॥
कांचननिगडांस्तान्यपि जानीयात्। हतनिर्वृतिशर्माणि ॥

५—अशुभ अल्पायुष्य और शुभ दीर्घायुष्य के बंध-हेतु (गा० ४-६) :

गाथा ४ में 'स्थानाङ्ग' के जिस पाठ का उल्लेख है वह इस प्रकार है :

तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताते कम्मं पगरिंति, तं०—पाणे अतिवातित्ता भवति मुसं वइत्ता भवइ तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाण-खाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता भवइ, इच्चेतेहि तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताते कम्मं पगरेंति। (३. १. १२५)।

यहाँ अल्पायुष्यकर्म बंध के तीन हेतु कहे गये हैं :

१—प्राणातिपात,

२—मृषावाद और

३—तथारूप[1] श्रमण[2] माहन[3] को अप्रासुक[4] अनेषणीय[5] आहार का प्रतिलाभ।

प्राणियों की हिंसा करना, झूठ बोलना, मूलगुणधारी श्रमण-साधु को सचित्त और अकल्प्य आहार देना ये तीनों ही कर्म सावद्य हैं। अशुभ योग हैं। जिन-आज्ञा के बाहर हैं। इनसे अल्पायुष्य का बंध होता है और वह पाप-कर्म की प्रकृति है।

गाथा ५-६ में 'स्थानाङ्ग' के जिस पाठ की सूचना है वह इस प्रकार है :

तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउअत्ताते कम्मं पगरेंति, तं०—णो पाणे अतिवातित्ता भवइ णो मुसं वतित्ता भवति तथारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असण-पाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति। (३. १. १२५)।

यहाँ दीर्घायुष्यकर्म बंध के तीन हेतु कहे हैं :

१—प्राणातिपात न करना,

२—मृषा न बोलना और

३—तथारूप श्रमण निर्ग्रंथ को प्रासुक एषणीय आहार से प्रतिलाभित करना।

१—तथा तत्प्रकारं रूपं—स्वभावो नेपथ्यादि वा यस्य स तथारूपः दानोचित इत्यर्थः

२—श्राम्यति—तपस्यतीति श्रमणः - तपोयुक्तस्तं

३—मा हन इत्याचष्टे यः परं स्वयं हनननिवृत्तः सन्निति स माहनो मूलगुणधरस्तं

४—प्रगता असवः—असुमन्तः प्राणिनो यस्मात् तत्प्रासुकं तन्निषेधादप्रासुकं सचेतन-मित्यर्थः

५—एष्यते—गवेष्यते उद्‌गमादिदोषविकलतया साधुभिर्यत्तदेषणीयं—कल्प्यं तन्निषेधादनेषणीयं तेन

ये तीनों बंध-हेतु निरवद्य हैं। शुभ योग हैं। भगवान की आज्ञा में हैं। दीर्घायुष्य पुण्यकर्म की प्रकृति है। उसका बंध शुभ योगों से है, यह इस पाठ से सिद्ध है।

'स्थानाङ्ग सूत्र' में कहा है : प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुनविरमण और परिग्रहविरमण इन पांच स्थानों से जीव कर्म-रज को छोड़ता है :

पचहिं ठाणेहिं जीवा रतं वमंति. तं०—पाणातिवातवेरमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं
(५.२.४२३)

इससे यह भी सिद्ध होता है कि जिन बोलों से दीर्घायुष्य कर्म का बंध बताया गया है उनसे कर्मों की निर्जरा भी होती है।

६—अशुभ-शुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतु (गा० ७-६) :

तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तंजहा पाणे अतिवातित्ता भवइ मुसं वइत्ता भवइ तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलित्ता णिंदित्ता खिंसेत्ता गरहित्ता अवमाणित्ता अन्नयरेणं अमणुन्नेणं अपीतिकारतेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति (३.१.१२५)

यहाँ अशुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतु इस प्रकार कहे गये हैं :

१—प्राणातिपात,

२—मृषावाद और

३—तथारूप श्रमण निर्ग्रंथ की हीलना, निन्दा, खिंसा, गर्हा और अपमान करते हुए अमनोज्ञ और अप्रीतिकारक आहार का प्रतिलाभ।

प्राणातिपात आदि अशुभ योग हैं। सावद्य हैं। जिन-आज्ञा के विरुद्ध हैं। तीव्र परिणाम पूर्वक इन अशुभ कर्त्तव्यों को करने से अशुभ दीर्घायुष्य का बंध होता है।

शुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतुओं का सूचक पाठ इस प्रकार है :

तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउअत्ताते कम्मं पगरेंति, तंजहा—णो पाणे अतिवातित्ता भवइ णो मुसं वदित्ता भवइ तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारित्ता सम्माणेत्ता कल्लाणं मंगलं देवतं चेतितं पज्जुवासेत्ता मणुन्नेणं पीतिकारएणं असण-पाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुहदीहाउत्ताते कम्मं पगरेंति (३. १. १२५)।

यहाँ शुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतु इस प्रकार कहे गये हैं :

१—प्राणातिपात न करना,

२—मृषा न बोलना और

३—तथारूप श्रमण माहन को वंदन-नमस्कार, सत्कार-सम्मान कर, उस कल्याणरूप, मंगलरूप, दैवत चैत्य की पर्युपासना कर उसे मनोज्ञ, प्रियकारी आहार से प्रतिलाभित करना।

शुभ दीर्घायुष्यकर्म पुण्य की प्रकृति है। उसके यहाँ वर्णित बंध-हेतु भी शुभ हैं।

'समवायाङ्ग' में कहा है—निर्जरा पाँच हैं : प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण, मैथुनविरमण और परिग्रहविरमण :

पंच निज्जरट्ठाणा पन्नत्ता, तंजहा—पाणाइवायाओ वेरमणं, मुसावायाओ वेरमणं, अदिन्नादाणाओ वेरमणं, मेहुणाओ वेरमणं, परिग्गहाओ वेरमणं (५. ६)।

इस पाठ को 'स्थानाङ्ग' के उपर्युक्त पाठ के साथ पढ़ने से यह स्पष्ट है कि जिन बोलों से शुभायुष्यकर्म का बंध बतलाया गया है उनसे निर्जरा भी होती है।

७—अशुभ-शुभ आयुष्यकर्म का बंध और भगवतीसूत्र (गा० १०) :

यहाँ 'भगवती सूत्र' के जिस पाठ का उल्लेख है, वह इस प्रकार है :

कहं णं भंते ! जीवा असुभदीउयत्ताए कम्मं पकरेंति ? गोयमा ! पाणे अइवाएत्ता, मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा, माहणं वा हीलित्ता निंदित्ता खिंसित्ता गरहित्ता अवमन्नित्ता अन्नयरेणं अमणुन्नेणं अपीतिकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेत्ता एवं खलु जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति (५. ६)।

कहं णं भंते ! जीवा सुभदीहाउयत्ताय कम्मं पकरेंति ?

गोयमा ! नो पाणे अइवाइत्ता नो मुसं वइत्ता तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता वा नमंसित्ता जाव पज्जुवासित्ता अन्नयरेणं मणुन्नेणं पीतिकारएणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता एवं खलु जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति (५.६)।

'भगवती' का यह पाठ गौतम और भगवान महावीर के प्रश्नोतर रूप में है जब कि 'स्थानाङ्ग' का पाठ 'भगवती' के उत्तर मात्र का संकलन है। दोनों पाठों का अर्थ एक ही है। यह पाठ भी इसी बात को सिद्ध करता है कि पुण्य-कर्म के बंध-हेतु शुभ योग रूप होते हैं और पापकर्म के बंध-हेतु अशुभ योग रूप।

८—वंदना से निर्जरा और पुण्य दोनों (गा० ११) :

'उत्तराध्ययन' का सम्बंधित पाठ इस प्रकार है :

वन्दणएणं भन्ते जीवे किं जणयइ। व० नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं

ये तीनों बंध-हेतु निरवद्य हैं। शुभ योग हैं। भगवान की आज्ञा में हैं। दीर्घायुष्य पुण्यकर्म की प्रकृति है। उसका बंध शुभ योगों से है, यह इस पाठ से सिद्ध है।

'स्थानाङ्ग सूत्र' में कहा है : प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुनविरमण और परिग्रहविरमण इन पांच स्थानों से जीव कर्म-रज को छोड़ता है :

पचहिं ठाणेहिं जीवा रतं वमंति, तं०—पाणातिवातवेरमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं (५.२.४२३)

इससे यह भी सिद्ध होता है कि जिन बोलों से दीर्घायुष्य कर्म का बंध बताया गया है उनसे कर्मों की निर्जरा भी होती है।

६—अशुभ-शुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतु (गा० ७-६):

तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तंजहा पाणे अतिवातित्ता भवइ मुसं वइत्ता भवइ तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलेत्ता णिंदित्ता खिंसेत्ता गरहित्ता अवमाणित्ता अन्नयरेण अमणुन्नेणं अपीतिकारतेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति (३.१.१२५)

यहाँ अशुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतु इस प्रकार कहे गये हैं :

१—प्राणातिपात,

२—मृषावाद और

३—तथारूप श्रमण निर्ग्रंथ की हीलना, निन्दा, खिंसा, गर्हा और अपमान करते हुए अमनोज्ञ और अप्रीतिकारक आहार का प्रतिलाभ।

प्राणातिपात आदि अशुभ योग हैं। सावद्य हैं। जिन-आज्ञा के विरुद्ध हैं। तीव्र परिणाम पूर्वक इन अशुभ कर्त्तव्यों को करने से अशुभ दीर्घायुष्य का बंध होता है।

शुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतुओं का सूचक पाठ इस प्रकार है :

तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउअत्ताते कम्मं पगरेंति, तंजहा—णो पाणे अतिवातित्ता भवइ णो मुसं वदित्ता भवइ तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारित्ता समाणेत्ता कल्लाणं मंगलं देवत्तं चेतितं पज्जुवासेत्ता मणुन्नेणं पीतिकारएणं असण-पाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुहदीहाउतत्ताते कम्मं पगरेंति (३.१.१२५)।

यहाँ शुभ दीर्घायुष्यकर्म के बंध-हेतु इस प्रकार कहे गये हैं :

१—प्राणातिपात न करना,

३—तथारूप श्रमण माहन को वंदन-नमस्कार, सत्कार-सम्मान कर, उस कल्याणरूप, मंगलरूप, दैवत चैत्य की पर्युपासना कर उसे मनोज्ञ, प्रियकारी आहार से प्रतिलाभित करना।

शुभ दीर्घायुष्यकर्म पुण्य की प्रकृति है। उसके यहाँ वर्णित बंध-हेतु भी शुभ हैं।

'समवायाङ्ग' में कहा है—निर्जरा पाँच हैं : प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण, मैथुनविरमण और परिग्रहविरमण :

पंच निज्जरट्ठाणा पन्नत्ता, तंजहा—पाणाइवायाओ वेरमणं, मुसावायाओ वेरमणं, अदिन्नादाणाओ वेरमणं, मेहुणाओ वेरमणं, परिग्गहाओ वेरमणं (५. ६)।

इस पाठ को 'स्थानाङ्ग' के उपर्युक्त पाठ के साथ पढ़ने से यह स्पष्ट है कि जिन बोलों से शुभायुष्यकर्म का बंध बतलाया गया है उनसे निर्जरा भी होती है।

७—अशुभ-शुभ आयुष्यकर्म का बंध और भगवतीसूत्र (गा० १०) :

यहाँ 'भगवती सूत्र' के जिस पाठ का उल्लेख है, वह इस प्रकार है :

कहं णं भंते ! जीवा असुभदीउयत्ताए कम्मं पकरेंति ? गोयमा ! पाणे अइवाएत्ता, मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा, माहणं वा हीलित्ता निंदित्ता खिंसित्ता गरहित्ता अवमन्नित्ता अन्नयरेणं अमणुन्नेणं अपीतिकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेत्ता एवं खलु जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति (५. ६)।

कहं णं भंते ! जीवा सुभदीहाउयत्ताय कम्मं पकरेंति ?

गोयमा ! नो पाणे अइवाइत्ता नो मुसं वइत्ता तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता वा नमंसित्ता जाव पज्जुवासित्ता अन्नयरेणं मणुन्नेणं पीतिकारएणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता एवं खलु जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति (५.६)।

'भगवती' का यह पाठ गौतम और भगवान महावीर के प्रश्नोत्तर रूप में है जब कि 'स्थानाङ्ग' का पाठ 'भगवती' के उत्तर मात्र का संकलन है। दोनों पाठों का अर्थ एक ही है। यह पाठ भी इसी बात को सिद्ध करता है कि पुण्य-कर्म के बंध-हेतु शुभ योग रूप होते हैं और पापकर्म के बंध-हेतु अशुभ योग रूप।

८—वंदना से निर्जरा और पुण्य दोनों (गा० ११) :

'उत्तराध्ययन' का सम्बंधित पाठ इस प्रकार है :

वन्दणएणं भन्ते जीवे किं जणयइ। व० नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं

निबन्धइ । सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ दाहिणभावं च णं जणयइ ॥

(२६.१०)

शिष्य ने पूछा—"भगवन् ! जीव वन्दना से क्या उत्पन्न करता है ?" भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"नीच गोत्रकर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्रकर्म का बंध करता है, अप्रतिहत सौभाग्य तथा आज्ञा-फल प्राप्त करता है और दाक्षिण्य भाव उत्पन्न करता है।"

'वन्दना' का अर्थ है मुनियों का स्तवन करना। यह शुभ योग है। नीच गोत्रकर्म का क्षय निर्जरा है। उच्च गोत्र का बंध पुण्य-कर्म प्रकृति का बंध है। शुभ योग से निर्जरा होती है और सहज रूप से पुण्य का बंध होता है, यह सिद्धान्त इस प्रश्नोत्तर से अच्छी तरह सिद्ध होता है।

६—धर्मकथा से निर्जरा और पुण्य दोनों (गा० १२):

'उत्तराध्ययन सूत्र' के जिस पाठ का यहाँ संकेत है, वह इस प्रकार है :

धम्मकहाए णं भन्ते जीवे किं जणयइ। ध० निज्जरं जणयइ। धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ। पवयणपभावेणं जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबन्धइ॥ २६.२३

इसका अर्थ है :

"हे भन्ते ! धर्मकथा से जीव क्या उत्पन्न करता है ?" "वह निर्जरा करता है। धर्मकथा से प्रवचन की प्रभावना होती है। प्रवचन की प्रभावना से जीव आगामिक काल में भद्र रूप कर्मों का बंध करता है।"

धर्मकथा स्वाध्याय तप का भेद है[1]। तप का लक्षण ही कर्मों को दूर करना है। टीकाकार ने धर्मकथा से शुभानुबन्धि शुभकर्म का फल बतलाया है[2]।

यहाँ भी शुभ योग से निर्जरा और पुण्य दोनों कहे हैं। धर्मकथा करना निश्चय ही शुभ योग है, निरवद्य है और जिन-आज्ञा में है।

१—उत्त० ३०. ३४

वायणा पुच्छणा चेव तहेव परियट्टणा।
अणुप्पेहा धम्मकहा सज्झाओ पंचहा भवे॥

२—**धर्मकथा आगमिष्यतीति आगमः—आगामी कालस्तस्मिन् शश्वद्भद्रतया—अनवरतकल्याणतयोपलक्षितं कर्म निबध्नाति, शुभानुबन्धिशुभमुपार्जयतीति भावः**

१०—वैयावृत्य से निर्जरा और पुण्य दोनों (गा० १३) :

यहाँ 'उत्तराध्ययन' के जिस पाठ की ओर संकेत है वह इस प्रकार है :

वेयावच्चेणं भन्ते जीवे किं जणयइ। वे० तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबन्धइ॥

(२९.४३) इसका अर्थ यह है :

"भन्ते ! वैयावृत्य से जीव क्या उत्पन्न करता है ?" "वह तीर्थंकर नामकर्म का बंध करता है।"

निरवद्य वैयावृत्य शुभ योग है। वैयावृत्य आभ्यंतरिक तपों में से एक तप है[1]। अत: उससे निर्जरा स्वयंसिद्ध है। उसका फल पुण्य प्रकृति का बंध भी है।

११—तीर्थङ्कर नामकर्म के बंध-हेतु (गा० १४) :

इस विषय का 'ज्ञाताधर्मकथा' का पाठ इस प्रकार है :

इमेहिं य णं वीसाएहि य कारणेहिं आसेवियबहुलीकएहिं तित्थयरनामगोयं कम्मं निव्वत्तेइ तंजहा—

अरहंतसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छल्लया य तेसिं अभिक्ख नाणोवओगोय॥ १॥
दंसणविणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य॥ २॥
अपुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पहावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ सो उ॥ ३॥

नायाधम्मकहाओ ८

यहाँ तीर्थंकर नामकर्म के बंध-हेतुओं की संख्या बीस बतलायी गयी है जबकि 'तत्त्वार्थसूत्र' में इनकी संख्या १६ ही प्राप्त है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने (१) सिद्ध-वत्सलता, (२) स्थविर-वत्सलता, (३) तपस्वी-वत्सलता और (४) अपूर्व ज्ञानग्रहण इन चार हेतुओं को सूत्रगत नहीं किया। भाष्य में 'प्रवचन वात्सलत्व' की व्याख्या में वृद्ध और तपस्वी के संग्रह-उपग्रह-अनुग्रह को अवश्य ग्रहण किया है।

१—उत्त० ३०.३०

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विओसग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो॥

हम यहाँ आगमोक्त बीसों हेतुओं का तत्त्वार्थभाष्य, सर्वार्थसिद्धि टीका और सिद्धसेन टीका आदि के आधार से स्पष्टीकरण कर रहे हैं :

जिन बोलों से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है वे इस प्रकार हैं :

(१) **अरिहंत-वत्सलता** : घनघातिय कर्मों का नाश कर केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करने वाले अर्हतों की आराधना—सेवा[१]। 'तत्त्वार्थसूत्र' में इसके स्थान पर 'अरिहंत भक्ति'—'**परमभावविशुद्धियुक्ताभक्तिः**' (६.२३ और भाष्य) है। भक्ति अर्थात् परम—उत्कृष्ट भाव-विशुद्धि युक्त अनुराग[२]।

श्री सिद्धसेनगणि ने यहाँ भक्ति की व्याख्या करते हुये लिखा है—"सद्भूत अतिशयों का कीर्तन; वन्दन; सेवा; पुष्प, धूप, गन्ध से अर्चन; आयतन-प्रतिमाप्रतिष्ठापन और स्नानविधिरूप भक्ति[३]।" यह अर्थ मूल सूत्र भाष्यानुसारी नहीं, यह स्पष्ट है। '**परमभावविशुद्धियुक्ताभक्तिः**' इसका अर्थ इन्होंने यथासंभव अभिगमन, वन्दन, पर्युपासन आदि भी किया है[४] और वही ठीक है।

(२) **सिद्ध-वत्सलता** : सिद्धों की आराधना—स्तव, गुणगान[५]।

(३) **प्रवचन-वत्सलता**। तत्त्वार्थ—'प्रवचनभक्ति'। श्रुतज्ञान—सिद्धान्त का गुणगान[६]। अर्हत शासन के अनुष्ठायी श्रुतधर, बाल, वृद्ध तपस्वी, शैक्ष, ग्लानादि का संग्रह-उपग्रह-अनुग्रह। बछड़े पर गाय जिस तरह स्नेह रखती है उस तरह साधर्मिक पर निष्काम स्नेह[७]।

१—जयाचार्य (भ्रमविध्वंसनम्) पृ० ३८१-८२

२—**सर्वार्थसिद्धि : भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः**

३—**सिद्धसेन टीका : सद्भूतातिशयोत्कीर्तनवन्दनसेवापुष्पधूपगन्धाभ्यर्चनायतनप्रतिमाप्रतिष्ठापनस्नपनविधिरूपा**

४—**सिद्धसेन टीका : यथासम्भवमभिगमनवन्दनपर्युपासनयथाविहितक्रमपूर्वकाध्ययन-श्रवणश्रद्धानलक्षणा**

५—जयाचार्य (भ्रमविध्वंसनम्) पृ० ३८२

६—जयाचार्य (भ्रमविध्वंसनम्) पृ० ३८२

७—(क) **भाष्य : अर्हच्छासनानुष्ठायिनां श्रुतधराणां बालवृद्धतपस्विशैक्षग्लानादीनां च सङ्ग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति।**

(ख) **सर्वार्थसिद्धि : वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्।**

सिद्धसेन के अनुसार 'प्रवचन-भक्ति' का अर्थ है—आगम—श्रुतज्ञान का विहित-क्रम-पूर्वक श्रवण, श्रद्धान आदि[1] ।

(४) **गुरु-वत्सलता** : धर्म-गुरु का विनय[2] । 'तत्त्वार्थसूत्र' में इसके स्थान में 'आचार्य-भक्ति' है ।

(५) **स्थविर-वत्सलता** : ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध स्थविर साधुओं का विनय[3] ।

(६) **बहुश्रुत-वत्सलता** : बहुआगम अभ्यासी साधु का विनय । इसके स्थान में 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'बहुश्रुत-भक्ति' है ।

(७) **तपस्वी-वत्सलता** : एक उपवास से आरम्भ कर बड़ी-बड़ी तपस्याओं से युक्त मुनियों की सेवा-भक्ति[4] ।

(८) **अभिक्ष्णज्ञानोपयोग** : अभीक्ष्ण मुहुःमुहुः—प्रतिक्षण । ज्ञान अर्थात् द्वादशांग-प्रवचन । उपयोग अर्थात् प्रणिधान—सूत्र, अर्थ और उभय में आत्मव्यापार, आत्म-परिणाम । वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेश का अभ्यास[5] । जीवादि पदार्थ विषयक ज्ञान में सतत जागरूकता[6] ।

(९) **दर्शन-विशुद्धि** : जिनों द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों में शंकादि दोषरहित निर्मल रुचि, प्रीति, दृष्टि, दर्शन का होना[7] । तत्त्वों में निर्मल श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन का होना ।

१—देखिए पृ० २१४ पा० टि० ४

२—जयाचार्य (भ्रमविध्वंसनम्) पृ० ३८२

३—वही पृ० ३८२

४—वही पृ० ३८२

५—सिद्धसेन टीका

६—सर्वार्थसिद्धि : जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषये सम्यग्ज्ञाने नित्यं युक्तता अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः

७—(क) सिद्धसेन टीका ।

(ख) सर्वार्थसिद्धि : जिनेन भगवताऽर्हतपरमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचिर्दर्शनविशुद्धिः

१०—**विनया तत्त्वार्थ** : विनय संपन्नता। सम्यग्ज्ञानादि रूप मोक्ष मार्ग, उसके साधन आदि में उचित सत्कार आदि विनय से युक्त होना[1]। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार विनय से युक्त होना[2]।

११—**आवश्यक । तत्त्वार्थ** : 'आवश्यकापरिहाणि'। सामायिक आदि छह आवश्यकों का भावपूर्वक अनुष्ठान करना, उनका भावपूर्वक कभी भी परित्याग न करना[3]।

१२—**शील-व्रतानतिचार** : हिंसा, असत्य आदि से विमरण रूप मूल गुणों को व्रत कहते हैं। उन व्रतों के पालन में उपयोगी उत्तर गुणों को शील कहते हैं। उनके पालन में जरा भी प्रमाद न करना। उनका अनतिचार पालन करना। व्रत और शील में निरवद्य वृत्ति[4]।

१३—**क्षणलव संवेग** : तत्त्वार्थ : 'अभीक्ष्ण संवेग'। सांसारिक भोगों के प्रति सतत—नित्य उदासीनता[5]।

१४—**तप** : अनशन आदि तप। शक्ति को न छिपाकर मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर-क्लेश यथाशक्ति तप है[6]।

१—**सर्वार्थसिद्धि : सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षमार्गेषु तत्साधनेषु च गुर्वादिषु स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरो विनयस्तेन सम्पन्नता विनयसम्पन्नता।**

२—(क) जयाचार्य (भ्रम विध्वंसनम्) पृ० ३८९

(ख) सिद्धसेन टीका

३—(क) भाष्य : सामायिकादीनामावश्यकानां भावतोऽनुष्ठानस्यापरिहाणिः।

(ख) सर्वार्थसिद्धि : षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालं प्रवर्तनमावश्यकापरिहाणिः।

४—(क) भाष्य : शीलव्रतेष्वात्यन्तिको भृशमप्रमादोऽनतिचारः।

(ख) सिद्धसेन टीका : शीलमुत्तरगुणाः पिण्डविशुद्धिसमितिभावना (द्यः) प्रतिमाभिग्रहलक्षणा···व्रतग्रहणात् पञ्च महाव्रतानि रजनीभक्तविरतिपर्यवसानान्याक्षिप्तानि।

(ग) सर्वार्थसिद्धि : अहिंसादिषु व्रतेषु तत्प्रतिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतीचारः।

५—सर्वार्थसिद्धि : संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः

६—सर्वार्थसिद्धि : अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधि कायक्लेशस्तप

१५—त्याग : साधु को प्रासुक एषणीय दान। यथाशक्ति यथाविधि प्रयुज्यमान आहार, अभय और ज्ञान-दान यथाशक्ति त्याग है[1]।

सिद्धसेन ने 'त्याग' का अर्थ भूतों को और विशेषतः यतियों को दान देना किया है। यतियों के अतिरिक्त अन्य भूतों को दिया गया दान 'त्याग' की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आता। अभयदेव ने यतिजनोचित दान को ही त्याग कहा है।

१६—वैयावृत्त्य। तत्त्वार्थ. : 'संघसाधुवैयावृत्त्यकरण'। दिगंबरीय पाठ में 'संघ' शब्द नहीं है। संघ का अर्थ सिद्धसेन ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका किया है[2]। इनके अनुसार वैयावृत्त्य का अर्थ है संघ तथा साधुओं की प्रासुक आहारादि से सेवा करना[3]। दिगम्बरीय पाठ में 'संघ' शब्द न होने से साधुओं के अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाओं की वैयावृत्त्य का भाव नहीं आता। वैयावृत्त्य का आगमिक अर्थ है दस-विध सेवा अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, कुल, गण, संघ और साधर्मिक की सेवा। यहाँ संघ का अर्थ है गण—समुदाय[4]। साधर्मिक का अर्थ है समान धर्मवाला साधु अथवा

१—(क) भाष्य : यथाशक्तिस्त्यागः

(ख) नायाधम्मकहाओ ८.६९ अभयदेव टीका : चियाए त्यागेन—यतिजनोचित दानेन

(ग) सवार्थसिद्धि : त्यागो दानम्। तत्त्रिविधम्—आहारदानमभयदानं ज्ञानदानं चेति। तच्छक्तितो यथाविधि प्रयुज्यमानं त्याग इत्युच्यते।

(घ) सिद्धसेन टीका : स्वस्य न्यायार्जितस्यानुकम्पानिर्जितात्मानुग्रहालम्बनं भूतेभ्यो विशेषतस्तु विधिना यतिजनाय दानम्।

२—सिद्धसेन टीका : सङ्घः—समूहः सम्यक्त्वज्ञानचरणानां तदाधारश्च साध्वादिश्चतुर्विधः।

३—सिद्धसेन टीका : व्यावृत्तस्य भावो वैयावृत्त्यं, साधूनां, मुमुक्षूणां प्रासुकाहारोपधि-शय्यास्तथा भेषज विश्रामणादिषु पूर्वत्र च व्यावृत्तस्य मनोवाक्कायैः शुद्धः परिणामो वैयावृत्त्यमुच्यते।

४—(क) ठाणाङ्ग ५. १-३९७ टीका : कुलं—चान्द्रादिकं साधुसमुदायविशेषरूपं प्रतीतं, गणः—कुलसमुदायः सङ्घो—गणसमुदाय।

(ख) भगवती : ८-८ की वृत्ति : समूहंणं—ति समूहं—साधुसमुदायं प्रतीत्य, तत्र कुलं चान्द्रादिकं, तत्समूहो गणः कोटिकादिः, तत्समूहस्सघंः, प्रत्यनीकता चैतेषामवर्णवादादिभिरिति।

साध्वी[1]। अतः सिद्धसेन का संघ शब्द का अ सन्देहास्पद है। 'सर्वार्थसिद्धि' में इसका अर्थ किया है—"गुणियों में—साधुओं में दुःख पड़ने पर निरवद्य विधि से उसे दूर करना[2]।"

१७—**समाधि :** इसके स्थान में 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'संघसाधुसमाधिकरण' है। दिगंबरीय पाठ में 'संघ' शब्द नहीं है। जैसे भाण्डागार में आग लग जाने पर बहुत से लोगों का उपकार होने से आग को शान्त किया जाता है उसी प्रकार अनेक व्रत और शील से समृद्ध मुनि के तप करते हुए किसी कारण से विघ्न उत्पन्न होने पर उसका संधारण करना—शान्त करना साधु-समाधि है[3]।

'समाधि' का अर्थ है चित्तस्वास्थ्य[4]। सिद्धसेन ने इसका अर्थ किया है—स्वस्थता, निरुपद्रवता का उत्पादन।

१८—**अपूर्व ज्ञान-ग्रहण :** अप्राप्त ज्ञान का ग्रहण करना।

१९—**श्रुति-भक्ति :** सिद्धान्त की भक्ति।

२०—**प्रवचन-प्रभावना :** 'तत्त्वार्थसूत्र' में इसके स्थान पर 'मार्ग-प्रभावना' है। अभिमान छोड़, ज्ञानादि मोक्ष मार्ग को जीवन में उतारना और दूसरों को उसका उपदेश दे कर उसका प्रभाव बढ़ाना[5]।

आचार्य पूज्यपाद ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—"ज्ञान, तप, दान और जिन-पूजा के द्वारा धर्म का प्रकाश करना[6]।"

यह व्याख्या आचार्य उमास्वाति की स्वोपज्ञ उपर्युक्त व्याख्या से भिन्न है। दान और जिन-पूजा को प्रवचन-प्रभावना का अंग मानना मूल आगमिक व्याख्या से बहुत दूर है।

१—(क) ठाणाङ्ग ५-१-३९७ टीका :
साधर्मिकः समानधर्मा लिङ्गत : प्रवचनतश्चेति

(ख) ठाणाङ्ग १०.१.७१२ टीका : साहम्मिय—त्ति समानो धर्म्मःसधर्म्मस्तेन चरन्तीति साधर्म्मिकाः— साधवः

२—सर्वार्थसिद्धि : गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्त्यम्।

३—सर्वार्थसिद्धि : यथा भाण्डागारे दहने समुत्थिते तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारत्वात्तथाऽनेकव्रतशीलसमृद्धस्य मुनेस्तपसः कुतश्चित्प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्सन्धारणं समाधिः

४—नायाधम्मकहाओ ८.६९ अभयदेव टीका :

५—भाष्य : सम्यग्दर्शनादेर्मोक्षमार्गस्य निर्हत्य मानं करणोपदेशाभ्यां प्रभावना

६—सर्वार्थसिद्धि : ज्ञानतपोदानजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना

तीर्थङ्कर बंधकर्म के जो हेतु आगमिक परम्परा तथा श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रंथकारों के द्वारा प्रतिपादित हैं वे सब शुभ योग रूप हैं। उनके अर्थ में बाद में जो अन्तर आया वह स्पष्ट कर दिया गया है। उनमें से अनेक बोल बारह प्रकार के तपों के भेद हैं, जिनमें निर्जरा स्वयंसिद्ध है। इस तरह सावद्य योगों से निर्जरा और साथ ही पुण्य का बंध होता है, यह अच्छी तरह से सिद्ध है।

१२—निरवद्य सुपात्र दान से मनुष्य-आयुष्य का बंध (गा० १५) :

'सुख विपाक सूत्र' में सुबाहु कुमार का कथा-प्रसंग इस रूप में है :

एक बार भगवान महावीर हस्तिशीर्ष नामक नगर में पधारे। वहाँ के राजा अदीनशत्रु का पुत्र सुबाहु कुमार उनके दर्शन के लिए गया। वह इष्ट, इष्टरूप, कान्त, कान्तरूप, प्रिय, प्रियरूप, मनोज्ञ, मनोज्ञरूप, मनोहर, मनोहररूप, सौम्य, सुभग, प्रियदर्शन और सुरूप था। गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—"भन्ते! सुबाहु-कुमार को ऐसी इष्टता, सुरूपता और उदार मनुष्य-ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई है? पूर्व भव में वह क्या था?" भगवान महावीर ने बतलाया—'पूर्व भव में सुबाहु कुमार हस्तिनापुर नगर का सुमुख नामक गाथापति था। एक बार धर्मघोष नामक स्थविर हस्तिनापुर पधारे। उनके सुदत्त नामक अनगार महीने-महीने का तप करते थे। एक बार मासिक तपस्या के पारण के दिन सामुदानिक गोचरी के लिए वे हस्तिनापुर में गये। सुदत्त अनगार को आते हुए देख कर सुमुख गाथापति अत्यन्त हर्षित और सन्तुष्ट हुआ। वह आसन से उठ बैठा। फिर आसन से उतर उसने जूते उतारे। एक-साटिक उत्तरासन लगा सात-आठ हाथ सामने गया और तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमस्कार किया। वंदना और नमस्कार कर वह भत्तघर—रसोईघर की ओर गया। 'अपने हाथ से विपुल अशन-पान-खाद्य और स्वाद्य का दान दूंगा'—ऐसा सोच तुष्ट—प्रमुदित हुआ। देते समय भी तुष्ट—प्रमुदित हुआ। देकर भी तुष्ट—प्रमुदित हुआ। शुद्ध द्रव्य, शुद्ध दाता, शुद्ध पात्र होने से तथा तीन करण तीन योगों की शुद्धिपूर्वक सुदत्त अनगार को दान देने से सुमुख गाथापति ने संसार को परीत—संक्षिप्त किया; मनुष्य-आयुष्य का बंध किया[1]। सुमुख गाथापति बहुत दिनों तक जीवित रहा और वहाँ से

१—वंदित्ता णमंसित्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सएणं हत्थेणं विपुलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभिस्सामि त्ति तुट्ठे, पडिलाभेमाणे वि तुट्ठे पडिलाभिए त्ति तुट्ठे। तए णं तस्स सुमुहस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं पत्तसुद्धेणं तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं सुदत्ते अणगारे पडिलाभिए समाणे संसारे परित्तीकते मणुस्साउए निबद्धे

कालकर हस्तिशीर्ष नगर में अदीनशत्रु के यहाँ धारिणी की कुक्षि से पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ है। गौतम! सुबाहु कुमार ने इस प्रकार दान देने से इष्टता आदि उदार मनुष्य-ऋद्धि प्राप्त की है।"

इसी तरह 'सुख विपाक सूत्र' के शेष ९ अध्ययनों में भद्रनन्दि कुमार, सुजात कुमार सुवासव कुमार, जिनदास, वैश्रमण कुमार, महाबल कुमार, भद्रनन्दि कुमार, महचन्द्र-कुमार और वरदत्त कुमार के संसार परीत—संक्षिप्त करने और मनुष्य-आयुष्य प्राप्त करने का उल्लेख है।

निरवद्य सुपात्र दान से निर्जरा और साथ ही पुण्य-कर्म का बंध होता है, यह इन प्रकरणों से प्रकट है।

१३—साता-असाता वेदनीयकर्म के बंध-हेतु (गा० १६-१७) :

यहाँ 'भगवतीसूत्र' के जिस पाठ का उल्लेख है वह इस प्रकार है :

कहं णं भन्ते! जीवाणं सातावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति? गोयमा! पाणाणुकंपयाए भूयाणुकंपयाए जीवाणुकंपयाए सत्ताणुकंपयाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति।

कहं णं भन्ते! जीवाणं असायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति? गोयमा! पर-दुक्खणयाए परसोयणयाए परजूरणयाए परतिप्पणयाए परपिट्टणयाए परपरियावणयाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जाव परियावणयाए एवं खलु गोयमा! जीवाणं अस्सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति। (७.६)

गौतम : "भन्ते! जीव साता वेदनीय कर्म का बंध कैसे करते हैं?"

महावीर : "गौतम! प्राणानुकम्पा[1] से, भूतानुकम्पा से, जीवानुकम्पा से, सत्त्वानुकम्पा से, बहु प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को दुःख[2] न करने से, शोक[3] न करने से,

---

१—अनुकम्पा : जैसे मुझे दुःख अप्रिय है वैसे ही दूसरे प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को है, इस भावना से किसी को क्लेश उत्पन्न न करना।

'अनुग्रह से दुःख दयार्द्र चित्त वाले का दूसरे की पीड़ा को अपनी ही मानने का भाव।'

२—दुःख पीड़ा रूप आत्म परिणाम।

३—शोक : शोचन=दैन्य; उपकारी से सम्बन्ध तोड़ कर विकलता उत्पन्न करना।

अजूरण[४] से, अटिप्पण[५] से, अपिट्टन[६] से, अपरितापन से। हे गौतम ! इस तरह जीव साता वेदनीय कर्म का बंध करते हैं।"

गौतम : "भन्ते जीव असाता वेदनीय कर्म का बंध कैसे करते हैं ?"

महावीर : "गौतम ! परदुःख से, परशोक से, परजूण से, परटिप्पण से, परपिट्टन से, परपरितापन से, बहु प्राणी, भूत, जीव और सत्वों को दुःख देने से, शोक करने से, जूण से, टिप्पण से, पिट्टन से, परितापन से। इस तरह गौतम ! जीव असाता वेदनीय कर्म करता है।"

'तत्त्वार्थसूत्र' में साता और असाता वेदनीय कर्म के बंध-हेतु इस प्रकार बतलाये गये हैं :

भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादि योगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य (६.१३)

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य। ६.१२

(१) भूत-अनुकम्पा, (२) व्रती अनुकम्पा, (३) दान, (४) सरागसंयम आदि योग (५) क्षान्ति और (६) शौच—ये साता वेदनीय कर्म के हेतु हैं।

(१) दुःख, (२) शोक, (३) ताप, (४) आक्रन्दन, (५) वध और (६) परिदेवन—ये असाता वेदनीय कर्म के हेतु हैं।

सरागसंयम के बाद के 'आदि' शब्द द्वारा भाष्य और 'सर्वार्थसिद्धि' दोनों में अकाम निर्जरा और बाल तप को ग्रहण किया गया है।

यह स्पष्ट है कि सातावेदनीय कर्म के जो बंध-हेतु 'तत्त्वार्थसूत्र' में प्रतिपादित हैं वे आगमिक उल्लेख से भिन्न हैं। आगम में दान, सरागसयंम, संयमासंयम, अकाम-निर्जरा और बाल तप इनमें से एक का भी उल्लेख नहीं है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'व्रती-अनुकम्पा' को अलग स्थान दिया है पर आगम में वैसा नहीं है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में वर्णित इन सब हेतुओं का सम्यक् अर्थ करने पर ये सब भी निरवद्य ठहरते हैं।

जीवों को दुःख आदि देना सावद्य कार्य है। दुःखादि न देना निरवद्य है। जीवों को दुःख आदि न देने से निर्जरा होती है, यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। वहाँ उनसे सातावेदनीय कर्म का बंध कहा गया है, जो पुण्य कर्म है। इस तरह शुभ योग निर्जरा और आनुषंगिक रूप से पुण्य के हेतु सिद्ध होते हैं।

४—जूरण : शरीरापचयकारी शोक।

५—टिप्पण : ऐसा शोक जिससे अश्रु लालादि का क्षरण होने लगे।

६—पिट्टन : यष्ट्यादि से ताड़न।

१४—कर्कश-अकर्कश वेदनीय कर्म के बंध-हेतु (गा० १८) :

यहाँ उल्लिखित संवाद 'भगवतीसूत्र' में इस प्रकार है :

कहं णं भंते ! जीवाणं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति? गोयमा ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं एवं खलु गोयमा ! जीवाणं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति।

"भन्ते ! जीव कर्कश वेदनीय कर्म का बंध कैसे करते हैं ?"

"गौतम ! प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य[1] से। हे गौतम ! जीव इस प्रकार कर्कश वेदनीय कर्म का बंध करते हैं ?"

कहं णं भन्ते ! जीवा अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ? गोयमा ! पाणाइवाय-वेरमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं कोहविवेगेणं जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगेणं एवं खलु गोयमा ! जीवाणं अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति। (७.६)

"भन्ते ! जीव अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध कैसे करते हैं ?"

"गौतम ! प्राणातिपात यावत् परिग्रहविरमण से, क्रोध-विवेक यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य-विवेक से। हे गौतम ! इस तरह जीव अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध करते हैं।"

यह पहले बताया जा चुका है कि प्राणातिपात आदि के विरमण से निर्जरा होती है। यहाँ उनके विरमण से अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध बताया गया है, जो शुभ कर्म है। इस प्रकार प्राणातिपात विरमण आदि शुभयोगों से निर्जरा और बंध दोनों का होना प्रमाणित होता है।

१५—अकल्याणकारी-कल्याणकारी कर्मों के बंध-हेतु (गा० १९-२०) :

'भगवतीसूत्र' में कालोदायी का वार्तालाप प्रसंग इस प्रकार है :

अत्थि णं भंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? हंता, अत्थि। कहं णं भंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?.........कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले तस्स णं आवाए भद्दए भवइ तओ पच्छा विपरिणममाणे विपरिणममाणे दुरूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति।

१—प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह पाप इस प्रकार हैं :

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याखान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य।

अत्थि णं भंते ! जीवाणं कल्लाणा कम्मा कल्लाणफलविवागसंजुत्ता कज्जन्ति ? हंता ! अत्थि । कहं णं भंते ! जीवाणं कल्लाणा कम्मा जाव कज्जन्ति ?···कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे तस्स णं आवाए नो भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए जाव नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कल्लाणा कम्मा जाव कज्जंति । (७.१०)

इसका भावार्थ इस प्रकार है :

"भगवन् ! जीवों के किये हुये पाप-कर्मों का परिपाक पापकारी होता है ?" "कालोदायी ! होता है।" "भगवन् ! यह कैसे होता है ?" "कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यंजनों से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है, वह (भोजन) आपातभद्र (खाते समय अच्छा) होता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है त्यों-त्यों उसमें दुर्गन्ध पैदा होती है—वह परिणाम-भद्र नहीं होता । कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य (अठारह प्रकार के पाप कर्म) आपातभद्र और परिणाम विरस होते हैं । कालोदायी ! इस तरह पाप-कर्म पाप-विपाक वाले होते हैं।"

"भगवन् ! जीवों के किये हुये कल्याण-कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है ?" "कालोदायी ! होता है।" "भगवन् ! कैसे होता है ?" "कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक शुद्ध (परिपक्व) अठारह प्रकार के व्यंजनों से परिपूर्ण, औषधि-मिश्रित भोजन करता है, वह आपातभद्र नहीं लगता, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है त्यों-त्यों उसमें सुरूपता, सवर्णता और सुखानुभूति उत्पन्न होती है—वह परिणामभद्र होता है। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपातविरति यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विरति आपातभद्र नहीं लगती, किन्तु परिणामभद्र होती है। कालोदायी ! इस तरह कल्याण-कर्म कल्याण-विपाक वाले होते हैं।"

इस प्रसंग में पाप कर्म पाप-विपाक वाले और कल्याण कर्म कल्याण-विपाक वाले कहे गये हैं। प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य इन अठारह पापों के सेवन से पाप-कर्म का बंध और उनकी विरति से कल्याणकर्म का बंध कहा गया है। यहाँ भी प्रकारान्तर से—शुभयोग से ही पुण्य-कर्म की प्राप्ति कही गई है। प्राणातिपातविरति यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से निर्जरा होती ही है।

१६—साता-असाता वेदनीय कर्म के बंध-हेतु विषयक अन्य पाठ (गा० २१-२२):

इन गाथाओं में 'भगवतीसूत्र' के जिस पाठ का संकेत है वह इस प्रकार है :

सायावेयणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? गोयमा ! पाणाणुकंपयाए भूयाणुकंपयाए एवं जहा सत्तमसए दुस्समाउद्देसए जाव अपरियावणयाए सायावेयणिज्जकम्मासरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएणं सायावेयणिज्जकम्मा० जाव बंधे। असायावेयणिज्ज—पुच्छा। गोयमा ! परदुक्खणयाए परसोयणयाए जहा सत्तमसए दुस्समाउद्देसए जाव परियावणयाए असायावेयणिज्जकम्मा० जाव पओगबंधे। (८.९)

इस पाठ का अर्थ वही है जो टिप्पणी १३ में दिये हुए पाठ का है। इस पाठ से भी शुभयोग से ही पुण्य-कर्म का बंध ठहरता है।

१७—नरकायुष्य के बंध हेतु (गा० २३) :

इस विषय में 'भगवतीसूत्र' का पाठ इस प्रकार है :

नेरइयाउयकम्मासरीर-पुच्छा। गोयमा ! महारंभयाए, महापरिग्गहयाए, कुणिमाहारेणं, पंचिंदियवहेणं, नेरइयाउयकम्मासरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएणं नेरइयाउयकम्मा सरीर० जाव पओगबंधे। (८.९)

यहाँ नरकायुष्यकार्मणशरीरप्रयोग बंध के हेतु इस प्रकार बताये गये हैं :

१—महा आरम्भ,

२—महा परिग्रह,

३—मांसाहार,

४—पंचेन्द्रिय जीवों का वध और

५—नरकायुष्यकार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

'स्थानाङ्ग' में इस विषय का पाठ इस प्रकार है :

चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरतियत्ताए कम्मं पकरेंति, तंजहा—महारंभताते महापरिग्गहयाते पंचिंदियवहेणं कुणिमाहारेणं (४.४.३७३)

'तत्त्वार्थसूत्र' में बहुआरम्भ, बहुपरिग्रह शील-राहित्य और व्रत-राहित्य को नरकायुष्य के बंध-हेतु कहे हैं :

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः। (६.१६)
निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्। (६.१९)

आगम उल्लिखित हेतुओं में शील-राहित्य और व्रत-राहित्य का नाम नहीं है। नरकायुष्य अशुभ है। उसके बंध-हेतु भी अशुभ हैं।

१८—तिर्यंच आयुष्य के बंध-हेतु (गा० २४) :

इन बंध-हेतुओं का वर्णन 'भगवती सूत्र' में इस प्रकार है :

तिरिक्खजोणियाउअकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! माइल्लयाए, नियडिल्लयाए अलियवयणेणं कूडतुल-कूडमाणेणं, तिरिक्खजोणियाउअकम्मा० जाव पयोगबंधे।

(भग० ८.६)

यहाँ तिर्यंचायुष्कार्मणशरीरप्रयोगबंध के निम्न हेतु कहे गये हैं :

(१) मायावीपन,

(२) निकृति भाव—कापट्य,

(३) अलीक वचन—झूठ,

(४) झूठे तोल-माप और

(५) तिर्यंचायुष्कार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

'स्थानाङ्ग' का पाठ इस प्रकार है :

चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं०—माइल्लताते णियडिल्लताते अलियवयणेणं कूडतुलकूडमाणेणं (४.४.३७३)

'तत्त्वार्थसूत्र' में माया, निःशीलत्व और अव्रतत्व—ये तिर्यंच-आयुष्यबंध के हेतु कहे गये हैं : **माया तैर्यग्योनस्य (६.१७); निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् (६.१९)।**

आगमोक्त और 'तत्त्वार्थसूत्र' में वर्णित हेतुओं का पार्थक्य स्वयं स्पष्ट है।

अशुभ तिर्यंच आयुष्य के बंध-हेतु भी अशुभ हैं।

१९—मनुष्यायुष्य के बंध-हेतु (गा० २५) :

'भगवतीसूत्र' में मनुष्यायुष्य कर्म के बंध-हेतुओं का वर्णन इस प्रकार है :

मणुस्साउयकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! पगइभद्दयाए, पगइविणीययाए, साणुक्कोसणयाए, अमच्छरियाए, मणुस्साउयकम्मा० जाव पयोगबंधे। (८.९)

मनुष्यायुष्कार्मणशरीरप्रयोगबंध के हेतु ये हैं :

(१) प्रकृति की भद्रता,

(२) प्रकृति की विनीतता,

(३) सानुक्रोशता—सदयता,

(४) अमात्सर्य और

(५) मनुष्यायुष्कार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

इस विषय में 'स्थानाङ्ग' का पाठ इस प्रकार है :

चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताते कम्मं पगरेंति, तंजहा—पगतिभद्दताते पगति विणीययाए साणुक्कोसयाते अमच्छरिताते। (४.४.३७३)

'तत्त्वार्थसूत्र' में मनुष्यायुष्य के बंध-हेतु इस प्रकार वर्णित हैं :

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य। (६.१८)

'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार (१) अल्पारम्भ, (२) अल्पपरिग्रह, (३) मार्दव और (४) आर्जव—ये चार मनुष्यायुष्य कर्म के बंध-हेतु हैं।

आगमोक्त और इन हेतुओं का पार्थक्य स्पष्ट है।

शुभ मनुष्यायुष्य के बंध-हेतु भी शुभ हैं।

२०—देवायुष्य के बंध-हेतु (गा० २६):

देवायुष्य के बंध-हेतुओं का वर्णन 'भगवती सूत्र' के पाठ में इस प्रकार है :

देवाउयकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! सरागसंजमेणं, संजमासंजमेणं, बालतवोकम्मेणं, अकामनिज्जराए, देवाउयकम्मासरीर० जाव पयोगबंधे। (८.९)

यहाँ देवायुष्यकार्मण शरीरप्रयोगबंध के बंध-हेतु निम्न रूप से बताये गये हैं :

(१) सरागसंयम[1],

(२) संयमासंयम[2],

(३) बालतपःकर्म[3],

(४) अकामनिर्जरा[4] और

(५) देवायुष्कार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

१—सकषाय चारित्र। कषायावस्था में सर्व प्राणातिपातविरमण, सर्व मृषावादविरमण, सर्व अदत्तादानविरमण, सर्व मैथुनविरमण और सर्व परिग्रहविरमण रूप पाँच महाव्रतों का पालन। यह सकलसंयम है।

२—पापों के आंशिक त्याग रूप देश-संयम। स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, स्वदारसंतोष, स्थूल परिग्रहविरमणव्रत, दिक्‌परिमाण, उपभोग-परिभोगपरिमाण, अनर्थदण्डविरमण, सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग व्रतों का पालन।

३—बाल अर्थात् मिथ्यात्वी। उसकी निरवद्य तप क्रिया को बालतपःकर्म कहते हैं।

४—कर्म निर्जरा के हेतु अनशन आदि करना सकाम तप है। बिना अभिलाषा—परवशता से—भूख, तृषा, धूपादि के परिषहों को सहन करना अकाम निर्जरा है।

इस विषयक 'स्थानाङ्ग' का पाठ इस प्रकार है :

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तंजहा—सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं बालतवोकम्मेणं अकामणिज्जराए। (४.४.३७३)

'तत्त्वार्थसूत्र' का पाठ इस प्रकार है :

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य। (६.२०)

यहाँ यह विशेष ध्यान देने की बात है कि इन हेतुओं को तत्त्वार्थकार ने साता वेदनीय कर्मबंध के हेतुओं में भी स्थान दिया है।

शुभ देवायुष्य कर्मबंध के हेतु भी शुभ हैं।

२१—शुभ-अशुभ नामकर्म के बंध-हेतु (गा० २७-२८):

यहाँ संकेतित 'भगवतीसूत्र' का पाठ इस प्रकार है :

सुभनामकम्मासरीर—पुच्छा। **गोयमा! काउज्जुययाए, भावुज्जुययाए, भासुज्जुययाए अविसंवादणजोगेणं, सुभनामकम्मासरीर०** जाव **पयोगबंधे। असुभनामकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! कायअणुज्जुययाए, भावअणुज्जुययाए, भासअणुज्जुययाए, विसंवायणाजोगेणं, असुभनामकम्मा०** जाव **पयोगबंधे** (८.९)।

शुभ नामकार्मणशरीरप्रयोगबंध के हेतु इस प्रकार हैं :

(१) काया की ऋजुता,

(२) भाव की ऋजुता,

(३) भाषा की ऋजुता,

(४) अविसंवादनयोग—जैसी कथनी वैसी करनी और

(५) शुभ नामकार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

अशुभ नामकार्मणशरीरप्रयोगबंध के हेतु इस प्रकार हैं :

(१) काया की अनृजुता,

(२) भाव की अनृजुता,

(३) भाषा की अनृजुता,

(४) विसंवादन योग—जैसी कथनी वैसी करनी का अभाव और-

(५) अशुभनामकार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

'तत्त्वार्थसूत्र' में इस विषय का पाठ इस प्रकार है :

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः। (६.२१)

विपरीतं शुभस्य। (६.२२)

शुभ नामकर्म के बंध-हेतु शुभ हैं और अशुभ नामकर्म के अशुभ।

२२—उच्च-नीच गोत्र के बंध-हेतु (गाथा २९-३०) :

'भगवतीसूत्र' में उच्च गोत्रकर्म के बंध-हेतु का जो वर्णन आया है वह इस प्रकार है :

उच्चागोयकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! जातिअमदेणं, कुलअमदेणं, बलअमदेणं, रूवअमदेणं, तवअमदेणं, सुयअमदेणं, लाभअमदेणं, इस्सरियअमदेणं उच्चागोयकम्मासरीर० जाव पयोगबन्धे। नीयागोयकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! जातिमदेणं, कुलमदेणं, बलमदेणं, जाव इस्सरियमदेणं नीयागोयमकम्मासरीर० जाव पयोगबन्धे (८.९)

उच्चगोत्रकार्मणशरीरप्रयोगबंध के हेतु ये हैं :

(१) जाति-मद न होना,

(२) कुल-मद न होना,

(३) बल-मद न होना,

(४) रूप-मद न होना,

(५) तप-मद न होना,

(६) श्रुत-मद न होना,

(७) लाभ-मद न होना,

(८) ऐश्वर्य-मद न होना और

(९) उच्चगोत्रकार्मणशरीरप्रयोग नामकर्म का उदय।

नीचगोत्रकार्मणशरीरप्रयोगबंध के हेतु ये हैं :

(१) जाति-मद,

(२) कुल-मद,

(३) बल-मद,

(४) रूप-मद,

(५) तप-मद,

(६) श्रुत-मद,

(७) लाभ-मद,

(८) ऐश्वर्य-मद और

(९) नीचगोत्रकार्मणशरीरप्रयोगनामकर्म का उदय।

'तत्त्वार्थसूत्र' में उच्च गोत्र तथा नीच गोत्र के बंध-हेतु इस प्रकार हैं :

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य (६.२४)

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य। (६.२५)

इन पाठों के अनुसार परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सदगुणों का आच्छादन और असद्गुणों के प्रकाशन ये नीच गोत्र के बंध-हेतु हैं और इनसे विपरीत अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा आदि उच्च गोत्र के बंध-हेतु हैं।

शुभ उच्च गोत्र के बंध-हेतु शुभ हैं और नीच गोत्र के बंध-हेतु अशुभ हैं।

२३—ज्ञानावरणीय आदि चार पाप कर्मों के बंध-हेतु (गा० ३१) :

कर्म आठ हैं। पुण्य और पाप इन दो कोटियों की अपेक्षा से वर्गीकरण करने पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चारों एकांत पाप की कोटि में आते हैं (देखिए पृ० १५५-६ टि० ३ (१))।

बंध-हेतुओं की दृष्टि से पाप कर्मों के बंध-हेतु भी पाप रूप हैं। जिस करनी से पाप कर्मों का बंध होता है वह सावद्य और जिन-आज्ञा के बाहर होती है। ज्ञानावरणीय आदि चार एकान्त पाप कर्मों के बंध-हेतु नीचे दिये जाते हैं, जिनसे यह कथन स्वतः प्रमाणित होगा।

१—ज्ञानावरणीय कर्म के बंध-हेतु :

(१) ज्ञान-प्रत्यनीकता,
(२) ज्ञान-निह्नव,
(३) ज्ञानान्तराय,
(४) ज्ञान-प्रद्वेष,
(५) ज्ञानाशातना और
(६) ज्ञान-विसंवादन योग।

२—दर्शनावरणीय कर्म के बंध-हेतु :

(१) दर्शन-प्रत्यनीकता,
(२) दर्शन-निह्नव,
(३) दर्शनान्तराय,
(४) दर्शन-प्रद्वेषः,
(५) दर्शनाशातना और
(६) दर्शन-विसंवादन योग।

३—मोहनीय कर्म के बंध-हेतु :

(१) तीव्र क्रोध,

(२) तीव्र मान,

(३) तीव्र माया,

(४) तीव्र लोभ,

(५) तीव्र दर्शन मोहनीय और

(६) तीव्र चारित्रमोहनीय।

४—अन्तराय कर्म के बंध-हेतु :

(१) दानान्तराय,

(२) लाभान्तराय,

(३) भोगान्तराय,

(४) उपभोगान्तराय और

(५) वीर्यान्तराय।

२४—वेदनीय आदि पुण्य कर्मों की निरवद्य करनी (गा० ३२):

ज्ञानावरणीय आदि चार एकान्त पाप-कर्मों के उपरान्त वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र ये चार कर्म और हैं तथा इनके दो-दो भेद हैं :

१—सातावेदनीय	असातावेदनीय
२—शुभ आयुष्य	अशुभ आयुष्य
३—शुभ नाम	अशुभ नाम
४—उच्च गोत्र	नीच गोत्र

इनमें से सातावेदनीय आदि चार पुण्य कोटि के हैं और असातावेदनीय आदि चार पाप कोटि के (देखिए पृ० १५५ टि० ३)।

इनके बंध-हेतुओं का उल्लेख किया जा चुका है तथा यह बताया जा चुका है कि पुण्य रूप सातावेदनीय आदि कर्मों के बंध-हेतु शुभ योग और पाप रूप असातावेदनीय आदि कर्मों के बंध-हेतु अशुभ योग रूप हैं।

उपसंहारात्मक रूप से स्वामीजी ने उसी बात को यहाँ पुनः दुहराया है।

२५—'भगवती सूत्र' में पुण्य-पाप की करनी का उल्लेख (गा० ३३) :

'भगवती सूत्र' शतक ८ उद्देशक ६ से वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म के बंध-हेतुओं से सम्बन्धित पाठों के अवतरण ऊपर दिये जा चुके हैं। ज्ञानावरणीय आदि चार एकान्त पाप कर्मों के बंध-हेतु विषयक पाठ क्रमशः वहाँ इस प्रकार मिलते हैं :

(१) **णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते! कस्स कम्मस्स उदएणं? गोयमा! नाणपडिणीययाए, णाणणिराहवणयाए, णाणंतराएणं, णाणप्पदोसेणं, णाणच्चासायणयाए, णाणविसंवादणाजोगेणं णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएणं णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे।**

(२) **दरिसणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधे णं भंते! कस्स कम्मस्स उदएणं? गोयमा! दंसणपडिणीययाए, एवं जहा णाणावरणिज्जं, नवरं दंसणनामं घेत्तव्वं, जाव दंसणविसंवादणाजोगेणं दंसणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओनामाए कम्मस्स उदएणं जाव पओगबंधे।**

(३) **मोहणिज्जकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! तिव्वकोहयाए, तिव्वमाणयाए, तिव्वमाययाए, तिव्वलोभयाए, तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए, तिव्वचरित्तमोहणिज्जयाए मोहणिज्जकम्मासरीरप्पओग० जाव पओगबंधे।**

(४) **अंतराइयकम्मासरीर—पुच्छा। गोयमा! दाणंतराएणं, लाभंतराएणं, भोगंतराएणं, उवभोगंतराएणं, वीरियंतराएणं अंतराइयकम्मासरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं अंतराइयकम्मासरीरप्योगबंधे।**

२६—कल्याणकारी कर्म-बंध के दस बोल (गा० ३४-३७) :

भिन्न-भिन्न पुण्य कर्मों के बंध-हेतुओं का पृथक-पृथक विवरण पहले आ चुका है। इन गाथाओं में स्वामीजी ने 'स्थानाङ्ग सूत्र' के दसवें स्थानक के उस पाठ का मर्म उपस्थित किया है, जिसमें भद्र कर्मों के प्रधान बंध-हेतुओं का समुच्चय रूप से संकलन है। वह पाठ इस प्रकार है :

दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसिभद्दत्ताए कम्मं पगरेंति तं०—अणिदाणताते, दिट्ठि-संपन्नयाए, जोगवाहियत्ताते, खंतिखमणताते, जिइंदियताते, अमाइल्लताते, अपा-सत्थताते, सुसामण्णताते, पवयणवच्छल्लयाते, पवयणउब्भावणताए। (१०. ७५८)

इसका भावार्थ है—दस स्थानकों से—बातों से जीव आगामी भव में भद्र रूपकर्म प्राप्त करता है :

(१) **अनिदान** : तप आदि धार्मिक अनुष्ठान के फलस्वरूप सांसारिक भोगादि की प्रार्थना-कामना करने को निदान कहते हैं, उसका अभाव ;

(२) **दृष्टिसंपन्नता** : निर्मल सम्यक्दर्शन से संयुक्त होना ;

(३) **योगवाहिता**—समाधिभाव। योगों में, बाह्य पदार्थों के प्रति, उत्सुकता का अभाव ;

(४) **क्षान्ति-क्षमणता** ; आक्रोश, वध, बंधन आदि परिषह-सहन

(५) **जितेन्द्रियता**—इन्द्रिय-दमन ;

(६) **अमायाविता** : छल, कपटादि का अभाव ;

(७) **अपार्श्वस्थता** : ज्ञान, दर्शन, चारित्र की उपासना। शय्यातर पिण्ड, अभिहृत पिण्ड, नित्य पिण्ड, नियताग्र पिण्ड आदि का सेवन न करना ;

(८) **सुश्रामण्य** : पार्श्वस्थितादि अवगुणों से रहित मूल उत्तर गुणों से संयुक्त होना;

(९) **प्रवचन-वत्सलता**—पाँच समितियों और तीन गुप्ति का सम्यक्पालन और

(१०) **प्रवचन-उद्भावनता**—धर्म-कथा-कथन।

यह भद्र कर्म शुभ है और यहाँ वर्णित उसके बंध-हेतु भी शुभ हैं।

इस पाठ से भी यही सिद्ध होता है कि पुण्य कर्मों के बंध-हेतु निरवद्य होते हैं।

२७—पुण्य के नव बोल (गा० ५४) :

द्वितीय ढाल के प्रथम दो दोहों में जो बात कही है वही यहाँ पुनः कही गयी है (देखिए पृ० २००-२०१ टि० १,२)। इस पुनरुक्ति का कारण यह है कि स्वामीजी आगे जाकर इन नवों ही बोलों की अपेक्षा की चर्चा करना चाहते हैं और उस चर्चा की उत्थानिका के रूप में पुनरावृत्ति करते हुए उन्होंने कहा है :

"पुण्य उत्पत्ति के नवों हेतु निरवद्य हैं। वे जिन-आज्ञा में हैं। सावद्य-निरवद्य व्यतिरिक्त रूप से नवों बोल पुण्य-बंध के हेतु नहीं हैं।"

२८—क्या नवों बोल अपेक्षा रहित हैं ? (गा० ४०-४४) :

इन गाथाओं में भी वही चर्चा है, जो आरम्भिक दोहों (३-६) में है। इस संबंध में पूर्व टिप्पणी ३ में कुछ प्रकाश डाला जा चुका है।

कइयों का कथन है कि जिस स्थल पर अन्न पुण्य, पान पुण्य के बोल आए हैं वहाँ पर भगवान ने यह निर्देश नहीं किया है कि अमुक को ही देना, अमुक तरह का अन्न-पान ही देना आदि। इसलिये पात्र-अपात्र, सचित्त-अचित्त, एषणीय-अनेषणीय का प्रश्न नहीं

उठता। सबको सब तरह के भोजन और पेय देने से पुण्य कर्म होता है।

अन्न पुण्य, पान पुण्य आदि का इस प्रकार अर्थ करना स्वामीजी की दृष्टि से न्याय-संगत नहीं। उनके विचार से इस प्रकार का अर्थ करना जिन-प्रवचनों के विपरीत है। अपात्र दान से कभी पुण्य नहीं होता।

२६—पुण्य के नौ बोलों की समझ और अपेक्षा (गा० ४५-५४) :

सूत्रों में अनेक बोल बिना अपेक्षा के दिये हुये हैं। उदाहरण स्वरूप—वंदना का बोल (गा० ११ और टिप्पणी ८)। सूत्र में मात्र इतना ही उल्लेख है कि वंदना से मनुष्य नीच गोत्र का क्षय करता है और उच्च गोत्र का बंध। किसकी वंदना से ऐसा फल मिलता है, इसका वहाँ उल्लेख नहीं। वैसे ही वैयावृत्त्य के बोल में कहा है कि वैयावृत्त्य से तीर्थंकर गोत्र का बंध होता है। किसकी वैयावृत्त्य से तीर्थंकर गोत्र का बंध होता है इसका भी उल्लेख नहीं। सोच-विचार कर इन बोलों की अपेक्षा—संगति बैठानी पड़ती है। इसी प्रकार इन नौ बोलों के संबंध में भी समझना चाहिए। इन नौ बोलों का वही संगतार्थ होगा जो कि आगम का अविरोधी अर्थात् निरवद्य-प्रवृत्ति का द्योतक होगा क्योंकि यह दिखाया जा चुका है कि पुण्य कर्मों की प्रकृतियों के बंध-हेतुओं में एक भी ऐसा कार्य नहीं आता जो सावद्य हो।

स्वामीजी का तर्क है कि नौ बोलों में नमस्कार-पुण्य का भी उल्लेख है। किसे नमस्कार करने से पुण्य होता है, इसका वहाँ कोई स्पष्टीकरण नहीं है, परन्तु इससे हर किसी को नमस्कार करना पुण्य का हेतु नहीं होता। 'नमोक्कार सूत्र' में भगवान ने पाँच नमस्य-पद बतलाये हैं; उन्हींको नमस्कार करने से पुण्य होता है, अन्य लोगों को नमस्कार करने से नहीं।

इसी प्रकार मन पुण्य, वचन पुण्य और काय पुण्य का उल्लेख है, परन्तु दुष्प्रवृत्त मन, वचन और काय से पुण्य नहीं होगा, उनकी शुभ प्रवृत्ति से ही पुण्य होगा। उसी प्रकार अन्न पुण्य, पान पुण्य का अर्थ भी पात्र-अपात्र, सचित्त-अचित्त और एषणीय-अनेषणीय के भेदाधार पर करना होगा। आगमों के अनुसार निर्ग्रंथ साधु को अचित्त, एषणीय अन्न-पान आदि का देना ही पुण्य है। अन्य दान निरवद्य या पुण्य-बंध के हेतु नहीं। स्वामीजी कहते हैं :

(१) यदि अन्न पुण्य, पान पुण्य का अर्थ करते समय पात्र-अपात्र, कल्प्य-अकल्प्य और अचित्त-सचित्त के विवेक की आवश्यकता नहीं और सर्व दानों में पुण्य हो तो उस हालत में स्थान, शय्या और वस्त्र पुण्य के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होगी। मन

पुण्य, वचन पुण्य और काय पुण्य में भी शुभ-अशुभ प्रवृत्ति का अन्तर रखने की आवश्यकता नहीं होगी ; हर प्रकार के मन प्रवर्तन से पुण्य होगा। इसी प्रकार नमस्कार पुण्य में भी नमस्य को लेकर भेद करने की आवश्यकता नहीं रहेगी ; हर किसी को नमस्कार करने से पुण्य होगा। इस तरह 'शुभ योग से पुण्य होता है' यह सर्वमान्य सिद्धान्त ही अर्थशून्य हो जायगा।

(२) यदि नमस्कार पुण्य केवल पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करने से ही मानते हों और मन, वचन तथा काय पुण्य केवल उनके शुभ प्रवर्तन में, तो उस हालत में समुच्चय की स्थापना नहीं टिक सकती। केवल अन्न पुण्य और पान पुण्य को ही समुच्चय—अपेक्षा रहित मानने का कोई कारण नहीं, सबको अपेक्षा रहित मानना चाहिए। यदि नमस्कार पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य और काय पुण्य को सापेक्ष मानते हों तो उस परिस्थिति में अन्न पुण्य, पान पुण्य आदि को भी सापेक्ष मानना होगा और यही कहना होगा कि निर्ग्रंथ-श्रमण को प्रासुक और एषणीय कल्प्य वस्तु देने से ही पुण्य होता है।

(३) दान के सम्बन्ध में श्रमणोपासक का बारहवाँ अतिथिसंविभागव्रत विशेष दिशासूचक है। जहाँ कहीं भी इस व्रत का उल्लेख आया है वहाँ पर श्रमण-निर्ग्रंथ को अचित्त निर्दोष अन्न आदि देने की बात कही गई है। उदाहरण स्वरूप 'सूत्रकृताङ्ग' में कहा है :

"श्रमणोपासक निर्ग्रंथ-श्रमणों को प्रासुक, एषणीय और स्वीकार करने योग्य अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण, औषधि, भैषज्य, पीठ, पाट, शय्या और स्थान देते रहते हैं[१]।"

'भगवती सूत्र' में तुंगिका नगरी के श्रावकों के वर्णन में भी ऐसा ही उल्लेख है[२]। 'उपासकदशाङ्ग सूत्र' के प्रथम अध्ययन में आनन्द श्रावक ने इसी रूप में बारहवें व्रत को धारण किया है[३]। 'सूत्रकृताङ्ग' में आगे जाकर लिखा है : "...इस प्रकार

१—सूत्रकृताङ्ग २.२.३९ : समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीठफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा ...विहरंति।

२—भगवती २.५ : समणे निग्गंथे फासु—एसणिज्जेणं असण—पाण—खाइम—साइमेणं, वत्थ—पडिग्गह—कंबल—पायपुंछणेणं, पीढ—फलग—सेज्जा-संथारएणं ओसह—भेसज्जेणं पडिलाभेमाणा अहापडिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

३—उपासकदशा १.५८ : कप्पइ मे समणे निग्गन्थे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थकम्बलपडिग्गहपायपुंछणेणं पीढफलगसिज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेणं य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए।

जीवन बिताने वाले श्रमणोपासक आयुष्य पूरा होने पर मरण पाकर, महाऋद्धि वाले तथा महाद्युति वाले देवलोकों में से कोई एक देवलोक में जन्म पाते हैं[1]।" इससे प्रकट होता है कि पुण्य का संचय श्रमण-निर्ग्रंथों को अन्न आदि देने से ही होता है और अन्न पुण्यादि का अर्थ इसी रूप में करना अभीष्ट है।

(४) विचार करने पर मालूम देगा कि पुण्य-संचय के जो नौ बोल बताए गये हैं वे वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य कर्मों की शुभ प्रकृतियों के बंध-हेतुओं की संक्षिप्त सूचि-रूप हैं। इन बंध-हेतुओं को सामने रखकर ही नौ बोलों का अर्थ करना उचित होगा। वहाँ तथारूप श्रमण-माहन को अशनादि देने से पुण्य कहा है, सर्व दान में नहीं।

'सुमंगला टीका' में पुण्य-बंध के हेतुओं की व्याख्या करते हुए लिखा है: "सुपात्रों को—तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, स्थविर और मुनियों को अन्न देना; सुपात्रों को निरवद्य स्थान देना; सुपात्रों को वस्त्र देना; सुपात्रों को निर्दोष प्रासुक जल प्रदान करना; सुपात्रों को संस्तारक प्रदान करना; मानसिक शुभ संकल्प; वाचिक शुभ व्यापार; कायिक शुभ व्यापार और जिनेश्वर, यति प्रभृतियों का वंदन-नमस्कार-पूजन आदि ये नौ पुण्य-बंध के हेतु हैं[2]।"

नौ पुण्यों की यह व्याख्या सम्पूर्णतः शुद्ध है और स्वामीजी की व्याख्या से पूर्णरूपेण मिलती है। मूल शब्द 'नमोक्कार पुन्ने' है, जिसमें पुष्पादि से पूजन करने का समावेश

१—सूत्रकृताङ्ग २.२.३६ : ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खायंति बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाएत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेन्ति बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेइत्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तंजहा—महड्ढिएसु महज्जुइएसु जाव महासुक्खेसु

२—श्रीनवतत्त्वप्रकरणम् (सुमङ्गला टीका पृ० ४८-४६): सुपात्रेभ्यः तीर्थकरगणधराऽऽचार्यस्थविरमुनिभ्योऽन्नप्रदानं (१) सुपात्रेभ्यो निरवद्यवसतेर्वितरणम् (२) सुपात्रेभ्यो वाससां प्रदानम् (३) सुपात्रेभ्यो निर्दुष्टप्रासुकजलप्रदानम् (४) सुपात्रेभ्यः संस्तारकस्य प्रदानम् (५) मनसः शुभसंकल्प : (६) वाचः शुभव्यापारः (७)कायस्य शुभव्यापारः (८) जिनेश्वरयतिप्रभृतीनां नमनवंदनपूजनादीनि (६) इत्येतानि नव पुण्यबन्धस्य हेतुत्त्वेनोदाहृतानि, तथा चोक्तं श्रीमत् स्थानाङ्गसूत्रे—"णवविधे-पुण्णे- अन्नपुन्ने १ पाणपुन्ने २ वत्थपुन्ने ३ लेण-पुन्ने ४ सयणपुन्ने ५ मणपुन्ने ६ ... वतिपुन्ने ७ कायपुन्ने ८ नमोक्कार पुन्ने।"

नहीं होता । 'पूजन' शब्द द्वारा पुष्पादि से द्रव्यपूजा का संकेत किया गया है तो वह अवश्य दोषरूप है ।

यह व्याख्या देने के बाद उसी टीका में लिखा है :

"तीर्थंकर, गणधर, मोक्षमार्गानुयायी मुनि ही सुपात्र हैं ।

"देश विरतिवान् गृहस्थ तथा सम्यक्‌दृष्टि पात्र हैं ।

"दीन, करुणा के पात्र, अंगोपांग से हीन व्यक्ति भी पात्रों के उदाहरण में सम्मिलित हैं ।

"इन दो के अतिरिक्त शेष सभी अपात्र हैं ।

"सुपात्रों को धर्मबुद्धि से दिये गये प्रासुक अशनादि के दान से अशुभ कर्मों की महती निर्जरा तथा महान् पुण्य-बंध होता है ।

"देश विरति तथा सम्यक्‌दृष्टि श्रावकों को अन्नादि देने से मुनियों के दान की अपेक्षा अल्प पुण्य-बंध तथा अल्प निर्जरा होती है ।

"अंग विहीनादि को अनुकंपा की बुद्धि से दान देने से श्रावकों को दान देने की अपेक्षा भी अल्पतर पुण्य-बंध होता है ।

"कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति किसी के घर दान के लिए जाता है और उसे यह सोच कर दान देना पड़ता है कि अपने घर आये इस व्यक्ति को यदि कुछ नहीं देता हूँ तो इससे अपने अर्हत् धर्म की लघुता होगी । ऐसा सोच कर दान देने वाला व्यक्ति अल्पतम पुण्य-बंध प्राप्त करता है ।

"करुणा के वशीभूत होकर कुत्ते, कबूतर प्रभृति पशुओं को अभय दान तथा अन्न दान देने से पात्रत्व के अभाव में भी करुणा के कारण निश्चित रूप पुण्य-बंध होगा ही ।

"सत्य स्याद्वादमत से पराङ्मुख अपने घर में आए हुये ब्राह्मण, कापालिक तथा तापसों को धर्म का भाजन समझ कर अथवा यह समझ कर कि इन्हें भी दान देने से पुण्य-बंध होगा—दान न दे । लेकिन मेरे द्वार पर आया हुआ कोई भी व्यक्ति निराश होकर लौट न जाय और यदि वह बिना अन्नादि को पाए ही लौटता है तो इससे जैनधर्म की जुगुप्सा होगी अथवा ऐसा करने से मेरे दाक्षिण्य गुण में कमी आयेगी, ऐसा सोच कर आत्मिक बुद्धि से जिनधर्म से विमुख व्यक्तियों को भी यथाशक्ति अशनादि दान से दान गुण की उपबृंहणा तथा धर्म-प्रभावना होती है[1] ।"

१--श्रीनवतत्त्वप्रकरणम् (सुमंगला टीका) पृ० ४९

'सुमंगला टीका' के उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि स्वस्थ मिथ्यात्वियों को इच्छापूर्वक देने के अतिरिक्त सबको अन्न देने में कम या अधिक पुण्य होता है। तत्त्व निर्णय में दान के निषेध की शंका करने की आवश्यकता नहीं। तथ्य यह है कि आगमों में सुपात्र अर्थात् श्रमण-निर्ग्रंथ को छोड़ कर अन्य किसी को अन्नादि देने से पुण्य होता है, ऐसा विधान कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

श्रावक के बारहवें व्रत अतिथि-संविभाग का स्वरूप बताते हुये तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं :

"न्यायागत, कल्पनीय अन्नपानादि द्रव्यों का, देश-काल-श्रद्धा-सत्कार के क्रम से, अपने अनुग्रह की प्रकृष्ट बुद्धि से संयतियों को दान करना अतिथिसंविभागव्रत है[1]।"

न्यायागत का अर्थ है—अपनी वृत्ति के अनुष्ठान—सेवन से प्राप्त—अर्थात् अपने[2]।

कल्पनीय का अर्थ है—उद्गमादि-दोष-वर्जित[3]।

अन्नपानादि द्रव्यों का अर्थ है—अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, प्रतिश्रय संस्तार और भेषजादि वस्तुएँ[4]।

देश-काल-श्रद्धा-सत्कार के क्रम से का अर्थ है—देश, काल के अनुसार श्रद्धा—विशुद्ध परिणाम और सत्कार—अभ्युत्थान, आसन दान, वंदन अनुव्रजनादि की परिपाटी के साथ[5]।

अनुग्रह की प्रकृष्ट बुद्धि का अर्थ है—मैं पंच महाव्रत युक्त साधु को दे रहा हूं, इसमें मेरा अनुग्रह—कल्याण है, इस उत्कृष्ट भावना से[6]।

१—तत्त्वार्थसूत्र ७.१६ भाष्य : अतिथिसंविभागो नाम न्यायागतानां कल्पनीयानामन्नपानादीनां द्रव्याणां देशकालश्रद्धासत्कारक्रमोपेतं परयात्मानुग्रहबुद्ध्या संयतेभ्यो दानमिति।

२—सिद्धसेन टीका ७.१६ : न्यायो द्विजक्षत्रियविट्शूद्राणां च स्ववृत्त्यनुष्ठानम्।...तेन तादृशा न्यायेनागतानाम्।

३—वही : कल्पनीयानामिति उद्गमादिदोषवर्जितानाम्

४—वही : अशनीयपानीयखाद्यस्वाद्यवस्त्रपात्रप्रतिश्रयसंस्तारभेषजादीनाम्। पुद्गलविशेषाणाम्।

५—वही : श्रद्धा विशुद्धश्चित्तपरिणामः पात्राद्यपेक्षः। सत्कारोऽभ्युत्थानासनदानवन्दनानुव्रजनादिः। क्रमः परिपाटी। देशकालापेक्षो यः पाको निर्वृत्तः स्वगेहे तस्य पेयादिक्रमेण दानम्।

६—वही : परयेति प्रकृष्टया आत्मनोऽनुग्रहबुद्ध्या ममायमनुग्रहो महाव्रतयुक्तैः साधुभिः क्रियते यदशनीयाद्यादद्त इति।

संयतियों को—इसका अर्थ है—मूल उत्तर गुण से सम्पन्न संयतात्माओं को। महाव्रतयुक्त साधुओं को[1]।

भाष्य-पाठ के 'कल्पनीय', 'श्रद्धा-सत्कार', 'अनुग्रह-बुद्धि' और 'सयंति' शब्द और इन शब्दों की 'सिद्धसेन टीका' से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थकार ने संयतियों—साधुओं को ही इस व्रत का पात्र, साधुओं के ग्रहण योग्य वस्तुओं को ही कल्पनीय देय द्रव्य माना है। मूल सूत्र स्पर्शी दिगम्बरीय टीका और वार्तिक[2] भी इसीका समर्थन करते हैं। सार यह है कि बारहवें व्रत के 'अतिथि' शब्द की व्याख्या में साधु के अतिरिक्त किसी अन्य को दान देने का विधान नहीं है। ऐसी हालत में दूसरों को दान देने में पुण्य की स्थापना करना स्वतंत्र कल्पना है।

दान की परिभाषा 'तत्त्वार्थ सूत्र' में अन्यत्र इस प्रकार है: 'अनुग्रह के लिये अपनी वस्तु का उत्सर्ग करना दान है' (अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ७.३३)। वहीं लिखा है: 'विधि, देयवस्तु, दाता और ग्राहक की विशेषता से उसकी (दान की) विशेषता है' (विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ७.३४)। भाष्य में 'पात्रेऽतिसर्गो दानम्' अर्थात् पात्र के लिये अतिसर्ग करना—त्याग करना दान कहा है। 'पात्र विशेष:' की व्याख्या करते हुये भाष्य में लिखा है: 'पात्रविशेषः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपःसम्पन्नता इति।' सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की सम्पन्नता से पात्र में विशेषता आती है। 'सर्वार्थसिद्धि' में भी मोक्ष के कारण भूत गुणों से युक्त रहना पात्र की विशेषता बताई है (मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः ७.३९)। द्रव्य विशेष की व्याख्या करते हुये लिखा

१—वही : अतः संयता मूलोत्तरसम्पन्नास्तेभ्यः संयतात्मभ्यो दानमिति

२—(क) सर्वार्थसिद्धि ७.२१ : संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः।···मोक्षार्थमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया। धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनाद्युपबृंहणानि दातव्यानि। औषधमपि योग्यमुपयोजनीयम्। प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति

(ख) राजवार्तिक ७. २१ : चारित्रलाभबलोपेतत्वात् संयममविनाशयन् अततीत्यतिथिः

(ग) श्रुतसागरी ७. २१ : संयममविराधयन् अतति भोजनार्थं गच्छति यः सोऽतिथिः।...यो मोक्षार्थे उद्यतः संयमतत्परः शुद्धश्च भवति तस्मै निर्मलेन चेतसा अनवद्या भिक्षा दातव्या, धर्मोपकरणानि च...रत्नत्रयवर्द्धकानि प्रदेयानि, औषधमपि योग्यमेव देयम्, आवासश्च परमधर्मश्रद्धया प्रदातव्यः

है जिससे स्वाध्याय, तप आदि की वृद्धि होती है वह द्रव्य विशेष है (**तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः ७.३६**) ।

उपर्युक्त विवेचन से भी स्पष्ट है कि दान की विशेष रूप से स्वतंत्र व्याख्या करते हुए भी वहाँ पात्र में असंयतियों को स्थान नहीं दिया है ।

'भगवती सूत्र' में असंयतियों को '**प्रासुक अप्रासुक-अशन पानादि**' देने में एकान्त पाप कहा है :

समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं असंजयं अविरय-पडिहय-पच्चक्खायपाव-कम्मं फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा असण-पाण० जाव किं कज्जइ ? गोयमा ! एगंतसो से पावे कम्मे कज्जइ, नत्थि से कावि निज्जरा कज्जइ (८.६) ।

ऐसी स्थिति में किसी भी परिस्थिति में दिये गये असंयति दानों में पुण्य की प्ररूपणा नहीं की जा सकती ।

पूर्व विवेचन में भिन्न-भिन्न पुण्य कर्मों के बंध-हेतुओं के उल्लेख आये हैं। पुण्य-बंध के इन हेतुओं में सार्वभौम दान को कहीं भी स्थान नहीं है। तथारूप श्रमण-निर्ग्रंथ को प्रासुक एषणीय आहारादि के दान से ही पुण्य प्रकृति का बंध बतलाया है। तथ्य यही है कि अन्न-पुण्य, पान-पुण्य आदि की व्याख्या करते हुये पात्र रूप में साधु को ही स्वीकार करना आगमानुसारी व्याख्या है ।

३०—सावद्य-निरवद्य कार्य का आधार (गा० ५५-५८) :

स्वामीजी ने गाथा ४४ से ५४ तक यह सिद्ध किया है कि सावद्य दान से पुण्य कर्म का बंध नहीं होता। सार्वभौम रूप से कहा जाय तो इसका आशय यह होगा कि सावद्य कार्य से पुण्य-कर्म का बंध नहीं होता, निरवद्य कार्य से पुण्य-कर्म का बंध होता है।

प्रश्न होता है—निरवद्य कार्य और सावद्य कार्य का आधार क्या है ? स्वामीजी यहां बताते हैं—जिस कार्य में जिन-आज्ञा होती है वह निरवद्य कार्य होता है और जिस कार्य में जिन-आज्ञा नहीं होती वह सावद्य कार्य है।

उदाहरण स्वरूप जीवों का घात करना, असत्य बोलना आदि अठारह पापों का सेवन जिन-आज्ञा में नहीं है। ये सावद्य कार्य हैं। हिंसा न करना, झूठ न बोलना आदि जिन-आज्ञा में हैं। ये निरवद्य कार्य हैं।

निरवद्य कार्य में प्रयुक्त मन, वचन और काय के योग शुभ हैं और सावद्य कार्य में

प्रयुक्त मन, वचन और काय के योग अशुभ।

संयति साधुओं को अशनादि देने से संयम का पोषण होता है। संयम का पोषक होने से संयति-दान जिन-आज्ञा में है और निरवद्य कार्य है। उसमें प्रवृत्ति शुभ योग रूप है और उससे पुण्य का बंध होता है। अन्य दानों से असंयम का पोषण होता है। उनमें जिन-आज्ञा नहीं। वे सावद्य कार्य हैं। उनमें प्रवृत्त होना अशुभ योग रूप है और उससे पाप का बंध होता है।

आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं: "शुभ परिणामनिर्वृत्त योग शुभ है और अशुभ परिणामनिर्वृत योग अशुभ। शुभ-अशुभ कर्मों के कारण योग शुभ या अशुभ नहीं होते। यदि ऐसा हो तो शुभ योग ही न हो, क्योंकि शुभ योग को भी ज्ञानावरणादि कर्मों के बंध का कारण माना है[१]।"

श्रुतसागरी तत्त्वार्थवृत्ति में इतना विशेष है: "शुभाशुभ कर्म के हेतु मात्र से यदि योग शुभ-अशुभ हो तो संयोगी केवली के भी शुभाशुभ कर्म का प्रसंग उपस्थित होगा। पर वैसा नहीं होता। पुन: शुभ योग भी ज्ञानावरणादि कार्यों के बंध का कारण होता है। यथा किसी ने कहा—'हे विद्वन्! तुम उपवासी हो अत: पठन मत करो; विश्राम लो।' हित परिणाम से ऐसा कहने वाले का चित्त अभिप्राय होता है—अभी विश्राम लेने पर वह बाद में अधिक तप और श्रुताध्ययन कर सकेगा। उसके परिणाम विशुद्ध होने से तप और श्रुत का वर्जन करने पर भी वह अशुभाश्रव का भागी नहीं होता। 'आप्त मीमांसा' में कहा भी है—स्व और पर में उत्पन्न होने वाला सुख-दु:ख यदि विशुद्धिपूर्वक है तो पुण्याश्रव होगा, यदि संक्लेशपूर्वक हैं तो पापाश्रव होगा[२]।"

१—सर्वार्थसिद्धि ६.३ टीका : कथं योगस्य शुभाशुभत्वम्? शुभपरिणामनिर्वृत्तो योग: शुभ:। अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभ:। न पुन: शुभाशुभकर्मकारणत्वेन। यद्येवमुच्यते शुभयोग एव न स्यात् शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात्।

२—श्रुतसागरी वृत्ति ६.३: न तु शुभाशुभकर्महेतुमात्रत्वेन शुभाशुभौ योगौ वर्तते। तथा सति सयोगकेवलिनोऽपि शुभाशुभकर्मप्रसङ्ग: स्यात्, न च तथा। ननु शुभयोगोऽपि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुर्वर्तते। यथा केनचिदुक्तम्—'भो विद्वन्, त्वमुपोषितो वर्तसे तेन त्वं पठनं मा कुरु विश्रम्यताम्' इति, तेन हितेऽप्युक्तेऽपि ज्ञानावरणादि प्रयोक्तुर्भवति, तेन एक एवाशुभयोगोऽङ्गीक्रियताम्, शुभयोग एव नास्ति; सत्यम्; स यदा हितेन परिणामेन पठन्तं विश्रमयति तदा तस्य चेतस्येवेमभिप्रायो वर्तते—'यदि इदानीमयं विश्राम्यति तदाऽग्रे अस्य बहुतरं तप:श्रुतादिकं भविष्यति' इत्यभिप्रायेण तप:श्रुतादिकं वारयन्नपि अशुभास्रवभाग् न स्यात् विशुद्धिभाक्परिणामहेतुत्वादिति। तदुक्तम्—"विशुद्धिसङ्क्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम्। पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद् व्यर्थस्तवार्हत:॥ (आप्त मीमांसा श्लोक ९५)

इस सम्बन्ध में प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलालजी लिखते हैं—"योग के शुभत्व और अशुभत्व का आधार भावना की शुभाशुभता है। शुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग शुभ, और अशुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग अशुभ है। कार्य—कर्म-बंध की शुभाशुभता पर योग की शुभाशुभता अवलम्बित नहीं; क्योंकि ऐसा मानने से सारे योग अशुभ ही कहलायेंगे, कोई शुभ नहीं कहलायेगा; क्योंकि शुभ योग भी आठवें आदि गुण स्थानों में अशुभ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बन्ध का कारण होता है (इसके लिए देखो हिन्दी 'कर्म-ग्रन्थ' भाग चौथा : "गुण स्थानों में बंध विचार" ; तथा हिन्दी 'कर्म-ग्रन्थ' भाग २)[१]।"

उपर्युक्त तीनों उद्धरणों में जो बात कही गई है वह अत्यन्त अस्पष्ट तथा संदिग्ध है। उल्लिखित 'कर्म-ग्रन्थों' के संदर्भों में भी इस संबन्ध में कोई विशेष प्रकाश डालने वाली बात नहीं। शुभयोग से ज्ञानावरणीय कर्म के बंध का उल्लेख किसी भी आगम में प्राप्त नहीं है।

इसी भावनावाद का सहारा लेकर ही हरिभद्रसूरि जैसे विद्वान् आचार्य ने द्रव्य-स्नान[२] और पुष्प-पूजा[३] को अशुद्ध कहते हुए भी उनमें पुण्य की प्ररूपणा की है।

स्वामीजी ने प्रकारान्तर से इस भावनावाद का यहाँ खण्डन किया है। उनकी दृष्टि से भावना, आशय अथवा उद्देश्य से योग शुभ-अशुभ होता है, यह सिद्धान्त ही अशुद्ध है। सर्दी के दिन हैं। शीत के कारण एक जैन साधु काँप रहा है। एक मनुष्य उसे काँपता हुआ देखकर शीत-निवारण के लिये अग्नि जला कर उसे तपाता है। स्वामीजी

१—तत्त्वार्थसूत्र (तृ० आ० गुज०) पृ० २५२

२—अष्टकप्रकरण : स्नानाष्टक : ३—४ :

कृत्वेदं यो विधानेन देवतातिथिपूजनम्।
करोति मलिनारम्भी तस्यैतदपि शोभनम्॥
भावशुद्धिनिमित्तत्वात्तथानुभवसिद्धितः।
कथञ्चिद्दोषभावेऽपि तदन्यगुणभावतः॥

३—वही : पूजाष्टकम् : २-४ :

शुद्धागमैर्यथालाभं प्रत्यग्रैःशुचिभाजनैः।
स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि पुष्पैर्जात्यादिसम्भवैः॥
अष्टापायविनिर्मुक्ततदुत्थगुणभूतये।
दीयते देवदेवाय या साऽशुद्धेत्युदाहृता॥
सङ्कीर्णैषा स्वरूपेण द्रव्याद्भावप्रसक्तितः।
पुण्यबन्धनिमित्तत्वाद् विज्ञेया सर्वसाधनी॥

अन्यत्र कहते हैं—यदि भावना से योग शुभ हो तो यह योग भी शुभ होगा ! दूसरा मनुष्य जैन साधु को अनुकम्पावश सचित्त जल देता है। यदि भावना से योग शुभ हो तो साधु को सचित्त जल देना भी शुभ योग होगा !

आगम में अग्नि को लोहे के शस्त्र-अस्त्रों की अपेक्षा भी अधिक तीक्ष्ण और पापकारी शस्त्र कहा गया है। प्राणियों के लिए यह घात स्वरूप है। कहा है—"साधु अग्नि सुलगाने की कभी इच्छा न करे। प्रकाश और शीत आदि के निवारण के लिए भी किञ्चित भी अग्नि का आरम्भ न करे। वह अग्नि का कभी सेवन न करे[1]।"

इसी तरह साधु के लिए सचित्त जल का वर्जन है। कहा है—"निर्जन पथ में अत्यन्त तृषा से आतुर हो जाने और जिह्वा के सूख जाने पर भी साधु शीतोदक का सेवन न करे[2]।"

साधु को अकल्प्य का सेवन कराना जहाँ उसके व्रतों का भङ्ग करना है वहाँ अग्नि सुलगाने और सचित्त जल देने में भी हिंसा है। ऐसी हालत में भावना से शुभाशुभ योग का निर्णय करना सिद्धान्त-सम्मत नहीं। जो जिन-आज्ञा के बाहर की क्रिया करता है उसकी भावना, उसके आशय और उद्देश्य शुभ नहीं कहे जा सकते।

स्वामीजी आगे कहते हैं—एक मनुष्य साधुओं को वंदन करने की भावना से घर से निकलता है। रास्ते में अयतनापूर्वक चलता है। जीवों का घात होता है। यदि भावना से योग शुभ हो तो जीवों का घात करते हुए अयतनापूर्वक चलना भी शुभ होगा !

१—(क) दशवैकालिक सूत्र : ६.३३, ३५ :

जायतेयं न इच्छन्ति पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं सव्वओ वि दुरासयं ॥
भूयाणमेसमाघाओ हव्ववाहो, न संसओ।
तं पईव-पयावट्ठा संजया किंचि नारभे ॥

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र : २.७ :

न मे निवारणम् अत्थि छवित्ताणं न विज्जई।
अहे तु अग्गिं सेवामि इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

२—उत्तराध्ययन सूत्र : २.४,५ :

तउ पुट्ठो पिवासाए दोगुंछी लज्जसंजए।
सीउदगं न सेविज्जा वियडस्सेसणं चरे ॥
छिन्नावाएसु पन्थेसु आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्खमुहादीणे तं तितिक्खे परीसहं ॥

एक श्रावक धर्म-लाभ की भावना से खुले मुँह स्वाध्याय-स्तवन करता है। यदि भावना से योग शुभ हो तो जीवों का घात करते हुए खुले मुंह स्तवन आदि करना भी शुभ योग होगा[1]!

जो परिणामवाद अशुद्ध द्रव्य पूजा में पुण्य का प्ररूपक हुआ उसकी आलोचना करते हुए स्वामीजी कहते हैं—"कई कहते हैं कि अपने परिणाम अच्छे होने चाहिए फिर जीव-हिंसा का पाप नहीं लगता। जो दूसरे जीवों के प्राणों को लूटता है उसके परिणाम भला अच्छे कैसे हैं? आगमों में कहा है–अर्थ, अनर्थ और धर्म के हेतु जीव-घात करने में पाप होता है। फिर भी कई कहते हैं, धर्म के लिए जीव-हिंसा से पाप का बंध नहीं होता क्योंकि परिणाम विशुद्ध हैं। जो उदीर कर जीव-हिंसा कर रहा है उसके परिणामों को अच्छे बतलाना निरी विवेकरहित बात है[2]।"

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) : विरत इविरत री चौपई : ढाल ८.२,३,४,६,८ :

साध नें तपाव अगन सूं अग्यांनी, ते तो पाप अठारां में पेंहलों रे।
तिण मांहें पुन परूपें अग्यांनी, तिणनें पिंडत कहीजें के गेंहलो रे॥
साधु नें तपायां में पुन परूपें, ते तो मूढ मिथ्याती छे पूरो रे।
अगन री हिंसा में पाप न जांणें, ते मत निश्चेंइ कूडो रे॥
सभाय स्तवन कहें मुख उघाडें, जब वाउ जीवां री हुवें घातो रे।
केइ कहें वाउकाय रो पाप न लागें, आ उंध मती री छें बातो रे॥
साधां नें वांदण जाता मारग में, तस थावर री हुवें घातो रे।
ज्यां सूं जीव मूआ ज्यांनें पाप न सरधें, त्यांरा घट माहें घोर मिथ्यातो रे॥
विण उपीयोगें मारग मांहें चालें, कदे न मरें जीव किण बारो रे।
तो पिण वीर कह्यों छें तिण नें, छ काय रो मारणहारो रे॥

२—(क) वही : ढा० ६. दोहा १-३ :

जिण आगम मांहें इम कह्यों, श्री जिण मुख सूं आप।
अर्थ अनर्थ धर्म कारणें, जीव हणया छें पाप॥
केइ अग्यांनी इम कहें, धर्म काजें हणें जीव कोय।
चोखा परिणांमा जीव मारीयां, त्यांरो जाबक पाप न होय॥
जीव मारें छे उदीर नें, तिणरा चोखा कहें परिणांम।
ते ववेक विकल सुध बुध विनां, वले जेंनी धरावें नांम॥

(ख) वही : ढा० १२.३४,३६ :

जीव मार्यां हो पाप लागें नहीं,
चोखा चाहीजें निज परिणांम हो॥
तिणरा चोखा परिणांम किहां थकी,
पर जीवां रा लूंटें छें प्रांण हो॥

ऐसी परिस्थिति में शुभ-अशुभ योग का निर्णायक तत्त्व भावना या उद्देश्य नहीं परन्तु वह कार्य जिन-आज्ञा सम्मत है या नहीं यह तत्त्व है। यदि कार्य जिन-आज्ञा सम्मत है तो उसमें मन, वचन, काय की प्रवृत्ति शुभ योग है और यदि कार्य जिन-आज्ञा सम्मत नहीं तो उसमें प्रवृत्ति अशुभ योग है :

मन वचन काया रा योग तीनूंई, सावद्य निरवद जांणों।
निरवद जोगां री श्री जिण आग्या, तिणरी करों पिछांणो रे॥
जोग नांम व्यापार तणों छें, ते भला नें भूंडा व्यापार।
भला जोगां री जिण आगना छें, माठा जोग जिण आगना बार रे॥
मन वचन काया भली परवरतावो, गृहस्थ नें कहें जिणराय।
ते काया भली किण विध परवरतावें, तिणरों विवरो सुणों चित्त ल्याय।
निरवद किरतब मांहें काया परवरतावें, तिण किरतब नें काय जोग जांणों।
तिण किरतब री छें जिण आग्या, किरतब नें करों आगेवांणो रे[1]॥

स्वामीजी ने कहा है : ध्यान, लेश्या, परिणाम और अध्यवसाय ये चारों ही शुभ-अशुभ दोनों तरह के होते हैं। शुभ ध्यान, शुभ लेश्या, शुभ परिणाम और शुभ अध्यवसाय इन चारों में ही जिन-आज्ञा है। अशुभ ध्यान, अशुभ लेश्या, अशुभ परिणाम और अशुभ अध्यवसाय इन चारों में जिन-आज्ञा नहीं[2]।

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) : जिनाग्या री चौपई ढाल : ३.३८-४१ :

२—वही : ढा० १. १२-१६ :

धर्म नें सुकल दोनूं ध्यांन में, जिण आग्या दीधी वारूंवार रे।
आरत रूद्र ध्यांन माठा बेहूं, यांनें ध्यावें ते आग्या बार रे।
तेजू पदम सुकल लेस्या भलीं, त्यांमें जिण आग्या नें निरजरा धर्म रे।
तीन माठी लेस्या में आग्या नहीं, तिण सूं बंधे पाप कर्म रे।
भला परिणांमां में जिण आगना, माठा परिणांम आग्या बार रे।
भला परिणांम निरजरा नीपजें, माठा परिणांमा पाप दुवार रे॥
भला अधवसाय में जिण आगना, आग्या बारें माठा अधवसाय रे।
भला अधवसाय सूं निरजरा हुवें, माठा अधवसाय सूं पाप बंधाय रे॥
ध्यांन लेस्या परिणांम अधवसाय, च्यारूं भलां में आग्या जांण रे।
च्यारूं माठा में जिण आगना नहीं, यांरा गुणां री कीजो पिछांण रे॥

शुभ ध्यान, शुभ लेश्या, शुभ परिणाम और शुभ अध्यवसाय चारों शुभ और प्रशस्त भाव हैं। इनसे निर्जरा के साथ पुण्य का बंध होता है। अशुभ ध्यान, अशुभ लेश्या, अशुभ परिणाम और अशुभ अध्यवसाय चारों अशुभ और अप्रशस्त भाव हैं। इनसे पाप कर्मों का बंध होता है। इन्हें एक उदाहरण से समझा जा सकता है। साधु की वंदना करना निरवद्य कार्य है। साधु-वंदन का ध्यान, लेश्या, परिणाम और अध्यवसाय शुभ मनोयोग रूप हैं। यतनापूर्वक साधु की स्तुति करना शुभ वचन योग है। उठ-बैठ कर वंदना करना शुभ काय योग है। परदार-सेवन का ध्यान, लेश्या, परिणाम और अध्यवसाय अशुभ मनोयोग रूप हैं। वचन और काय से उस ओर प्रवृत्ति करना अशुभ वचन और काय योग हैं।

भावना साधु-वंदन की होने पर भी वचन और काय के योग अशुभ हो सकते हैं। भावना की शुद्धि से योगों में उस समय तक शुद्धि नहीं आयेगी जब तक वे अपने आप में प्रशस्त और यतनापूर्वक नहीं हैं। स्वामीजी ने इस बात को इस प्रकार कहा है :

"एक मनुष्य साधु की वंदना करने के उद्देश्य से घर से निकलता है। उद्देश्य साधु-वंदन का होने पर भी जाते समय वह मार्ग में जैसे कार्य करेगा वैसे ही फल उसे मिलेंगे। रास्ते में सावद्य-निरवद्य जैसे उसके तीनों योग होंगे उसी अनुसार उसके अलग-अलग पुण्य-पाप का बंध होगा। यदि मन योग शुभ होगा तो उससे एकान्त निर्जरा होगी तथा वचन और काय के योग अशुभ होंगे तो उनसे एकान्त पाप होगा। कदाचित् काय और वचन योग शुभ होंगे तो उनसे धर्म होगा, मन योग अशुभ होगा तो उससे पाप लगेगा। अगर तीनों ही योग शुभ होंगे तो जरा भी पाप का बंध नहीं होगा। अगर तीनों योग अशुभ होंगे तो केवल पाप का बंध होगा। इस प्रकार वन्दना के उद्देश्य से रास्ते में जाते समय तीनों योगों का भिन्न-भिन्न व्यापार हो सकता है। जो योग अशुभ होगा उससे पाप और जो योग शुभ होगा उससे पुण्य का बंध होगा, इसमें अन्तर नहीं पड़ सकता। दूध और जल की तरह सावद्य और निरवद्य के फल भिन्न-भिन्न हैं। साधु के पास पहुंचने पर यदि वह भाव सहित साधु की वन्दना करता है तो उसके कर्मों का क्षय होता है। साधु-वन्दन के लिए जाना, वहाँ से लौटना और साधु के समीप पहुंचने पर उसकी वन्दना करना—ये तीनों भिन्न-भिन्न कर्तव्य हैं। उसका जाना साधु की वन्दना करने के लिए है, उसका आना घर के लिए है। साधु की वन्दना करना उक्त दोनों कार्यों से भिन्न है। ये तीनों कर्तव्य एक नहीं हैं[1]।"

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) : विरत इविरत री चौपई : ढाल ९.१२-१६

परिणामवाद का असर दान-व्यवस्था पर भी हुआ। आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'भिक्षाष्टक' में कहा है—"जो यति ध्यानादि से युक्त, गुरु-आज्ञा में तत्पर और सदा अनारम्भी होता है और शुभ आशय से भ्रमर की तरह भिक्षाटन करता है तो उसकी भिक्षा 'सर्वसम्पतकरी' है। जो मुनि दीक्षा लेकर भी उससे विरुद्ध वर्तन करता है और असदारम्भी होता है उसकी भिक्षा 'पौरुषघ्नी' होती है। अन्य क्रिया करने में असमर्थ, गरीब, अन्धा, पंगु आदि मनुष्य आजीविका के लिए भिक्षा मांगता है तो वह 'वृत्ति-भिक्षा' है। उक्त तीनों तरह के भिक्षुओं को भिक्षा देने वाले व्यक्ति को क्षेत्रानुसार फल मिलता है अथवा देने वाले के आशय के अनुसार फल मिलता है, क्योंकि विशुद्ध आशय फल को देने वाला है[1]।

ऐसी ही विचारधारा को लक्ष्य कर उपर्युक्त गाथाओं में स्वामीजी ने कहा है—"पात्र को प्रासुक एषणीय आदि कल्प्य वस्तुएं देने से पुण्य होता है। अन्य किसी को कल्प्य-अकल्प्य देने से पुण्य का बन्ध नहीं है।" स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है :

पातर कुपातर हर कोइ नें देवें, तिण नें कहीजें दातार।
तिणमें पातर दांन मुगत रो पावडीयों, कुपातर सूं रूलें संसार रे॥
अधर्मी जीवां ने दांन देवें छें, ते एकंत अधर्म दांन।
धर्मी नें दांन निरदोषण देवें, ते धर्म दांन कह्यों भगवांन रे॥
सुपातर नें दीयां संसार घटें छें, कुपातर नें दीयां बधें संसार।
ए वीर वचन साचा कर जांणों, तिणमें संका नहीं छें लिगार रे[2]॥
जो दांन सुपातर ने दीयों, तिणमें श्री जिण आग्या जांण रे।
कुपातर दांन में आगना नहीं, तिणरी बुधवंत करजों पिछांण रे॥
पातर कुपातर दोनूं ने दीयां, विकल जांणे, दोयां में धर्म रे।
धर्म होसी सुपातर दांन में, कुपातर नें दीयां पाप कर्म रे॥
खेतर कुखेतर श्री जिणवर कह्या, चोथें ठांणें ठांणाअंग मांय रे।
सुखेतर में दीयां जिण आगना, कुखेतर में आग्या नहीं कांय रे[3]॥

१—अष्टकप्रकरण : भिक्षाष्टक ५.८ :

दातृणामपि चैताभ्यः फलं क्षेत्रानुसारतः।
विज्ञेयमाशयाद्वापि स विशुद्धः फलप्रदः॥

२—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) : विरत इविरत री चौपई : ढाल १६.५०,५६,५७

३—वही : जिनाग्या री चौपई : ढाल १.३२,३५,३६

३१—उपसंहार (गा० ५६-६३) :

इन गाथाओं में जो बातें कही गयीं हैं वे प्रायः पुनरुक्त हैं। इन गाथाओं के उपसंहारात्मक होने से इसी ढाल के प्रारंभिक भावों की उनमें पुनरुक्ति हो यह स्वाभाविक है। पुण्य की प्रथम ढाल संवत् १८५५ की कृति है। यह दूसरी ढाल संवत् १८४३ की कृति है। प्रथम ढाल में विषय को जिस रूप में उठाया गया है, द्वितीय ढाल में विषय को उसी रूप में समाप्त किया गया है। प्रथम ढाल के प्रारंभिक दोहों तथा गाथा संख्या ५२-५८ तक में जो बात कही गयी है वही बात इस ढाल में ६१-६३ संख्या की गाथाओं में है। ६०वीं गाथा में जो बात है वही प्रारंभिक दोहा संख्या १ में है। ५६वीं गाथा में सार रूप में उसी बात की पुनरुक्ति है जो इस ढाल का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। उपसंहार के रूप में यहाँ निम्न बातें कही गयीं हैं :

(१) निर्जरा और पुण्य की करनी एक है। जहाँ पुण्य होगा वहाँ निर्जरा होगी ही। जिस कार्य में निर्जरा है वह जिन भगवान की आज्ञा में है।

इस विषय में यथेष्ट प्रकाश टिप्पणी ४ (पृ० २०३-२०८) में डाला जा चुका है। पुण्य-हेतुओं का विवेचन और उस सम्बन्ध में दी हुई सारी टिप्पणियाँ इस पर विस्तृत प्रकाश डालती हैं।

(२) पुण्य नौ प्रकार से उत्पन्न होता है, ४२ प्रकार से भोग में आता है।

इसके स्पष्टीकरण के लिये देखिये टिप्पणी १ (पृ० २००-१)।

अन्न-पुण्य, पान-पुण्य आदि पुण्य के नौ प्रकारों में मन-पुण्य, वचन-पुण्य और काय-पुण्य भी समाविष्ट हैं। मन, वचन और काय के प्रशस्त व्यापारों की संख्या निर्दिष्ट करना संभव नहीं। ऐसी हालत में नौ की संख्या उदाहरण स्वरूप है; अन्तिम नहीं। मन, वचन और काय के सर्व प्रशस्त योग पुण्य के हेतु हैं। पुण्य-बंध के हेतुओं का जो विवेचन पूर्व में आया है उसमें मन-पुण्य, वचन-पुण्य और काय-पुण्य के अनेक उदाहरण सामने आये हैं।

'विशेषावश्यकभाष्य' में सात वेदनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, पुरुषवेद, रति, शुभायु, शुभ नाम, शुभ गोत्र—इन प्रकृतियों को पुण्यप्रकृति कहा गया है[1]। शुभायु में

१—**विशेषावश्यकभाष्य** १९४६ :

सातं सम्मं हासं पुरिस-रति-सुभायु-णाम-गोत्राइं।
पुण्णं सेसं पावं णेयं सविवागमविवागं॥

देव, मनुष्य और तिर्यञ्च की आयु का समावेश है। शुभ नामकर्म प्रकृति में ३७ प्रकृतियों का समावेश है। इस तरह 'विशेषावश्यकभाष्य' के अनुसार ये ४६ प्रकृतियाँ शुभ होने से पुण्य रूप हैं।

'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार भी पुण्य की ४६ प्रकृतियाँ हैं। आगम में सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, पुरुषवेद, रति इन्हें पुण्य की प्रकृति नहीं माना गया है। इन्हें न गिनने से पुण्य की प्रकृतियाँ ४२ ही रहती हैं[1] (देखिये टिप्पणी १० पृ० १६७-८)। बांधे हुए पुण्य कर्म ४२ प्रकार से उदय में आते हैं और अपनी प्रकृति के अनुसार फल देते हैं। यही पुण्य का भोग है।

(३) जो पुण्य की वांछा करता है वह कामभोगों की वांछा करता है। कामभोगों की वांछा से संसार की वृद्धि होती है।

इस विषय में प्रथम ढाल के दोहे १-५ और तत्संबंधी टिप्पणी १ (पृ० १५०-५५) द्रष्टव्य है। इस संबंध में एक प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य का निम्न चिन्तन प्राप्त है :

निर्ग्रंथ-प्रवचन में "पुण्य और पाप दोनों से मुक्त होना ही मोक्ष है[2]।" "जिसके पुण्य और पाप दोनों ही नहीं होते वही निरंजन है[3]।"

पुण्य से स्वर्गादि के सुख मिलते हैं और पाप से नरकादि के दुःख, ऐसा सोच कर जो पुण्य कर्म उत्पन्न करने के लिये शुभ क्रिया करता है वह पाप कर्म का बंध करता है। जैसे पाप दुःख का कारण है वैसे ही पुण्य से प्राप्त भोग-सामग्री का सेवन भी दुःख का कारण है, अतः पुण्य कर्म काम्य नहीं है।

"जो जीव पुण्य और पाप दोनों को समान नहीं मानता वह जीव मोह से मोहित हुआ बहुत काल तक दुःख सहता हुआ भटकता है[4]।"

१—**नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : भाष्यसहित नवतत्त्वप्रकरणम्**

सायं उच्चागोयं सत्तत्तीसं तु नामपगईओ।
तिन्नि य आऊणि तहा, वायालं पुन्नपगईओ ॥ ७ ॥

२—**परमात्मप्रकाश २.६३:**

पावेँ णारउ तिरिउ जिउ पुण्णेँ अमरु वियाणु।
..................दोहि वि खइ णिव्वाणु ॥

३—**परमात्मप्रकाश १.२१:**

अस्ति न पुण्यं न पापं यस्य................।
...............स एव निरञ्जनो भावः ॥

४—**परमात्मप्रकाश २.५५ :**

जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ।
सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिँ हिंडइ लोइ ॥

"वे पुण्य अच्छे नहीं जो जीव को राज्य देकर शीघ्र ही दुःख उत्पन्न करें[1]।" "यद्यपि असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं; और अशुद्धनिश्चयनय से भावपुण्य और भावपाप ये दोनों भी आपस में भिन्न हैं, तो भी शुद्ध निश्चयनय से पुण्य-पाप रहित शुद्धात्मा से दोनों ही भिन्न और बंधरूप होने से दोनों समान ही हैं। जैसे कि सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी ये दोनों ही बन्ध के कारण होने से समान हैं[2]।" "पुण्य से घर में धन होता है; धन से मद, मद से मतिमोह (बुद्धिभ्रम) और मतिमोह से पाप होता है; इसलिए ऐसा पुण्य हमारे न होवे[3]।"

काम-भोगों की इच्छा—निदान के दुष्परिणाम का हृदयस्पर्शी वर्णन 'दशाश्रुतस्कंध'[4] में प्राप्त है। वहाँ सुचरित्र—तप, नियम और ब्रह्मचर्य वास के बदले में मानुषिक काम-भोगों की कामना करने वाले श्रमण-श्रमणियों के विषय में कहा गया है :

"ऐसे साधु या साध्वी जब पुनः मनुष्य-भव प्राप्त करते हैं तब उनमें से कई तथारूप श्रमण-माहन द्वारा दोनों समय केवली-प्रतिपादित धर्म सुनाये जाने पर भी उसे सुनें, यह सम्भव नहीं। वे केवली प्रतिपादित धर्म सुनने के अयोग्य होते हैं। वे महा इच्छावाले, महा आरम्भी, महा परिग्रही, अधार्मिक और दक्षिणगामी नैरयिक होते हैं तथा आगामी जन्म में दुर्लभबोधि होते हैं।

"कोई धर्म को सुन भी ले पर यह संभव नहीं कि वह धर्म पर श्रद्धा कर सके, विश्वास कर सके, उसपर रुचि कर सके। सुनने पर भी वह धर्म पर श्रद्धा करने में असमर्थ होता है। वह महा इच्छावाला, महा आरंभी, महा परिग्रही और अधार्मिक होता है। वह दक्षिणगामी नैरयिक और दूसरे जन्म में दुर्लभबोधि होता है।

१—परमात्मप्रकाश २.५७ :

मं पुणु पुण्णइँ भल्लाइँ णाणिय ताइँ भणंति ।
जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खइँ जाइँ जणंति ॥

२—वही २.५५ की टीका :

यद्यप्यसद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापे परस्परभिन्ने भवतस्तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावपुण्यपापे भिन्ने भवतस्तथापि शुद्धनिश्चयनयेन पुण्यपापरहितशुद्धात्मनः सकाशाद्विलक्षणे सुवर्णलोहनिगलवद्बन्धं प्रति समाने एव भवतः ।

३—वही २.६० :

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो ।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥

४—दशा : १०

" कोई धर्म को सुन लेता है, उस पर श्रद्धा, विश्वास और रुचि भी करने लगता है पर सम्भव नहीं कि वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास को ग्रहण कर सके।

" कोई तथारूप श्रमण-माहन द्वारा प्ररूपित धर्म सुन लेता है, उसपर श्रद्धा, विश्वास और रुचि करने लगता है तथा शीलव्रतादि भी ग्रहण कर लेता है पर यह संभव नहीं कि वह मुंडित हो घर से निकल अनगारिता ग्रहण कर सके।

"कोई तथारूप श्रमण-माहन द्वारा केवली-प्ररूपित धर्म सुनता है, उसपर श्रद्धा, विश्वास और रुचि करता है तथा मुण्ड हो घर से निकल अनगारिता—प्रव्रज्या ग्रहण करता है पर संभव नहीं कि वह इसी जन्म में, इसी भव में सिद्ध हो—सर्व दुःखों का अन्त कर सके।"

इस प्रकार निदान कर्म का पाप रूप फल-विपाक होता है।

जो तप आदि कृत्यों के फलस्वरूप कामभोगों की कामना करता है और जो शुद्ध भाव से केवल कर्मक्षय के लिए तपस्या करता है उन दोनों के फल-विपाक का विवरण 'उत्तराध्ययन सूत्र' के चित्तसंभूत अध्ययन में बड़े ही मार्मिक ढंग से किया गया है। यह प्रकरण दशाश्रुतस्कंध में प्ररूपित उक्त सिद्धान्त का सोदाहरण विवेचन है। उसका संक्षिप्त सार नीचे दिया जा रहा है।

कांपिल्य नगर में चूलनी रानी की कुक्षि से उत्पन्न हो सम्भूत महर्द्धिक, महा यशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त हुआ। चित्त पुरिमताल नगर के विशाल श्रेष्ठि कुल में उत्पन्न हो धर्म सुनकर दीक्षित हुआ। एक बार कांपिल्य नगर में चित्त और सम्भूत दोनों मिले और आपस में सुख-दुःख फल-विपाक की बातें करने लगे।

सम्भूत बोले—"हम दोनों भाई एक दूसरे के वश में रहने वाले, एक दूसरे से प्रेम करने वाले और एक दूसरे के हितैषी थे। दशार्ण देश में हम दोनों दास थे, कलिंजर पर्वत पर मृग, मृतगंगा के किनारे हंस और काशी में चाण्डाल थे। हम देवलोक में महर्द्धिक देव थे। यह हम दोनों का छठवां भव है जिसमें हम एक दूसरे से पृथक हुए हैं।"

चित्त बोले—"राजन्! तुमने मन से निदान किया था, उस कर्म-फल के विपाक से हमारा वियोग हुआ है[1]।"

१—उत्त० १३.८

कम्मा नियाणपयडा तुमे राय विचिन्तिया।
तेसिं फलविवागेण विप्पओगमुवागया॥

सम्भूत बोले—"हे चित्त ! मैंने पूर्व जन्म में सत्य और शौचयुक्त कर्म किये थे उनका फल यहां भोग रहा हूं। क्या तुम भी वैसा ही फल भोग रहे हो ?"

चित्त बोले—"मनुष्यों का सुचीर्ण—सदाचरण सफल होता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना मुक्ति नहीं होती। मेरी आत्मा भी पुण्य के फलस्वरूप उत्तम द्रव्य और कामभोगों से युक्त थी। पर मैं अल्पाक्षर और महान अर्थवाली गाथा को सुनकर ज्ञानपूर्वक चारित्र से युक्त होकर श्रमण हुआ हूँ।"

सम्भूत बोले—"हे भिक्षु ! नृत्य, गीत और वाद्ययन्त्रों से युक्त ऐसी स्त्रियों के परिवार के साथ इन भोगों को भोगो। यह प्रव्रज्या तो निश्चय ही दुःखकारी है।"

चित्त बोले—"राजन् ! अज्ञानियों के प्रिय किन्तु अन्त में दुखःदाता—काम-गुणों में वह सुख नहीं है, जो काम-विरत, शील-गुण में रत रहने वाले तपोधनी भिक्षुओं को होता है।

"राजन् ! चाण्डाल-भव में कृत धर्माचरण के शुभ फलस्वरूप यहाँ तुम महा प्रभावशाली ऋद्धिमंत और पुण्य-फल से युक्त हो। राजन् ! इस नाशवान जीवन में जो अतिशय पुण्यकर्म नहीं करता है, वह धर्माचरण नहीं करने से मृत्यु के मुंह में जाने पर शोक करता है। उसके दुःख को ज्ञातिजन नहीं बंटा सकते, वह स्वयं अकेला ही दुःख भोगता है, क्योंकि कर्म कर्त्ता का ही अनुसरण करते हैं। यह आत्मा अपने कर्म के वश होकर स्वर्ग या नरक में जाता है। पाञ्चालराज ! सुनो तुम महान आरम्भ करने वाले मत बनो।"

सम्भूत बोले—"हे साधु ! आप जो कहते हैं उसे मैं समझता हूँ, किन्तु हे आर्य ! ये भोग बन्धनकर्त्ता हो रहे हैं, जो मेरे जैसे के लिए दुर्जय हैं। हे चित्त ! मैंने हस्तिनापुर में महाऋद्धिशाली नरपति (और रानी) को देखकर कामभोग में आसक्त हो अशुभ निदान किया था, उसका प्रतिक्रमण नहीं करने से मुझे यह फल मिला है। इससे मैं धर्म को जानता हुआ भी काम-भोगों में मूच्छित हूँ[1]। जिस प्रकार कीचड़ में फँसा हुआ हाथी स्थल को देखकर भी किनारे नहीं आ सकता उसी प्रकार काम-गुणों में आसक्त हुआ मैं साधु के मार्ग को जानता हुआ भी अनुसरण नहीं कर सकता।"

१—उत्त० १३.२८-२९ :

हत्थिणपुरम्मि चित्ता दट्ठूणं नरवइं महिड्ढीयं।
कामभोगेसु गिद्धेणं नियाणमसुहं कडं॥
तस्स मे अपडिकन्तस्स इमं एयारिसं फलं।
जाणमाणो वि जं धम्मं कामभोगेसु मुच्छिओ॥

चित्त बोले—"राजन्! तुम्हारी भोगों को छोड़ने की बुद्धि नहीं है, तुम आरम्भ-परिग्रह में आसक्त हो। मैंने व्यर्थ ही इतना बकवाद किया। अब मैं जाता हूँ।"

साधु के वचनों का पालन नहीं कर और उत्तम काम-भोगों को भोगकर पाञ्चाल-राज ब्रह्मदत्त प्रधान नरक में उत्पन्न हुए।

महर्षि चित्त काम-भोगों से विरक्त हो, उत्कृष्ट चारित्र और तप तथा सर्वश्रेष्ठ संयम का पालन कर सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

आगम में चार बातें दुर्लभ कही गई हैं: (क) मनुष्य-जन्म, (ख) धर्म-श्रवण (ग) श्रद्धा और (घ) संयम में वीर्य[1]। निदान का ऐसा पाप फल-विपाक होता है कि इन चारों की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। इस तरह निदान से संसार की वृद्धि होती है; मुक्ति-मार्ग शीघ्र हाथ नहीं आता।

(४) वांछा एक मुक्ति की ही करनी चाहिए; पुण्य अथवा सांसारिक सुखों की नहीं।

आगम में कहा है: "कोई इहलोक के लिए तप न करे; परलोक के लिए तप न करे; कीर्ति-श्लोक के लिए तप न करे; एक निर्जरा (कर्म-क्षय) के लिए तप करे और किसी के लिए नहीं। यही तप-समाधि है[2]।" "कोई इहलोक के लिए आचार—चारित्र का पालन न करे; परलोक के लिए आचार का पालन न करे; कीर्ति-श्लोक के लिए आचार का पालन न करे; पर अरिहंतों द्वारा प्ररूपित हेतु के लिए ही आचार का पालन करे, अन्य किसी हेतु के लिए नहीं। यही आचार-समाधि है[3]।"

१—उत्त० ३.१:

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं॥

२—दशवैकालिक ९.४:७:

नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा चउत्थं पयं भवइ॥ ७॥

३—वही ९.४.९:

चउव्विहा खलु आयार-समाही भवइ, तं जहा। नो इहलोगट्ठयाए आयार-महिट्ठेज्जा, ना परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ आरहन्तेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा चउत्थं पयं भवइ।

"जिसके और कोई आशा नहीं होती, और जो केवल निर्जरा के लिए तप करता है, वह पुराने पाप कर्मों को धुन डालता है[1] ।"

स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है :

"निर्वद्य जोग तो साधु प्रवर्तावै ते कर्मक्षय करवाने प्रवर्तावै छै। निर्वद्य जोग प्रवर्तायां महानिर्जरा हुवै छै। कर्मा री कोड़ खपै छै। इण कारणे प्रवर्तावै छै। पिण पुन्य लगावाने प्रवर्तावै नहीं। जो पुन्य लगावाने जोग प्रवर्तावै तो जोग अशुभ हीज हुवै। पुन्य री चावना ते जोग अशुभ छै।

"शुभ जोग प्रवर्तावतां पुन्य लागै छै ते साधु रै सारे नहीं। आपरा कर्म काटण नै जोग प्रवर्तायां वीतराग नी आज्ञा छै। तिण सूं निर्वद्य जोग आज्ञा माँहैं छै।

"निर्वद्य जोग पुन्य ग्रहै छै। ते टालवा री साधु री शक्ति नहीं। निर्वद्य जोग सूं पुन्य लागै ते सहजै लागे छै। तिण उपर साधु राजी पिण नहीं। जाणपणा मांहि पिण यूं जाणे छै—ए पुन्य कर्म ने काटणा छै। इणने काट्यां विना मोनें आत्मीक सुख हुवै नहीं।

"इण पुन्य सूं तो पुद्गलीक सुख पामै छै। तिण उपर तो राजी हुयां सात आठ पाड़ूवा कर्म बंधे तिण सूं साधु चारित्रियां ने राजी होणो नहीं[2] ।"

जो सर्व काम, सर्व राग आदि से रहित हो केवल मोक्ष के लिए धर्म-क्रिया करता है उसे किस प्रकार मुक्ति प्राप्त होती है, इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है। एक बार श्रमण भगवान महावीर ने कहा :

" हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने निग्रंथ-धर्म का प्रतिपादन किया है। यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, प्रतिपूर्ण है, केवल है, संशुद्ध है, नैयायिक है, शल्य का नाश करने वाला है, सिद्धि-मार्ग है, मुक्ति-मार्ग है, निर्याण-मार्ग है, निर्वाण-मार्ग है और अविसंदिग्ध-मार्ग है। यह सर्व दुःखों के क्षय का मार्ग है। इस मार्ग में स्थित जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं और परिनिवृत्त हो सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

१—दशवैकालिक ६.४.८ :

विविह-गुण-तवो-रए य निच्चं
भवइ निरासए निज्जरट्ठिए ।
तवसा धुणइ पुराण-पावगं
जुत्तो सया तव-समाहिए ॥

२—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) : टीकम डोसी री चर्चा

"जो निर्ग्रंथ इस प्रवचन में उपस्थित हो, सर्व काम, सर्व राग, सर्व संग, सर्व स्नेह से रहित हो सर्व चरित्र में परिवृद्ध—दृढ़ होता है उसे अनुत्तर ज्ञान से, अनुत्तर दर्शन से और अनुत्तर शान्ति-मार्ग से अपनी आत्मा को भावित करते हुए अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण और श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन की उत्पत्ति होती है।

"फिर वह भगवान, अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है। फिर वह देव, मनुष्य और असुरों की परिषद् में उपदेश आदि करता है। इस प्रकार बहुत वर्षों तक केवली-पर्याय का पालन कर आयु को समाप्त देख भक्त-प्रत्याख्यान करता है और अनेक भक्तों का अनशन द्वारा छेदन कर अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास में सिद्ध होता है और सर्व दुःखों का अन्त कर देता है।

"हे आयुष्मान् श्रमणो ! निदानरहित क्रिया का यह कल्याण रूप फल-विपाक है जिससे कि निर्ग्रन्थ इसी जन्म में सिद्ध हो सर्व दुःखों का अन्त करता है[1] "

१—दशाश्रुतस्कंध : दशा १०

: ४ :

पाप पदार्थ

: ४ :

पाप पदा्रथ

दुहा

१—पाप पदारथ पाड़ओ, ते जीव नें घणो भयंकार।
ते घोर रुद्र छै बीहांमणो, जीव नें दुःख नों दातार॥

२—पाप तो पुदगल द्रव्य छै, त्यांने जीव लगाया ताम।
तिणसूं दुःख उपजै छै जीव रे, त्यांरो पाप कर्म छै नाम॥

३—जीव खोटा खोटा किरतब करै, जब पुदगल लागै ताम।
ते उदय आयां दुख उपजे, ते आप कमाया काम॥

४—ते पाप उदय दुख उपजे, जब कोई म करजो रोस।
आप कीधां जिसा फल भोगवे, कोई पुदगल रो नहीं दोस॥

५—पाप कर्म नें करणी पाप री, दोनूं जूआ जूआ छै ताम।
त्यांनें जथातथ परगट करूं, ते सुणजो राख चित्त ठांम॥

: ४ :

पाप पदार्थ

दोहा

१—पाप पदार्थ हेय है। वह जीव के लिए अत्यन्त भयंकर है। वह घोर, रुद्र, डरावना और जीव को दुःख देने वाला है।

पाप पदार्थ का स्वरूप

२—पाप पुद्गल-द्रव्य है। इन पुद्गलों को जीव ने आत्म-प्रदेशों से लगा लिया है। इनसे जीव को दुःख उत्पन्न होता है। अतः इन पुद्गलों का नाम पाप कर्म है।

पाप की परिभाषा

३—जब जीव बुरे-बुरे कार्य करता है तब ये (पाप कर्म रूपी) पुद्गल आकर्षित हो आत्म-प्रदेशों से लग जाते हैं। उदय में आने पर इन कर्मों से दुःख उत्पन्न होता है। इस तरह जीव के दुःख स्वयंकृत हैं।

पाप और पाप-फल स्वयंकृत हैं

४—पापोदय से जब दुःख उत्पन्न हों तब मनुष्य को क्षोभ नहीं करना चाहिए। जीव जैसे कर्म करता है वैसे ही फल उसे भोगने पड़ते हैं। इसमें पुद्गलों का कोई दोष नहीं है[1]।

जैसी करनी वैसी भरनी

५—पाप-कर्म और पाप की करनी ये एक दूसरे से भिन्न हैं[2]। अब मैं पाप कर्मों के स्वरूप को यथातथ्य भाव से प्रकट करता हूँ। चित्त को स्थिर रखकर सुनना।

पाप कर्म और पाप की करनी भिन्न-भिन्न हैं

ढाल : १

(मेघकुमर हाथी रा भव में···)

१—घनघातीया च्यार कर्म जिण भाख्या, ते अभपडल बादल ज्यूं जाणो।
त्यां जीव तणा निज गुण नें विगाड्या, चंद बादल ज्यूं जीव कर्म ढकाणो ॥
पाप कर्म अन्तःकरण ओलखीजे* ॥

२—ग्यांनावर्णी नें दर्शनावर्णीय, मोहणी नें अन्तराय छै ताम।
जीव रा जेहवा जेहवा गुण विगाड्या, तेहवा तेहवा कर्मां रा नाम ॥

३—ग्यांनावर्णी कर्म ग्यांन आवा न दे, दर्शणावर्णी दर्शण आवे दे नांही।
मोह कर्म जीव नें करे मतवालो, अंतराय आछी वस्तु आडी छै मांही ॥

४—ए कर्म तो पुदगल रूपी चोफरसी, त्यांनें खोटी करणी करे जीव लगाया।
त्यांरा उदा सूं खोटा खोटा जीव रा नाम, तेहवा इज खोटा नाम कर्म रा कहाया ॥

५—यां च्यारूं कर्मां री जुदी जुदी प्रकृत, जूआ जूआ छै त्यांरा नाम।
त्यांसूं जूआ जूआ जीव रा गुण अटक्या, त्यांरो थोड़ो सो विस्तार कहूं छूं तांम ॥

---

* प्रत्येक गाथा के अन्त में इसकी पुनरावृत्ति है।

ढाल : १

१—जिन भगवान ने चार घनघाती कर्म कहे हैं। इन कर्मों को अभ्रपटल—बादलों की तरह समझो। जिस तरह बादल चन्द्रमा को ढक लेते हैं उसी प्रकार इन कर्मों ने जीव को आच्छादित कर उसके स्वाभाविक गुणों को विकृत (फीका) कर दिया है।

घनघाती कर्म और उनका सामान्य स्वभाव

२—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घनघाती कर्म हैं। कर्मों के ये ज्ञानावरणीय आदि नाम क्रमशः आत्मा के उन-उन ज्ञानादि गुणों को विकृत करने से पड़े हैं।

घनघाती कर्मों के नाम

३—ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता। दर्शनावरणीय कर्म दर्शन को उत्पन्न होने से रोकता है। मोहनीय कर्म जीव को मतवाला कर देता है। अन्तराय कर्म अच्छी वस्तु की प्राप्ति में बाधक होता है।

प्रत्येक का स्वभाव

४—ये कर्म चतुःस्पर्शी रूपी पुद्गल हैं। जीव ने बुरे कृत्यों से इन्हें आत्म-प्रदेशों से लगाया है। इनके उदय से जीव के (अज्ञानी आदि) बुरे नाम पड़ते हैं। जो कर्म जैसी बुराई उत्पन्न करता है उसका नाम भी उसीके अनुसार है।

गुण-निष्पन्न नाम (गा. ४-५)

५—ज्ञानावरणीय आदि चारों कर्मों की प्रकृतियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार इनके भिन्न-भिन्न नाम हैं। ये कर्म जीव के भिन्न-भिन्न गुणों को रोकते-अटकाते हैं। अब मैं इनके स्वरूप को कुछ विस्तार से

६—ग्यांनावर्णी कर्म री प्रकृत पांचे, तिणसूं पांचोइ ग्यांन जीव न पावे।
मत ग्यांनावर्णी मतग्यांन रे आडी, सुरत ग्यांनावर्णी सुरत ग्यांन न आवे ॥

७—अवधि ग्यांनावर्णी अवधि ग्यांन नें रोके, मनपरज्यावर्णी मनपरज्या आडी।
केवल ग्यांनावर्णी केवल ग्यांन रोके, यां पांचां में पांचमी प्रकत जाडी ॥

८—ग्यांनावर्णी कर्म षयउपसम हुवै, जब पामें छै च्यार ग्यांन।
केवल ज्ञानावर्णी तो खयोपसम न हुवै, आ तो खय हुवा पामें केवलग्यांन॥

९—दर्शणावर्णी कर्म री नव प्रकृत छै, ते देखवानें सुणवादिक आडी।
जीवां नें जाबक कर देवे आंधा, त्यां में केवल दर्शणावर्णी सगलां में जाडी ॥

१०—चषू दर्शणावर्णी कर्म उदे सूं, जीव चषू रहीत हुवै अंध अयांण।
अचषू दर्शणावर्णी कर्म रे जोगे, च्यारूं इंद्रीयां री पर जाये हांण ॥

११—अवधि दर्शणावर्णी कर्म उदे सूं, अवधि दर्शन न पामें जीवो।
केवल दर्शणावर्णी तणे परसंगे, उपजे नहीं केवल दरसण दीवो।

१२—निद्रा सुतो तो सुखे जगायो जागे, निद्रा २ उदे दुखे जागे छै तांम।
बेठां उभां जीव नें नींद आवे, तिण नींद तणो छै प्रचला नाम ॥

१३—प्रचला २ नींद उदे सूं जीव नें, हालतां चालतां नींद आवे।
पांचमीं नींद छै कठिण थीणोदी, तिण नींद सूं जीव जाबक दब जावे ॥

६-७—ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं। जिनसे जीव पाँच ज्ञानों को नहीं पाता। मतिज्ञानावरणीय कर्म मतिज्ञान के लिए रुकावट स्वरूप होता है। श्रुतज्ञानावरणीय कर्म श्रुतज्ञान को नहीं आने देता। अवधिज्ञानावरणीय कर्म अवधिज्ञान को रोकता है। मनःपर्यवावरणी कर्म मनःपर्यव-ज्ञान को नहीं होने देता और केवलज्ञानावरणीय केवल-ज्ञान को रोकता है। इन पाँचों में पाँचवीं प्रकृति सबसे अधिक घनी होती है।

ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियों का स्वभाव (गा.६-७)

८—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान) चार ज्ञान प्राप्त करता है। केवलज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता, उसके क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त होता है[४]।

इसके क्षयोपशम आदि से निष्पन्न भाव

९—दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ हैं, जो नाना रूप से देखने और सुनने में बाधा करती हैं। ये जीव को बिलकुल अंधा कर देती हैं। इनमें केवलदर्शनावरणीय कर्म प्रकृति सबसे अधिक घनी होती है।

दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ (गा.९-१५)

१०—चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव चक्षुहीन—बिलकुल अंधा और अजान हो जाता है। अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के योग से(अवशेष) चार इन्द्रियों की हानि हो जाती है।

११—अवधिदर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव अवधिदर्शन को नहीं पाता तथा केवलदर्शनावरणीय कर्म-प्रसंग से केवल-दर्शन रूपी दीपक प्रकट नहीं होता।

१२-३-जो सोया हुआ प्राणी जगाने पर सहज जागता है—उसकी नींद 'निद्रा' है; 'निद्रा निद्रा' के उदय से जीव कठिनाई से जागता है। बैठे-बैठे, खड़े-खड़े जीव को नींद आती है—उसका नाम 'प्रचला' है। जिस निद्रा के उदय से जीव को चलते-फिरते नींद आती है वह 'प्रचला-प्रचला' है। पाँचवीं निद्रा 'स्त्यानगृद्धि' है। इससे जीव बिलकुल दब जाता है। यह निद्रा बड़ी कठिन—गाढ़ होती है।

१४—पांच निद्रा नें च्यार दर्शणावर्णी थी, जीव अंध हुवे जाबक न सुभे लिगारो।
देखण आश्री दर्शणावर्णी कर्म, जीव रे जाबक कीयो अंधारो॥

१५—दर्शणावर्णी कर्म षयउपसम हुवे जद, तीन षयउपशम दर्शन पामें छै जीवो।
दर्शणावर्णी जाबक षय होवे जब, केवल दर्शण पामें ज्यूं घट दीवो॥

१६—तीजो घनघातीयो मोह कर्म छे, तिणरा उदा सूं जीव होवै मतवालो।
सूधी श्रद्धा रे विषे मूढ मिथ्याती, माठा किरतब रो पिण न होवै टालो॥

१७—मोहणी कर्म तणा दोय भेद कह्या जिण, दर्शण मोहणी नें चारित मोहणी कर्म।
इण जीव रा निज गुण दोय बिगाड्या, एक समकत नें दूजो चारित धर्म॥

१८—वले दर्शण मोहणी उदे हुवे जब, सुध समकती जीव रो हुवे मिथ्याती।
चारित मोहणी कर्म उदे हुवे जब, चारित खोयनें हुवे छ काय रो घाती॥

१९—दर्शण मोहणी कर्म उदे सूं, सुधी सरधा समकत नावे।
दर्शण मोहणी उपसम हुवे जब, उपसम समकत निरमली पावे॥

२०—दर्शण मोहणी जाबक खय होवे, जब खायक समकित सासती पावे।
दर्शण मोहणी षयउपसम हुवे जब, षयउपसम समकत जीव नें आवै॥

२१—चारित मोहणी कर्म उदे सूं, सर्व विरत चारित नहीं आवे।
चारित मोहणी उपसम हुवे जब, उपसम चारित निरमलो पावे॥

२२—चारित मोहणी जाबक खय हुवे, तो खायक चारित आवे श्रीकार।
चारित मोहणी खयोपसम हुवे जद, खयउपसम चारित पामें च्यार॥

१४—उपर्युक्त पाँच निद्राओं तथा चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा केवल इन चार दर्शनावरणीय कर्मों से जीव बिलकुल अंधा हो जाता है—उसे बिलकुल दिखाई नहीं देता। देखने की अपेक्षा से दर्शनावरणीय कर्म पूरा अंधेरा कर देता है।

इसके क्षयोपशम आदि से निष्पन्न भाव

१५—दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से जीव को चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन क्षयोपशम दर्शन प्राप्त होते हैं। इस कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवलदर्शनरूपी दीपक घट में प्रकट होता है[५]।

मोहनीय कर्म का स्वभाव और उसके भेद (गा.१६-१७)

१६—तीसरा घनघाती कर्म मोहनीय कर्म है। उसके उदय से जीव मतवाला हो जाता है। इस कर्म के उदय से जीव सच्ची श्रद्धा की अपेक्षा मूढ़ और मिथ्यात्वी होता है तथा उसके बुरे कार्यों का परिहार नहीं होता।

१७—जिन भगवान ने मोहनीय कर्म के दो भेद कहे हैं: (१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय। यह मोहनीय कर्म सम्यक्त्व और चारित्र—जीव के इन दोनों स्वाभाविक गुणों को बिगाड़ता है।

दर्शनमोहनीय के उदय आदि से निष्पन्न भाव (गा.१८-२०)

१८—जब दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होता है तब शुद्ध सम्यक्त्वी जीव भी मिथ्यात्वी हो जाता है। जब चारित्रमोहनीय कर्म उदय में होता है तब जीव चारित्र खोकर छः प्रकार के जीवों का घाती हो जाता है।

१९-२०-दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से शुद्ध श्रद्धान—सम्यक्त्व नहीं आता। इसके उपशम होने पर जीव निर्मल उपशम सम्यक्त्व पाता है। इस कर्म के बिलकुल क्षय होने पर शाश्वत क्षायक सम्यक्त्व और क्षयोपशम होने पर क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है[६]।

चारित्रमोहनीय कर्म और उसके उदय आदि से निष्पन्न भाव

२१-२-चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से सर्वविरति रूप चारित्र नहीं आता। इस कर्म के उपशम होने से जीव निर्मल उपशम चारित्र पाता है और इसके सम्पूर्ण क्षय से उत्कृष्ट क्षायक चारित्र की प्राप्ति होती है। इसके क्षयोपशम से जीव चार क्षयोपशम चारित्र प्राप्त करता है।

२३—जीव तणा उदे भाव नीपनां, ते कर्म तणा उदा सूं पिछांणो।
जीव रा उपसम भाव नीपनां, ते कर्म तणा उपसम सूं जाणो॥

२४—जीव रा खायक भाव नीपनां, ते तो कर्म तणो खय हुवां सूं तांम।
जीव रा खयोपसम भाव नीपनां, खयउपसम कर्म हुआं सूं नांम॥

२५—जीव रा जेहवा जेहवा भाव नीपनां, ते जेहवा जेहवा छै जीव रा नाम।
ते नाम पाया छै कर्म संजोग विजोगे, तेहवाइज कर्मां रा नाम छैं तांम॥

२६--चारित मोहणी तणी छै पंचवीस प्रकृत, त्यां प्रकृत तणा छै जूआजूआ नांम।
त्यांरा उदा सूं जीव तणा नांम तेहवा, कर्म नें जीव रा जूआ जूआ परिणाम॥

२७—जीव अतंत उतकष्टो क्रोध करे जब, जीव रा दुप्ट घणा परिणांम।
तिणनें अनुताणुबंधीयो क्रोध कह्यो जिण, ते कषाय आत्मा छै जीव रो नाम॥

२८—जिण रा उदा सूं उतकष्टो क्रोध करे छै, ते उतकष्टा उदे आया छै तांम।
ते उदे आया छै जीव रा संच्या, त्यांरो अणुताणबंधी क्रोध छै नांम॥

२९—तिण सुं कांयक थोड़ो अप्रत्याखानी क्रोध, तिण सूं कांयक थोड़ो प्रत्याख्यान।
तिण सुं कांयक थोड़ा छै संजल रो क्रोध, आ क्रोघ री चोकड़ी कही भगवान॥

३०—इण रीते मान री चोकड़ी कहणी, माया नें लोभ री चोकड़ी इम जाणो।
च्यार चोकड़ी प्रसंगे कर्मां रा नाम, कर्म प्रसंगे जीव रा नाम पिछांणो॥

२३-५-जीव के जो औदयिक भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें कर्म के उदय से जानो। जीव के जो औपशमिक भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें कर्म के उपशम से जानो। जीव के जो क्षायिक भाव उत्पन्न होते हैं वे कर्म के क्षय से होते हैं तथा क्षयोपशम भाव कर्म के उपशम से। जीव के जो-जो भाव (औदयिक आदि) उत्पन्न होते हैं उन्हीं के अनुसार जीवों के नाम हैं। कर्मों के संयोग या वियोग से जैसे-जैसे नाम जीवों के पड़ते हैं वैसे-वैसे उन कर्मों के भी पड़ जाते हैं।

कर्मोदय आदि और भाव (गा. २३-२५)

२६—चारित्रमोहनीय कर्म की २५ प्रकृतियाँ हैं, जिनके भिन्न-भिन्न नाम हैं। जिस प्रकृति का उदय होता है उसीके अनुसार जीव का नाम पड़ जाता है। ये कर्म और जीव के भिन्न-भिन्न परिणाम हैं।

चारित्र मोहनीय कर्म की २५ प्रकृतियाँ (गा. २६-३६)

२७—जब जीव अत्यन्त उत्कृष्ट क्रोध करता है तो उसके परिणाम भी अत्यन्त दुष्ट होते हैं; ऐसे क्रोध को जिन भगवान ने अनन्तानुबन्धी क्रोध कहा है। ऐसे क्रोध वाले जीव का नाम कषाय आत्मा है।

क्रोध चौकड़ी

२८—जिन कर्मों के उदय से जीव उत्कृष्ट क्रोध करता है वे कर्म भी उत्कृष्ट रूप से उदय में आए हुए होते हैं। जो कर्म उदय में आते हैं वे जीव द्वारा ही संचित किए हुए होते हैं और उनका नाम अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

२९—अनन्तानुबन्धी क्रोध से कुछ कम उत्कृष्ट अप्रत्याख्यान क्रोध होता है और उससे कुछ कम उत्कृष्ट संज्वलन क्रोध होता है। जिन भगवान ने यह क्रोध की चौकड़ी बतलाई है।

३०—इसी प्रकार मान की चौकड़ी कहनी चाहिए। माया और लोभ की चौकड़ी भी इसी तरह समझो। इन चार चौकड़ियों के प्रसंग से कर्मों के नाम भी वैसे ही हैं तथा कर्मों के प्रसंग से जीव के नाम भी वैसे ही जानो।

मान, माया और लोभ चौकड़ी

३१—जीव क्रोध करें क्रोध री प्रकत सूं, मांन करें मांन री प्रकत सूं तांम।
माया कपट करें छें माया री प्रकत सूं, लोभ करें छें लोभ री प्रकत सूं आंम॥

३२—क्रोध करें तिण सूं जीव क्रोधी कहायो, उदे आइ ते क्रोध री प्रकत कहाणी।
इण हीज रीत मान माया नें लोभ, यांनें पिण लीजो इण ही रीत पिछांणी॥

३३—जीव हसे छै हास्य री प्रकत उदे सूं, रित अरित री प्रकत सूं रित अरित बधावें।
भय प्रकत उदे हुआ भय पांमें जीव, सोग प्रकत उदे जीव नें सोग आवें॥

३४—दुगंछा आवें दुगंछा प्रकत उदे सूं, अस्त्री वेद उदे सूं वेदे विकार।
तिणनें पुरष तणी अभिलाषा होवे, पछे वेंतो २ हुवे बोहत विगाड॥

३५—पुरष वेद उदे अस्त्री नीं अभिलाषा, निपुंसक वेद उदे हुवे दोयां री चाय।
करम उदे सूं सवेदी नांम कह्यों जिण, करमां नें पिण वेद कह्या जिण राय॥

३६—मिथ्यात उदे जीव हुवो मिथ्याती, चारित मोह उदे जीव हुवो कुकरमी।
इत्यादिक माठा २ छै जीव रा नांम, वले अनार्य हिंसाधर्मी॥

३७—चोथो घनघातीयो अंतराय करम छै, तिणरी प्रकृत पांच कही जिण तांम।
ते पांचूंई प्रकत पुदगल चोफरसी, त्यां प्रकृत रा छै जूजूआ नांम॥

३८—दानांतराय छै दांन रे आडी, लाभांतराय सूं वस्त लाभ सके नांहीं।
मन गमता पुदगल नां सुख जे, लाभ न सके सब्दादिक कांई॥

३१—जीव क्रोध की प्रकृति से क्रोध, मान की प्रकृति से मान, माया की प्रकृति से माया-कपट और लोभ की प्रकृति से लोभ करता है।

३२—क्रोध करने से जीव क्रोधी कहलाता है और जो प्रकृति उदय में आती है वह क्रोध-प्रकृति कहलाती है। इसी प्रकार मान, माया और लोभ इनको भी पहचानना चाहिए।

हास्यादि प्रकृतियाँ

३३—हास्य-प्रकृति के उदय से जीव हँसता है, रति-अरति प्रकृति के उदय से रति-अरति को बढ़ाता है। भय-प्रकृति के उदय से जीव भय पाता है तथा शोक-प्रकृति के उदय से जीव शोक-ग्रस्त होता है।

जुगुप्सा प्रकृति
तीन वेद

३४-३५-जुगुप्सा-प्रकृति के उदय से जुगुप्सा होती है। स्त्री-वेद के उदय से विकार बढ़कर पुरुष की अभिलाषा होती है। यह अभिलाषा बढ़ते-बढ़ते बहुत बिगाड़ कर डालती है। पुरुष-वेद के उदय से स्त्री की और नपुंसक-वेद के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों की अभिलाषा होती है। जिन भगवान ने कर्मों को वेद तथा कर्मोदय से जीव को सवेदी कहा है।

चारित्र-मोहनीय कर्म का सामान्य स्वरूप

३६—मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव मिथ्यात्वी होता है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव कुकर्मी होता है। कुकर्मी, अनार्य, हिंसा-धर्मी आदि हल्के नाम इसी कर्म के उदय से होते हैं[७]।

अन्तराय कर्म और उसकी प्रकृतियाँ (गा० ३७-४२)

३७—चौथा घनघाती कर्म अन्तराय कर्म है। जिन भगवान ने इसकी पाँच प्रकृतियाँ कही हैं। ये प्रकृतियाँ चतुःस्पर्शी पुद्‌गल हैं। इन प्रकृतियों के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

दानांतराय कर्म
लाभांतराय कर्म

३८—दानांतराय प्रकृति दान में विघ्नकारी होती है। लाभांतराय कर्म के कारण वस्तु का लाभ नहीं हो सकता—मनोज्ञ शब्दादि रूप पौद्‌गलिक सुखों का लाभ नहीं हो सकता।

३९—भोगांतराय नां करम उदे सूं, भोग मिलीया ते भोगवणी नावें।
उवभोगांतराय करम उदे सूं, उवभोग मिलीया तोही भोगवणी नहीं आवें ॥

४०—वीर्य अंतराय रा करम उदे थी, तीनूं ई वीर्य गुण हीणा थावे।
उठाणादिक हीणा थावे पांचूंई, जीव तणी सक्त जाबक घट जावे ॥

४१—अनंतो बल प्राकम जीव तणो छें, तिणनें एक अंतराय करम सूं घटायो।
तिण करम नें जीव लगायां सूं लागो, आप तणो कीयों आपरे उदे आयो ॥

४२—पांचूं अन्तराय जीव तणा गुण दाब्या, जेहवा गुण दाब्या छें तेहवा करमां रा नांम।
ए तो जीव रे प्रसंगे नांम करम रा, पिण सभाव दोयां रो जूजूओ तांम ॥

४३—ए तो च्यार घनघातीया करम कह्या जिण, हिवें अघातीया करम छें च्यार।
त्यां में पुन नें पाप दोनूं कह्या जिण, हिवें पाप तणो कहूं छूं विसतार ॥

४४—जीव असाता पावे पाप करम उदे सूं, तिण पाप रो असाता वेदनी नांम।
जीव रा संचीया जीव नें दुःख देवै, असाता वेदनी पुदगल परिणांम ॥

४५—नारकी रो आउखो पाप री प्रकृत, केइ तिर्यंच रो आउखो पिण पाप।
असनी मिनख नें केई सनी मिनख रो, पाप री प्रकृत दीसें छें विलाप ॥

३६—भोगान्तराय कर्म के उदय से भोग-वस्तुओं के मिलने पर भी उनका सेवन—उपभोग नहीं हो सकता तथा उपभोगांतराय कर्म के उदय से मिली हुई उपभोग-वस्तुओं का भी सेवन नहीं हो सकता।

भोगांतराय-कर्म
उपभोगांतराय कर्म

४०—वीर्यान्तराय कर्म के उदय से तीनों ही वीर्य-गुण हीन पड़ जाते हैं। उत्थानादिक पाँचों ही हीन हो जाते हैं—जीव की शक्ति बिलकुल घट जाती है।

वीर्यान्तिराय कर्म

४१—जीव का बल—पराक्रम अनन्त है। जीव स्वोपार्जित एक अन्तराय कर्म से उसको घटा देता है। कर्म जीव के लगाने पर ही लगता है। खुद का किया हुआ खुद के ही उदय में आता है।

४२—पाँचों अन्तराय कर्मों ने जीव के भिन्न-भिन्न गुणों को आच्छादित कर रखा है। आच्छादित गुण के अनुसार ही कर्मों के नाम हैं। कर्मों के ये नाम जीव-प्रसंग से हैं। परन्तु जीव और कर्म दोनों के स्वभाव जुदे-जुदे हैं[८]।

४३—जिन भगवान ने ये चार घनघाति कर्म कहे हैं। अघाति कर्म भी चार हैं। जिन भगवान ने इनको पुण्य-पाप दोनों प्रकार का कहा है। अब मैं अघाति पाप कर्मों का विस्तार कहता हूँ।

चार अघाति कम

४४—जिस कर्म के उदय से जीव असाता—दुःख पाता है उस पापकर्म का नाम असातावेदनीय कर्म है। जीव के स्वयं के संचित कर्म ही उसे दुःख देते हैं। असातावेदनीय कर्म पुद्गलों का परिणाम विशेष है[९]।

असातावेदनीय कर्म

४५—नारक जीवों का आयुष्य पाप प्रकृति है; कई तिर्यंचों क आयुष्य भी पाप है। असंज्ञी मनुष्य और कई संज्ञी मनुष्यों की आयु भी पापरूप मालूम देती है[१०]।

अशुभ आयुष्य कर्म
(गा० ४५-४६)

४६—ज्यांरो आउखो पाप कह्यों छें जिणेसर, त्यांरी गति आणुपूर्वी पिण दीसें छें पाप।
गति आणुपूर्वी दीसें आउखा लारे, इणरो निश्चो तो जांणें जिणेसर आप ॥

४७—च्यार संघेयण हाड पाड़ूआ छें, ते उसभ नांम करम उदे सूं जांणों।
च्यार संठाण में आकार भूंडा ते, उसभ नांम करम सूं मिलीया छें आंणो॥

४८—वर्ण गंध रस फरस माठा मिलीया, ते अणगमता नें अतंत अजोग।
ते पिण उसभ नांम करम उदे सूं, एहवा पुदगल दुःखकारी मिले छें संजोग॥

४९—सरीर उपंग बंधण नें संघातण, त्यांमें केकांरे माठा २ छै अतंत अजोग।
ते पिण उसभ नांम करम उदे सूं, अणगमता पुदगल रो मिले छें संजोग ॥

५०—थावर नांम उदे छें थावर रो दसको, तिण दसका रा दस बोल पिछांणो।
नांम करम उदे छें जीव रा नांम, एहवा इज नांम करमा रा जांणों ॥

५१—थावर नांम करम उदे जीव थावर हूओ, तिण सूं आघो पाछो सरकणी नावें।
सूक्ष्म नांम उदे जीव सूक्ष्म हूओ छै, सूक्ष्म सरीर सगला सूं नान्हो पावे ॥

५२—साधारण नांम सूं जीव साधारण हूओ, एकण सरीर में अनंता रहे तांम।
अप्रज्याप्ता नांम सूं अप्रज्याप्तो मरे छें, तिण सूं अप्रज्याप्तो छें जीव रो नांम ॥

५३—अथिर नांम सूं तो जीव अथिर कहाणो, सरीर अथिर जाबक ढीलो पावें।
दुभ नाम उदे जीव दुभ कहाणो, नाभ नीचलो सरीर पाड़ओ थावे ॥

४६—जिन भगवान ने जिनके आयुष्य को पाप कहा है उनकी गति और आनुपूर्वी भी पाप मालूम देती है। ऐसा मालूम देता है कि गति और आनुपूर्वी आयु के अनुरूप होती है। पर निश्चित रूप से तो जिनेश्वर भगवान ही जानते हैं।

अशुभ नामकर्म की प्रकृतियाँ
अशुभ गति नामकर्म अशुभ आनुपूर्वी नामकर्म

४७—चार संहननों में जो बुरे हाड़ हैं उन्हें अशुभ नामकर्म के उदय से जानो। इसी प्रकार चार संस्थानों में जो बुरे आकार हैं वे भी अशुभ नामकर्म के उदय से प्राप्त हैं।

संहनन नामकर्म
संस्थान नामकर्म

४८—अत्यन्त निकृष्ट—अमनोज्ञ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की प्राप्ति अशुभ नामकर्म के उदय से ही होती है। इस कर्म के संयोग से ही ऐसे दुःखकारी पुद्‌गल मिलते हैं।

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श नामकर्म

४९—कइयों के शरीर, उपांग, बंधन और संघातन अत्यन्त निकृष्ट होते हैं। अशुभ नामकर्म के उदय से ही ऐसा होता है। इन अमनोज्ञ पुद्‌गलों का संयोग इसके उदय से है।

शरीर-अङ्गोपाङ्ग-बंधन-संघातन नामकर्म

५०—स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर-दशक होता है। इसके दस बोल हैं। नामकर्म के उदय से जीव के जैसे नाम होते हैं वैसे ही नाम कर्मों के होते हैं।

स्थावर नामकर्म

५१—स्थावर नामकर्म के उदय से जीव स्थावर होता है। उससे आगे-पीछे हटा नहीं जाता। सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जीव सूक्ष्म होता है जिससे उसे सब शरीर सूक्ष्म प्राप्त होते हैं।

सूक्ष्म नामकर्म

५२—साधारण शरीर नामकर्म से जीव साधारण-शरीरी होता है। उसके एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। अपर्याप्त नामकर्म से जीव अपर्याप्त अवस्था में ही मृत्यु प्राप्त करता है। इसी कारण वह जीव अपर्याप्त कहलाता है।

साधारण शरीर नामकर्म अपर्याप्त नामकर्म

५३—अस्थिर नामकर्म के उदय से जीव अस्थिर कहलाता है। इससे उसे बिलकुल ढीला—अस्थिर शरीर प्राप्त होता है। अशुभ नामकर्म के उदय से जीव अशुभ कहलाता है। इस कर्म के कारण नाभि के नीचे का शरीर—भाग बुरा होता है।

अस्थिर नासकर्म
अशुभ नामकर्म

५४—दुभग नांम थकी जीव हुवै दोभागी, अणगमतो लागे न गमे लोकां नें लिगार।
दुःस्वर नांम थकी जीव हुवे दुःस्वरीयो, तिणरो कंठ असुभ नहीं श्रीकार ॥

५५—अणादेज नांम करम रा उदा थी, तिणरो वचन कोइ न करें अंगीकार।
अजस नांम थकी जीव हूओ अजसीयो, तिणरो अजस बोले लोक वारंवार ॥

५६—अपघात नांम करम रा उदे थी, पेलो जीते नें आप पांमें घात।
दुभ गइ नांम करम संजोगे, तिणरी चाल किणही नें दीठी न सुहात ॥

५७—नीच गोत उदे नीच हुवो लोकां में, उंच गोत तणा तिणरी गिणे छें छोत।
नीच गोत थकी जीव हर्ष न पांमें, पोता रो संचीयो उदे आयो नीच गोत ॥

५८—पाप तणी प्रकृत ओलखावण काजे, जोड़ कीधी श्री दुवारा सहर मझार।
संवत अठारे पचावनें वरसे, जेठ सुदी तीज नें वृहस्पतवार ॥

५४—दुर्भग नामकर्म के उदय से जीव दुर्भागी होता है—वह दूसरों को अप्रिय लगता है। किसीको नहीं सुहाता। दुःस्वर नामकर्म से जीव दुःस्वर वाला होता है। उसका कंठ उत्तम नहीं होता—अशुभ होता है।

दुर्भग नामकर्म
दुःस्वर नामकर्म

५५—अनादेय नामकर्म के उदय से जीव के वचनों को कोई अंगीकार नहीं करता। अयश नामकर्म के उदय से जीव अयशस्वी होता है—लोग बार-बार उसका अयश करते हैं।

अनादेय नामकर्म
अयशकीर्ति नामकर्म

५६—अपघात नामकर्म के उदय से दूसरे की जीत होती है और जीव स्वयं घात को प्राप्त है। विहायोगति नामकर्म के संयोग से जीव की चाल किसी को भी देखी नहीं सुहाती[११]।

अपघात नामकर्म
अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म

५७—नीच गोत्रकर्म के उदय से जीव लोक में निम्न होता है। उच्च गोत्र वाले उससे छूत करते हैं। नीच गोत्र से जीव हर्षित नहीं होता। परन्तु नीच गोत्र भी अपना किया हुआ ही उदय में आता है[१२]।

नीच गोत्र कर्म

५८—पाप-प्रकृतियों की पहचान के लिये यह जोड़ श्रीजी द्वार में सं० १८५५ वर्ष की जेठ सुदी ३ गुरुवार को की है।

रचना-स्थान और काल

टिप्पणियाँ

१—पाप पदार्थ का स्वरूप (दो० १-४)

इन प्रारम्भिक दोहों में निम्न बातों का प्रतिपादन है :

(१) पाप चौथा पदार्थ है।

(२) जो कर्म विपाकावस्था में अत्यन्त जघन्य, भयंकर, रुद्र, भयभीत करनेवाला तथा दारुण दुःख को देनेवाला होता है उसे पाप कहते हैं।

(३) पाप पुद्गल है। वह चतुःस्पर्शी रूपी पदार्थ है।

(४) पाप-कर्म स्वयंकृत है। पापास्रव जीव के अशुभ कार्यों से होता है।

(५) पापोत्पन्न दुःख स्वयंकृत है। दुःख के समय क्षोभ न कर समभाव रखना चाहिये।

अब हम नीचे इन पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

(१) पाप चौथा पदार्थ है :

श्रमण भगवान महावीर ने पुण्य और पाप दोनों का स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में उल्लेख किया है। जो पुण्य और पाप को नहीं मानते, वे अन्यतीर्थी कहे गये हैं[1]। ऐसे मत को ध्यान में रखते हुए ही भगवान महावीर ने कहा है—"ऐसी संज्ञा मत रखो कि पुण्य और पाप नहीं हैं। ऐसी संज्ञा रखो कि पुण्य और पाप हैं[2]।" भगवान महावीर के श्रमणोपासक पुण्य और पाप दोनों तत्त्वों के गीतार्थ होते थे। ऐसा उल्लेख अनेक आगमों में है[3]।

पुण्य और पाप पदार्थों को लेकर जो अनेक विकल्प हो सकते हैं उनका निराकरण विशेषावश्यकभाष्य में देखा जाता है। वे विकल्प इस प्रकार हैं[4] :

१—सूयगडं १.१.१२ :

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इतो वरे।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो॥

२—देखिये पृष्ठ १५० टि० १(१)

३—सूयगडं २.२.३९ : से जहाणामए समणोवासगा भवंति अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरवेयणाणिज्जराकिरियाहिगरणबंधमोक्खकुसला।

४—विशेषावश्यकभाष्य गा० १९०८ :

मण्णसि पुण्णं पावं साधारणमधव दो वि भिण्णाइं।
होज्ज ण वा कम्मं चिय सभावतो भवपपंचोऽयं॥

(क) मात्र पुण्य ही है, पाप नहीं है।

(ख) मात्र पाप ही है, पुण्य नहीं है।

(ग) पुण्य और पाप एक ही साधारण वस्तु है।

(घ) पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु नहीं; स्वभाव से सर्व प्रपंच हैं।

नीचे क्रमशः इन वादों पर विचार किया जाता है :

(क) 'मात्र पुण्य ही है, पाप नहीं है'—इस मत को माननेवालों का कहना है कि जिस प्रकार पथ्याहार की क्रमिक वृद्धि से आरोग्य की क्रमशः वृद्धि होती है, उसी प्रकार पुण्यकी वृद्धि से क्रमशः सुख की वृद्धि होती है। जिस प्रकार पथ्याहारकी क्रमशः हानि से आरोग्य की हानि होती है अर्थात् रोग बढ़ता है उसी प्रकार पुण्य की हानि होने से दुःख बढ़ता है। जिस प्रकार पथ्याहार का सर्वथा त्याग होने से मृत्यु होती है उसी प्रकार पुण्य के सर्वथा क्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार एक पुण्य से ही सुख-दुःख दोनों घटते हैं अतः पाप को अलग मानने की आवश्यकता नहीं। पुण्य का क्रमशः उत्कर्ष शुभ है। पुण्य का क्रमशः अपकर्ष अशुभ है। उसका सम्पूर्ण क्षय मोक्ष है अतः पाप कोई भिन्न पदार्थ नहीं[1]।

इसका उत्तर इस प्रकार प्राप्त है—दुःख की बहुलता तदनुरूप कर्म के प्रकर्ष से ही सम्भव है पुण्य के अपकर्ष से नहीं। जिस प्रकार सुख के प्रकृष्ट अनुभव का कारण उसके अनुरूप पुण्य का प्रकर्ष माना जाता है वैसे ही प्रकृष्ट दुःखानुभव का कारण भी तदनुरूप किसी कर्म का प्रकर्ष होना चाहिए; और वह पाप-कर्म का प्रकर्ष है। पुण्य शुभ है, अतः बहुत अल्प होने पर भी उसका कार्य शुभ होना चाहिए। वह अशुभ तो हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार अल्प सुवर्ण से छोटा सुवर्ण घट सम्भव है मिट्टी का नहीं उसी प्रकार कम अधिक पुण्य से जो कुछ होगा वह शुभ ही होगा अशुभ नहीं हो सकता। अतः अशुभ का कारण पाप भी मानना होगा। यदि दुःख पुण्य के अपकर्ष से हो तो प्रकारान्तर से सुख के साधनों का अपकर्ष ही उसका कारण होगा परन्तु दुःख के लिए दुःख के साधनों के प्रकर्ष की भी अपेक्षा है। जिस प्रकार सुख के

१—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १९०९ :

पुराणुक्करिसे सुभता तरतमजोगावकरिसतो हाणी।
तस्सेव खये मोक्खो पत्थाहारोवमाणातो॥

(ख) गणधरवाद पृ० १३५

साधनों के प्रकर्ष-अपकर्ष के लिए पुण्य का प्रकर्ष-अपकर्ष आवश्यक है उसी प्रकार दुःख के साधनों के प्रकर्ष-अपकर्ष के लिए पाप का प्रकर्ष-अपकर्ष मानना आवश्यक है। पुण्य के अपकर्ष से इष्ट साधनों का अपकर्ष हो सकता है, पर अनिष्ट साधनों की वृद्धि नहीं हो सकती। उसका स्वतन्त्र कारण पाप है[1]।

(ख) जो केवल पाप को मानते हैं, पुण्य को नहीं उनका कहना है कि जब पाप को तत्त्व रूप में स्वीकार कर लिया गया है तब पुण्य को मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि पाप का अपकर्ष ही पुण्य है। जिस प्रकार अपथ्याहार की वृद्धि होने से रोग की वृद्धि होती है, उसी प्रकार पाप की वृद्धि होने से अधमता की प्राप्ति होती है अर्थात् दुःख बढ़ता है। जिस प्रकार अपथ्याहार की कमी से आरोग्य की वृद्धि होती है उसी प्रकार पाप के अपकर्ष से शुभ की अर्थात् सुख की वृद्धि होती है। जब अपथ्याहार का सर्वथा त्याग होता है तब परम आरोग्य की प्राप्ति होती है वैसे ही पाप के सर्वथा नाश से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार एक मात्र पाप मानने से ही सुख-दुःख दोनों घटते हैं। फिर पुण्य को अलग मानने की आवश्यकता नहीं[2]।

इन तर्कों का उत्तर इस प्रकार है : केवल पुण्य को मानने के विपक्ष में जो दलीलें हैं वे ही विपरीत रूप में यहां लागू होती हैं। जिस प्रकार पुण्य के अपकर्ष से दुःख नहीं हो सकता उसी प्रकार पाप के अपकर्ष से सुख नहीं हो सकता। यदि अधिक विष अधिक नुकसान करता है तो अल्प विष अल्प नुकसान करेगा—फायदा नहीं कर

१—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १९३१-३३

कम्मप्पकरिसजणितं तदवस्सं पगरिसाणुभूतीतो।
सोक्खप्पगरिभूती जध पुण्णप्पगरिसप्पभवा॥
तध बज्झसाधणप्पगरिसंगभावादिहण्णधा ण तयं।
विवरीतबज्झसाधणबलप्पकरिसं अवेक्खेज्जा॥
देहो णावचयकतो पुण्णुक्करिसे व मुत्तिमत्तातो।
होज्ज व स हीणतरओ कधमसुभतरो महल्लो य॥

(ख) गणधरवाद पृ० १४२-३

२—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १९१० :

पावुक्करिसेऽधमता तरतमजोगावकरिसतो सुभता।
तस्सेव खए मोक्खो अपत्थभत्तोवमाणातो॥

(ख) गणधरवाद पृ० १३५

सकता। इसी प्रकार पाप का अपकर्ष थोड़ा दुःख दे सकता है पर सुख का कारण अन्य तत्त्व ही हो सकता है और वह पुण्य है[1]।

(ग) जो पुण्य-पाप को संकीर्ण–मिश्रित मानते हैं उनका कहना है कि जिस प्रकार अनेक रंगों के मिलने से एक साधारण संकीर्ण वर्ण बनता है, जिस प्रकार विविध रंगी मेचकमणि एक ही होती है अथवा सिंह और नर के रूप को धारण करने वाला नरसिंह एक है उसी प्रकार पाप और पुण्य संज्ञा प्राप्त करने वाली एक ही साधारण वस्तु है। इस साधारण वस्तु में जब एक मात्रा पुण्य बढ़ जाता है तब वह पुण्य और जब एक मात्रा पाप बढ़ जाता है तब वह पाप कहलाती है। पुण्यांश के अपकर्ष से वह पाप और पापांश के अपकर्ष से वह पुण्य कहलाता है[2]।

इसका उत्तर इस प्रकार है : कोई कर्म पुण्य-पाप उभय रूप नहीं हो सकता क्योंकि ऐसे कर्म का कोई कारण नहीं। कर्म का कारण योग है। किसी एक समय में योग शुभ होता है अथवा अशुभ परन्तु शुभाशुभ रूप नहीं होता। अतः उसका कार्य कर्म भी पुण्य रूप शुभ अथवा पापरूप अशुभ होता है, पुण्य-पाप उभय रूप नहीं। मन, वचन और काय इन तीन साधनों के भेद से योग के तीन भेद हैं। प्रत्येक योग के द्रव्य और भाव दो भेद हैं। मन, वचन और काययोग में जो प्रवर्तक पुगद्ल हैं वे द्रव्य योग कहलाते हैं और मन-वचन-काय का जो स्फुरण-परिस्पंद है वह भी द्रव्य योग है। इन दोनों प्रकार के द्रव्य योग का कारण अध्यवसाय है और वह भावयोग कहलाता है। इनमें से जो द्रव्ययोग हैं उनमें शुभाशुभता भले ही हो परन्तु उनका कारण अध्यवसाय रूप जो भावयोग है वह एक समय में शुभ अथवा अशुभ होता है, उभयरूप संभव नहीं। द्रव्ययोग को भी जो उभयरूप कहा है वह भी व्यवहारनय की अपेक्षा से। वह भी निश्चयनय की अपेक्षा से एक समय में शुभ या अशुभ ही होता है। तत्त्वचिंता के समय व्यवहार की अपेक्षा निश्चयनय

१—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १९३४ :

एतं चिय विवरीतं जोएज्जा सव्वपावपक्खे वि।
ण य साधारणरूवं कम्मं तक्कारणाभावा॥

(ख) गणधरवाद पृ० १४३

२—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १९११ :

साधारणवण्णादि व अध साधारणमधेगमत्ताए।
उक्करिसावकरिसतो तस्सेव य पुण्णपावक्खा॥

(ख) गणधरवाद पृ० १३५-६

की दृष्टि का प्राधान्य मानना चाहिये। अध्यवसाय स्थानों में शुभ अथवा अशुभ ये दो भेद हैं पर शुभाशुभ ऐसा तृतीय भेद नहीं मिलता। अतः अध्यवसाय जब शुभ होता है तब पुण्य कर्म और जब अशुभ होता है तब पाप कर्म का बंध होता है। शुभाशुभ रूप कोई अध्यवसाय नहीं कि जिससे शुभाशुभ रूप कर्म का बंध संभव हो अतः पुण्य और पाप स्वतंत्र ही मानने चाहिए संकीर्ण मिश्रित नहीं। प्रश्न हो सकता है भावयोग को शुभाशुभ उभयरूप न मानने का क्या कारण है? इसका उत्तर यह है—भावयोग ध्यान और लेश्यारूप है। और ध्यान धर्म अथवा शुक्ल शुभ या आर्त अथवा रौद्र अशुभ ही एक समय में होता है, पर वह शुभाशुभ हो ही नहीं सकता। ध्यानविरति होने पर लेश्या भी तैजसादि कोई एक शुभ अथवा कापोती आदि कोई एक अशुभ होती है; पर उभय रूप लेश्या नहीं होती। अतः ध्यान और लेश्यारूप भावयोग भी या तो शुभ अथवा अशुभ एक समय में होता है। अतः भावयोग के निमित्त से बंधने वाले कर्म भी पुण्यरूप शुभ अथवा पापरूप अशुभ ही होता है। अतः पाप और पुण्य को स्वतंत्र मानना चाहिए[1]।

यदि उन्हें संकीर्ण माना जाय तो सर्व जीवों को उसका कार्य मिश्ररूप में अनुभव में आना चाहिए, अर्थात् केवल सुख या केवल दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिए, सदा सुख-दुःख मिश्रित रूप में अनुभव में आना चाहिए। पर ऐसा नहीं होता। देवों में केवल सुख का ही विशेष रूप से अनुभव होता है और नारकों में केवल दुःख का विशेष अनुभव होता है। संकीर्ण कारण से उत्पन्न कार्य में भी संकीर्णता ही होनी चाहिए। ऐसा संभव नहीं कि जिसका संकर हो उसमें से कोई एक ही उत्कट रूप से कार्य में उत्पन्न हो और दूसरा कोई कार्य उत्पन्न न करे। अतः सुख के अतिशय का जो निमित्त हो उसे, दुःख के अतिशय में जो निमित्त हो उससे, भिन्न ही मानना चाहिए। पुण्य और पाप सर्वथा संकर ही हों तो एक की वृद्धि होने से दूसरे की भी वृद्धि होनी चाहिए।

१—विशेषावश्यकभाष्य गा० १९३५-३७ :

कम्मं जोगणिमित्तं सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि।
होज्ज ण तूभयरूवो कम्मं वि तओ तदणुरूवं॥
णणु मण-वइ-काययोगा सुभासुभा वि समयम्मि दीसंति।
दव्वम्मि मीसभावो भवेज्ज ण तु भावकरणम्मि॥
झाणं सुभमसुभं वा ण तु मीसं जं च झाणविरमे वि।
लेसा सुभासुभा वा सुभमसुभं वा तओ कम्मं॥

पुण्यांश की वृद्धि से पापांश की हानि संभव नहीं होगी। और न पापांश की वृद्धि से पुण्यांश की हानि। जिस तरह देवदत्त की वृद्धि होने से यज्ञदत्त की वृद्धि नहीं होती अत: वे भिन्न-भिन्न हैं उसी प्रकार पापांश की वृद्धि से पुण्यांश की वृद्धि नहीं होती और पुण्यांश की वृद्धि से पापांश की नहीं होती, अत: पुण्य और पाप दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है[1]।

(घ) 'पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु ही नहीं है; स्वभाव से ही ये सब भवप्रपंच हैं'—यह सिद्धान्त युक्ति से बाधित है। संसार में जो सुख-दुःख की विचित्रता है वह स्वभाव से नहीं घट सकती। स्वभाव को वस्तु नहीं मान सकते कारण कि आकाशकुसुम की तरह वह अत्यन्त अनुपलब्ध है। अत्यन्त अनुपलब्ध होने पर भी यदि स्वभाव का अस्तित्व माना जाय तो फिर अत्यन्त अनुपलब्ध मान कर पुण्य-पाप रूप कर्म को क्यों अस्वीकार किया जाता है? अथवा कर्म का ही दूसरा नाम स्वभाव है ऐसा मानने में क्या दोष है? पुनः स्वभाव से विविध प्रकार के प्रतिनियत आकार वाले शरीरादि कार्यों की उत्पत्ति संभव नहीं; कारण कि स्वभाव तो एक ही रूप है। नाना प्रकार के सुख-दुःख की उत्पत्ति विविध कर्म बिना संभव नहीं। स्वभाव एक रूप होने से उसे कारण नहीं माना जा सकता। यदि स्वभाव वस्तु हो तो प्रश्न उठता है वह मूर्त है या अमूर्त? यदि वह मूर्त है तो फिर नाममात्र का भेद हुआ। जिन जिसे पुण्य-पाप कर्म कहते हैं उसे ही स्वभाव-वादी स्वभाव कहते हैं। यदि स्वभाव अमूर्त है तो वह कुछ भी कार्य आकाश की तरह नहीं कर सकता, तो फिर देहादि अथवा सुख रूप कार्य करने की तो बात ही दूर। यदि स्वभाव को निष्कारणता माना जाय तो घटादि की तरह खरशृङ्ग की भी उत्पत्ति क्यों नहीं होती?

पुनः उत्पत्ति निष्कारण नहीं मानी जा सकती। स्वभाव को वस्तु का धर्म माना जाय तो वह जीव और कर्म का पुण्य और पापरूप परिणाम ही सिद्ध होगा। कारणा-नुमान और कार्यानुमान द्वारा इसकी सिद्धि होती है। जिस प्रकार कृषि-क्रिया का कार्य शालि-यव-गेहूं आदि सर्वमान्य हैं उसी प्रकार दानादि क्रिया का कार्य पुण्य और हिंसादि क्रिया का कार्य पाप स्वीकार करना होगा। क्रिया कारण होने से उसका कोई कार्य मानना होगा। वह कार्य और कुछ नहीं जीव और कर्म का पुण्य और पाप रूप परिणाम

१—गणधरवाद पृ० १५०-१

है। पुनः देहादि का कोई कारण होना चाहिए क्योंकि वह कार्य है जैसे घट। देहादि का जो कारण है वही कर्म है।

कर्म पुण्य और पाप दो प्रकार का मानना चाहिए, कारण शुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पुण्य-कर्म का और अशुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पाप-कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। पुनः शुभ क्रियारूप कारण से शुभ कर्म पुण्य की निष्पत्ति होती है और अशुभ क्रियारूप कारण से अशुभ कर्म पाप की निष्पत्ति होती है। इससे भी कर्म के पुण्य और पाप ऐसे दो भेद स्वभाव से ही भिन्नजातीय सिद्ध होते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि देहादि के कारण माता-पितादि प्रत्यक्ष हैं तो फिर अदृष्ट कर्म क्यों माना जाय ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि दृष्ट कारण माता-पिता ही होते हैं फिर भी एक पुत्र सुन्दर देहयुक्त और दूसरा कुरूपा देखा जाता है अतः दृष्ट कारण माता-पिता से भिन्न अदृष्ट कारण पुण्य और पाप-कर्म मानने चाहिए। कहा है—"दृष्ट हेतु होने पर भी कार्यविशेष असंभव हो तो कुलाल के यत्न की तरह एक अन्य अदृष्ट हेतु का अनुमान होता है। और वह कर्त्ता का शुभ या अशुभ कर्म है"।

दूसरी तरह से भी कर्म के पुण्य और पाप ये दों भेद सिद्ध होते हैं। सुख और दुःख दोनों कार्य हैं। उनके कारण भी क्रमशः उनके अनुरूप दो होने चाहिए। जिस प्रकार घट का अनुरूप कारण मिट्टी के परमाणु हैं और पट का अनुरूप कारण तन्तु हैं, उसी प्रकार सुख के अनुरूप कारण पुण्य-कर्म और दुःख के अनुरूप कारण पाप-कर्म का पार्थक्य मानना होगा[१]।

(२)पाप कर्म की परिभाषा

आचार्य पूज्यपाद ने पाप की परिभाषा इस प्रकार दी है—'**पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्**[२]।' जो आत्मा को पवित्र—करे प्रसन्न करे वह पुण्य अथवा जिसके द्वारा आत्मा पवित्र हो—प्रसन्न हो वह पुण्य है। पुण्य का उलटा पाप है। जो आत्मा को शुभ से बचाता है—आत्मा में शुभ परिणाम नहीं होने देता वह पाप है[३]।

१—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा. १६१२-२१

(ख) गणधरवाद पृ० १३६-१३६

२—सर्वार्थसिद्धि ६.३ की टीका

३—तत्त्वार्थवार्तिक ६.३.४ : तत्प्रतिद्वन्द्विरूपं पापम्। ...पाति रक्षति आत्मानम् अस्माच्छुभ परिणामादिति पापाभिधानम्

यद्यपि सोने या लोहे की बेड़ी की तरह दोनों ही आत्मा की परतन्त्रता के कारण हैं फिर भी इष्ट और अनिष्ट फल के भेद से पुण्य और पाप में भेद है। जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय-विषयादि का हेतु है वह पुण्य है तथा जो अनिष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय-विषयादि का कारण है वह पाप है[1]।

आचार्य जिनभद्र कहते हैं—"जो स्वयं शोभन वर्ण, गंध, रस और स्पर्शयुक्त होता है और जिसका विपाक भी शुभ होता है वह पुण्य है, और उससे जो विपरीत होता है वह पाप है। पुण्य और पाप दोनों पुद्गल हैं। वे न अति बादर हैं न अति सूक्ष्म[2]।" "सुख और दुःख दोनों कार्य होने से दोनों के अनुरूप कारण होने चाहिए। जिस प्रकार घट का अनुरूप कारण मिट्टी के परमाणु हैं और पट का अनुरूप कारण तन्तु, उसी प्रकार सुख का अनुरूप कारण पुण्यकर्म और दुःख का अनुरूप कारण पापकर्म है[3]।"

कहा है—

पुगद्लकर्म शुभं यत्तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्।
यदशुभमथ तत्पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम्॥

स्वामीजी ने पाप की अधमता को जघन्य, अति भयंकर, घोर रुद्र आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। पाप पदार्थ उदय में आने पर अत्यन्त दारुण कष्ट देता है। यह सर्व मान्य है।

१—तत्त्वार्थवार्त्तिक ६.३.६ : उभयमपि पारतन्त्र्यहेतुत्वात् अविशिष्टमिति चेत्; न; इष्टानिष्टनिमित्तभेदात्तद्भेदसिद्धेः। स्यान्मतम्—यथा निगलस्य कनकमयस्यायसस्य चाऽस्वतंत्रीकरणं फलं तुल्यमित्यविशेषः, तथा पुण्यं पापं चात्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तम-विशिष्टमिति...........यदिष्टगतिजातिशरीरेन्द्रियविषयादिनिर्वर्तकं तत्पुण्यम्। अनिष्टगतिजातिशरीरेन्द्रियविषयादिनिर्वर्तकं यत्तत्पापमित्यनयोरयं भेदः।

२—विशेषावश्यकभाष्य १९४० :

सोभणवण्णातिगुणं सुभाणुभावं जं तयं पुण्णं।
विवरीतमतो पावं ण बातरं णातिसुहुमं च॥

३—विशेषावश्यकभाष्य १९२१ :

सुह-दुक्खाणं कारणमणुरूवं कज्जभावतोऽवस्सं।
परमाणवो घडस्स व कारणमिह पुण्णपावाइं॥

(३) पाप-कर्म पुद्गल, चतुःस्पर्शी, रूपी पदार्थ है

पुगद्ल की आठ मुख्य वर्गणाएँ हैं।

(१) **औदारिक वर्गणा**—औदारिक शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गल-समूह।

(२) **वैक्रिय वर्गणा**—वैक्रिय शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गल-समूह।

(३) **आहारक वर्गणा**—आहारक शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गल-समूह।

(४) **तैजस वर्गणा**—तैजस शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गल-समूह।

(५) **कार्मण वर्गणा**—कार्मण शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गल-समूह।

(६) **श्वासोच्छ्वास वर्गणा**—आन-प्राण योग्य पुद्गल-समूह।

(७) **वचन वर्गणा**—भाषा के योग्य पुद्गल-समूह।

(८) **मन वर्गणा**—मन के योग्य पुद्गल-समूह।

पाप और पुण्य दोनों कर्म-वर्गणा के पुदग्ल हैं। दोनों चतुःस्पर्शी हैं। कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष इन आठ स्पर्शों में से कर्म में अन्तिम चार स्पर्श होते हैं। इन स्पर्शों के साथ उनमें वर्ण, गंध, रस भी होते हैं। अतः वे रूपी या मूर्त कहलाते हैं। पुण्य कर्म शोभन वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त होते हैं। पाप कर्म अशोभन वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त।

पुण्य को सुख और पाप को दुःख का कारण कहा है अतः यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। यह प्रसिद्ध नियम है कि कार्य के अनुरूप ही कारण होता है। सुख और दुःख आत्मा के परिणाम होने से अरूपी हैं अतः कर्म भी अरूपी होना चाहिए। क्योंकि सुख और दुःख कार्य हैं तथा पुण्य और पाप-कर्म उनके कारण।

'कार्यानुरूप कारण होना चाहिए'—इसका अर्थ यह नहीं कि कारण सर्वथा अनुरूप हो। कार्य से कारण सर्वथा अनुरूप नहीं होता और उसी प्रकार सर्वथा अननुरूप—भिन्न भी नहीं होता। दोनों को सर्वथा अनुरूप मानने से दोनों के सर्व धर्मों को समान मानना होता है। वैसा होने से कार्य कारण का भेद नहीं रह पाता। दोनों कारण बन जाते हैं अथवा दोनों कार्य बन जाते हैं। यदि दोनों को सर्वथा भिन्न माना जाय तो कारण अथवा कार्य दोनों में से किसी को वस्तु मानने से दूसरे को अवस्तु मानना होगा। दोनों को वस्तु मानने से उनका एकान्तिक भेद सम्भव नहीं होगा। अतः कार्य कारण की सर्वथा अनुरूपता अथवा अननुरूपता नहीं परन्तु कुछ अंशों में समानता और कुछ अंशों में असमानता होती है। अतः सुख दुःख का कारण कर्म,

सुख-दुःख की अमूर्तता के कारण, अमूर्त सिद्ध नहीं हो सकता।

कार्यानुरूप कारण के सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि यद्यपि संसार में सब ही तुल्यातुल्य हैं फिर भी कारण का ही एक विशेष स्वपर्याय कार्य है अतः उसे इस दृष्टि से अनुरूप कहा जाता है। कार्य सिवाय सारे पदार्थ उसके अकार्य हैं—परपर्याय हैं अतः उस दृष्टि से उन सबको कारण से अननुरूप—असमान कहा गया है। तात्पर्य यह है कि कारण कार्य-वस्तुरूप में परिणत होता है परन्तु उससे भिन्न दूसरी वस्तुरूप में परिणत नहीं होता। दूसरी सारी वस्तुओं के साथ कारण की अन्य प्रकार से समानता होने पर भी इस दृष्टि से अर्थात् परपर्याय की दृष्टि से कार्यभिन्न सारी वस्तुएँ कारण से असमान—अननुरूप हैं।

यहां प्रश्न होता है—सुख और दुःख ये अपने कारण पुण्य-पाप के स्वपर्याय कैसे हैं? इसका उत्तर है—जीव और पुण्य का संयोग ही सुख का कारण है। उस संयोग का ही स्वपर्याप सुख है। जीव और पाप का संयोग दुःख का कारण है। उस संयोग का ही स्वपर्याय दुःख है। पुनः जैसे सुख को शुभ, कल्याण, शिव इत्यादि कहा जा सकता है उसी तरह उसके कारण पुण्य को भी उन शब्दों द्वारा कहा जा सकता है। पुनः दुःख जैसे अशुभ, अकल्याण, अशिव इत्यादि संज्ञा को प्राप्त होता है उसी प्रकार उसका कारण पापद्रव्य भी इन्हीं शब्दों से प्रतिपादित होता है; इसी से विशेष रूप से सुख-दुख के अनुरूप कारण के तौर पर पुण्य-पाप कहे गये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे नीलादि पदार्थ मूर्त होने पर भी तत्प्रतिभासी अमूर्त ज्ञान को उत्पन्न करते हैं वैसे ही मूर्त कर्म भी अमूर्त सुखादि को उत्पन्न करता है। अथवा जैसे अन्नादि दृष्ट पदार्थ सुख के मूर्त कारण हैं उसी प्रकार कर्म भी मूर्त कारण है।

प्रश्न होता है—कर्म दिखाई नहीं देता, अदृष्ट है तो फिर उसे मूर्त कैसे माना जाय? उसे अमूर्त क्यों न कहा जाय? इसका उत्तर यह है कि देहादि मूर्त वस्तु में निमित्त-मात्र बनकर कर्म घट की तरह बलाधायक होता है अतः वह मूर्त है। अथवा जिस तरह घट को तेल आदि मूर्त वस्तुओं से बल मिलता है वैसे ही कर्म को भी विपाक देने में चंदनादि मूर्त वस्तुओं द्वारा बल मिलने से कर्म भी घट की तरह मूर्त है। कर्म के कारण देहादि रूप कार्य मूर्त हैं अतः कर्म भी मूर्त होना चाहिए। जिस प्रकार परमाणु का कार्य घटादि मूर्त होने से परमाणु मूर्त अर्थात् रूपादि वाला होता है उसी प्रकार कर्म का कार्य शरीर मूर्त होने से कर्म भी मूर्त है।

यहाँ प्रश्न होता है—यदि देहादि कार्य मूर्त होने से कारण कर्म मूर्त है तो सुख दुःखादि

अमूर्त होने से उनका कारण कर्म अमूर्त होना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि कार्य के मूर्त अथावा अमूर्त होने से उसके सब कारण मूर्त अथवा अमूर्त होंगे ऐसा नहीं। सुख आदि अमूर्त कार्य का केवल कर्म ही कारण नहीं, आत्मा भी उसका कारण है और कर्म भी कारण है। दोनों में भेद यह है कि आत्मा समवायी कारण है और कर्म समवायी कारण नहीं है। अतः सुख-दुःखादि अमूर्त कार्य होने से उसके समवायी कारण आत्मा का अनुमान हो सकता है। और सुख-दुःखादि की अमूर्तता के कारण कर्म में अमूर्तता का अनुमान करने का कोई प्रयोजन नहीं। अतः देहादि कार्य के मूर्त होने से उसके कारण कर्म को भी मूर्त मानना चाहिए, इस कथन में दोष नहीं[1]।

(४) पाप-कर्म स्वयंकृत हैं। पापास्रव जीव के अशुभ कार्यों से होता है :

इस सम्बन्ध में एक बड़ा ही सुन्दर वार्तालाप भगवती सूत्र (६.३) में मिलता है। विस्तृत होने पर भी उस वार्तालाप का अनुवाद यहाँ दे रहे हैं।

"हे गौतम ! जिस तरह अहत—बिना पहना हुआ, पहन कर धोया हुआ, या बुनकर सीधा उतारा हुआ वस्त्र जैसे-जैसे काम में लाया जाता है उसके सर्व ओर से पुद्गल रज लगती रहती है, सर्व ओर से उसके पुद्गल रज का चय होता रहता है और कालांतर में वह वस्त्र मसौते की तरह मैला और दुर्गन्ध युक्त हो जाता है, उसी तरह हे गौतम ! यह निश्चित है कि महाकर्मवाले, महाक्रियावाले, महास्रववाले और महा-वेदनावाले जीव के सब ओर से पुद्गलों का बंध होता है, सब ओर से कर्मों का चय—संचय—होता है, सब ओर से पुद्गलों का उपचय होता है, सदा—निरन्तर पुद्गलों का बंध होता है, सदा—निरन्तर पुद्गलों का चय—संचय होता है, सदा—निरन्तर पुद्गलों का उपचय होता है और उस जीव की आत्मा सदा—निरन्तर दुरूपभाव में, दुवर्णभाव में, दुर्गन्धभाव में, दुःरसभाव में, दुःस्पर्शभाव में, अनिष्टभाव में, असुन्दरभाव में, अप्रिय भाव में, अशुभभाव में, अमनोज्ञभाव में, अमनोगम्यभाव में, अनीप्सितभाव में, अन-कांक्षितभाव में, जघन्यभाव में, अनूर्ध्वभाव में, दुःखभाव में और असुखभाव में बार-बार परिणाम पाती रहती है।

"हे भगवन ! वस्त्र के जो पुद्गलोपचय होता है वह प्रयोग से—आत्मा के करने से होता है या विस्रसा से—अपने आप ?"

"हे गौतम ! वस्त्र के मलोपचय प्रयोग से भी होता है और अपने आप भी।"

१—(क) विशेषावश्यकभाष्य गा० १६२२–२६

(ख) गणधरवाद पृ० १३६-१४२

"हे भगवन ! जिस तरह वस्त्र के मलोपचय-प्रयोग से भी होता है और अपने आप भी, उसी तरह क्या जीवों के भी कर्मोपचय, प्रयोग और अपने आप दोनों प्रकारसे होता है ?"

"हे गौतम ! जीवों के कर्मोपचय-प्रयोग से होता है—आत्मा के करने से होता है, अपने आप नहीं होता ।

"हे गौतम ! जीव के तीन प्रकार के प्रयोग कहे हैं—मन प्रयोग, वचन प्रयोग और काया प्रयोग । इन तीन प्रकार के प्रयोगों द्वारा जीवों के कर्मोपचय होता है । अतः जीवों के कर्मोपचय प्रयोग से हैं विस्रसा से नहीं—अपने आप नहीं ।"

अन्य आगमों में भी कहा है—"सर्व जीव अपने आस-पास छहों दिशाओं में रहे हुए कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करते हैं और आत्मा के सर्व प्रदेशों के साथ सर्व कर्मों का सर्व प्रकार से बंधन होता है[1] ।"

जिस तरह कोई पुरुष शरीर में तेल लगा कर खुले शरीर खुले स्थान में बैठे तो तेल के प्रमाण से उसके सारे शरीर से रज चिपकती है, उसी प्रकार रागद्वेष से स्निग्ध जीव कर्मवर्गणा में रहे हुए कर्मयोग्य पुद्गलों को पाप-पुण्य रूप में ग्रहण करता है । कर्मवर्गणा के पुद्गलों से सूक्ष्म ऐसे परमाणु और स्थूल ऐसे औदारिक आदि शरीर योग्य पुद्गलों का कर्मरूप ग्रहण नहीं होता । पुनः जीव स्वयं आकाश के जितने प्रदेशों में होता है उतने ही प्रदेशों मे रहे हुए पुद्गलों का अपने सर्व प्रदेशों द्वारा ग्रहण करता है । कहा है : "एक प्रदेश में रहे हुए अर्थात् जिस प्रदेश में जीव होता है उस प्रदेश में रहे हुए कर्म-योग्य पुद्गल का जीव अपने सर्व प्रदेश द्वारा बांधता है । उसमें हेतु जीव के मिथ्यात्वादि हैं । यह बंध आदि अर्थात् नया और परंपरा से अनादि भी होता है ।"

प्रश्न हो सकता है—समूचे लोक के प्रत्येक आकाश-प्रदेश में पुद्गल-परमाणु शुभा-शुभ भेद के बिना भरे हुए हैं । जिस प्रकार पुरुष का तेल-स्निग्ध शरीर छोटे बड़े रज-कणों का भेद करता है पर शुभाशुभ का भेद किये बिना ही जो पुद्गल उसके संसर्ग में आते हैं उन्हें ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीव भी स्थूल और सूक्ष्म के विवेकपूर्वक कर्म-योग्य पुद्गलों का ही ग्रहण करे यह उचित है । पर ग्रहण-काल में ही वह उसमें शुभा-शुभ का विभाग कर दो में से एक का ग्रहण करे और दूसरे का नहीं—यह कैसे होता है ?

१—उत्त० ३३ : १८

सव्वजीवाण कम्मं तु संगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्वं सव्वेण बद्धगं ।

इसका उत्तर इस प्रकार है—जब तक जीव कर्म-पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता तब तक वे पुद्गल शुभ या अशुभ दोनों विशेषणों से विशिष्ट नहीं होते अर्थात् वे अविशिष्ट ही होते हैं; पर जीव जैसे ही उन कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है अध्यवसाय रूप परिणाम और आश्रय की विशेषता के कारण उन कर्म-पुद्गलों को शुभ या अशुभ रूप परिणत कर देता है। जीव का जैसा शुभ या अशुभ अध्यवसायरूप परिणाम होता है उसके आधार से ग्रहण काल में ही कर्म में शुभत्व अथवा अशुभत्व उत्पन्न होता है और कर्म के आश्रयभूत जीव का ऐसा एक स्वभाव विशेष है कि जिसके कारण उस प्रकार कर्म का परिणमन करता हुआ ही वह उसे ग्रहण करता है। पुन: कर्म का भी ऐसा स्वभाव विशेष है कि शुभ-अशुभ अध्यवसाय वाले जीव द्वारा शुभाशुभ परिणाम को प्राप्त होता हुआ ही गृहीत होता है।

आहार समान होने पर भी परिणाम और आश्रय की विशेषता के कारण उसके विभिन्न परिणाम देखे जाते हैं; जैसे कि गाय और सर्प को एक ही आहार देने पर भी गाय जो कुछ खाती है वह दूध रूप में परिणमित होता है और सर्प जो कुछ खाता है उसे विष रूप में परिणमन करता है। जिस प्रकार खाद्य में उस उस आश्रय में जाकर उस उस रूप में परिणत होने का परिणाम—स्वभाव विशेष है उसी तरह खाद्य का उपयोग करने वाले आश्रय में भी उस उस वस्तु को उस उस रूप में परिणत करने का सामर्थ्य विशेष है। यही बात गृहीत कर्म और ग्रहण करने वाले जीव के विषय में समझनी चाहिए। पुनः एक ही शरीर में अविशिष्ट अर्थात् एकरूप आहार लेने पर भी उसमें से सार और असार ऐसे दोनों परिणाम तत्काल हो जाते हैं। जिस प्रकार शरीर खाये हुए भोजन को रस, रक्त और मांस रूप सार तत्त्व में और मलमूत्र जैसे असार तत्त्व में परिणत कर देता है उसी तरह एक ही जीव गृहीत साधारण कर्म को अपने शुभाशुभ परिणामों द्वारा पुण्य और पाप रूप परिणत कर देता है[1]।

१—विशेषावश्यकभाष्य गा० १६४१-४५

गेण्हति तज्जोगं चिय रेणुं पुरिसो जधा कतब्भंगो।
एगक्खेत्तोगाढं जीवो सव्वप्पदेसेहिं॥
अविसिट्ठपोग्गलघणे लोए थूलतणुकम्मपविभागो।
जुज्जेज्ज गहणकाले सुभासुभविवेचणं कत्तो॥
अविसिट्ठं चिय तं सो परिणामाऽऽसयभावतो खिप्पं।
कुरुते सुभमसुभं वा गहणे जीवो जधाऽऽहारं॥
परिणामाऽऽसयवसतो धेणूये जधा पयो विसमहिस्स।
तुल्लो वि तदाहारो तध पुण्णापुण्णपरिणामो॥
जध वेगसरीरम्मि वि सारासारपरिणामतामेति।
अविसिट्ठो आहारो तध कम्मसुभासुभविभागो॥

(५) पापोत्पन्न दुःख स्वयंकृत हैं; दुःख के समय क्षोभ न कर समभाव रखना चाहिए।

श्रमण भगवान महावीर ने कर्म-बन्ध को संसार का कारण बतलाया है[1]। उन्होंने कहा है—"इस जगत में जो भी प्राणी हैं वे स्वयंकृत कर्मों से ही संसार-भ्रमण करते हैं। फल भोगे बिना संचित कर्मों से छुटकारा नहीं मिलता[2]।"

इसी तरह उन्होंने कहा है : "सुचीर्ण कर्मों का फल शुभ होता है और दुश्चीर्ण कर्मों का फल अशुभ। शुभ आचरण से पुण्य का बंध होता है और उसका फल सुखरूप होता है। अशुभ आचरण से पाप का बंध होता है और उसका फल दुःख रूप होता है। जैसे सदाचार सफल होता है वैसे ही दुराचार भी सफल होता है[3]।"

जिस तरह स्वयंकृत पुण्य के फल से मनुष्य वंचित नहीं रहता वैसे ही स्वयंकृत पाप का फल भी उसे भोगना पड़ता है। कहा है—"जिस तरह पापी चोर सेंध के मुंह में पकड़ा जाकर अपने ही दुष्कृत्यों से दुःख पाता है वैसे ही जीव इस लोक अथवा परलोक में पाप कर्मों के कारण दुःख पाता है। फल भोगे बिना कृतकर्मों से मुक्ति नहीं[4]।" "सर्व प्राणी स्वकर्म कृत कर्मों से ही अव्यक्त दुःख से दुःखी होते हैं[5]।"

जीव पूर्वकृत कर्मों के ही फल भोगते हैं—'वेदंति कम्माइं पुरेकडाइं' (सुय० १.५.

१—उत्त० १४.१९ :

......संसारहेउं च वयंति बन्धं ॥

२—सुयगडं १.२.१:४ :

जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो ।
सयमेव कडेहिं गाहइ, णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥

३—ओववाइय ५६ :

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति,
फुसइ पुण्णपावे, पच्चा ंति जीवा, सफले कल्लाणपावए ।

४—(क) उत्त० १३.१० :

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

(ख) उत्त० ४.३ :

तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एवं पया पेच्च इहं च लोए कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥

५—सुयगडं १.२.३ : १८ :

सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो ।
हिंडंति भयाउला सढा, जाइजरामरणेहिऽभिद्दुता ॥

२.१)। जो जीव दुःखी हैं वे यहाँ अपने किये हुए दुष्कृत्यों से दुःखी हैं—**'दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं'** (सुय० १.५.१.१६)। जैसा दुष्कृत होता है, वैसा ही उसका भार होता है—**'जहा कडं कम्म तहासि भारे'** (सुय० १.५.१.२६)।

स्वामीजी ने इन्हीं आगमिक वचनों के आधार पर कहा है कि दुःख स्वयं कमाये हुये होते हैं—'ते आप कमाया काम'। **'आप कीधां जिसा फल भोगवे, कोई पुदगल रो नहीं दोस'**। जब जीव दुष्कृत्य करता है तब पापकर्म का बंध होता है। जब पापकर्म का उदय होता है तब दुःख उत्पन्न होता है। यह 'जैसी करनी वैसी भरनी' है, इसमें दोष कर्म पुद्गलों का नहीं अपनी दुष्ट आत्मा का है। "आत्मा ही सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाला और न करने वाला है। आत्मा ही सदाचार से मित्र और दुराचार से अमित्र—शत्रु है[1]।"

भगवान महावीर के समय में एक वाद था जो सुख-दुःख को सांगतिक मानता था। उस मत का कहना था—"दुःख स्वयंकृत नहीं है, फिर वह अन्यकृत तो हो ही कैसे सकता है ? सैद्धिक हो अथवा असैद्धिक जो सुख दुःख है वह न स्वयंकृत है न परकृत, वह सांगतिक है[2]।" भगवान ने इस मत की आलोचना करते हुये कहा है—"ऐसा कहने वाले अपने को पंडित भले ही माने, पर वे बाल हैं[3]।" वे पार्श्वस्थ हैं। **'ण ते दुक्खविमोक्खया'** (सुय० १.१.२.५)—वे दुःख छुड़ाने में समर्थ नहीं हैं।

स्वामी जी कहते हैं—"जो दुःख स्वयंकृत है उसका फल भोगते समय दुःख नहीं

१—उत्त० २०.३६.३७ :

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य दुक्खाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ॥

२—**सुयगडं** १.१.२.२-३ :

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं ?
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं॥
सयं कडं न अण्णेहिं, वेदयंति पुढो जिया।
संगइअं तं तहा तेसिं, इहमेगेसि आहिअं॥

३—**वही** १.१.२.४ :

एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडिअमाणिणो।
निययानिययं संतं, अयाणंता अबुद्धिया॥

करना चाहिये। इस दुःख से मुक्त होने का रास्ता दुःख, शोक, संताप करना नहीं पर यह सोचना है कि मैंने जो किया यह उसीका फल है। मैं नहीं करूँगा तो आगे मुझे दुःख नहीं होगा। अतः मैं आज से दुष्कृत्य नहीं करूँगा।" "किये हुए कर्म से छुटकारा या तो उन्हें भोगने से होता है अथवा तप द्वारा उनका क्षय करने से[1]।"

आगम में कहा है—"प्रत्येक मनुष्य सोचे—मैं ही दुःखी नहीं हूँ, संसार में प्राणी प्रायः दुःखी ही है। दुःखों से स्पृष्ट होने पर क्रोधादि रहित हो उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे—मन में दुःख न माने[2]।"

जो मनुष्य दुःख उत्पन्न होने पर शोक-विह्वल होता है, वह मोह-ग्रस्त हो कामभोग की लालसा से पाप और आरम्भ में प्रवृत्त होता है और अधिक दुःख का संचय करता है।

मनुष्य सुख के लिये व्याकुल न हो—**'सायं नो परिदेवए'** (उत्त० २.८)। जो पाप-दृष्टि—सुख-पिपासु होता है वह आत्मार्थ का नाश करता है—**'पावदिट्ठी विहम्मई'** (उत्त० २.२२)। यदि कोई मनुष्य मारे तो मनुष्य सोचे—"मेरे जीव का कोई विनाश नहीं कर सकता[3]।" "मनुष्य अदीन-वृत्ति पूर्वक अपनी प्रज्ञा को स्थिर रखे। दुःख पड़ने पर उन्हें समभाव से सहन करे[4]।" "जो दुष्कर को करते हैं और दुःसह को सहते हैं, उनमें से कई देवलोक को जाते हैं और कई नीरज हो सिद्धि को प्राप्त करते हैं[5]।"

१—दशवैकालिक : प्रथम चूलिका १८ :

पावाणं च खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कन्ताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता।

२—सुय० १.२.१.१३ :

णवि ता अहमेव लुप्पये, लुप्पंती लोअंसि पाणिणो।
एवं सहिएहिं पासए, अणिहे से पुट्ठे अहियासए॥

३—उत्त० २.२७ :

नत्थि जीवस्स नासु त्ति एवं पेहेज्ज संजए॥

४—उत्त० २.३२ :

अदीणो थावए पन्नं पुट्ठो तत्थहियासए॥

५—दश० ३.१४ :

दुक्कराइं करेत्ताणं दुस्सहाइं सहेत्तु य।
के एत्थ देवलोगेसु केई सिज्झन्ति नीरया॥

'सुख-दुःख स्वयंकृत होते हैं या परकृत ?'—यह प्रश्न बुद्ध के सामने भी आया। नीचे पूरा प्रसंग दिया जाता है। बुद्ध बोले :

"भिक्षुओ ! कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख, दुःख वा अदुःख-असुख अनुभव करता है वह सब पूर्व-कर्मों के फलस्वरूप अनुभव करता है।"

"भिक्षुओ ! कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख, दुःख वा अदुःख-असुख अनुभव करता है वह सब ईश्वर-निर्माण के कारण अनुभव करता है।"

"भिक्षुओ ! कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी आदमी सुख, दुःख वा अदुःख-असुख अनुभव करता है वह सब बिना किसी हेतु के, बिना किसी कारण के।"

"भिक्षुओ ! जिन श्रमण-ब्राह्मणों का यह मत है, यह दृष्टि है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख, दुःख वा अदुःख-असुख अनुभव करता है, वह सब पूर्व-कर्मों के फलस्वरूप अनुभव करता है, उनके पास जाकर मैं उनसे प्रश्न करता हूँ—आयुष्मानो ! क्या सचमुच तुम्हारा यह मत है कि जो कुछ भी कोई आदमी सुख, दुःख वा अदुःख-असुख अनुभव करता है, वह सब पूर्व-कर्मों के फलस्वरूप अनुभव करता है ? मेरे ऐसा पूछने पर वे "हाँ" उत्तर देते हैं।

"तब उनसे मैं कहता हूँ—तो आयुष्मानो ! तुम्हारे मत के अनुसार पूर्व-जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी चोरी करने वाले होते हैं, पूर्व-जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी अब्रह्मचारी होते हैं, पूर्व-जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी झूठ बोलने वाले होते हैं, पूर्व जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी चुगल-खोर होते हैं, पूर्व जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी कठोर बोलने वाले होते हैं, पूर्व-जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी व्यर्थ बकवास करने वाले होते हैं, पूर्व जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी लोभी होते हैं, पूर्व-जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी क्रोधी होते हैं; तथा पूर्व-जन्म के कर्म के ही फलस्वरूप आदमी मिथ्यादृष्टि वाले होते हैं। भिक्षुओ ! पूर्वकृत कर्म को ही सार रूप ग्रहण कर लेने से यह करना योग्य है और यह करना अयोग्य है, इस विषय में संकल्प नहीं होता, प्रयत्न नहीं होता। जब यह करना योग्य है और यह करना अयोग्य है, इस विषय में ही यथार्थ-ज्ञान नहीं होता तो इस प्रकार के मूढ़-स्मृति,

असंयत लोगों का अपने आप को धार्मिक श्रमण कहना भी सहेतुक नहीं होता[1] ।"

ठीक इसी तर्क पर उन्होंने उपर्युक्त अन्य दो वादों का खण्डन किया।

पहली दृष्टि जैन-दृष्टि का एक अंश है। बुद्ध का स्वयं का मत इस प्रकार था : "जो मनुष्य मन, वचन और काय से संवृत होता है, उसके दुःख का कारण नहीं रहता; उसके दुःख आना संभव नहीं[2] ।" भगवान महावीर का कथन था: "कोई मनुष्य संवृत हो जाय तो भी पूर्वकृत पाप-कर्म का विपाक बाकी हो तो उसे दुःख भोगना पड़ता है।"

ठाणाङ्ग का निम्न संवाद भी भगवान महावीर के विचारों के अन्य पक्ष को प्रकट करता है।

"हे भदन्त ! अन्यतीर्थिक कर्म कैसे भोगने पड़ते हैं इस विषय में हमसे विवाद करते हैं। 'किये हुए कर्म भोगने पड़ते हैं'–इस विषय में उनका प्रश्न नहीं है। 'किए हुए कर्म होने पर भी भोगने नहीं पड़ते'—इस विषय में भी उनका प्रश्न नहीं है। 'नहीं किया हुआ कर्म नहीं भोगना पड़ता'—ऐसा भी उनका विवाद नहीं है। परन्तु वे कहते हैं—'नहीं किये हुए भी कर्म भोगने पड़ते हैं—जीव ने दुःखदायक कर्म न किया हो और नहीं करता हो तो भी दुःख भोगना पड़ता है।' वे कहते हैं—इस बात को तुम लोग निर्ग्रंथ क्यों नहीं मानते ?"

भगवान बोले "हे श्रमण निर्ग्रंथो ! जो ऐसा कहते हैं वे मिथ्या कहते हैं। मेरी प्ररूपणा तो ऐसी है–दुःखदायक कर्म जिन जीवों ने किया है या जो करते हैं, उन जीवों को ही दुःख की वेदना होती है, दूसरों को नहीं।"

२–पाप-कर्म और पाप की करनी (दो० ५) :

इस विषय में दो बातें मुख्य रूप से चर्चनीय हैं :

(१) पाप-कर्म और पाप की करनी भिन्न-भिन्न हैं।

(२) आशय से ही योग शुभ नहीं होता।

नीचे इन पहलुओं पर क्रमशः विचार किया जा रहा है।

१—अंगुत्तरनिकाय ३.६१

२—वही ४.१६५

३—(क) ठाणाङ्ग ३.२.१६७

अहं पुण......एवं परूवेमि—किच्चं दुक्खं फुस्सं दुक्खं कज्जमाणकडं दुक्खं कट्टु २ पाणा भूया जीवा सत्ता वेयणं वेयंतित्ति

(ख) स्थानांग-समवायांग पृ० ६०-६१

(१) पाप-कर्म और पाप की करनी एक दूसरे से भिन्न हैं :

'ठाणाङ्ग' में अठारह पाप कहे हैं—(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) पर-परिवाद, (१६) रति-अरति, (१७) माया-मृषा और (१८) मिथ्यादर्शनशल्य।[1]

ये भेद वास्तव में पाप-पदार्थ के नहीं हैं परन्तु पाप-पदार्थ के बन्ध-हेतुओं के हैं। प्राणातिपात आदि पाप-पदार्थ के निमित्त कारण हैं। अतः उपचार से प्राणातिपात आदि क्रियाओं को पाप कहा है।

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! प्राणातिपात, मृषावाद यावत् मिथ्या-दर्शनशल्य कितने वर्ण, कितने गंध, कितने रस और कितने स्पर्श वाले हैं?" भगवान ने उत्तर दिया—"वे पाँच वर्ण, दो गंध, पाँच रस और चार स्पर्श वाले होते हैं[2]।"

उपर्युक्त वार्त्तालाप से प्राणातिपात आदि पौद्गलिक मालूम देते हैं; अन्यथा उनमें वर्णादि होने का कथन नहीं मिलता।

प्रश्न उठता है—प्राणातिपात आदि एक ओर वर्णादि युक्त पुद्गल कहे गये हैं और दूसरी ओर क्रिया रूप बतलाये गये हैं, इसका क्या कारण है?

श्रीमद् जयाचार्य ने इस प्रश्न का उत्तर अपनी 'झीणी चर्चा' नामक कृति की बाईसवीं ढाल में दिया है। वे लिखते हैं—"भगवती सूत्र में प्राणातिपात आदि के वर्णादि

१—ठाणाङ्ग : १.४८ :

एगे पाणातिवाए जाव एगे परिग्गहे। एगे कोधे जाव लोभे। एगे पेज्जे एगे दोसे जाव एगे परपरिवाए। एगा अरतिरती। एगे मायामोसे एगे मिच्छादंसणसल्ले।

२—भग० : १२.५ :

अह भंते! पाणाइवाए, मुसावाए, अदिन्नादाणे, मेहुणे, परिग्गहे-एस णं कतिवन्ने, कतिगंधे, कतिरसे, कतिफासे पण्णत्ते? गोयमा! पंचवन्ने, दुगंधे, पंचरसे, चउफासे, पण्णत्ते। अह भंते! कोहे...एस णं कतिवन्ने जाव—कतिफासे पण्णत्ते? गोयमा! पंचवन्ने, दुगंधे, पंचरसे, चउफासे पण्णत्ते। अह भंते! माणे...एस णं कतिवन्ने ४? गोयमा! पंचवन्ने, जहा कोहे तहेव। अह भंते! माया...एस णं कतिवन्ने ४ पन्नत्ते? गोयमा! पंचवन्ने, जहेव कोहे। अह भंते! लोभे...एस णं कतिवन्ने ४? जहेव कोहे। अह भंते! पेज्जे, दोसे, कलहे, जाव मिच्छादंसणसल्ले—एस णं कतिवन्ने ४? जहेव कोहे तहेव चउफासे।

कहे गए हैं उसका भेद यह है कि वहाँ प्राणातिपात आदि कर्मों का विवेचन है; प्राणातिपात आदि क्रियाओं का नहीं।" वे लिखते हैं—"जिस कर्म के उदय से जीव दूसरे के प्राणों का हनन करता है, उस कर्म को प्राणातिपात-स्थानक कहते हैं। मन, वचन और काय से हिंसा करना प्राणातिपात आस्रव है। प्राणातिपात करने से जिनका बंध होता है वे सात आठ अशुभ कर्म हैं। यही बात 'भगवती सूत्र' में वर्णित बादके मिथ्यादर्शनशल्य तक के स्थानकों के विषय में समझनी चाहिए। जैसे—जिस कर्म के उदय से जीव झूठ बोलता है वह मृषावाद पाप-स्थानक है। झूठ बोलना मृषावाद आस्रव है। झूठ बोलने से जिनका बंध होता है वे दुःखदायी सात आठ कर्म हैं। यावत् जिस कर्म के उदय से जीव मिथ्या-श्रद्धान करता है. वह मिथ्यादर्शनशल्य कर्म-स्थानक है। मिथ्या-श्रद्धान करना मिथ्यात्व आस्रव है। इससे जिनका आस्रव होता है वे सात आठ कर्म हैं[१]।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म-हेतु और कर्म जुदे-जुदे हैं। हेतु या क्रिया वह है जिससे कर्म बंधते हैं। कर्म वह है जो क्रिया का फल हो अथवा जिसका उदय उस क्रिया का कारण हो।

१—झीणी चर्चा ढा० २२.१–४, २०, २१, २२, २४ :

जिण कर्म ने उदय करी जी, हणै कोई पर प्राण।
तिण कर्म नें कहिये सहीजी, प्राणातिपात पापठाण ॥
हिंसा करै त्रिहूं योग सूं जी, आस्रव प्राणातिपात।
आय लागै तिके अशुभ कर्म छै जी, सात आठ साक्षात ॥
जिण कर्म ने उदय करी जी, बोलै झूठ अयाण।
तिण कर्म ने कहिये सही जी, मृषावाद पापठाण ॥
झूठ बोलै तिण ने कह्या जी, आस्रव मृषावाद ताहि।
आय लागै तिके अशुभ कर्म छै जी, सात आठ दुखदाय ॥
मायादिक ठाणा तिके जी, इमहिज कहिये विचार।
ज्यांरा उदय थी जे जे नीपजै जी, ते कहिये आस्रव द्वार ॥
जिण कर्म ने उदय करी जी, ऊंधो श्रद्धै जाण।
तिण कर्म ने कह्यो अठारमो जी, मिथ्यादर्शण पापठाण ॥
ऊंधो सरधै तिण ने कह्यो जी, आस्रव प्रथम मिथ्यात।
आय लागै तिके अशुभ कर्म छै जी, सात आठ साक्षात ॥
भगवती शतक बारमें जी, पंचम उद्देश मझार।
ते सहु पापठाणा अछै जी, तिणस्यूं वर्णादिक कह्या विचार ॥

निम्न दो प्रसंग इस विषय को और भी स्पष्ट कर देते हैं :

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन् ! जीव गुरुत्वभाव को शीघ्र कैसे प्राप्त करता है ?" भगवान महावीर ने उत्तर दिया--"प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से।" गौतम ने पूछा—"जीव शीघ्र लघुत्व (हल्कापन) कैसे पाता है?" भगवान ने उत्तर दिया "प्राणातिपात-विरमण यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विरमण से।" इसके बाद गौतम को सम्बोधन कर भगवान ने कहा—" गौतम! जीव-हिंसा आदि अठारह पापों से संसार को बढ़ाते, लम्बा करते और उसमें बार-बार भ्रमण करते हैं और इन अठारह पापों की निवृत्ति से जीव संसार को घटाते हैं, उसे ह्रस्व करते हैं और उसे लांघ जाते हैं। हल्का-पन, संसार को घटाना, संसार को संक्षिप्त करना, संसार को लांघ जाना–ये चारों प्रशस्त हैं। भारीपन, संसार को बढ़ाना, लम्बा करना और उसमें भ्रमण करना ये चारों अप्रशस्त हैं[1]।"

यही बात भगवती सूत्र १२.२ में भी कही गयी है। दूसरा प्रसंग इस प्रकार है :

"भगवन् ! जीव शीघ्र भारी कैसे होता है और फिर हल्का कैसे होता है ?"

"गौतम ! यदि कोई मनुष्य एक बड़े, सूखे, छिद्र-रहित सम्पूर्ण तूंबे को दाम से कसकर उस पर मिट्टी का लेप करे और फिर धूप में सुखाकर दुबारा लेप करे और इस तरह आठ बार मिट्टी का लेप करके उसे गहरे पानी में डाले तो वह तूंबा डूबेगा या नहीं ? इसी तरह हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से अपनी आत्मा को वेष्टित करता हुआ मनुष्य शीघ्र ही कर्म-रज से भारी हो जाता है और उसकी अधोगति होती है। गौतम ! जल में डूबे हुए तूंबे के ऊपर का तह जब गल कर अलग हो जाता है तो तूंबा ऊपर उठता है। इसी तरह एक-एक कर सारे तह गल जाते हैं तो हल्का होकर तूंबा पुनः पानी पर तैरने लगता है। इसी तरह हिंसा यावत् मिथ्यादर्शनशल्य इन अठा-रह पापों के त्याग से जीव कर्म-रजों के संस्कार से रहित होकर अपनी स्वाभाविकता को प्राप्त कर ऊर्ध्वगति पा अजरामर हो जाता है[2]।"

जीव, कर्म-हेतु और कर्म के परस्पर सम्बन्ध को पाँच कथनों से समझा जा सकता है[3]।

१—भगवती १.९

२—नायाधम्मकहा : अ० ६

३—तेराद्वार : दृष्टान्त द्वार

प्रथम कथन :

(क) तालाब के नाला होता है, उसी तरह जीव के कर्म-हेतु होते हैं।

(ख) मकान के द्वार होता है, उसी तरह जीव के कर्म-हेतु होते हैं।

(ग) नाव के छिद्र होता है, उसी तरह जीव के कर्म-हेतु होते हैं।

द्वितीय कथन :

(क) तालाब और नाला एक होता है उसी तरह जीव और कर्म-हेतु एक हैं।

(ख) मकान और द्वार एक होता है उसी तरह जीव और कर्म-हेतु एक हैं।

(ग) नाव और छिद्र एक होता है उसी तरह जीव और कर्म-हेतु एक हैं।

तृतीय कथन :

(क) जिससे जल आता है वह नाला होता है, उसी तरह जिससे कर्म आते हैं वे कर्म-हेतु हैं।

(ख) जिससे मनुष्य आता है वह द्वार है, उसी तरह जिससे कर्म आते हैं वे कर्म-हेतु हैं।

(ग) जिससे जल भरता है वह छिद्र कहलाता है, उसी तरह जिससे कर्म आते हैं वह कर्म-हेतु हैं।

चतुर्थ कथन :

(क) जल और नाला भिन्न हैं, उसी तरह कर्म और कर्म-हेतु भिन्न हैं।

(ख) मनुष्य और द्वार भिन्न हैं, उसी तरह कर्म और कर्म-हेतु भिन्न हैं।

(ग) जल और नौका के छिद्र भिन्न हैं, उसी तरह कर्म और कर्म-हेतु भिन्न हैं।

पंचम कथन :

(क) जल जिससे आवे वह नाला है पर नाला जल नहीं, उसी तरह जिनसे कर्म आवें वे हेतु हैं पर कर्म हेतु नहीं।

(ख) मनुष्य जिससे आवे वह द्वार है पर मनुष्य द्वार नहीं, उसी तरह जिनसे कर्म आवें वे हेतु हैं पर कर्म हेतु नहीं।

(ग) जल जिनसे आवे वह छिद्र है पर जल छिद्र नहीं, उसी तरह जिनसे कर्म आवें वे हेतु हैं पर कर्म हेतु नहीं।

प्राणातिपात आदि क्रियाएँ पाप रूप हैं—अशुभ योग के भेद हैं। पर पाप-कर्म केवल अशुभ योगों से ही नहीं बंधते। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय—ये भी आस्रव हैं। इन हेतुओं से भी कर्मों का आस्रव होता है। मिथ्या-श्रद्धान करना मिथ्यात्व है[1]; हिंसा आदि पाप-कार्यों का प्रत्याख्यान न होना अविरति है[2]; धर्म में अनुत्साह-भाव—अरुचि-भाव प्रमाद है[3]; क्रोध-मान-माया-लोभ से आत्म-प्रदेशों का मलीन होना कषाय है[4]।

ये सभी कर्म-हेतु कर्मों से भिन्न हैं।

(२) आशय से ही योग शुभ नहीं होता :

एक विद्वान लिखते हैं: "अप्रशस्त आशय से सेवन किये हुये प्राणातिपात आदि पापस्थानक पाप-कर्म के बन्ध-हेतु होते हैं। प्रशस्त आशय से सेवन किये गये कई पाप स्थानक पुण्य के हेतु भी हैं। उदाहरण स्वरूप द्रव्यादि की आकांक्षा से दूसरे की वंचना करना अप्रशस्त माया है। जैसे वणिकों या इन्द्रजालिकों की माया। व्याध से मृग को झूठ बोलकर छिपा देना प्रशस्त माया है। झूठ बोलकर रोगी को कड़वी दवा पिलाना भी इसी श्रेणी में आता है। कोई व्यक्ति दीक्षा के लिये उपस्थित है और उसके पिता आदि आत्मीय जन उसकी दीक्षा में विघ्न डालने वाले हैं, ऐसे अवसर पर उन लोगों से यह कहना—'हे भाई! मैंने बड़ा ही खराब स्वप्न देखा है और उससे यह पता चलता है कि तुम्हारा लड़का अल्पायु है—थोड़े ही दिनों में मर जायगा' प्रशस्त माया है। 'सम्यक् यति-आचार ग्रहण कर सके' इस हेतु से कहे गये ये वचन श्री आर्य रक्षित द्वारा समर्थित हैं :

१—झीणी चर्चा ढा० २२.२२ :

ऊंधो सरधै तिणनें कह्यो जी, आस्रव प्रथम मिथ्यात।

२—जे जे सावद्य काम त्यागा नहीं छै, त्यांरी आशा वांछा रही लागी।
तिण जीव तणा परिणाम छै मैला, अत्याग भाव अव्रत छै सागी रे॥

३—झीणी चर्चा ढा० २२.३०,२८ :

असंख्याता जीव रा प्रदेश में, अणउछाहपणो अधिकाय।
ते दीसै तीनूं जोगां स्यूं जुदोजी, प्रमाद आस्रव ताय॥

४—वही ढा० २२.१२,१३ :

क्रोध स्यूं बिगड्या प्रदेश नें जी, ते आस्रव कहिए कषाय।
उदेरी क्रोध करै तसुजी, अशुभ जोग कहिवाय।
निरंतर बिगड्या प्रदेश नें जी, कहिये आस्रव कषाय॥

अमाय्येव हि भावेन माय्येव तु भवेत् क्वचित् ।
पश्येत् स्वपरयोर्यत्र सानुबन्धं हितोदयम्[1] ॥

इस भावनावाद, परिणामवाद, हेतुवाद अथवा आशयवाद के विषय में पूर्व में काफी प्रकाश डाला जा चुका है[2] । आगम में भावनावाद का उल्लेख परवाद के रूप में है । इसकी तीव्र आलोचना भी की गई है ।

भावनावादी मानते थे—"जो जानता हुआ मन से हिंसा करता है पर काया से हिंसा नहीं करता, अथवा नहीं जानता हुआ केवल काया से हिंसा करता है, वह स्पर्श मात्र कर्म-फल का अनुभव करता है क्योंकि यह सावद्य कर्म अव्यक्त है । तीन आदान हैं, जिनसे पाप किया जाता है—स्वयं करना, नौकरादि अन्य से कराना और मन से भला जानना; परन्तु भाव विशुद्धि से मनुष्य निर्वाण को प्राप्त करता है । जैसे विपत्ति के समय यदि असंयमी पिता पुत्र को मारकर, उसका भोजन करे तो वह पाप का भागी नहीं होता वैसे ही विशुद्ध मेधावी भाव विशुद्धि के कारण पाप करते हुये भी कर्म से लिप्त नहीं होता[3] ।"

१—नवतत्त्वप्रकरणम् (सुमङ्गला टीका) : पापतत्त्वम् पृ० ५५-५६ :

अप्रशस्ताशयेन सेव्यमानाः पापस्थानका ज्ञानाऽऽवरणादिपापप्रकृतीनां बन्धहेतव उक्ताः, कतिपयेषु रागादिषु पापस्थानकेषु सेव्यमानेषु प्रशस्ताशयेन पुन्यबन्धोऽपि भवति...अप्रशस्ता माया यद्द्रव्यादिकांक्षया परवञ्चना वणिजामिन्द्रजालिकादीनां वा, प्रशस्ता तु व्याधानां मृगापलपने व्याधिमतां कटुकौषधादिपाने दीक्षोपस्थितस्य विघ्नकर पित्रादीनां पुरः कुस्वप्नो मया दृष्टोऽल्पाऽऽयुष्क सूचक इत्यादिका स्वपर-हितहेतुः स्वपितुःसम्यग् यत्याचारग्रहणार्थं श्रीआर्यरक्षितप्रयुक्तमायेव ।

२—पुण्य पदार्थ (ढाल : २) टिप्पणी ३० पृ० २३६-२४६

३—सुयगडं १.१.२ : २५-२९ :

जाणं काएणऽणाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति ।
पुट्ठो संवेदइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं ॥
संतिमे तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं ।
अभिकम्मा य पेसा य, मणसा अणुजाणिया ॥
एते उ तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं ।
एवं भावविसोहीए, निव्वाणमभिगच्छइ ॥
पुत्तं पिया समारब्भ, आहारेज्ज असंजए ।
भुंजमाणो य मेहावी, कम्मणा नोवलिप्पइ ॥
मणसा जे पउस्संति, चित्तं तेसि ण विज्जइ ।
अणवज्जमतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो ॥

इसकी आलोचना इस रूप में मिलती है :

"कर्म की चिन्ता से रहित उन क्रियावादियों का दर्शन संसार को ही बढ़ाने वाला है। जो मन से प्रद्वेष करता है, उसका चित्त विशुद्ध नहीं कहा जा सकता। उसके कर्म का बंध नहीं होता—ऐसा कहना अतथ्य है, क्योंकि उसका आचरण संवृत नहीं है। पूर्वोक्त दृष्टि के कारण सुख और गौरव में आसक्त मनुष्य अपने दर्शन को शरणदाता मान पाप का सेवन करते हैं। जिस प्रकार जन्मांध पुरुष छिद्रवाली नौका पर चढ़कर पार जाने की इच्छा करता है परन्तु मध्य में ही डूब जाता है, उसी प्रकार मिथ्या दृष्टि अनार्य श्रमण संसार से पार जाना चाहते हैं परन्तु वे संसार में ही पर्यटन करते हैं[1]।"

३—घाति और अघाति कर्म (गा० १-५) :

जीवों के कर्म अनादि काल से हैं। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि कालीन है। पहले जीव और फिर कर्म अथवा पहले कर्म और फिर जीव ऐसा क्रम नहीं है। जीव ने कर्मों को उत्पन्न नहीं किया और न कर्मों ने जीव को उत्पन्न किया है क्योंकि जीव और कर्म इन दोनों का ही आदि नहीं है। अनादि जीव बद्ध कर्मों के हेतु को पाकर अनेक प्रकार के भावों में परिणमन करता है। इस परिणमन से उसको पुण्य-पाप कर्मों का बंध होता रहता है। विषय-कषायों से रागी-मोही जीव के जीव प्रदेशों में जो परमाणु लगते हैं, बंधते हैं उन परमाणुओं के स्कंधों को कर्म कहते हैं[2]।

१—सुयगडं १.१.२.२४, ३०-३२ :

अहावरं पुरक्खायं, किरियावाइदरिसणं।
कम्मचिंतापणट्ठाणं, संसारस्स पवड्ढणं॥
इच्चेयाहि य दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिया।
सरणंति मन्नमाणा, सेवंती पावगं जणा॥
जहा अस्साविणि णावं, जाइअंधो दुरूहिया॥
इच्छई पारमागंतुं, अंतरा य विसीयई॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टंति॥

२—परमात्मप्रकाश १. ५९, ६०, ६२ :

जीवहँ कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण।
कम्में जीउ वि जणिउ णवि दोहि वि आइ ण जेण॥
एहु ववहारें जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु।
बहुविह-भावें परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु॥
विसय-कसायहिँ रंगियहँ जे अणुया लग्गंति।
जीव-पएसहँ मोहियहँ ते जिण कम्म भणंति॥

आत्मा के साथ बंधे हुए ये कर्म सामान्य तौर पर सुख-दुःख के कारण हैं। संगति से कर्म ही संसार-बंधन उत्पन्न करते हैं। बिछुड़ने पर ये ही मुक्ति प्रदान करते हैं[1]। जिन कर्मों से बद्ध जीव संसार-भ्रमण करता है वे आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म[2]। इन आठ कर्मों के दो वर्ग होते हैं—(१) घाति कर्म और (२) अघाति कर्म। घाति कर्म चार हैं और अघाति कर्म भी चार। घाति अघाति प्रकृति की अपेक्षा से आठ कर्मों का विभाजन इस प्रकार होता है :

घाति कर्म	अघाति कर्म
१—ज्ञानावरणीय कर्म	
२—दर्शनावरणीय कर्म	
३—................	वेदनीय कर्म
४—मोहनीय कर्म	
५—................	आयुष्य कर्म
६—................	नाम कर्म
७—................	गोत्र कर्म
८—अन्तराय कर्म	

जो कर्म आत्म से बंध कर उसके स्वाभाविक गुणों की घात करते हैं उन्हें घाति कर्म कहते हैं। जिस प्रकार बादल सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश को आच्छादित कर

१—परमात्मप्रकाश १.६४-६५

दुक्खु वि सुक्खु वि बहु-विहउ जीवहँ कम्मु जणेइ।
अप्पा देखइ मुणइ पर णिच्छउ एउँ भणेइ॥
बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ॥

२—(क) उत्त० ३३ : १-३

(ख) ठाणाङ्ग ८.३.५९६

(ग) प्रज्ञापना २३.१

उनकी रश्मियों को बाहर नहीं आने देते उसी प्रकार घाति कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रकट नहीं होने देते ।

अघाति कर्म वे हैं जो आत्मा के प्रधान गुणों को हानि नहीं पहुँचाते, परन्तु आत्मा के सुख-दुःख, आयुष्य आदि की स्थितियाँ उत्पन्न करते हैं ।

प्रत्येक आत्मा में सत्तारूप से आठ मुख्य गुण वर्तमान हैं पर कर्मावरण से वे प्रकट नहीं हो पाते । ये आठ गुण इस प्रकार हैं :

१—अनन्त ज्ञान	५—आत्मिक सुख
२—अनन्त दर्शन	६—अटल अवगाहन
३—क्षायक सम्यक्त्व	७—अमूर्तिकत्व और
४—अनन्त वीर्य	८—अगुरुलघुभाव

ज्ञानावरणीय कर्म जीव की अनन्त ज्ञान-शक्ति के प्रादुर्भाव को रोकता है । दर्शनावरणीय कर्म जीव की अनन्त दर्शन-शक्ति को प्रकट नहीं होने देता । मोहनीय कर्म आत्मा की सम्यक् श्रद्धा को रोकता है । अन्तराय कर्म अनन्त वीर्य को प्रकट नहीं होने देता ।

वेदनीय कर्म अव्याबाध सुख को रोकता है । आयुष्य कर्म अटल अवगाहन—शाश्वत स्थिरता को नहीं होने देता । नाम कर्म अरूपी अवस्था नहीं होने देता । गोत्र कर्म अगुरुलघुभाव को रोकता है ।

इस तरह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त वीर्य—इन अनन्त चतुष्टय की घात करने वाले चार कर्म घाति कर्म हैं । अवशेष अघाति कर्म हैं[1] ।

घाति कर्मों के क्षय से आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होता है और उसके अघाति कर्मों का बन्ध भी उसी भव में मुक्तावस्था के पहले समय में क्षय को प्राप्त होता है । इस तरह सर्व कर्मों का क्षय कर आत्मा मुक्त होता है । जिसके घाति कर्म सम्पूर्ण क्षय को प्राप्त नहीं होते उसके अघाति कर्म भी नष्ट नहीं होते और उस जीव को संसार-भ्रमण करते रहना पड़ता है ।

१—**गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ६ :**

आवरणमोहविग्घं घादी जीवगुणघादणत्तादो ।

आउगणामं गोदं वेयणियं तह अघादित्ति ॥

स्वामीजी ने गाथा १ से ४२ में चार घनघाति कर्मों के स्वरूप पर प्रकाश डाला है और ४४ से ५७ तक की गाथाओं में अघाति कर्मों के स्वरूप पर।

घाति-अघाति दोनों प्रकार के पाप-कर्मों के बंध-हेतु प्रधानतः अशुभ योग हैं। उमास्वाति ने योगों के कार्य-भेद को बताते हुए तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ६ में कहा है :

शुभः पुण्यस्य । ३ ।

अशुभः पापस्य । ४ ।

इन दो सूत्रों के स्थान में दिगम्बर परम्परा के पाठ में एक ही सूत्र मिलता है :

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

दोनों परम्पराओं के शाब्दिक अर्थ में भेद नहीं। दोनों के अनुसार मन, वचन और काय के शुभ योग पुण्य के आस्रव हैं और अशुभ योग पाप के। पर व्याख्या में विशेष अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

अकलङ्कदेव तत्त्वार्थवार्त्तिक में लिखते हैं : "हिंसा, चोरी, मैथुन आदि अशुभ काय-योग हैं। असत्य बोलना, कठोर बोलना, आदि अशुभ वचनयोग हैं। हिंसक विचार, ईर्ष्या, असूया आदि अशुभ मनोयोग हैं। इत्यादि अनन्त प्रकार के अशुभ योग से भिन्न शुभ योग भी अनन्त प्रकार का है। अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि शुभ काययोग हैं। सत्य, हित, मित बोलना शुभ वाग्योग है। अर्हन्त-भक्ति, तप की रुचि, श्रुत का विनय आदि शुभ मनोयोग हैं।

"शुभ परिणाम पूर्वक होने वाला योग शुभ योग है तथा अशुभ परिणाम से होने-वाला अशुभ योग है। शुभ अशुभ कर्म का कारण होने से योग में शुभत्व या अशुभत्व नहीं है, क्योंकि शुभ योग भी ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्मों के बन्ध में भी कारण होता है। 'शुभः पुण्यस्य' यह निर्देश अघातिया कर्मों में जो पुण्य और पाप हैं, उनकी अपेक्षा से है। अथवा 'शुभ योग पुण्य का ही कारण है'—ऐसा अर्थ नहीं है पर 'शुभ योग ही पुण्य का कारण है'—ऐसा अर्थ है। अतः शुभ योग पाप का भी हेतु हो सकता है। पुनः सूत्रों का अर्थ अनुभाग-बंध की अपेक्षा लगाना चाहिए अन्यथा वे दोनों निरर्थक हो जायेंगे क्योंकि कहा है—'आयु और गति को छोड़ कर शेष कर्मों की उत्कृष्ट स्थितियों का बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश से होता है और जघन्य स्थितिबंध मन्द संक्लेश से।' अनुभाग बन्ध प्रधान है। वही सुख-दुःख रूप फल का निमित्त होता है। उत्कृष्ट शुभ परिणाम अशुभ कर्म के जघन्य अनुभाग के भी कारण होते हैं पर बहुत शुभ के कारण होने से 'शुभः पुण्यस्य' सार्थक है। जैसे थोड़ा अपकार करने पर भी बहुत उपकार करने वाला भी

उपकार करने वाला माना जाता है। कहा भी है—'विशुद्धि से शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है तथा संक्लेश से अशुभ प्रकृतियों का। जघन्य अनुभाग बन्ध का क्रम इससे उल्टा है, अर्थात् विशुद्धि से अशुभ का जघन्य और संक्लेश से शुभ का जघन्य बन्ध होता है'।"[1]

प्रस्तुत सूत्रों की मर्यादा पर विचार करते हुए पं० सुखलालजी लिखते हैं—"संक्लेश कषाय की मंदता के समय होने वाला योग शुभ और संक्लेश की तीव्रता के समय होने वाला योग अशुभ कहलाता है। जिस प्रकार अशुभ योग के समय प्रथम आदि गुणास्थानों में ज्ञानावरणीय आदि सारी पुण्य-पाप प्रकृतियों का यथासम्भव बन्ध होता है, वैसे ही छट्ठे आदि गुणास्थानों में शुभ के समय भी सारी पुण्य-पाप प्रकृतियों का यथासम्भव बंध होता ही है। अतः प्रस्तुत विधान को मुख्यतया अनुभागबन्ध की अपेक्षा से समझना चाहिए[2]।"

हालाँ कि यह दलील अकलङ्कदेव की दलील से भिन्न है फिर भी निष्कर्ष एक ही है।

सिद्धसेनगणि अपनी टीका में लिखते हैं: "शुभ परिणाम के अनुबन्ध से शुभ योग होता है। पुण्य कर्म के ४२ भेद कहे गये हैं। शुभ योग उनके आस्रव का हेतु है। भाष्य के 'शुभो योगः पुण्यस्यास्रवो भवति' का आशय है—शुभ योग पुण्य का आस्रव है; पाप का नहीं। प्राणातिपात आदि से निवृत्ति, सत्यादि, धर्मध्यानादि शुभ योग हैं। भाष्यकार का यह निश्चित मत है कि शुभ योग पुण्य का ही आस्रव है पाप का नहीं। प्राणातिपात आदि अशुभ योग है। अशुभ योग ८२ प्रकार के पाप-कर्मों के आस्रव का हेतु है। जिस तरह शुभ योग पुण्य का ही आस्रव होता है, कभी भी पाप का नहीं; वैसे ही अशुभ योग पाप का ही आस्रव है, कभी भी पुण्य का नहीं। 'शुभ योग पुण्य कर्म का हेतु है'—इसके द्वारा—'वह पाप का हेतु नहीं' यह निवृत्ति प्रतिपादित होती है; 'शुभ योग निर्जरा का हेतु नहीं'—यह निषेध नहीं। शुभ योग पुण्य और निर्जरा का कारण है[3]।"

१—तत्त्वार्थवार्तिक ६.३.१,२,३,७

२—तत्त्वार्थसूत्र (गु.तृ.आ.) पृ० २५३

३—तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ६.३, ६.४ सिद्धसेन :

...शुभो योगः पुण्यस्य, न जातुचित् पापस्यापीति, एतद् विवृणोति भाष्येण... शुभो योगः, स पुण्यस्यैवास्रवो न पापस्येत्यर्थान्निश्चितमिदमिति मन्यमानो भाष्यकारः.........उभयनियमश्चात्र न्याय्यः, शुभो योगः स पुण्यस्यैवास्रवो भवति, न कदाचित् पापस्य, एवमशुभः पापस्यैव, न कदाचिच्छुभस्यास्रवः। शुभः पुण्यस्यैवेति च पापनिवृत्तिराख्यायते, न तु निर्जराहेतुत्वनिषेधः। स हि पुण्यस्य निर्जरायाश्च कारणं शुभो योगः।

अकलङ्कदेव और सिद्धसेन के विचारों का पार्थक्य स्वयं स्पष्ट है। शुभ योग से ज्ञानावरणीय आदि घाति कर्मों का आस्रव मानना अथवा अशुभ कर्म का जघन्य अनुभाग बन्ध मानना श्वेताम्बर आगमिक विचारधारा से बहुत दूर पड़ता है। स्वामीजी ने आगमिक विचारधारा को अग्रस्थान देते हुए पुण्य का बन्ध शुभ योग से और पाप का बन्ध अशुभ योग से ही प्रतिपादित किया है।

४—ज्ञानावरणीय कर्म (गा० ७-८):

जीव चेतन पदार्थ है। वह ज्ञान और दर्शन से जाना जाता है। ज्ञान और दर्शन दोनों का संग्राहक शब्द उपयोग है। इसीलिए आगम में कहा है—'जीवो उवओग लक्खणो'[1]। ज्ञान को साकार उपयोग कहते हैं और दर्शन को निराकार उपयोग। जो उपयोग पदार्थों के विशेष धर्मों का—जाति, गुण, क्रिया आदि का बोधक होता है वह ज्ञानोपयोग है, जो पदार्थों के सामान्य धर्म का अर्थात् सत्ता मात्र का बोधक होता है उसे दर्शनोपयोग कहते हैं।

ज्ञान वह है जिससे वस्तु विशेष धर्मों के साथ जानी जाती हो। ऐसा ज्ञान जिसके द्वारा आच्छादित हो उस कर्म को ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान को आवृत करने वाले इस कर्म की कपड़े की पट्टी से तुलना की गयी है। जिस प्रकार आँखों पर कपड़े की पट्टी लगा लेने से चक्षु-ज्ञान रुक जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थों के जानने में रुकावट हो जाती है[2]। ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ—अवान्तर भेद पाँच हैं[3]:

१—उत्त० २८.१० :

वत्तणालक्खणो कालो जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य॥

२—(क) प्रथम कर्मग्रन्थ ६ :

एसि जं आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं।

(ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) : २१

पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं।
जह एदेसिं भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा॥

(ग) ठाणाङ्ग २.४.१०५ में उद्धृत :

सरउग्गयससिनिम्मलयरस्स जीवस्स छायणं जमिह।
णाणावरणं कम्मं पडोवमं होइ एवं तु॥

३-(क) उत्त० ३३.४ :

नाणावरणं पंचविहं सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं च तइयं मणनाणं च केवलं॥

(ख) प्रज्ञापना २३.२

(१) **आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय कर्म**। इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे आभिनिबोधिक या मतिज्ञान कहते हैं। यह परोक्ष ज्ञान है। जो ऐसे ज्ञान को नहीं होने देता उसे आभिनिबोधिक अथवा मतिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(२) **श्रुतज्ञानावरणीय कर्म**। शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह भी परोक्ष ज्ञान है। जो ऐसे ज्ञान को नहीं होने देता उस कर्म को श्रुतज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(३) **अवधिज्ञानावरणीय कर्म**। इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना, रूपी पदार्थों के मर्यादित प्रत्यक्ष ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। जो कर्म ऐसे ज्ञान को नहीं होने देता उसे अवधिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(४) **मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म**। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को मर्यादित रूप से जानना मनःपर्यायज्ञान है। यह भी प्रत्यक्ष ज्ञान है। जो कर्म ऐसे ज्ञान को न होने दे उसे मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(५) **केवलज्ञानावरणीय कर्म**। सर्व द्रव्य और पर्यायों को युगपत भाव से प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। जो ऐसे ज्ञान को प्रकट न होने दे उस कर्म को केवलज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती और देशघाती दो प्रकार के होते हैं[१]। जो प्रकृति स्वघात्य ज्ञान गुण का सम्पूर्ण घात करे वह सर्वघाती ज्ञानावरणीय है। और जो स्वघात्य ज्ञान गुण का आंशिक घात करे वह देशघाती ज्ञानावरणीय है।

मतिज्ञानावरणीय आदि प्रथम चार ज्ञानावरणीय कर्म देशघाती हैं और केवलज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती।

केवलज्ञानावरणीय सर्वघाती कहलाने पर वह भी आत्मा के ज्ञानगुण को सर्वथा आवृत नहीं कर सकता। ऐसा होने से जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रह पायेगा। निगोद के जीवों के उत्कट ज्ञानावरणीय कर्म होता है परन्तु उनके भी अत्यन्त सूक्ष्म अव्यक्त ज्ञानमात्र है। केवलज्ञानावरणीय कर्म को सर्वघाती कहा गया है वह प्रबलतम आवरण की अपेक्षा से। जिस प्रकार घनघोर बादल से सूर्य और चन्द्र ढक जाते हैं फिर

१—**ठाणाङ्ग २.४.१०५ :**

णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पं० तं०—देसनाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव

भी दिवस और रात्रि का विभाग हो सके उतना उनका प्रकाश तो अनावृत्त रहता ही है; उसी प्रकार केवलज्ञानावरणीय से आत्मा का केवलज्ञान गुण चाहे जितनी प्रबलता के साथ आवृत हो, तो भी केवलज्ञान का अनन्तवाँ भाग अनावृत रहता है। केवलज्ञानावरणीय कर्म से जितना अंश अनावृत रह जाता है—उस अंश को भी आवृत करनेवाले भिन्न-भिन्न शक्ति वाले मतिज्ञानावरणीय आदि चार दूसरे आवरण हैं। वे अंश को आवरण करने वाले होने से देशावरणीय कहलाते हैं[1]।

आगम में कहा है : "ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव जानने योग्य को भी नहीं जानता, जानने का कामी होने पर भी नहीं जानता, जान कर भी नहीं जानता। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव आच्छादितज्ञान वाला होता है। जीव द्वारा बांधे हुए ज्ञानावरणीय कर्म के दस प्रकार के अनुभाव हैं :

१—श्रोत्रावरण	२—श्रोत्र-विज्ञानावरण
३—नेत्रावरण	४—नेत्र-विज्ञानावरण
५—घ्राणावरण	६—घ्राण-विज्ञानावरण
७—रसावरण	८—रस-विज्ञानावरण
९—स्पर्शावरण	१०—स्पर्श-विज्ञानावरण[2]।"

१—(क) स्थानांग-समवायांग पृ० ६४-६५

(ख) ठाणाङ्ग २.४.१०५ की टीका :

देशं:—ज्ञानस्याऽऽभिनिबोधिकादिमावृणोतीति देशज्ञानावरणीयम्, सर्वं ज्ञानं—केवलाख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानावरणीयं, केवलावरणं हि आदित्यकल्पस्य केवलज्ञान-रूपस्य जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमिति तत्सर्वज्ञानावरणं, मत्याद्या-वरणं तु घनातिच्छादितादित्येषत्प्रभाकल्पस्य केवलज्ञानदेशस्य कटकुट्यादिरूपावरण-तुल्यमिति देशावरणमिति

२—प्रज्ञापना २३.१ :

गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प दसविधे अणुभावे पन्नत्ते, तंजहा—सोतावरणे, सोयविण्णाणावरणे, नेत्तावरणे, नेत्तविण्णाणावरणे, घाणावरणे, घाणविण्णाणावरणे, रसावरणे, रसविण्णाणावरणे, फासावरणे, फासविण्णाणावरणे, जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं वा उदएणं जाणियव्वं ण जाणति, जाणिउकामेवि ण याणति, जाणित्तावि न याणति, उच्छन्नणाणी यावि भवति णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं

जब ज्ञानवारणीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय होता है तब केवलज्ञान प्रकट होता है। सम्पूर्ण क्षय न होकर क्षयोपशम होता है तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान उत्पन्न होते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम की होती है[१]।

इस कर्म के बंध-हेतुओं का उल्लेख पहले आ चुका है। (देखिए—पुण्य पदार्थ (ढा० २) टि० २३ पृ० २२६)

ज्ञानवरणीय कर्म के बंध-हेतुओं की व्याख्या इस प्रकार है :

(१) **ज्ञान-प्रत्यनीकता :** ज्ञान या ज्ञानी की प्रतिकूलता। इसके स्थान में तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञान-मात्सर्य है, जिसका अर्थ है दूसरा मेरे बराबर न हो जाय इस दृष्टि से ज्ञानदान न करना।

(२) **ज्ञान-निह्नव :** अभय देव ने इसका अर्थ किया है—ज्ञान या ज्ञानियों का अपलपन। तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में इसका अर्थ इस प्रकार मिलता है—ज्ञान को छिपाना। तत्त्व का स्वरूप मालूम होने पर भी पूछने पर न बताना।

(३) **ज्ञानान्तराय :** किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना।

(४) **ज्ञान-प्रद्वेष :** ज्ञान या ज्ञानी के प्रति द्वेष-भाव—अप्रीति। तत्त्वार्थसूत्र में इसके स्थान पर 'तत्प्रदोष' है, जिसका अर्थ है—ज्ञान, ज्ञानी या ज्ञान के साधनों के प्रति जलन।

(५) **ज्ञानाशातना :** ज्ञान या ज्ञानी भी हीलना। तत्त्वार्थसूत्र में इसके स्थान पर 'ज्ञानासादन' है। ज्ञान देनेवाले को रोकना ज्ञानासदन।

(६) **ज्ञान-विसंवादन योग :** ज्ञान या ज्ञानी के विसंवाद—व्यभिचार-दर्शन की प्रवृत्ति। इसके स्थान पर तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञानोपघात हेतु है। प्रशस्त ज्ञान अथवा ज्ञानी में दोष निकालना।

१—उत्त० ३३.१९-२०

उदहीसरिसनामाण तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥
आवरणिज्जाण दुण्हं पि वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मम्मि ठिई एसा वियाहिया॥

५—दर्शनावरणीय कर्म (गा० ६-१५) :

पदार्थों के आकार के अतिरिक्त अर्थों की विशेषता को ग्रहण किये बिना केवल सामान्य का ग्रहण करना दर्शन है[1]। जो कर्म ऐसे दर्शन का आवरणभूत होता है, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ—अवान्तरभेद नौ कहे गये हैं[2] :

(१) चक्षुदर्शनावरणीय कर्म। चक्षु द्वारा होनेवाले सामान्य बोध को चक्षुदर्शन कहते हैं। उसको आवृत करनेवाला कर्म चक्षुदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के उदय से जीव के आँखें नहीं होती अथवा आँखें होने पर भी ज्योति नष्ट हो जाती है।

(२) अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म। नेत्रों को छोड़ कर अन्य इन्द्रियों और मन के द्वारा होनेवाला सामान्य बोध अचक्षुदर्शन है। उसको आवृत करनेवाला कर्म अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के उदय से नेत्र से भिन्न अन्य इन्द्रियाँ—श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय तथा मन नहीं होते अथवा होने पर भी अकार्यकारी होते हैं।

(३) अवधिदर्शनावरणीय कर्म। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्यों का जो सामान्य बोध होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं। ऐसे दर्शन को आवृत करनेवाला कर्म अवधिदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

(४) केवलदर्शनावरणीय कर्म। सर्व द्रव्य और पर्यायों का युगपत् साक्षात सामान्य अवबोध केवलदर्शन कहलाता है। उसे आवृत करनेवाला कर्म केवलदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

(५) निद्रा। जिससे सुख से जाग सके ऐसी नींद उत्पन्न हो उसे निद्रा दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

(६) निद्रानिद्रा। जो कर्म ऐसी नींद उत्पन्न करे कि सोया हुआ व्यक्ति कठिनाई से जाग सके उसे निद्रानिद्रा दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

१—**जं सामन्नग्गहणं भावाणं नेव कट्टु आगारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिह वुच्चए समये॥**

२—**(क)** उत्त० ३३.५-६ :

**निद्दा तहेव पयला निद्दानिद्दा पयलपयला य।
तत्तो य थीणगिद्धी उ पंचमा होइ नायव्वा॥
चक्खुमचक्खूओहिस्स दंसणे केवले य आवरणे।
एवं तु नवविगप्पं नायव्वं दंसणावरणं॥**

(ख) समवायाङ्ग सू० ६; ठाणाङ्ग ८.३.६६८

कर्म कहते हैं।

(८) **प्रचला-प्रचला**। जिस कर्म से चलते-फिरते भी नींद आये उसे प्रचला-प्रचला दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

(९) **स्त्यानर्धि (स्त्यानगृद्धि)**। जिस कर्म से दिन में सोचा हुआ काम निद्रा में किया जाय ऐसा बल आये, उसे स्त्यानर्धि दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

गोम्मटसार में निद्रा-पंचक के विषय में निम्न विवेचन मिलता है :

१—'स्त्यानगृद्धि' के उदय से जगाने के बाद भी जीव सोता रहता है, यद्यपि वह काम करता व बोलता है।

२—'निद्रा निद्रा' के उदय से जीव आँखें नहीं खोल सकता।

३—'प्रचला प्रचला' के उदय से लार गिरती है और अंग चलते—काँपते हैं।

४—'निद्रा, के उदय से चलता हुआ जीव ठहरता है, बैठता है और गिर जाता है।

५—'प्रचला' के उदय से जीव के नेत्र कुछ खुले रहते हैं और वह सोते हुए भी थोड़ा-थोड़ा जागता है और बार-बार मंद-मंद सोता है[१]।

निद्रा-पंचक के क्रम में श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय ग्रंथों में जो भेद है वह उपर्युक्त दोनों वर्णनों से स्वयं स्पष्ट है। 'प्रचला प्रचला', 'निद्रा' और 'प्रचला' इन भेदों के अर्थ में भी विशेष अन्तर है।

तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरीय पाठ और भाष्य में 'निद्रा' आदि के बाद 'वेदनीय' शब्द रखा गया है[२]। दिगम्बरीय पाठ में इनके बाद 'वेदनीय' शब्द नहीं है। सर्वार्थसिद्धि टीका

१—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २३–२५ :

थीणुदयेणुट्ठविदे सोवदि कम्मं करेदि जप्पदि य।
णिद्दाणिद्दुदयेण य ण दिट्ठिमुग्घादिदुं सक्को॥
पयलापयलुदयेण य वहेदि लाला चलंति अंगाइं।
णिद्दुदये गच्छंतो ठाइ पुणो वइसइ पडेई॥
पयलुदयेण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेइ सुत्तोवि।
ईसं ईसं जाणदि मुहुं मुहुं सोवदे मंदं॥

२—तत्त्वार्थसूत्र ८.८ :

...निद्रानिद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीय

में प्रत्येक के साथ 'दर्शनावरणीय कर्म' जोड़ लेने का कहा गया है[1]।

इस कर्म को 'वित्तिसमं'—दरवान के सदृश कहा जाता है, जिस प्रकार दरवान राजा को नहीं देखने देता वैसे ही यह वस्तुओं के समान्य बोध को रोकता है[2]।

दर्शनावरणीय कर्म भी दो कोटि का होता है—(१) देश और (२) सर्व। चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनावरणीय कर्म देश कोटि के हैं और शेष छह सर्व कोटि के[3]। सर्वघाती दर्शनावरणीय कर्मों में केवलदर्शनावरणीय कर्म प्रगाढ़तम है।

सर्वघाती दर्शनावरणीय कर्मों के उदय से जीव का दर्शन गुण प्रगाढ़ रूप से आच्छादित हो जाता है पर इस गुण का सर्वावरण तो केवलदर्शनावरणीय कर्म के उदय की किसी अवस्था में भी नहीं होता। नन्दीसूत्र में कहा है—"पूर्ण ज्ञान का अनन्तवाँ भाग तो जीव मात्र के अनावृत रहता है, यदि वह आवृत हो जाए तो जीव अजीव बन जाय। मेघ कितना ही गहरा हो, फिर भी चांद और सूर्य की प्रभा कुछ-न-कुछ रहती ही है। यदि ऐसा न हो तो रात-दिन का विभाग ही मिट जाय[4]।" सर्वज्ञानावरणीय कर्म के विषय में नंदी में जो बात कही गयी है वही सर्वदर्शनावरणीय कर्म के विषय में भी लागू पड़ती है।

१—तत्त्वार्थसूत्र ८.७ : सर्वार्थसिद्धि :

इह निद्रादिभिर्दर्शनावरणं सामानाधिकरण्येनाभिसम्बध्यते—निद्रादर्शनावरणं निद्रानिद्रादर्शनावरणमित्यादि।

२—(क) प्रथम कर्मग्रंथ ९ :

दंसणचउ पणनिद्दा वित्तिसमं दंसणावरणं ॥

(ख) देखिए पृ० ३०३ पा० टि० २ (ख)

(ग) ठाणाङ्ग २.४.१०५ की टीका :

दंसणसीले जीवे दंसणघायं करेइ जं कम्मं।
तं पडिहारसमाणं दंसणवरणं भवे जीवे ॥

३—ठाणाङ्ग : २.४.१०५ :

दरिसणावरणिज्जे कम्मे एवं चेव

टीका—देशदर्शनावरणीयं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणीयम्, सर्वदर्शनावरणीयं तु निद्रापञ्चकं केवलदर्शनावरणीयं चेत्यर्थः, भावना तु पूर्ववदिति

४—नंदी० सूत्र ४३ :

सव्वजीवाणंपि अ णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सोऽवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा,—"सुट्ठुवि मेहसमुदये होइ पभा चंदसूराणं।"

देखने की इच्छा होने पर भी नहीं देख पाता। देख कर भी नहीं देख पाता। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव आच्छादितदर्शनवाला होता है।

दर्शनावरण कर्म के उक्त नौ भेदों के अनुसार नौ अनुभाव हैं :

१—निद्रा	६—चक्षुदर्शनावरण
२—निद्रानिद्रा	७—अचक्षुदर्शनावरण
३—प्रचला	८—अवधिदर्शनावरण
४—प्रचला-प्रचला	और
५—स्त्यानर्द्धि	९—केवलदर्शनावरण[1]।

ज्ञानावरणीय कर्म की तरह इस दर्शनावरणीय कर्म की भी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस कोटाकोटि सागरोपम की होती है[2]।

दर्शनावरणीय कर्म के बंध-हेतुओं का नामोल्लेख पहले आ चुका है। देखिए—पुण्य पदार्थ (ढा० २) टि० २३ पृ० २२९। दर्शनावरणीय कर्म के बंध-हेतु वे ही हैं जो ज्ञानावरणीय कर्म के बंध-हेतु हैं। केवल ज्ञान के स्थान में दर्शन शब्द ग्रहण करना चाहिए। अर्थ भी समान है।

दर्शनावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवल दर्शन उत्पन्न होता है, जिससे जीव की अनन्त दर्शन-शक्ति प्रकट होती है। जब क्षय न होकर केवल क्षयोपशम होता है तब चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन प्रगट होते हैं।

१—प्रज्ञापना २३.१ :

गोयमा ! दरिसणावरणिज्जस कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गपरिणामं पप्प णवविधे अणुभावे पन्नत्ते, तंजहा—णिद्दा, णिद्दाणिद्दा पयला, पयलापयला, थीणद्धी चक्खुदंसणावरणे, अचक्खुदंसणावरणे, ओहिदंसणावरणे, केवलदंसणावरणे, जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं पासियव्वं वा ण पासति, पासिउकामेवि ण पासति, पासित्ता वि ण पासति, उच्छन्नदंसणी यावि भवति दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं।

२—उत्त० ३३.१९-२०

पृ० ३०६ पा० टि० १ में उद्धृत

६-७—मोहनीय कर्म (गा० १६-३६) :

जो कर्म मूढ़ता उत्पन्न करे उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। यह कर्म स्व-पर विवेक में तथा स्वरूप-रमण में बाधा पहुँचाता है। इस कर्म की तुलना मद्य के साथ की जाती है। 'मज्जं व मोहणीयं' (प्रथम कर्मग्रन्थ १३)। जिस तरह मदिरा-पान से मनुष्य परवश हो जाता है और उसे अपने और पर के स्वरूप का भान नहीं रहता तथा अपने हिताहित का विवेक भूल जाता है वैसे ही इस कर्म के प्रभाव से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेदज्ञान नहीं रहता और वह दुष्कृत्यों में फंस जाता है[1]।

मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है—(१) दर्शन-मोहनीय और (२) चारित्र-मोहनीय[2]। यहाँ दर्शन का अर्थ है श्रद्धा, तत्त्वनिष्ठा, सम्यक् दृष्टि अथवा सम्यक्त्व। जो कर्म सम्यक् दृष्टि उत्पन्न न होने दे, तत्त्व-अतत्त्व का भेद-ज्ञान न होने दे उसे दर्शन-मोहनीय कर्म कहते हैं। जो सम्यक् चारित्र—आचरण को न होने दे उसे चारित्र मोहनीय कर्म कहते हैं।

दर्शन-मोहनीय कर्म तीन प्रकार का होता है[3]—

(१) सम्यक्त्व-मोहनीय[4] : जो कर्म सम्यक्त्व का प्रकट होना तो नहीं रोकता पर औपशमिक अथवा क्षायक सम्यक्त्व (निर्मल अथवा स्थिर सम्यक्त्व) को उत्पन्न नहीं होने देता उसे सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म कहते हैं।

(२) मिथ्यात्व-मोहनीय : जो कर्म तत्त्वों में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देता और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करता है, उसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म कहते हैं।

(३) सम्यक्मिथ्यात्व-मोहनीय : जो कर्म चित्त की स्थिति को चलायमान रखता है—

१—(क) ठाणाङ्ग २.४.१०५ की टीका :

जह मज्जपाणमूढो लोए पुरिसो परव्वसो होइ।
तह मोहेणवि मूढो जीवो उ परव्वसो होइ॥

(ख) देखिए पृ० ३०३ पा० टि० २ (ख)

२—(क) उत्त० ३३.८

(ख) ठाणाङ्ग २.४.१०५

(ग) प्रज्ञापना २३.२

३—उत्त० ३३.९

४—प्रज्ञापना (२३.२) में सम्यक्त्व-मोहनीय आदि को सम

है।

तत्त्वों में श्रद्धा भी नहीं होने देता और अश्रद्धा भी नहीं होने देता उसे सम्यक्‌मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म कहते हैं।

इनमें मिथ्यात्व-मोहनीय सर्वघाती कहलाता है और अन्य दो देशघाती।

चारित्र-मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है—(१) कषाय-मोहनीय और (२) नो-कषाय-मोहनीय।

कष अर्थात् संसार। आय अर्थात् प्राप्ति। जिससे संसार की प्राप्ति हो उसे कषाय कहते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। श्री नेमिचन्द्र लिखते हैं—"जीव के कर्म-क्षेत्र का कर्षक होने से आचार्यों ने इसे कषाय कहा है। इससे सुख तथा दुःख रूपी प्रचुर सस्य उत्पन्न होता है तथा संसार की मर्यादा बढ़ती है[1]।" जो कषाय के सहवर्ती सहचर होते हैं अथवा जो कषायों को उत्तेजित करते हैं उन हास्य, शोक, भय आदि को नो-कषाय कहते हैं[2]। इसके स्थान में दिगम्बर ग्रन्थों में अकषाय का प्रयोग है। नो-कषाय अथवा अकषाय का अर्थ कषाय का अभाव नहीं होता पर ईषत् कषाय है[3]। हास्य आदि स्वयं कषाय न होकर दूसरे के बल पर कषाय बन जाते हैं। जैसे कुत्ता स्वामी का इशारा पाकर काटने दौड़ता है और स्वामी के इशारे से ही वापस आ जाता है उसी तरह क्रोधादि कषायों के बल पर ही हास्यादि नो-कषायों की प्रवृत्ति होती है, क्रोधादि के अभाव में ये निर्बल रहते हैं। इसलिए इन्हें इषत्‌कषाय, अकषाय या नो-कषाय कहते हैं[4]।

कषाय-मोहनीय सोलह प्रकार का है और (२) नो-कषाय-मोहनीय सात अथवा नौ प्रकार का[5]।

१—गोम्मटसार (जीव-काण्ड) : २८२ :

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति॥

२—कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता॥

३—सर्वार्थसिद्धि ८.९ :

ईषदर्थे नञ्यः प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति।

४—तत्त्वार्थवार्तिक ८.९.१०

५—(क) उत्त० ३३.१०-११ :

चरित्तमोहणं कम्मं दुविहं तं वियाहियं।
कसाय मोहणिज्जं तु नोकसायं तहेव य॥
सोलसविहभेएणं कम्मं कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा कम्मं च नोकसायजं॥

(ख) प्रज्ञापना २३.२

चारित्र मोहनीय के भेद इस प्रकार हैं :

१-४—**अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ :** जो कर्म ऐसे उत्कृष्ट क्रोध आदि उत्पन्न करते हैं कि जिनके प्रभाव से जीव को अनन्त काल तक संसार-भ्रमण करना पड़ता है क्रमशः अनन्तानुबंधी क्रोध, अ० मान, अ० माया और अ० लोभ कहलाते हैं[1]।

५-८—**अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ :** जो कर्म ऐसे क्रोध-मान-माया-लोभ को उत्पन्न करें कि जिनसे सम्यक्त्व तो न रुके पर प्रत्याख्यान—थोड़ी भी पाप-विरति न हो सके उन्हें क्रमशः अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, अ० मान, अ० माया और अ० लोभ कहते हैं[2]।

९-१२—**प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ :** जो कर्म ऐसे क्रोध-मान-माया-लोभ को उत्पन्न करें कि जिनसे सम्यक्त्व और देश प्रत्याख्यान तो न रुकें पर सर्व प्रत्याख्यान न हो सके—सर्व सावद्य विरति न हो सके उन्हें क्रमशः प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, प्र० मान, प्र० माया और प्र० लोभ कहते हैं[3]।

१३-१६—**संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ :** जो कर्म ऐसे क्रोध आदि उत्पन्न करें कि जिनसे सर्वप्रत्याख्यान होने पर भी यथाख्यात चारित्र न हो पावे उन्हें क्रमशः संज्वलन-क्रोध, सं० मान, सं० माया और सं० लोभ कहते हैं।

दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—'स' का प्रयोग एकीभाव अर्थ में है। संयम के साथ अवस्थान होने से एक होकर जो ज्वलित होते हैं या जिनके सद्भाव में भी संयम चमकता रहता है वे संज्वलन कषाय हैं[4]।

१—(क) अनन्तान्यनुबध्नन्ति यतो जन्मानि भूतये।
ततोऽनन्तानुबन्ध्याख्या क्रोधाद्येषु नियोजिता॥
(ख) संयोजयन्ति यन्नरमनन्तसंख्यैर्भवैः कषायास्ते।
संयोजनताऽनन्तानुबन्धिता वाप्यस्तेषाम्॥

२—स्वल्पमपि नोत्सहेद् येषां प्रत्याख्यानमिहोदयात्।
अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो द्वितीयेषु निवेशिता॥

३—सर्वसावद्यविरतिः प्रत्याख्यानमुदाहृतम्।
तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता॥

४—सर्वार्थसिद्धि ८.९ :
समेकीभावे वर्तते। संयमेन सहावस्थानादेकीभूय ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः।

श्वेताम्बर विद्वानों ने इसके अर्थ का स्फोटन करते हुए लिखा है—"जो कर्म संविग्न और सर्व पाप की विरति से युक्त यति को भी क्रोधादि युक्त करता है—अप्रशमभाव युक्त करता है उसे संज्वलन-कषाय कहते हैं। शब्दादि विषयों को प्राप्त कर जिससे जीव बार-बार कषाय युक्त होता है वह संज्वलन कषाय है[1]।"

अनन्तानुबंधी कषाय सम्यग्दर्शन का उपघात करनेवाला होता है। जिस जीव के अनन्तानुबंधी क्रोध आदि में से किसी का उदय होता है उसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। यदि पहले सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया हो और पीछे अनन्तानुबंधी कषाय का उदय हो जाय तो वह उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन भी नष्ट हो जाता है[2]।

अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से किसी भी तरह की एकदेश या सर्वदेश विरति नहीं होती। इस कषाय के उदय से संयुक्त जीव महाव्रत या श्रावक के व्रतों को धारण नहीं कर सकता[3]।

प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से विरताविरति—एकदेश रूप संयम होने पर भी सकल चरित्र नहीं हो पाता[4]।

संज्वलन कषाय के उदय से यथाख्यात चारित्र का लाभ नहीं होता[5]।

यही बात दिगम्बर ग्रंथों में भी कही है[6]।

१—(क) संज्वलयन्ति यतिं यत्संविग्नं सर्वपापविरतमपि।
तस्मात् संज्वला इत्यप्रशमकरा निरुच्यन्ते।
(ख) शब्दादीन् विषयान् प्राप्य संज्वलयन्ति यतो मुहुः।
ततः संज्वलनाह्वानं चतुर्थानामिहोच्यते॥

२—तत्त्वा० ८.१० भाष्य : अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते। पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति।

३—तत्त्वा० ८.१० भाष्य : अप्रत्याख्यानकषायोदयाद्विरतिर्न भवति।

४—तत्त्वा० ८.१० भाष्य : प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तमचारित्र-लाभस्तु न भवति।

५—तत्त्वा० ८.१० : संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति।

६—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८३ :
सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति वा कषाया चउसोल असंखलोगमिदा॥

अनन्तानुबंधी कषाय की स्थिति यावज्जीवन की, अप्रत्याख्यानी कषाय की एक वर्ष की, प्रत्याख्यानी कषाय की चार मास की और संज्वलन कषाय की स्थिति एक पक्ष की होती है[1]। दिगम्बर ग्रंथों में अनन्तानुबन्धी की स्थिति संख्यात-असंख्यात-अनन्त भव; अप्रत्याख्यानी की ६ मास, प्रत्याख्यानी की एक पक्ष और संज्वलन की एक अन्तर्मुहूर्त की कही गयी है[2]।

श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों ही के मत से जीव अनन्तानुबंधी कषाय की अवस्था में नरक गति, अप्रत्याख्यानी कषाय की अवस्था में तिर्यञ्च गति, प्रत्याख्यानी कषाय की अवस्था में मनुष्य गति और संज्वलन कषाय की अवस्था में देव गति को प्राप्त करते हैं[3]।

क्रोध खरावर्त—जल के आवर्त—भ्रमर की तरह होता है। मान उन्नतावर्त—पर्वत आदि जैसी ऊँची जगह के चक्राव की तरह होता है। माया गूढावर्त—वनस्पति की गांठ की तरह होती है और लोभ आमिषावर्त—मांस के लिए पक्षी के चक्कर काटने की तरह होता है[4]।

अनन्तानुबंधी क्रोध पर्वत की रेखा—दरार की तरह अमिट होता है। अप्रत्याख्यानी क्रोध पृथ्वीतल की रेखा—दरार की तरह कठिनाई से शांत होनेवाला होता है। प्रत्याख्यानी क्रोध बालू की रेखा की तरह शीघ्र मिटनेवाला होता है। संज्वलन क्रोध जल की रेखा की तरह और भी शीघ्र मिटनेवाला होता है[5]। गोम्मटसार में भी यही उदाहरण है[6]।

१—**प्रथम कर्मग्रन्थ गा० १८ :**

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरियनरअमरा।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ॥

२—**गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ४६:**

अंतोमुहुत्त पक्खं छम्मासं संखऽसंखणंतभवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ॥

३—**(क) गोम्मटसार** (जीवकाण्ड) : २८४-२८७; (**नीचे पा० टि० ६, तथा पृ० २१६ पा० टि० २.४.६ में उद्धृत**)

(**ख**) **उपर्युक्त पा० टि० १**

४—**ठाणाङ्ग ४.३.३८५**

५—**वही ४.२.३११**

६—**गोम्मटसार** (जीवकाण्ड) २८४ :

सिलपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥

अनन्तानुबंधी मान शैल-स्तम्भ की तरह, अप्र० मान अस्थि-स्तम्भ की तरह, प्र० मान दारु-स्तम्भ की तरह तथा सं० मान तिनिशलता-स्तम्भ जैसा होता है[1]। गोम्मटसार में तिनिशलता के स्थान में 'वेत्त'—वेत्र है[2]।

अनन्तानुबंधी माया बांस की मूल की तरह, अप्र० माया मेष के सींग की तरह, प्र० माया गोमूत्र की धार की तरह और सं० माया बांस की ऊपरी छाल की तरह वक्र होती है[3]। तत्त्वार्थभाष्य में सं० माया को निर्लेखनसदृशी कहा है। गोम्मटसार में खुरपी के सदृश[4]।

अनन्तानुबंधी लोभ किरमिच से रंगे वस्त्र की तरह, अप्र० लोभ कर्दम से रंगे वस्त्र की तरह, प्र० लोभ खंजन से रंगे हुए वस्त्र की तरह और सं० लोभ हल्दी से रंगे हुए वस्त्र की तरह होता है[5]। गोम्मटसार में खंजन के रंग के स्थान में 'तणुमल'—शरीर मल का उदाहरण है[6]। तत्त्वार्थभाष्य में किरमिच के रंग की जगह लाक्षाराग और खंजन के रंग के स्थान में कुसुम्भराग है[7]।

१७—**हास्य मोहनीय :** जो कर्म निमित्त से या अनिमित्त ही हास्य उत्पन्न करे उसे हास्य मोहनीय कर्म कहते हैं।

१८—**रति मोहनीय :** जो कर्म रुचि, प्रीति, राग उत्पन्न करे उसे रति मोहनीय कर्म कहते हैं।

१९—**अरति मोहनीय :** जो कर्म अरुचि, अप्रीति, द्वेष उत्पन्न करता है उसे अरति मोहनीय कर्म कहते हैं।

१—**ठाणाङ्ग ४.२.२६३**

२—**गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८५ :**

सेलट्ठिकट्ठवेत्ते णियभेएणणुहरंतओ माणो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो॥

३—**ठाणाङ्ग ४.२.२६३**

४—**गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८६ :**

वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं॥

५—**ठाणाङ्ग ४.२.२६३**

६—**गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २८७ :**

किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो॥

७—**तत्त्वा० ८.१० भाष्य :**

अस्य लोभस्य तीव्रादिभावाश्रितानि निदर्शनानि भवन्ति। तद्यथा—लाक्षारागसदृशः, कर्दमरागसदृशः कुसुम्भरागसदृशो हारिद्ररागसदृशः इति।

२०—**भय मोहनीय :** जो कर्म निमित्त से या अनिमित्त ही भय उत्पन्न करे उसे भय मोहनीय कर्म कहते हैं।

२१—**शोक मोहनीय :** जो कर्म शोक उत्पन्न करे उसे शोक मोहनीय कर्म कहते हैं।

२२—**जुगुप्सा मोहनीय :** जो कर्म घृणा उत्पन्न करे उसे जुगुप्सा मोहनीय कर्म कहते हैं[1]। आचार्य पूज्यपाद जुगुप्सा की परिभाषा इस प्रकार करते हैं : "**यदुदयादात्मदोष-संवरणं परदोषाविष्करणं सा जुगुप्सा** ।" अर्थात् जिसके उदय से आत्म-दोषों के संवरण—छिपाने की और पर-दोषों के आविष्करण—ढूंढ़ने की प्रवृत्ति होती है वह जुगुप्सा है।

२३—**स्त्री-वेद :** जिस तरह पित्त के उदय से मधुर रस की अभिलाषा होती है वैसे ही जो कर्म पुरुष की अभिलाषा उत्पन्न करे उसे स्त्री-वेद कर्म कहते हैं। "जिसके उदय से जीव स्त्री-वेद सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह स्त्री-वेद है[2] ।"

स्त्री-वेद करीषाग्नि की तरह होता है। स्त्री की भोग इच्छा गोबर की आग की तरह धीरे-धीरे प्रज्वलित होती है और चिर काल तक धधकती रहती है[3]।

(२४) **पुरुष-वेद :** जिस तरह श्लेष्म के उदय से आम्ल रस की अभिलाषा होती है वैसे ही जो कर्म स्त्री की अभिलाषा उत्पन्न करे उसे पुरुष-वेद कर्म कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद पुरुषवेद की परिभाषा इस प्रकार करते हैं : "जिसके उदय से जीव पुरुष संबंधी भावों को प्राप्त होता है वह पुंवेद है[4] ।"

पुरुष-वेद तृणाग्नि के सदृश होता है जैसे तृण की अग्नि शीघ्र जलती और बुझती है वैसे ही पुरुष शीघ्र उत्तेजित और शान्त होता है[5]।

(२५) **नपुंसक-वेद :** जिस तरह पित्त और श्लेष्म दोनों के उदय से मज्जिका की अभिलाषा होती है वैसे ही जो कर्म स्त्री और पुरुष दोनों की अभिलाषा उत्पन्न करे उसे नपुंसक-वेद

१—**प्रथम कर्मग्रन्थ २१ :**

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहावा तं इह हासाइ मोहणियं ॥

२—**तत्त्वा० ८.९ सर्वार्थसिद्धि :**

यदुदयात्स्त्रैणान्भावान्प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः

३—**प्रथम कर्मग्रन्थ २२ :**

पुरिसित्थितदुभयंपइ अहिलसो जव्वसा हवइ सोउ ।
थीनरनपुवेउदओ फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥

४—**तत्त्वा० ८.९ सर्वार्थसिद्धि :**

यस्योदयात्पौंस्नान्भावानस्कन्दति स पुंवेदः

५—**देखिए उपर्युक्त पा० टि० ३**

कर्म कहते हैं। "जिसके उदय से जीव नपुंसक संबंधी भावों को प्राप्त होता है वह नपुंसक-वेद है[1]।"

नपुंसक-वेद नगरदाह के समान है। जैसे नगरी की आग बहुत दिनों तक जलती रहती है और उसके बुझने में भी बहुत दिन लगते हैं उसी प्रकार नपुंसक की भोगेच्छा चिरकाल तक निवृत्त नहीं होती[2]।

तत्त्वार्थभाष्य में पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद की तुलना क्रमशः तृण, काष्ठ और करीषाग्नि के साथ की गई है[3]। श्री नेमचन्द्र ने इनकी तुलना तृण, कारीष और इष्टपाक—भट्ठी की अग्नि के साथ की है[4]। नपुंसकवेद को लेकर वे लिखते हैं: "नपुंसक कलुषचित्त-वाला होता है। उसका वेदानुभव भट्ठी की अग्नि की तरह अत्यन्त तीव्र होता है[5]।"

कर्मग्रंथ, तत्त्वार्थसूत्र और गोम्मटसार की तुलनाओं में स्पष्टतः अन्तर है।

उपर्युक्त २५ प्रकृतियों में अनन्तानुबन्धी कषाय, अप्रत्याख्यानी कषाय और प्रत्याख्यानी कषाय ये बारह कषाय सर्वघाती हैं[6]।

मोह कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि और चरित्रहीन बनता है। इसके अनुभाव

१—तत्त्वा० ८.९ सर्वार्थसिद्धि :

यदुदयान्नापुंसकान्भावानुपव्रजति स नपुंसकवेदः

२—देखिए पृ० ३१७ पा० टि० ३

३—तत्त्वा० ८.१० भाष्य :

तत्र पुरुषवेदादीनां तृणकाष्ठकरीषाग्नयो निदर्शनानि भवन्ति

४—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २७६ :

तिणकारिसिट्ठपागग्गिसरिसपरिणामवेयणम्मुक्का।
अवगयवेदा जीवा सयसंभवणंतवरसोक्खा॥

५—वही २७५ :

णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिंगविदिरित्तो।
इट्ठावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो॥

६—(क) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ३९ :

केवलणाणावरणं दंसणछक्कं कषायबारसयं।
मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्हि॥

(ख) ठाणाङ्ग २.४.१०५ टीका में उद्धृत

केवलणाणावरणं दंसणछक्कं च मोहबारसगं।
ता सव्वघाइसन्ना भवंति मिच्छत्तवीसइमं॥

पाँच हैं : सम्यक्त्व-वेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय, सम्यग्मिथ्यात्व-वेदनीय, कषाय-वेदनीय और नो-कषाय-वेदनीय[1]।

मोहनीय कर्म के बंध-हेतुओं का उल्लेख करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है : "केवल-ज्ञानी, श्रुत, संघ, धर्म और देवों का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बंध-हेतु है और कषाय के उदय से होनेवाला तीव्र आत्म-परिणाम चारित्रमोहनीय कर्म का[2]।"

निरावरण ज्ञानी को केवली कहते हैं[3]। केवली द्वारा प्ररूपित और गणधरों द्वारा रचित सांगोपांग ग्रंथ श्रुत हैं। रत्नत्रय से युक्त श्रमणों का गण संघ है अथवा रत्नत्रय से युक्त श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विद गण संघ है। पंचमहाव्रत का जो साधन रूप है वह धर्म है अथवा अहिंसा लक्षण है जिसका वह धर्म है[4]। भवनवासी आदि देव हैं। केवली आदि का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बंध-हेतु है। अवर्णवाद का अर्थ है असद्भूतदोषोदभावनम्'—जो दोष नहीं है उसका उद्भावन करना—कथन करना।

आगम में कहा है—"अरिहन्तों का अवर्णवाद, धर्म का अवर्णवाद, आचार्य-उपाध्यायों का अवर्णवाद, संघ का अवर्णवाद और देवों का अवर्णवाद—इन पांच अवर्णवादों के होने से जीव धर्म की प्राप्ति नहीं कर सकता[5]।"

१—प्रज्ञापना २३.१ :

गोयमा ! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पंचविधे अणुभावे पन्नते तंजहा—सम्मत्तवेयणिज्जे, मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे कसायवेयणिज्जे, नोकसायवेयणिज्जे।

२—तत्त्वा० ६.१४-१५ :

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।

कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्र मोहस्य।

३—सर्वार्थसिद्धि ६.१३ : निरावरणज्ञानाः केवलिनः।

४—(क) तत्त्वा० भाष्य ६.१४ : चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य पञ्चमहाव्रतसाधनस्य धर्मस्य

(ख) सर्वार्थसिद्धि ६.१३ रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः संघः। अहिंसालक्षणस्तदागम-देशितो धर्मः।

५—ठाणाङ्ग ४.२६

दर्शनमोहनीय कर्म कैसे बंधता है, इस विषय में आगम में निम्न वार्तालाप मिलता है[1]।

"हे भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय (दर्शनमोहनीय) कर्म किस प्रकार बाँधते हैं ?"

"हे गौतम ! प्रमादरूप हेतु से और योग रूप निमित्त से जीव कांक्षामोहनीय कर्म का बंध करते हैं।"

"हे भगवन् ! वह प्रमाद कैसे होता है ?"

"हे गौतम ! वह प्रमाद योग से होता है।"

"हे भगवन् ! वह योग किस से होता है ?"

"हे गौतम ! वह योग वीर्य से उत्पन्न होता है।"

"हे भगवन् ! वह वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?"

"हे गौतम ! वह वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है।"

"हे भगवन् ! यह शरीर किस से उत्पन्न होता है ?"

"हे गौतम ! यह शरीर जीव से उत्पन्न होता है। जब ऐसा है तब उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम हैं।"

सर्वार्थसिद्धि में चारित्र-मोहनीय कर्म के बंध-हेतुओं का विस्तार इस रूप में मिलता है :

स्वयं कषाय करना, दूसरों में कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनों के चारित्र में दूषण लगाना, संक्लेश को पैदा करने वाले लिङ्ग (वेष) और व्रत को धारण करना आदि कषायवेदनीय के आस्रव हैं[2]।

सत्य धर्म का उपहास करना, दीन मनुष्य की दिल्लगी उड़ाना, कुत्सित राग को बढ़ानेवाला हंसी-मजाक करना, बहुत बकने व हंसने की आदत रखना आदि हास्य वेदनीय के आस्रव है[3]।

१—भगवती १.३

२—सर्वार्थसिद्धि ६.१४ : तत्र स्वपरकषायोत्पादनं तपस्विजनवृत्तदूषणं संक्लिष्टलिङ्गव्रतधारणादिः कषायवेदनीयस्यास्रवः।

३—वही ६.१४ : सद्धर्मोपहसनदीनातिहासकन्दर्पोपहासबहुविप्रलापोपहासशीलतादिर्हास्यवेदनीयस्य।

नाना प्रकार की क्रीड़ाओं में लगे रहना, व्रत और शील के पालन करने में रुचि न रखना आदि रतिवेदनीय के आस्रव हैं[1]।

दूसरों में अरति उत्पन्न हो और रति का विनाश हो ऐसी प्रवृत्ति करना और पापी लोगों की संगति करना आदि अरति वेदनीय के आस्रव है[2]।

स्वयं शोकातुर होना, दूसरों के शोक को बढ़ाना तथा ऐसे मनुष्य का अभिनन्दन करना आदि शोकवेदनीय के आस्रव हैं[3]।

भय रूप अपना परिणाम और दूसरे को भय पैदा करना आदि भयवेदनीय के आस्रव के कारण हैं[4]।

सुखकर क्रिया और सुखकर आचार से घृणा करना और अपवाद करने में रुचि रखना आदि जुगुप्सावेदनीय के आस्रव हैं[5]।

असत्य बोलने की आदत, अति संधानपरता, दूसरे के छिद्र ढूँढना और बढ़ा हुआ राग आदि स्त्रीवेद के आस्रव हैं[6]।

क्रोध का अल्प होना, ईर्ष्या नहीं करना, अपनी स्त्री में संतोष करना आदि पुरुष-वेद के आस्रव हैं[7]।

प्रचुर मात्रा में कषाय करना, गुप्त इन्द्रियों का विनाश करना और परस्त्री से बलात्कार करना आदि नपुंसकवेदनीय के आस्रव हैं[8]।

मोहनीय कर्म के बंध-हेतुओं का नामोल्लेख भगवती में इस प्रकार मिलता है—(१) तीव्र क्रोध, (२) तीव्र मान, (३) तीव्र माया, (४) तीव्र लोभ, (५) तीव्र दर्शन-

---

१—सर्वार्थसिद्धि ६.१४ : विचित्रक्रीडनपरताव्रतशीलारुच्यादिः रतिवेदनीयस्य।

२—वही ६.१४ : परारतिप्रादुर्भावनरतिविनाशनपापशीलसंसर्गादिः अरतिवेदनीयस्य।

३—वही ६.१४ : स्वशोकोत्पादनपरशोकप्लुताभिनन्दनादिः शोकवेदनीयस्य।

४—वही ६.१४ : स्वभयपरिणामपरभयोत्पादनादिर्भयवेदनीयस्य।

५—वही ६.१४ : कुशलक्रियाचारजुगुप्सापरिवादशीलत्वादिर्जुगुप्सावेदनीयस्य।

६—वही ६.१४ : अलीकाभिधायित्वातिसन्धानपरत्वपररन्ध्रप्रेक्षित्वप्रवृद्धरागादिः स्त्री-वेदनीयस्य।

७—वही ६.१४ : स्तोकक्रोधानुत्सुकत्वस्वदारसन्तोषादिः पुँवेदनीयस्य।

८—वही ६.१४ : प्रचुरकषायगुह्य न्द्रियव्यपरोपणपराङ्गनावस्कन्दनादिर्नपुंसकवेदनीयस्य।

मोहनीय और (६) तीव्र चारित्र मोहनीय[1]।

अन्य आगमों में मोहनीय कर्म के ३० बंध-हेतुओं का उल्लेख मिलता है[2]। संक्षेप में वे इस प्रकार है :

(१) त्रस प्राणियों को जल में डुबाकर जल के आक्रमण से उन्हें मारना।

(२) किसी प्राणी के नाक, मुख आदि इन्द्रिय-द्वारों को हाथ से ढक अथवा अवरुद्ध कर मारना।

(३) बहुत प्राणियों को किसी स्थान में अवरुद्ध कर चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर धुएँ से दम घोंटकर मारना।

(४) दुष्ट चित्त से किसी प्राणी के उत्तमांग—सिर पर प्रहार करना है और मस्तक को फोड़कर विदीर्ण करना।

(५) किसी प्राणी के मस्तक को गीले चर्म से आवेष्टित करना।

(६) छल पूर्वक बार-बार भाले या डंडे से किसी को पीटकर अपने कार्य पर प्रसन्न होना या हँसना।

(७) अपने दोषों को छिपाना, माया को माया से आच्छादित करना, झूठ बोलना, सत्यार्थ का गोपन करना।

(८) किसी निर्दोष व्यक्ति पर मिथ्या आरोप कर अपने दुष्ट-कार्यों को उसके सिर मँढ़कर उसे कलंकित करना।

(९) जानते हुए भी किसी परिषद में अर्द्ध-सत्य (सच और झूठ मिश्रित) कहना।

(१०) राजा का मंत्री होकर उसके प्रति जनता में विद्रोह कराना या विश्वासघात करना।

(११) बाल-ब्रह्मचारी नहीं होने पर भी अपने को बाल-ब्रह्मचारी कहना तथा स्त्री-विषयक भोगों में लिप्त रहना।

१—भगवती ८.९

गोयमा ! तिव्वकोहयाए, तिव्वमाणयाए, तिव्वमायायाए, तिव्वलोभयाए, तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए, तिव्वचरित्तमोहणिज्जयाए

२—(क) समवायाङ्ग सम० ३०

(ख) दशाश्रुतस्कंध द० ९०

(ग) आवश्यक अ० ४

(१२-१३) ब्रह्मचारी नहीं होने पर भी अपने को ब्रह्मचारी प्रसिद्ध--व्यक्त करना, तथा कपट रूप से विषय सुखों में आसक्त रहना।

(१४) गांव की जनता अथवा स्वामी के द्वारा समर्थ और धनवान बन जाने पर, फिर उन्हीं लोगों के प्रति ईर्ष्या-दोष या कलुषित मन से उनके सुखों में अन्तराय देने का सोचना या विघ्न उपस्थित करना।

(१५) अपने भर्ता—पालन करने वाले की हिंसा करना।

(१६) राष्ट्र-नायक, वणिक्-नायक अथवा किसी महा यशस्वी श्रेष्ठी को मारना।

(१७) नेता-स्वरूप अथवा अनेक प्राणियों के त्राता सदृश पुरुष को मारना।

(१८) दीक्षाभिलाषी, दीक्षित, संयत और सुतपस्वी पुरुष को धर्म से भ्रष्ट करना।

(१९) अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन युक्त जिनों की निन्दा करना।

(२०) सम्यग्ज्ञानदर्शन युक्त न्याय मार्ग की बुराई करना, धर्म के प्रति द्वेष और निन्दा के भावों का प्रचार करना।

(२१) जिस आचार्य या उपाध्याय की कृपा से श्रुत और विनय की शिक्षा प्राप्त हुई हो उसी की निन्दा करना।

(२२) आचार्य और उपाध्याय की सुमन से सेवा न करना।

(२३) अबहुश्रुत होते हुए भी अपने को बहुश्रुत व्यक्त करना और स्वाध्यायी न होने पर भी अपने को स्वाध्यायी व्यक्त करना।

(२४) तपस्वी न होते हुए भी अपने को तपस्वी घोषित करना।

(२५) सशक्त होते हुए भी अस्वस्थ अन्य साधु-साध्वियों की सेवा इस भाव से न करना कि वे उसकी सेवा नहीं करते।

(२६) सर्वतीर्थों का भेद तथा धर्म-विमुख करने वाली हिंसात्मक और कामोत्तेजक कथाओं का बार-बार कहना।

(२७) आत्म-श्लाघा या मित्रता प्राप्ति के लिए अधार्मिक वशीकरण आदि योगों का बार-बार प्रयोग करना।

(२८) मानुषिक या दैविक भोगों की अतृप्ति पूर्वक अभिलाषा करना।

(२९) देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, बल और वीर्य की निन्दा करना।

(३०) 'जिन' के समान पूजा की इच्छा से नहीं देखते हुए भी मैं देव, यक्ष और गुह्यों को देख रहा हूँ ऐसा कहना।

मोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटा-कोटि सागरोपम की होती है[१]।

१—उत्त० ३३.२१

उदहीसरिसनामाणं सत्तरिं कोडिकोडीओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

८—अन्तराय कर्म (गा० ३७-४२) :

अन्तराय का अर्थ है बीच में उपस्थित होना—विघ्न करना—व्याघात करना। जो कर्म क्रिया, लब्धि, भोग और बल-स्फोटन करने में अवरोध उपस्थित करे उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। इसकी तुलना राजा के भण्डारी के साथ की जाती है। राजा की दान देने की इच्छा होने पर भी यदि भण्डारी कहे कि खजाने में कुछ नहीं है तो राजा दान नहीं दे पाता वैसे ही अन्तराय कर्म के उदय से जीव की स्वाभाविक अनन्त कार्य-शक्ति कुण्ठित हो जाती है[1]।

अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं :

(१) दान-अन्तराय कर्म : इसका उदय दान देने में विघ्नकारी होता है। जो कर्म दान नहीं देने देता वह दानान्तराय कर्म है। मनुष्य सत्पात्र दान में पुण्य जानता है, प्रासुक एषणीय वस्तु भी पास में होती है, सुपात्र संयमी–साधु भी उपस्थित होता है इस तरह सारे संयोग होने पर इस कर्म के उदय से जीव दान नहीं दे पाता।

(२) लाभ-अन्तराय कर्म : यह वस्तुओं की प्राप्ति में बाधक होता है। जो कर्म उदित होने पर शब्द-गंध-रस-स्पर्श के लाभ अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप आदि के लाभ को रोकता है वह लाभान्तराय कर्म कहलाता है। द्वारका जैसी नगरी में घूमते रहने पर भी ढंढण ऋषि को भिक्षा न मिली यह लाभान्तराय कर्म का उदय था।

(३) भोग-अन्तराय कर्म : जो वस्तु एक बार ही भोगी जा सके, उसे भोग कहते हैं जैसे—खाद्य, पेय आदि। जो कर्म भोग्य वस्तुओं के होने पर भी उन्हें भोगने नहीं देता उसे भोगान्तराय कर्म कहते हैं। दाँतों में पीड़ा होने पर सरस भोजन नहीं खाया जा सकता—यह भोगान्तराय कर्म का उदय है।

(४) उपभोग-अन्तराय कर्म : जो वस्तु बार-बार भोगी जा सके उसे उपभोग कहते हैं जैसे—मकान, वस्त्र आदि। जो कर्म उपभोग वस्तुओं के होने पर भी उन्हें भोगने नहीं देता उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते हैं। वस्त्र, आभूषण आदि होने पर भी वैधव्य के कारण उनका उपभोग न कर सकना, उपभोग-अन्तराय कर्म का उदय है।

१—(क) ठाणाङ्ग २.४.१०५ की टीका :

जीवं चार्थसाधनं चान्तरा एति—पततीत्यन्तरायम्, इदं चैवं—

जह राया दाणाइं ण कुणई भंडारिए विकूलंमि।

एवं जेणं जीवो कम्मं तं अंतरायंति॥

(ख) देखिए पृ० ३०३ पा० टि० २ (ख)

(५) **वीर्य-अन्तराय कर्म** : वीर्य एक प्रकार की शक्ति विशेष[1] है। बौद्ध ग्रंथों में भी इसी अर्थ में वीर्य शब्द का प्रयोग मिलता है[2]। योग—मन-वचन-काय के व्यापार—वीर्य से उत्पन्न होते हैं[3]। संसारी जीव में सत्तारूप में अनन्त वीर्य होता है[4]। जो कर्म आत्मा के वीर्य-गुण का अवरोधक होता है—उसे वीर्यान्तिराय कर्म कहते हैं। निर्बलता इसी कर्म का फल होता है[5]। कहा है : "वीर्य, उत्साह, चेष्टा, शक्ति पर्यायवाची शब्द हैं। जिस कर्म के उदय से कल्यायुष्यवाला युवा भी अल्प प्राणतावाला होता है उसे वीर्यान्तिराय कर्म कहते हैं[6]।"

वीर्य तीन हैं : (१) बाल-वीर्य : जिसके थोड़े भी त्याग-प्रत्याख्यान नहीं होते, जो अविरत होता है उस बाल का वीर्य बाल-वीर्य कहलाता है। (२) पण्डित-वीर्य : जो सर्वविरत होता है उस पण्डित का वीर्य पण्डित वीर्य है। (३) बाल-पण्डित वीर्य : जो कुछ अंश में त्यागी है और कुछ अंश में अविरत, उस बाल-पण्डित का वीर्य बाल-पण्डित वीर्य है। वीर्यान्तिराय कर्म इन तीनों प्रकार के वीर्यों का अवरोध करता है। इस कर्म के प्रभाव से जीव के उत्थान[7], कर्म[8], बल[9], वीर्य[10], और पुरुषकार-पराक्रम[11] क्षीण—हीन होते हैं।

१—ठाणाङ्ग १०.१.७४०

२—अंगुत्तरनिकाय ५.१

३—भगवती १.३

४—भगवती १.८

५—यदुदयात् नीरोगस्य तरुणस्य बलवतोऽपि निर्वीर्यता स्यात् स वीर्यन्तरायः

६—तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ८.१४ सिद्धसेन :
तत्र कस्यचित् कल्पस्याप्युपचितवपुषोऽपि यूनोऽप्याल्पप्राणता यस्य कर्मण उदयात स वीर्यान्तराय इति।

७—उत्थान—चेष्टाविशेष (ठा० १.१.४२ टीका)

८—कर्म—भ्रमणादि क्रिया (वही)

९—बल—शरीर-सामर्थ्य (वही)

१०—वीय—जीव से प्रभव शक्तिविशेष (वही)

११—पुरुषकार—अभिमान विशेष। पराक्रम—अभिमान विशेष को पूरा करने का प्रयत्न विशेष (वही : पुरुषकारश्च—अभिमानविशेषः पराक्रमश्च—पुरुषकार एव निष्पादितस्वविषय इति विग्रहे द्वन्द्वैकवद्भाव :)

अन्तराय कर्म के दो भेद कहे गये हैं—

(१) प्रत्युत्पन्नविनाशी अ० कर्म—जिसके उदय से लब्ध वस्तुओं का विनाश हो और (२) पिहित-आगामी-पथ अ० कर्म—लभ्य वस्तु के आगामी-पथ का—लाभ-मार्ग का अवरोध[1]।

इस कर्म के पाँच अनुभाव हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय भोगान्तराय और वीर्यान्तराय[2]।

श्री नेमिचन्द्र लिखते हैं—"घनघाति होने पर भी अन्तराय कर्म को जो अघाति कर्मों के बाद रखा है उसका कारण यह है कि वह अघाति कर्मों के समान ही है क्योंकि वह कितना ही गाढ़ क्यों न हो जीव के वीर्य गुण को सर्वथा सम्पूर्णतः आच्छादित नहीं कर सकता[3]।"

उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम ये जीव के परिणाम विशेष हैं। ये वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं।

केवलज्ञानावरणीय आदि पूर्व वर्णित घाति कर्मों के क्षय के साथ ही सर्व वीर्य अन्तराय कर्म का क्षय हो जाता है। इसके क्षय से निरतिशय—अनन्त वीर्य उत्पन्न होता है।

अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटाकोटी सागरोपम की होती है[4]।

१—ठाणाङ्ग २.४.१०५ :

अंतराइए कम्मे दुविहे पं० तं०-पडप्पन्नविणासिए चेव पिहितआगामिपहं।

२—प्रज्ञापना २३.१.१२

गोयमा! अंतराइयस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पंचविधे अणुभावे पन्नत्ते, तंजहा दाणंतराए लाभंतराए, भोगंतराए, उवभोगंतराए, वीरियंतराए, जं वेदेति पोग्गलं वा जाव वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं वा तेसिं वा उदएणं अंतराइ' कम्मं वेदेति

३—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) १७ :

घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो।
णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमम्हि॥

४—उत्त० ३३.१६

अन्तराय कर्म के बंध-हेतुओं का नामोल्लख पहले आ चुका है[1]। हेमचन्द्रसूरि कहते हैं: "दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—इनमें कारण या बिना कारण विघ्न करना अन्तराय कर्म के आस्रव हैं[2]।"

अन्तराय कर्म के विवेचन के साथ घनघाती-कर्मों का विवेचन सम्पूर्ण होता है। इन चार घनघाती-कर्मों में ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय ये दो आवरण-स्वरूप हैं। मोहनीय-कर्म विवेक को विकृत करता है। अन्तराय-कर्म विघ्न-रूप है।

प्रथम दो आवरणीय कर्मों के क्षय से जीव को निर्वाण रूप, सम्पूर्ण प्रतिपूर्ण अव्याहत, निरावरण, अनन्त और सर्वोत्तम केवल-ज्ञान-दर्शन उत्पन्न होता है। जीव अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ तथा सर्वभावदर्शी होता है। विवेक को दूषित करने वाले मोहनीयकर्म के क्षय से शुद्ध अनन्त चारित्र उत्पन्न होता है। अन्तराय कर्म के क्षय से अनन्त-वीर्य प्रकट दोता है। इस तरह घनघाती कर्मों का क्षय अनन्त-चतुष्टय की प्राप्ति का कारण होता है।

९—असाता वेदनीय-कर्म (गा० ४३-४४) :

जिस कर्म से सुख दुःख का वेदन—अनुभव हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। वेदनीय कर्म दो प्रकार का है—(१) साता वेदनीय और (२) असाता वेदनीय। इस कर्म की तुलना मधु-लिप्त तलवार की धार से की गई है[3]। तलवार की धार में लगे हुये मधु को जीभ से चाटने के समान साता वेदनीय और तलवार की धार से जीभ के कटने की तरह असाता वेदनीय कर्म हैं[3]। जिस कर्म के उदय से सुख का अनुभव हो वह

१—देखिए पुण्य पदार्थ (ढा० २) : टिप्पणी २३ पृ० २३०

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : सप्ततत्त्वप्रकरणम् गा० ११० :

दाने लाभे च वीर्ये च, तथा भोगोपभोगयोः।
सव्याजाव्याज विघ्नोन्तरायकर्मण आश्रवाः॥

३—(क) ठाणाङ्ग २.४.१०५ टीका : तथा वेद्यते—अनुभूयत इति वेदनीयं, सातं—सुखं तद्रूपतया वेद्यते यत्तत्तथा, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, इतरद्—एतद्विपरीतम्, आह च—

महुलित्तनिसियकरवालधार जीहाए जारिसं लिहणं।
तारिसयं सुहदुहउप्पायगं मुणह॥

(ख) प्रथम कर्मग्रन्थ १२ :

महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहाउ वेयणियं॥

साता वेदनीय है। जिस कर्म के उदय से जीव को दुःख रूप अनुभव हो वह असाता वेदनीय है।

पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं होते। इष्ट-अनिष्ट का भाव अज्ञान और मोह से उत्पन्न होता है—राग द्वेष से उत्पन्न होता है। अनुकूल विषयों के न मिलने से तथा प्रतिकूल विषयों के संयोग से जो दुःख होता है वह असाता वेदनीय कर्म के उदय का परिणाम है। उसके फल स्वरूप अनेक प्रकार के—शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव होता है[1]।

असाता वेदनीय कर्म आठ प्रकार के हैं। (१) अमनोज्ञ शब्द (२) अमनोज्ञ रूप (३) अमनोज्ञ स्पर्श (४) अमनोज्ञ गंध, (५) अमनोज्ञ रस, (६) मन दुःखता, (७) वाग् दु.खता और (८) काय दुःखता[2]।

असाता वेदनीय के अनुभाव इन्हीं आठ भेदों के अनुसार तद्रूप आठ हैं[3]।

अमनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, स्पर्श और इनसे होनेवाला दुःख तथा मानसिक, वाचिक, और कायिक दुःखता असाता वेदनीय कर्म के उदय का परिणाम है।

असाता वेदनीय कर्म के बंध-हेतुओं का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है[4]।

एक बार श्रमण भगवान महावीर ने गौतमादि श्रमणों को बुलाकर पूछा: "श्रमणो! जीव को किसका भय है?"

श्रमण बोले: "भगवन्! हम नहीं जानते। आप ही हमें बतावें?"

भगवान ने उत्तर दिया: "श्रमणो! जीवों को दुःख का भय है।"

१—तत्त्वा० ८.८ : सर्वार्थसिद्धि : यदुदयाद्देवादिगतिषु शरीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सवद्द्यम्। प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यमिति। यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसवद्द्यम्। अप्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यमिति।

२—प्रज्ञापना २३.३.१५ :
असायावेदणिज्जे णं भंते! कम्मे कतिविधे पन्नत्ते? गोयमा! अट्ठविधे पन्नत्ते, तंजहा-अमणुण्णा सद्दा, जाव कायदुहया।

३—प्रज्ञपना २३.३.८ :
असातावेयणिज्जस्स णं भंते! कम्मस्स जीवेणं तहेव पुच्छा उत्तरं च, नवरं अमणुण्णा सद्दा जाव कायदुहया, एस णं गोयमा! असायावेयणिज्जे कम्मे, एस णं गोयमा! असातावेदणिज्जस्स जाव अट्ठविधे अणुभावे पन्नत्ते॥

४—देखिए पुण्य पदार्थ (ढाल २) टि० १३-१४,१६ (पृ० २२०-२२२,२२४)

श्रमण बोले : "भगवन् ! यह दुःख किसने किया ?"

भगवान बोले : "जीव ने ही यह दुःख अपने प्रमाद से उत्पन्न किया है।"

श्रमण बोले—"भगवन् ! इस दुःख को कैसे भोगना चाहिए ?"

भगवान बोले—"अप्रमत्त हो इस दुःख को भोगना चाहिए[1]"। "अनगार विचारे—इस सुन्दर शरीरवाले अरिहंत भगवान तक जब कर्मों को क्षय करनेवाले तपः कर्म को ग्रहण करते हैं तो मैं भी वैसा क्यों न करूँ ? यदि मैं ऐसे कष्टों को सहन नहीं करूँगा, तो मेरे कर्मों का नाश कैसे होगा ? उनके नाश करने का तो यही उपाय है कि कष्टों को सहन किया जाय। यह चौथी सुखशय्या है[2]।"

१०—अशुभ आयुष्य-कर्म (गा० ४५-४६) :

नाना गति के जीवों की जीवन-अवधि का निर्यामक कर्म आयुष्य-कर्म कहलाता है। इस कर्म की तुलना कारागृह से की जाती है[3]। जिस प्रकार अपराधी को न्यायाधीश कारागृह की सजा दे दे तो इच्छा करने पर भी अपराधी उससे मुक्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार जब तक आयु-कर्म रहता है तब तक आत्मा देह का त्याग नहीं कर सकता। इसी प्रकार आयु शेष होने पर जीव देह-स्थित नहीं रह सकता। आयुष्य-कर्म न सुख का कर्त्ता है और न दुःख का। आयुष्य-कर्म देह-स्थित जीव को केवल अमुक काल मर्यादा तक धारण कर रखता है[4]। कहा है—"**जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं**" **(गो० कर्म० ११)**

श्री अकलङ्कदेव ने आयुष्य की परिभाषा इस प्रकार की है : "जिसके होने पर जीव जीवित और जिसके अभाव में वह मृत कहलाता है वह आयु है। आयु भवधारण का हेतु है[5]"

१—ठाणाङ्ग ३.१.१६६

२—ठाणाङ्ग ४.३.३२५

३—प्रथम कर्मग्रन्थ २३ :

सुरनरतिरिनिरयाऊ हडिसरिसं...।

४—ठाणाङ्ग २.४. १०५ टीका :

दुक्खं न देइ आउं नविय सुहं देइ चउसुवि गईसुं।
दुक्खसुहाणाहारं धरेइ देहट्ठियं जीयं॥

५—तत्त्वार्थवार्तिक ८.१०.२ :

यद्भावाभावयोर्जीवितमरणं तदायुः ।२। यस्य भावात् आत्मनः जीवितं भवति यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद्भवधारणमायुरित्युच्यते।

जिस कर्म के उदय से जीव को अमुक गति—भव का जीवन बिताना पड़े उसे आयुष्य-कर्म कहते हैं। इसके अनुभाव चार हैं—नरकायुष्य, तिर्यञ्चायुष्य, मनुष्यायुष्य और देवायुष्य[1]।

गतियों की अपेक्षा से आयुष्य-कर्म चार प्रकार के हैं :

(१) नरकायुष्य कर्म : जिसका उदय तीव्र शीत और तीव्र उष्ण वेदनावाले नरकों में दीर्घजीवन का निमित्त होता है वह नरकायुष्य-कर्म कहलाता है[2]।

(२) तिर्यञ्चायुष्य कर्म : जिसके उदय से क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण आदि अनेक उपद्रवों के स्थानभूत तिर्यञ्च-भव में वास हो उसे तिर्यञ्चायुष्य कर्म कहते हैं[3]।

(३) मनुष्यायुष्य कर्म : जिसके उदय से शारीरिक और मानसिक सुख-दुःख से समाकुल मनुष्य-भव में जन्म हो उसे मनुष्यायुष्य कर्म कहते हैं[4]।

(४) देवायुष्य कर्म : जिसके उदय से शारीरिक और मानसिक अनेक सुखों से प्राय: युक्त देवों में जन्म हो उसे देवायुष्य कर्म कहते हैं[5]।

नरकायुष्य कर्म निश्चय ही अशुभ है और पाप-कर्म की कोटि का है। स्वामीजी के मत से कुदेव, कुनर और कई तिर्यञ्चों का आयुष्य भी अशुभ है और पाप-कर्म की कोटि का है (देखिए टि० ७ पृ० १६०-६२)।

अशुभ आयुष्य कर्म के बंध-हेतुओं का विवेचन पहले आ चुका है (देखिए टि० ५ पृ० २०६; टि० ६ पृ० २१०; टि० ७ पृ० २११; टि० १७ पृ० २२४; टि० १८ पृ० २२५)।

१—प्रज्ञापना २३.१ :

गोयमा ! आउयस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव चउविहे अणुभावे पन्नत्ते, तंजहा—नेरइयाउते, तिरियाउते, मणुयाउए, देवाउए।

२—तत्त्वार्थवार्तिक ८.१०.५ :

नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं तन्नारकायुः

३—वही ८.१०.६

क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिकृतोपद्रवप्रचुरेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद्वसनं तत्तैर्यग्योनम्

४—वही ८.१०.७ :

शारीरमानससुखदुःखभूयिष्ठेषु मनुष्येषु जन्मोदयात् मनुष्यायुषः

५—वही ८.१०-८ :

शारीरमानससुखप्रायेषु देवेषु जन्मोदयात् देवायुषः

११—अशुभ नाम कर्म (गा० ४६-५६) :

नाम कर्म का अर्थ करते हुए कहा गया है—"जो कर्म जीव को गत्यादि पर्यायों को अनुभव करने के लिए वाध्य करे वह नाम कर्म है[1] ।"

श्री नेमिचन्द्र लिखते हैं : "जो कर्म जीवों में गति आदि के भेद उत्पन्न करता है, जो देहादि की भिन्नता का कारण है तथा जिससे गत्यंतर जैसे परिणमन होते हैं वह नाम कर्म है[2] ।"

इस कर्म की तुलना चित्रकार से की गई है। जिस प्रकार चतुर चित्रकार विचित्र वर्णों से शोभन-अशोभन, अच्छे-बुरे, रूपों को करता है उसी प्रकार नाम कर्म इस संसार में जीव के शोभन-अशोभन, इष्ट-अनिष्ट अनेक रूप करता है। जो कर्म विचित्र पर्यायों में परिणमन का हेतु होता है वह नामकर्म है[3] ।

नाम कर्म दो प्रकार के होते हैं (१) शुभ और (२) अशुभ। जो शुभ हैं वे पुण्य रूप हैं और जो अशुभ हैं वे पाप रूप[4] ।

शुभ नाम कर्म के कुल भेद साधारणतः ३७ माने जाते हैं[5] और अशुभ नाम कर्म के कुल ३४[6] ।

नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ और उनके उपभेद का पुण्य पाप रूप वर्गीकरण निम्न प्रकार है :

१—प्रज्ञापना २३.१.२८८ टीका :

नामयति—गत्यादि पर्यायानुभवनं प्रति प्रवयणति जीवमिति नाम

२—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) १२ :

गदिआदि जीवभेदं देहादी पोग्गलाण भेदं च ।
गदियंतरपरिणमनं करेदि णामं अणेयवि ॥

३—ठाणाङ्ग २-४.१०५ टीका :

विचित्रपर्यायैर्नमयति–परिणमयति यज्जावं तन्नाम, एतत्स्वरूपं च—

जह चित्तयरो निउणो अणेगरूवाइं कुणइ रूवाइं ।
सोहणमसोहणाइं चोक्खमचोक्खेहि वण्णेहि ॥
तह नामंपि हु कम्मं अणेगरूवाइं कुणइ जीवस्स ।
सोहणमसोहणाइं इट्ठाणिट्ठाइं लोयस्स ॥

४—उत्त० ३३.१३ :

नामं कम्मं तु दुविहं सुहमसुहं च आहियं ।
सुहस्स उ बहू भेया एमेव असुहस्सवि ॥

५—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : नवतत्त्वप्रकरणम् : ७ भाष्य ३

सत्तत्तीसं नामस्स, पयईओ पुन्नमाह (हु) ता य इमो ।

६—वही : ८ भाष्य ४९ :

मोह छवीसा एसा, एसा पुण होइ नाम चउतीसा ।

उत्तर प्रकृतियाँ		उपभेद	
		पुण्यरूप	पापरूप
१—गतिनाम	१		नरकगतिनाम (१)
	२		तिर्यञ्चगतिनाम (२)
	३	मनुष्यगतिनाम (१)	
	४	देवगतिनाम (२)	
२—जातिनाम	५		एकेन्द्रियजातिनाम (३)
	६		द्वीन्द्रियजातिनाम (४)
	७		त्रीन्द्रियजातिनाम (५)
	८		चतुरिन्द्रियजातिनाम (६)
	९	पञ्चेन्द्रियजातिनाम (३)	
३—शरीरनाम	१०	औदारिकशरीरनाम (४)	
	११	वैक्रियशरीरनाम (५)	
	१२	आहारकशरीरनाम (६)	
	१३	तेजसशरीरनाम (७)	
	१४	कामर्णशरीरनाम (८)	
४—शरीर-अङ्गो-पांगनाम	१५	औदारिकशरीर-अङ्गोपांग नाम (९)	
	१६	वैक्रियशरीर-अङ्गोपांगनाम (१०)	
	१७	आहारकशरीर-अंगोपाङ्गनाम (११)	
५—संहनननाम	१८	वज्रऋषभनाराचसंहनननाम (१२)	
	१९		ऋषभनाराचसंहनननाम (७)
	२०		नाराचसंहनननाम (८)
	२१		अर्द्धनाराचसंहनननाम (९)
	२२		कीलिकासंहनननाम (१०)
	२३		सेवार्त्तसंहनननाम (११)

६—संस्थाननाम	२४	समचतुरस्रसंस्थाननाम	(१३)		
	२५			न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थाननाम	(१२)
	२६			सादिसंस्थाननाम	(१३)
	२७			वामनसंस्थाननाम	(१४)
	२८			कुब्जसंस्थाननाम	(१५)
	२९			हुंडसंस्थाननाम	(१६)
७—वर्णनाम	३०	शुभवर्णनाम	(१४)		
	३१			अशुभवर्णनाम	(१७)
८—गन्धनाम	३२	सुरभिगंधनाम	(१५)		
	३३			दुरभिगंधनाम	(१८)
९—रसनाम	३४	शुभरसनाम	(१६)		
	३५			अशुभरसनाम	(१९)
१०—स्पर्शनाम	३६	शुभस्पर्शनाम	(१७)		
	३७			अशुभस्पर्शनाम	(२०)
११—अगुरुलघुनाम	३८	अगुरुलघुनाम	(१८)		
१२—उपघातनाम	३९			उपघातनाम	(२१)
१३—पराघातनाम	४०	पराघातनाम	(१९)		
१४—आनुपूर्वीनाम	४१			नरकानुपूर्वीनाम	(२२)
	४२			तिर्यञ्चानुपूर्वीनाम	(२३)
	४३	मनुष्यानुपूर्वीनाम	(२०)		
	४४	देवानुपूर्वीनाम	(२१)		
१५—उच्छ्वासनाम	४५	उच्छ्वासनाम	(२२)		
१६—आतपनाम	४६	आतपनाम	(२३)		
१७—उद्योतनाम	४७	उद्योतनाम	(२४)		
१८—विहायोगतिनाम	४८	प्रशस्तविहायोगतिनाम	(२५)		
	४९			अप्रशस्तविहायोगतिनाम	(२४)
१९—त्रसनाम	५०	त्रसनाम	(२६)		

२०—स्थावरनाम	५१			स्थावरनाम	(२५)
२१—सूक्ष्मनाम	५२			सूक्ष्मनाम	(२६)
२२—बादरनाम	५३	बादरनाम	(२७)		
२३—पर्याप्तनाम	५४	पर्याप्तनाम	(२८)		
२४—अपर्याप्तनाम	५५			अपर्याप्तनाम	(२७)
२५—साधारण-शरीरनाम	५६			साधारणशरीरनाम	(२८)
२६—प्रत्येकशरीर-नाम	५७	प्रत्येकशरीरनाम	(२९)		
२७—स्थिरनाम	५८	स्थिरनाम	(३०)		
२८—अस्थिरनाम	५९			अस्थिरनाम	(२९)
२९—शुभनाम	६०	शुभनाम	(३१)		
३०—अशुभनाम	६१			अशुभनाम	(३०)
३१—सुभगनाम	६२	सुभगनाम	(३२)		
३२—दुर्भगनाम	६३			दुर्भगनाम	(३१)
३३—सुस्वरनाम	६४	सुस्वरनाम	(३३)		
३४—दुःस्वरनाम	६५			दुःस्वरनाम	(३२)
३५—आदेयनाम	६६	आदेयनाम	(३४)		
३६—अनादेयनाम	६७			अनादेयनाम	(३३)
३७—यशकीर्तिनाम	६८	यशकीर्तिनाम	(३५)		
३८—अयशकीर्त्ति-नाम	६९			अयशकीर्तिनाम	(३४)
३९—निर्माणनाम	७०	निर्माणनाम	(३६)		
४०—तीर्थङ्करनाम	७१	तीर्थङ्करनाम	(३७)		

उपर्युक्त विवेचन में क्रम ५ में उल्लिखित शरीर-अंगोपांग उत्तर-प्रकृति के बाद आगमों में 'शरीरबंधननाम' और 'शरीरसंघातनाम' इन दो उत्तर प्रकृतियों का नामोल्लेख अधिक है। इस तरह नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियों की कुल संख्या उक्त ४०+२=४२ होती है। आगमों में इसी संख्या का उल्लेख पाया जाता है[१]।

१—समवायांग सम० ४२; प्रज्ञापना २३.२.२९३

जो कर्म पहले बंधे हुए तथा वर्तमान में बंधनेवाले औदारिक आदि शरीर के पुद्गलों का आपस में लाख के समान सम्बन्ध करता है उस कर्म को बन्धननामकर्म कहते हैं।

जैसे दंताली तृण-समूह को इकट्ठा करती है वैसे ही जो कर्म गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों को इकट्ठा करता है—उनका सानिध्य करता है उसे संघातनामकर्म कहते हैं।

शरीर के पाँच भेदों के अनुसार इन दोनों उत्तर प्रकृतियों के अवान्तर भेद निम्न प्रकार पाँच-पाँच हैं :

शरीरबंधननाम	(१) औदारिकशरीरबंधननाम
	(२) वैक्रियशरीरबंधननाम
	(३) आहारकशरीरबंधननाम
	(४) तैजसशरीरबंधननाम
	(५) कामर्णशरीरबंधननाम
शरीरसंघातनाम	(१) औदारिकशरीरसंघातनाम
	(२) वैक्रियशरीरसंघातनाम
	(३) आहारकशरीरसंघातनाम
	(४) तैजसशरीरसंघातनाम
	(५) कामर्णशरीरसंघातनाम

इसी तरह वर्णनाम (क्र० ७), रसनाम (क्र० ९) और स्पर्शनाम (क्र० १०) के वर्णित दो दो कुल ६ उपभेदों के स्थान में उनके उपभेद आगम में इस प्रकार उपलब्ध हैं :

वर्णनाम—कृष्णवर्णनाम, नीलवर्णनाम, लोहितवर्णनाम, हारिद्रवर्णनाम, श्वेतवर्णनाम।

रसनाम—तिक्तरसनाम, कटुरसनाम, कषायरसनाम, आम्लरसनाम, मधुरसनाम।

स्पर्शनाम—कर्कशस्पर्शनाम, मृदुस्पर्शनाम, गुरुस्पर्शनाम, लघुस्पर्शनाम, स्निग्धस्पर्शनाम, रूक्षस्पर्शनाम, शीतस्पर्शनाम, उष्णस्पर्शनाम।

यहाँ उक्त उत्तर प्रकृतियों को गिनने से नामकर्म के कुल भेद ६५ (७१−६)+५+५+५+५+५=९३ होते हैं। यही संख्या श्वेताम्बर दिगम्बर सर्वमान्य है[1]।

१—(क) प्रज्ञापना २३.२.२९३

(ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) : २

नाम कर्म की पुण्य-प्रकृतियों का विवेचन पुण्य पदार्थ की ढाल में किया जा चुका है। पाप-प्रकृतियों का विवेचन यहाँ गा० ४६ से ५६ में है। यहाँ उनपर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है :

(१) **नरकगतिनाम :** नारकत्व आदि पर्याय-परिणति को गति कहते हैं। जिस कर्म का उदय नरक-भव की प्राप्ति का कारण हो उसे 'नरकगतिनाम कर्म' कहते हैं।

(२) **तिर्यञ्चगतिनाम :** जिस कर्म के उदय से तिर्यञ्च-भव की प्राप्ति हो उसे 'तिर्यञ्च गतिनाम कर्म' कहते हैं। पशु, पक्षी तथा वृक्ष आदि एकेन्द्रिय जीव इसी कर्म के उदय वाले हैं।

(३) **एकेन्द्रियजातिनाम :** जो कर्म जीव की जाति—सामान्यकोटि का नियामक हो उसे जातिनाम कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव केवल स्पर्शनेन्द्रिय का धारक एकेन्द्रिय पृथ्वी, अप्, वायु, तेजस और वनस्पतिकाय जाति का जीव हो उसे 'एकेन्द्रियजाति नामकर्म' कहते हैं :

(४) **द्वीन्द्रियजातिनाम :** जिस कर्म के उदय से जीव द्वीन्द्रिय—स्पर्श और जिह्वा मात्र धारण करने वाली जीव-जाति में जन्म ग्रहण करे उसे 'द्वीन्द्रियजाति नाम कर्म' कहते हैं। कृमी, सीप, शंख आदि द्वीन्द्रिय जाति के जीव हैं।

(५) **त्रीन्द्रियजातिनाम :** जिस कर्म के उदय से जीव त्रीन्द्रिय—स्पर्श, जिह्वा और घ्राण मात्र धारण करनेवाली जीव-जाति में जन्म ग्रहण करे उसे 'त्रीन्द्रियजातिनामकर्म' कहते हैं। कुन्थु, पिपीलिका आदि इस कर्म के उदयवाले जीव हैं।

(६) **चतुरिन्द्रियजातिनाम :** जिस कर्म के उदय से जीव चतुरिन्द्रिय—स्पर्श, जिह्वा, घ्राण और चक्षु मात्र धारण करनेवाली जीव-जाति में जन्म ग्रहण करे उसे 'चतुरिन्द्रिय-जातिनामकर्म' कहते हैं। मक्षिका, मशक, कीट, पतंग आदि इसी कर्म के उदयवाले हैं।

(७) **ऋषभनाराचसंहनननाम :** हाडबंध की विशिष्ट रचना का निमित्त कर्म संहनननाम कर्म कहलाता है। जिस कर्म के उदय से ऋषभनाराचसंहनन प्राप्त हो वह 'ऋषभनाराच-संहनननामकर्म' है। दोनों ओर अस्थियाँ मर्कट-बन्ध से बंधी हों और उनके ऊपर पट्ट की तरह अन्य अस्थि का वेष्टन हो वैसे अस्थिबंध को 'ऋषभनाराचसंहनन' कहते हैं।

(८) **नाराचसंहनननाम :** जिस कर्म के उदय से नाराचसंहनन प्राप्त हो उसे 'नाराचसंहनन-नामकर्म' कहते हैं। ऊपर ऋषभ=पट्ट का वेष्टन न हो केवल दोनों ओर मर्कट-बंध हो उस अस्थिबंध को नाराचसंहनन कहते हैं।

(९) **अर्द्धनाराचसंहनननाम** : जिस कर्म के उदय से अर्द्धनाराचसंहन न प्राप्त हो उसे 'अर्द्धनाराचसंहनननामकर्म' कहते हैं। जिस अस्थि-बंध में एक ओर मर्कट-बंध हो और दूसरी ओर अस्थि-कीलिका का बंध उसे अर्द्धनाराचसंहनन कहते हैं।

(१०) **कीलिकासंहनननाम** : जिस कर्म के उदय से कीलिकासंहनन प्राप्त हो उसे 'कीलिकासंहनननामकर्म' कहते हैं। जिस बंध में दोनों ओर अस्थियाँ अस्थि-कीलिकाओं से बंधी हो उसे कीलिकासंहन कहते हैं।

(११) **सेवार्तसंहनननाम** : जिस कर्म के उदय से सेवार्तसंहनन प्राप्त हो उसे 'सेवात-संहनननामकर्म' कहते हैं। इस बंध में अस्थियों के किनारे परस्पर मिले होते हैं, उनमें कीलिका-बंध भी नहीं होता।

(१२) **न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम** : शरीर की विविध आकृतियों के निमित्त कर्म को संस्थाननाम कहते हैं। जिस कर्म के उदय से न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान प्राप्त हो वह 'न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननामकर्म' कहलाता है। न्यग्रोध=वट। वटवृक्ष की तरह नाभि के ऊपर का भाग प्रमाणानुसार और लक्षणयुक्त हो और नीचे का भाग वैसा न हो उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान कहते हैं।

(१३) **सादिसंस्थाननाम** : जो कर्म सादिसंस्थान का निमित्त हो उसे 'सादिसंस्थान नामकर्म' कहते हैं। नाभि के नीचे के अंग प्रमाणानुसार और लक्षणयुक्त हों और नाभि के ऊपर के अंग वैसे न हों उसे सादिसंस्थान कहते हैं।

(१४) **वामनसंस्थाननाम** : जो कर्म वामनसंस्थान का हेतु हो उसे 'वामनसंस्थान नामकर्म' कहते हैं। हाथ, पैर, मस्तक और ग्रीवा प्रमाणानुसार और लक्षणयुक्त हों परन्तु छाती, उदर आदि अवयव वैसे न हों वह वामनसंस्थान है।

(१५) **कुब्जसंस्थाननाम** : जो कर्म कुब्जसंस्थान का हेतु हो उसे 'कुब्जसंस्थाननामकर्म' कहते हैं। हाथ, पैर, मस्तक और ग्रीवा प्रमाणानुसार और लक्षणयुक्त न हों बाकी अवयव वैसे हों वह कुब्जसंस्थान है।

(१६) **हुंडसंस्थाननाम** : जो कर्म हुंडसंस्थान का निमित्त हो उसे 'हुंडसंस्थाननामकर्म' कहते हैं। इस संस्थान में सब अवयव प्रमाणरहित और लक्षणहीन होते हैं।

(१७) **अशुभवर्णनाम** : जिस कर्म के उदय से शरीर कृष्णादिक अशुभ वर्णवाला होता है उसे 'अशुभवर्णनामकर्म' कहते हैं।

(१८) दुरभिगंधनाम : जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर अशुभ गंधवाला होता है उसे 'दुरभिगंधनामकर्म' कहते हैं।

(१९) अशुभरसनाम : जिस कर्म के उदय से शरीर तिक्त आदि अशुभ रसवाला होता है उसे 'अशुभरसनामकर्म' कहते हैं।

(२०) अशुभस्पर्शनाम : जो कर्म कर्कश आदि अशुभ स्पर्श का निमित्त होता है उसे 'अशुभस्पर्शनामकर्म' कहते हैं।

(२१) उपघातनाम : जिस कर्म के उदय से जीव अपने अधिक या विकृत अवयवों द्वारा दुःख पावे अथवा जो कर्म जीव के उपघात—बेमौत मरण का कारण हो उसे 'उपघातनामकर्म' कहते हैं।

(२२) नरकानुपूर्वीनाम : विग्रहगति से जन्मान्तर में जाते हुए जीव को आकाश प्रदेश की श्रेणि के अनुसार गमन कराने वाले कर्म को आनुपूर्वीनाम कहते हैं। जो कर्म नरक गति के सम्मुख गमन कराता है उसे 'नरकानुपूर्वीनामकर्म' कहते हैं।

(२३) तिर्यञ्चानुपूर्वीनाम : जो कर्म जीव को तिर्यञ्च गति के सम्मुख गमन करावे उसे 'तिर्यञ्चानुपूर्वीनामकर्म' कहते हैं।

(२४) अप्रशस्तविहायोगतिनाम : जो कर्म गति का नियामक हो उसे विहायोगति-नामकर्म कहते हैं। जो कर्म अशुभ गति उत्पन्न करे उसे 'अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म' कहते हैं। हाथी, वृषभ आदि की गति प्रशस्त और ऊंट, गधे आदि की गति अप्रशस्त कहलाती है।

(२५) स्थावरनाम : जिस कर्म के उदय से जीव स्वतंत्र रूप से गमनागमन न कर सके उसे 'स्थावरनामकर्म' कहते हैं। पृथ्वी, अप्, वायु, तैजस और वनस्पतिकाय जीव इसी कर्म के उदयवाले होते हैं। उनमें स्वतंत्र रूप से गमन करने की शक्ति नहीं है।

(२६) सूक्ष्मनाम : जिस कर्म के उदय से ऐसा सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो कि जो चर्मचक्षु से देखा न जा सके 'सूक्ष्मनामकर्म' कहलाता है। कितने ही बादर पृथ्वीकायिक आदि जीव अदृष्टिगोचर होते हैं पर असंख्य शरीरों के मिलने पर वे दिखाई देने लगते हैं। सूक्ष्म जीवों के असंख्य शरीर इकट्ठे हो जायं तो भी वे दिखाई नहीं देते।

(२७) अपर्याप्तनाम : जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न कर सके और पहले ही मरण को प्राप्त हो उसे 'अपर्याप्तनामकर्म' कहते हैं।

(२८) साधारणशरीरनाम : जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का साधारण—एक

शरीर हो उसे 'साधारणशरीरनामकर्म' कहते हैं। आलू, अदरक आदि इसी कर्म के उदय वाले जीव हैं।

(२९) **अस्थिरनाम :** जिसके उदय से जिह्वा, कान, भौंह आदि अस्थिर अवयव हों उसे 'अस्थिरनामकर्म' कहते हैं।

(३०) **अशुभनाम :** जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ—अप्रशस्त होते हैं उसे 'अशुभनामकर्म' कहते हैं।

(३१) **दुर्भगनाम :** जिस कर्म के उदय से उपकार करने पर भी मनुष्य अप्रिय हो उसे 'दुर्भगनामकर्म' कहते हैं।

(३२) **दुःस्वरनाम :** जिस कर्म के उदय से अप्रिय लगे ऐसा खराब स्वर हो उसे 'दुःस्वरनामकर्म' कहते हैं।

(३३) **अनादेयनाम :** जिस कर्म के उदय से वचन लोकमान्य न हो उसे 'अनादेयनाम कर्म' कहते हैं।

(३४) **अयशकीर्तिनाम :** जिस कर्म के उदय से अपयश या अपकीर्ति हो उसे 'अयश-कीर्तिनामकर्म' कहते हैं।

नामकर्म की पूर्वोक्त ४२ प्रकृतियों में बंधन और संघात प्रकृतियों के जो पाँच-पाँच भेद हैं (देखिए पृ० ३३४-५) उन्हें भी पुण्य और पाप में विभक्त किया जा सकता है। स्वामी जी ने गा० ४९ में कहा है—"इनमें से शुभ बंधन और संघात पुण्यरूप हैं और अशुभ पापरूप।"

'नवतत्त्वप्रकरण' में तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्चानुपूर्वी की गिनती पाप प्रकृतियों में की गयी है और तिर्यञ्चायुष्य की गणना पुण्य प्रकृतियों में[1]। इस का कारण यह माना जाता है कि तिर्यञ्चायुष्य के उदय के बाद तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्चानुपूर्वी जीव को अनिष्ट अथवा दुःखरूप नहीं लगतीं। तत्त्वार्थभाष्य में नरायुष्य और देवायुष्य को ही पुण्य प्रकृतियों में गिना है अतः तिर्यञ्चायुष्य स्पष्टतः पाप प्रकृतियों में आती है[2]। स्वामीजी कहते हैं : "कई तिर्यञ्चों का आयुष्य पाप प्रकृति रूप होता है। जिस तिर्यञ्च का आयुष्य अशुभ है उसकी गति और आनुपूर्वी भी अशुभ है। जिस तिर्यञ्च का आयुष्य शुभ है उसकी गति और आनूपूर्वी भी शुभ है (गा० ४६)।"

१—**नवतत्त्वप्रकरण गा० १४, १२**

२—**तत्त्वा० ८.२६ भाष्य : शुभमायुष्कं मानुषं दैवं च**

अशुभ नामकर्म के १४ अनुभाव—विपाक शुभनामकर्म के अनुभावों से ठीक उलटे हैं। वे इस प्रकार हैं—(१)अनिष्ट शब्द, (२) अनिष्ट रूप, (३) अनिष्ट गंध, (४) अनिष्ट रस, (५) अनिष्ट स्पर्श, (६) अनिष्ट गति, (७) अनिष्ट स्थिति, (८) अनिष्ट लावण्य, (९) अनिष्ट यशकीर्ति, (१०) अनिष्ट बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम (११) अनिष्ट स्वरता (१२) हीनस्वरता, (१३) दीनस्वरता और (१४) अकान्तस्वरता[1]।

अशुभनामकर्म के बंध-हेतु शुभनामकर्म के बंध-हेतुओं के ठीक विपरीत हैं। इनका विवेचन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ० २२७ टि० २१)। प्रथम कर्मग्रन्थ में लिखा है—"सरल और गौरव-रहित जीव शुभनामकर्म का बंध करता है और अन्यथा अशुभनामकर्म का[2]।" गौरव तीन प्रकार का है (१) ऋद्धि-गौरव (२) रस-गौरव और (३) सात-गौरव। धन सम्पत्ति से अपने को बड़ा समझना ऋद्धि-गौरव है। रसों से अपना गौरव समझना रस-गौरव है। आरोग्य, गुरु आदि का गर्व सात-गौरव है। इस तरह यहाँ कपट भाव और तीन गौरव से अशुभनामकर्म का बंध बतलाया है।

तत्त्वार्थसूत्र में अशुभ नामकर्म के बंध हेतुओं के विषय में निम्न सूत्र प्राप्त है—**'योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः'**। योगवक्रता का अर्थ है—'कायवाङ्मनोयोगवक्रता' (भाष्य)। यहाँ गौरव के स्थान में 'विसंवादन' है। श्री हेमचन्द्र सूरि कहते हैं: "योगवक्रता, ठगना, माया-प्रयोग, मिथ्यात्व, पैशुन्य, चलचित्तता, नकली सुवर्णादि का बनाना, झूठी साक्षी, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श को अन्यथा करना, अंगोपांग को गलवाना, यंत्रकर्म, पिंजरकर्म, कूट मान-तौल, कूटकर्म, अन्यनिन्दा, आत्मप्रशंसा, हिंसा आदि पाँच पाप, कठोर असभ्य वचन, मद, वाचालता, आक्रोश, सौभाग्य-उपघात, कामणक्रिया, परकौतूहल, परिहास, वेश्यादि को अलङ्कार-दान, दावाग्निदीपन, देवपूजादि के बहाने गंधादि को चुराना, तीव्र कषाय, चैत्य-आराम और प्रतिमाओं का विनाश और अङ्गारादि व्यापार—ये सब अशुभ नामकर्म के आश्रव हैं[3]।" अशुभ नामकर्म के बंध-हेतुओं का यह प्रतिपादन निश्चय ही बाद का परिवर्धित रूप है।

आगमिक और इन बंध-हेतुओं में जो अन्तर है वह तुलना से स्वयं स्पष्ट होगा।

१—प्रज्ञापना २३.१

२—प्रथम कर्मग्रन्थ ५९:

सरलो अगारविल्लो सुहनामं अन्नहा असुहं ॥

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः सप्ततत्त्वप्रकरणम् : ९४–१००

१२—**नीचगोत्रकर्म (गा० ५७) :**

पूज्यता, अपूज्यता आदि भावों को उत्पन्न करनेवाले कर्म को गोत्रकर्म कहते हैं। इसकी तुलना कुम्हार से की गई है। जैसे कुम्हार लोक-पूज्य कलश और लोक-निन्द्य मद्य-घट का निर्माण करता है वैसे ही यह कर्म जीव के व्यक्तित्व को श्लाघ्य-अश्लाघ्य बनाता है[1]। जिस कर्म के उदय से जीव उच्चावच कहलाता है वह गोत्रकर्म है[2]।

दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद ने इसकी परिभाषा इस रूप में दी है—"जिसके उदय से गर्हित कुलों में जन्म होता है वह नीचगोत्रकर्म है[3]।"

गोत्रकर्म की यह परिभाषा ऐकांतिक है। तत्त्वार्थकार के स्वोपज्ञ भाष्य में इसका स्वरूप इस प्रकार मिलता है: "उच्चगोत्रकर्म देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सत्कार, ऐश्वर्य आदि विषयक उत्कर्ष का निर्वर्तक होता है। इसके विपरीत नीचगोत्र-कर्म चाण्डाल, नट, व्याध, पारिधि, मत्स्यबंध—धीवर, दास्यादि भावों का निर्वर्तक है[4]।

उच्च और नीचगोत्रकर्म के उपभेद और उनके अनुभावों का आगम में इस प्रकार उल्लेख है[5]:

१—(क) ठाणाङ्ग २.४.१०५ टीका :

जह कुंभारो भंडाइं कुणइ पुज्जेयराइं लोयस्स।
इय गोयं कुणइ जियं लोए पुज्जेयरावत्थं॥

(ख) प्रथम कर्मग्रन्थ ५२ :

गोयं दुहुच्चनीयं कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं।

२—प्रज्ञापना २३.१.२८८ टीका :

यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा गूयते—शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मणः उदयात् गोत्रं।

३—तत्त्वा० ८.१२ सर्वार्थसिद्धि :

यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्। यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्;

४—तत्त्वा० ८.१३ भाष्य :

उच्चैर्गोत्रं देशजातिकुलस्थानमानसतकारैश्वर्याद्युत्कर्षनिर्वर्तकम्। विपरीतं नीचैर्गोत्रं चण्डालमुष्टिकव्याधमत्स्यबंधदास्यादिनिर्वर्तकम्।

५—प्रज्ञापना २३.१.२९२; २३.२.२९३

१—जाति-उच्चगोत्र : जाति— मातृपक्षीय विशिष्टता	१—जाति-नीचगोत्र : जातिविहीनता—मातृपक्षीय-विशिष्टता का अभाव
२—कुल-उच्चगोत्र : कुल—पितृपक्षीय विशिष्टता	२—कुल-नीचगोत्र : कुलविहीनता—पितृपक्षीय-विशिष्टता का अभाव
३—बल-उच्चगोत्र : बल-विपयक विशिष्टता	३—बल-नीचगोत्र : बलविहीनता
४—रूप-उच्चगोत्र : रूप-विपयक विशिष्टता	४—रूप-नीचगोत्र : रूपविहीनता
५—तप-उच्चगोत्र : तप-विपयक विशिष्टता	५—तप-नीचगोत्र : तपविहीनता
६—श्रुत-उच्चगोत्र : श्रुत-विपयक विशिष्टता	६—श्रुत-नीचगोत्र : श्रुतविहीनता
७—लाभ-उच्चगोत्र : लाभ-विपयक विशिष्टता	७—लाभ-नीचगोत्र : लाभविहीनता
८—ऐश्वर्य-उच्चगोत्र : ऐश्वर्य-विपयक विशिष्टता	८—ऐश्वर्य-नीचगोत्र : ऐश्वर्यविहीनता

इससे यह स्पष्ट है कि जीव की व्यक्तित्व-विपयक विशिष्टता अथवा अविशिष्टता का निमित्त कर्म गोत्रकर्म है।

उच्चगोत्रकर्म पुण्य रूप है और नीचगोत्रकर्म पाप रूप।

जाति-विशिष्टता, कुल-विशिष्टता यावत् ऐश्वर्य-विशिष्टता उच्चगोत्रकर्म के विपाक हैं। ये आठ मद स्थान हैं[1]। अहंभाव के कारण हैं[2]। जो इनको पाकर अभिमान करता है उसके नीचगोत्रकर्म का बंध होता है। जो अभिमान नहीं करता उसको पुनः ये ही विशिष्टताएँ प्राप्त होती हैं[3]। जो अनात्मवादी होता है उसके लिए जाति आदि की विशिष्टताएँ अहित की कर्त्ता हैं। जो आत्मार्थी होता है उसके लिए ये ही हितकर्त्ता के रूप में परिणत हो जाती हैं[4]।

१—**ठाणाङ्ग ८.६.६०६**

२—**वही ९.३.७०१**

३—**भगवती ८.९**

मूल पाठ पृ० २२८ पर उद्धृत है

४—**ठाणाङ्ग ६.३.४९६**

जातिविहीनता, कुलविहीनता यावत् ऐश्वर्यविहीनता नीचगोत्रकर्म के विपाक हैं। नीचगोत्रकर्म के उदय से मनुष्य को अपमान, दीनता, अवहेलना आदि का अनुभव होता है। इनसे मनुष्य मन में दुःख करने लगता है। स्वामीजी कहते हैं—ये हीनताएँ भी स्वयंकृत हैं। निश्चय रूप में परकृत नहीं। ऐसी स्थिति में दूसरों को इनका कारण समझ अपना आपा नहीं खोना चाहिए; समभाव रखना चाहिए। जो अपनी अविशिष्टताओं को समभावपूर्वक सहन करता है उसके विशिष्ट तप होता है और निर्जरा के साथ-साथ पुण्यकर्म का बंध होता है। आगम में कहा है : "मनुष्य सोचे यदि मैं इन दुःखों को सम्यक् रूप से सहन नहीं करता, क्षमा नहीं करता तो मुझे ही नये कर्मों का बंधन होगा। और यदि मैं इन्हें सम्यक् रूप से सहन करूंगा तो इससे मेरे कर्मों की सहज ही निर्जरा होगी[1]।"

नीचगोत्रकर्म के बंध-हेतुओं का विवेचन पहले किया जा चुका है[2]।

श्री हेमचन्द्र सूरिने इनका संकलन इस रूप में किया है :

परस्य निन्दावज्ञोपहासाः सद्गुणलोपनम्।
सदसद्दोषकथनमात्मनस्तु प्रशंसनम्॥
सदसगुणशंसा च, स्वदोषाच्छादनं तथा।
जात्यादिभिर्मदश्चेति, नीचैर्गोत्राश्रवा अमी॥
नीचैर्गोत्राश्रवविपर्यासो विगतगर्वता।
वाक्कायचित्तैर्विनय, उच्चैर्गोत्राश्रवा अमी॥[3]

गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है[4]।

चार अघाति कर्मों का विवेचन यहाँ सम्पूर्ण होता है।

१—ठाणाङ्ग ५.१.४०६

२—देखिए पृ० २२८ टि० २२

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : सप्ततत्त्वप्रकरणम् १०७-१०६

४—उत्त० ३३.२३ :

उदहीसरिसनामाणं वीसई कोडिकोडीओ।
नामगोत्ताणं उक्कोसा अट्ठ मुहुत्ता जहन्निया॥

पुण्य और पाप पदार्थ के विवेचन में कर्मों की मूल प्रकृतियों, उनकी उत्तरप्रकृतियों और उपभेदों का वर्णन आ चुका है। पाठकों की सुविधा के लिए नीचे उन्हें चुम्बक रूप से दिया जा रहा है :

मूल प्रकृतियाँ	उत्तर प्रकृतियाँ	पाप प्रकृतियाँ (साधारणतः मान्य)	पुण्य प्रकृतियाँ (साधारणतः मान्य)
१—ज्ञानावरणीय	५	५	×
२—दर्शनावरणीय	९	९	×
३—वेदनीय	२	१ (सात)	१ (असात)
४—मोहनीय	२८	२६	×
५—आयुष्य	४	१ (नरकायुष्य)	३ (देव, मनुष्य, तिर्यञ्च०[1])
६—नाम	४२	३४	३७
७—गोत्र	२	१ (नीच)	१ (उच्च)
८—अन्तराय[2]	५	५	×
	९७[3]	८२[4]	४२[5]

मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों में से सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वमोहनीय को पाप प्रकृतियों में नहीं लिया है। इसका कारण यह है कि जीव इनका स्वतन्त्र रूप से बंध नहीं करता। मिथ्यात्वमोहनीय की क्षीणता से ये उत्पन्न होती हैं। ये प्रकृतियाँ जीव के सत्ता रूप से विद्यमान रहती हैं पर उनका स्वतंत्र बंध न होने से इनको पाप प्रकृतियों में नहीं गिना है।

१—तत्त्वार्थसूत्र का मतभेद बताया जा चुका है पृ० ३३९

२—प्रज्ञापना २३·१ :

कत्तिणं भंते ! कम्मपगडीओ पगणत्ताओ ? गोयमा अट्ठ कम्मपगडीओ पगणत्ताओ

३—समवायाङ्ग सम० ९७ :

अट्ठण्हं कम्मपगडीणं सत्ताणउइ उत्तरपगडीओ पन्नत्ताओ

४—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण गा० ८ :

नाणंतरायदसगं दंसणनव मोहपयइछव्वीसं।
नामस्स चउत्तीसं, तिहन एक्केक पावाओ॥

५—वही ७ :

सायं उच्चागोयं, सत्तत्तीसं तु नामपगईओ।
तिन्नि य आऊणि तहा, बायालं पुन्नपगईओ॥

: ५ :

आस्रव पदार्थ

: ५ :

आश्रव पदारथ

दुहा

१—आश्रव पदारथ पांचमों, तिणनें कहीजे आश्रव दुवार।
ते करम आवरा छें बारणा, ते बारणा नें करम न्यार ॥

२—आश्रव दुवार तो जीव छें, जीव रा भला भूंडा परिणांम।
भला परिणांम पुन रा बारणा, भूंडा पाप तणा छें तांम ॥

३—केइ मूढ मिथ्याती जीवडा, आश्रव नें कहें छें अजीव।
त्यां जीव अजीव न ओलख्या, त्यांरे मोटीं मिथ्यात री नींव ॥

४—आश्रव तो निश्चेंइ जीव छें, श्री वीर गया छें भाख।
ठांम २ सिद्धांत में भाषीयो, ते सुणजो सूतर नीं साष ॥

५—हिवें पाप आवा नां बारणा, पेंहली कहूं छूं तांम।
ते जथातथ परगट करूं, ते सुणो राखे चित ठांम ॥ पा० ॥

ढाल : १

(विना रा भाव सुण सुण गुंजे)

१—ठांणा अंग सूतर रे मझार, कह्या छें पांच आश्रव दुवार।
ते दुवार छें माहा विकराल, त्यां में पाप आवे दगचाल ॥

: ५ :

आस्रव पदार्थ

दोहा

१—पाँचवाँ पदार्थ आस्रव है। इसको आस्रव-द्वार भी कहा जाता है। आस्रव कर्म आने के द्वार हैं। ये द्वार और कर्म भिन्न-भिन्न हैं[1]।

आस्रव की परिभाषा : आस्रव और कर्म भिन्न हैं।

२—आस्रव-द्वार जीव हैं क्योंकि जीव के भले-बुरे परिणाम ही आस्रव हैं। भले परिणाम पुण्य के और बुरे परिणाम पाप के द्वार हैं[2]।

पाप और पुण्य के आस्रव : अच्छे-बुरे परिणाम

३—कई मूर्ख मिथ्यात्वी जीव आस्रव को अजीव कहते हैं। उन्हें जीव-अजीव की पहचान नहीं। उनके मिथ्यात्व की गहरी नींव है।

आस्रव जीव है (दो० ३-४)

४—आस्रव निश्चय ही जीव है। श्री वीर ने ऐसा कहा है। सूत्रों में जगह-जगह ऐसी प्ररूपणा है। अब उन सूत्र-साखों को सुनो[3]।

५—अब मैं पहिले आस्रवों का—पाप आने के द्वारों का यथातथ्य वर्णन करता हूँ[4]। एकाग्र चित्त से सुनो।

ढालः १

१—स्थानाङ्ग सूत्र में पाँच आस्रव-द्वार कहे गये हैं। ये द्वार महा विकराल हैं। उनसे निरंतर पाप आते रहते हैं।

आस्रव-द्वार पाँच हैं

२—मिथ्यात इविरत नें कषाय, परमाद जोग छें ताय।
ए पांचूंई आश्रव दुवार छें तांम, निश्चें जीव तणा परिणांम॥

३—उंधो सरधें ते आश्रव मिथ्यात, उंधो सरधें जीव साख्यात।
तिण आश्रव नों रूंधण हारो, ते समकत संवर दुवारो॥

४—अत्याग भाव इविरत छें तांम, जीव तणा माठा परिणांम।
तिण इविरत नें देव निवार, ते व्रत छै संवर दुवार॥

५—नहीं त्याग्या छें ज्यां दरबां री, आसा वांछा लगे रही ज्यांरी।
ते इविरत जीव रा परिणांम, तिणनें त्याग्यां हुवें संवर आम॥

६—परमाद आश्रव छें तांम, ए पिण जीव रा मेला परिणांम।
परमाद आश्रव रूंधाय, जब अपरमाद संवर थाय॥

७—कषाय आश्रव छें आंम, जीव रा कषाय परिणांम।
तिण सूं पाप लागे छें आय, ते अकषाय सूं मिट जाय॥

८—सावद्य निरवद जोग व्यापार, ए पांचूंई आश्रव दुवार।
रूंधे भला भूंडा परिणांम, अजोग संवर तिणरो नांम॥

९—ए पाचूंइ आश्रव उघाड़ा दुवार, करम आवे यां दुवार मझार।
दुवार तो जीव नां परिणांम, त्यां सूं करम लागे छें तांम॥

२—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच आस्रव-द्वार हैं। ये पाँचों निश्चय ही जीव के परिणाम हैं[५]।

आस्रव-द्वारों के नाम

३—पदार्थों की अयथार्थ प्रतीति करना मिथ्यात्व आस्रव है। अयथार्थ प्रतीति साक्षात् जीव के ही होती है। मिथ्यात्व आस्रव का अवरोध करने वाला सम्यक्त्व संवर-द्वार है।

मिथ्यात्व आस्रव

४—अत्याग-भाव अविरति आस्रव है। अत्याग-भाव जीव के अशुभ परिणाम हैं। इस अविरति को निवारण करने वाली विरति संवर-द्वार है।

अविरति आस्रव (गा० ४-५)

५—जिन द्रव्यों का त्याग नहीं किया जाता है उनकी आशा-वांछा बनी रहती है। यह अविरति जीव का परिणाम है। इसके त्याग से संवर होता है।

६—प्रमाद आस्रव भी जीव का अशुभ परिणाम है। प्रमाद आस्रव के निरोध से अप्रमाद संवर होता है।

प्रमाद आस्रव

७—उसी तरह कषाय आस्रव जीव का कषाय रूप परिणाम है। कषाय आस्रव से पाप लगते हैं। अकषाय से मिट जाते हैं।

कषाय आस्रव

८—सावद्य निरवद्य योगों—व्यापारों को योग-आस्रव कहते हैं। अच्छे-बुरे परिणामों का अवरोध करना अयोग संवर है। इस प्रकार पाँच आस्रव-द्वार हैं[६]।

योग आस्रव

९—उपर्युक्त पाँचों आस्रव उन्मुक्त द्वार हैं, जिनसे कर्मों का आगमन होता है। ये पाँचों आस्रव-द्वार जीव के परिणाम हैं और इन परिणामों के कारण कर्म लगते हैं।

आस्रव-द्वारों का सामान्य स्वभाव

१०—यांरा ढांकणा संवर दुवार, आश्रव दुवार नां रूंधणहार।
नवा करम नां रोकणहार, ए पिण जीव रा गुण श्रीकार॥

११—इम हिज कह्यो चोथा अंग मझारो, पांच आश्रव नें संवर दुवारो।
आश्रव करमां रो करता उपाय, करम आश्रव सूं लागे छें आय॥

१२—उतराधेन गुणतीसमां माह्यों, पड़िकमणा रो फल बतायो।
व्रतां रा छिद्र ढंकायो, वले आश्रव दुवार रूंधायो॥

१३—उतरावेन गुणतीसमां माह्यों, पच्चक्खाण रो फल बतायो।
पचखांण सं आश्रव रूंधायो, आवता करम ते मिट जायो॥

१४—उतरावेन तीसमां रे माह्यों, जल नां आगम रूंधायो।
जब पांणी आवतो मिट जावे, ज्यूं आश्रव रूंध्यां करम नावें।

१५—उतराधेन उगणीसमां माह्यों, माठा दुवार ढांक्या कह्यां ताह्यो।
करम आवा नां ठांम मिटायो, जब पाप न लागे आयो॥

१६—ढांकीया कह्या आश्रव दुवार, जब पाप न बंधे लिगार।
कह्यों छें दशवीकालिक मझार, तीजा अधेन में आश्रव दुवार॥

१७—रूंधे पांचूंई आश्रव दुवार, ते भीषू मोटा अणगार।
ते तो दसवीकालिक मझार, तिहां जोय करो निस्तार॥

१०—आस्रव-रूपी उन्मुक्त द्वार को अवरुद्ध करने—बंद करनेवाले संवर द्वार हैं। आस्रव-द्वार को रूंधनेवाले और नए कर्मों के प्रवेश को रोकनेवाले उत्तम गुण जीव के ही हैं[७]। — आस्रव का प्रति-पक्षी संवर

११—इसी तरह चौथे अङ्ग में पाँच आस्रव और पाँच संवर-द्वार कहे हैं[८]। आस्रव कर्मों का कर्त्ता, उपाय है। कर्म आस्रव के द्वारा ही आकर लगते हैं। — पाँच पाँच आस्रव-संवर-द्वार

१२—उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में प्रतिक्रमण करने का फल व्रतों के छिद्र का रुंधन और आस्रव-द्वार का अवरोध होना बतलाया है[९]। — आस्रव-द्वार का वर्णन कहाँ-कहाँ है? उत्त० २९.११

१३—उसी सूत्र के उसी अध्ययन में प्रत्याख्यान का फल आस्रव का रुकना—नए कर्मों के प्रवेश का बंद होना बतलाया है[१०]। — उत्त० २९.१३

१४—उसी सूत्र के ३० वें अध्ययन में कहा है कि जिस तरह नाले को रोक देने से पानी का आना रुक जाता है उसी तरह आस्रव के रोक देने से नए कर्म नहीं आते[११]। — उत्त० ३०.५-६

१५—उसी सूत्र के १९ व अध्ययन में अशुभ द्वारों को रोकने का उपदेश है। कर्म आने के मार्ग को रोक देने से पाप नहीं लगता[१२]। — उत्त० १९.४४

१६—दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन में कहा है कि आस्रव-द्वार को बन्द कर देनेसे पाप कर्म जरा भी नहीं बंधते[१३]। तीसरे अध्ययन में भी आस्रव का उल्लेख है। — दशवैकालिक ४.९, ३.११

१७—जो पाँचों आस्रव-द्वारों का निरोध करता है वह भिक्षु महा अनगार है। यह उल्लेख भी दशवैकालिक सूत्र में है। इसका निश्चय सूत्र देखकर करो[१४]। — दशवैकालिक १०.५

१८—पेंहलां मनोजोग रूंवे ते सुध, पछे वचन काय जोग रूंध।
उतराधेन गुणतीसमां मांहि, आश्रव रूंधणा चाल्या छें ताहि॥

१९—पांच कह्यां छें अधर्म दुवार, ते तो प्रश्नव्याकरण मभार।
वले पांच कह्या संवर दुवार, यां दोयां रो घणों विसतार॥

२०—ठांणा अंग पांचमा ठांणा मांहिं, आश्रव दुवार पडिकमणो ताहिं।
पडिकम्यां पाछो रूंधाए दुवार, फेर पाप न लागे लिगार॥

२१—फूटी नाव रो दिष्टंत, आश्रव ओलखायो भगवंत।
भगोती तीजा सतक मभार, तीजे उदेसे छें विसतार॥

२२—वले फूटी नावा रे दिष्टंत, आश्रव ओलखायो भगवंत।
भगोती पेंहला सतक मभार, छट्ठे उदेसे छें विसतार॥

२३—ए तो कह्या छें आश्रव दुवार, वले अनेक छें सूतर मभार।
ते पूरा केम कहिवाय, सगला रो एकज न्याय॥

२४—आश्रव दुवार कह्या ठांम ठांम, ते तो जीव तणा परिणांम।
त्यांनें अजीव कहें मिथ्याती, खोटी सरधा तणा पखपाती॥

२५—करमां ने ग्रहे ते जीव दरब, ग्रहे तेहीज छें आश्रव।
ते जीव तणा परिणांम, त्यां सूं करम लागे छें तांम॥

१८—उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में क्रमशः मनोयोग, वचनयोग और काययोग आस्रव के रूँधने की बात आई है। वहाँ मन, वचन और काय के शुद्ध योगों के संवरण की बात है[१५]। — उत्त० २९.३७, ५३-५५.७२

१९—प्रश्नव्याकरण सूत्र में पाँच आस्रव-द्वार और पाँच संवर-द्वार कहे गये हैं और इन दोनों का वहां बहुत विस्तार से वर्णन है[१६]। — प्रश्नव्याकरण

२०—स्थानाङ्ग के ५वें स्थानक में आस्रव-द्वार-प्रतिक्रमण का उल्लेख है। प्रतिक्रमण कर लेने पर आस्रव-द्वार बन्द हो जाते हैं, जिससे फिर पाप-कर्म नहीं लगते[१७]। — स्थानाङ्ग ५.३.४६७

२१-२२-भगवान ने आस्रव को फूटी नौका का उदाहरण देकर समझाया है। इसका विस्तार भगवती सूत्र के तृतीय शतक के तृतीय उद्देशक तथा उसी सूत्र के पहिले शतक के छट्ठे उद्देशक में है[१८]। — भगवती ३.३; १.६

२३—और भी बहुत से सूत्रों में आस्रव-द्वार का वर्णन आया है। सबका एक ही न्याय है। यहाँ पूरा कैसे कहा जा सकता है[१९] ?

२४—आस्रव-द्वार का वर्णन जगह-जगह आया है। आस्रव जीव के परिणाम हैं। उनको जो अजीव कहते हैं वे मिथ्यात्वी हैं और खोटी श्रद्धा के पक्षपाती हैं[२०]। — आस्रव जीव कैसे है ?

२५—जो कर्मों को ग्रहण करता है वह जीव द्रव्य है। कर्म आस्रव के द्वारा ग्रहण होते हैं। ये आस्रव जीव के परिणाम हैं। जीव के परिणामों से कर्म ग्रहण होते हैं[२१]। — आस्रव जीव के परिणाम हैं

२६—जीव नें पुदगल रो मेल, तीजा दरब तणो नहीं भेल।
जीव लगावे जांण २, जब पुदगल लागे छें आंण॥

२७—तेहिज पुदगल छें पुन पाप, त्यांरो करता छें जीव आप।
करता तेहिज आश्रव जांणों, तिण में संका मूल म आंणों॥

२८—जीव छें करमा रो करता, सूतर में पाठ अपड़ता।
कह्यो पेंहला अंग मझारो, जीव करमां रो करतारो॥

२९—ते पेंहलो इज उदेसो संभालो, ए तो करता कह्यो त्रिहूं कालो।
जीव सरूप नों इधकार, तीन करणे कह्यों करतार॥

३०—करता तेहिज आश्रव तांम, जीव रा भला भूंडा परिणांम।
परिणांम ते आश्रव दुवार, ते जीव तणो व्यापार॥

३१—करता करणी हेतू नें उपाय, ए करमां रा करता कहाय।
यां सूं करम लागे छें आय, त्यां नें आश्रव कह्या जिण राय॥

३२—सावध करणी सूं पाप लागे, तिण सूं दुःख भोगवसी आगे।
सावध करणी नें कहें अजीव, ते तो निश्चें मिथ्याती जीव॥

३३—जोग सावध निरवद चाल्या, त्यांनें जीव दरब में घाल्या।
जोग आतमा कही छें तांम, जोग नें कह्या जीव परिणांम॥

२६—जीव और पुद्गल का संयोग होता है। तीसरे द्रव्य—और किसी द्रव्य का संयोग नहीं होता। जीव जब इच्छा कर पुद्गल लगाता है तब ही वे आकर लगते हैं।

जीव ही पुद्गलों को लगाता है।

२७—इस तरह जो ग्रहण किए हुए पुद्गल हैं, वे ही पुण्य या पाप रूप हैं। इन पुण्य और पाप कर्मों का कर्त्ता खुद जीव ही है और जो कर्त्ता है उसी को आस्रव समझो। इसमें जरा भी शंका मत लाओ[२२]।

ग्रहण किए हुए पुद्गल ही पुण्य-पाप रूप हैं

२८—जीव कर्मों का कर्त्ता है। इस सम्बन्ध में सूत्रों में अनेक पाठ मिलते हैं। पहिले अङ्ग में जीव को कर्मों का कर्त्ता कहा है।

जीव कर्त्ता है (२८-२९)

२९—पहिले अङ्ग के पहिले उद्देश में जीव-स्वरूप का वर्णन आया है। वहाँ पर जीव को तीनों कालों में कर्त्ता बताया गया है। वहाँ जीव को त्रिकरण से कर्त्ता कहा है।

३०—जीव के भले-बुरे परिणाम ही कर्मों के कर्त्ता हैं। ये परिणाम ही आस्रव-द्वार हैं। ये परिणाम जीव के व्यापार हैं।

जीव अपने परिणामों से कर्त्ता है

३१—कर्मों के कर्त्ता, कर्म की करनी, कर्म-ग्रहण के हेतु और उपाय ये चारों ही कर्मों के कर्त्ता कहलाते हैं। इनसे कर्म आकर लगते हैं इसलिए भगवान ने इन्हें आस्रव कहा है[२३]।

कर्त्ता, करनी, हेतु, उपाय चारों कर्त्ता हैं

३२—सावद्य करनी से पाप-कर्म लगते हैं, जिससे भविष्य में जीव को दुःख भोगना पड़ता है। सावद्य करनी को जो अजीव कहते हैं वे निश्चय ही मिथ्यात्वी जीव हैं।

योग जीव हैं (३२-३४)

३३—योग सावद्य और निरवद्य दो तरह के कहे गये हैं। उनकी गिनती जीव द्रव्य में की गई है। इसीलिए योग-आत्मा का कथन आया है। योगों को जीव-परिणाम कहा गया है।

३४—जोग छै ते जीव व्यापार, जोग छ तेहिज आश्रव दुवार।
आश्रव तेहिज जीव निसंक, तिण में मूल म जांणों संक॥

३५—लेस्या भली ने भूंडी चाली, त्यानें पिण जीव दरब में घाली।
लेस्या उदे भाव जीव छै तांम, लेस्या ते जीव परिणांम॥

३६—लेस्या करमां सूं आतम लेस, ते तो जीव तणा परदेस।
ते पिण आश्रव जीव निसंक, त्यांरा थानक कह्या असंख॥

३७—मिथ्यात इविरत नें कषाय, उदे भाव छें जीव रा ताय।
कषाय आतमा कही छें तांम, यांनें कह्या छें जीव परिणांम॥

३८—ए पांचूंई छें आश्रव दुवार, करम तणा करतार।
ए पांचूं छें जीव साख्यात, तिण में संका नहीं तिलमात॥

३९—आश्रव जीव तणा परिणांम, नवमें ठांणे कह्यों छें आंम।
जीवरा परिणाम छें जीव, त्यानें विकल कहें छें अजीव॥

४०—नवमें ठांणे ठांणा अंग मांहि, आश्रव करम ग्रहे छें ताहि।
करम ग्रहे ते आश्रव जीव, ग्राहीया आवे ते पुदगल अजीव॥

४१—ठांणा अंग दसमें ठांणे, दस बोल उंधा कुण जाणें।
उंधा जांणें तेहिज मिथ्यात, तेहिज आश्रव जीव साख्यात॥

३४—योग जीव के व्यापार हैं और योग ही आस्रव-द्वार हैं। इस तरह जो आस्रव हैं वे नि:शंक रूप से जीव हैं। इसमें जरा भी शंका मत करो[२४]।

३५—लेश्या शुभ और अशुभ कही गयी है। उन्हें भी जीव द्रव्य में शुमार किया गया है। लेश्या जीव का उदयभाव है अतः जीव है। लेश्या जीव का परिणाम है।

लेश्या जीव का परिणाम है (गा० ३५-३६)

३६—लेश्या आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है—अर्थात् जीव प्रदेशों को लिप्त करती है। यह भी आस्रव है—जीव है इसमें शंका नहीं। इसके असंख्यात स्थानक कहेग ये हैं[२५]।

३७—मिथ्यात्व, अव्रत और कषाय ये जीव के उदयभाव हैं। इसीलिए कषाय-आत्मा कही गयी है। इनको जीव-परिणाम कहा गया है[२६]।

मिथ्यात्वादि जीव के उदयभाव हैं

३८—ये योग आदि पाँचों आस्रव-द्वार हैं और कर्मों के कर्त्ता हैं। ये पाँचों ही साक्षात् जीव हैं। इसमें जरा भी शंका नहीं है[२७]।

योग आदि पाँचों आस्रव जीव हैं (गा० ३८-४८)

३९—आस्रव जीव के पारणाम हैं ऐसा स्थानाङ्ग के नवें स्थानक में कहा है। जीव के परिणाम जीव होते हैं; उन्हें अज्ञानी अजीव कहते हैं।

आस्रव जीव के परिणाम हैं (गा० ३९-४०)

४०—स्थानाङ्ग सूत्र के नवें स्थानक में जा कर्मों को ग्रहण करता है उसे आस्रव कहा है। जो कर्मों को ग्रहण करता है वह आस्रव जीव है। जो ग्रहण हो कर आते हैं वे पुद्गल अजीव हैं[२८]।

४१—स्थानाङ्ग सूत्र के दसवें स्थानक में दस बोल कहे हैं। उनको उल्टा श्रद्धना मिथ्यात्व आस्रव है। इन बोलों को उल्टा कौन श्रद्धता है ? जो उल्टा श्रद्धता है वह मिथ्यात्व आश्रव साक्षात् जीव है[२९]।

मिथ्यात्व आस्रव जीव है

४२—पांच आश्रव नें इविरत तांम, माठी लेस्या तणा परिणांम।
माठी लेस्या तो जीव छें ताय, तिणरा लषण अजीव किम थाय॥

४३—जीव न लषणा सूं पिछांणो, जीव रा लषण जीव जांणों।
जीव रा लषण नें अजीव थापे, ते तो वीर नां वचन उथापे॥

४४—च्यार सगन्या कही जिणराय, ते पिण पाप तणा छें उपाय।
पाप रो उपाय ते आश्रव, ते आश्रव जीव दरब॥

४५—भला नें भूंडा अधवसाय, त्यां नें आश्रव कह्या जिणराय।
भला सं तो लागे छें पुन, भूंडा सूं लागे पाप जबून॥

४६—आरत नें रुद्र ध्यांन, त्यांनें आश्रव कह्या भगवांन।
आश्रव पाप तणा छें दुवार, दुवार तेहिज जीव व्यापार॥

४७—पुन ने पाप आवानां दुवार, ते करम तणा करतार।
करमां रो करता आश्रव जीव, तिण नें कहें अग्यांनी अजीव॥

४८—जे आश्रव नें अजीव जांणें, ते पींपल बांधी मूरख ज्यूं तांणे।
करम लगावे ते आश्रव, ते निश्चेंई जीव दरब॥

४९—आश्रव नें कह्यों रुंधाणो, आ जिन जी रा मुख री वांणो।
ओं कीसो दरब रुंधाणो, कीसो दरब थिर थपाणो॥

४२—पाँच आस्रव और अविरति अशुभ लेश्या के परिणाम हैं। अशुभ लेश्या जीव है। उसके लक्षण अजीव कैसे हो सकते हैं[30]?

आस्रव अशुभ लेश्या के परिणाम हैं

४३—जीव की पहचान उसके लक्षणों से करो। जीव के लक्षणों को जीव समझो। जो जीव के लक्षणों को अजीव स्थापित करता है वह वीर के वचनों का उत्थापन करता है[31]।

जीव के लक्षण अजीव नहीं होते

४४—जिन भगवान ने चार सञ्ज्ञाएँ कही हैं। वे भी पाप आने की हेतु—उपाय हैं। पाप का उपाय आस्रव है और जो आस्रव है वह जीव द्रव्य है[32]।

संज्ञाएँ जीव हैं

४५—जिन भगवान ने शुभ और अशुभ इन दोनों अध्यवसायों को आस्रव कहा है। भले अध्यवसाय से पुण्य और बुरे अध्यवसाय से जघन्य पाप लगते हैं[33]।

अध्यवसाय आस्रव हैं

४६—आर्त्त और रौद्र ध्यान को भगवान ने आस्रव कहा है। आस्रव पाप कर्म आने के द्वार हैं और जो द्वार हैं वे जीव के व्यापार हैं[34]।

आर्त्त रौद्र ध्यान आस्रव हैं

४७—जो पुण्य और पाप आने के द्वार हैं-वे कर्मों के कर्त्ता हैं। कर्मों का कर्त्ता आस्रव जीव है। उसको अज्ञानी ही अजीव कहते हैं।

कर्मों के कर्त्ता जीव हैं (गा० ४७-४८)

४८—जो आस्रव को अजीव जानता है वह मूर्ख की तरह पीपल को बाँध कर खींचता है। जो कर्मों को लगाते हैं वे आस्रव हैं और वे निश्चय ही जीव द्रव्य हैं[35]।

४९—स्वयं भगवान ने अपने मुँह से आस्रव को रूँधना कहा है। आस्रव रूँधने से कौन सा द्रव्य रूँधता है और कौन-सा द्रव्य स्थिर होता है?

आस्रव-निरोध से क्या रुकता या स्थिर होता है?

५०—विपरीत तत्व कुण जांणें, कुण मांडें उलटी ताणे।
कुण हिंसादिक रो अत्यागी, कुण री वंछा रहे लागी॥

५१—सबदादिक कुण अभिलाखे, कषाय भाव कुण राखे।
कुण मन जोग रो व्यापारो, कुण चिन्तवे म्हारों थारो॥

५२—इंद्रयां नें कुण मोकली मेलें, सब्दादिक न कुण झेले।
इणनें मोकली मेले ते आश्रव, तेहिज छें जीव दरब॥

५३—मुख सूं कुण भूंडो बोले, काया सूं कुण माठो डोले।
ए जीव दरब नों व्यापार, पुदगल पिण वरते छें लार॥

५४—जीव रा चलाचल परदेस, त्यांनें थिर थापे दिढ करेस।
जब आश्रव दरब रूंधाणो, तब तेहिज संवर थपाणो॥

५५—चलाचल जीव परदेस, सारा परदेसां करम प्रवेस।
सारा परदेसां करम ग्रहता, सारा परदेसां करमां रा करता॥

५६—त्यां परदेसां रो थिर करणहार, तेहिज संवर दुवार।
अथिर परदेस ते आश्रव, ते निश्चेंई जीव दरब॥

५७—जोग परिणांमीक नें उदे भाव, त्यांनें जीव कह्या इण न्याव।
अजीव तो उदे भाव नांहीं, ते देखलो सूतर मांहीं॥

५०—तत्त्व को विपरीत कौन जानता है और कौन उल्टी—मिथ्या खींचतान करता है? हिंसा आदि का अत्यागी कौन होता है? किसके आशा-वांछा लगी रहती है?

मिथ्या श्रद्धान आदि आश्रव जीव के होते हैं अतः जीव हैं (गा० ५०-५३)

५१—शब्दादिक भोगों की अभिलाषा कौन करता है? कषाय भाव कौन रखता है? मनोयोग किसके होता है? और कौन अपनी और परायी सोचता है?

५२—इन्द्रियों को कौन प्रवृत्त करता है, शब्दादिक को कौन ग्रहण करता है? इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति आस्रव है और जो आस्रव है वह जीव द्रव्य है।

५३—मुख से कौन बुरा बोलता है? शरीर से कौन बुरी क्रियाएँ करता है? ये सब कार्य जीव द्रव्य के ही व्यापार हैं और पुद्गल इनके अनुगामी हैं[३६]।

५४—जीव के प्रदेश चलाचल (चंचल) हैं। उनको दृढ़तापूर्वक स्थिर करने से आस्रव द्रव्य का निरोध होता है। और तभी संवर द्रव्य कायम होता है।

आस्रव का निरोध: संवर की उत्पत्ति

५५—जीव के प्रदेश चलाचल (चंचल) होते हैं। सर्व प्रदेशों से कर्मों का प्रवेश होता है। सर्व प्रदेश कर्म ग्रहण करते हैं। सर्व प्रदेश कर्मों के कर्त्ता हैं।

सर्व प्रदेश कर्मों के कर्त्ता हैं

५६—इन प्रदेशों को स्थिर करने वाला ही संवर-द्वार है। अस्थिर प्रदेश आस्रव हैं और वे निश्चय ही जीव द्रव्य हैं[३७]।

संवर और आस्रव में अन्तर

५७—योग पारिणामिक और उदयभाव है इसीलिए योग को जीव कहा है। अजीव तो उदयभाव नहीं होता, यह सूत्र में जगह-जगह देखा जा सकता है[३८]।

योग जीव कैसे?

५८—पुन निरवद जोगां सूं लागे छें आय, ते करणी निरजरा रो छें ताय।
पुन सहजां लागे छें आय, तिण सूं जोग छें आश्रव मांय॥

५६—जे जे संसार नां छें कांम, त्यांरा किण २ रा कहूं नांम।
ते सगला छें आश्रव तांम, ते सगला छें जीव परिणांम॥

६०—करमां ने लगावें ते आश्रव, तेहिज छें आश्रव जीव दरब।
लागे ते पुदगल अजीव, लगावें ते निश्चेंई जीव॥

६१—करमां रो करता जीव दरब, करतापणो तेहिज आश्रव।
कीधा हूआ ते करम कहिवाय, ते तो पुदगल लागे छें आय॥

६२—ज्यांरे गूढ मिथ्यात अंधारो, ते नहीं पिछांणे आश्रव दुवारो।
त्यांनें संवली तो मूल न सूझे, दिन २ इधक अलूझे॥

६३—जीव रे करम आडा छें आठ, ते लग रह्या पाटानुपाट।
ज्यांमें घातीया करम छें च्यार, मोष मारग रोकणहार॥

६४—ओर करमां सूं जीव ढंकाय, मोह करम थकी विगडाय।
विगड्यो करें सावद्य व्यापार, तेहिज आश्रव दुवार॥

६५—चारित मोह उदे मतवालो, तिण सूं सावद्य रो न हुवे टालो।
सावद्य रो सेवणहारो, तेहिज आश्रव दुवारो॥

५८—पुण्य का आगमन निरवद्य योग से होता है। निरवद्य करनी निर्जरा की हेतु है। पुण्य तो सहज ही आकर लगते हैं। इसलिए योग को आस्रव में डाला है[३९]। — योग आस्रव कैसे ?

५९—संसार के जो काम हैं वे सब आस्रव हैं—जीवों के परिणाम हैं। इनकी क्या गिनती कराऊँ[४०] ? — सर्व कार्य आस्रव

६०—कर्मों को लगानेवाला पदार्थ आस्रव है और आस्रव जीव द्रव्य है। जो आकर लगते हैं वे अजीव कम-पुद्गल हैं। और जो कर्म लगाता है वह निश्चय ही जीव है। — कर्म, आस्रव और जीव (गा० ६०-६१)

६१—कर्मों का कर्त्ता जीव द्रव्य है। यह कर्म-कर्तृत्व ही आस्रव है। जो किए जाते हैं वे कर्म कहलाते हैं। वे पुद्गल हैं, जो आ-आ कर लगते हैं[४१]।

६२—जिनके गाढ़ मिथ्यात्व का अंधेरा है वे आस्रव-द्वार को नहीं पहचानते। उनको बिलकुल ही सुलटा नहीं दीखता। वे दिन-दिन अधिक उलझते जाते हैं। — मिथ्यात्वी को आस्रव की पहचान नहीं होती

६३—जीव को आठ कर्म घेरे हुए हैं। वे प्रवाह रूप से जीव के अनादि काल से लगे हुए हैं। उनमें चार कर्म घातिय कर्म हैं, जो मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं होने देते। — मोहकर्म के उदय से होनेवाले सावद्य कार्य योग आस्रव हैं (गा० ६३-६५)

६४—अन्य कर्मों से तो जीव आच्छादित होता है परन्तु मोहकर्म से जीव बिगड़ता है। बिगड़ा हुआ जीव सावद्य व्यापार करता है। वे ही आस्रव-द्वार हैं।

६५—चारित्र मोह के उदय से जीव मतवाला हो जाता है जिससे सावद्य कार्यों से अपना बचाव नहीं कर सकता। जो सावद्य कार्यों का सेवन करने वाला है वही आस्रव-द्वार है[४२]।

६६—दंसण मोह उदे सरधें उंधो, हाथे मारग न आवें सुधो।
उंधी सरधा रो सरदणहारो, ते मिथ्यात आश्रव दुवारो॥

६७—मूढ कहें आश्रव नें रूपी, वीर कह्यों आश्रव नें अरूपी।
सूतरां में कह्यों ठाम ठाम, आश्रव नें अरूपी तांम॥

६८—पांच आश्रव नें इविरत तांम, माठी लेस्या तणा परिणांम।
माठी लेस्या अरूपी छें ताय, तिणरा लषण रूपी किम थाय॥

६९—उजला नें मेला कह्या जोग, मोह करम संजोग विजोग।
उजला जोग मेला थाय, करम भरीयां उजल होय जाय॥

७०—उत्तराधेन गुणतीसमां मांय, जोगसच्चे कह्यों जिणराय।
जोगसच्चे निरदोष में चाल्या, त्यां नें साधां रा गुण मांहें घाल्या॥

७१—साधां रा गुण छें सुध मांन, त्यांनें अरूपी कह्या भगवांन।
त्यां जोग आश्रव नें रूपी थाप्या, त्यां वीर नां वचन उथाप्या॥

७२—ठांणा अंग तीजा ठांणा मभार, जोग वीर्य रो व्यापार।
तिण सूं अरूपी छें भाव जोग, रूपी सरधे ते सरधा अजोग॥

७३—जोग आतमा जीव अरूपी, त्यां जोगां नें मूढ कहे रूपी।
जोग जीव तणा परिणांम, ते निश्चें अरूपी छें तांम॥

६६—दर्शन मोह के उदय से जीव विपरीत श्रद्धा करता है। उसके सच्चा मार्ग हाथ नहीं आता। विपरीत श्रद्धा करने वाला ही मिथ्यात्व आस्रव-द्वार है[४३]।

मिथ्यात्व का कारण दर्शन मोहनीय कर्म

६७—मूर्ख आस्रव को रूपी कहते हैं। भगवान वीर ने आस्रव को अरूपी कहा है। सूत्रों में जगह-जगह आस्रव को अरूपी कहा है।

आस्रव अरूपी है

६८—पाँच आस्रव और अव्रत को अशुभ लेश्या का परिणाम कहा है। अशुभ लेश्या अरूपी है। उसके लक्षण रूपी किस तरह होंगे ?

अशुभ लेश्या के परिणाम रूपी नहीं हो सकते

६९—मोह कर्म के संयोग-वियोग से योग क्रमशः उज्ज्वल या मैले कहे गये हैं। मोह कर्म के संयोग से उज्ज्वल योग मलिन हो जाते हैं। कर्मों की निर्जरा से अशुभ योग उज्ज्वल हो जाते हैं।

महकर्म के संयोग-वियोग से कर्म उज्जल मलिन

७०—उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में जिन भगवान ने 'योग सत्य' का उल्लेख किया है। 'योग सत्य' निर्दोष है। उसको साधुओं के गुणों के अन्तर्गत किया है।

योग सत्य

७१—साधुओं के गुणों को शुद्ध मानो। उनको भगवान ने अरूपी कहा है। जिसने योग आस्रव को रूपी स्थापित किया है उसने वीर के वचनों को उत्थापित किया है।

योग आस्रव अरूपी है (गा० ७१-७३)

७२—भावयोग वीर्य का ही व्यापार है इसलिए अरूपी है। स्थानाङ्ग सूत्र के तृतीय स्थानक में ऐसा कहा है। उसे जो रूपी श्रद्धता है उसकी श्रद्धा अयथार्थ है।

७३—योग आत्मा जीव है। अरूपी है। उन योगों को मूढ़ रूपी कहते हैं। योग जीव के परिणाम हैं और परिणाम निश्चय ही अरूपी हैं[४४]।

७४—आश्रव जीव सरधावण ताय, जोड़ कीधीं छें पाली मांय
संवत अठारे पंचावना मझार, आसोज सुद बारस रिववार ॥

७४—आस्रव को जीव श्रद्धाने के लिये यह जोड़ पाली शहर में सं० १८५५ की आश्विन सुदी द्वादशी रविवार को की है। रचना-संवत्

टिप्पणियाँ

१—आस्रव पदार्थ और उसका स्वभाव (दो० १)

इस दोहे में चार बातें कही गयी हैं :

(१) पाँचवाँ पदार्थ आस्रव है ।

(२) आस्रव पदार्थ को आस्रव-द्वार कहते हैं ।

(३) आस्रव कर्म आने का द्वार है ।

(४) आस्रव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं—एक नहीं ।

नीचे इन बातों पर क्रमशः प्रकाश डाला जाता है :

(१) पाँचवाँ पदार्थ आस्रव है : श्वेताम्बर आगमों में नौ सद्भाव पदार्थों को गिनाते समय पाँचवें स्थान पर आस्रव का नामोल्लेख है[1] । दिगम्बर आचार्यों ने भी नौ पदार्थों में पाँचवें स्थान पर इस पदार्थ का उल्लेख किया है[2] । इस तरह श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों इस पदार्थ को स्वीकार करते हैं । जिस तरह तालाब में जल होने से यह सहज ही सिद्ध होता है कि उसके जल आने का मार्ग भी है वैसे ही संसारी जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध मानने लगने के बाद उन कर्मों के आने का मार्ग भीं होना ही चाहिए, यह स्वयंसिद्ध है । कर्मों के आने का हेतु-मार्ग आस्रव पदार्थ है । इसीलिए आगम में कहा है : "मत विश्वास करो कि आस्रव नहीं है पर विश्वास करो कि आस्रव है[3] ।"

(२) आस्रव पदार्थ को आस्रव-द्वार कहते हैं: स्थानाङ्ग तथा समवायाङ्ग में आस्रव-द्वार

१—(क) उत्त० २८.१४

(ख) ठाणाङ्ग ९.३.६६५

२—(क) पञ्चास्तिकाय १०८

(ख) द्रव्यसंग्रह २.२८

३—सुयगडं २.५. १७ :

णत्थि आसवे संवरे वा णेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि आसवे संवरे वा एवं सन्नं निवेसए ॥

शब्द मिलता है[1] । अन्य आगमों में भी यह शब्द पाया जाता है[2] । स्वामीजी कहते हैं—"आस्रव-द्वार शब्द आस्रव पदार्थ का ही द्योतक और उसका पर्यायवाची है । आस्रव पदार्थ अर्थात् वह पदार्थ जो आत्म-प्रदेशों में कर्मों के आने का द्वार हो—प्रवेश-मार्ग हो ।"

(३) आस्रव कर्म आने का द्वार है : जिस तरह कूप में जल आने का मार्ग उसके अन्तः स्रोत होते हैं, नौका में जल-प्रवेश के निमित्त उसके छिद्र होते हैं और मकान में प्रवेश करने का साधन उसका द्वार होता है उसी तरह जीव के प्रदेशों में कर्म के आगमन का मार्ग आस्रव पदार्थ है। कर्मों के प्रवेश का हेतु—उपाय—साधन—निमित्त होने से आस्रव पदार्थ को आस्रव-द्वार कहा जाता है[3] ।

(४) आस्रव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं—एक नहीं : जिस तरह छिद्र और उससे प्रविष्ट होनेवाला जल एक नहीं होता, जिस तरह द्वार और उससे प्रविष्ट होनेवाले प्राणी पृथक् होते हैं वैसे ही आस्रव और कर्म एक नहीं पृथक्-पृथक् हैं । आस्रव कर्मागमन का हेतु है । और जो आगमन करते—आते हैं वे जड़ कर्म हैं । कर्म इसलिए कर्म है कि वह जीव द्वारा मिथ्यात्वादि हेतुओं से किया जाता है । हेतु इसलिए हेतु हैं कि इनसे जीव कर्मों को करता है—उन्हें आत्म-प्रदेशों में ग्रहण करता है[4] । आस्रव साधन हैं और कर्म कार्य । आस्रव जीव के परिणाम या उसकी क्रियाएँ हैं और कर्म उसके फल । श्री हेमचन्द्र सूरि लिखते हैं : "जो कर्म-पुद्गलों के ग्रहण का हेतु है वह आस्रव कहा जाता है । जो ग्रहण होते हैं वे ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म हैं[5] ।" (इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए पृ० २९२-२९६)

१—(क) ठाणाङ्ग ५.२. ४१८
(ख) समवायाङ्ग सम० ५

२—(क) प्रश्नव्याकरण प्र० श्रु०
(ख) उत्त० २९.१३

३—समवायाङ्ग सम० ५ टीका :
आस्रवद्वाराणि—कर्मोपदानोपाया......संवरस्य कर्मानुपादानस्य द्वाराणि उपायाः संवरद्वाराणि

४—प्रथम कर्मग्रन्थ १ :
कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं

५—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः सप्ततत्त्वप्रकरणम् गा० ६२ :
यः कर्मपुद्गलादानहेतुः प्रोक्तः स आश्रवः ।
कर्माणि चाष्टधा ज्ञानावरणीयादि भेदतः ॥

२—आस्रव शुभ-अशुभ परिणामानुसार पुण्य अथवा पाप का द्वार है (दो०२) :

इस दोहे में दो बातें कही गई हैं :

(१) जीव के परिणाम आस्रव हैं।

(२) भले परिणाम पुण्य के आस्रव हैं और बुरे परिणाम पाप के।

नीचे क्रमशः इन सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है :

(१) जीव के परिणाम आस्रव हैं : जिस तरह नौका में जल भरता है उसका कारण नौका का छिद्र है और मकान में मनुष्य प्रविष्ट होता है उसका कारण मकान का द्वार है वैसे ही जीव के प्रदेशों में कर्म के आगमन हेतु उसके परिणाम हैं। जीव के परिणाम ही आस्रव-द्वार हैं। परिणाम का अर्थ है मिथ्यात्व, प्रमाद आदि भाव जिनमें जीव परिणमन करता है।

(२) भले परिणाम पुण्य के आस्रव हैं और बुरे परिणाम पाप के : जीव जिन भावों में परिणमन करता है वे शुभ या अशुभ होते हैं। शुभ भाव पुण्य के आस्रव हैं और अशुभ परिणाम पाप के। जिस तरह सर्प द्वारा ग्रहण किया हुआ दूध विष रूप में परिणत होता है और मनुष्य द्वारा ग्रहण किया हुआ दूध पौष्टिक सत्त्व के रूप में, उसी तरह बुरे परिणामों से आत्मा में स्रवित कर्मवर्गणा के पुद्गल पाप रूप में परिणमन करते हैं और भले परिणामों से आत्मा में स्रवित कर्मवर्गणा के पुद्गल पुण्य रूप में।

श्री हेमचन्द्रसूरि ने इस विषय का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। वे लिखते हैं : "मन-वचन-काय की क्रिया को आस्रव कहते हैं। शुभ आस्रव शुभ—पुण्य का हेतु है और अशुभ आस्रव अशुभ—पाप का हेतु। चूंकि जीव के मन-वचन-काय के क्रिया-रूप योग शुभाशुभ कर्म का स्राव करते हैं अतः वे आस्रव कहलाते हैं। मैत्र्यादि भावनाओं से वासित चित्त शुभ कर्म उत्पन्न करता है और कषाय तथा विषय से वासित चित्त अशुभ कर्म। श्रुतज्ञानाश्रित सत्यवचन शुभ कर्म उत्पन्न करता है और उससे विपरीत वचन अशुभ कर्म। इसी तरह सुगुप्त शरीर से जीव शुभ कर्म ग्रहण करता है और निरन्तर आरंभवाला जीव-हिंसक काया के द्वारा अशुभ कर्म[१]।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : सप्ततत्त्वप्रकरणम् ५६—६० :

मनोवचनकायानां, यत्स्यात् कर्म स आश्रवः।
शुभः शुभस्य हेतुः स्यादशुभस्त्वशुभस्य सः॥
मनोवाक्कायकर्माणि, योगाः कर्म शुभाशुभम्।
यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्तिताः॥
मैत्र्यादिवासितं चेतः, कर्म सूते शुभात्मकम्।
कषायविषयाक्रान्तं, वितनोत्यशुभं पुनः॥
शुभार्जनाय निर्मिथ्यं, श्रुतज्ञानाश्रितं वचः।
विपरीतं पुनर्ज्ञेयमशुभार्जनहेतवे॥
शरीरेण सुगुप्तेन, शरीरी चिनुते शुभम्।
सततारम्भिणा जन्तुघातकेनाशुभं पुनः॥

३—आस्रव जीव है (दो० २-४) :

इन दोहों में दो बातें कही गयी हैं :

(१) आस्रव जीव है, अजीव नहीं।

(२) आस्रव को अजीव मानना मिथ्यात्व है।

इन दोनों पर नीचे क्रमशः प्रकाश डाला जाता है :

(१) **आस्रव जीव है :** पहले बताया जा चुका है कि आस्रव जीव-परिणाम हैं। जीव-परिणाम जीव से भिन्न नहीं, जीव ही है अतः आस्रव जीव है। जिस तरह नौका का छिद्र नौका से और मकान का द्वार मकान से पृथक् नहीं होता वैसे ही आस्रव जीव से भिन्न नहीं। आस्रव जीव है यह एक आंकिक सत्य है। इसे निम्न रूप में रखा जा सकता है :

आस्रव = जीव-परिणाम

जीव-परिणाम = जीव

∴ आस्रव = जीव

इस विषय में विस्तृत विवेचन बाद में दिया गया है।

(२) **आस्रव को अजीव मानना मिथ्यात्व है :** मुख्य पदार्थ दो हैं—एक जीव और दूसरा अजीव। नौ पदार्थ में अन्य सात की इन्हीं दो पदार्थों में परिगणना होती है। कई आस्रव को जीव पदार्थ के अन्तर्गत मानते हैं और कई अजीव पदार्थ के अन्तर्गत। स्वामीजी कहते हैं : "आस्रव सहज तर्क से जीव सिद्ध होता है। आगम में भी आस्रव को जीव कहा गया है। ऐसी परिस्थिति में आस्रव को अजीव मानना विपरीत श्रद्धान है—मिथ्यात्व है।" आगम में कहा है—जो जीव को अजीव श्रद्धता है वह मिथ्यात्वी है और जो अजीव को जीव श्रद्धता है वह मिथ्यात्वी है। अतः जीव होने पर भी आस्रव को अजीव मानना मिथ्यात्व है।

इस विषय का भी विस्तृत विवेचन बाद में दिया गया है।

४—ढाल का विषय (दो० ४-५) :

आस्रव जीव है या अजीव ? इस प्रश्न का समाधान ही प्रस्तुत ढाल का मुख्य विषय है। इन दोहों में स्वामीजी इसी प्रश्न के विवेचन करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इस चर्चा के पूर्व आस्रव के भेद और उनके सामान्य स्वरूप कथन की प्रतिज्ञा भी स्वामीजी ने यहाँ की है।

५—आस्रवों की संख्या (गा० १-२) :

आस्रव कितने हैं इस विषय में भिन्न-भिन्न प्रतिपादन मिलते हैं :

१—आचार्य कुन्दकुन्द के मत से आस्रव ४ हैं—(१) मिथ्यात्व आस्रव (२) अविरति आस्रव (३) कषाय आस्रव और (४) योग आस्रव[1] । श्री विनयविजयजी ने भी आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण करते हुए इन चार को ही आस्रव कहा है[2] ।

२—वाचक उमास्वाति के मत से आस्रव ४२ हैं—(१) पाँच इन्द्रियाँ, (२) चार कषाय (३) पाँच अव्रत (४) पचीस क्रियाएँ और (५) तीन योग[3] । अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने इसी पद्धति से आस्रव का निरूपण किया है[4] ।

३—आस्रव के भेद २० भी प्रसिद्ध हैं[5] : (१) मिथ्यात्व आस्रव (२) अविरति आस्रव (३) प्रमाद आस्रव (४) कषाय आस्रव (५) योग आस्रव (६) प्राणातिपात आस्रव (७) मृषावाद आस्रव (८) अदत्तादान आस्रव (९) मैथुन आस्रव (१०) परिग्रह आस्रव (११) श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव (१२) चक्षुरिन्द्रिय आस्रव (१३) घ्राणेन्द्रिय आस्रव (१) रसने-

---

१—समयसार ४.१६४-६५ :

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥

२—शांतसुधारस : आश्रव भावना ३ :

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगसंज्ञा– ।
श्चत्वारः सुकृतिभिराश्रवाः प्रदिष्टाः ॥

३—तत्त्वा० ६.१,२,६ :

कायवाङ्मनःकर्म योगः । स आस्रवः
अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पञ्चचतुःपञ्च पञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः

४—शांतसुधारस : आस्रव भावना ४ :

इन्द्रियाव्रतकषाययोगजाः । पंच पंचचतुरन्विताास्त्रयः ॥
पंचविंशतिरसत्क्रिया इति । नेत्रवेदपरिसंख्ययाऽप्यमी ॥

५—पचीस बोल : बोल १४ । इन २० आस्रवों का एक स्थल पर उल्लेख किसी आगम में देखने में नहीं आया । उनका आधार इस प्रकार दिया जा सकता है :

१-५ ठाणाङ्ग : ५.२.४१८; समवायाङ्ग सम० ५
६-१० प्रश्नव्याकरण : प्रथम श्रुतस्कंध अ० १-५
११-२० ठाणाङ्ग : १०.१.७०९

न्द्रिय आस्रव (१५) स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव (१६) मन आस्रव (१७) वचन आस्रव (१८) काय आस्रव (१९) भण्डोपकरण आस्रव और (२०) शुचिकुशाग्र मात्र का सेवनास्रव।

४—**स्वामीजी कहते हैं आस्रव पांच हैं :**

(१) मिथ्यात्व आस्रव

(२) अविरति आस्रव

(३) प्रमाद आस्रव

(४) कषाय आस्रव और

(५) योग आस्रव

इस कथन के लिए स्वामीजी ठाणाङ्ग का प्रमाण देते हैं। ठाणाङ्ग का पाठ इस प्रकार है : "**पंच आसवदारा प० तं मिच्छत्तं अविरई पमाओ कसाया जोगा।**" स्वामीजी का कथन समवायांग से भी समर्थित है। वहाँ भी ऐसा ही पाठ है—"**पंच आसवदारा पन्नता, तंजहा—मिच्छत्तं अविरई पमाया कसाय जोगा।**"

आगम के अनुसार स्वामीजी ने जिन मिथ्यात्व आदि को आस्रव कहा है, उन्हीं को उमास्वाति ने बंध-हेतु कहा है : "**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः (८.१)।**"

६—आस्रवों की परिभाषा (गा० ३-८) :

इन गाथाओं में स्वामीजी ने पांच आस्रवों की परिभाषा दी है और साथ ही संक्षेप में प्रत्येक आस्रव के प्रतिपक्षी संवर का भी स्वरूप बतलाया है। पाँचों आस्रवों की व्याख्या क्रमशः इस प्रकार है :

१—**मिथ्यात्व आस्रव :** उल्टी श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते हैं। (१) अधर्म को धर्म समझना; (२) धर्म को अधर्म समझना; (३) कुमार्ग को सन्मार्ग समझना; (४) सन्मार्ग को कुमार्ग समझना; (५) अजीव को जीव समझना; (६) जीव को अजीव समझना; (७) असाधु को साधु समझना; (८) साधु को असाधु समझना; (९) अमूर्त को मूर्त समझना और (१०) मूर्त को अमूर्त समझना—ये दस मिथ्यात्व हैं[१]।

अन्य आगम में कहा है—"ऐसी संज्ञा मत करो कि लोक-अलोक; जीव-अजीव; धर्म-अधर्म; बन्ध-मोक्ष; पुण्य-पाप; आश्रव-संवर; वेदना-निर्जरा; क्रिया-अक्रिया; क्रोध-मान;

१—ठाणाङ्ग १०.१.७३४

२—सुयगडं २.५.१२-२८

माया-लोभ; राग-द्वेष; चतुरन्त संसार; देव-देवी; सिद्धि-असिद्धि; सिद्धि का निज-स्थान; साधु-असाधु और कल्याण-पाप नहीं हैं, पर संज्ञा करो कि लोक-अलोक; जीव-अजीव आदि सब हैं[२]।" इस उपदेश से भिन्न दृष्टि का रखना मिथ्यात्व आश्रव है।

मिथ्यात्व पाँच प्रकार का कहा गया है। उनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है:

(१) **आभिग्रहिक मिथ्यात्व :** तत्त्व की परीक्षा किये बिना किसी सिद्धान्त को ग्रहण कर दूसरे का खण्डन करना;

(२) **अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व :** गुणदोष की परीक्षा किये बिना सब मंतव्यों को समान समझना;

(३) **संशयित मिथ्यात्व :** देव, गुरु और धर्म के स्वरूप में संदेह बुद्धि रखना;

(४) **आभिनिवेशिक मिथ्यात्व :** अपनी मान्यता को असत्य समझ लेने पर भी उसे पकड़े रहना और

(५) **अनाभोगिक मिथ्यात्व :** विचार और विशेष ज्ञान के अभाव में अर्थात् मोह की प्रबलतम अवस्था में रही हुई मूढ़ता।

आचार्य पूज्यपाद ने मिथ्यात्व के भेदों के सम्बन्ध में निम्न विचार दिये हैं—मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है :

(१) नैसर्गिक : दूसरे के उपदेश बिना मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों का अश्रद्धान रूप भाव नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है।

(२) परोपदेशपूर्वक : अन्य दर्शनी के निमित्त से होनेवाला मिथ्यादर्शन परोपदेशपूर्वक कहलाता है। यह क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक चार प्रकार का होता है[१]।

उमास्वाति ने इनको क्रमशः अनभिगृहीत और अभिगृहीत मिथ्यात्व कहा है[२]। इनका उल्लेख आगम में भी है[३]।

१—तत्त्वा० ८.१ सर्वार्थसिद्धि :

मिथ्यादर्शनं द्विविधम्; नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशाद् यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकम्। परोपदेश-निमित्तं चतुर्विधम्; क्रियाक्रियावाद्यज्ञानिकवैनयिकविकल्पात्।

२—तत्त्वा० ८.१ भाष्य :

तत्राभ्युपेत्यासम्यग्दर्शनपरिग्रहोऽभिगृहीतमज्ञानिकादीनां त्रयाणां त्रिषष्ठानां कुवादिशतानाम्। शेषमनभिगृहीतम्।

३—ठाणाङ्ग २.७०

आचार्य पूज्यपाद ने मिथ्यात्व के अन्य पाँच भेद भी बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं :

(१) यही है, इसी प्रकार का है इस प्रकार धर्म और धर्मी में एकान्तरूप अभिप्राय रखना 'एकान्त मिथ्यादर्शन' है। जैसे यह सब जगत परब्रह्म रूप ही है, या सब पदार्थ अनित्य ही हैं या नित्य ही हैं[1]।

(२) सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, केवली को कवलाहार मानना और स्त्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना 'विपर्यय मिथ्यादर्शन' है[2]।

यहाँ जो उदाहरण दिये हैं वे श्वेताम्बर-दिगम्बरों के मतभेद के सूचक हैं। श्वेताम्बरों की इन मान्यताओं को दिगम्बरों ने मिथ्यात्व रूप से प्रतिपादित किया है। इस मिथ्यात्व के सार्वभौम उदाहरण हैं जीव को अजीव समझना, अजीव को जीव समझना आदि (देखिए पृ० ३७३ टि० ६.१)।

(३) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिल कर मोक्षमार्ग हैं या नहीं इस प्रकार संशय रखना 'संशय मिथ्यादर्शन' है[3]।

(४) सब देवता और सब मतों को एक समान मानना 'वैनयिक मिथ्यादर्शन' है[4]।

(५) हिताहित की परीक्षा रहित होना 'अज्ञानिक मिथ्यादर्शन' है[5]।

मिथ्यात्व का अवरोध सम्यक्त्व से होता है। सम्यक्त्व का अर्थ है—सही दृष्टि, सम्यक् श्रद्धान। मिथ्यात्व आस्रव है। सम्यक्त्व संवर है। मिथ्यात्व से कर्म आते हैं। सम्यक्त्व से रुकते हैं।

मिथ्या श्रद्धान जीव करता है। अजीव नहीं कर सकता। मिथ्या श्रद्धा जीव का भाव—परिणाम है।

१—तत्त्वा० ८.१ सर्वार्थसिद्धि :

तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः "पुरुष एवेदं सर्वम्" इति वा नित्य एव वा अनित्य एवेति

२—वही :

सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः।

३—वही :

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्यतरपक्षापरिग्रहः संशयः।

४—वही :

सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्

५—वही :

हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्

२—**अविरति आस्रव :** अविरति अर्थात् अत्याग भाव। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि अठारह पाप, भोग-उपभोग वस्तुएँ तथा सावद्य कार्यों से विरत न होना—प्रत्याख्यानपूर्वक उनका त्याग करना अविरति है[1]।

आचार्य पूज्यपाद ने षट् जीवनिकाय और षट् इन्द्रियों की अपेक्षा से अविरति बारह प्रकार की कही है[2]।

अविरति जीव का अशुभ परिणाम है। अविरति का विरोधी तत्त्व विरति है। अविरति आस्रव है। विरति संवर है। विरति अविरति को दूर करती है।

जिन पाप पदार्थ अथवा सावद्य कार्यों का मनुष्य त्याग नहीं करता उनके प्रति उसकी इच्छाएँ खुली रहती हैं। उसकी भोगवृत्ति उनमुक्त रहती है। यह उनमुक्तता ही अविरति आस्रव है। त्याग द्वारा इच्छाओं का संवरण करना—उनकी उनमुक्तता को संयमित करना संवर है।

अविरति अत्यागभाव है और प्रमाद अनुत्साह भाव। अत्यागभाव और अनुत्साह-भाव को एक ही मान कोई कह सकता हैं कि दोनों में कोई अन्तर नहीं। इसका उत्तर देते हुए अकलङ्कदेव कहते हैं—"नहीं। ऐसा नहीं। दोनों एक नहीं है। अविरति के अभाव में भी प्रमाद रह सकता है। विरत भी प्रमादी देखा जाता है। इससे दोनों आस्रव अपने स्वभाव से भिन्न हैं[3]।"

३—**प्रमाद आस्रव :** स्वामीजी ने इस आस्रव की परिभाषा आलस्यभाव—धर्म के प्रति अनुत्साह का भाव किया है। आचार्य पूज्यपाद ने भी ऐसी ही परिभाषा दी है—"स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः" कुशल में अनादरभाव प्रमाद है।

१—तत्त्व० ७.१; ८.१ सर्वार्थसिद्धि :
तेभ्यो विरमणं विरतिर्व्रतमित्युच्यते। व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः इदं कर्त्तव्यमिदं न कर्त्तव्यमिति वा। तत्प्रतिपक्षभूता अविरतिर्ग्राह्या।

२—(क)तत्त्वा० ८.१ सर्वार्थसिद्धि :
अविरतिर्द्वादशविधा; षट्कायषट्करणविषयभेदात्।
(ख)तत्त्वार्थवार्तिक ८.१.२९ :
पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायचक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शननोइन्द्रियेषु हननासंयमाविरतिभेदात् द्वादशविधा अविरतिः

३—तत्त्वार्थवार्तिक १.८.३१ :
अविरते प्रमादस्य चाऽविशेष इति चेत्; न; विरतस्यापि प्रमाददर्शनात्।

प्रमाद के भेदों पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है : "शुद्धयष्टक और उत्तम क्षमा आदि विषयक भेद से प्रमाद अनेक प्रकार का है[1]।" श्री अकलङ्कदेव ने इसी बात को पल्लवित करते हुए लिखा है : "भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयन, आसन, प्रतिष्ठापन और वाक्यशुद्धि आत्मक आठ संयम तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, शौच, सत्य, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य आदि इन दस धर्मों में अनुत्साह या अनादर का भाव प्रमाद है। इस तरह यह प्रमाद अनेक प्रकार का है[2]।"

आचार्य उमास्वाति ने कुशल में अनादर के साथ-साथ 'स्मृति-अनवस्थान' और 'योग-दुष्प्रणिधान' को भी प्रमाद का अङ्ग माना है[3]। योगों की दुष्प्रवृत्ति क्रिया रूप होने से प्रमादास्रव में उसका समावेश उचित नहीं लगता; क्योंकि इससे प्रमादास्रव और योगास्रव में भेद नहीं रह पाता।

मद, निद्रा, विषय, कषाय, विकथादि को भी प्रमाद कहा जाता है। पर यहाँ प्रमाद का अर्थ आत्म-प्रदेशवर्ती अनुत्साह है; मद, निद्रा, आदि नहीं। क्योंकि क्रिया रूप मद आदि मन-वचन-काय योग के व्यापार रूप हैं। योगजनित कार्यों का समावेश योग आस्रव में होता है, प्रमाद आस्रव में नहीं। श्री जयाचार्य लिखते हैं :

अप्रमाद संवर आवा न दे, जे कर्म उदय थी ताय।
अणउछाह आलस भाव ने जी, ते तीजो आस्रव जणाय ॥
मन वचन काया रा व्यापार स्यूं जी, तीजो आस्रव जूदो जणाय।
जोग आस्रव छै पांचमो जी, प्रमाद तीजो ताहि ॥
असंख्याता जीवरा प्रदेश में अणउछापणो अधिकाय।
ते दीसें तीनूं जोगा स्यूं जुदोजी, प्रमाद आस्रव ताय ॥
मद विषय कषाय उदीरनें जी, भाव नींद ने विकथा ताय।
ए पांचू जोग रूप प्रमाद छै जी, तिण स्यूं जोग आस्रव में जणाय[4] ॥

१—तत्त्वा० ८.१ सर्वार्थसिद्धि :

प्रमादोऽनेकविधः, शुद्धयष्टकोत्तमक्षमादिविषयभेदात्

२—तत्त्वार्थवार्तिक ८.१.३० :

भावकाय...वाक्यशुद्धिलक्षणाष्टविधसंयम—उत्तमक्षमा... ब्रह्मचर्यादिविषयानुत्साह-भेदादनेकविधः प्रमादोऽवसेयः

३—तत्त्वा० ८.१

प्रमादःस्मृत्यनवस्थानं कुशलेष्वनादरो योगदुष्प्रणिधानं चैव प्रमादः।

४—झीणीचर्चा ढा० २२.२८-३०.३३

प्रमाद जीव का परिणाम है। प्रमाद का रूंधन करने से अप्रमाद होता है। प्रमाद आस्रव है। अप्रमाद संवर। अप्रमाद-संवर प्रमाद-आस्रव को अवरुद्ध करता है।

४—**कषाय आस्रव :** जीव के क्रोधादि रूप परिणाम को कषाय आस्रव कहते हैं। क्रोधादि करना कषाय आस्रव नहीं है। क्रोधादि करना योगों की प्रवृत्ति रूप होने से योग आस्रव में आता है। इस विषय में श्री जयाचार्य का निम्न विवेचन द्रष्टव्य है :

> **क्रोध स्यूं बिगड्या प्रदेश नें जी, ते आस्रव कहिये कषाय।**
> **आय लागै तिके अशुभ कर्म छै जी, बुद्धिवंत जाणै न्याय॥**
> **उदेरी क्रोध करै तसुजी, अशुभ योग कहिवाय।**
> **निरंतर बिगड्या प्रदेश ने जी, कहिये आस्रव कषाय॥**
> **नवमे अष्टम गुणठाण छै जी, शुभ लेश्या शुभ जोग।**
> **पिण क्रोधादिक स्यूं बिगड्या प्रदेश नें जी, कषाय आस्रव प्रयोग॥**
> **लाल लोह तप्त अगनी थकी जी, काढ्या संडासा स्यूं बार।**
> **थोड़ी बेल्यां स्यूं लालपणो मिट्योजी, तातपणो रह्यो लार॥**
> **ते लोह श्याम वर्ण थयो जी, पिण ते तप्तपणा ने प्रभाव।**
> **रूइरो फूवो म्हेलै ऊपरे जी, ते भस्म होवै ते प्रस्ताव॥**
> **तिम लालपणो अशुभ योग नो, नहीं सातमा थी आगे ताहि।**
> **ते पिण क्रोधादिक ना उदय थकी जी, तप्त रूप ज्यू आस्रव कषाय॥**
> **क्रोध मान माया लोभ सर्वथा जी, उपशमाया इग्यारमें गुण ठाण।**
> **उदय नो किरतब मिट गयो जी, जब अकषाय संवर जाण[1]॥**

इसका भावार्थ है—"जो उदीर कर क्रोध करता है उसके अशुभ योग होता है। प्रदेशों का निरंतर कषाय-कलुषित होना कषाय आस्रव है। नवें, आठवें गुणस्थान में शुभ लेश्या और शुभ योग होते हैं पर वहाँ अकषाय आस्रव कहा गया है। इसका कारण क्रोधादि से कलुषित आत्म-प्रदेश हैं। अग्नि में तपते हुए लाल लोहे को यदि संडास से बाहर निकाल लिया जाता है तो कुछ समय बाद उसकी ललाई तो दूर हो जाती है पर उष्णता बनी ही रहती है। लोहे के पुनः श्याम वर्ण हो जाने पर भी उस पर रखा हुआ रूई का फूहा उष्णता के कारण तुरन्त भस्म हो जाता है। उसी तरह क्रोधादि योगों का रक्तभाव सातवें गुणस्थान से आगे नहीं जाता पर क्रोधादि के उदय से आत्म-प्रदेशों

1—**झीणीचर्चा ढा० २२.११–१७,२७**

में जो उष्णता का भाव विद्यमान रहता है वह कषाय आस्रव है। ग्यारहवें गुणस्थान में क्रोधादि का उपशम हो जाने से जब उदय का कर्त्तव्य दूर हो जाता है तब अकषाय संवर होता है।"

यदि कोई कहे कि कषाय और अविरति में कोई अन्तर नहीं क्योंकि दोनों ही हिंसादि के परिणाम रूप हैं तो यह कहना अनुचित होगा। श्री अकलङ्कदेव कहते हैं "दोनों को एक मानना ठीक नहीं क्योंकि दोनों में कार्य-कारण का भेद है। कषाय कारण है और प्राणातिपात आदि अविरति कार्य है[1]।"

कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी अकषाय संवर है। कषाय से कर्म आते हैं। संवर से रुकते हैं।

५—योग आस्रव : मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति को योग कहते हैं। मन, वचन और काय से कृत, कारित और अनुमति रूप प्रवृत्ति योग है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय आस्रव प्रवृत्ति रूप नहीं भाव रूप हैं, योग प्रवृत्ति रूप है। योग से आत्म-प्रदेशों में स्पन्दन होता है, मिथ्यात्व आदि में वैसी बात नहीं।

मन-वचन-काय के कर्म शुभ और अशुभ दो तरह के होते हैं। अशुभ कर्म योगास्रव के अन्तर्गत आते हैं और उनसे पाप का आस्रव होता है। शुभयोग निर्जरा के हेतु हैं। उनसे कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा के साथ-साथ पुण्य का आस्रव होता है। इस दृष्टि से निर्जरा के हेतु शुभ योगों को भी योगास्रव में समझा जाता है। श्री जयाचार्य लिखते हैं :

शुभ योगां ने सोय रे, कहिये आश्रव निर्जरा।
तास न्याय अवलोय रे, चित्त लगाई सांभलो॥
शुभ जोगां करी तास रे, कर्म कटे तिण कारणे।
कही निर्जरा जास रे, करणी लेखे जाणवी॥
ते शुभ जोग करीज रे, पुराय बंधे तिण कारणे॥
आश्रव जास कहीज रे, वारूं न्याय विचारिये॥

१—तत्त्वार्थवार्तिक ८.१.३३ : कषायाऽविरत्योरभेद इति चेत्; न; कार्यकारणभेदोपपत्तेः। ...कारणभूताहि कषायाः कार्यात्मिकाया हिंसाद्यविरतेरर्थान्तरभूता इति।

उपर्युक्त आस्रवों का गुणस्थानों के साथ जो सम्बन्ध है उसको आचार्य पूज्यपाद ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है :

"मिथ्यादृष्टि जीव के एक साथ पाँचों; सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि के अविरति आदि चार; संयतासंयत के विरति-अविरति, प्रमाद, कषाय और योग; प्रमत्त संयत के प्रमाद कषाय और योग; अप्रमत्त संयत आदि चार के योग और कषाय; तथा उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगीकेवली के एक योग बन्ध-हेतु होता है। अयोगीकेवली के कोई बन्ध-हेतु नहीं होता[1]।"

श्री जयाचार्य ने इस विषय में निम्न प्रकाश डाला है[2] :

> पहिले तीजै मिथ्यात निरंतरै, चौथा लग सर्व इव्रत व्याप।
> निरंतर देश अव्रत पञ्चमे, तिण सूं समय २ लागै पाप ॥
> छठे प्रमाद आस्रव निरन्तरे, दशमा लग निरन्तर कषाय ॥
> निरन्तर पाप लागे तेह ने, तीनूं जोगां स्यूं जुदो कहाय ॥
> जद आवै गुणठाणै सातवें, प्रमाद रो नहीं बधै पाप।
> अकषाई हुवां स्यूं कषाय रो, नहीं लागे पाप संताप ॥

पहले और तीसरे गुणस्थान में निरन्तर मिथ्यात्व रहता है। अविरति पहले से चौथे गुणस्थान तक व्याप्त है। पाँचवें गुणस्थान में निरन्तर देश अविरति रहती है, जिससे समय-समय पाप लगता रहता है। छठें गुणस्थान में निरन्तर प्रमाद आस्रव होता है। दसवें गुणस्थान तक निरन्तर कषाय होता है, जिससे निरंतर पाप लगता है। यह कषाय आस्रव योग आस्रव से भिन्न है। सातवें गुणस्थान में आने पर प्रमाद का पाप नहीं बढ़ता। अकषायी होने पर कषाय का पाप नहीं लगता।

इन आस्रव भेदों की युगपतता के विषय में उमास्वाति लिखते हैं :

"मिथ्यादर्शन आदि पाँच हेतुओं में पूर्व पूर्व के हेतु होने पर आगे-आगे के हेतुओं का सद्भाव नियत है परन्तु उत्तरोत्तर हेतु के होने पर पूर्व पूर्व के हेतुओं का होना नियत नहीं है[3]।"

१—तत्त्वा० ८.१ सर्वार्थसिद्धि

२—झीणीचर्चा ढा० २२.४४-४६

३—तत्त्वा० ८.१ भाष्य :

एषां मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतूनां पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्सति नियतमुत्तरेषां भावः। उत्तरोत्तरभावे तु पूर्वेषामनियमः इति।

आस्रव के २० भेद :

आस्रव के २० बीस भेदों को मानने वाली परम्परा का उल्लेख पहले आया है। उन बीस भेदों में आरम्भ के पाँच भेद तो वही उक्त मिथ्यात्वादि हैं। अवशेष १५ योग आस्रव के भेदमात्र हैं। इन भेदों को भी उदाहरण-स्वरूप ही कहा जा सकता है क्योंकि मन, वचन और काय की असंख्य, अनन्त प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। २० भेदों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :

१—पूर्ववत्

२— ,,

३— ,,

४— ,,

५— ,,

६—**प्राणातिपात आस्रव :** मन, वचन, काय और करने, कराने, अनुमोदन के विविध भङ्गों से जीव हिंसा करना।

७—**मृषावाद आस्रव :** उपर्युक्त तीन करण एवं तीन योग के विविध भङ्गों से झूठ बोलना।

८—**अदत्तादान आस्रव :** उपर्युक्त तीन करण एवं तीन योग के विविध भङ्गों से चोरी करना।

९—**मैथुन आस्रव :** उपर्युक्त तीन करण एवं तीन योग के विविध भङ्गों से मैथुन का सेवन करना।

१०—**परिग्रह आस्रव :** उपर्युक्त तीन करण एवं तीन योग के विविध भङ्गों से परिग्रह रखना।

११—**श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव :** कान को शब्द सुनने में प्रवृत्त करना।

१२—**चक्षुरिन्द्रिय आस्रव :** आँखों को रूप देखने में प्रवृत्त करना।

१३—**घ्राणेन्द्रिय आस्रव :** नाक को गंध सूंघने में प्रवृत्त करना।

१४—**रसनेन्द्रिय आस्रव :** जिह्वा को रस-ग्रहण करने में प्रवृत्त करना।

१५—**स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव :** शरीर को स्पर्श करने में प्रवृत्त करना।

१६—**मन आस्रव :** मन से नाना प्रकार की प्रवृत्ति करना।

१७—**वचन आस्रव :** वचन से नाना प्रकार की प्रवृत्ति करना।

१८—**काय आस्रव :** काया से नाना प्रकार की प्रवृत्ति करना।

१९—**भण्डोपकरण आस्रव :** वस्तुओं को यतनापूर्वक रखना उठाना।

२०—**शुचिकुशाग्रमात्र आस्रव :** शुचि, कुशाग्र आदि के सेवन जितनी भी प्रवृत्ति।

आस्रव के ४२ भेद :

आस्रव के ४२ भेदों का विवरण इस प्रकार है :

> **इंदियकसायअव्वयकिरिया पणचउपंचपणवीसा।**
> **जोगा तिण्णेव भवे, बायालं आसवो होई[1] ॥ ६ ॥**

१-५—**इन्द्रिय आस्रव** : आस्रव के २० भेदों के विवेचन में वर्णित श्रोत्रेन्द्रिय से स्पर्शनेन्द्रिय तक के पाँच आस्रव (क्रमः ११-१५)।

६—**क्रोध आस्रव** : अप्रीति करना।

७—**मान आस्रव** : गर्व करना।

८—**माया आस्रव** : परवञ्चना करना।

९—**लोभ आस्रव** : मूर्च्छा भाव करना।

१०-१४—**अविरति आस्रव** : आस्रव के २० भेदों में वर्णित प्राणातिपात से मैथुन तक के पाँच आस्रव (क्रमः ६-१०)।

१५-१७—**योग आस्रव** : आस्रव के २० भेदों में वर्णित मन आस्रव, वचन आस्रव और काय आस्रव (क्रमः १६-१८)।

१८—[2]**सम्यक्त्वक्रिया आस्रव** : सम्यक्त्व वर्द्धिनी क्रिया। जीवादि पदार्थों में श्रद्धारूप लक्षण वाले सम्यक्त्व को उत्पन्न करने और बढ़ाने वाली क्रिया।

१९—**मिथ्यात्वक्रिया आस्रव** : मिथ्यात्व की हेतु प्रवृत्ति। जीवादि तत्त्वों में अश्रद्धा रूप लक्षण वाले मिथ्यात्व को उत्पन्न करने और बढ़ाने वाली कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र की उपासना, स्तवन आदि रूप क्रिया[3]।

२०—**प्रयोगक्रिया आस्रव** : कायादि द्वारा गमनागमन आदि रूप प्रवृत्ति।

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः नवतत्त्वप्रकरणं (श्री देवगुप्त सूरि प्रणीत)

२—यहाँ से क्रियाओं की व्याख्या आरम्भ होती है।

आगमों के स्थलों को देखने से क्रियाओं की संख्या २७ आती है (ठाणाङ्ग २.६०;५,२.४१९; भगवती ३.३)। आस्रव के ४२ भेदों की गणना में सभी आचार्यों ने क्रियाएँ २५ ही मानी हैं। २७ क्रियाओं में से एक परम्परा प्रेमक्रिया और द्वेषक्रिया को छोड़ देती है। दूसरी परम्परा इन्हें ग्रहण कर सम्यक्त्वक्रिया और मिथ्यात्वक्रिया को छोड़ देती है।

क्रियाओं के अर्थ की दृष्टि से भी दो परम्पराएँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती हैं। श्री सिद्धसेन गणि और आ० पूज्यपाद की व्याख्याएँ कुछ स्थलों को छोड़कर प्रायः मिलती-जुलती हैं। यहाँ मूल में इन्हीं को दिया है। इन दोनों की कई व्याख्याएँ आगम टीकाकारों से विशिष्ट रूप से भिन्न हैं। अन्तर पाद-टिप्पणियों में प्रदर्शित है।

३—ठाणाङ्ग २.६० की टीका के अनुसार जीव का सम्यग्दर्शन रूप व्यापार अथवा सम्यग्दर्शनयुक्त जीव का व्यापार सम्यक्त्वक्रिया है और जीवा का मिथ्यात्व रूप व्यापार अथवा मिथ्यादृष्टि जीव का व्यापार मिथ्यात्वक्रिया है।

२१—**समादानक्रिया आस्रव** : संयत का अविरति या असंयम के सन्मुख होना। अपूर्व-अपूर्व विरति को छोड़ कर तपस्वी का सावद्य कार्य में प्रवृत्त होना[1]।

२२—**ईर्यापथक्रिया आस्रव** : ईर्यापथ कर्मबन्ध की कारणभूत क्रिया।

२३—**प्रादोषिकीक्रिया आस्रव** : क्रोध के आवेश से होनेवाली क्रिया[2]।

२४—**कायिकीक्रिया आस्रव** : दुष्टभाव से युक्त होकर उद्यम करना[3]।

२५—**आधिकरणिकीक्रिया आस्रव** : हिंसा के उपकरणों को ग्रहण करना[4]।

२६—**पारितापिकीक्रिया आस्रव** : दुःखोत्पन्न कारी क्रिया[5]।

२७—**प्राणातिपातिकीक्रिया आस्रव** : आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों का वियोग करने वाली क्रिया।

२८—**दर्शनक्रिया आस्रव** : रागार्द्र हो प्रमाद-वश रमणीय रूप देखने की इच्छा[6]।

२९—**स्पर्शनक्रिया आस्रव** : स्पर्श करने योग्य सचेतन-अचेतन वस्तु के स्पर्श का अनुबन्ध—अभिलाषा[7]।

१—ठाणाङ्ग ५.२.४१९ में इसके स्थान पर 'समुदाणकिरिया'—समुदानक्रिया का उल्लेख है। टीका में इसका अर्थ किया है 'कर्म्मोपादानम्' अर्थात् तीन प्रकार के योग द्वारा आठ प्रकार के कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने रूप क्रिया।

२—ठाणाङ्ग २.६० में इसके स्थान में 'प्राद्वेषिकीक्रिया' है। टीका—प्रद्वेषो-मत्स रस्तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी। जीव अथवा ठोकर आदि लगने से अजीव पाषाणादि के प्रति क्रोध का होना।

३—ठाणाङ्ग में इस क्रिया के दो भेद मिलते हैं (१) अनुपरतकायक्रिया—सावद्य से अविरत मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि की कायक्रिया। (२) दुष्प्रयुक्तकायक्रिया—दुष्प्रयुक्त मन, वचन, काय की क्रिया (ठा० २.६० और टीका)

४—अधिकरण का अर्थ है अनुष्ठान अथवा बाह्यवस्तु खड्ग आदि। तत्सम्बन्धी क्रिया आधिकरणिकीक्रिया। आगम में इसके दो भेद मिलते हैं—निवर्त्तना—नये अस्त्र-शस्त्रों का बनाना और संयोजना—शस्त्रों के अङ्गों की संयोजना करना (ठाणाङ्ग ५.२.४१९ और टीका)

५—आगम में इसके दो भेद बताये गये हैं—(१) स्वहस्तपारितापनिकी—अपने हाथ से अपने या दूसरे को परिताप देना। और (२) परहस्तपारितापनिकी—दूसरे से परिताप पहुंचाना (ठाणाङ्ग २.६० और टीका)।

६—आगम में इसका नाम 'दिट्ठिया'—दृष्टिकी मिलता है। अश्व आदि सजीव और चित्रकर्म आदि निर्जीव वस्तु देखने के लिए गमन आदि रूप क्रिया (ठाणाङ्ग ५.२.४१९ और टीका)।

७—आगम में 'पुट्ठिया'—पृष्टिका, स्पृष्टिका नाम मिलता है। अर्थ है रागादि से स्पर्श या प्रश्न करने रूप क्रिया (ठाणाङ्ग २.६०;५.२.४१९)।

३०—प्रात्ययिकीक्रिया आस्रव : प्राणातिपात के अपूर्व—नये अधिकरणों का उत्पादन[1]।

३१—समन्तानुपातक्रिया आस्रव : मनुष्य, पशु आदि के जाने-आने, उठने-बैठने के स्थानों में मल का त्याग[2]।

३२—अनाभोगक्रिया आस्रव : अप्रमार्जित और अशोधी हुई भूमि पर काय आदि का निक्षेप[3]।

३३—स्वहस्तक्रिया आस्रव : जो क्रिया दूसरों द्वारा करने की हो उसे अभिमान या रोषवश स्वयं कर लेना[4]।

३४—निसर्गक्रिया आस्रव : पापादान आदि रूप प्रवृत्ति विशेष की अनुमति अथवा पापार्थ में प्रवृत्त का भावतः अनुमोदन[5]।

३५—विदारण क्रिया आस्रव : अन्य द्वारा आचरित अप्रकाशनीय सावद्य आदि कार्यों का प्रकाशन[6]।

१—इसका अर्थ इस प्रकार भी मिलता है—'बाह्य वस्तु प्रतीत्य—आश्रित्य भवा प्रातीत्यिकी'। बाह्य वस्तु का आश्रय लेकर जो क्रिया होती है। (ठाणाङ्ग २.६० टीका)।

२—इसके स्थान में आगम में 'सामन्तोवणिवाइया'—सामन्तोपनिपातिकीक्रिया का उल्लेख है। अपने रूपवान् घोड़े आदि और निर्जीव रथ आदि की प्रशंसा सुन कर हर्षित होने रूप क्रिया। (ठाणाङ्ग २.६०; ५.२.४१९ और टीका)

३—अनाभोगप्रत्यया। उपयोग रहित होकर वस्तुओं का ग्रहण करना अथवा उपयोग रहित होकर प्रमार्जन करना। ठा० २.६० में कहा है—अणाभागवत्तिया किरिया दुविहा पं० तं० अणाउत्तआइयणता चेव अणाउत्तपमज्जणता चेव।

४—इसके आगम में दो भेद कहे गये हैं—जीव स्वाहस्तिकी क्रिया—अपने हाथ से गृहीत तीतर आदि द्वारा दूसरे जीव को मारना। अथवा अपने हाथ से जीव का ताड़न। अजीवस्वाहस्तिकी क्रिया—अपने हाथ से गृहीत खड्ग आदि निर्जीव वस्तु द्वारा जीव को मारना अथवा अजीव का ताड़न करना (ठाणाङ्ग २.६० टीका)।

५—'नेसत्थिया' निसर्जनं निसृष्टं, क्षेपणमित्यर्थः तत्र भवा तदेव वा। अर्थात् यन्त्र द्वारा जीव और अजीव को दूर करने रूप क्रिया। जैसे कुएँ से जल निकालना अथवा धनुष, बन्दूक आदि से गोली व वाण फेंकना। (ठाणाङ्ग २.६० और ५.२.४१९ टीका)।

६—ठाणाङ्ग २.६० टीका में विदारिणी अथवा वैतारिणी ऐसे नाम दिये हैं। जीव-अजीव को विदीर्ण करना विदारिणी क्रिया है। वह जीव को ठगता है ऐसा कहना अथवा गुण न होने पर भी ठगने की दृष्टि से ऐसा कहना कि तू गुण में अमुक के समान है जीववैतारिणी क्रिया है। गुण न होने पर भी एक अचेतन वस्तु को दूसरी अचेतन वस्तु के समान कहना अजीव वैतारिणी क्रिया है।

३६—**आज्ञाव्यापादिकीक्रिया आस्रव** : चारित्रमोहनीय के उदय से आवश्यक आदि के विषय में शास्त्रोक्त आज्ञा को न पाल सकने के कारण अन्यथा प्ररूपणा करना[1]।

३७—**अनाकांक्षाक्रिया आस्रव** : धूर्तता और आलस्य के कारण प्रवचन में उपदिष्ट कर्त्तव्य विधि में प्रमादजनित अनादर[2]।

३८—**प्रारम्भक्रिया आस्रव** : छेदन, भेदन, विसर्जन आदि क्रिया में स्वयं तत्पर रहना और दूसरे के आरम्भ करने पर हर्षित होना[3]।

३९—**पारिग्राहिकीक्रिया आस्रव** : परिग्रह का विनाश न हो इस हेतु से की गई क्रिया[4]।

४०—**मायाक्रिया आस्रव** : ज्ञान, दर्शन आदि के विषय में निकृति—बन्धन—छल करना[5]।

४१—**मिथ्यादर्शनक्रिया आस्रव** : मिथ्यादृष्टि से क्रिया करने-कराने में लगे हुए पुरुष को प्रशंसा आदि द्वारा दृढ़ करना[6]।

१—आगम में इसका नाम 'आज्ञापनी' है। आज्ञा करने से होने वाली क्रिया। 'आणवणिया' आज्ञापनस्य—आदेशनस्येयमाज्ञापनमेव वा। आदेशनरूप क्रिया (ठाणाङ्ग २.६० टीका)। उमास्वाति ने इसका नाम आनयनक्रिया दिया है (तत्त्वा० ६.६ भाष्य)।

२—ठाणाङ्ग २.६० में इसका नाम अनवकांक्षाप्रत्यया दिया है। अपने अथवा दूसरे के शरीर की अनवकांक्षा—अनपेक्षा। अणवकंखवत्तिया किरिया दुविहा पं० तं० आयशरीर अणवकंखवत्तिया चेव परसरीरअणवकंखवत्तिया चेव।

३—आगम में इसका नाम आरंभिया 'आरंभिकीक्रिया' दिया है। आरम्भणमारम्भः तत्र भवा। आगम में इसके दो भेद कहे गये हैं। जिससे जीवों का उपमर्दन हो उसे जीवारम्भक्रिया और जिससे अजीव वस्तुओं का आरम्भ हो उसे अजीवारम्भक्रिया कहते हैं (ठाणाङ्ग २.६० टीका)।

४—'परिग्गहिया'—परिग्रहे भवा परिग्रहिकी—परिग्रह में होने वाली। आगम में जीव और अजीव सम्बन्ध से इसके भी दो भेद बतलाये गये हैं (ठाणाङ्ग २.६० तथा टीका)।

५—'मायावत्तिया चेव' माया—शाठ्यं प्रत्ययो-निमित्तं यस्याः कर्मबन्धक्रियाया व्यापारस्य वा सा। छल या कपट रूप क्रिया (ठाणाङ्ग २.६० टीका)।

६—आगम में इसका नाम 'मिच्छादंसणवत्तिया'—मिथ्यादर्शनप्रत्यया मिलता है। मिथ्यादर्शनं—मिथ्यात्वं प्रत्ययो यस्याः सा। आगम में इसके दो भेद बताये हैं। अप्रशस्त आत्मभाव को प्रशस्त देखना—आत्मभाववंकनता है और कूटलेख आदि से दूसरे को ठगना—परभाववंकनता है (ठाणाङ्ग २.६० टीका)।

४२—[1]अप्रत्याख्यानक्रिया आस्रव : संयमघाति कर्म की पराधीनता से पाप से अनिवृत्ति।

जिस तरह आस्रव के २० भेदों में से अन्तिम पन्द्रह का योगास्रव में समावेश होता है उसी तरह ४२ भेदों में सब के सब योगास्रव में समाहित होते हैं। मन-वचन-काय के सर्व कार्य सावद्य योगास्रव हैं। जिन अठारह पापों का पूर्व में उल्लेख आया है वे भी योग रूप ही हैं। विविध कर्मों के बन्ध-हेतुओं में जो भी क्रिया रूप व्यापार हैं उन सब को योगास्रव का भेद समझना चाहिए।

७—आस्रव और संवर का सामान्य स्वरूप (गा० ६-१०) :

गा० ३-८ में स्वामीजी ने पाँच आस्रव और साथ ही पाँच संवर की परिभाषाएँ दी हैं। यहाँ पाँच आस्रव और पाँच संवर के सामान्य स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। आस्रव और संवर दोनों जीव-परिणाम हैं। जीव का मिथ्या श्रद्धारूप परिणाम मिथ्यात्व, अत्याग-भावरूप परिणाम अविरति, अनुत्साहरूप परिणाम प्रमाद, क्रोधादिरूप परिणाम कषाय और मन-वचन-काय के व्यापाररूप परिणाम योग हैं। इस तरह पाँचों आस्रव जीव के परिणाम हैं। इसी तरह सम्यक् श्रद्धारूप परिणाम सम्यक्त्व, देश सर्व त्यागरूप परिणाम विरति, प्रमादरहिततारूप परिणाम अप्रमाद, कषायरहिततारूप परिणाम अकषाय और अव्यापाररूप परिणाम अयोग संवर है।

आस्रव और संवर दोनों जीव-परिणाम होने पर भी स्वभाव में एक दूसरे से भिन्न हैं। आस्रव जीव की उन्मुक्तता है। संवर उसकी गुप्ति। आस्रव कर्मों को आने देते हैं। संवर उनको रोकते हैं। आस्रव कर्मों के आने के द्वार—उपाय हैं। संवर उनको रोकने के द्वार—उपाय हैं। श्री अभयदेव लिखते हैं—"जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आने के लिए जो द्वार की तरह द्वार—उपाय हैं वे आस्रव-द्वार हैं। जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल के आगमन के निरोध के लिए जो द्वार—उपाय हैं वे संवर द्वार हैं। मिथ्यात्व आदि आस्रवों के क्रमशः विपर्यय रूप सम्यक्त्व आदि संवर हैं[2]।"

१—तत्त्वा० ६.६.भाष्य में क्रियाओं के नाम इस प्रकार हैं :

तद्यथा—सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथाः, कायाधिकरणप्रदोषपरितापनप्राणातिपाताः, दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपातानाभोगाः, स्वहस्तनिसर्गविदारणानयनानवकाङ्क्षा आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रिया इति॥

२—ठाणाङ्ग ५.२.४१८ :

आश्रवणं—जीव तडागे कर्म्मजलस्य सङ्कलनमाश्रवः, कर्म्मनिबन्धनमित्यर्थः, तस्य द्वाराणीव द्वाराणि—उपाया आश्रवद्वाराणीति। तथा संवरणं—जीवतडागे कर्म्मजलस्य निरोधनं संवरस्तस्य द्वाराणि—उपायाः संवरद्वाराणि—मिथ्यात्वादीनामाश्रवाणां क्रमेण विपर्ययाः सम्यक्त्वविरत्यप्रमादाकषायित्वायोगित्वलक्षणाः

८—आस्रव कर्मों का कर्त्ता, हेतु, उपाय है (गा० ११)

स्वामीजी ने ढाल की पहली गाथा में "स्थानाङ्ग में पाँच आस्रवद्वार कहे हैं"—ऐसा उल्लेख करते हुए गा० २ से ८ में इन पाँचों द्वारों के नाम और उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। वहाँ आस्रव के प्रतिपक्षी संवर पदार्थ के स्वरूप पर भी कुछ विवेचन है जिससे कि आस्रव पदार्थ का स्वभाव स्पष्ट रूप से हृदयांकित हो सके। फिर गा० ६-१० में पाँच आस्रव और संवर के सामान्य स्वरूप का बोध दिया है। स्वामीजी कहते हैं : "ठाणाङ्ग की तरह चौथे अङ्ग समवायाङ्ग में भी पाँच आस्रव द्वार और पाँच संवर कहे गये हैं।" वह पाठ इस प्रकार है :

"पंच आसवदारा पन्नत्ता, तंजहा—मिच्छत्तं अविरई पमाया कसाया जोगा पंच संवरदारा पन्नत्ता, तंजहा—सम्मत्तं विरई अप्पमत्तया अकसाया अजोगया (सम० ५)।"

स्वामीजी कहते हैं—"आस्रव का जहाँ भी विवेचन है उस स्थल को देखने से यह स्पष्ट होता है कि वह कर्मों के आने का द्वार, हेतु, उपाय, निमित्त है। आस्रव महा विकराल द्वार है क्योंकि कर्म जैसा कोई रिपु नहीं। आस्रव उसके लिए सदा उन्मुक्त द्वार है।

६—प्रतिक्रमण विषयक प्रश्न और आस्रव (गा० १२) :

स्वामीजी ने गा० ११ में आस्रव को कर्मों का कर्त्ता, हेतु, उपाय कहा है। आस्रव का स्वरूप ऐसा ही है अन्यथा नहीं इस तथ्य को हृदयङ्गम कराने के लिए स्वामीजी ने गा० १२ से २२ में आगमों के कई स्थलों का संदर्भ दिया है। आस्रव द्वार रूप, छिद्र रूप है यह आगम के उल्लिखित संदर्भों से भली भाँति स्पष्ट होता है।

पहला संदर्भ उत्तराध्ययन के २६ वें अध्ययन का है। मूल पाठ इस प्रकार है :

"पडिक्कमणेणं भन्ते जीवे किं जणयइ॥ प० वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिंदिए विहरइ॥११॥"

"हे भंते ! प्रतिक्रमण से जीव किस फल को उत्पन्न करता है?"

"हे शिष्य ! प्रतिक्रमण से जीव व्रतों के छिद्रों को ढकता है। जिस जीव के व्रतों के छिद्र ढक जाते हैं वह निरुद्धास्रव होता है, असबलचारित्र होता है, आठ प्रवचन-

माताओं में सावधान होता है, संयम योग से अपृथक् होता है और समाधिपूर्वक संयम में विचरता है।"

सार है व्रतों के छिद्र—दोष आस्रव रूप हैं। प्रतिक्रमण से व्रतों के छिद्र—दोष रूकते हैं अतः फल स्वरूप जीव 'निरुद्धास्रवे'—आस्रवर-हित होता है।

१०—प्रत्याख्यान विषयक प्रश्न और आस्रव (गा० १३)

इस गाथा में स्वामीजी ने आस्रव के स्वरूप को बतलाने के लिए उत्तराध्ययन (२९.१३) के ही एक अन्य पाठ की ओर संकेत किया है। वह पाठ इस प्रकार है :

"पच्चक्खाणेणं भन्ते जीवे किं जणयइ ॥ प० आसवदाराइं निरुम्भइ। पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ। इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ ॥"

"भंते ! प्रत्याख्यान से जीव को क्या फल होता है ?"

"हे शिष्य ! प्रत्याख्यान से जीव आस्रव-द्वारों को रोकता है। प्रत्याख्यान से इच्छा-निरोध करता है। इच्छानिरोध से जीव सर्व द्रव्यों के प्रति वीततृष्ण हो शाँत होकर विचरण करता है।"

इस वार्तालाप का सार भी यही है कि अप्रत्याख्यान आस्रव है। उससे कर्मों का आगमन होता है। जो प्रत्याख्यान करता है उसके आस्रव-निरोध होता है और नये कर्मों का प्रवेश नहीं होता।

११—तालाब का दृष्टान्त और आस्रव (गा० १४) :

यहाँ संकेतित उत्तराध्ययन के ३० वें अध्ययन का पाठ इस प्रकार है :

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे ॥ ५ ॥
एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ ॥ ६ ॥

शिष्य पूछता है—"करोड़ों भवों से सञ्चित कर्मों से मुक्ति कैसे हो ?"

गुरु कहते हैं—"जिस प्रकार किसी महा तालाब का पानी जलागमन के मार्ग को रोक देने पर उत्सिञ्चन और सूर्यताप से क्रमशः सूख जाता है वैसे ही पाप कर्म के आस्रवों को रोक देने पर—निरास्रवी हो जाने पर संयमी के कोटि भवों से सञ्चित कर्म तप के द्वारा निर्जरा को प्राप्त होते हैं।"

शिष्य—'भंते ! जीव निरास्रवी कैसे होता है ?'

गुरु—"हे शिष्य ! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रि-भोजन के विरमण से जीव निरास्रवी होता है। जो पांच समिति से युक्त, तीन गुप्ति से गुप्त, कषायरहित, जितेन्द्रिय, गौरव-रहित और निःशल्य होता है वह जीव निरास्रवी होता है।"

इस पाठ से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मों से मुक्त होने की पहली प्रक्रिया है नये-कर्मों के आगमन का निरोध करना; आस्रव को रोकना। जो आस्रवरहित होता है उसके भारी से भारी कर्म तप से निर्जरित होते हैं। जीव तालाब तुल्य है, आस्रव जल-मार्ग के सदृश और कर्म जल तुल्य। जीव रूपी तालाब को कर्म रूपी जल से विरहित करना हो तो आस्रव रूपी स्रोत—विवर—नाले को पहले रोकना होगा।

१२—मृगापुत्र और आस्रव-निरोध (गा० १५) :

उत्तराध्ययन (अ० १९.९३) के जिस पाठ की ओर यहाँ इंगित किया गया है उसका सम्बन्ध मृगापुत्र के साथ है। मृगापुत्र सुग्रीवनगर के राजा बलभद्र के पुत्र थे। उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रव्रज्या के बाद वे बड़े ही तपस्वी और समभावी साधु हुए। उनके गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है :

> **अप्पसत्थेहिं दारेहिं सव्वओ पिहियासवे।**
> **अज्झप्पज्झाणजोगेहिं पसत्थदमसासणे॥**

"वे सभी अप्रशस्त द्वारों और सभी आस्रवों का निरोध कर आध्यात्मिक शुभ ध्यान के योग से प्रशस्त संयम वाले हुए।"

स्वामीजी के कथन का सार है—आस्रव-द्वार के निरोध का उल्लेख अनेक स्थलों पर है इसका कारण यही है कि आस्रव पाप-कर्मों के आने का हेतु है। पहले उसे रोकना आवश्यक होता है जिससे कि नया भार न हो। जिस प्रकार कर्ज से मुक्त होने के लिए नये कर्ज से परहेज करना आवश्यक है वैसे ही पूर्व संचित कर्मों से मुक्त होने के लिए निरास्रवी होना आवश्यक है।

१३—पिहितास्रव के पाप का बंध नहीं होता (गा० १६) :

दशवैकालिक (अ० ४.९) की जिस गाथा का यहाँ संदर्भ है वह इस प्रकार है :

> **सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ।**
> **पिहियासवस्स दन्तस्स पावं कम्मं न बन्धई॥**

जो सर्व भूतों को अपनी आत्मा के समान समझता है, जो सर्व जीव को समभाव से देखता है, जो आस्रवों को रोक चुका और जो दान्त है उसके पाप-कर्मों का बन्ध नहीं होता।

दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन की संकेतित गाथा इस (११) प्रकार है :

पंचासवपरिन्नाया तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणाधीरा निग्गन्था उज्जुदंसिणो ॥

जो पञ्चास्रव को जानकर त्याग करने वाले होते हैं, जो त्रिगुप्त हैं, षट्काय के जीवों के प्रति संयत हैं, पांच इन्द्रिय का निग्रह करने वाले हैं, जो धीर हैं और ऋजुदर्शिन हैं वे निर्ग्रन्थ हैं।

यहाँ पर आस्रव-रहित श्रमणों को निर्ग्रन्थ कहा है।

१४—पंचास्रवसंवृत भिक्षु महा अनगार (गा० १७) :

स्वामीजी ने यहाँ दशवैकालिक अ० १० गा० ५ की ओर संकेत किया है। वह गाथा इस प्रकार है :

रोइयनायपुत्तवयणे
अप्पसमे मन्नेज्ज छप्पि काए।
पञ्च य फासे महव्वयाइं
पञ्चासवसंवरए जे स भिक्खू ॥

जो ज्ञातृपुत्र महावीर के वचन में रुचि कर छः ही काय के जीव को आत्म-सम मानता है, पंच महाव्रतों का सम्यक् रूप से पालन करता है तथा पञ्चास्रवों को संवृत करता है वह भिक्षु है।

यहाँ पञ्चास्रवों को निरोध करने वाला महा भिक्षु कहा गया है। आस्रवों का संवरण भिक्षु का महान गुण है।

१५—मुक्ति के पहले योगों का निरोध (गा० १८) :

उत्तराध्यन अ० २९.७२ में कहा है—

"चारों घनघाति कर्मों के क्षय के बाद सयोगी अवस्था में केवली केवल ईर्यापथिकी क्रिया का बंध करता है। फिर अवशेष रहे हुए आयुकर्म को भोगते हुए जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रह जाती है तब योगों का निरोध करते हुए सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान के तीसरे पाद का ध्यान ध्याते हुए प्रथम मनोयोग का निरोध करता

है। इसके बाद वचनयोग, फिर काययोग और फिर श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है। इसके बाद पाँच ह्रस्वाक्षर के उच्चार करने जितने समय में वह अनगार समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान को ध्याते हुए वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—इन चार कर्मों को एक साथ क्षय कर बाद में शुद्ध-बुद्ध होकर समस्त दुःख का अन्त करता है।"

स्वामीजी ने प्रस्तुत गाथा में सिद्ध-बुद्ध होने की उपर्युक्त प्रक्रिया में योग-निरोध के क्रम का जो उल्लेख है उसी की ओर संकेत किया है। आगम का मूल पाठ इस प्रकार है :

अह आउयं पालइत्ता अन्तोमुहुत्तद्धावसेसाए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइं सुक्कज्झाणं झायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं निरुम्भइ वइजोगं निरुम्भइ कायजोगं निरुम्भइ आणपाणुनिरोहं करेइ ईसि पंचरहस्सक्खरुच्चारणट्ठाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं आउयं नामं गोत्तं च एए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ ॥

स्वामीजी के कहने का तात्पर्य है कि सयोगी केवली के योग शुद्ध होते हैं। पर मुक्त होने के पूर्व केवली को भी इन शुद्ध योगों का निरोध करना पड़ता है तब कहीं वह सिद्ध-बुद्ध होता है। इस तरह योगास्रव भी संवरणीय है।

१६—प्रश्नव्याकरण और आस्रवद्वार (गा० १६) :

प्रश्नव्याकरण दसवाँ अङ्ग माना जाता है। इस आगम में दो श्रुतस्कंध हैं—एक आस्रवद्वारश्रुतस्कंध और दूसरा संवरद्वारश्रुतस्कंध[1]। प्रथम श्रुतस्कंध में आस्रव पञ्चक और द्वितीय श्रुतस्कंध में संवर पञ्चक का वर्णन है। इसी सूत्र में एक स्थान पर कहा है—"पाँच का परित्याग करके और पाँच का भावपूर्वक रक्षण करके जीव कर्म-रज से मुक्त होते हैं और सर्वश्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करते हैं[2]।"

संवरों के विषय में कहा गया है—"ये अनास्रव रूप हैं, छिद्र रहित हैं, अपरिस्रावी है, संक्लेश से रहित हैं, समस्त तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट हैं[3]।" आस्रव ठीक इनसे उल्टे हैं।

१—जंबू दसमस्स अंगस्स समणेणं जाव संपत्तेणं दो सुयक्कखंधा पण्णत्ता—आसवदारा य संवरदारा य

२—पंचेव य उज्झिऊणं पंचेव य रक्खिऊण भावेण।
कम्मरयविप्पमुक्का सिद्धिवरमणुत्तरं जंति ॥

३—अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुन्नातो।

१७—आस्रव-प्रतिक्रमण (गा० २०) :

यहाँ ठाणाङ्ग के जिस पाठ का संदर्भ है वह इस प्रकार है :

"पंचविहे पडिक्कमणे पं० तं०-आसवदारपडिक्कमणे मिच्छत्तपडिक्कमणे कसायपडिक्कमणे जोगपडिक्कमणे भावपडिक्कमणे[1] ।" (५.३.४६७)

प्रतिक्रमण पांच प्रकार के कहे हैं—(१) आस्रवद्वार प्रतिक्रमण, (२) मिथ्यात्व प्रतिक्रमण, (३) कषाय प्रतिक्रमण (४) योग प्रतिक्रमण और (५) भाव प्रतिक्रमण। प्रमादवश स्वस्थान से परस्थान चले जाने पर पुनः स्वस्थान को आना प्रतिक्रमण कहलाता है। शुभ योग से अशुभ योग में चले जाने पर पुनः शुभ में जाना प्रतिक्रमण है[2] । प्राणातिपातादि आस्रवद्वारों से निवर्तन को आस्रवद्वार प्रतिक्रमण कहते हैं[3] । इसका मर्म है—असंयम से प्रतिक्रमण। इसी प्रकार मिथ्यात्वगमन से निवृत्ति को मिथ्यात्व प्रतिक्रमण कहते हैं[4] । इसी तरह कषाय प्रतिक्रमण है। मन-वचन-काय के अशोभन व्यापारों का व्यावर्त्तन योग प्रतिक्रमण है[5] । आस्रवादि प्रतिक्रमण ही अविशेष विवक्षा से भाव प्रतिक्रमण है। मन-वचन-काय से मिथ्यात्वादि में गमन न करना, दूसरे को गमन न कराना, गमन करते हुए का अनुमोदन न करना भाव प्रतिक्रमण है[6] ।

स्वामीजी कहते हैं : "भगवान ने यहाँ आस्रवों का प्रतिक्रमण कहा है इसका कारण यही है कि आस्रव पाप-प्रवेश के द्वार हैं" ।

१—मिलावें :

मिच्छत्तपडिक्कमणं तहेव अस्संजमे पडिक्कमणं ।
कसायाण पडिक्कमणं जोगाण य अपप्पसत्थाणं ॥

२—(क) ठाणाङ्ग ५-३.४६७ टीका :

स्वस्थानाद्यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद्गतः ।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

(ख) ठाणाङ्ग ५.३.४६७ टीका :

क्षायोपशमिकाद्भावादौदयिकस्य वशं गतः ।
तत्रापि च स एवार्थः, प्रतिकूलगमात् स्मृतः ॥

३—वही : आश्रवद्वाराणि—प्राणातिपातादीनि तेभ्यः प्रतिक्रमणं—निवर्त्तनं पुनरकरण-मित्यर्थः आश्रवद्वारप्रतिक्रमणं, असंयमप्रतिक्रमणमिति हृदयं

४—वही : मिथ्यात्वप्रतिक्रमणं यदाभोगानाभोगसहसाकारैर्मिथ्यात्वगमनं तन्निवृत्तिः

५—वही : योगप्रतिक्रमणं तु यत् मनोवचनकायव्यापाराणामशोभनानां व्यावर्त्तनमिति

६—वही : आश्रवद्वारादिप्रतिक्रमणमेवाविवक्षितविशेषं भावप्रतिक्रमणमिति, आह च

मिच्छताइ न गच्छइ न य गच्छावेइ नाणुजाणाइ ।
जं मणवइकाएहिं तं भणियं भावपडिक्कमणं ॥

१८—आस्रव और नौका का दृष्टान्त (गा० २१-२२) :

एक वार्तालाप के प्रसंग में भगवान महावीर ने मंडितपुत्र से पूछा : "एक ह्रद हो, वह जलसे पूर्ण हो, जल से छलाछल भरा हो, जल से छलकता हो, जल से बढ़ता हो और भरे हुए घड़े की तरह सब जगह जल से व्याप्त हो, उस ह्रद में कोई एक मनुष्य सैकड़ों सूक्ष्म छिद्र और सैकड़ों बड़े छिद्रों वाली एक बड़ी नाव को प्रविष्ट करे तो हे मण्डितपुत्र ! वह नाव छिद्र द्वारा जल से भराती-भराती जल से भरी हुई, जल से छलाछल भरी हुई, जल से छलकती हुई, जल से बढ़ती हुई अन्त में भरे हुए घड़े की तरह सब जगह जल से व्याप्त होती है यह ठीक है या नहीं ?" मण्डितपुत्र बोले : भन्ते ! होती है।" भगवान बोले : "अब यदि कोई पुरुष उस नाव के सारे छिद्रों को ढक दे और उलीच कर उसके सारे जल को बाहर निकाल दे तो हे मण्डितपुत्र ! वह नौका सारे पानी को उलीच देने पर शीघ्र ही जल के ऊपर आती है क्या यह ठीक है ?" मण्डितपुत्र बोले : "यह सच है भन्ते ! वह ऊपर आती है।"

स्वामीजी के कथनानुसार यह वार्तालाप आस्रव और संवर के स्वरूप पर प्रकाश डालता है। आत्मा मिथ्यात्व आदि आस्रवों—छिद्रों द्वारा कर्म रूपी जल से खचाखच भर जाती है। संवर द्वारा आस्रव रूपी छिद्रों को रुंध देने पर पुन: नये कर्मरूपी जल का प्रवेश रुक जाता है। संचित कर्म-जल को तप द्वारा उलीच देने पर आत्मा पुन: कर्म-जल से रिक्त होती है। ऊपर जो वार्तालाप दिया गया है उसका मूल पाठ (भगवती ३.३) इस प्रकार है—

से जहा नाम ए हरए सिया, पुण्णे, पुण्णप्पमाणे, वोलट्टमाणे, वोसट्टमाणे समभर घडत्ताए चिट्ठइ। अहे णं केइ पुरिसे तंसि हरयंसि एगं महं णावं सयासवं, सयच्छिद्दं ओगाहेज्जा, से णूणं मंडिअपुत्ता ! सा नावा तेहिं आसवदारेहिं आपूरेमाणी आपूरेमाणी, पुण्णा, पुण्णप्पमाणा, वोलट्टमाणा, वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठति। अहे णं केइ पुरिसे तीसे नावाए सव्वओ समंता आसवदाराइं पिहेइ, पिहित्ता णावा उस्सिंचणएणं उदयं उस्सिचिज्जा, से णूणं मंडिअपुत्ता ! सा नावा तंसि उदयंसि उस्सित्तंसि समाणंसि खिप्पामेव उड्ढं उद्दाइ ? हंता, उद्दाइ।

भगवती सूत्र का दूसरा वार्तालाप इस प्रकार है :

"भन्ते ! जीव और पुद्गल अन्योन्य बद्ध, अन्योन्य स्पृष्ट, अन्योन्य स्नेह से प्रतिबद्ध, अन्योन्य अवगाढ़; अन्योन्य घट होकर रहते हैं ?" "हाँ गौतम ! रहते हैं।" "भन्ते !

ऐसा किस हेतु से कहते हैं ?" "गौतम ! एक हृद हो, वह जल से भरा हो, छलाछल भरा हो, जल से छलकता हो, जल से बढ़ता हो और भरे हुए घड़े की तरह स्थित हो अब यदि कोई एक बड़ी सौ छोटे छिद्रोंवाली और सौ बड़े छिद्रोंवाली नाव उसमें प्रविष्ट करे तो हे गौतम ! वह नाव उन आस्रवद्वारों से—छिद्रों से भराती, अधिक भराती, जल से भरी हुई, जल से छलाछल भरी हुई, जल से छलकती हुई, जल से बढ़ती हुई और अन्त में भरे घड़े की तरह स्थित होकर रहती है या नहीं।" "भन्ते ! रहती है।" "हे गौतम ! मैं इसी हेतु से कहता हूँ कि जीव और पुद्गल अन्योन्य बद्ध यावत् अन्योन्य घट होकर स्थित हैं।"

स्वामीजी के कथनानुसार यह वार्तालाप भी आस्रव के स्वरूप पर सुन्दर प्रकाश डालता है। मिथ्यात्वादि आस्रव विकराल छिद्र हैं जिनसे जीव-रूपी नौका पाप-रूपी जल से छलाछल भर जाती है। भगवती सूत्र (१.६) का मूल पाठ इस प्रकार है :

> अत्थि णं भंते ! जीवा य, पोग्गला य अन्नमन्नबद्धा, अन्नमन्नपुट्ठा, अन्नमन्न-ओगाढा, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति ? हंता, अत्थि। से केणट्ठेणं भंते ! जाव—चिट्ठंति ? गोयमा ? से जहाणामाए हरदे सिया, पुन्ने, पुण्णप्प-माणे, वोलट्टमाणे, वोसट्टमाणे समभरघडत्ताए चिट्ठइ। अहे णं केई पुरिसे तंसि हरदंसि एगं महं नावं सयासवं, सयछिद्दं ओगाहेज्जा। से णूणं गोयमा ! सा णावा तेहिं आसवदारेहिं आपूरमाणी, आपूरमाणी पुन्ना, पुन्नप्पमाणा, वोलट्टमाणा, वोसट्टमाणा, समभरघडत्ताए चिट्ठइ ? हंता, चिट्ठइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ? अत्थि णं जीवा य जाव-चिट्ठंति।

१६—आस्रव विषयक कुछ अन्य संदर्भ (गा० २३) :

आस्रव के स्वरूप को हृदयङ्गम कराने के लिए स्वामीजी ने आगम के कुछ ऐसे संदर्भ गा० १२ से २२ में संकलित किये हैं जहाँ आस्रवद्वार का उल्लेख है। विषय को संक्षिप्त करने के लिए अन्य अनेक संदर्भों का उल्लेख उन्होंने वहाँ नहीं किया। उनकी अन्य गद्यात्मक कृति में अन्य स्थलों के संदर्भ भी हैं। हम यहाँ कुछ दे रहे हैं।

१—स्थानाङ्ग (१.१३.१४) में 'एगे आसवे' 'एगे संवरे' ऐसे पाठ हैं। टीका में विवेचन करते हुए लिखा है—"जिससे कर्म आत्मा में आस्रवित होते हैं—प्रवेश करते हैं उसे आस्रव कहते हैं। आस्रव अर्थात् कर्म-बन्ध का हेतु। जिस परिणाम से कर्मों के कारण

प्राणातिपातादि का संवरण—निरुंधन होता है वह संवर है। संवर अर्थात् आस्रव-निरोध[1]।

टीका में आस्रव का वही स्वरूप प्रतिपादित है जो स्वामीजी ने बताया है। टीकाकार ने संवर की जो परिभाषा दी है वह इसे और भी स्पष्ट कर देता है।

२—उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन का ३७ वां प्रश्नोत्तर योगप्रत्याख्यान सम्बन्धी है। वहाँ कहा है—"योगप्रत्याख्यान से जीव अयोगीपन प्राप्त करता है। अयोगी जीव नये कर्मों का बंध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।"

बाद के ५३,५४ और ५५ वें बोलों में मनोगुप्ति आदि के फल इस प्रकार बतलाये हैं:

"मनोगुप्ति से जीव एकाग्रता उत्पन्न करता है। मनोगुप्त जीव एकाग्रचित्त से संयम का आराधक होता है। वचनगुप्ति से जीव निर्विकारिता को उत्पन्न करता है। वचन-गुप्त जीव निर्विकारिता से अध्यात्मयोग की साधना वाला होता है। कायगुप्ति से जीव संवर उत्पन्न करता है। कायगुप्त जीव संवर से पापास्रवों का निरोध करता है।"

इस वार्तालाप में प्रकारान्तर से मन, वचन और काय के निरोध का ही उपदेश है। मन, वचन और काय—ये तीनों योग आस्रव रूप हैं। उनसे कर्म आते हैं। कर्मों का आगमन आत्मा के हित के लिए नहीं होता, इसीलिए योग-निरोध का उपदेश है।

३—उत्तराध्ययन अ० २३ में केशी और गौतम का एक सुन्दर वार्तालाप मिलता है:

केशी बोले: "गौतम! महाप्रवाह वाले समुद्र में विपरीत जाने वाली नौका में आप आरुढ़ हैं। इससे आप कैसे उस पार पहुँच सकेंगे?"

गौतम बोले: "जो नौका आस्रववणी होती है वही पार नहीं पहुँचाती। जो नौका अनास्रवणी होती है—छिद्र रहित होती है अर्थात् जल का संग्रह करने वाली नहीं होती वह पार पहुँचा देती है।"

१—ठाणाङ्ग १.१३ टीका:

आश्रवन्ति—प्रविशन्ति येन कर्म्माण्यात्मनीत्याश्रवः, कर्म्मबन्धहेतुरिति भावः,... संवियते—कर्मकारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स संवरः, आश्रवनिरोध इत्यर्थः

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥७१॥

केशी बोले : "वह नौका कौन सी है ?"

गौतम बोले : "यह शरीर नौका रूप है। जीव नाविक है। संसार समुद्र है। महर्षि संसार-समुद्र को तैर जाते हैं।"

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवे वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥७३॥

इस प्रसंग का सार है—जिस तरह आस्रवणी नौका समुद्र के उस पार नहीं पहुँचाती वैसे ही आस्रवणी आत्मा जीव को संसार-समुद्र के उस पार नहीं पहुँचाती। अतः आत्मा को निरास्रव करना चाहिए।

४—उत्तराध्ययन अ० ३५ में एक गाथा इस प्रकार है :

निम्ममे निरहंकारे, वीयरागो अणासवो।
संपत्तो केवलं नाणं सासयं परिणिव्वुए ॥२१॥

जो ममत्वरहित होता है, निरहंकार होता है, वीतराग होता है, आस्रवरहित होता है वह केवलज्ञान को पाकर शाश्वत रूप से परिनिवृत्त होता है।

इस गाथा में आसन्नमुक्त आत्मा का एक प्रधान गुण आस्रवरहितता कहा गया है।

२०—आस्रव जीव या अजीव (गा० २४)

नौ पदार्थों में जीव कितने हैं, अजीव कितने हैं, यह एक बहुत पुराना प्रश्न है। जीव जीव है, अजीव अजीव है, अवशेष सात पदार्थों में कौन जीव कोटि का हैं कौन अजीव कोटि का ?

श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों ही मानते हैं कि मूल पदार्थ जीव और अजीव दो ही हैं। अन्य पदार्थ उन्हीं के भेद या परिणाम हैं[1]। अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं : "जीव अजीव दोनों पदार्थ अपने भिन्न स्वरूप के अस्तित्व से मूल पदार्थ हैं, अवशेष सात पदार्थ

१—(क) द्रव्यसंग्रह २८ :

आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥

(ख) ठाणाङ्ग ९.३.६६५ टीका :

यावेव जीवाजीवपदार्थौ सामान्येनोक्तौ तावेवेह विशेषतो नवधोक्तौ।

जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हैं[1]।" ऐसा मानने से उपर्युक्त प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है।

श्री सिद्धसेन गणि लिखते हैं : "सात पदार्थों में प्रकृतत: जीव और अजीव द्रव्य और भाव से स्थिति-उत्पत्ति-प्रलय स्वभाववाले कहे गये हैं।...वस्तुत: चेतन अचेतन लक्षणयुक्त जीव और अजीव ये दो ही सद्भाव पदार्थ हैं। आस्रव यदि जीव अथवा जीव पर्याय है तो वह सर्वथा जीव ही है। यदि वह अजीव अथवा अजीव पर्याय है तो सर्वथा अजीव ही है। चेतन अचेतन को छोड़कर अन्य पदार्थ नहीं है। अत: आस्रव क्या है ? यह प्रश्न है।...आस्रव क्रिया विशेष है। वह आत्मा और शरीर आदि के आश्रित है अतः केवल जीव अथवा जीव-पर्याय नहीं है। वह केवल अजीव अथवा अजीव-पर्याय भी नहीं कारण कि वह आत्मा और शरीर दोनों के आश्रित है[2]।"

दिगम्बर आचार्यों ने पुण्य आदि पदार्थों के द्रव्य और भाव इस तरह से दो-दो भेद किये हैं। संक्षेप में उनका कथन है : "जीव का शुभ परिणाम भावपुण्य है, उसके निमित्त से उत्पन्न सद्वेदनीय आदि शुभ प्रकृतिरूप पुद्गलपरमाणुपिण्ड द्रव्यपुण्य है। मिथ्यात्वरागादिरूप जीव का अशुभ परिणाम भावपाप है; उसके निमित्त से उत्पन्न असद्वेदनीय आदि अशुभ प्रकृति रूप पुद्गलपिण्ड द्रव्यपाप है। रागद्वेष मोहरूप जीव-परिणाम भावास्रव है; भावास्रव के निमित्त से कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गलों का योग-द्वार से आगमन द्रव्यास्रव है। कर्म-निरोध में समर्थ निर्विकल्पक आत्मलब्धि रूप परि-णाम भावसंवर है; उस भावसंवर के निमित्त से नये द्रव्य कर्मों के आगमन का निरोध द्रव्यसंवर है। कर्मशक्ति को दूर करने में समर्थ बारह प्रकार के तप से वृद्धिगत संवर युक्त शुद्धोपयोग भाव निर्जरा है; उस शुद्धोपयोग से नीरस हुए चिरंतन कर्मों का एक देश गलन—अंशत: दूर होना द्रव्यनिर्जरा है। प्रकृति आदि बंध से शून्य परमात्मपदार्थ से प्रतिकूल मिथ्यात्वरागादि से स्निग्ध परिणाम भावबन्ध है; भावबन्ध के निमित्त से तैल लगे हुए शरीर के धूलि-लेप की तरह जीव और कर्म प्रदेशों का परस्पर संश्लेष द्रव्यबन्ध है। कर्म

१—पञ्चास्तिकाय २.१०८ अमृतचन्द्रीय टीका :

इमौ हि जीवाजीवौ पृथग्भूताऽस्तित्वनिर्वृत्तत्वेन भिन्नस्वभावभूतौ मूलपदार्थौ।
जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ताः सप्ताऽन्ये च पदार्थाः।

२—तत्त्वा० अ० ६ उपोद्घात-भाष्य की सिद्धसेन टीका

का निर्मूलन करने में समर्थ शुद्ध आत्मलब्धिरूप जीव परिणाम भावमोक्ष है; भावमोक्ष के निमित्त से जीव और कर्म-प्रदेशों का निरवशेष पृथक्भाव द्रव्य मोक्ष है[1] ।"

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कई श्वेताम्बर आचार्यों ने कहा है : "संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये जीव और अरूपी हैं तथा बंध, आश्रव, पुण्य, पाप, अजीव और रूपी हैं[2] ।"

अभयदेव सूरि ने इस प्रश्न का उत्तर विस्तार से देते हुए लिखा है "पुण्य आदि पदार्थ जीव अजीव व्यतिरिक्त नहीं हैं। पुण्य पाप दोनों कर्म हैं। बन्ध पुण्य-पापात्मक है। कर्म पुद्गल का परिणाम है। पुद्गल अजीव है। आश्रव मिथ्यादर्शनादि रूप जीव के परिणाम हैं। आत्मा और पुद्गल के अमिलन का कारण संवर आश्रव-निरोध लक्षण वाला है। वह देश सर्व निवृत्ति रूप आत्म-परिणाम है। निर्जरा कर्म परिशाट रूप है। जीव स्वशक्ति से कर्मों को पृथक् करता है वह निर्जरा है। आत्मा का सर्व कर्मों से विरहित होना मोक्ष है। (अन्य पदार्थों का जीव अजीव पदार्थों में समावेश हो जाने से ही कहा है कि) जीव अजीव सद्भाव पदार्थ हैं। इसीलिए कहा कि लोक में जो हैं वे सर्व दो प्रकार के हैं—या तो जीव अथवा अजीव। सामान्य रूप से जीव अजीव दो पदार्थ कहे हैं उन्हें ही विशेष रूप से नौ प्रकार से कहा है[3] :"

१—(क) पञ्चास्तिकाय २.१०८ अमृतचन्द्रीय टीका

(ख) वही २.१०८ जयसेनाचार्यकृत टीका

(ग) द्रव्यसंग्रह २.२६,३२,३४,३६,३८

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः श्री नवतत्त्वप्रकरणम् १०५।१३३

जीवो संवर निज्जर मुक्खो चत्तारि हुंति अरूवी ।
रूवी बंधासवपुन्नपावा मिस्सो अजीवो य ॥

३—ठाणाङ्ग ९.३.६६५ टीका :

ननु जीवाजीवव्यतिरिक्ताः पुण्यादयो न सन्ति, तथाऽयुज्यमानत्वात् तथाहि—पुण्यपापे कर्म्मणी बन्धोऽपि तदात्मक एव कर्म्म च पुद्गलपरिणामः पुद्गलाश्चाजीवा इति आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामो जीवस्य, स चात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः ? संवरोऽप्याश्रवनिरोधलक्षणो देशसर्व्वभेद आत्मनः परिणामो निवृत्तिरूपो, निर्जरा तु कर्म्मपरिशाटो जीवः कर्म्मणां यत् पार्थक्यमापादयति स्वशक्त्या, मोक्षोऽप्यात्मा समस्तकर्म्मविरहित इति तस्माज्जीवाजीवौ सद्भावपदार्थाविति वक्तव्यं, अत एवोक्तमिहैव "जदत्थिं च णं लोए तं सव्वं दुप्पडोयारं, तंजहा—जीवच्चेअ अजीवच्चेअ" अत्रोच्यते, सत्यमेतत्, किन्तु यावेव जीवाजीवपदार्थौ सामान्येनोक्तौ तावेवेह विशेषतो नवधोक्तौ ।

यहाँ अभयदेव सूरि ने आस्रव को मिथ्यादर्शनादि रूप जीव-परिणाम, संवर को निवृत्तिरूप आत्म-परिणाम, देश रूप से कर्मों का दूर होना निर्जरा और सर्व कर्मराहित्य को मोक्ष कहा है।

इस तरह अभयदेव सूरि ने आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष को जीव पदार्थ में डाला है। पुण्य और पाप को कर्म कहा है। बंध को पुण्य-पाप कर्मात्मक कहा है। कर्म पुद्गल हैं। पुद्गल अजीव है। इस तरह उन्होंने पुण्य, पाप और बन्ध को अजीव पदार्थ में डाला है।

उन्होंने नव सद्भाव पदार्थों में से प्रत्येक की जो परिभाषा दी है उससे उनका मन्तव्य और भी स्पष्ट हो जाता है। "जीव सुख-दुःख ज्ञानोपयोग लक्षण वाला है। अजीव उससे विपरीत है। पुण्य—शुभ प्रकृति रूप कर्म है। पाप—अशुभ प्रकृति रूप कर्म है। जिससे कर्म ग्रहण हों उसे आस्रव कहते हैं। आस्रव शुभाशुभ कर्म के आने का हेतु है। संवर-गुप्ति आदि से आस्रव का निरोध संवर है। विपाक अथवा तप से कर्म का देशतः क्षपण निर्जरा है। आस्रव द्वारा गृहीत कर्मों का आत्मा के साथ संयोग बंध है। सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से आत्मा का आत्म-भाव में अवस्थान मोक्ष है[1]।"

जीव जीव है इसमें सन्देह की बात ही नहीं। अजीव अजीव है इसमें भी सन्देह की बात नहीं। पुण्य और पाप कर्म हैं अतः अजीव हैं। आस्रव को कर्म का हेतु कहा गया है। वह कर्म नहीं उससे भिन्न है, अतः अजीव नहीं जीव है। संवर कर्मों को दूर रखने वाला आत्म-परिणाम है अतः जीव है। निर्जरा देशशुद्धि कारक आत्म-परिणाम है अतः जीव है। मोक्ष विशुद्ध आत्म-स्वरूप है। इस तरह जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव-कोटि के हैं तथा अजीव, पुण्य, पाप और बंध अजीव कोटि के।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आस्रव के विषय में तीन मान्यताएँ हैं :

१—आस्रव अजीव है।

२—आस्रव जीव-अजीव का परिणाम है।

३—आस्रव जीव है।

१—ठाणाङ्ग ९. ३.६६५ टीका :

जीवाः सुखदुःखज्ञानोपयोगलक्षणाः, अजीवास्तद्विपरिताः, पुन्यं—शुभप्रकृतिरूपं कर्म पापं—तद्विपरीतं कर्मैव आश्रूयते—गृह्यते कर्मानेनेत्याश्रवः शुभाशुभकर्मादान हेतुरितिभावः, संवरः—आश्रवनिरोधो गुप्त्यादिभिः, निर्जरा विपाकात् तपसा वा कर्म्मणां देशतः क्षपणा, बन्धः आश्रवैरात्तस्य कर्म्मण आत्मना संयोगः, मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयादात्मनः स्वात्मन्यवस्थानमिति।

भिन्न-भिन्न मान्यता के अनुसार आस्रव की परिभाषाएँ भी भिन्नता को लिए हुए हैं।

जो आस्रव को अजीव मानते हैं उनकी परिभाषा है : **"द्रव्याश्रवो यज्जलान्तर्गत-नावादौ तथाविधच्छिद्रैर्जलप्रवेशनं भावाश्रवस्तु यज्जीवनावीन्द्रियादिच्छिद्रतः ,कर्मजल-सञ्चय[1]"**—जलान्तर्गत नौका में तथा विध छिद्रों द्वारा जल का प्रवेश द्रव्यास्रव है। जीव रूपी नौका में इन्द्रियादि छिद्रों द्वारा कर्म-जल का सञ्चय भावास्रव है।

इस परिभाषा के अनुसार कर्मादान आस्रव है।

जो आस्रव को जीव-अजीव का परिणाम मानते हैं उनकी परिभाषा है : **"मोह-रागद्वेषपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलाना-मास्रवः[2]"**—मोह-राग-द्वेष रूप जीव के परिणामों के निमित्त से मन-वचन-काय रूप योगों द्वारा पुद्गल कर्म वर्गणाओं का जो आगमन है वह आस्रव है।

इस परिभाषा के अनुसार मोह-राग-द्वेष परिणाम भावास्रव हैं और उनसे होनेवाला कर्मादान द्रव्यास्रव।

जो आस्रव को जीव मानते हैं उनकी परिभाषा है :

भवभमणहेउ कम्मं, जीवो अणुसमयमासवइ जत्तो।
सो आसवो त्ति तस्स उ, बायालीस भवे भेया ॥[3]

—जिसके द्वारा जीव भव-भ्रमण के हेतु कर्म का प्रति समय आस्रवण करता है वह आस्रव है।

इस परिभाषा से कर्मादान के हेतु आस्रव हैं।

स्वामीजी आस्रव को जीव मानते है। उनकी दृष्टि से तीसरी परिभाषा ही आगमिक है।

स्वामीजी आगे चल कर इसी ढाल में सिद्ध करेंगे कि आस्रव जीव कैसे है।

१—**ठाणाङ्ग १.१३ टीका**

२—**पञ्चास्तिकाय २.१०८ अमृतचन्द्र टीका**

३—**नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः नवतत्त्वप्रकरण गा० ३३**

२१—आस्रव जीव-परिणाम है अतः जीव है (गा० २५) :

स्वामीजी ने गा० १ में आस्रव के सामान्य स्वरूप, गा० २ में आस्रव के पाँच भेद, गा० ३ से ८ में पाँचों आस्रवों की विलक्षणता तथा गा० ९ से २३ में आस्रव पदार्थ सम्बन्धी आगम-संदर्भों पर प्रकाश डाला है। इस प्रतिपादन के बाद अब यहाँ स्वामीजी ढाल के मूल प्रतिपाद्य विषय—आस्रव जीव है या अजीव ?—का विवेचन करना चाहते हैं। उनका कथन है—"आस्रव पदार्थ जीव है। उसको अजीव मानना विपरीत श्रद्धान है" (दो० २,३, गा० २४)।

स्वामीजी ने दो० ४ में कहा है—"आस्रव निश्चय ही जीव है। सिद्धान्त में आस्रव को जगह-जगह जीव कहा है।"

अब स्वामीजी इसी बात को प्रमाणित करने के लिए अग्रसर होते हैं।

स्वामीजी गा० २४ तक के विवेचन में स्थान-स्थान पर यह कहते हुए आये हैं कि आस्रव जीव का परिणाम है अतः वह जीव है; अजीव नहीं हो सकता। प्रस्तुत गाथा में जीव, आस्रव और कर्म का परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए इसी दलील से आस्रव को जीव सिद्ध करते हैं। जीव चेतन-पदार्थ है। कर्म जड़-पुद्गल। आत्म-प्रदेशों में कर्म को ग्रहण करने वाला पदार्थ जीव-द्रव्य है। कर्म जिस निमित्त से आत्म-प्रदेशों में प्रवेश करते हैं वह आस्रव-पदार्थ है। आस्रव के पाँच भेद हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये क्रमशः जीव के मिथ्यात्वरूप, अविरतिरूप, प्रमादरूप, कषायरूप और योगरूप परिणाम हैं। कर्म जीव के इन परिणामों से आते हैं। इस तरह जीव के मिथ्यात्व आदि परिणाम ही आस्रव हैं। जीव के परिणाम जीव से भिन्न स्वरूप वाले नहीं हो सकते हैं अतः आस्रव पदार्थ जीव है।

२२—जीव अपने परिणामों से कर्मों का कर्त्ता है अतः जीव-परिणाम स्वरूप आस्रव जीव है (गा० २६-२७) :

लोक में छः द्रव्य हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। धर्म, अधर्म और आकाश समूचे लोक में व्याप्त होने से वे जीव में भी व्याप्त हैं पर उनका जीव के साथ वैसा संयोग नहीं जैसा पुद्गल का है। धर्म आदि का सम्बन्ध स्पर्श रूप है जब कि पुद्गल का सम्बन्ध बंधन रूप। इस तरह जीव और पुद्गल दो ही पदार्थ ऐसे हैं जो परस्पर में आबद्ध हो सकते हैं। पुद्गल के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं जो जीव के साथ आबद्ध हो सके।

प्रश्न है चेतन-जीव और जड़-पुद्गल का परस्पर सम्बन्ध कैसे होता है? इसका उत्तर आचार्य कुन्दकुन्द ने बड़े सुन्दर ढंग से दिया है। वे कहते हैं :

"उदय में आए हुए कर्मों का अनुभव करता हुआ जीव जैसे भाव—परिणाम करता है उन भावों का वह कर्त्ता है। कर्म बिना जीव के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमिक भाव नहीं हो सकते क्योंकि कर्म ही न हो तो उदय आदि किस के हों? अतः उदय आदि चारों भाव कर्मकृत हैं। प्रश्न हो सकता है यदि ये भाव कर्मकृत हैं तो जीव उनका कर्त्ता कैसे है? इसका उत्तर यह है कि भाव, कर्म के निमित्त से उत्पन्न हैं और कर्म, भावों के निमित्त से। जीव के भाव कर्मों के उपादान कारण नहीं और न कर्म भावों के उपादान कारण हैं। स्वभाव को करता हुआ आत्मा अपने ही भावों का कर्त्ता है, निश्चय ही पुद्गल कर्मों का नहीं। कर्म भी स्व भाव से स्वभाव का ही कर्त्ता है आत्मा का नहीं। प्रश्न हो सकता है यदि कर्म कर्म-भाव को करता है और आत्मा आत्म-भाव को तब आत्मा कर्म-फल को कैसे भोगता है और कर्म अपना फल कैसे देते हैं? इसका उत्तर इस प्रकार है—सारा लोक सब जगह अनन्तानन्त सूक्ष्म-बादर विविध पुद्गलकायों द्वारा खचाखच भरा हुआ है। जब आत्मा स्व भाव को करता है तब वहाँ रहे हुए अन्योन्यावगाढ़ पुद्गल स्वभाव से कर्मभाव को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार पुद्गलद्रव्यों की अन्य द्वारा अकृत बहु प्रकार की स्कंध-परिणति देखी जाती है उसी प्रकार कर्मों की विचित्रता भी जानो। जीव और पुद्गलकाय अन्योन्य अवगाढ़ मिलाप से बंधते हैं। बंधे हुए पुद्गल उदय काल में अपना रस देकर विखरते हैं तब साता-असाता देते हैं और जीव उन्हें भोगता है। इस तरह जीव के भावों से संयुक्त होकर कर्म अपने परिणामों का कर्त्ता है। और जीव अपने चेतनात्मक भावों से कर्मफल का भोक्ता है[1]।"

इसी बात को उन्होंने अन्यत्र इस प्रकार समझाया है—"आत्मा उपयोगमय है। उपयोग ज्ञान और दर्शन रूप है। ज्ञान-दर्शनरूप आत्म-उपयोग ही शुभ अथवा अशुभ होता है। जब जीव का उपयोग शुभ होता है तब पुण्य का संचय होता है और अशुभ होता है तब पाप का। दोनों के अभाव में परद्रव्य का संचय नहीं होता[2]।" "लोक सब जगह सूक्ष्म और बादर आत्मा के ग्रहण योग्य अथवा अग्रहण योग्य ऐसे पुद्गलकायों से अत्यन्त

१—**पञ्चास्तिकाय १.५७-६८**
२—**प्रवचनसार २.६३-६४**

अवगाढ़ रूप से भरा हुआ है। जीव की भाव-परिणति को पाकर कर्मरूप होने योग्य पुद्गल-स्कंध आठ कर्मरूप भाव—परिणाम को प्राप्त होते हैं[1]।"

संसारी जीव अनन्त काल से कर्म-बद्ध है। उन कर्मों की उदय, उपशम आदि अवस्थाएँ होती हैं जिससे जीव में नाना प्रकार के भाव—परिणाम उत्पन्न होते हैं। जैसे मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद आदि। जब जीव कर्मों के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वादि भावों में प्रवर्तन करता है तब पुन: नये कर्मों का बंध होता है। जब इनमें प्रवर्तन नहीं करता तब कर्म नहीं होते। अर्थात् आत्मा कर्म करता है तभी कर्म होते हैं; नहीं करता तब कर्म नहीं होते। इससे आत्मा कर्मों का कर्त्ता सिद्ध होता है[2]।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि—

(१) जीव कर्मों को ग्रहण करता है, इसलिए वह कर्मों का कर्त्ता है। जीव कर्मों का उपादान कारण नहीं प्रेरक कारण है और

(२) जीव कर्मों को ग्रहण अपने भावों के निमित्त से करता है। जीव के शुभ-अशुभ भाव ही कर्मग्रहण के हेतु हैं।

स्वामीजी कहते हैं—"वे ही भाव जिनसे जीव कर्मों का कर्त्ता कहलाता है आस्रव हैं। जिस तरह आस्रवणी नौका का छिद्र नौका से भिन्न नहीं और मकान का द्वार मकान से भिन्न नहीं वैसे ही मिथ्यात्व आदि आस्रव जीव से भिन्न नहीं; जीव स्वरूप हैं—जीव हैं। जिस तरह सलिलवाही-द्वार द्वारा तालाब में जल आता है उसी तरह मिथ्यात्व आदि आस्रवों द्वारा जीव से कर्मों का संचय होता है। तालाब के स्रोत तालाब से भिन्न नहीं वैसे ही आस्रव जीव से भिन्न नहीं; जीवरूप हैं।"

जीव जब इन परिणामों में वर्तन करता है तब उनके प्रभाव से क्षेत्रस्थ कर्म-वर्गणा के परमाणु आत्मा के प्रदेशों में प्रवेश करते हैं। जीव के मिथ्यात्व, अविरति आदि भावों को ही आस्रव कहते हैं। जीव के इन भावों द्वारा जो अजीव पुद्गल द्रव्य आत्मा के साथ संसर्ग में आ उसे बंधनबद्ध करते हैं, वे कर्म कहलाते हैं। जीव के मिथ्यात्व, कषाय आदि भाव, आस्रव हैं। कर्म उनके फल। आस्रव कारण हैं और कर्म कार्य। जीव ही अपने भावों से कर्मों को ग्रहण करता है। उसके भाव ही आस्रव हैं। जीव के भाव उसके स्वरूप से भिन्न नहीं हो सकते अतः आस्रव जीव है।

१—प्रवचनसार २.७६-७७

२—इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन के लिए देखिए पृ० ३३ टि० ७ (१५)

२३—आचाराङ्ग में अपनी ही क्रियाओं से जीव कर्मों का कर्त्ता कहा गया है (गा० २८-३१) :

स्वामीजी ने गाथा २८-२९ में प्रथम अङ्ग आचाराङ्ग के जिस संदर्भ का उल्लेख किया है उसका मूल पाठ इस प्रकार है :

अकरिस्सं चऽहं, कारवेसुं चऽहं, करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि ।
एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारम्भा परिजाणियव्वा भवंति[1] ॥

इसका शब्दार्थ है—"मैंने किया, मैंने करवाया, करते हुए का अनुमोदन करूँगा। सब इतनी ही लोक में कर्मबन्ध की हेतुरूप क्रियाएँ समझनी चाहिए।"

इसका तात्पर्यार्थ है—मैंने किया, मैंने कराया, मैंने करते हुए का अनुमोदन किया; मैं करता हूँ, मैं कराता हूँ, करते हुए का अनुमोदन करता हूँ; मैं करूँगा, मैं कराऊँगा, मैं करते हुए का अनुमोदन करूँगा—ये क्रियाओं के विविध रूप हैं। ये कर्म के हेतु हैं।

यहाँ 'मैं' आत्मा का बोधक है। मनोकर्म, वचन-कर्म और काय-कर्म—ये तीन योग हैं। करना कराना और अनुमोदन करना—ये तीन करण हैं। प्रकारान्तर से कहा गया है कि आत्मा तीन करण एवं तीन योग से—मन, वचन, काय और कृत, कार्य, अनुमोदन रूप से भूत, वर्तमान, भविष्य काल में क्रियाओं का करने वाला है। ये क्रियाएँ कर्मबन्ध की हेतु हैं[2]।

स्वामीजी कहते हैं—"यहाँ जीव को स्पष्टतः क्रियाओं का कर्त्ता कहा है और क्रियाओं को कर्मों का कर्त्ता अर्थात् आस्रव।"

जिन क्रियाओं से जीव त्रिकाल में कर्मों का कर्त्ता होता है, वे योग आस्रव हैं। वे क्रियाएँ जीव के ही होती हैं। वे जीव से पृथक् नहीं, जीवस्वरूप हैं, जीव-परिणाम हैं अतः जीव हैं।

१—आचा० १.१.६

२—आचारांग दीपिका १.१.६

इह त्रिकालापेक्षया कृतकारितानुमतिभिर्नव विकल्पाः संभवन्ति, ते चामी—अहमकार्षं अचीकरमहं कुर्व्वन्तमन्यमन्वज्ञासिषमहं करोमि कारयामि अनुजानाम्यहं करिष्याम्यहं कारयिष्याम्यहं कुर्वन्तमन्यमनुज्ञास्याम्यहं, एते नव मनोवाक्कायैः चिन्त्यमाना भेदा भवन्ति। अकार्षमहमित्यनेन विशिष्टक्रियापरिणतिरूप आत्माऽभहितः ......तत्र ज्ञपरिज्ञया सर्व्वेऽपि कर्म्मसमारम्भा ज्ञातव्याः, प्रत्याख्यानपरिज्ञया सर्व्वेऽपि पापोपादानहेतवः कर्मसमारम्भाः प्रत्याख्यातव्याः।

श्री अकलङ्कदेव लिखते हैं—"आस्रव के प्रसंग में योग का अर्थ है त्रिविध क्रिया। तीनों योग आत्म-परिणामरूप ही हैं[1]।" स्वामीजी कहते हैं—जो आत्मपरिणामरूप हैं वे योग आत्मरूप ही हो सकते हैं अत: जीव हैं—अरूपी हैं।

२४—योगास्रव जीव कहा गया है (गाथा ३२-३४)

यहाँ स्वामीजी ने योग किस तरह जीव है, यह सिद्ध किया है। भगवती १२.१० में आठ आत्माएँ कही गई हैं। उनमें योगात्मा का भी उल्लेख है।

"गोयमा ! अट्ठविहा आया पण्णत्ता, तंजहा—दवियाया, कसायाया, योगाया, उवओगाया, णाणाया, दंसणाया, चरित्ताया, वीरियाया।"

"योगा मनः प्रभृतिव्यापारास्तत्प्रधानात्मा योगात्मा, योगवतामेव" (भगवती १२.१० टीका)। मन आदि के व्यापार को योग कहते हैं। योगप्रधान—योगयुक्त आत्मा को योगात्मा कहते हैं। इससे भासित होता है कि योग-आस्रव आत्मा है।

आगम में दस जीव-परिणाम कहे हैं। स्थानाङ्ग (१०.१.७१३) में इस सम्बन्ध में निम्न पाठ मिलता है :

"दसविधे जीवपरिणामे पं० तं०—गतिपरिणामे इंदितपरिणामे कसायपरिणामे लेसा० जोग० उवओग० णाण० दंसण० चरित्त० वेतपरिणामे।

उनमें योग-परिणाम का भी उल्लेख हैं। इससे योग-आस्रव जीव-परिणाम ठहरता है।

इस तरह आगमों के उल्लेख से योग-आस्रव स्पष्टत: जीव सिद्ध होता है।

योग का अर्थ है—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति सावद्य और निरवद्य दो प्रकार की होती है। सावद्य अर्थात् पापपूर्ण, निरवद्य अर्थात् पाप रहित। सावद्य योग पाप का आस्रव है, निरवद्य योग निर्जरा का हेतु होने से पुण्य का आस्रव है। सावद्य करनी से विपाकावस्था में दु:ख भोगना पड़ता है और निरवद्य करनी से सुखानुभूति होती है। सावद्य-निरवद्य करनी अजीव नहीं हो सकती। योगास्रव क्रियात्मक है। अत: वह जीव है इसमें कोई सन्देह नहीं।

१—तत्त्वार्थवार्तिक ६.१.१२; ६.१.९

इहास्रवप्रतिपादनार्थत्वात् त्रिविधक्रिया योग इत्युच्यते।

आत्मा हि निरवयवद्रव्यम्, तत्परिणामो योगः।

२५—भावलेश्या आस्रव है, जीव है अतः सब आस्रव जीव हैं (गा० ३५-३६)

भगवती श० १२ उ० ५ में निम्न पाठ मिलता है :

"कराहलेसा णं भंते ! कइवन्ना—पुच्छा। गोयमा ! दव्वलेसं पडुच्च पंचवन्ना, जाव—अट्ठफासा पराणत्ता, भावलेसं पडुच्च अवन्ना ४, एवं जाव सुक्कलेस्सा।"

"हे भन्ते ! कृष्णा लेश्या के कितने वर्ण हैं ?"

"हे गौतम ! द्रव्य लेश्या को प्रत्याश्रित कर पाँच वर्ण यावत् आठ स्पर्श कहे हैं। भाव लेश्या को प्रत्याश्रित कर उसे अवर्ण, अगंध, अरस, अस्पर्श—अरूपी कहा है। यही बात नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या तक जाननी चाहिए।"

लेश्या का अर्थ है जो आत्मा को—आत्मा के प्रदेशों को कर्मों से लिप्त करे। भाव लेश्या—जीव का अन्तरङ्ग परिणाम है। उपर्युक्त पाठ में जीव के अन्तरङ्ग परिणाम-रूप भावलेश्या को अरूपी कहा है। स्वामीजी कहते हैं—"भावलेश्या आस्रव है; अरूपी है अतः अन्य आस्रव भी जीव और अरूपी हैं।"

२६—मिथ्यात्वादि जीव के उदयनिष्पन्न भाव हैं (गा० ३७)

कर्मों के उदय से जीव में जो भाव—परिणाम निष्पन्न होते हैं उनमें छः लेश्या, मिथ्यात्व, अविरति और चार कषाय का नामोल्लेख है।

अनुयोगद्वार सू० १२६ में कहा है—"उदय दो प्रकार का है—उदय और उदय-निष्पन्न। आठ कर्म प्रकृतियों का उदय उदय है। उदयनिष्पन्न दो प्रकार का है—जीवोदयनिर्ष्पन्न और अजीवोदयनिष्पन्न। जीवोदयनिष्पन्न अनेक प्रकार का कहा है—नैरयिकत्व, तिर्यञ्चत्व, मनुष्यत्व, देवत्व, पृथिवीकायित्व यावत् त्रसकायित्व, क्रोध यावत् लोभ कषाय, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुँसक वेद, कृष्ण लेश्या यावत् शुक्ल लेश्या, मिथ्या-दृष्टि, अविरति, असंज्ञी, अज्ञानी, आहारक, छद्मस्थता, सुयोगी, संसारता, असिद्धत्व, अकेवली—ये सब जीवनिष्पन्न हैं।" मूल पाठ नीचे दिया जाता है :

"से किं तं उदइए ?, २ दुविहे पराणत्ते, तंजहा—उदइए अ उदयनिप्फराणे अ। से किं तं उदइए ?, २ अट्ठण्हं कम्मपयडीणं उदएणं, से तं उदइए। से किं तं, उदय-निप्फन्ने ? २ दुविहे पराणत्ते, तंजहा—जीवोदयनिप्फन्ने अ अजीवोदयनिप्फन्ने अ। से किं तं जीवोदयनिप्फन्ने ?, अणेगविहे पराणत्ते, तंजहा—णेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे पुढविकाइए जाव तसकाइए कोहकसाई जाव लोहकसाई इत्थीवेदए पुरिस-

वेयए णपुंसगवेदए कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे मिच्छादिट्ठी ३ अविरए असण्णी अण्णाणी आहारए छउमत्थे सजोगी संसारत्थे असिद्धे, से तं जीवोदयनिप्फन्ने"।

यहाँ जीव उदयनिष्पन्न के जो ३३ बोल कहे हैं, उनमें छः भाव लेश्याएँ, चार भाव कषाय, मिथ्यादृष्टि, अव्रती, सयोगी भी अन्तर्निहित हैं। अतः ये सब जीव हैं। चार भाव कषाय अर्थात् कषाय आस्रव, मिथ्यादृष्टि अर्थात् मिथ्यात्व आस्रव, अव्रती अर्थात् अविरति आस्रव, सयोगी अर्थात् योग आस्रव। इस तरह ये आस्रव जीव सिद्ध होते हैं।

भगवती १२.१० के पाठ में आठ आत्माएँ इस प्रकार कहीं गयी हैं : द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा :

इन आठ आत्माओं में कषाय आत्मा और योग आत्मा का उल्लेख भी है। कषाय-आत्मा कषाय-आस्रव है। योग-आत्मा योग-आस्रव है। जो कषाय-आस्रव और योग-आस्रव को अजीव मानते हैं उनके मत से कषाय-आत्मा और योग-आत्मा भी अजीव होना चाहिए। पर वे उपयोग-आत्मा, ज्ञान-आत्मा आदि की तरह ही जीव हैं, अजीव नहीं अतः कषाय-आस्रव और योग-आस्रव भी जीव हैं।

मिथ्यात्व, अविरति और कषाय को आगम में जीव-परिणाम कहा है।

मिथ्यात्व के सम्बन्ध में देखिए—भगवती २०-३, अनुयोगद्वार सू० १२६।

अविरति के सम्बन्ध में देखिए—अनुयोगद्वार १२६।

कषाय के विषय में देखिए—स्थानाङ्ग १०.१.७१३।

इससे मिथ्यात्व, अविरति और कषाय आस्रव—ये तीनों जीव सिद्ध होते हैं।

२७—योग, लेश्यादि जीव-परिणाम हैं अतः योगास्रव आदि जीव हैं (गा० ३८):

योग, लेश्या, मिथ्यात्व, अविरति और कषाय इनके सम्बन्ध में पूर्व (टि० २४-२५-२६) में जो विवेचन है उससे स्पष्ट है कि योग आदि पाँचों कर्मों के आने के हेतु होने से आस्रव हैं। वे कर्मों के कर्त्ता-उपाय हैं। उन्हें आगमों में आत्मा, जीव-परिणाम आदि संज्ञाओं से बोधित किया है। अतः यह निसंकोच कहा जा सकता है कि आस्रव मात्र—जीव-परिणाम, जीव-स्वरूप हैं अतः जीव हैं।

२८—आस्रव जीव-अजीव दोनों का परिणाम नहीं (गा० ३९-४०)

यहाँ स्वामीजी ने स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग) का उल्लेख किया है पर वास्तव में स्थानाङ्ग की टीका से अभिप्राय है[1]।

स्थानाङ्ग के नवें स्थानक सूत्र ६६५ में नौ सद्भाव पदार्थों का उल्लेख है—"**नव सब्भावपयत्था पं० तं० जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो।**"

१—**भ्रमविध्वंसनम् पृ० २९८ : "केतला एक अजाण जीव आस्रव ने अजीव कहै छै। अनें रूपी कहे छै। तेहनों उत्तर—ठाणाङ्ग ठा ९ टीका में आश्रव ने जीव ना परिणाम कह्या छै**

टीका करते हुए श्री अभयदेव ने आस्रव की व्याख्या इस रूप में की है:

आश्रूयते गृह्यते कर्माऽनेन इत्याश्रवः
शुभाशुभ कर्मादान हेतुरिति भावः
आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामो जीवस्य।
स चात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः।

जिससे कर्मों का ग्रहण हो उसे आस्रव कहते हैं।
आस्रव शुभाशुभ कर्मों के आदान का हेतु है।
आस्रव मिथ्यादर्शन आदि रूप जीव-परिणाम हैं।
वह आत्मा या पुद्गल को छोड़ कर अन्य हो ही क्या सकता है ?

स्वामीजी कहते हैं—"जो आस्रव जीव-परिणाम है वह अजीव अथवा रूपी कैसे होगा ?"

टीकाकार के "**सचात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः**, अर्थात् वह आश्रव आत्मा और पुद्गलों को छोड़ कर अन्य क्या है ?" शब्दों को लेकर कहा गया है—"आश्रव, आत्मा और पुद्गल इन दोनों का परिणाम स्वरूप ही है यह टीकाकार का आशय है। इसलिए आस्रव को एकान्त जीव मानना इस टीका से विरुद्ध समझना चाहिए। यद्यपि टीका के इस पूर्वोक्त वाक्य के पहले आस्रव के सम्बन्ध में यह वाक्य आया है कि '**आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामो जीवस्य**' तथापि इस वाक्य में '**परिणामो जीवस्य**' इसमें दो तरह का सन्धि-विच्छेद है—'**परिणामः जीवस्य**' और '**परिणामः अजीवस्य**' इन दोनों ही प्रकार का छेद करके आस्रव को जीव और अजीव दोनों का परिणाम बताना टीकाकार को इष्ट है[1]।"

उक्त मत से टीकाकार ने आस्रव को जीव-अजीव दोनों का परिणाम बताया है। कोई भी पदार्थ जीव अथवा अजीव, इन दो कोटियों को छोड़ कर तीसरी कोटि का नहीं हो सकता। टीकाकार के शब्द—'**सचात्मानंपुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः**' का आशय है आस्रव जीव हो सकता है अथवा अजीव। इन दोनों को छोड़ कर वह और क्या हो सकता है ? वह जीव का परिणाम है अतः अजीव कोटि का नहीं है। '**परिणामो जीवस्य**' के द्वारा '**परिणामः अजीवस्य**' का भाव भी दिया गया है, यह दलील उपर्युक्त स्पष्टीकरण के बाद नहीं टिकती। अगर आस्रव जीव-अजीव दोनों का ही परिणाम होता तो '**परिणामो जीवाजीवस्य**' ऐसा लिखते।

१—**सद्धर्ममण्डनम्—आश्रवाधिकारः बोल २१**

२६—मिथ्यात्व आश्रव (गा० ४१):

स्थानाङ्ग (स्था० १० उ० १ सू० ७३४) में दस मिथ्यात्व सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है :

दसविधे मिच्छत्ते पं० तं० अधम्मे धम्मसन्ना धम्मे अधम्मसन्ना अमग्गे मग्गसन्ना मग्गे उम्मग्गसन्ना अजीवेसु जीवसन्ना जीवेसु अजीवसन्ना असाहुसु साहुसन्ना साहुसु असाहुसन्ना अमुत्तेसु मुत्तसन्ना मुत्तेसु अमुत्तसन्ना

अधर्म में धर्म की संज्ञा आदि को मिथ्यात्व कहा है। मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत बुद्धि अथवा श्रद्धा। यह विपरीत बुद्धि अथवा असम्यक् श्रद्धा रूप व्यापार जीव के ही होता है। जीव का व्यापार जीव रूप है; अरूपी है—अजीव अथवा रूपी नहीं हो सकता। मिथ्यात्व ही मिथ्यात्व आस्रव है अतः वह अरूपी जीव है।

भगवती श० १२ उ० ५ में निम्न पाठ मिलता है :

सम्मदिट्ठि ३ चक्खुदंसणे ४ आभिणिबोहियणाणे ५ जाव—विब्भंगणाणे आहारसन्ना, जाव—परिग्गहसन्ना—एयाणि अवन्नाणि।

यहाँ सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सम्यक्‌मिथ्यादृष्टि—इन तीन दृष्टियों में मिथ्यादृष्टि को भी अवर्ण-अरूपी कहा है। विपरीत श्रद्धारूप उदयभाव मिथ्यादृष्टि को ही मिथ्यात्व आस्रव कहा जाता है। इस न्याय से मिथ्यात्व आस्रव भी जीव और अरूपी है।

३०—आस्रव और अविरति अशुभ लेश्या के परिणाम (गा० ४२):

उत्तराध्ययन (३४.२१-२२) में आस्रवप्रवृत्त दुराचारी को कृष्णलेश्या के परिणाम वाला कहा है :

> **पंचासवप्पवत्तो तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य।**
> **तिव्वारम्भपरिणओ खुड्डो साहसिओ नरो॥**
> **निद्धन्धसपरिणामो निस्संसो अजिइन्दिओ।**
> **एयजोगसमाउत्तो किण्हलेसं तु पारणमे॥**

पाँच आस्रवों में प्रवृत्त, तीन गुप्तियों से अगुप्त, षट्काय की हिंसा से अविरत, तीव्र आरंभ में परिणमन करने वाला, क्षुद्र, साहसिक, निर्दय परिणाम वाला, नृशंस, अजितेन्द्रिय—इन योगों से युक्त पुरुष कृष्णलेश्या के परिणाम वाला होता है।

यहाँ पाँच आस्रवों को कृष्णलेश्या का लक्षण कहा है। भाव कृष्णलेश्या अरूपी है, यह सिद्ध किया जा चुका है अतः उसके परिणाम या लक्षण रूप आस्रव भी अरूपी हैं।

यहाँ 'छसुं अविरओ'—कहते हुए छः काय की हिंसा की अविरति को भी कृष्णलेश्या का परिणाम कहा है। चूंकि भाव कृष्णलेश्या अरूपी है अतः अविरति आस्रव भी अरूपी है।

अवचूरिकार कहते हैं—"एतेन पञ्चाश्रव प्रवृत्तत्वादीनां भावकृष्ण लेश्यायाः सद्भावोपदर्शनादासां लक्षणयुक्तं याहि यत्सद्भाव एव स्यात् स तस्य लक्षणम्।"

'पञ्चास्रवप्रवृत्त' आदि द्वारा सद्भाव भावलेश्या के लक्षण कहे हैं। जिससे जिसका सद्भाव है वह उसका लक्षण होता है। भगवती के उपर्युक्त पाठ में छः भावलेश्याओं को अरूपी कहा है और यहाँ पंचास्रवों को कृष्ण भावलेश्या का लक्षण कहा है। इससे पाँच आस्रव भी अरूपी हैं। यदि भावलेश्या अरूपी है तो उसके लक्षण रूपी कैसे होंगे?

३१—जीव के लक्षण अजीव नहीं हो सकते (गा० ४३) :

वस्तु लक्षणों से पहचानी जाती है। लक्षण वस्तु के तदनुरूप होते हैं। जीव के लक्षण जीव रूप होते हैं और अजीव के लक्षण अजीव रूप।

लेश्या को जीव-परिणाम कहा है। आस्रव को लेश्या का लक्षण—परिणाम कहा है। लेश्या जीव-परिणाम है; जीव है अतः आस्रव भी जीव है।

३२—संज्ञाएँ अरूपी हैं अतः आस्रव अरूपी हैं (गा० ४४) :

भगवती (१२.५) में कहा है : "...आहारसन्ना जाव—परिग्गहसन्ना—एयाणि अवन्नाणि।" संज्ञाएँ चार हैं—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह[१]। ये चारों अवर्ण हैं। संज्ञाएँ कर्म-बंध की हेतु हैं। कर्म-बंध की हेतु संज्ञाएँ अरूपी हैं अतः कर्म-बंध के हेतु मिथ्यात्व आदि अन्य आस्रव भी अरूपी हैं।

३३—अध्यवसाय आस्रव रूप हैं (गा० ४५) :

स्वामीजी ने जो अध्यवसाय के दो प्रकार कहे हैं—(१) प्रशस्त और (२) अप्रशस्त उसका आगमिक आधार प्रज्ञापना का निम्न पाठ है :

"नेरइयाणं भंते केवतिया अज्झवसाणा पन्नत्ता? गोयमा! असंखेजा अज्झवसाणा पन्नता। ते णं भंते! किं पसत्था अपसत्था? गोयमा! पसत्थावि अपसत्थावि, एवं जाव वेमाणियाणं।" (पद० ३४)

१—(क) ठाणाङ्ग ३५६
(ख) समवायाङ्ग सम० ४

प्रशस्त अध्यवसाय शुभ कर्मों के निमित्त हैं और अप्रशस्त अशुभ कर्मों के। इस तरह अध्यवसाय कर्मों के हेतु—आस्रव हैं।

अध्यवसाय का अर्थ अन्तःकरण, मनसंकल्प[1] आदि मिलते हैं। इससे अध्यवसाय जीव-परिणाम ठहरते हैं। जैसे अध्यवसाय-आस्रव जीव-परिणाम है वैसे ही अन्य आस्रव भी जीव-परिणाम हैं अतः जीव हैं।

३४—ध्यान जीव के परिणाम हैं (गा० ४६) :

ध्यान चार हैं—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान[2]। इनमें आर्त और रौद्र ये दो ध्यान वर्ज्य हैं और धर्म और शुक्ल ध्यान आदरणीय[3]। आर्त और रौद्र ध्यान से पापों का आगमन होता है। कहा है—"चार ध्यानों में धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं और आर्त और रौद्र ये दो ध्यान संसार के[4]।"

किसी प्रकार के अनिष्ट संयोग या अनिष्ट वेदना के उपस्थित होने पर उसका शीघ्र वियोग हो इस प्रकार का पुनः-पुनः चिन्तन; इष्ट संयोग के न होने पर अथवा उसके वियोग होने पर उसकी बार-बार कामना रूप चिन्तन और निदान—विषय सुखों की कामना आर्तध्यान है।

हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-संरक्षण आदि का ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है।

स्वामीजी कहते हैं : "आर्त और रौद्र ध्यान पाप कर्म के हेतु हैं। ध्यान जीव के ही होता है। अतः आर्त और रौद्र ध्यान रूप आस्रव जीव के होते हैं और जीव हैं।"

१—(क) प्रज्ञा० ३४ टीका

(ख) नि० चू० १० : मणसंकप्पेत्ति वा अज्झवसाणं ति वा एगट्ठा

२—(क) ठाणाङ्ग सू० २४७

(ख) समवायाङ्ग सम० ४

३—उत्त० ३०. ३५ :

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं झाणं तं तु बुहावए॥

४—तत्त्वा० ९.३० भाष्य :

तेषां चतुर्णां ध्यानानां परे धर्म्य-शुक्ले मोक्षहेतू भवतः। पूर्वे त्वार्तरौद्रे संसारहेतू इति।

३५—आस्रव को अजीव मानना मिथ्यात्व है (गा० ४७-४८) :

यहाँ आस्रव को अजीव सिद्ध करने की चेष्टा करने वालों के लिए स्वामीजी ने पीपल को बांधकर ले जाने का जो उदाहरण दिया है, वह इस प्रकार है :

किसी सास ने अपनी बहू से कहा—"जा पीपल ले आ ?" आज्ञा पाते ही बहू पीपल लाने गई। गाँव के बीच में एक बड़ा पीपल का पेड़ था। बहू ने उसे देखा और सोचने लगी—यह बड़ा है, अतः उपयोग की दृष्टि से इसे ही ले जाना उचित है। ऐसा सोच वह उस पेड़ में रस्सी डाल कर उसे ले जाने के लिए जोरों से खींचने लगी। कुछ लोगों ने देखा और आश्चर्य से पूछा—"यह क्या कर रही हो ?" वह बोली—"सास के लिए पीपल ले जा रही हूँ।" तब लोगों ने उसकी मूर्खता पर हंसते हुए कहा—"अरी ! पीपल की टहनी या पत्ते ले जाओ। पीपल का पेड़ थोड़े ही जा सकता है !" यह सुनकर वह बोली—"सास ने पीपल मंगाया है; टहनी या पत्ते नहीं। इसलिए सास से बिना पूछे मैं टहनी या पत्ते नहीं ले जाऊँगी।" ऐसा कह वह सास से पूछने अपने घर गई।

स्वामीजी के कथन का सार यह है कि जिस तरह उस बहिन की पीपल को बांध कर घर ले जाने की चेष्टा व्यर्थ थी वैसे ही आस्रव को अजीव ठहराने की चेष्टा निरर्थक और नासमझी की बात है।

३६—आस्रव जीव कैसे ? (गा० ४९-५३) :

आस्रव पदार्थ जीव है, इस बात का प्रतिपादन स्वामीजी ने यहाँ कितनेक प्रश्नों के द्वारा किया है। स्वामीजी कहते हैं—इतनी बातों का उत्तर दो :

(१) तत्त्व की विपरीत श्रद्धा कौन करता है ?

(२) अत्याग भाव किसके होता है ?

(३) प्रमाद किसके होता है ?

(४) कषाय किसके होता है ?

(५) मन से भोगों की अभिलाषा कौन करता है ?

(६) मुख से बुरा वचन कौन बोलता है ?

(७) शरीर से कौन बुरी क्रिया करता है ?

(८) श्रोत्र आदि इन्द्रियों को कौन विषयों में लगाता है ?

विपरीत श्रद्धा, अत्यागभाव, प्रमाद, कषाय और योगप्रवृत्ति—ये सब आस्रव हैं। जीवद्रव्य के परिणाम अथवा व्यापार हैं। इन आस्रवों से जीव कर्मों को करता है। आस्रव जीव-परिणाम हैं; जीवरूप हैं।

जो मिथ्यात्वी आदि होते हैं उनके ही मिथ्यात्व आदि छिद्र हैं। जैसे नौका का छिद्र नौका से भिन्न नहीं होता वैसे ही मिथ्यात्व आदि मिथ्यात्वी से भिन्न नहीं होते, तद्रूप होते हैं।

मिथ्यात्व मिथ्यात्वी जीव के होता है, वह उसका भाव है। अविरति अविरत जीव के होती है, वह उसका भाव है। कषाय कषायीजीव के होता है, वह उसका भाव है। योग योगीजीव के होता है, वह उसका भाव है। ये भाव उस-उस जीव के हैं और उससे अलग अपना अस्तित्व नहीं रखते; अतः जीव-परिणाम हैं, जीव हैं।

३७—आस्रव और जीव-प्रदेशों की चंचलता (गा० ५४-५६) :

यहाँ तीन बातें सामने रखी गयी हैं :

(१) जीव के प्रदेश चंचल होते हैं।

(२) जीव सर्व प्रदेशों से कर्म ग्रहण करता है।

(६) अस्थिर प्रदेश आस्रव हैं और स्थिर प्रदेश संवर।

नीचे इन तीनों बातों पर क्रमशः प्रकाश डाला जाता है।

(१) जीव के प्रदेश चंचल होते हैं :

छट्ठे गणधर मंडिक ने प्रव्रज्या लेने के पूर्व अपनी शंकाएँ रखते हुए भगवान महावीर से पूछा :

"आकाशादि अरूपी पदार्थ निष्क्रिय होते हैं फिर आत्मा को सक्रिय कसे कहते हैं?"

"मंडिक! आकाशादि और आत्मा अरूपी होने पर भी आकाशादि अचेतन और आत्मा चेतन क्यों? जिस तरह आत्मा में चैतन्य एक विशेष धर्म है उसी तरह सक्रियत्व भी उसका विशेष धर्म है। आत्मा कुंभार की तरह कर्मों का कर्त्ता है अतः सक्रिय है, अथवा आत्मा भोक्ता है इससे वह सक्रिय है, अथवा देह-परिस्पन्द प्रत्यक्ष होने से आत्मा सक्रिय है। जिस प्रकार यन्त्रपुरुष में परिस्पन्द देखा जाता है जिससे वह सक्रिय है इसी प्रकार आत्मा में देह-परिस्पन्द प्रत्यक्ष होने से वह भी सक्रिय है।"

"देह-परिस्पन्द से देह सक्रिय होता है आत्मा नहीं।"

"मंडिक! देह-परिस्पन्द में आत्मा का प्रयत्न कारण होता है अतः आत्मा को सक्रिय मानना चाहिए।"

"प्रयत्न क्रिया नहीं होती अतः प्रयत्न के कारण आत्मा को सक्रिय नहीं माना जा सकता।"

"मंडिक ! प्रयत्न भले ही क्रिया न हो पर जो आकाश की तरह निष्क्रिय होता है उसमें प्रयत्न भी संभव नहीं होता। वस्तुतः प्रयत्न भी क्रिया ही है। यदि प्रयत्न क्रिया नहीं है तो फिर अमूर्त प्रयत्न देह-परिस्पन्द में किस हेतु से कारण होता है ?"

"प्रयत्न को दूसरे किसी हेतु की अपेक्षा नहीं, वह स्वतः ही देह-परिस्पन्द में निमित्त बनता है।"

"मंडिक ! तो फिर स्वतः आत्मा से ही देह-परिस्पन्द क्यों नहीं मानते व्यर्थ प्रयत्न को क्यों बीच में लाते हो ?"

"देह-परिस्पन्द में कोई अदृष्ट कारण मानना चाहिए कारण आत्मा अक्रिय है।"

"मंडिक ! यह अदृष्ट कारण मूर्त होना चाहिए या अमूर्त ? यदि अमूर्त होना चाहिए तो फिर आत्मा देह-परिस्पन्द का कारण क्यों नहीं हो सकता ? वह भी तो अमूर्त है। यदि अदृष्ट कारण मूर्त ही होना चाहिए तो वह कार्मण देह ही संभव है, अन्य नहीं। उस कार्मण शरीर में परिस्पन्द होगा तभी वह बाह्य शरीर के परिस्पन्द में कारण बन सकेगा। फिर प्रश्न होगा कार्मण शरीर के परिस्पन्द में क्या कारण है ? इस तरह प्रश्न की परम्परा का कोई अन्त नहीं आ सकेगा।"

"मंडिक ! शरीर में जिस प्रकार का प्रतिनियत विशिष्ट परिस्पन्द देखा जाता है वह स्वाभाविक भी नहीं माना जा सकता। 'जो वस्तु स्वाभाविक होती है और अन्य किसी कारण की अपेक्षा न रखती हो वह वस्तु सदैव होती है अथवा कभी नहीं होती[१]' —इस न्याय से शरीर में जो परिस्पन्द होता है यदि वह स्वाभाविक है तो सदा एक-सा होना चाहिए। परन्तु वस्तुतः शरीर की चेष्टा नाना प्रकार की होने से अमुक रूप से नियत ही देखी जाती है इसलिए उसे स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। अतः कर्म-सहित आत्मा को ही शरीर की प्रतिनियत विशिष्ट क्रिया में कारण मानना चाहिए। अतः आत्मा सक्रिय है।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन में संसारी आत्मा को सकंप माना जाता है। आगम में इस विषय में अनेक संवाद उपलब्ध हैं[२], जिनमें से एक यहाँ दिया जाता है :

१—विशेषावश्यक भाष्य गा० १८४५-४८ :

(ख) गणधरवाद पृ० ११४-११६

२—(क) भगवती २५.४

(ख) ,, ३.३

(ग) ,, १७.३

"भन्ते ! जीव सकंप होता है या निष्कंप ?"

"गौतम ! जीव सकंप भी हैं और निष्कंप भी । जीव दो प्रकार के हैं—(१) संसार-समापन्न और (२) असंसारसमापन्न—मुक्त । मुक्त जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) अनन्तर सिद्ध[1] और (२) परंपर सिद्ध[2] । इनमें जो परंपर सिद्ध होते हैं वे निष्कंप होते हैं और जो जीव अनन्तर सिद्ध हैं वे सकंप होते हैं[3]। जो संसारी जीव हैं वे भी दो प्रकार के होते हैं—(१) शैलेशी[4] और (२) अशैलेशी । शैलेशी जीव निष्कंप होते हैं और अशैलेशी सकंप ।"

"भन्ते ! जो जीव शैलेशी अवस्था को प्राप्त नहीं हैं वे अंशतः सकंप हैं या सर्वांशतः सकंप ?"

"हे गौतम ! वे अंशतः सकंप है और सर्वांशतः भी सकंप है।"

आत्मा की इस सकम्प अवस्था को ही योग कहते हैं और यही योग आस्रव है।

आचार्य पूज्यवाद लिखते हैं—"आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द—हलन-चलन योग है। वह निमित्तों के भेद से तीन प्रकार का है—काययोग, वचनयोग और मनोयोग । खुलासा इस प्रकार है—वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम के होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की काय-वर्गणाओं में से किसी एक प्रकार की वर्गणाओं के आलम्बन से होने वाला आत्म-प्रदेश-परिस्पन्द काययोग कहलाता है। शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई वचन-वर्गणाओं का आलम्बन होने पर तथा वीर्यान्तिराय और मत्यक्षरादि आवरण के क्षयोपशम से प्राप्त हुई भीतरी वचनलब्धि के मिलने पर वचनरूप पर्याय के सन्मुख हुए आत्मा के होने वाला प्रदेश-परिस्पन्द वचनयोग कहलाता है। वीर्यान्तिराय और नो-इन्द्रियावरण के क्षयोपशमरूप आन्तरिक मनोलब्धि के होने पर तथा बाहरी निमित्त भूत मनोवर्गणाओं का आलम्बन मिलने पर मनरूप पर्याय के सन्मुख हुए आत्मा के होनेवाला प्रदेश-परिस्पन्द मनोयोग कहलाता है। वीर्यान्तिराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षय हो जाने पर भी सयोग केवली के जो तीन प्रकार की वर्गणाओं की अपेक्षा आत्म-प्रदेश-परिस्पन्द होता है वह भी योग है, ऐसा जानना चाहिए[5]।"

स्वामीजी ने अन्यत्र लिखा है :

"अन्तराय कर्म के क्षयोपशम होने से क्षयोपशम वीर्य उत्पन्न होता है और अन्तराय कर्म के क्षय होने से क्षायक वीर्य उत्पन्न होता है। इस वीर्य के प्रदेश तो लब्धवीर्य हैं।

१—सिद्धत्व-प्राप्ति के प्रथम समय में स्थित।

२—सिद्धत्व-प्राप्ति के प्रथम समय के बाद के समयों में स्थित।

३—सिद्धिगमन-समय और सिद्धत्व-प्राप्ति का समय एक ही होने से और सिद्धिगमन के समय गमनक्रिया होने से ये सकंप कहे गये हैं।

४—ध्यान द्वारा शैल जैसी निष्कंप अवस्था को प्राप्त।

५—तत्त्वा० ६.१ सर्वार्थसिद्धि

वे स्थिर प्रदेश हैं। उसमें जो बल-पराक्रम शक्ति है वह नामकर्म के संयोग से वीर्य है। यही वीर्य आत्मा है। इस बल-पराक्रम-शक्ति के स्फोटन से प्रदेशों में हलचल होती है, जीव के प्रदेश आगे-पीछे होते हैं, यह योग आत्मा है।

"मोहकर्म के उदय से, नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेश चलते हैं उसे सावद्य-योग कहते हैं। यह योग आत्मा है।

"मोहकर्म के उदय बिना नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेश चलते हैं उसे निरवद्य-योग कहते हैं। यह भी योग आत्मा है।

"मोहकर्म के उदय से, नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेश चलते हैं, उसे अशुभ-योग कहते हैं। उससे एकान्त पाप लगता है।

"मोहकर्म के उदय से उदीर कर नामकर्मके संयोग से जीव प्रदेश का चलाना अशुभ योग है। उससे भी पाप कर्म लगते हैं। मोहकर्म के उदय बिना, नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेशों का चलाना शुभ योग है। उससे एकान्त पुण्य लगता है।

"मोहकर्म के उदय बिना नामकर्म की प्रकृति से उदीर कर जीव के प्रदेशों का चलाना शुभ योग है। यह निर्जरा की करनी है और पुण्य आकर लगते हैं।

"जीवके प्रदेशों का चलना अथवा उदीर कर चलाना उदयभाव है। चपलता, चलाचलता ये भी उदय भाव हैं।

"सावद्य उदय भाव पाप का कर्त्ता है और निरवद्य उदय भाव पुण्य का[1]।"

द्रव्य-आत्मा में अनन्त सामर्थ्य होता है। इसे लब्धिवीर्य कहते हैं। यह आत्मा का शुद्ध स्वाभाविक सामर्थ्य है। आत्मा और शरीर इन दोनों के संयोग से जो सामर्थ्य उत्पन्न होता है वह करणवीर्य है। यह आत्मा का क्रियात्मक सामर्थ्य है। इस करणवीर्य से आत्मा में कम्पन होता रहता है और इस कम्पन के कारण आत्मा कर्म-प्रदेशों में कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करती है। यही आस्रव है।

स्वामी कार्तिकेय लिखते हैं: "मन-वचन-काय योग हैं। वे ही आस्रव हैं। जीव प्रदेशों का स्पन्दन विशेष योग है। वह दो प्रकार का है। मोह के उदय से सहित और मोह के उदय से रहित। मोह के उदय से जो परिणाम जीव के होते हैं वे ही आस्रव हैं। ये परिणाम मिथ्यात्वादि को लेकर अनेक प्रकार के हैं।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि योगरूप आत्म-स्पन्दन जीव के ही होता है।

१—जोगां री चर्चा

(२) जीव सर्व प्रदेशों से कर्म ग्रहण करता है :

पंचसंग्रह में कहा है : "एक प्रदेश में रहे हुए अर्थात् जिस प्रदेशमें जीव रहता है उस प्रदेश में रहे हुए कर्म-योग्य पुद्गलों का जीव अपने सर्व प्रदेशों द्वारा बन्धन करता है। उसमें हेतु जीव के मिथ्यात्वादि हैं। ऐसा बंधन सादि और अनादि दोनों प्रकार का होता है[१]।" विशेषावश्यकभाष्य में कहा है : "जीव स्वयं आकाश के जितने प्रदेशों में होता है उतने ही प्रदेशों में रहे हुए पुद्गलों को अपने सर्व प्रदेशों से ग्रहण करता है[२]।"

स्वामीजी ने यही बात गा० ५५ में आगमों के आधार पर कही है।

भगवती में कहा है : "एकेन्द्रिय व्याघात न होने पर छहों दिशाओं से कर्म ग्रहण करते हैं। व्याघात होने पर कदाच तीन, कदाच चार और कदाच पाँच दिशाओं से आए हुए कर्मों को ग्रहण करते हैं[३]। शेष सर्व जीव नियम से छहों दिशाओं से आए हुए कर्मों को ग्रहण करते हैं[४]।"

यही बात उत्तराध्ययन (३३.१८) में कही गई है :

सव्वजीवाण कम्मं तु संगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥

(३) अस्थिर प्रदेश आस्रव है और स्थिर प्रदेश संवर :

भगवती सूत्र में भगवान महावीर और मण्डितपुत्र के बीच हुआ निम्न वार्तालाप-प्रसंग मिलता है :

"हे भगवन् ! क्या जीव सदा प्रमाणपूर्वक कम्पन करता, विविध रूप से कम्पन करता, गमन करता, स्पन्दन करता, स्पर्श करता, क्षोभता, जोर से प्रेरित करता तथा उन-उन भावों में परिणमन करता रहता है?"

"हे मण्डितपुत्र ! जीव सयोगी होता है तो सदा प्रमाणपूर्वक कंपन आदि करता और उन-उन भावों में परिणमन करता रहता है। जब जीव अयोगी होता है तब सदा प्रमाण-

---

१—एगपएसोगाढं सव्वपएसेहिं कम्मुणो जोग्गं ।
बंधइ जहुत्तहेउं साइयमणाइयं वावि ॥ २८४ ॥

२—गेण्हति तज्जोगं चिय रेणुं पुरिसो जधा कतब्भंगे ।
एगक्खेत्तोगाढं जीवो सव्वप्पदेसेहिं ॥ १६४१ ॥

३—जो एकेन्द्रिय जीव लोकान्त में होते हैं उनके ऊर्ध्व और आस-पास की दिशाओं से कर्म का आना संभव न होने से ये विकल्प घटते हैं।

४—भगवती १७.४

पूर्वक कंपन आदि नहीं करता और उन-उन भावों में परिणमन नहीं करता।"

"हे भगवन्! क्या जीव के अन्त में—मृत्यु के समय—अंतक्रिया होती है—कर्मों का सम्पूर्ण अन्त होता है?"

"हे मण्डितपुत्र! जब तक जीव सदा प्रमाणपूर्वक कंपनादि करता और उन-उन भावों में परिणमन करता है तब तक वह जीवों का आरंभ, सरंभ और समारंभ करता और उनमें लगा रहता है। ऐसा करता हुआ वह जीव अनेक प्राणी, भूत और सत्त्वों को दुःख, शोक, जीर्णता, अश्रुविलाप, मार और परिताप उत्पन्न करने में प्रवृत्त रहता है अतः उसके मृत्यु समय में अन्तक्रिया नहीं होती। जो जीव प्रमाणपूर्वक कंपन आदि नहीं करता वह आरम्भ, सरंभ और समारंभ में लगा हुआ नहीं होता और किसी प्राणी आदि को दुःख आदि उत्पन्न करने में प्रवृत्त नहीं होता अतः उसको मृत्यु समय में अन्तक्रिया होती है।"

"हे भगवन्! क्या श्रमणनिर्ग्रन्थों को क्रिया होती है?"

"हे मण्डितपुत्र! प्रमादप्रत्यय (प्रमाद के कारण) और योग (मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के) निमित्त से श्रमणनिर्ग्रंथों को भी क्रिया होती है।"

"हे मण्डितपुत्र! इसी तरह आत्मा द्वारा आत्मा से संवृत, इर्यासमित यावत् गुप्त ब्रह्मचारी, उपयोगपूर्वक गमन करने वाले यावत् आँख की उन्मेष तथा निमेष क्रिया भी उपयोगपूर्वक करनेवाले अनगार के विमात्रा में सूक्ष्म ईर्यापथिकी क्रिया होती है। यह ईर्यापथिकी क्रिया प्रथम समय में बद्धस्पृष्ट, दूसरे समय में वेदी (भोगी) हुई और तीसरे समय में निर्जरा को प्राप्त हो जाती है। बद्धस्पृष्ट, उदीरित, वेदित और निर्जरा को प्राप्त वह क्रिया अकर्मक हो जाती है। इसलिए हे मण्डितपुत्र! मैं ऐसा कहता हूँ कि जो जीव योग—मन, वचन और काया का निरोध कर सदा प्रमाणपूर्वक कम्पन आदि नहीं करता तथा उन-उन भावों में परिणमन नहीं करता उसको अन्त समय में अन्तक्रिया (कर्मों से सम्पूर्ण निवृत्ति) होती है[1]।"

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि सकंप आत्मा आस्रव है और स्थिरभूत आत्मा संवर। सकंप आत्मा के कर्मों का आस्रव होता रहता है और निष्कंप आत्मा के कर्मों का आस्रव रुक जाता है और अन्त में उसकी मुक्ति होती है।

१—भगवती ३.३

स्वामीजी के कहने का तात्पर्य है—आत्म की चंचलता—आत्म-प्रदेशों का कंपन ही आस्रव है अतः आस्रव आत्म-परिणाम है। संवर आत्म-प्रदेशों की स्थिरता है अतः वह भी आत्म-परिणाम है। ऐसी स्थिति में आस्रव को अजीव अथवा जीव-अजीव परिणाम नहीं कहा जा सकता।

३८—योग पारिणामिक और उदय भाव है अतः जीव है (गा० ५७) :

योग के दो भेद हैं—(१) द्रव्ययोग और (२) भावयोग। द्रव्ययोग कर्मागमन के हेतु नहीं होते। भावयोग ही कर्मागमन के हेतु होते हैं।

कर्मबद्ध सांसारिक प्राणी एक स्थिति में नहीं रहता। वह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में गमन करता रहता है। इसे परिणमन कहते हैं। भावयोग इस परिणमन से उत्पन्न जीव की एक अवस्था विशेष है अतः वह जीव-पर्याय है।

आगम में जीव के परिणामों का उल्लेख करते हुए उनमें योग-परिणाम का भी नाम निर्दिष्ट हुआ है (देखिए टि० २४ पृ० ४०५)। यह भावयोग है।

द्रव्ययोग पौद्गलिक हैं अतः अजीव हैं। भावयोग जीव-परिणाम हैं अतः जीव हैं। भावयोग ही आस्रव हैं अतः वे जीव-पर्याय हैं।

बंधे हुए कर्म जीव के उदय में आते हैं। कर्मों के उदय में आने पर जीव में जो भाव—परिणाम उत्पन्न होते हैं उनमें सयोगीत्व भी है। (देखिए टि० २६ पृ० ४०६-७)। कर्म के उदय से जीव में जो भाव—परिणाम—अवस्थाएँ होती हैं वे अजीव नहीं होतीं। जीव के सारे भाव—परिणाम चेतन ही होते हैं। अतः सयोगीपन भी चेतन भाव है। सयोगीपन ही योग आस्रव है अतः वह जीव है।

अनुयोगद्वार में 'सावज्ज जोग विरई' को सामायिक कहा है। यहाँ योग को सावद्य कहा है। अजीव को सावद्य-निरवद्य नहीं कहा जा सकता। सावद्य-निरवद्य तो जीव को ही कहा जाता है। योग को सावद्य कहा है—इसका अर्थ है भावयोग सावद्य है। भावयोग ही योग आस्रव है। इस हेतु से योग आस्रव जीव है।

औपपातिक सूत्र में निम्न पाठ है :

से किं तं मणजोगपडिसंलीणया, मणजोगपडिसंलीणया अकुसलमण निरोधो वा कुसल मण उदरिणं वा से तं मणजोगपडिसंलीणया।

"मनयोग प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं?"

"अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की उदीरणा—प्रवृत्ति मनयोग प्रतिसंलीनता है।"

यहाँ अकुशल मन के निरोध और कुशल मन के प्रवर्तन का कहा गया है। अकुशल मन का अर्थ है बुरा भावमन। कुशल मन का अर्थ है भला भावमन। अच्छा या बुरा भावमन जीव-परिणाम है। यदि भावमन अजीव हो तो उसके निरोध या प्रवर्तन का कोई अर्थ ही नहीं निकलेगा।

मन की प्रवृत्ति ही भावयोग है और यही योग आस्रव है। अतः योग आस्रव जीव परिणाम सिद्ध होता है। अनुयोगद्वार सामाइक अधिकार में निम्न पाठ मिलता है :

तो समणो जइ सुमणो,
भावेण य जइ ण होइ पावमणो।
सयणो य जणे य समो
समो य माणावमाणेसु॥

इस पाठ से मन के दो प्रकार होते हैं—द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन रूपी है। पौद्गलिक है। भावमन जीव-परिणाम है। अरूपी है। वचन और काय योग के विषय में भी यही बात लागू होती है। भावमन-वचन-काय योग ही योगास्रव है अतः जीव और अरूपी है।

३६—निरवद्य योग को आस्रव क्यों माना जाता है? (गा० ५८) :

आस्रव के भेदों की विवेचना करनेवाली किसी भी परम्परा को लें[1] उसमें योग आस्रव का उल्लेख अवश्य है। योग आस्रव का उल्लेख सब परम्पराओं में समान रूप से होने पर भी उसकी व्याख्या की दृष्टि से दो परम्पराएँ उपलब्ध हैं। एक परम्परा योग आस्रव में शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के योगों का समावेश करती है। दूसरी परम्परा केवल अशुभ योगों का ही ग्रहण करती है।

स्वरचित 'नवतत्त्वप्रकरण' में देवेन्द्रसूरि ने आस्रव के ४२ भेदों को गिनाते हुए 'तीन योग' की व्याख्या इस प्रकार की—

"मणवयतणुजोगतियं, अपसत्थं तह कसाय चत्तारि[2]।"

अपनी अन्य कृति नवतत्त्वप्रकरण की बृहत् वृत्ति में मूल कृति के 'तीन योग' की व्याख्या देते हुए वे लिखते हैं—

"अशुभमनोवचनकाययोगा इति योगत्रिकम्[3]।"

इससे स्पष्ट है कि योग आस्रव में उन्होंने अप्रशस्त या अशुभ मन-वचन-काययोगों को ही ग्रहण किया है, शुभ योगों को नहीं। उमास्वाति तथा अन्य अनेक आचार्यों ने

१—इन परम्पराओं के लिए देखिए टिप्पणी ५ पृ० ३७२। इनके अतिरिक्त एक अन्य परम्परा भी है जिसमें कषाय और योग इन दो को ही बंध-हेतु कहा है।

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रहः श्रीनवतत्त्वप्रकरणम् गा० ३६

३—वहीः अव० वृत्यादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरणम् गा० ॥१२॥३७ की वृत्ति

योगास्रव में शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के योगों का ग्रहण किया है[1]।

स्वामीजी का कथन है—वास्तव में शुभयोग निर्जरा के हेतु हैं। अतः उनका समावेश योग आस्रव में नहीं होता परन्तु निर्जरा के साथ पुण्य का बंध अपने आप सहज भाव से होता है इस अपेक्षा से शुभ योगों को भी योग आस्रव में ग्रहण कर लिया जाता है।

स्वामीजी अन्यत्र लिखते हैं—

"शातावेदनीय सुभायुष्य शुभनाम कर्म उच्चगोत्र ए च्यारूं कर्म पुन्य छै। ए च्यारां ही नी करणी सूत्र मैं निरवद्य कही छै अनै आज्ञा माहिली करणी करतां लागै छै। सुभ जोग प्रवर्त्तायां लागै छै। ते तो करणी निर्जरा नी छै। तिण करणी करतां पाप कटै। तिण करणी ने तो सुभ जोग निर्जरा कहीजे। ते सुभ जोग प्रवर्त्तावतां नाम कर्म ना उदय सूं सहजे जोरी दावै पुन्य बंधे छै। जिम गंहु निपजतां खाखलो सहजे नीपजै छै तिम दयादिक भली करणी करतां सुभ जोग प्रवर्त्तावतां पुन्य सहजेइ लागै छै। इम निर्जरा नी करणी करता कर्म कटै अने पुन्य बंधे।··· ठाम २ सूत्र मैं निरवद्य करणी ते संवर निर्जरा नी कही छै। पुन्य तो जोरी दावै विना वांछा लागै छै।···शुद्ध साधु ने अन्न दीधो तिवारे अव्रतमा सुं काढे नै व्रत मै घाल्या ते तो व्रत नीपनों अनें सुभ जोग प्रवर्त्या सूं निर्जरा हुई। सुभ जोग प्रवर्त्ते तठै पुन्य माडाणी बंधे[2]।" (देखिए टि० १५ पृ० १७३-५; टि० ४ (२) पृ० २०४ तथा टि० ६.५ पृ० ३७६)

४०—सर्व सांसारिक कार्य जीव-परिणाम हैं (गा० ५६):

योग शब्द अत्यन्त व्यापक है। उसके अन्तर्गत मन-वचन-काय के सर्व व्यापार—कार्य, क्रिया, कर्म और व्यवहारों का समावेश हो जाता है। प्रवृत्ति मात्र योग है। स्वामीजी कहते हैं: "प्रवृत्तियों—कार्यों—क्रियाओं की संख्या गिनाना असंभव होने पर भी अनन्त प्रवृत्तियों का सामान्य लक्षण यह है कि वे कर्म की हेतु हैं—आस्रव स्वरूप हैं।" स्वामीजी कहते हैं: "क्रिया मात्र जीव के ही होती हैं—जीव-परिणाम हैं। अतः योग आस्रव जीव ठहरता है।"

१—(क) तत्त्वा० ६.१-४

(ख) अभयदेव—मणवायाकायाणं, भेएणं हुंति तिन्नि जोगा उ

२—३०६ बोल की हुण्डी : बोल ६५

भगवती १७.२ में निम्न पाठ है :

एवं खलु पाणातिवाए...जाव—मिच्छादंसणसल्ले वट्टमाणस्स सच्चेव जीवे, सच्चेव जीवाया।

—जो प्राणातिपातादिक १८ पापों में वर्तता है वही जीव है और वही जीवात्मा है।

जीव का अठारह पापों में वर्तन अमुक-अमुक आस्रव है। मिथ्यादर्शन में वर्तना मिथ्यात्व आस्रव है। दूसरे पापों में वर्तना दूसरे-दूसरे आस्रव हैं। यथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह में वर्तन क्रमशः प्राणातिपात आदि आस्रव हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ में वर्तना क्रोधादि-आस्रव हैं।

प्राणातिपात आदि ये सर्व व्यापार योग आस्रव के भेद हैं। ये सर्व व्यापार जीव के हैं अतः जीव-परिणाम हैं।

इसी तरह अन्य कार्यों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। जीव की कोई भी प्रवृत्ति अजीव नहीं हो सकती। जीव की भिन्न २ प्रवृत्तियाँ ही योगास्रव हैं अतः वह अजीव नहीं। जैसे योगास्रव अजीव नहीं वैसे ही अन्य आस्रव अजीव नहीं।

४१—जीव, आस्रव और कर्म (गा० ६०-६१) :

यहाँ स्वामीजी ने निम्न बातें कही हैं :

(१) जीव कर्मों का कर्त्ता है।

(२) जीव मिथ्यात्वादि आस्रवों से कर्मों का कर्त्ता है।

(३) आस्रव जीव-परिणाम हैं। जो किये जाते हैं वे कर्म पौद्गलिक और आस्रव से भिन्न हैं।

आगमों में '**सयमेव कडेहि गाहइ**' (सुय० १, २.१.४)—अपने किये हुए कर्मों से जीव संसार-भ्रमण करता है, '**कडाण कम्माण न मुक्खुअत्थि**' (उत्त० ४.३)—किए हुए कर्मों के भोगे बिना छुटकारा नहीं, '**कत्तारमेव अणुजाणइ कम्मं**' (उत्त०१३.२३)—कर्म कर्त्ता का ही अनुसरण करता है आदि अनेक वाक्य मिलते हैं। ऐसे ही वाक्यों के आधार पर स्वामीजी ने कहा है—जीव कर्मों का कर्त्ता है।

आचार्य जवाहरलालजी ने लिखा है—"भगवती सूत्र शतक ७ उद्देसा १ में पाठ आया है कि—'**दुक्खी दुक्खेणं फुडे, नो अदुक्खी दुक्खेणं फुडे**' अर्थात् 'कर्मों से युक्त पुरुष ही कर्म का स्पर्श करता है परन्तु अकर्मा पुरुष, कर्म का स्पर्श नहीं करता'। यदि अकर्मा (कर्म रहित) पुरुष को भी कर्म का स्पर्श हो तो सिद्धात्मा पुरुषों में भी कर्म का स्पर्श मानना पड़ेगा। परन्तु यह बात नहीं होती अतः निश्चित होता है कि कर्म भी कर्म के

ग्रहण करने में कारण होने से आस्रव हैं। तथा भगवती में इस पाठ के आगे यह पाठ आया है कि—'**दुक्खी दुक्खं परियायइ**' अर्थात् 'कर्म से युक्त मनुष्य कर्म का ग्रहण करता है'। इस पाठ से कर्म का आस्रव होना सिद्ध होता है। कर्म पौद्गलिक अजीव है इसलिए आस्रव पौद्गलिक अजीव भी सिद्ध होता है। उसे एकान्त जीव मानने वाले अज्ञानी हैं[1]।"

उक्त मंतव्य में कर्म को आस्रव कह कर आस्रव को अजीव भी प्रतिपादित किया गया है।

कर्म आस्रव हो सकता है या नहीं? इस प्रश्न पर श्रीमद् राजचन्द्र ने बड़ा अच्छा विवेचन किया है। वे लिखते हैं: "चैतन्य की प्रेरणा न हो तो कर्मों को ग्रहण कौन करेगा? प्रेरणा करके ग्रहण कराने का स्वभाव जड़ वस्तु का है ही नहीं। और यदि ऐसा हो तो घट-पट आदि वस्तुओं में भी क्रोधादि भाव तथा कर्मों का ग्रहण करना होना चाहिए। किन्तु ऐसा अनुभव तो आज तक किसी को नहीं हुआ। इससे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि चैतन्य जीव ही कर्मों को ग्रहण करता है। इस प्रकार जीव कर्मों का कर्त्ता सिद्ध होता है।

"कर्मों का कर्त्ता कर्म को कहना चाहिए"—इस शंका का समाधान इस उत्तर से हो जायेगा कि जड़ कर्मों में प्रेरणारूप धर्म के न होने से उनमें चैतन्य की भाँति कर्मों को ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं है और कर्मों का कर्त्ता जीव इस तरह है कि उसमें प्रेरणा-शक्ति है।" इस तरह सिद्ध होता है कि जीव ही कर्मों का कर्त्ता है।

भगवती सूत्र के उक्त वार्तालाप का अभिप्राय है—

"अकर्मा के कर्म का ग्रहण और बन्ध नहीं होता। पूर्व कर्म से बंधा हुआ जीव ही नए कर्मों का ग्रहण और बन्ध करता है। अगर ऐसा न हो तो मुक्त जीव भी कर्म से बन्धे बिना न रहे।" इससे संसारी जीव ही कर्मों का कर्त्ता ठहरता है न कि जीव के साथ बन्धे हुए कर्म। 'कर्म से युक्त मनुष्य कर्म का ग्रहण करता है' इससे मनुष्य ही कर्मों का कर्त्ता सिद्ध होता है। (विस्तृत विवेचन के लिए देखिए टि० २२ पृ० ४०१-४०३ तथा टि० ७ (१५) पृ० ३३)

'अज्झत्थहेउं निययस्स बंधो' (उत्त० १४.१६) अध्यात्म हेतुओं से ही कर्मों का बंध होता है। **'पंच आसवादारा पन्नता'** (स्था० सम०)—पाँच आस्रव-द्वार हैं। ऐसे

१—**सद्धर्ममण्डनम्: आश्रवाधिकार बोल २२**

ही आगमिक वाक्यों के आधार पर स्वामीजी ने कहा है—जीव अपने मिथ्यात्वादि भावों से कर्मों का कर्त्ता है।

स्वामीजी कहते हैं—आगमों के अनुसार आस्रव का अर्थ है—कर्म आने के द्वार। मिथ्यात्व—अच्छे को बुरा जानना, बुरे को अच्छा जानना—पहला द्वार है। इसी तरह अविरति आदि अन्य द्वार हैं। ये द्वार जीव के होते हैं। जीव के मिथ्यात्वादि पाँच द्वारों को ही आस्रव कहा है। कर्मों को आस्रव नहीं कहा है। अतः आस्रव और कर्म भिन्न हैं[1]।

आस्रव जीव-द्वार हैं, कर्म उनसे प्रविष्ट होने वाली वस्तु। द्वारों से जो आते हैं वे कर्म हैं और द्वार जीव के अध्यवसाय। द्वार और कर्म भिन्न-भिन्न हैं। जीव के अध्यवसाय—परिणाम आस्रव चेतन और अरूपी हैं। आने वाले पुण्य-पाप पौद्गलिक और रूपी हैं।

जीव रूपी तालाब के आस्रव रूपी नाले हैं। जल रूप पुण्य-पाप हैं। आस्रव जल रूप नहीं; पुण्य-पाप जल रूप हैं। नावों के छिद्र की तरह जीव के मिथ्यात्वादि आस्रव हैं। आस्रव जल रूप नहीं; कर्म जल रूप हैं। जीव रूपी नाव है; आस्रव रूपी छिद्र है और कर्म रूपी जल है। इस तरह कर्म और आस्रव भिन्न हैं[2]।

४२—मोहकर्म के उदय से होनेवाले सावद्य कार्य योगास्रव हैं (गा०६२-६५):

स्वामीजी अन्यत्र लिखते हैं—"नवो पाप तो मिथ्यात्व अव्रत प्रमाद कषाय माठा जोग बिना न बंधे। ए सर्व मोहनीय कर्म ना उदै सूं नीपजै छै और कर्म ना उदय सूं नीपजे नहीं।…सावद्य कार्य करे ते मोहना उदै सूं।…भाव निद्रा सूतां कर्म बंधे छै ते तो अत्याग भाव छै। मोहनी ना उदय सूं छै। ज्ञानावर्णीय थी ज्ञान दबै। दर्शनावर्णी थी दर्शन दबै। वेदनीय थी शाता अशाता भोगवै। आयु थी आयुष्य भोगवै। गोत्र कर्म थी गोत्र भोगवै। अंतराय थी चावै ते वस्तु न मिलै। इम छव कर्म ना उदै सूं न वा कर्म न बंधे। अने नाम कर्म ना उदै थी सुभ योग सूं पुन्य बंधै छै पिण पाप न बंधे। पाप तो एक मोहनीय कर्म ना उदै सूं बंधे छे[3]।"

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं जिन में एक चारित्रमोहनीय है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव सावद्य कार्यों से अपना बचाव नहीं कर सकता और उन में प्रवृत्ति करने

१—३०६ बोल की हुण्डी : बोल १४६—१५०

२—वही : बोल १५२, १५३, १५४

३—वही : बोल ६६

लगता है। सावद्य कार्यों का सेवन जीव करता है। सावद्य कार्य योगास्रव हैं। इस तरह योगास्रव जीव-परिणाम सिद्ध होता है।

४३—दर्शनमोहनीय कर्म और मिथ्यात्व आस्रव (गा० ६६):

मोहनीयकर्म का दूसरा भेद दर्शनमोहनीय है। इस कर्म के उदय से जीव सम्यक् श्रद्धा प्राप्त नहीं कर सकता और प्राप्त हुई सम्यक् श्रद्धा को खो देता है। मिथ्या श्रद्धा दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला जीव-परिणाम है। मिथ्या श्रद्धा ही मिथ्यात्व आस्रव है अतः मिथ्यात्व आस्रव जीव-परिणाम है।

एक बार गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—"भगवन्! जीव कर्म-बन्ध कैसे करता है?"

भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! ज्ञानावरणीय के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय के तीव्र उदय से दर्शन-मोह का तीव्र उदय होता है। दर्शन-मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से आठ प्रकारके कर्मों का बंध होता है[१]।"

इस तरह मिथ्यात्व दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय से निष्पन्न जीव-परिणाम है, यह सिद्ध है।

४४—आस्रव रूपी नहीं अरूपी है (गा० ६७-७३):

आगम-प्रमाणों द्वारा स्वामीजी ने आस्रव पदार्थ को जीव सिद्ध किया है। अब वह अरूपी है यह सिद्ध कर रहे हैं। जिन प्रमाणों से आस्रव जीव सिद्ध होता है उन्हीं प्रमाणों से वह अरूपी सिद्ध होता है। जीव अरूपी है। आस्रव पदार्थ भाव-जीव है तो वह अवश्य अरूपी भी है। आस्रव अरूपी है इसकी सिद्धि में स्वामीजी निम्न प्रमाण देते हैं :

(१) पांच आस्रव और अविरति भावलेश्या के लक्षण—परिणाम हैं, यह बताया जा चुका है (देखिए टि० ३० पृ० ४०९)। भावलेश्या किस तरह अरूपी है यह भी बताया जा चुका है (देखिए टि० २५ पृ० ४०६)। यदि लेश्या अरूपी है तो उसके लक्षण—पांच आस्रव और अविरति—रूपी नहीं हो सकते (गा० ६८)।

(२) उत्त० २९.५२ में निम्न पाठ है :

जोगसच्चेणं भन्ते जीवे किं जणयइ॥
जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ॥

१—प्रज्ञापना २३.१.२८९

"हे भन्त ! योगसत्य का क्या फल होता है ?

"योगसत्य से जीव योगों की विशुद्धि करता है ।"

इसका भावार्थ है— मन, वचन और काय के सत्य से क्लिष्टबन्धन का अभाव कर जीव योगों को निर्दोष करता है[1] ।

यहाँ योगसत्य को गुणरूप माना है । जीव का गुण अजीव या रूपी नहीं हो सकता । योगसत्य—शुभ योग रूप है । इस तरह शुभ योग अरूपी ठहरता है ।

स्थानाङ्ग सूत्र ५९४ में श्रद्धा, सत्य, मेधा, बहुश्रुतता, शक्ति, अल्पाधिकरणता, कलह-रहितता, धृति और वीर्य—इन्हें अनगार के गुण कहे हैं[2] । ये गुण रूपी नहीं हो सकते वैसे ही योगसत्य गुण भी रूपी नहीं ।

(३) वीर्य जीव का गुण है यह ऊपर बताया जा चुका है (देखिए टि० ३) । अतः वीर्य रूपी नहीं हो सकता ।

गौतम ने पूछा योग किस से होता है तब भगवान ने उत्तर दिया वीर्य से। वीर्य जीव गुण है । अरूपी है । उससे उत्पन्न योग रूपी कैसे होगा ?

स्वामीजी अन्यत्र लिखते हैं : "स्थानाङ्ग (३.१) में तीन योग कहे हैं —**तिविहे जोगे पराणता तंजहा मणजोगे१ वयजोगे२ काय जोगे३** । यहाँ टीका में योगों को क्षयो-पशम भाव कहा है । आत्म-वीर्य कहा है । आत्म-वीर्य अरूपी है । यह भावयोग है । द्रव्ययोग तो पुद्गल है । वे भावयोग के साथ चलते हैं । भावयोग आस्रव है[3] ।"

(४) आठ आत्मा में योग आत्मा का भी उल्लेख है यह पहले बताया जा चुका है (देखिए टि० २४, पृ० ४०५) । योग आत्मा जीव है अतः रूपी नहीं हो सकता ।

योग जीव-परिणाम है, यह भी पहले बताया जा चुका है (देखिए टि० २४ पृ० ४०५) अतः वह रूपी नहीं अरूपी है ।

१—उत्त० २९.५२ की टीका : 'योगसत्येन'—मनोवाक्कायसत्येन योगान् 'विशोधयति' क्लिष्टकर्माबन्धकत्वाऽभावतो निर्दोषान् करोति ।

२—अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहति एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तते, तं०—सड्ढी पुरिसजाते सच्चे पुरिसजाए मेहावी पुरिसजाते बहुस्सुते पुरिसजाते सत्तिमं अप्पाहिकरणे धितिमं वीरितसंपन्ने ।

३—३०६ बोल की हुंडी : बोल १५७

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद,कषाय और अशुभ योग—ये सब मोहनीयकर्म के उदय से होने वाले भाव हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—"उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और पारिणामिक भावों से युक्त भाव जीव-गुण हैं[1]।" जीव-गुण का अर्थ है जीव-भाव, जीव-परिणाम[2]। इससे मिथ्यात्वादि जीव-परिणाम सिद्ध होते हैं। जीव-परिणाम अरूपी नहीं होवे।

स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है—"उत्तराध्ययन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, उपयोग, सुख और दुःख—ये आठ लक्षण द्रव्य-जीव के कहे गये हैं पर द्रव्य-जीव के इनके सिवाय भी अनेक लक्षण हैं। सावद्य-निरवद्य गुण, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग, आस्रव, संवर, निर्जरा, उदयनिष्पन्न सर्व भाव, उपशमनिष्पन्न सर्व भाव, क्षायक-निष्पन्न सर्व भाव और क्षयोपशमनिष्पन्न सर्व भाव—इन सबको द्रव्य-जीव के लक्षण समझना चाहिए[3]।"

जीव के लक्षण रूपी नहीं हो सकते।

१—पंचास्तिकाय १.५६ :

उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सदेहिं परिणामे।
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा॥

२—जयसेन—जीवगुणाः जीवभावाः परिणामाः

३— द्रव्य जीव भाव जीव की चर्चा

आश्रव पदारथ (ढाल : २)

दुहा

१—आश्रव करम आवानां बारणा, त्यांनें विकल कहें छें करम ।
करम दुवार नें करम एकहिज कहें, ते भूला अग्यांनी भर्म ॥

२—करम नें आश्रव छें जूजूआ, जूओजूओ छें त्यांरो सभाव ।
करम नें आश्रव एकहिज कहें, तिणरो मूढ न जांणें न्याव ॥

३—वले आश्रव नें रूपी कहें, आश्रव नें कहें करम दुवार ।
दुवार नें दुवार में आवे तेहनें, एक कहें छें मूढ गिंवार ॥

४—तीन जोगां नें रूपी कहें, त्यांनें इज कहें आश्रव दुवार ।
वले तीन जोगां नें कहें करम छें, ओ पिण विकलां रे नहीं छें विचार॥

५—आश्रव नां वीस भेद छें, ते जीव तणी पर्याय ।
करम तणा कारण कह्या, ते सुण जो चित्त ल्याय ॥

ढाल : २

(चतुर विचार करीनें देखो—ए देशी)

१—मिथ्यात आश्रव तो उंधो सरधें ते, उंधो सरधे ते जीव साख्यातो रे।
तिण मिथ्यात आश्रव नें अजीव सरधे छें, त्यांरा घट मांहें घोर मिथ्यातो रे ॥
आश्रव ने अजीव कहें ते अग्यांनी* ॥

* यह आँकड़ी ढाल की प्रत्येक गाथा के अन्त में आती है ।

आस्रव पदार्थ (ढाल : २)

दोहा

१—आस्रव कर्म आने के द्वार हैं, परन्तु मूर्ख आस्रव को कर्म बतलाते हैं। जो कर्म-द्वार और कर्म को एक बतलाते हैं, वे अज्ञानी भ्रम में भूले हुए हैं।

आस्रव कर्म-द्वार हैं, कर्म नहीं (दो० १-२)

२—कर्म और आस्रव अलग-अलग हैं। उनके स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। मूर्ख इसका न्याय नहीं जानते हुए कर्म और आस्रव को एक बतलाते हैं।

३—एक ओर तो वे आस्रव को रूपी बतलाते हैं और दूसरी ओर उसे कर्म आने का द्वार कहते हैं। द्वार और द्वार होकर आने वाले को एक बतलाना निरी मूर्खता है।

कर्म रूपी है कर्म-द्वार नहीं (दो० ३-४)

४—वे तीनों योगों को रूपी कहते हैं और फिर उन्हीं को आस्रवद्वार कहते हैं। जो कर्मास्रव के कारण योग हैं उनको ही वे कर्म कह रहे हैं उनको इतना भी विचार नहीं है।

५—आस्रव के बीस भेद हैं। ये आस्रव-भेद जीव-पर्याय हैं। इनको कर्म आने का कारण कहा है[1]। इसका खुलासा करता हूँ, ध्यान लगा कर सुनना।

बीसों आस्रव जीव-पर्याय हैं

ढाल : २

१—(पहिला आस्रव मिथ्यात्व है।) तत्त्वों की अयथार्थ प्रतीति—उल्टी श्रद्धा मिथ्यात्व आस्रव है। तत्त्वों की अयथार्थ प्रतीति जीव ही करता है (अतः मिथ्यात्व आस्रव जीव है)। जो मिथ्यात्व आस्रव को अजीव समझते हैं उनके घट में घोर मिथ्यात्व है।

(१) मिथ्यात्व आस्रव

२—जे जे सावद्य कामां नहीं त्याग्या छें, त्यांरी आसा वंछा रही लागी रे।
ते जीव तणा परिणांम छें मेला, अत्याग भाव छें इविरत सागी रे॥

३—परमाद आश्रव जीव नां परिणांम मेला, तिण सूं लागे निरंतर पापो रे।
तिणनें अजीव कहें छें मूढ मिथ्याती, तिणरे खोटी सरधा री थापो रे॥

४—कषाय आश्रव नें जीव कह्यों जिणेसर, कषाय आतमा कही छें तांमो रे।
कषाय करवारो सभाव जीव तणो छें, कषाय छें जीव परिणांमो रे॥

५—जोग आश्रव नें जीव कह्यों जिणेसर, जोग आतमा कही छें तांमो रे।
तीन जोगां री व्यापार जीव तणो छें, जोग छें जीव रा परिणांमो रे॥

६—जीव री हिंसा करें ते आश्रव, हिंसा करें ते जीव साख्यातो रे।
हिंसा करें ते परिणांम जीव तणा छें, तिण में संका नहीं तिलमातो रे॥

७—झूठ बोले ते आश्रव कह्यों छें, झूठ बोले ते जीव साख्यातो रे।
झूठ बोलण रा परिणांम जीव तणा छें, तिण में संका नहीं तिलमातो रे।

८—चोरी करें ते आश्रव कह्यों जिणेसर, चोरी करें ते जीव साख्यातो रे।
चोरी करवा रा परिणांम जीव तणा छें, तिणमें संका नहीं तिलमातो रे॥

९—मैथुन सेवे ते आश्रव चोथो, मैथुन सेवे ते जीवो रे।
मैथुन परिणांम तो जीव तणा छें, तिण सूं लागे छें पाप अतीवो रे॥

२—जिन सावद्य कामों का त्याग नहीं होता उनकी जीव के आशा-वांछा लगी रहती है। आशा-वांछा जीव के मलीन परिणाम हैं। यह अत्याग भाव ही अविरति आस्रव है। (२) अविरति आस्रव

३—जीव के प्रमादरूप मलीन (अशुभ) परिणाम प्रमाद-आस्रव हैं। इससे निरंतर पाप लगता रहता है। जीव के परिणामों को अजीव कहने वाला घोर मिथ्यात्वी है। उसको झूठी श्रद्धा की पकड़ है। (३) प्रमाद आस्रव

४—जिन भगवान ने कषाय आस्रव को जीव बतलाया है, सूत्रों में कषाय आत्मा कही है। कषाय करने का स्वभाव जीव का ही है। कषाय जीव-परिणाम है। (४) कषाय आस्रव

५—योग आस्रव को जिन भगवान ने जीव कहा है। भगवान ने योग आत्मा कही है। तीनों ही योगों के व्यापार जीव के हैं। योग जीव के परिणाम हैं[२]। (५) योग आस्रव

६—जीव की हिंसा करना प्राणातिपात आस्रव है[३]। हिंसा साक्षात् जीव ही करता है, हिंसा करना जीव-परिणाम है[४]। इसमें तिलमात्र भी शंका नहीं। (६) प्राणातिपात आस्रव

७—झूठ बोलने को जिनेश्वर भगवान ने मृषावाद आस्रव कहा है[४]। झूठ साक्षात् जीव ही बोलता है, झूठ बोलना जीव-परिणाम है। इसमें जरा भी शंका नहीं। (७) मृषावाद आस्रव

८—इसी तरह जिन भगवान ने चोरी करने को अदत्तादान आस्रव कहा है[५]। चोरी करने वाला साक्षात् जीव होता है। चोरी करना जीव-परिणाम है, इसमें जरा भी शंका नहीं। (८) अदत्तादान आस्रव

९—अब्रह्मचर्य सेवन करने को मैथुन आस्रव कहा है[६]। मैथुन-सेवन जीव ही करता है। मैथुन जीव-परिणाम है। मैथुन सेवन से अत्यन्त पाप लगता है। (९) अब्रह्मचर्य आस्रव

१०—परिग्रह राखे ते पांचमो आश्रव, परिग्रह राखे ते पिण जीवो रे।
जीव रा परिणांम छें मूर्छा परिग्रह, तिण सूं लागे छें पाप अतीवो रे॥

११—पांच इंद्रयां ने मोकली मेले ते आश्रव, मोकली मेले ते जीव जांणों रे।
राग धेष आवें सब्दादिक उपर, यांनें जीव रा भाव पिछांणो रे॥

१२—सुरत इंद्री तो सब्द सुणे छें, चषु इंद्री रूप ले देखो रे।
घ्राण इंद्री गन्ध नें भोगवें छें, रस इंद्री रस स्वादे वशेषो रे॥

१३—फरस इंद्री तो फरस भोगवे छें, पांचूं इंद्रयां नों एह सभावो रे।
यां सूं राग नें धेष करें ते आश्रव, तिणनें जीव कहीजे इण न्यावो रे॥

१४—तीन जोगां नें मोकला मेले ते आश्रव, मोकला मेले ते जीवो रे।
त्यांनें अजीव कहे ते मूढ मिथ्याती, त्यांरा घट में नहीं ग्यांन रो दीवो रे॥

१५—तीन जोगां रो व्यापार जीव तणो छें, ते जोग छें जीव परिणांमो रे।
माठा जोग छें माठी लेस्या रा लषण, जोग आतमा कही छें तांमो रे॥

१६—भंड उपगरण सूं कोई करें अजेंणा, तेहिज आश्रव जांणो रे।
ते आश्रव सभाव तो जीव तणो छें, रूडी रीत पिछांणो रे॥

१७—सुचीकुसग सेवे ते आश्रव, सुचीकुसग सेवे ते जीवो रे।
सुचीकुसग सेवे तिणनें अजीव कहें, त्यांरे उंडी मिथ्यात री नींवो रे॥

१०—परिग्रह रखना पाँचवाँ परिग्रह आस्रव कहा है[७]। जो परिग्रह रखता है वह जीव है। मूर्च्छा परिग्रह है और वह जीव-परिणाम है। इससे अतीव पापकर्म लगते हैं। (१०) परिग्रह आस्रव

११—पाँचों इन्द्रियों को प्रवृत्त करना क्रमशः श्रोत्रादि आस्रव हैं। इन्द्रियों को जीव ही प्रवृत्त करता है। शब्दादिक विषयों पर राग-द्वेष का होना जीव-परिणाम है। (११-१५) पंच-इन्द्रिय आस्रव

१२-१३-श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है, वह शब्द को ग्रहण करती है। चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप है, वह रूप को ग्रहण करती है। घ्राणेन्द्रिय गंध का भोग करती है। रसनेन्द्रिय रसास्वादन करती है। स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श का भोग करती है। पाँचों इन्द्रियों के ये स्वभाव हैं। इन इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष करना क्रमशः श्रोत्रादि इन्द्रिय आस्रव है[८]। (राग-द्वेष करना जीव के भाव हैं) अतः श्रोत्रादि इन्द्रिय आस्रव जीव है।

१४—तीनों योगों का व्यापार योग आस्रव है[९]। योग—व्यापार जीव ही करता है। योग आस्रव को अजीव कहने वाले मूर्ख और मिथ्यात्वी हैं। उनके घट में ज्ञान-दीपक नहीं है। (१६-१८) मन-वचन-काय-प्रवृत्ति आस्रव

१५—तीनों योगों का व्यापार जीव का ही है। वे योग जीव-परिणाम हैं। अशुभ-योग अशुभ लेश्या के लक्षण हैं। सूत्रों में योगात्मा कही गयी है।

१६—भंड-उपकरण आदि रखने-उठाने में अयतना करना भंडोपकरण आस्रव है[१०]। यह अच्छी तरह समझ लो कि आस्रव जीव-स्वभाव—परिणाम है। (१९) भंडोपकरण आस्रव

१७—सूई-कुशाग्रमात्र का सेवन करना बीसवाँ आस्रव है[११]। इस का सेवन जीव करता है। सूई-कुशाग्र-सेवन को अजीव मानने वालों के मिथ्यात्व की गहरी नींव है। (२०) सूई-कुशाग्र सेवन आस्रव

१८—दरब जोगां नें रूपी कह्या छें, ते तो भाव जोग रे छें लारो रे।
दरब जोगां सूं तो करम न लागे, भाव जोग छें आश्रव दुवारो रे॥

१९—आस्रव नें करम कहे छें अग्यांनी, तिण लेखे पिण उंधी दरसी रे।
आठ करमां नें तो चोफरसी कहें छें, काया जोग तो छें अठफरसी रे॥

२०—आश्रव ने करम कहे त्यांरी सरधा, उठी जठा थी भूठी रे।
त्यांरा बोल्या री ठीक पिण त्यांनें नांहीं, त्यांरी हीया निलाड री फूटी रे॥

२१—वीस आश्रव में सोले एकंत सावद्य, ते पाप तणा छें दुवारो रे।
ते जीव रा किरतब माठा ने खोटा, पाप तणा करतारो रे॥

२२—मन वचन काया रा जोग व्यापार, वले समचें जोग व्यापारो रे।
ए च्यारुइ आश्रव सावद्य निरवद, पुन पाप तणा छें दुवारो रे॥

२३—मिथ्यात इविरत नें परमाद कषाय नें जोग व्यापारो रे।
ए करम तणा करता जीव रे छें, ए पांचूंइ आश्रव दुवारो रे।

२४—यांमें च्यार आश्रव सभावीक उदारा, जोग में पनरे आश्रव समाया रे।
जोग किरतब नें सभावीक पिण छें, तिण सूं जोग में पनरेइ आया रे॥

२५—हिंसा करें ते जोग आश्रव छें, भूठ बोलें ते जोग छें ताह्यो रे।
चोरी सूं लेइ सुचीकुसग सेवे ते, पनरेंइ आया जोग मांह्यो रे॥

१८—द्रव्य योगों को रूपी कहा गया है। वे भाव योगों के पीछे हैं। द्रव्य योगों से कर्मों का आस्रव नहीं होता, भाव योग ही आस्रव-द्वार हैं[१२]।

भावयोग आस्रव है, द्रव्ययोग नहीं

१९—अज्ञानी आस्रव को कर्म कहते हैं। उस अपेक्षा से भी वे मिथ्यादृष्टि हैं। आठ कर्मों को तो चतुःस्पर्शी कहते हैं, पर द्रव्य काय योग तो अष्टस्पर्शी हैं। (अतः आस्रव और कर्म एक नहीं)।

२०—आस्रव को कर्म कहने वालों की श्रद्धा मूल से ही मिथ्या है। वे अपनी ही भाषा के अनजान हैं। उनके बाह्य और आभ्यन्तर दोनों नेत्र फूट चुके हैं[१३]।

कर्म चतुस्पर्शी हैं और योग अष्टस्पर्शी अतः कर्म और योग एक नहीं (गा० १९-२०)

२१—बीस आस्रवों में से सोलह एकांत सावद्य हैं और केवल पाप आने के मार्ग हैं। ये जीव के अशुभ और बुरे कर्त्तव्य हैं जो पाप के कर्त्ता हैं।

१६ आस्रव एकांत सावद्य

२२—मन, वचन और काया के योग—व्यापार और समुच्चय योग—व्यापार—ये चारों आस्रव सावद्य-निरवद्य दोनों हैं एवं पुण्य-पाप के द्वार हैं[१४]।

योग-आस्रव और योग-व्यापार सावद्य-निरवद्य दोनों हैं

२३—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँचों ही जीव के कर्मों के कर्त्ता हैं अतः पाँचों ही आस्रव-द्वार ह।

२४—इनमें पहले चार आस्रव स्वभाव से ही उदार हैं और योगास्रव में अवशेष पन्द्रह आस्रव समाए हुए हैं। योग आस्रव कर्त्तव्य रूप और स्वाभाविक भी है। इसलिए उसमें पन्द्रह आस्रवों का समावेश होता है।

२५—हिंसा करना योग आस्रव है। झूठ बोलना भी योग आस्रव है। इसी तरह चोरी करने से लेकर सूई-कुशाग्र-सेवन करने तक पन्द्रहों आस्रव योग आस्रव के अन्तर्गत हैं[१५]।

२० आस्रवों का वर्गीकरण (गा० २३-२५)

२६—करमां रो करता तो जीव दरब छें, कीधा हुवा ते करमो रे।
करम नें करता एक सरधे ते, भूला अग्यांनी भर्मो रे॥

२७—अठारे पाप ठांणा अजीव चोफरसी, ते उदे आवे तिण वारो रे।
जब जूजूआ किरतब करें अठारो, ते अठारेंइ आश्रव दुवारो रे॥

२८—उदे आया ते तो मोह करम छें, ते तो पाप रा ठांणा अठारो रे।
त्यांरा उदा सूं अठारेंइ किरतब करें छें, ते जीव तणो छें व्यापारो रे॥

२९—उदे नें किरतब जूआजूआ छें, आ तो सरधा सूधी रे।
उदे नें किरतब एकज सरधे, अकल तिणारी उंधी रे॥

३०—परणातपात जीव री हिंसा करें ते, परणातपात आश्रव जांणों रे।
उदे हुवो ते परणातपात ठांणो छें, त्यांनें रूडी रीत पिछांणो रे॥

३१—भूठ बोलें ते मिरषावाद आश्रव छें, उदे छें ते मिरषावाद ठांणो रे।
भूठ बोलें ते जीव उदे हुवा करम, यां दोयां नें जूआजूआ जांणों रे॥

३२—चोरी करें ते अदत्तादांन आश्रव छें, उदे ते अदत्तादांन ठांणो रे।
ते उदे आयां जीव चोरी करें छें, ते तो जीव रा लषण जांणों रे॥

२६—कर्मों का कर्त्ता जीव द्रव्य है और किए जाते हैं, वे कर्म हैं। जो कर्म और कर्त्ता को एक समझते हैं, वे अज्ञानी भ्रम में भूले हुए हैं।

कर्म और कर्त्ता एक नहीं

२७—अठारह पाप-स्थानक चतुःस्पर्शी अजीव हैं। उनके उदय में आने पर जीव भिन्न-भिन्न अठारह प्रकार के कर्त्तव्य करता है। वे अठारहों ही कर्त्तव्य आस्रव-द्वार हैं।

आस्रव और १८ पाप-स्थानक (गा० २७-३६)

२८—जो उदय में आते हैं वे तो मोहकर्म अर्थात् अठारह पाप-स्थानक हैं और उनके उदय में आने से जो अठारह कर्त्तव्य जीव करता है, वे जीव के व्यापार हैं।

२९—पाप-स्थानकों के उदय को और उनके उदय में आने से होने वाले कर्त्तव्यों को जो भिन्न-भिन्न समझता है उसकी श्रद्धा—प्रतीति सम्यक् है। और जो इस उदय और कर्त्तव्य को एक समझते हैं उनकी श्रद्धा—प्रतीति विपरीत है।

३०—प्राणी-हिंसा को प्राणातिपात आस्रव कहते हैं। प्राणातिपात आस्रव के समय जो कर्म उदय में होता है उसे प्राणातिपात पाप-स्थानक कहते हैं यह अच्छी तरह समझ लो।

३१—झूठ बोलना मृषावाद आस्रव है और उस समय जो कर्म उदय में होता है वह मृषावाद पाप-स्थानक है। जो मिथ्या बोलता है वह जीव है तथा जो उदय में होता है वह कर्म है। इन दोनों को भिन्न-भिन्न समझो।

३२—चोरी करना अदत्तादान आस्रव है, चोरी करते समय जो कर्म उदय में रहता है वह अदत्तादान पाप-स्थानक है। अदत्तादान पाप-स्थानक के उदय से जीव का चोरी करने में प्रवृत्त होना जीव-परिणाम है।

३३—मैथुन सेवे ते मैथुन आश्रव, ते जीव तणा परिणांमो रे।
उदे हूओ ते मैथुन पाप थांनक छें, मोह करम अजीव छें तांमो रे॥

३४—सचित्त अचित्त मिश्र उपर, ममता राखे ते परिग्रह जांणों रे।
ते ममता छें मोह करम रा उदा सूं, उदे में छें ते पाप ठांणों रे॥

३५—क्रोध सूं लेइ नें मिथ्यात दरसण, उदे हूआ ते पाप रो ठांणों रे।
यांरा उदा सूं सावद्य कांमा करें ते, जीवरा लषण जांणों रे॥

३६—सावद्य कामां ते जीव रा किरतब, उदे हूआ ते पाप करमों रे।
यां दोयां नें कोइ एकज सरधे, ते भूला अग्यांनी भर्मो रे॥

३७—आश्रव तो करम आवानां दुवार, ते तो जीव तणा परिणांमो रे।
दुवार मांहें आवे ते आठ करम छें, ते पुदगल दरब छें तांमो रे॥

३८—माठा परिणांम ने माठी लेस्या, वले माठा जोग व्यापारो रे।
माठा अधवसाय नें माठो ध्यांन, ए पाप आवानां दुवारो रे॥

३९—भला परिणांम नें भली लेस्या, भला निरवद जोग व्यापारो रे।
भला अधवसाय नें भलोइ ध्यांन, ए पुन आवा रा दुवारो रे॥

३३—मैथुन का सेवन करना मैथुन-आस्रव कहलाता है। अब्रह्मचर्य सेवन जीव-परिणाम है। अब्रह्मचर्य सेवन के समय जो कर्म उदय में रहता है वह मैथुन पाप-स्थानक है। मोहनीय कर्म अजीव है।

३४—सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त वस्तु विषयक ममत्वभाव को परिग्रह आस्रव समझना चाहिए। ममता—परिग्रह मोह-कर्म के उदय से होता है और उदय में आया हुआ वह मोहकर्म परिग्रह पाप-स्थानक है।

३५—क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक इस तरह अलग-अलग अठारह पाप-स्थानक उदय में आते हैं। इन भिन्न-भिन्न पाप-स्थानकों के उदय होने से जीव जो भिन्न भिन्न सावद्य कृत्य करता है वे सब जीव के लक्षण—परिणाम हैं।

३६—सावद्य कार्य जीव के व्यापार हैं और जिनके उदय से ये कृत्य होते हैं वे पाप कर्म हैं। इन दोनों को एक समझने वाले अज्ञानी भ्रम में भूले हुए हैं[१६]।

आस्रव जीव-परिणाम हैं, कर्म पुद्गल परिणाम

३७—आस्रव कर्म आने के द्वार हैं। ये जीव-परिणाम हैं। इन द्वारों से होकर जो आत्म-प्रदेशों में आते हैं वे आठ कर्म हैं, जो पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।

पुण्य पाप कर्म के हेतु (गा० ३८-४६)

३८—अशुभ परिणाम, अशुभ लेश्या, अशुभ योग, अशुभ अध्यवसाय और अशुभ ध्यान ये पाप आने के द्वार (मार्ग) हैं।

३९—शुभ परिणाम, शुभ लेश्या, शुभ निरवद्य व्यापार, शुभ अध्यवसाय और शुभ ध्यान ये पुण्य आने के मार्ग हैं।

४०—भला भूंडा परिणांम भली भूंडी लेस्या, भला भूंडा जोग छें तांमो रे।
भला भूंडा अधवसाय भला भूंडा ध्यांन, ए जीव तणा परिणांमो रे॥

४१—भला भूंडा भाव जीव तणा छें, भूंडा पाप रा बारणा जांणों रे।
भला भाव तो छें संवर निरजरा, पुन सहजे लागे छें आंणो रे॥

४२—निरजरा री निरवद करणी करतां, करम तणो खय जांणों रे।
जीव तणा परदेस चले छें, त्यां सूं पुन लागे छें आंणो रे॥

४३—निरजरा री करणी करें तिण काले, जीव रा चले सर्व परदेसो रे।
जब सहचर नांम करम सूं उदे भाव, तिण सूं पुन तणो परवेसो रे॥

४४—मन वचन काया रा जोग तीनूंइ, पसत्थ नें अपसत्थ चाल्या रे॥
अपसत्थ जोग तो पाप नां दुवार, पसत्थ निरजरा री करणी में घाल्या रे॥

४५—अपसत्थ दुवार नें रूंधणा चाल्या, पसत्थ उदीरणा चाल्या रे।
रूंधतां नें उदीरतां निरजरा री करणी, पुन लागे तिण सूं आश्रव में घाल्या रे॥

४६—पसत्थ नें अपसत्थ जोग तीनूंइ, त्यांरा बासठ भेद छें ताह्यो रे।
ते सावद्य निरवद जीव री करणी, सूतर उवाइ रे मांह्यो रे॥

४७—जिण कह्यों सतरे भेद असंजम, असंजम ते इविरत जांणों रे।
इविरत ते आसा वंछा जीव तणी छें, तिणनें रूडी रीत पिछांणो रे॥

४०-४१-अच्छे-बुरे परिणाम, अच्छी-बुरी लेश्या, अच्छे-बुरे योग, अच्छे-बुरे अध्यवसाय और अच्छे-बुरे ध्यान ये सब जीव के परिणाम—भाव हैं। बुरे परिणाम पाप के द्वार हैं और भले परिणाम संवर और निर्जरा रूप हैं और उनसे सहज ही पुण्य का प्रवेश होता है[१७]।

४२—निर्जरा की निरवद्य करनी करते हुए कर्मों का क्षय होता है, उस समय जीव के प्रदेशों के चलायमान होने से आत्म-प्रदेशों के पुण्य लगते हैं।

४३—निर्जरा की निरवद्य करनी करते समय जीव के सर्व प्रदेश चल—चलायमान होते हैं। उस समय सहचर नामकर्म के उदयभाव से (आत्म-प्रदेशों में) पुण्य का प्रवेश होता है।

४४—मन, वचन और काय ये तीनों योग प्रशस्त (शुभ) और अप्रशस्त (अशुभ) दो तरह के कहे गये हैं। अप्रशस्त (अशुभ) योग पाप-द्वार हैं और प्रशस्त योगों को निर्जरा की करनी में समाविष्ट किया है।

४५—अप्रशस्त योगास्रव-द्वार रूंधने का और प्रशस्त योग को उदीरने का कहा गया है। रूंधते और उदीरते हुए निर्जरा की क्रिया होती है जिससे पुण्य लगता है इसलिये शुभ योग को भी आस्रव में समाविष्ट किया गया है[१८]।

४६—तीनों ही योग प्रशस्त और अप्रशस्त हैं और इनके बासठ भेद उववाई सूत्र में हैं। जीव के सावद्य या निरवद्य व्यापार योग हैं।

४७—जिन भगवान ने असंयम के सत्रह भेद बतलाए हैं। असंयम अर्थात् अविरति। अविरति जीव की आशा-वांछा का नाम है यह अच्छी तरह समझो[१९]।

असंयम के १७ भेद आस्रव हैं

४८—माठा २ किरतब नें माठी २ करणी, सर्व जीव व्यापारो रे।
वले जिण आज्ञा बारला सर्व कामां, ए सगला छें आश्रव दुवारो रे॥

४९—मोह करम उदे जीव रे च्यार संज्ञा, ते तो पाप करम ग्रहे तांणो रे।
पाप करम नें ग्रहे ते आश्रव, ते तो लषण जीव रा जांणो रे॥

५०—उठांण कम बल वीर्य पुरषाकार प्राकम, यांरा सावद्य जोग व्यापारो रे।
तिण सूं पाप करम जीव रे लागे छें, ते जीव छें आश्रव दुवारो रे॥

५१—उठाण कम बल वीर्य पुरषाकार प्राकम, यांरा निरवद किरतब व्यापारो रे।
त्यांसूं पुन करम जीव रे लागें छें, ते पिण जीव छें आश्रव दुवारो रे।

५२—संजती असंजती नें संजतासंजती, ते तो संवर आश्रव दुवारो रे।
ते संवर नें आश्रव दोनूं इ, तिणमें संका नहीं छें लिगारो रे॥

५३—इम विरती अविरती नें विरताविरती, इम पचखांणी पिण जांणों रे॥
इम पिंडीया बाला नें बाल पिंडीया, जागरा सुत्ता एम पिछांणो रे॥

५४—वले संबूड़ा असंबूड़ा नें संबूड़ा संबूड़ा, धमीया धमठी तांमो रे।
धम्मववसाइया इमहिज जांणो, तीन-तीन बोल छें तांमो रे॥

५५—ए सगला बोल छें संवर नें आश्रव, त्यांनें रूडी रीत पिछांणो रे।
कोइ आश्रव नें अजीव कहें छें, ते पूरा छें मूढ अयांणो रे।

४८—बुरे-बुरे कार्य, बुरे-बुरे व्यापार सब जीव के ही व्यापार हैं। वे जिन भगवान की आज्ञा के बाहर के कार्य हैं और सभी आस्रव-द्वार हैं।

सर्व सावद्य कार्य आस्रव हैं

४९—मोहकर्म के उदय से जीव की चार संज्ञाए होती हैं। ये पाप कर्मों को खींच २ कर उन्हें ग्रहण करती हैं। पाप कर्मों के ग्रहण की हेतु होने से संज्ञाएँ आस्रव हैं। ये जीव के लक्षण—परिणाम हैं[२०]।

संज्ञाएँ आस्रव हैं

५०—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम—इन सब के सावद्य व्यापार से जीव के पाप कर्म लगते हैं। ये आस्रव-द्वार भी जीव हैं।

उत्थान, कर्म आदि आस्रव हैं (गा० ५०-५१)

५१—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम इनके निरवद्य व्यापार से जीव के पुण्य कर्म लगते हैं। ये आस्रव-द्वार भी जीव हैं[२१]।

५२—संयम, असंयम, संयमासंयम—ये क्रमशः संवर, आस्रव और संवरास्रव द्वार हैं। इसमें जरा भी शंका नहीं है।

संयम, असंयम, संयमासंयम आदि तीन-तीन बोल संवर, आस्रव और संवरास्रव हैं (गा० ५२-५५)

५३—इसी तरह व्रती, अव्रती और व्रताव्रती तथा प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी को समझो। इसी तरह पण्डित, बाल और बालपण्डित तथा सुप्त, जाग्रत और सुप्तजाग्रत को समझो।

५४—इसी तरह संवृत्त, असंवृत्त और संवृत्तासंवृत्त तथा धर्मी, धर्मार्थी, धर्म व्यवसायी के तीन-तीन बोलों को समझो।

५५—ये सभी बोल संवर और आस्रव हैं यह अच्छी तरह पहचानो[२२]। जो आस्रव को अजीव मानते हैं वे पूरे मूर्ख और अज्ञानी हैं।

५६—आश्रव घटीयां संवर वधें छें, संवर घटीयां आश्रव वधांणों रे।
किसो दरब घटीयो नें वधीयो, इण नें रूडी रीत पिछांणो रे।

५७—इविरत उदे भाव घटीयां सूं, विरत वधें छें षय उपसम भावो रे।
ए जीव तणा भाव वधीयां नें घटीयां, आश्रव जीव कह्यों इण न्यावो रे॥

५८—सतरे भेद असंजम ते इविरत आश्रव, ते आश्रव नें निश्चें जीव जांणों रे।
सतरे भेद संजम नें संवर कह्यों जिण, ए तो जीव रा लषण पिछांणों रे॥

५९—आश्रव नें जीव सरधावण काजे, जोड कीधी पाली मझारो रे।
संवत अठारे वरस पचावनें आसोज सुद चवदस मंगलवारो रे॥

५६—आस्रव घटने से संवर बढ़ता है, संवर घटने से आस्रव बढ़ता है। कौन द्रव्य घटता और कौन द्रव्य बढ़ता है—यह अच्छी तरह समझो।

आस्रव संवर से जीव के भावों की ही हानि-वृद्धि होती है (गा० ५६-५८)

५७—जीव के औदयिक भाव अव्रत के घटने से क्षयोपशम भाव व्रत की वृद्धि होती है। इस तरह जीव के ही भाव घटते और बढ़ते हैं; इस न्याय से आस्रव को जीव कहा है।

५८—इस तरह असंयम के जो सत्रह भेद हैं वे अविरति आस्रव हैं। इन आस्रवों को निश्चय ही जीव समझो। सत्रह प्रकार के संयम को जिन भगवान ने संवर कहा है। इन्हें भी जीव के ही लक्षण समझो[२३]।

५९—आस्रव को जीव श्रद्धाने के लिए यह जोड़ पाली शहर में सं० १८५५ की आश्विन सुदी १४ मंगलवार को की है।

रचना-स्थान और समय

टिप्पणियाँ

१—आस्रव के विषय में विसंवाद (दो० १-५) :

आस्रव कर्म है, अजीव है, रूपी है—इन मान्यताओं की असंगति को दिखाते हुए स्वामीजी कहते हैं—

(१) अगर आस्रव कर्म आने का द्वार है तो उसे कर्म कैसे कहा जा सकता है ? कर्म-द्वार और कर्म एक कैसे होंगे ?

(२) आस्रव और कर्म के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं । भिन्न-भिन्न स्वभाववाली वस्तुएँ एक कैसे होंगी ?

(३) क्या एक ओर आस्रव को रूपी कहना और दूसरी ओर उसे कर्म-द्वार कहना परस्पर असंगत नहीं ?

(४) योग रूपी, आस्रव-द्वार और कर्म तीनों एक साथ कैसे होगा ?

बाद में उपसंहारात्मक रूप से स्वामीजी कहते हैं—जो बीस आस्रव हैं वे जीव-पर्याय हैं । वे कर्म आने के द्वार हैं; कर्म नहीं । वे अरूपी हैं; रूपी नहीं ।

२—मिथ्यात्वादि आस्रवों की व्याख्या (गा० १-५) :

आस्रवों की संख्या-प्रतिपादक-परम्पराओं का उल्लेख करते हुए यह बताया गया था कि एक परम्परा विशेष के अनुसार आस्रवों की संख्या २० है (देखिए टि० ५ पृ० ३७२) । स्वामीजी ने गा० १ से १७ में इस परम्परा-सम्मत आस्रवों की परिभाषा देते हुए उन्हें जीव-परिणाम सिद्ध किया है । गा० ५ तक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग की परिभाषाएँ आई हैं । इनका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है (देखिए टि० ६ पृ० ३७३-३८०) ।

३—प्राणातिपात आस्रव (गा०६) :

आगम में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय —ये छः प्रकार के जीव कहे गये हैं । मन, वचन, काय और कृत, कारित एवं अनुमोदन से उनके प्राणों का वियोग करना अथवा उनको किसी प्रकार का कष्ट देना हिंसा है ।

श्रीउमास्वाति लिखते हैं : "**प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा**[१]"—प्रमाद से युक्त होकर काय, वाक् और मनोयोग के द्वारा प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है[२]।

आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं : "सकषाय अवस्था प्रमाद है। जिसके आत्म-परिणाम कषाययुक्त होते हैं वह प्रमत्त है। प्रमत्त के योग से इन्द्रियादि दस प्राणों का यथासम्भव व्यपरोपण अर्थात् वियोगीकरण हिंसा है[३]।"

श्री अकलङ्कदेव ने 'प्रमत्त' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है : "इन्द्रियों के प्रचार-विशेष का निश्चय न करके प्रवृत्ति करनेवाला प्रमत्त है। अथवा जैसे मदिरा पीनेवाला मदोन्मत्त होकर कार्याकार्य और वाच्यावच्य से अनभिज्ञ रहता है उसी तरह जीवस्थान, जीवोत्पत्तिस्थान और जीवाश्रयस्थान आदि को नहीं जानकर कषायोदय से हिंसा व्यापारों को ही करता है और सामान्यतया अहिंसा में प्रयत्नशील नहीं होता वह प्रमत्त है। अथवा चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और प्रणय इन पन्द्रह प्रमादों से युक्त प्रमत्त है। प्रमत्त के सम्बन्ध से अथवा प्रमत्त के योग—व्यापार से होनेवाला प्राण-वियोग हिंसा है[४]।"

प्रमत्तयोग विशेषण यह बतलाने के लिए है कि सब प्राणी-वियोग हिंसा नहीं है। उदाहरण स्वरूप---ईर्यासमिति से युक्त चलते हुए साधु के पैर से रास्ते में यदि कोई क्षुद्र प्राणी दब कर मर जाय तो भी उसे उस वध का पाप नहीं लगता; कारण कि वह प्रमत्त नहीं[५]। इसीलिए कहा है—"दूसरे के प्राणों का वियोजन होने पर भी (अप्रमत्त) वध से लिप्त नहीं होता[६]।" "जीव मरे या जीवित रहे यत्नाचार से रहित पुरुष के नियम से हिंसा होती है

१—तत्त्वा० ७.८

२—वही ७.८ भाष्य

३—तत्त्वा० ७.१३ सर्वार्थसिद्धि

४—तत्त्वार्थवार्तिक ७.१३

५—(क) उच्चालिदम्हि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आवादे (धे) ज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज॥
न हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समए।
मुच्छापरिग्गहो त्ति य अज्झप्पमाणदो भणिदो॥

(ख) भगवती

६—सिद्ध० द्वा० ३.१६ :
वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते॥

और जो यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है,हिंसा हो जाने पर भी उसे बन्ध नहीं होता[1]।" "प्रमाद से युक्त आत्मा पहले स्वयं अपने द्वारा ही अपना घात करता है उसके बाद दूसरे प्राणियों का वध हो या न हो[2]।"

यहाँ यह विशेष रूप से ध्यान में रखने की बात है कि जो पूर्ण संयती है उसी के विषय में उपर्युक्त वाक्य सिद्धान्त रूप हैं। जो हिंसा का त्यागी नहीं अथवा हिंसा का देश त्यागी है वह अप्रमत्त नहीं कहा जा सकता। यत्नाचारपूर्वक चलने पर भी उसके शरीरादि से जीव-हिंसा हो जाने पर वह जीव-वध का भागी होगा।

हिंसा करना—उसमें प्रवृत्त होना प्राणातिपात आस्रव है।

४—मृषावाद आस्रव : (गा० ७)

श्रीउमास्वाति के अनुसार '**असदभिधानमनृतम्**[3]'—असत् बोलना अनृत है। भाष्य के अनुसार असत् के तीन अर्थ होते हैं :

(१) **सद्भाव-प्रतिषेध**—इसके दो प्रकार हैं—(क) **सद्भूतनिह्नव**—जो है उसका निषेध जैसे आत्मा नहीं है,परलोक नहीं है। (ख) **अभूतोद्भावन**—जो नहीं है उसका निरूपण जैसे आत्मा श्यामाक तण्डुलमात्र है, आदित्यवर्ण है आदि।

(२)**अर्थान्तर**—भिन्न अर्थ को सूचित करना जैसे गाय को घोड़ा कहना।

(३)**गर्हा**—हिंसा, कठोरता, पैशुन्य आदि से युक्त वचनों का व्यवहार गर्हा है। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"असत् का अर्थ —अप्रशस्त भी है। अप्रशस्त का अर्थ है प्राणी-पीड़ाकारी वचन। वह सत्य हो या असत्य अनृत है[4]।"

१—प्रवचनसार ३.१७ :

मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥

२—स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणान्तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः॥

३—तत्त्वा० ७.९

४—तत्त्वा. ७.१४ सर्वार्थसिद्धिः

न सदसदप्रशस्तमिति यावत्......प्राणिपीडाकरं यत्तदप्रशस्तं विद्यमानार्थविषयं वा अविद्यमानार्थविषयं वा।

प्रश्न हो सकता है—किसी बीमार बालक को बतासे में दवा रखकर कहना कि यह बतासा है, इसमें दवा नहीं है—अनृत है या नहीं ? एक मत से असत्य होने पर भी यह कथन प्रमाद के अभाव से अनृत नहीं है[1] । स्वामीजी के अनुसार यह वचन अनृत ही है। इसमें प्रमाद का अभाव नहीं कहा जा सकता ।

अनृत—झूठ बोलना मृषावाद आस्रव है ।

५—अदत्तादान आस्रव (गा० ८) :

किसी की बिना दी हुई तृणवत् वस्तु का भी लेना चोरी है[2] । चोरी करना अदत्तादान आस्रव है

प्रश्न उठता है—ग्राम, नगर आदि में भ्रमण करते समय गली, कूचा, दरवाजा आदि में प्रवेश करने पर क्या सर्व संयती भिक्षु बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण नहीं करता? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"गली, कूचा और दरवाजा आदि सबके लिए खुले होते हैं। जिन में किवाड़ आदि लगे हैं उन दरवाजों आदि में वह भिक्षु प्रवेश नहीं करता, क्योंकि वे सबके लिए खुले नहीं होते। प्रमत्त के योग से बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करना स्तेय है। यहाँ प्रमाद नहीं। बाह्य वस्तु ली जाय या न ली जाय—जहाँ संक्लेशरूप परिणाम के साथ प्रवृत्ति होती है वहाँ स्तेय है[3] ।"

६—मैथुन आस्रव (गा० ६) :

स्त्री और पुरुष दोनों के मिथुन-भाव अथवा मिथुन-कर्म को मैथुन कहते हैं। उसका दूसरा नाम अब्रह्म है[4] । आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"चारित्रमोहनीय के उदय

१—सभाष्य तत्त्वार्थाभिगम सूत्र पृ० ३३१ पाद टिप्पणी २

२—तत्त्वा० ७.१० भाष्य :

स्तेयबुद्ध्या परैरदत्तस्य परिगृहीतस्य तृणादेर्द्रव्यजातस्यादानं स्तेयम्

३—तत्त्वा० ७.१५ सर्वार्थसिद्धि :

एवमपि भिक्षोर्ग्रामनगरादिषु भ्रमणकाले रथ्याद्वारादि प्रवेशाददत्तादानं प्राप्नोति? नैष दोषः; सामान्येन मुक्तत्वात्। तथाहि—अयं भिक्षुः पिहितद्वारादिषु न प्रविशति अमुक्तत्वात्।...न च रथ्यादि प्रविशतः प्रमत्तयोगोऽस्ति।...यत्र संक्लेशपरिणामेन प्रवृत्तिस्तत्र स्तेयं भवति बाह्यवस्तुनो ग्रहणे चाग्रहणे च।

४—तत्त्वा० ७. ११ भाष्य :

स्त्रीपुंसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म वा मैथुन तदब्रह्म

होने पर राग-परिणाम से युक्त स्त्री और पुरुष के जो एक दूसरे को स्पर्श करने की इच्छा होती है वह मिथुन है। इसका कार्य मैथुन कहलाता है। सर्व कार्य मैथुन नहीं। राग-परिणाम के निमित्त से होनेवाली चेष्टा मैथुन है। 'प्रमत्तयोगात्' की अनुवृत्ति से रति-जन्य सुख के लिए स्त्री-पुरुष की मिथुनविषयक चेष्टा मैथुन है[1] ।"

श्री अकलङ्कदेव ने रतिजन्य सुख के लिए केवल स्त्री या पुरुष की चेष्टा को भी मैथुन कहा है : "यहाँ एक ही व्यक्ति कामरूपी पिशाच के सम्पर्क से दो हो गए हैं। दो के कर्म को मैथुन कहने में कोई बाधा नहीं[2] ।"

मैथुन सेवन को मैथुन आस्रव कहते हैं।

७—परिग्रह आस्रव (गा० १०) :

चेतन अथवा अचेतन—बाह्य अथवा आभ्यन्तर द्रव्यों में मूर्च्छाभाव को परिग्रह कहते ह। इच्छा, प्रार्थना, कामाभिलाषा, काङ्क्षा, गृद्धि, मूर्च्छा ये सब एकार्थक हैं[3]। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन-अचेतन बाह्य उपधि का तथा रागादिरूप आभ्यन्तर उपधि का संरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यापार मूर्च्छा है। यह स्पष्ट ही है कि बाह्यपरिग्रह के न रहने पर भी 'यह मेरा है' ऐसे संकल्प वाला पुरुष परिग्रह सहित है[4]।"

स्वामीजी ने एक जगह कहा है—"किसी स्थान पर हीरा, पन्ना, माणिक, मोती आदि पड़े हों तो वे किसी को डूबोते नहीं। उनसे किसी को पाप नहीं लगता। उनसे

१—तत्त्वा० ७.१६. सर्वार्थसिद्धि :

स्त्रीपुंसयोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शनं प्रति इच्छा मिथुनम्। मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते। न सर्वं कर्म...स्त्रीपुंसयो रागपरिणाम-निमित्तं चेष्टितं मैथुनमिति। प्रमत्तयोगात् इत्यनुवर्तते तेन स्त्रीपुंसमिथुनविषयं रतिसुखार्थं चेष्टितं मैथनमिति गृह्यते, न सर्वम्।

२—तत्त्वार्थवार्तिक ७.१६.८ :

एकस्य द्वितीयोपपत्तौ मैथुनत्वसिद्धेः

३—तत्त्वा० ७.१२ भाष्य

४—सर्वार्थसिद्धि ७.१७

ममता करने, उनसे सावद्य कर्तव्य करने से पाप लगता है। मोहनी कर्म के उदय से कर्तव्य करने में पाप है, इन में नहीं[1]।"

साधु के कल्पनीय भण्डोपकरण, वस्त्र आदि परिग्रह नहीं। उनमें मूर्च्छा परिग्रह है। गृहस्थ के पास जो कुछ होता है वह सब उसका परिग्रह है क्योंकि उसका ग्रहण मूर्च्छा-पूर्वक ही होता है। कहा है—

"निर्ग्रन्थ मुनि नमक, तैल, घृत और गुड़ आदि पदार्थों के संग्रह की इच्छा नहीं करता। संग्रह करना लोभ का अनुस्पर्श है। जो लवण, तैल, घी, गुड़ अथवा अन्य किसी भी वस्तु के संग्रह की कामना करता है वह गृहस्थ है—साधु नहीं।

"वस्त्र, पान, कम्बल, रजोहरण आदि जो भी हैं उन्हें मुनि संयम की रक्षा के लिए रखते और उनका उपयोग करते हैं। त्राता महावीर ने वस्त्र, पात्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है। उन्होंने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है।

"बुद्ध पुरुष अपने शरीर पर भी ममत्वभाव नहीं रखते[2]।"

पदार्थों का संग्रह करना अथवा मूर्च्छाभाव परिग्रह आस्रव है।

१—पाँच भाव की चर्चा

२—दसवैकालिक ६.१८-२२ :

विडमुब्भेइमं लोणं, तेल्लं सप्पिं च फाणियं।
न ते सन्निहिमिच्छंति, नायपुत्तवओरया॥
लोभस्सेसणुफासे, मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहीकामे, गिही पव्वइए न से॥
जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वु ं महेसिणा॥
सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण परिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं॥

८—पंचेन्द्रिय आस्रव—(गा० ११-१३) :

इन गाथाओं में श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच आस्रवों की परिभाषाएँ दी गई हैं। उनकी व्याख्याएँ नीचे दी जाती हैं :

(१) श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव :

जो मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों को सुने वह श्रोत्रेन्द्रिय है। कान में पड़ते हुए मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों से राग-द्वेष करना विकार है। विकार और श्रोत्रेन्द्रिय एक नहीं। श्रोत्रेन्द्रिय का स्वभाव सुनने का है। वह क्षयोपशम भाव है। विकार—राग-द्वेष अशुभ परिणाम हैं।

उत्तराध्ययन (३२.३५) में कहा है :

> **सोयस्स सद्दं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।**
> **तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥**

शब्द श्रोत्र-ग्राह्य है। शब्द कान का विषय है। यह जो शब्द का प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो शब्द का अप्रिय लगना है उसे द्वेष का हेतु। जो इन दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

शब्द के ऊपर राग-द्वेष करने का अत्याग अविरति आस्रव है। त्याग संवर है। शब्द सुनकर राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। शब्द सुनकर राग-द्वेष का टालना शुभ योग आस्रव है[1]।

(२) चक्षु इन्द्रिय आस्रव :

जो अच्छे-बुरे रूपों को देखती है वह चक्षु इन्द्रिय है। अच्छे-बुरे रूपों में राग-द्वेष करना विकार है। विकार मोहजनित भाव है। चक्षु इन्द्रिय दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम भाव है। रूप चक्षु इन्द्रिय का विषय है उसमें राग-द्वेष अशुभ परिणाम है।

उत्तराध्ययन (३२.२२) में कहा है :

> **चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।**
> **तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥**

रूप चक्षु-ग्राह्य है। रूप चक्षु का विषय है। यह जो रूप का प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो रूप का अप्रिय लगना है, उसे द्वेष का हेतु। जो इन दोनों में समभाव रखता है वह वीतराग है।

१—पाँच इन्द्रियानी ओलखावण

रूप के प्रति राग-द्वेष करने का अत्याग असंवर—अविरति आस्रव है। त्याग संवर है। रूप देखकर राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। राग-द्वेष का टालना शुभ योगास्रव है[1]।

(३) घ्राणेन्द्रिय आस्रव :

जो सुगंध-दुर्गंध को ग्रहण करे—सूंघे वह घ्राणेन्द्रिय है। सुगंध-दुर्गंध में राग-द्वेष करना विकार है। विकार मोहजन्य भाव है। घ्राणेन्द्रिय क्षयोपशम भाव है। गंध घ्राणेन्द्रिय का विषय है। उसमें राग-द्वेष अशुभ परिणाम है।

उत्तराध्ययन (३२.४८) में कहा है :

> **घाणस्स गन्धं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।**
> **तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥**

गंध घ्राण-ग्राह्य है। गंध नाक का विषय है। यह जो गंधका प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो गंध का अप्रिय लगना है, उसे द्वेष का हेतु। जो दोनों में समभाव रखता है वह वीतराग है।

सुगंध-दुर्गंध के प्रति राग-द्वेष करने का अत्याग असंवर है—अविरति आस्रव है। त्याग संवर है। नाक में गंध आने पर राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। राग-द्वेष का टालना शुभ योगास्रव है[2]।

(४) रसनेन्द्रिय आस्रव :

जो रस का आस्वादन करे उसे रसनेन्द्रिय कहते हैं। अच्छे-बुरे रसों में राग-द्वेष विकार है। विकार मोहजन्य भाव है। रसनेन्द्रिय क्षयोपशम भाव है। रसास्वादन रसनेन्द्रिय का विषय है। उसमें राग-द्वेष अशुभ परिणाम है।

उत्तराध्ययन (३२.६१) में कहा है :

> **जिब्भाए रसं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।**
> **तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥**

रस जिह्वा-ग्राह्य है। रस जिह्वा का विषय है। यह जो रस का प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो रस का अप्रिय लगना है, उसे द्वेष का हेतु। जो दोनों में समभाव रखता है वह वीतराग है।

१—पाँच इन्द्रियानी ओलखावण
२—वही

स्वाद-अस्वाद के प्रति राग-द्वेष का अत्याग असंवर है—अविरति आस्रव है। त्याग संवर है। स्वाद-अस्वाद के प्रति राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। राग-द्वेष का टालना शुभ योगास्रव है[1]।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव :

जो स्पर्श का अनुभव करे उसे स्पर्शनेन्द्रिय कहते हैं। अच्छे-बुरे स्पर्शों में राग-द्वेष विकार है। विकार मोह के उदय से उत्पन्न भाव है। स्पर्शनेन्द्रिय दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से प्राप्त भाव है। स्पर्श का अनुभव करना स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है। उसमें राग-द्वेष अशुभ परिणाम है।

उत्तराध्ययन (३२.७४) में कहा है :

> **कायस्स फासं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।**
> **तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥**

स्पर्श काय-ग्राह्य है। स्पर्श शरीर का विषय है। यह जो स्पर्श का प्रिय लगना है, उसे राग का हेतु कहा है और यह जो स्पर्श का अप्रिय लगना है, उसे द्वेष का हेतु। जो दोनों में समभाव रखता है वह वीतराग है।

अच्छे-बुरे स्पर्श के प्रति राग-द्वेष का अत्याग असंवर है—अविरति आस्रव है। त्याग संवर है। स्पर्श के प्रति राग-द्वेष करना अशुभ योगास्रव है। राग-द्वेष का वर्जन शुभ योगास्रव है[2]।

कहा है—"कामभोग—शब्द, रूपादि के विषय समभाव-उपशम के हेतु नहीं हैं और न ये विकार के हेतु हैं। किन्तु जो उनमें परिग्रह—राग-द्वेष करता है वही मोह—राग-द्वेष के कारण विकार को उत्पन्न करता है[3]।"

६—मन योग, वचन योग और काय योग (गा० १४) :

बीस आस्रवों में पाँचवां आस्रव योग आस्रव है। योग के तीन भेद होते हैं—(१) मन योग (२) वचन योग और (३) काय योग। इन्हीं भेदों को लेकर क्रमशः १६वाँ,

---

१—**पाँच इन्द्रियानी ओलखावण**

२—**वही**

३—**उत्त० ३२.१०१ :**

> **न कामभोगा समयं उवेन्ति, न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।**
> **जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥**

१७वाँ और १८वाँ आस्रव है। मन की प्रवृत्ति मन योग, वचन की प्रवृत्ति वचन योग और काय की प्रवृत्ति काय योग है[1]।

स्वामीजी के सामने एक प्रश्न था—योग आस्रव में केवल मन, वचन और काय के सावद्य योगों का ही समावेश होता है, निरवद्य योगों का नहीं।

जीव के पाप लगता है पर पुण्य नहीं लगता। पाप ही पुण्य होता है। करनी करते करते, पाप धोते-धोते पाप-कर्म दूर होने पर अवशेष पाप पुण्य हो जाते हैं। पुण्य पाप कर्म से ही उत्पन्न होता है। अशुभ योगों से पाप लगता है। शुभ योगों से पुण्य नहीं लगता[2]।

स्वामीजी ने विस्तृत उत्तर देते हुए जो कहा उसका अत्यन्त संक्षिप्त सार इस प्रकार है: "ठाणाङ्ग में जहाँ पाँच आस्रवों का उल्लेख है—वहाँ योग आस्रव कहा है। योग शब्द में सावद्य योग, निरवद्य योग दोनों ही आते हैं। योग आस्रव की जगह यदि अशुभ योग आस्रव होता तो ही शुभ योग आस्रव का ग्रहण नहीं होता। परन्तु योग आस्रव कहने से शुभ योग, अशुभ योग दोनों आस्रव होते हैं। पाँच संवरों में अयोग संवर का उल्लेख है। योग का निरोध अयोग संवर है। यदि अशुभ योग ही आस्रव होता, शुभ योग आस्रव नहीं होता तो अशुभ योग के निरोध को संवर कहा जाता; योग निरोध को नहीं। इससे भी सिद्ध होता है कि योग आस्रव में शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के योगों का समावेश है[3]।

"सूत्र में कहा है जैसे वस्त्र के मैल का उपचय होता है वैसे ही साधु के ईर्यावही कर्म का बंध होता है। जिस तरह वस्त्र में जो मैल लगता है वह प्रत्यक्ष बाहर से आकर लगता है उसी तरह जीव के जो ईर्यावही पुण्य कर्मों का उपचय होता है वह बाहर के कर्म-पुद्गलों का ही होता है। बंधे हुए पाप कर्मों का पुण्यरूप परिवर्तन नहीं। पापों के घिसते-घिसते जो बाकी रहेंगे वे पाप कर्म ही रहेंगे; पाप पुण्य कर्म कैसे होंगे? ईर्यावही कर्म का ग्रहण सपष्टतः बाहर के पुद्गलों का ग्रहण है। वह उपचय रूप है। परिवर्तन रूप नहीं। यह कर्मोपचय शुभ योगों से है। केवली के भी शुभ योग आस्रव है।

१—देखिए पृ० १४८ टि० ५; पृ० २०३ टि० ४; पृ० ३७६ : ५

२—टीकम डोसी की चर्चा

३—अन्य भी अनेक आगम प्रमाण स्वामीजी ने दिये हैं। विस्तार के भय से उन्हें यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

निरवद्य करनी करते समय शुभ कर्मों का आगमन होता है। इसे पुण्य का बंध कहते हैं। सावद्य करनी करते समय अशुभ कर्मों का आगमन होता है। इसे पाप का बंध कहते हैं। बंधे हुए पुण्य शुभ रूप से उदय में आते हैं और बंधे हुए पाप अशुभ रूप से। ये तीर्थङ्करों के वचन हैं।"

स्वामीजी के साथ योग सम्बन्धी विविध पहलुओं पर अनेक चर्चाएँ हुई। प्रसंगवश यहाँ कुछ चर्चाओं का सार मात्र दिया जा रहा है :

(१) तीन योगों से भिन्न कार्मण योग है वही पाँचवां आस्रव है :

स्वामीजी के सम्मुख योग विषय में एक नया मतवाद उपस्थित हुआ। इसकी प्ररूपणा थी—"मन योग, वचन योग और काय योग के उपरान्त चौथा योग कार्मण योग होता है। यह तीनों ही योगों से अलग है। योग आस्रव में यही आता है; प्रथम तीन नहीं। यह अनादिकालीन है। इसका विरह नहीं पड़ता। यह स्वाभाविक योग है। यह मोहकर्म के उदय से है। सावद्य योग है। पाँचवां आस्रव है। यह छेदने पर भी नहीं छिदता। यह अनादि कालीन स्वाभाविक सावद्य योग है। निरंतर पुण्य पाप का कर्त्ता है। जीव तप संयम करता है उस समय यह सावद्य योग पुण्य ग्रहण करता है। इसे सावद्य योग कहें, चाहे अशुभ योग कहें, चाहे माठा योग कहें, चाहे अधर्म कहें, चाहे सावद्य अधर्म आस्रव कहें, चाहे पुण्य का कर्त्ता अधर्म कहें, चाहे पुण्य का कर्त्ता सावद्य कहें[1]।"

स्वामीजी ने इसका विस्तृत उत्तर दिया है। उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है : "योग तीन ही कहे हैं। मन योग, वचन योग और काय योग। इन तीन योगों के उपरांत चौथे योग का श्रद्धान मिथ्या श्रद्धा है। तीन योग के १५ भेद किये हैं—मन के चार, वचन के चार और काया के सात। इन पंद्रह योगों के सिवा सोलहवें योग की श्रद्धान सिद्धान्त के विरुद्ध है। योग किस को कहते हैं? योग अर्थात् मन, वचन और काय का व्यापार। व्यापार या तो सावद्य होता है अथवा निरवद्य। सावद्य व्यापार पाप की करनी है और निरवद्य व्यापार निर्जरा और पुण्य की करनी है। सावद्य-निरवद्य व्यापार योग है; अन्य योग नहीं।

"पुण्य के कर्त्ता तीनों ही योग निरवद्य हैं। पाप के कर्त्ता तीनों ही योग सावद्य हैं। व्यापार जीव के प्रदेशों की चंचलता—चपलता है। जब आत्मा शक्ति, बल और पराक्रम

१—टीकम डोसी की चर्चा से उनका लिखित प्रश्न

का स्फोटन करता है तब आत्म-प्रदेशों में हलन-चलन होती है। प्रदेश आगे-पीछे चलते हैं यह नामकर्म के संयोग से होता है। यह योग आत्मा है।

"मोहकर्म के उदय से और नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेशों का चञ्चल होना सावद्य योग है। यह भी योग आत्मा है।

"मोहकर्म के उदय बिना नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेशों का चञ्चल होना निरवद्य योग है। यह भी योग आत्मा है।

"मोहकर्म के बिना नामकर्म के उदय से जीव के प्रदेशों का चञ्चल होना निरवद्य योग है।

"मोहकर्म के बिना नामकर्म की प्रकृति को उदीर कर जीव के प्रदेशों का चलना भी निरवद्य योग है।

"मोहकर्म के उदय से नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेशों का चलना सावद्य योग है। उससे पाप लगता है।

"मोहकर्म के उदय से उदीर कर नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेशों को चलाना भी सावद्य योग है। उससे पाप लगता है।

"जीव के प्रदेशों का चलना और उदीर कर चलाना उदय भाव है। सावद्य उदय-भाव पाप का कर्त्ता है। निरवद्य उदय-भाव पुण्य का कर्त्ता है।

"सावद्य योगों से पुण्य लगता है और सावद्य योगों से ही पाप लगता है—पुण्य और पाप दोनों सावद्य से लगते हैं—यह बात नहीं मिलती। सावद्य योगों से पाप लगता है निरवद्य योगों से पुण्य लगता है—ऐसा ही सूत्रों में स्थान-स्थान पर उल्लेख है।

"जो सावद्य योग से पुण्य मानते हैं उनके हिसाब से धन्ना अनगार को तेंतीस सागर के पुण्य उत्पन्न हुए अतः उनके सावद्य योग वर्ते। जिनके तीर्थङ्कर नामकर्म आदि बहुत पुण्य हुए उनके सावद्य योग भी बहुत वर्ते। थोड़ा सावद्य योग रहा है उनके थोड़े पुण्य उत्पन्न हुए। यह श्रद्धान कितना विपरीत है यह स्वयं स्पष्ट है[1]।"

(२) प्रवर्तन योग से निवर्तन योग अन्य हैं :

स्वामीजी के सामने अन्य मतवाद यह आया—"मन योग, वचन योग और काय योग प्रवर्तन योग हैं। निवर्तन योग अनेक हैं; निवर्तन योग शुभयोग संवर हैं।"

स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा—"वे कौन से योग हैं जो शुभयोग संवर हैं? उनके नाम क्या हैं? उनकी स्थिति बताओ। उनका स्वभाव बतलाओ। पंद्रह योगों की स्थिति

१—टीकम डोसी की चर्चा।

'जोगां री चर्चा' से प्रायः इसी भाव का उद्धरण पृ० ४१५ (अन्तिम अनुच्छेद)–४१६ में दिया गया है। पाठक उसे भी देख लें।

का उल्लेख है। उनके स्वाभाव का उल्लेख है। इन निवर्तन योगों के स्वभाव, स्थिति आदि भी सूत्र से बताओ।

"योग के व्यापार से निवृत्त होने पर योग घटना चाहिए। जो प्रवृत्ति करे उसे योग कहते हैं। जो प्रवृत्ति नहीं करते उन्हें योग नहीं कहा जा सकता।

"एक समय में एक मन योग होता है, एक वचन योग होता है और एक काय योग होता है। एक समय में पंद्रह योग नहीं होते। पंद्रह योगों की अलग-अलग स्थिति होती है। कौन-कौन-सा संवर शुभ योग है?"

(३) शुभ योग संवर और चारित्र है :

स्वामीजी के सामने मतवाद आया—"जो शुभ योग हैं वे ही संवर हैं। जो शुभयोग हैं वे ही चारित्र हैं। जो शुभयोग हैं वे ही सामायिक चारित्र हैं। यावत् जो शुभयोग हैं वे ही यथाख्यात चारित्र हैं। पाँचों ही चारित्र शुभयोग संवर हैं।"

उत्तर में स्वामीजी ने कहा है—"यह श्रद्धान भी जिन-मार्ग का नहीं। उससे विरुद्ध, विपरीत और दूर है। शुभयोग और संवर भिन्न-भिन्न हैं। शुभयोग निरवद्य व्यापार है। चारित्र शीतलीभूत स्थिर-प्रदेशी है। योग चल प्रदेशी है। चारित्र चारित्रावरणीय कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। उसके प्रदेश स्थिरभूत हैं। योग सावद्य-निरवद्य व्यापार है। प्रदेशों का चलाचल भाव है। सावद्य-योग सावद्य-व्यापार है। निरवद्य-योग निरवद्य-व्यापार है।"

"अंतरायकर्म के क्षयोपशम से क्षायक वीर्य उत्पन्न होता है। अंतरायकर्म के क्षयोपशम से क्षयोपशम वीर्य उत्पन्न होता है। उस वीर्य के प्रदेश लब्धिवीर्य हैं। वे स्थिर प्रदेश हैं। महाशक्ति बल-पराक्रम वाले हैं। नामकर्म के संयोग सहित वीर्य वीर्यात्मा है। वह सकल बल, पराक्रम को फोड़ती है तब प्रदेशों में हलन-चलन होती है। प्रदेश आगे-पीछे चलते हैं। उसे योग आत्मा कहा गया है। मोहकर्म के उदय से नामकर्म के संयोग से जो जीव के प्रदेश चलते हैं यह भी योग आत्मा है।

"जो शुभ योग को संवर कहते हैं उनसे पूछना चाहिए—कौन-सा योग शुभ है? योग पंद्रह हैं उनमें से कौन-सा शुभ योग संवर है? अथवा योग तीन हैं—मन योग, वचन योग और काय योग। उनमें से कौन-सा योग संवर है—मन योग संवर है, वचन योग संवर है या काय योग संवर है?

"उनसे यह भी पूछना चाहिए—सामायिक चारित्र यावत् यथाख्यात चारित्र को कौन-सा शुभ योग कहना चाहिए?

"पंद्रह योगों में कौन-सा शुभ योग संवर है?

१—टीकम डोसी की चर्चा।

"यदि शुभ योग संवर है तो तेरहवें गुणस्थान में मन योग, वचन योग और काय योग को रूंधने का उल्लेख है। फिर संवर को रूंधने की यह बात कैसे ?

"यदि इन योगों के सिवा अन्य मन, वचन और काय के योगों की श्रद्धान है, यथाख्यात चारित्र को शुभ योग मानने की श्रद्धान है तो सोचना चाहिए—यथाख्यात चारित्र तो चौदहवें गुणस्थान में है । यदि यथाख्यात चारित्र शुभ योग है, जो शुभ योग है वही यथाख्यात चारित्र है तो फिर चौदहवें गुणस्थान में अयोगीत्व क्यों कहते हैं ? अपने मुंह से यथाख्यात चारित्र को शुभ योग कहते हैं और साथ ही चौदहवें गुणस्थान में अयोग संवर कहते हैं। फिर सीधा योगी केवली क्यों नहीं कहते ? कैसा अंधेर है कि चौदहवें गुणस्थान में शुभ योग संवर कहते हैं और साथ ही अयोगीत्व भी। पुन: तेरहवें गुणस्थान में सावद्य योग कहते हैं; मोहकर्म के स्वभाव का कहते हैं। यह भी बड़ा अंधेर है। जिसके मोहकर्म का क्षय हो गया उसमें उसका स्वभाव कैसे रहेगा ? मनुष्य के मरने पर उसका अंशमात्र भी नहीं रहता। साधु, तीर्थकर काल हो जाने पर उनका स्वभाव अंशमात्र भी नहीं रहता। उसी प्रकार मोहकर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर—एक प्रदेश मात्र भी बाकी न रहने पर मोहकर्म का स्वभाव फिर कहाँ से बाकी रहा ?

"वे यथाख्यात चारित्र को शुभ योग कहते हैं। उस योग के मिटने से यथाख्यात चारित्र मिटा या नहीं ? योग को यथाख्यात चारित्र कहते हैं उस अपेक्षा से योग ही यथाख्यात चारित्र है। योग मिटने से वह भी मिट गया। शुभ योग और यथाख्यात चारित्र दो हैं तो शुभ योग तो मिट गया और यथाख्यात चारित्र रह गया।

"यथाख्यात चारित्र को शुभ योग कहना, पाँचों ही चारित्र को शुभ योग कहना यह विपरीत श्रद्धा है [१]।"

१०—भंडोपकरण आस्रव (गा० १६) :

आगम में इसे 'उपकरण असंवर' कहा गया है [२]। वस्त्र, पात्रादि को उपकरण कहते हैं। साधु द्वारा नियत और कल्पनीय उपकरणों का यतनापूर्वक सेवन पुण्य-आस्रव है। उसके द्वारा अनियत और अकल्पनीय उपकरणों का अयतनापूर्वक सेवन पापास्रव है। गृहस्थ के द्वारा सर्व उपकरणों का सेवन पापास्रव है।

११—सूची-कुशाग्र आस्रव (गा० १७) :

इसे आगम में 'सूची-कुशाग्र असंवर' कहा गया है [३]। सूची-कुशाग्र उपलक्षण रूप है। ये समस्त उपग्राहिक उपकरणों के सूचक हैं। कल्पनीय सूची-कुशाग्र आदि का यतनापूर्वक

१—टीकम डोसी की चर्चा।

२—ठाणाङ्ग १०.१.७०९

३—ठाणाङ्ग १०.१.७०९

सोतिंदितअसंवरे जाव सूचीकुसग्गअसंवरे।

सेवन पुण्यास्रव है। अयतनापूर्वक सेवन पापास्रव है। गृहस्थ द्वारा इन सबका सेवन पापास्रव है।

सूची-कुशाग्र आस्रव बीसवाँ आस्रव है। स्वामीजी ने मिथ्यात्व आस्रव से लेकर सूची-कुशाग्र आस्रव तक बीसों आस्रवों की परिभाषाएँ दी हैं। ये परिभाषाएँ गा० १-१७ में प्राप्त हैं। इन परिभाषाओं का विवेचन इस टिप्पणी के साथ समाप्त होता है।

उक्त गाथाओं में एक-एक आस्रव की परिभाषा देने के साथ-साथ स्वामीजी यह सिद्ध करते गये हैं कि अमुक आस्रव किस प्रकार जीव-पर्याय है और वह किस प्रकार अजीव नहीं हो सकता।

स्वामीजी की सामान्य दलील है—

"मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग, हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, मैथुन का सेवन करना, ममता करना, पाँचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति करना, मन योग, वचन योग, काय योग, भंड-उपकरण की अयतना, सूची-कुशाग्र का सेवन—ये सब जीव के भाव हैं, जीव ही उन्हें करता है, वे जीव के ही होते हैं। मिथ्यात्व आदि आस्रव हैं। अतः वे जीव-भाव हैं, जीव ही उनका सेवन करता है, वे जीव के ही होते हैं अतः जीव-परिणाम हैं, जीव हैं।"

स्वामीजी ने कषाय आस्रव और योग आस्रव को जीव सिद्ध करने के लिए इस सामान्य दलील के उपरान्त आगम-प्रमाण की ओर भी संकेत किया है। आगम में आठ आत्मा में कषाय आत्मा का स्पष्ट उल्लेख है। आठ आत्माओं में द्रव्य आत्मा मूल है। अवशेष सात आत्माएँ भाव आत्माएँ हैं। वे द्रव्य आत्मा के लक्षण-स्वरूप, उसके पर्याय—परिणाम स्वरूप हैं। इस तरह कषाय आस्रव आगम-प्रमाण से जीव-भाव है। आगम में जीव-परिणामों में कषाय-परिणाम का उल्लेख है। कर्मों के उदय से जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं उनमें से कषाय एक है[1]। इससे भी उपर्युक्त बात सिद्ध होती है।

कषाय आत्मा की तरह ही आगम में योग आत्मा का भी उल्लेख है। दस जीव-परिणामों में योग-परिणाम है। जीव के औदयिक भावों में योग का उल्लेख है। इस तरह योग आस्रव स्पष्टतः जीव-परिणाम—जीव-भाव—जीव सिद्ध होता है[2]।

१२—द्रव्य योग, भाव योग (गा० १८) :

योग दो तरह के होते हैं—द्रव्य-योग और भाव-योग। मन, वचन और काय द्रव्य-योग हैं। उनके व्यापार भाव-योग हैं। द्रव्य-योग रूपी हैं—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श युक्त होते हैं। भाव-योग जीव-परिणाम हैं अतः अरूपी—वर्णादि रहित हैं। द्रव्य

१—देखिए पृ० ४०५ टि० २४ ; पृ०४०६ टि० २६

२—वही

योगों से कर्म का आगमन नहीं होता। भाव-योग कर्म के हेतु होते हैं—आस्रव रूप हैं। द्रव्य-योग भाव-योग के सहचर होते हैं।

स्वामीजी ने यहाँ कही हुई बात को अन्यत्र इस प्रकार रखा है—"(ठाणाङ्ग टीका में) "तीनूं ई जोगा नै क्षयोपशम भाव कह्या छै। अनै आत्म नो वीर्य कह्यो छै। आत्मा नो वीर्य तो अरूपी छै। ए तो भाव जोग छै। द्रव्य जोग तो पुद्गल छै। ते भाव जोग रे साथै हालै छै। इम द्रव्य जोग भाव जोग जाणवा। भाव जोग ते आश्रव छै। डाहा हुवै ते विचारजो।"[1]

स्वामीजी ने ठाणाङ्ग की टीका का उल्लेख किया है। वहाँ का विवेचन नीचे दिया जाता है :

"वीर्यांतराय कर्म के क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न लब्धिविशेष के प्रत्ययरूप और अभिसंधि और अनभिसंधि पूर्वक आत्मा का जो वीर्य है वह योग है। कहा है—'योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य—ये योग के पर्याय हैं[2]।' वीर्य योग दो प्रकार का है—सकरण और अकरण। अलेश्यी केवली के समस्त ज्ञेय और दृश्य पदार्थों के विषय में केवलज्ञान और केवलदर्शन को जोड़नेवाला जो अपरिस्पंद रहित, प्रतिघात रहित वीर्य विशेष है वह अकरण वीर्य है। मन योग, वचन योग और काय योग से अकरण योग का अभिप्राय नहीं है। सकरण वीर्य योग है। जिससे जीव कर्म द्वारा युक्त हो वह योग है। योग वीर्यान्तराय के क्षयोपशम जनित जीव-परिणाम विशेष है। कहा है—'मन, वचन और काय से युक्त जीव का आत्मसम्बन्धी जो वीर्य-परिणाम है उसे जिनेश्वरों ने योग संज्ञा से व्यक्त किया है। अग्नि के योग से जैसे रक्तता घड़े का परिणाम होता है वैसे ही जीव के करणप्रयोग में वीर्य भी आत्मा का परिणाम होता है[3]।' मनकरण से युक्त जीव का योग—वीर्य पर्याय, दुर्बल को लकड़ी के सहारे की तरह,

---

१—३०६ बोल की हुण्डी : बोल १५७

२—ठाणाङ्ग ३.१.१२४ टीका :

इह वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थलब्धिविशेषप्रत्ययमभिसन्ध्यनभिसन्धिपूर्वमात्मनो वीर्यं योगः, आह च—जोगो वीरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा।
सत्ती सामत्थन्ति य जोगस्य हवंति पज्जाया॥

३—ठाणाङ्ग ३.१.१२४ टीका :

युज्यते जीवः कर्मभिर्येन 'कम्मं जोगनिमित्तं बज्झइ' त्ति वचनात् युङ्क्ते प्रयुङ्क्ते यं पर्यायं स योगो—वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितो जीवपरिणामविशेष इति, आह च—

मणसा वयसा काएण वावि जुत्तस्य विरियपरिणामो।
जीवस्स अप्पणिज्जो स जोगसन्नो जिणक्खाओ॥
तेओजोगेण जहा रत्तत्ताई घडस्स परिणामो।
जीवकरणप्पओए विरियमवि तहप्पपरिणामो॥

मनोयोग है।...अथवा मन का योग—करना, कराना और अनुमतिरूप व्यापार योग है। इसी तरह वाक्‌योग और काय योग हैं[1]।"

अभयदेव सूरि ने अन्यत्र लिखा है—"मननं मनः—मनन करना मन है। औदारिक आदि शरीर की प्रवृत्ति द्वारा ग्रहण किये हुए मनोद्रव्य के समुदाय की सहायता से होनेवाला जीव का मनन रूप व्यापार मनोयोग है[2]। भावरूप व्युत्पत्त्यर्थ को लेकर यह भाव-मन का कथन है।

"औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के व्यापार द्वारा ग्रहण किये हुए भाषा-द्रव्य के समूह की सहायता से जीव का व्यापार वचनयोग है[3]।

"जिसके द्वारा इकट्ठा किया जाता है उसे काय—शरीर कहते हैं। उसके व्यापार को कायव्यायाम कहते हैं। वह औदारिकादि शरीरयुक्त आत्मा के वीर्य की परिणति विशेष है[4]।"

१३—द्रव्य योग अष्टस्पर्शी हैं और कर्म चतुर्स्पर्शी (गा० १९-२०) :

जो द्रव्य काययोग आदि को आस्रव मानते हैं उनके अनुसार भी आस्रव कर्म नहीं। द्रव्य काययोग अष्टस्पर्शी हैं जब कि कर्म चतुर्स्पर्शी हैं। अतः उनके द्वारा कहा जानेवाला द्रव्य काययोग आस्रव कर्म नहीं हो सकता।

आचार्य जवाहिरलालजी लिखते हैं—"मिथ्यात्व, कषाय, अव्रत और योग को जीवांश की मुख्यता को लेकर जीवोदय निष्पन्न कहा है। ये एकान्त जीव हैं इनमें पुद्गलों

१—ठाणाङ्ग ३.१.१२४ टीका :

मनसा करणेन युक्तस्य जीवस्य योगो—वीर्यपर्यायो दुर्बलस्य यष्टिकाद्रव्यवदुपष्टम्भ-करो मनोयोग इति,....मनसो वा योगः—करणकारणअनुमतिरूपो व्यापारो मनोयोगः, एवं वाग्योगोऽपि, एवं काययोगोऽपि

२—वही १.१९ की टीका :

'एगे मणे' त्ति--मननं मनः—औदारिकादिशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्या-ज्जीवव्यापारो, मनोयोग इति भावः

३—वही १.२० की टीका :

'एगा वइ' त्ति वचनं वाक्—औदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूह-साचिव्याज्जीवव्यापारो, वाग्योग इति भावः

४—वही १.२१ टीका :

'एगे कायवायामे' त्ति चीयत इति कायः—शरीरं तस्य व्यायामो व्यापारः कायव्यायामः औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेष इति भावः

का सर्वथा अभाव है यह शास्त्र का तात्पर्य नहीं है क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। मिट्टी से मिट्टी का ही घड़ा बनता है—सोने का नहीं बनता। आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियों का उदय चतुःस्पर्शी पौद्गलिक माना गया है इसलिए उससे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ भी चतुःस्पर्शी पौद्गलिक ही होंगे; एकांत अरूपी और एकांत अपौद्गलिक नहीं हो सकते। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग आठ प्रकार की कर्म की प्रकृतियों के उदय से उत्पन्न होते हैं। इसलिए अपने कारण के अनुसार ये रूपी और चतुःस्पर्शी पौद्गलिक हैं एकांत अरूपी और अपौद्गलिक नहीं हैं तथापि जीवांश की मुख्यता को लेकर शास्त्र में इन्हें जीवोदय निष्पन्न कहा है [१]।"

उपर्युक्त उद्धरणमें योग को चतुःस्पर्शी कहा गया है पर आचार्य जवाहिरलालजी ने उक्त अधिकार में ही एकाधिक स्थानों में योग को अष्टस्पर्शी स्वीकार किया है—जैसे—"आठ...आत्मा...में कषाय और योग क्रमशः चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी पुद्गल हैं...[२]।" "...संसारी आत्मा रूपी भी होता है इसलिए कषाय और योग के क्रमशः चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी रूपी होने पर भी आत्मा होने में कोई सन्देह नहीं[३]।" "मिथ्यात्व,कषाय और योग को चतुःस्पर्शी और काययोग को अष्टस्पर्शी पुद्गल माना जाता है...[४]।"

टिप्पणी १२ में टीका के आधार से योग का जो विस्तृत विवेचन दिया गया है उससे स्पष्ट है कि भाव योग ही आस्रव है; द्रव्ययोग नहीं। भाव योग कदापि रूपी नहीं हो सकता।

१४—आस्रवों के सावद्य-निरवद्य का प्रश्न (गा० २१-२२) :

इन गाथाओं में २० आस्रवों का सावद्य-निरवद्य की दृष्टि से विवेचन है।

स्वामीजी के मत से १६ आस्रव एकान्त सावद्य हैं। उनसे केवल पाप का आगमन होता है। योग आस्रव, मन प्रवृत्ति आस्रव, वचन प्रवृत्ति आस्रव और काय प्रवृत्ति आस्रव —ये चारों आस्रव सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार के हैं। योग शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं, यह पहले बताया जा चुका है। शुभ योग निरवद्य हैं और उनसे पुण्य का संचार होता है। अशुभ योग सावद्य हैं और उनसे पाप का संचार होता है। योग की शुभाशुभता की अपेक्षा से उक्त चारों आस्रव सावद्य-निरवद्य दोनों हैं।

१—सद्धर्ममण्डनम् : आश्रवाधिकार : बोल १८
२—वही : बोल १५
३—वही : बोल १६
४—वही : बोल ५

१५—स्वाभाविक आस्रव (गा० २३-२५) :

स्वामीजी ने इन गाथाओं में २० आस्रवों में स्वाभाविक कितने हैं और कर्तव्य रूप कितने हैं—इसका विवेचन किया है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का सामान्य रूप यह है कि ये पाँचों ही आस्रव-द्वार हैं। पाँचों ही कर्मों के कर्त्ता—हेतु—उपाय हैं। गृह के प्रवेश-द्वार की तरह आस्रव जीव-प्रदेश में कर्मों के आगमन के हेतु हैं—**'शुभाशुभकर्मागमद्वार रूप आस्रव**[1]।'

'आस्रवन्ति प्रविशन्ति येन कर्माण्यानीत्याश्रवः कर्मबन्धहेतुरिति भावः[2]'—आदि व्याख्याएँ—इसी बात को पुष्ट करती हैं।

उपर्युक्त पाँच आस्रवों में मिथ्यात्व, अविरति, अप्रमाद और कषाय ये स्वभाव रूप हैं—आत्म की स्थिति रूप हैं। ये आत्म की अमुक प्रकार की भाव-परिणति रूप हैं—योग आस्रव इनसे कुछ भिन्न है। वह स्वभाव रूप—स्थिति रूप—परिणति रूप भी होता है और प्रवृत्ति रूप भी। प्रथम चार आस्रव प्रवृत्ति रूप—क्रिया रूप—व्यापार रूप नहीं। व्यापार रूप आस्रव केवल योग है।

बीस आस्रवों में अन्तिम पंद्रह क्रिया रूप हैं—व्यापार रूप हैं। योग आस्रव भी व्यापार रूप है अतः उक्त पंद्रह आस्रवों का समावेश योग आस्रव में होता है। वास्तव में उक्त पंद्रह आस्रव योगास्रव के ही भेद अथवा रूप हैं। क्योंकि हिंसा करना, झूठ बोलना यावत् सूची-कुशाग्र का सेवन करना—योग के अतिरिक्त अन्य नहीं।

१६—पापस्थानक और आस्रव (गा० २६-३६) :

प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य अठारह पाप भी आस्रव हैं। स्वामीजी ने आस्रव को जीव-परिणाम कहा है। भगवती सूत्र में प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य को रूपी—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शयुक्त कहा है[3]। स्वामीजी के सामने प्रश्न आया कि भगवती सूत्र के उक्त उल्लेख से प्राणातिपात आदि अठारहों आस्रव रूपी ठहरते हैं उन्हें अरूपी किस आधार पर कहा जा सकता है। स्वामीजी इसी शंका का समाधान यहाँ करते हैं। उनका कहना है कि भगवती में प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-स्थानक को रूपी कहा है; प्राणातिपातादि अठारह पापों को नहीं। प्राणातिपातादि पाप आस्रव

१—तत्त्वा० १.४ सर्वार्थसिद्धि

२—ठाणाङ्ग १.१३ टीका

३—देखिए टि० २(१) पृ०२६२

हैं; प्राणातिपातादि स्थानक आस्रव नहीं। अतः भगवती सूत्र के उक्त उल्लेख से आस्रव रूपी नहीं ठहरता।

प्राणातिपात आदि अठारह ही अलग-अलग पाप हैं और अठारह ही आस्रव हैं। इनके आधार स्वरूप अठारह पाप-स्थानक हैं। जिस स्थानक का उदय होता है उसी के अनुरूप पाप जीव करता है। ये स्थानक अजीव हैं। चतुःस्पर्शी कर्म हैं। रूपी हैं। पर इनके उदय से जीव जो कार्य करता है और जो आस्रव रूप हैं वे अरूपी होते हैं। जिनके उदय से मनुष्य हिंसा आदि-पाप-कार्य करता है वे मोहकर्म हैं—अठारह पाप-स्थानक हैं और उदय से जो हिंसा आदि कर्तव्य—व्यापार जीव करता है वे योगास्रव हैं। इस तरह पाप-स्थानक और पाप दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

प्राणातिपात—हिंसा आदि पाप जीव करता है। प्राणातिपातादि पाप-स्थानक उसके उदय में होते हैं। प्राणातिपातादि-स्थानकों के उदय से जीव जो हिंसादि सावद्य कार्य करता है वे जीव-परिणाम हैं। वे ही आस्रव हैं और अरूपी हैं। इनसे जीव-प्रदेशों में नये कर्मों का प्रवेश होता है[1]।

भगवती सूत्र में कहा है—"**एवं खलु पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले वट्टमाणे सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया**[2]।" अर्थात् प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य पर्यन्त में वर्तमान जीव है वही जीवात्मा है। यह कथन भी प्राणातिपात आदि आस्रवों को जीव-परिणाम सिद्ध करता है।

१७—अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान (गा० ३७-४१) :

स्वामीजी ने इन गाथाओं में जो कहा है उसका सार इस प्रकार है : अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान दो-दो प्रकार के होते हैं—शुभ—अच्छे और अशुभ—मलीन। शुभ अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान पुण्य के द्वार हैं तथा अशुभ अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान पाप के द्वार। शुभ-अशुभ दोनों ही अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान—जीव-परिणाम, जीव-भाव, जीव-पर्याय हैं। शुभ परिणामादि संवर निर्जरा के हेतु हैं। उनसे पुण्य का आगमन उसी

१—विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए पृ० २६१-२६४ टि० २ (१)। इसी विषय पर श्रीमद् जयाचार्य ने जो ढाल लिखी है उसका कुछ अंश पृ० २६३ पर उद्धृत है। समूची ढाल परिशिष्ट में दी जा रही है।

२—भगवती १७.२

प्रकार सहज भाव से होता है जिस प्रकार धान के साथ पुआल की उत्पत्ति। अशुभ परिणाम आदि एकांत पाप के कर्त्ता हैं[1]।

लेश्या और योग के सम्बन्ध में स्वामीजी ने अन्यत्र लिखा है :

"अनुयोगद्वार में जीव उदय-निष्पन्न के ३३ बोलों में छः भाव लेश्याओं का उल्लेख है। जो तीन भली लेश्याएँ हैं, वे धर्म लेश्याएँ हैं। निर्जरा की करनी हैं। पुण्य ग्रहण करती हैं उस अपेक्षा से वे उदयभाव कही गयी हैं। जो तीन अधर्म लेश्याएँ हैं, उनसे एकान्त पाप लगता है। वे प्रत्यक्षतः उदयभाव हैं—अप्रशस्त कर्तव्य की अपेक्षा से।

"उदय के ३३ बोलों में सयोगी भी है। उसमें सावद्य और निरवद्य दोनों योगों का समावेश है। निरवद्य योग निर्जरा की करनी हैं। उनसे निर्जरा होती है; साथ-साथ पुण्य भी लगता है जिस अपेक्षा से उन्हें उदयभाव कहा है। सावद्य योग पाप का कर्त्ता है। सावद्य योग प्रत्यक्षतः उदयभाव हैं।

"छहों भाव लेश्याएँ उदयभाव हैं। तीन भली लेश्या और निरवद्य योग को उदय भाव में तीर्थंकर ने कहा है। निरवद्य योग और निरवद्य लेश्या पुण्य के कर्त्ता हैं। इसका न्याय इस प्रकार है। अन्तरायकर्म के क्षय होने से नामकर्म के संयोग से क्षायक वीर्य उत्पन्न होता है। वह वीर्य स्थिर-प्रदेश है। जो चलते हैं वे योग हैं। मोहकर्म के उदय से नामकर्म के संयोग से चलते हैं वे सावद्य योग हैं, पाप के कर्त्ता हैं। मोहकर्म के उदय बिना नामकर्म के संयोग से जीव के प्रदेश चलते हैं वह निरवद्य योग है। निरवद्य योग निर्जरा की करनी हैं। पुण्य के कर्त्ता हैं।

"अन्तरायकर्म के क्षय और क्षयोपशम होने से वीर्य उत्पन्न होता है। उस वीर्य का व्यापार भला योग और भली लेश्या है। निर्जरा की करनी है। पुण्य का कर्त्ता है। अनुयोगद्वार में छहों भावलेश्याओं को उदयभाव कहा है। सयोगी कहने से भले-बुरे योगों को भी उदयभाव कहा है। भली लेश्या और भले योग पुण्य ग्रहण करते हैं जिससे उन्हें उदयभाव कहा है। भले योग और भली लेश्या से कर्म कटते हैं उस अपेक्षा से उन्हें निर्जरा की करनी कहा गया है। छहों लेश्याओं को कर्मों का कर्त्ता कहा है। भली लेश्या भली गति का बन्ध करती है। बुरी लेश्या बुरी गति का बन्ध करती है।

१—देखिए पृ० १७५ ; २४४-२४५

"लेश्या और योग में एकत्व-जैसा देखा जाता है। अगर दोनों में अन्तर है तो वह ज्ञानी ग्राह्य है। जहाँ सलेश्यी वहाँ सयोगी, जहाँ सयोगी वहाँ सलेश्यी, जहाँ अयोगी वहाँ अलेश्यी और जहाँ अलेश्यी वहाँ अयोगी देखा जाता है।

"क्षायक क्षयोपशम भाव से करनी करते समय उदयभाव भी सहचर रूप से प्रवर्तन करता है। जिससे पुण्य लगता है। यथातत्थ चलने से ईर्यावही कर्म लगते हैं। वे भी उदयभाव योग से लगते हैं[1]।"

स्वामीजी ने यहाँ लेश्या आदि के विषय में जो कहा है उसका आगमिक और ग्रन्थान्तर आधार नीचे दिया जाता है।

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! कृष्णलेश्या के कितने वर्ण हैं?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! द्रव्य लेश्या को प्रत्याश्रित कर पाँच वर्ण यावत् आठ स्पर्श कहे गए हैं। भाव लेश्या को प्रत्याश्रित कर उन्हें अवर्ण कहा गया है। यही बात शुक्ल लेश्या तक जाननी चाहिए[2]।"

दस विध जीव-परिणाम में लेश्या-परिणाम भी है[3]। भाव लेश्या जीव-परिणाम है[4]। द्रव्य लेश्या अष्टस्पर्शी पुद्गल है। वह जीव-परिणाम नहीं। जीव उदयनिष्पन्न के ३३ बोलों में छः ही लेश्याओं को गिनाया है[5]। ये भी भाव लेश्याएँ हैं।

छः लेश्याओं में से प्रथम तीन को अधर्म और अवशेष तीन को धर्म लेश्याएँ कहने का आधार उत्तराध्ययन की निम्न गाथा है :

> किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
> तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।

एक बार गौतम ने पूछा : "भगवन्! छः लेश्याओं में से कौन-कौन-सी अविशुद्ध हैं और कौन-कौन-सी विशुद्ध?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! कृष्णलेश्या, नील-लेश्या और कापोतलेश्या—ये तीन लेश्याएँ अविशुद्ध हैं और तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्लेश्या—ये तीन लेश्याएँ विशुद्ध हैं। हे गौतम! इसी तरह पहली तीन अप्रशस्त हैं और

१—टीकम डोसी की चर्चा

२—भगवती १२.५ :

कण्हलेसा णं भंते! कइवन्ना—पुच्छा गोयमा! दव्वलेसं पडुच्च पंचवन्ना, जाव—अट्ठफासा पण्णत्ता भावलेसं पडुच्च अवन्ना ४, एवं जाव सुक्कलेस्सा।

३—ठाणाङ्ग १०.१.७१३; मूल पाठ के लिए देखिए पृ० ४०५ टि० २४

४—देखिए पृ० ४०६ टि० २५

५—अनुयोगद्वार सू० १२६; मूल पाठ के लिए देखिए पृ० ४०६ टि० २६

बाद की तीन प्रशस्त हैं। पहली तीन संक्लिष्ट हैं और बाद की तीन असंक्लिष्ट। पहली तीन दुर्गति को ले जाने वाली हैं और बाद की तीन सुगति को[1]।"

दिगम्बर ग्रन्थों में वे ही छः लेश्याएँ मानी गयी हैं जो श्वेताम्बर आगमों में हैं[2]। शुभ-अशुभ का वर्गीकरण भी उसी रूप में है[3]।

लेश्या की परिभाषा दिगम्बर-ग्रन्थों में इस रूप में मिलती है—"जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ[4]।" कषाय के उदय से अनुरंजित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन ने भी यही परिभाषा अपनाई है[5]।

श्री नेमिचन्द्र लिखते हैं: "जिस से जीव पुण्य-पापको लगाता है अथवा उन्हें अपना करता है वह (भाव) लेश्या है[6]।

आचार्य पूज्यपाद ने स्पष्टतः लेश्या के दो भेद—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या का उल्लेख किया है और भावलेश्या की वही परिभाषा दी है जो गोम्मटसार में प्राप्त है[7]। गोम्मटसार में कहा है: "वर्णोदय से संपादित शरीरवर्ण द्रव्य लेश्या है। मोह के

१—प्रज्ञापना : लेश्यापद १७.४.४७

एवं तओ अविसुद्धाओ, तओ विसुद्धाओ
तओ अप्पसत्थाओ, तओ पसत्थाओ
तओ संकिलिट्ठाओ, तओ असंकिलिट्ठाओ
तओ दुग्गतिगामियाओ, तओ सुगतिगामियाओ

२—**गोम्मटसार** : जीवकाण्ड ४९३ :

किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य ।
लेस्साणं णिद्देसा छच्चेव हवंति णियमेण ॥

३—वही : ४९९-५००

४—गोम्मटसार : जीवकाण्ड : ४९०

५—पञ्चास्तिकाय २.११९ टीकाएँ :

(क) कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या
(ख) कषायोदयानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या

६—**गोम्मटसार** : जीवकाण्ड ४८९ :

लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च ।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥

७—तत्त्वा० २.६ सर्वार्थसिद्धि :

लेश्या द्विविधा, द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति। भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति

उदय, क्षयोपशम, उपशम और क्षय से उत्पन्न जीवस्पन्दन भाव लेश्या है[1] ।"

दिगम्बर आचार्यों ने भी छः लेश्याओं को उदयभाव कहा है[2] । इस सम्बन्ध में सर्वार्थसिद्धि में निम्न समाधान मिलता है :

"उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगीकेवली गुणस्थान में शुक्लेश्या हैं । वहाँ पर कषाय का उदय नहीं फिर लेश्याएँ औदयिक कैसे ठहरती हैं ?"

"जो योगप्रवृत्ति कषाय के उदय से अनुरंजित है वही लेश्या है। इस प्रकार पूर्वभावप्रज्ञापन नय की अपेक्षा से उपशान्तकषाय और गुणस्थानों में भी लेश्या को औदयिक कहा है। अयोगीकेवली के योगप्रवृत्ति नहीं होती इसलिए वे लेश्यारहित हैं ऐसा निश्चय होता है[3] ।"

गोम्मटसार में भी कहा है—"**अयोगिस्थानमलेश्यं तु**" (जी० का० : ५३२)—अयोगी स्थान में लेश्या नहीं होती। जिन गुणस्थानों में कषाय नष्ट हो चुकी हैं उनमें लेश्या होने का कथन भूतपूर्वगति न्याय से है। अथवा योगप्रवृत्ति मुख्य होने से वहाँ लेश्या भी कही गयी हैं[4] ।

अध्यवसाय के सम्बन्ध में निम्न बातें जानने जैसी हैं :

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम सबको एकार्थक कहा है[5] । इनकी व्याख्या क्रमशः इस प्रकार है—**बोधनं बुद्धिः, व्यवसानं व्यवसायः, अध्यवसानं अध्यवसायः, मननं पर्यालोचनं मतिश्च, विज्ञायते अनेनेति विज्ञानं, चिंतनं चित्तं, भवनं भावः, परिणमनं परिणामः**[6] ।

१—**गोम्मटसार** : जीवकाण्ड : ५३६ :

वण्णोदयसंपादिदसरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा ।
मोहुदयखओवसमोवसमखयजजीवफंदणंभावो ॥

२—(क) तत्त्वा० २.६

(ख) **गोम्मटसार** : जीवकाण्ड : ५५५

भावादो छल्लेस्सा ओदयिया होंति अप्पबहुगं तु ।

३—तत्त्वा० २.६ सर्वार्थसिद्धि

४—**गोम्मटसार** : जीवकाण्ड : ५३३

णट्ठकसाये लेस्सा उच्चदि सा भूदपुव्वगदिणाया ।
अहवा जोगपउत्ती मुक्खोत्ति तहिं हवे लेस्सा ॥

५—**समयसार** : बंध अधिकार : २७१

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं ।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥

६—वही : २७१ की जयसेनवृत्ति

कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं—"जीव अध्यवसान से पशु, नरक, देव, मनुष्य इन सभी पर्याय—भावों और अनेकविध पुण्य-पाप को करता है[1] ।"

ध्यान के विषय में कुछ बातें नीचे दी जाती हैं :

वाचक उमास्वाति के अनुसार—एकाग्ररूप से चिन्ता का निरोध करना ध्यान है[2] । इसका भावार्थ है एक विषय में चित्त-निरोध । आचार्य पूज्यपाद ने अपनी टीका में लिखा है—"'अग्र' का अर्थ मुख है । जिसका एक अग्र है वह एकाग्र कहलाता है। नाना पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिन्ता परिस्पन्दवती होती है । उसे अन्य अशेष मुखों से हटा कर एक अग्र अर्थात् एकमुख करना एकाग्रचिन्तानिरोध कहलाता है । यहाँ प्रश्न उठता है निरोध अभावरूप होने से क्या खर-शृंग की तरह ध्यान असत् नहीं होगा ? इसका समाधान इस प्रकार है—अन्य चिन्ता की निवृत्ति की अपेक्षा वह असत् है और अपने विषय की प्रवृत्ति की अपेक्षा सत्...। निश्चल अग्निशिखा के समान निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है[3] ।" चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है[4] ।"

दु:ख रूप अथवा पीड़ा पहुंचाने रूप ध्यान को आर्तध्यान कहते हैं[5] । क्रूरता रूप ध्यान रौद्रध्यान है[6] । अहिंसा आदि भावों से युक्त ध्यान धर्मध्यान है[7] । मैल दूर हुए स्वच्छ वस्त्र की तरह शुचिगुण से युक्त ध्यान को शुक्लध्यान कहते हैं[8] ।

१—**समयसार : बंध अधिकार : २६८ :**

> **सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए ।**
> **देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥**

२—**तत्त्वा० ६.२७ :**

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्

३—**तत्त्वा० ६.२७ सर्वार्थसिद्धि**

४—**वही ६.२१ सर्वार्थसिद्धि :**

चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्

५—**वही ६.२८ सर्वार्थसिद्धि :**

ऋतं दुःखम्, अर्दनमर्तिर्वा, तत्र भवमार्तम् ।

६—**वही ६.२८ सर्वार्थसिद्धि :**

रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्

७—**वही ६.२८ सर्वार्थसिद्धि :**

धर्मादनपेतं धर्म्यम्

८—**वही ६.२८ सर्वार्थसिद्धि :**

शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्

इनमें से प्रथम दो ध्यान अप्रशस्त हैं और अन्तिम दो प्रशस्त[1]। अप्रशस्त पापास्रव के कारण हैं और प्रशस्त कर्मों के निर्दहन करने की सामर्थ्य से युक्त[2]। प्रशस्त मोक्ष के हेतु हैं और अप्रशस्त संसार के[3]।

१८—पुण्य का आगमन सहज कैसे ? (गा० ४२-४५) :

गाथा ४१ में स्वामीजी ने शुभ अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या, योग और ध्यान को संवर और निर्जरा रूप कहा है तथा उनसे पुण्य का आगमन सहज भाव से होता है, ऐसा लिखा है। संवर और निर्जरा की करनी से पुण्य का सहज आगमन कैसे होता है—इसी बात को स्वामीजी ने गा० ४२-४५ में स्पष्ट किया है। इस विषय में पहले कुछ विवेचन किया जा चुका है[4]। प्रश्न है—यथातथ्य मोक्ष मार्ग की करनी करते हुए पुण्य क्यों लगता है ? इसका उत्तर स्वामीजी ने इस प्रकार दिया है—

"एक मनुष्य को गेहूँ की अत्यन्त चाह है पर पयाल की चाह नहीं। गेहूँ को उत्पन्न करने के लिए उसने गेहूँ बोये। गेहूँ उत्पन्न हुए साथ में पयाल भी उत्पन्न हुआ। जिस तरह इस मनुष्य को गेहूँ की ही चाह थी, पयाल की नहीं फिर भी पयाल साथ में उत्पन्न हुआ उसी प्रकार निर्जरा की करनी करते हुए भले योगों की प्रवृत्ति से कर्म क्षय के साथ-साथ पुण्य सहज रूप से उत्पन्न होते हैं। गेहूँ के साथ विना चाह पयाल होता है वैसे ही निर्जरा की करनी के साथ बिना चाह पुण्य होता है।

"धूल लगाने की इच्छा न होने पर भी राजस्थान में गोचरी जाने पर जैसे साधु के शरीर में धूल लग जाती है वैसे ही निर्जरा की करनी करते हुए पुण्य लग जाता है। निरवद्य योगों की प्रवृत्ति करते समय पुण्य निश्चय रूप से लगता ही है[5]।

"निरवद्य करनी करते समय जीव के प्रदेशों में हलन-चलन होती है तब कर्म-पुद्गल आत्म-प्रदेशों में प्रवेश करते हैं। कर्म-पुद्गलों का स्वभाव चिपकने का है। जीव के प्रदेशों

१—तत्त्वा० ९.२८ सर्वार्थसिद्धि

तदेतच्चतुर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते। कुतः ? प्रशस्ताप्रशस्तभेदात्

२—वही :

अप्रशस्तमपुण्यास्रवकारणत्वात्; कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात्प्रशस्तम्

३—तत्त्वा० ९.३०

४—पृ० १७५ अंतिम अनुच्छेद तथा पृ० २०४ टि० ४ (२)

५—टीकम डोसी की चर्चा

का स्वभाव ग्रहण करने का है। उसे मिटाने की शक्ति जीव की नहीं।

"योग प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार के होते हैं। अप्रशस्त योग का संवर और प्रशस्त योगों की उदीर्णा—प्रवृत्ति मोक्ष-मार्ग में विहित है। संवर और उदीर्णा से कर्मों की निर्जरा होती है। संवर और उदीर्णा निर्जरा की करनी है। इस करनी से सहज रूप से पुण्य होता है अतः उसे आस्रव में डाला है। निर्जरा की करनी करते समय जीव के सर्व प्रदेशों में हलन-चलन होती है। उस समय नामकर्म के उदय से पुण्य का प्रवेश होता है[१]।"

१६—बासठ योग और सत्रह संयम (गा० ४६-४७)

यहाँ दो बातें कही गयी हैं—

१—'औपपातिक सूत्र' में ६२ योगों का उल्लेख है। वे सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार के हैं। योग जीव की क्रिया–करनी है। वह जीव-परिणाम है। अतः योग-आस्रव जीव है।

२—असंयम के सत्रह भेद भी योग हैं।

असंयम के सत्रह भेदों के नाम इस प्रकार हैं[२] :

(१) पृथ्वीकाय असंयम : पृथ्वीकाय जीव (मिट्टी, लोहा, तांबा आदि) के प्रति असंयम की वृत्ति। उनकी हिंसा का अत्याग।

(२) अप्काय असंयम : जलकाय जीव (ओस, कुहासा आदि) की हिंसा का अत्याग अर्थात् उनके प्रति असंयम की वृत्ति।

(३) तेजस्काय असंयम : अग्निकाय जीव (अंगार, दीपशिखा आदि) की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असंयम की वृत्ति।

(४) वायुकाय असंयम : वायुकाय जीव (घन, संवर्तक आदि) की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असंयम की वृत्ति।

१—टीकम डोसी ने जाब

२—समवायाङ्ग ४.१७ :

पुढविकायअसंजमे आउकायअसंजमे तेउकायअसंजमे वाउकायअसंजमे वणस्सइकायअसंजमे बेइंदियअसंजमे तेइंदियअसंजमे चउरिंदियअसंजमे पंचिंदियअसंजमे अजीवकायअसंजमे पेहाअसंजमे उवेहाअसंजमे अवहट्टुअसंजमे अप्पमज्जणाअसंजमे मणअसंजमे वइअसंजमे कायअसंजमे।

(५) **वनस्पतिकाय असंयम** : वनस्पतिकाय जीव (वृक्ष, लता, आलू, मूली आदि) की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असंयम की वृत्ति।

(६) **द्वीन्द्रिय असंयम** : दो इन्द्रिय वाले जीव जैसे—सीप, शंख आदि की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असंयम की वृत्ति।

(७) **त्रीन्द्रिय असंयम** : तीन इन्द्रिय वाले जीव जैसे—कुन्थु, पिपीलिका आदि की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असंयम की वृत्ति।

(८) **चतुरिन्द्रिय असंयम** : चार इन्द्रिय वाले जीव जैसे—मक्षिका, कीट, पतंग आदि की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असंयम की वृत्ति।

(९) **पंचेन्द्रिय असंयम** : पाँच इन्द्रिय वाले जीव जैसे—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि तिर्यञ्च की हिंसा का अत्याग या उनके प्रति असंयम की वृत्ति।

(१०) **अजीवकाय असंयम** : बहुमूल्य अजीव वस्तु जैसे—स्वर्ण, आभूषण, वस्त्र आदि का प्रचुर संग्रह और उनके भोग की वृत्ति।

(११) **प्रेक्षा असंयम** : बिना देख-भाल किए सोना, बैठना, चलना आदि अथवा बीज, हरी घास, जीव-जन्तु युक्त जमीन पर सोना, बैठना आदि।

(१२) **उपेक्षा असंयम** : पाप कर्म में प्रवृत्त को उत्साहित करने की वृत्ति।

(१३) **अपहृत्य असंयम** : मल, मूत्रादि को असावधानी पूर्वक विसर्जन करने की वृत्ति।

(१४) **अप्रमार्जन असंयम** : स्थान, वस्त्र, पात्र आदि को बिना प्रमार्जन काम में लाने की वृत्ति।

(१५) **मन असंयम** : मन में ईर्ष्या, द्वेष आदि भावों के पोषण की वृत्ति।

(१६) **वचन असंयम** : सावद्य वचनों के प्रयोग की वृत्ति।

(१७) **काय असंयम** : गमनागमन आदि क्रियाओं में असावधानी।

असंयम का अर्थ है—अविरति। अविरति को भाव शस्त्र कहा गया है[1]। अतः वह स्पष्टतः आत्म-परिणाम है। अविरति आस्रव है अतः वह भी जीव-परिणाम—जीव है।

१—ठाणाङ्ग १०.१.७४३ :

> सत्थमग्गी विसं लोणं सिणेहो खारमंबिलं।
> दुप्पउत्तो मणोवायाकाया भावो त अविरती॥

२०—चार संज्ञाएँ (गा० ४६) :

चेतना—ज्ञान का असातावेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से पैदा होने वाले विकार से युक्त होना संज्ञा है[१]। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"आहारादि विषयों की अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं[२]।" संज्ञाएँ चार हैं[३] :

(१) **आहारसंज्ञा :** आहार-ग्रहण की अभिलाषा को आहारसंज्ञा कहते हैं।

(२) **भयसंज्ञा :** भय मोहनीयकर्म के उदय से होनेवाला त्रासरूप परिणाम भयसंज्ञा है[४]।

(३) **मैथुनसंज्ञा :** वेद मोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाली मैथुन अभिलाषा मैथुन-संज्ञा है[५]।

(४) **परिग्रहसंज्ञा :** चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न परिग्रह अभिलाषा को परिग्रह-संज्ञा कहते हैं[६]।

जीव संज्ञाओं से कर्मों को आत्म-प्रदेशों में खींचता है। इस तरह कर्म की हेतु संज्ञाएँ आस्रव हैं। संज्ञाएँ जीव-परिणाम हैं। अतः आस्रव जीव-परिणाम है—जीव है।

आस्रव रूप संज्ञाओं को भगवान ने अवर्ण कहा है[७]। अतः अन्य आस्रव भी अवर्ण—अरूपी ठहरते हैं।

भगवती सूत्र में दस संज्ञाएँ कही गयी हैं[८]। एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! संज्ञाएँ कितनी हैं?" भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"संज्ञाएँ दस हैं—(१) आहार,

---

१—ठाणाङ्ग ४.४.३५६ टीका :
संज्ञा—चैतन्यं, तच्चासातवेदनीयमोहनीयकर्म्मोदयजन्यविकारयुक्तमाहारसंज्ञादित्वेन व्यपदिश्यत

२—तत्त्वा० २.२४ सर्वार्थसिद्धि

३—देखिए पृ० ४१० टि० ३२

४—ठाणाङ्ग ४.४.३५६ टीका :
भयसंज्ञा—भयमोहनीयसम्पाद्यो जीवपरिणामो

५—वही :
मैथुनसंज्ञा—वेदोदयजनितो मैथुनाभिलाषः

६—वही :
परिग्रहसंज्ञा—चारित्रमोहोदयजनितः परिग्रहाभिलाषः

७—देखिए पृ० ४१० टि० ३२

८—भगवती ७.८

(२) भय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह, (५) क्रोध, (६) मान, (७) माया, (८) लोभ, (९) लोक[1] और (१०)ओघ[2] ।"

ये सभी जीव-परिणाम हैं ।

कहा है—"चार संज्ञा, तीन लेश्या, इन्द्रियवशता, आर्तरौद्र-ध्यान और दुष्प्रयुक्त ज्ञान और दर्शनचारित्रमोहनीय कर्म के समस्त भाव पापास्रव के कारण हैं[3] ।"

२१—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम (गा० ५०-५१) :

गोशालक सर्वभाव नियत मानता था । उसकी धर्म-प्रज्ञप्ति में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का स्थान नहीं था । भगवान महावीर की धर्म-विज्ञप्ति थी—उत्थान है, कर्म है, बल है, वीर्य है, पुरुषकार-पराक्रम है, सर्वभाव नियत नहीं है[4] ।

उत्थान, बल, वीर्य आदि के व्यापार सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार के होते हैं ।

सावद्य उत्थान, बल, वीर्य आदि से जीव के पाप-कर्मों का संचार होता है और निरवद्य उत्थान, बल, वीर्य आदि से पुण्य-कर्म लगते हैं । इस तरह उत्थान, बल, वीर्य आदि के व्यापार आस्रव हैं ।

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन् ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम, कितने वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाले हैं ?"

१—भगवती ७.८ टीका :

एवं शब्दार्थगोचरा विशेषावबोधक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति लोकसंज्ञा

२—भगवती ७.८ टीका :

मतिज्ञानावरणक्षयोपशमाच्छब्दाद्यर्थगोचरा सामान्यावबोधक्रियैव संज्ञायते वस्त्वनयेत्योघसंज्ञा.........

३—पञ्चास्तिकाय २.१४० :

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि ।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥

४—उपासकदशा : ६

गोसालस्स मङ्खलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, नत्थि उट्ठाणे इ वा कम्मे इ वा बले इ वा वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे इ वा, कम्मे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा, अणियया सव्वभावा ।

भगवान महावीर ने उतर दिया—"गौतम ! वे अवर्ण, अगन्ध, अरस और अस्पर्श वाले हैं[१] ।"

इस वार्तालाप में उत्थान, कर्म आदि को स्पष्टतः अरूपी कहा है। उत्थान, कर्म आदि का व्यापार योग आस्रव है। इस तरह योग आस्रव रूपी ठहरता है।

२२—संयती, असंयती, संयतासंयती आदि त्रिक (गा० ५२-५५) :

आगमों में निम्न त्रिक अनेक स्थल और प्रसंगों में मिलते हैं :

(१) विरत, अविरत और विरताविरत।

(२) प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी।

(३) संयती, असंयती और संयतासंयती।

(४) पण्डित, बाल और बालपण्डित।

(५) जाग्रत, सुप्त और सुप्तजाग्रत।

(६) संवृत्त, असंवृत्त और संवृत्तासंवृत्त।

(७) धर्मी, अधर्मी और धर्माधर्मी।

(८) धर्मस्थित, अधर्मस्थित और धर्माधर्मस्थित।

(९) धर्मव्यवसायी, अधर्मव्यवसायी और धर्माधर्मव्यवसायी।

नीचे इन में से प्रत्येक पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

(१) विरति, अविरत और विरताविरत :

भगवान महावीर ने तीन तरह के मनुष्य बतलाये हैं :

(क) एक प्रकार के मनुष्य महा इच्छा, महा आरम्भ और महा परिग्रह वाले होते हैं। वे अधार्मिक, अधर्मानुग, अधर्मिष्ठ, अधर्म की ही चर्चा करने वाले, अधर्म को ही देखने वाले और अधर्म में ही आसक्त होते हैं। वे अधर्ममय स्वभाव और आचरणवाले और अधर्म से ही आजीविका करने वाले होते हैं।

वे हमेशा कहते रहते हैं—मारो, काटो और भेदन करो। उनके हाथ लोहू से रंगे रहते हैं। वे चण्ड, रुद्र और क्षुद्र होते हैं। वे पाप में साहसिक होते हैं। वञ्चन, माया, कूट-कपट में लगे रहते हैं तथा दुःशील, दुर्व्रत और असाधु होते हैं।

१—भगवती : १२.५

अह भंते ! १ उट्ठाणे, २ कम्मे, ३ बले, ४ वीरीए, ५ पुरिसक्कारपरक्कमे—एस णं कतिवन्ने ? तं चेव जाव-अफासे पन्नत्ते ।

वे जीवन भर सर्व प्रकार के प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य (अठारहों पापों) से निवृत्त नहीं होते। वे जीवन भर सर्व प्रकार के स्नान, मर्दन, वर्णक, विलेपन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, माल्य, अलङ्कारों को नहीं छोड़ते। वे जीवन भर सर्व प्रकार के यान-वाहन, सर्व प्रकार के शय्या, आसन, भोग और भोजन के विस्तार, सर्व प्रकार के क्रय-विक्रय तथा मासा, आधा-मासा आदि व्यवहार, सर्व प्रकार के सोना, चांदी आदि के सञ्चय तथा झूठे तोल और झूठ मापों से जीवन भर निवृत्त नहीं होते। वे सर्व प्रकार के आरम्भ और समारम्भों से, सर्व प्रकार के सावद्य व्यापारों के करने और कराने से, सर्व प्रकार के पचन और पाचन से जीवन भर निवृत्त नहीं होते। वे जीवन भर प्राणियों को कूटने, पीटने, धमकाने, मारने, वध करने और बांधने तथा नाना प्रकार से उन्हें क्लेश देने से तथा इसी प्रकार के अन्य सावद्य, बोधबीज का नाश करने वाले और प्राणियों को परिताप देनेवाले कर्मों से, जो अनार्यों द्वारा किये जाते हैं, निवृत्त नहीं होते। वे अत्यंत क्रूर दण्ड देने वाले होते हैं। वे दुःख, शोक, पश्चाताप, पीड़ा, ताप, वध, बंधन आदि क्लेशों से कभी निवृत्त नहीं होते। ऐसे मनुष्य गृहस्थ होते हैं। वे अविरत कहलाते हैं। यह अधर्म पक्ष है।

(ख) दूसरे प्रकार के मनुष्य अनारंभी और अपरिग्रही होते हैं। वे धर्मी, धर्मानुग, धर्मिष्ठ यावत् धर्म से ही आजीविका करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। वे सुशील, सुव्रती, सुप्रत्यानन्द और सुसाधु होते हैं। वे जीवन भर सर्व प्रकार के प्राणातिपात यावत् सर्व सावद्य कार्यों से निवृत्त होते हैं। वे अनगार होते हैं। ऐसे मनुष्य विरत कहलाते हैं। यह धर्म पक्ष है।

(ग) तीसरे प्रकार के मनुष्य अल्पेच्छा, अल्पारंभ और अल्प-परिग्रह वाले होते हैं। वे धार्मिक यावत् धर्म से ही आजीविका करने वाले होते हैं। वे सुशील, सुव्रती, सुप्रत्यानन्द और साधु होते हैं। वे एक प्रकार के प्राणातिपात से यावज्जीवन के लिए विरत होते हैं और एक प्रकार के प्राणातिपात से विरत नहीं होते। इसी तरह यावत् अन्य सावद्य कार्यों में से कई से निवृत्त होते हैं और कई से निवृत्त नहीं होते। ये श्रमणोपासक हैं। ऐसे मनुष्य विरताविरत कहलाते हैं। यह मिश्र पक्ष है।

इनमें से प्रथम स्थान जो सभी पापों से अविरति रूप है आरम्भस्थान है। वह अनार्य यावत् सर्व दुःख का नाश न करनेवाला एकान्त मिथ्या और असाधु है।

दूसरा स्थान जो सर्व पापों से विरति रूप है वह अनारम्भस्थान है। वह आर्य यावत् सर्व दुःख के नाश का मार्ग है। वह एकान्त सम्यक् और उत्तम है।

तीसरा स्थान जो कुछ पापों से निवृत्त और कुछ पापों से अनिवृत्त रूप है वह आरंभ-अनारम्भ-स्थान है। वह (विरति की अपेक्षा) आर्य यावत् सर्व दुःख के नाश का मार्ग है और एकांत सम्यक् और उत्तम है[1]।

(२) प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्याती, और प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी :

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! जीव प्रत्याख्यानी होते हैं, अप्रत्याख्यानी होते हैं अथवा प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी होते हैं?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! जीव प्रत्याख्यानी भी होते हैं, अप्रत्याख्यानी भी होते हैं और प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी भी[2]"

जो अधर्म पक्ष में बताए हुए पापों का यावज्जीवन के लिए तीन करण और तीन योग से त्याग करता है वह प्रत्याख्यानी कहलाता है। जो उनका त्याग नहीं करता वह अप्रत्याख्यानी कहलाता है। जो कुछ का त्याग करता है और कुछ का नहीं करता वह प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी कहलाता है[3]

(३) संयती, असंयती और संयसासंयती :

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! जीव संयत होते हैं, असंयत होते हैं अथवा संयतासंयत होते हैं?" भगवान ने उत्तर दिया—"जीव संयत होते हैं, असंयत होते हैं और संयतासंयत भी होते हैं[४]।"

जो विरत हैं वे संयत है, जो अविरत हैं वे असंयत हैं और जो विरताविरत हैं वे असंयतासंयत हैं।

१—सुयगडं २.२

२—भगवती ७.२ :

जीवा णं भंते! किं पच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी?
गोयमा! जीवा पच्चक्खाणी वि तिन्नि वि

३—भगवती ७.२

४—(क) भगवती ७.२ :

जीवा णं भंते! संजया, असंजया, संजयासंजया? गोयमा! जीवा संजया वि असंजया वि, संजयासंजया वि

(ख) प्रज्ञापना : लेश्यापद १७.४

(४) पण्डित, बाल और बालपण्डित :

एक बार महावीर ने गौतम को प्रश्न के उत्तर में कहा था—"गौतम ! जीव बाल भी होते हैं, पण्डित भी होते हैं और बालपण्डित भी[१] ।"

जो सावद्य कार्यों से विरत होते हैं उन्हें पण्डित कहते हैं, जो उनसे अविरत होते हैं उन्हें बाल और जो देशतः विरत और देशतः अविरत होते हैं उन्हें बालपण्डित कहते हैं[२] ।

एक बार गौतम ने भगवान महावीर से कहा—"अन्ययूथिक ऐसा कहते यावत् प्ररूपणा करते हैं कि (महावीर के मत से) श्रमण पण्डित हैं, श्रमणोपासक बालपण्डित हैं और जिस जीव को एक भी जीव के वध की अविरति है वह एकान्त बाल नहीं कहा जा सकता । भगवन् ! ऐसा किस प्रकार से है ?"

भगवान बोले—"गौतम ! जो ऐसा कहते हैं वे मिथ्या कहते हैं । गौतम ! मैं तो ऐसा कहता यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि श्रमण पण्डित हैं, श्रमणोपासक बालपण्डित हैं और जिसने एक भी प्राणी के प्रति दण्ड का त्याग किया है वह एकांत बाल नहीं है[३] ।"

(५) जाग्रत, सुप्त और सुप्तजाग्रत :

जो उक्त पहले स्थान में होता है उसे सुप्त कहते हैं । जो दूसरे स्थान में होता है उसे जाग्रत कहते हैं । जो मिश्र स्थान में होता है उसे सुप्त-जाग्रत कहते हैं ।

इस विषय में भगवान महावीर और जयंती का निम्न संवाद बड़ा रसप्रद है :

"हे भगवन् ! जीवों का सुप्त रहना अच्छा या जाग्रत रहना ?"

"हे जयन्ती ! कई जीवों का सुप्त रहना अच्छा और कई जीवों का जाग्रत रहना । जो जीव अधार्मिक, अधर्मप्रिय आदि हैं उनका सुप्त रहना ही अच्छा है । वे सोते रहते हैं तो प्राणियों को दु:ख, शोक और परिताप के कारण नहीं होते । अपने और दूसरे को अधार्मिक योजनाओं में संयोजित करने वाले नहीं होते । हे जयन्ती ! जो जीव धार्मिक, धर्माचरण करने वाले आदि हैं उनका जाग्रत रहना अच्छा है । उनका जगना अदु:ख और

१—(क) भगवती १७.२ :
  (ख) वही १.८

२—(क) सुयागडं २.२ : **अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ विरयाविरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ**
  (ख) भगवती १.८

३—भगवती १७.२ :

अहं पुण गोयमा ! एवं आइक्खामि, जाव—परूवेमि—एवं खलु समणा पंडिया, समणोवासगा बालपंडिया, जस्स णं एगपाणाए वि दंडे निक्खित्ते से णं नो एगंतबाले त्ति वत्तव्वं सिया ।

अपरिताप के लिए होता है। वे अपने और दूसरे को धार्मिक संयोजनों में जोड़ने वाले होते हैं[1]।"

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि जो भाव से जाग्रत हैं उनका जागना अच्छा है और जो भाव से सुप्त हैं उनका सोना अच्छा। जो भाव से सुप्त-जाग्रत हैं उनका भाव जागृति की अपेक्षा जागना अच्छा और भाव सुप्ति की अपेक्षा सोना अच्छा।

(६) संवृत्त, असंवृत्त और संवृत्तासंवृत :

जो सर्व विरत होता है उसे संवृत्त कहते हैं। जो अविरत होता है उसे असंवृत्त कहते हैं। जो विरताविरत होता है वह संवृत्तासंवृत्त है।

(७) धर्मी, अधर्मी और धर्माधर्मी :

जो विरत होते हैं वे धर्मी हैं, जो अविरत होते हैं वे अधर्मी और जो विरताविरत होते हैं वे धर्माधर्मी।

जयन्ती ने पूछा—"जीवों का दक्ष—उद्यमी होना अच्छा या निरुद्यमी—आलसी होना अच्छा ?" भगवान ने उत्तर दिया—"धार्मिक जीवों का उद्यमी होना अच्छा क्योंकि वे वैयावृत्त्य में आत्मा को नियोजित करते हैं। अधार्मिक जीवों का निरुद्यमी होना अच्छा क्योंकि वे अनेक जीवों के कष्ट के कारण होंगे[2]।"

जयन्ती ने पुनः पूछा—"भगवन् ! सबलता अच्छी या दुर्बलता ?" भगवान ने उत्तर दिया—"जयन्ती अधर्मी जीवों की दुर्बलता अच्छी क्योंकि ऐसे जीव दुर्बल हों तो वे जीवों के लिए दुःखादि के कारण नहीं होते। और धर्मी जीवों की सबलता अच्छी क्योंकि वे जीवों के अदुःख आदि के लिए होते हैं और वे जीवों को धार्मिक संयोजनों में संयोजित करते रहते हैं।'

(८) धर्मस्थित, अधर्मस्थित और धर्माधर्मस्थित :

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन् ! क्या जीव धर्मस्थित होते ह, अधर्मस्थित होते हैं अथवा धर्माधर्मस्थित होते हैं ?" भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"गौतम ! जीव धर्मस्थित भी होते हैं, अधर्मस्थित भी होते हैं और धर्माधर्मस्थित भी[3]।"

१—भगवती १२.२

२—भगवती १२.२

३—भगवती १७.२ :

जीवा णं भंते ! किं धम्मे ठिया, अधम्मे ठिया, धम्माधम्मे ठिया ? गोयमा ! जीवा धम्मे वि ठिया, अधम्मे वि ठिया, धम्माधम्मे वि ठिया।

जो संयत, विरत और प्रतिहतप्रत्याख्यातकर्मा हैं वे धर्म में स्थित हैं। वे धर्म को ही ग्रहण कर रहते हैं। जो असंयत, अविरत और अप्रतिहतप्रत्याख्यातकर्मा हैं वे अधर्म में स्थित हैं। वे अधर्म को ही ग्रहण कर रहते हैं। जो संयतासंयत हैं वे धर्माधर्म में स्थित हैं। वे धर्म और अधर्म दोनों को ग्रहण कर रहते हैं[1]।

(६) धर्मव्यवसायी, अधर्मव्यवसायी और धर्माधर्मव्यवसायी :

ठाणाङ्ग में कहा है—व्यवसाय तीन कहे हैं—(१) धर्मव्यवसाय, (२) अधर्म-व्यवसाय और (३) धर्माधर्मव्यवसाय[2]। इनके आधार से तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—(१) धर्मव्यवसायी (२) अधर्मव्यवसायी और (३) धर्माधर्मव्यवसायी।

स्वामीजी के अनुसार उक्त नौ त्रिकों का सार यह है कि संयम और विरति संवर हैं और असंयम और अविरति आस्रव। संयम और विरति प्रशस्त हैं और असंयम और अविरति अप्रशस्त।

स्वामीजी का यह कथन सूत्रों के अनेक स्थलों से प्रमाणित है :

(१) भगवती सूत्र में कहा है—हिंसादि अठारह पापों से जीव शीघ्र भारी होता है। उन पापों से विरत होने से जीव शीघ्र हल्कापन प्राप्त करता है। हिंसादि अठारह पापों से विरत न होनेवाले का संसार बढ़ता—दीर्घ होता है। ऐसा जीव संसार में भ्रमण करता है। उनसे निवृत्त होने वाले का संसार घटता—संक्षिप्त होता है और ऐसा जीव संसार-समुद्र को उल्लंघ जाता है[3]।

(२) निःशील, निर्गुण, निर्मर्याद, निष्प्रत्याख्यानी मनुष्य काल समय काल प्राप्त हो प्रायः नरक, तिर्यञ्च में उत्पन्न होंगे[4]।

(३) एकांत बाल मनुष्य नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चारों की आयुष्य बांध सकता है। एकान्त पण्डित मनुष्य कदाचित् आयुष्य बांधता है और कदाचित् नहीं बांधता। जब बांधता है तब देवायुष्य बांधता है। बालपण्डित देवायुष्य का बंध करता है[5]।

(४) सर्व प्राणी, सर्व भूत, सर्व जीव, सर्व सत्त्वों के प्रति त्रिविधि-त्रिविध से असंयत, अविरत और अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा—सक्रिय, असंवृत्त, एकान्त दण्ड देनेवाला और

१—भगवती १७.२ :

हंता गोयमा ! संजय-विरय०. जाव—धम्माधम्मे ठिए

२—ठाणाङ्ग ३.३.१८५ :

तिविहे ववसाए पं० तं० धम्मिते ववसाते अधम्मिए ववसाते धम्माधम्मिए ववसाते

३—भगवती १२.२

४—वही ७.६

५—वही १.८

एकान्त बाल होता है। सर्व प्राणी, सर्व भूत आदि के प्रति त्रिविध-त्रिविध से संयत, विरत और प्रत्याख्यातपापकर्मा—अक्रिय, संवृत्त और एकांत पण्डित होता है[1]।

(५) संसारसमापन्नक जीव दो प्रकार के कहे गये हैं—(१) संयत और (२) असंयत।

संयत जीव दो प्रकार के हैं (१) प्रमत्त संयत और (२) अप्रमत्त संयत।

अप्रमत्त संयत आत्मारंभी नहीं, परारंभी नहीं, तदुभयारंभी नहीं, पर अनारम्भी हैं।

प्रमत्त संयत शुभयोग की अपेक्षा से आत्मारंभी नहीं, परारंभी नहीं, तदुभयारंभी नहीं, पर अनारंभी हैं। अशुभयोग की अपेक्षा से वे आत्मारंभी भी हैं, परारंभी भी हैं, तदुभयारंभी भी हैं, पर अनारंभी नहीं।

असंयत अविरति की अपेक्षा से आत्मारंभी भी हैं, परारंभी भी हैं, तदुभयारंभी भी हैं, पर अनारम्भी नहीं[2]।

(६) असंवृत्त अनगार, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वात नहीं होता तथा सर्व दुःखों का अन्त नहीं करता। संवृत्त अनगार सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वात होता है तथा सर्व दुःखों का अन्त करता है[3]।

(७) असंयत, अविरत, अप्रतिहतपापकर्मा, सक्रिय, असंवृत्त, एकान्तदण्डी, एकांत बाल और एकान्त सुप्त जीव पापकर्मों का उपार्जन करता है[4]।

स्वामीजी कहते हैं कि संयत, विरत, प्रत्याख्यानी, पण्डित, जाग्रत, संवृत्त, धर्मी, धर्म-स्थित और धर्मव्यवसायी के संयम, विरति और प्रत्याख्यान संवर हैं। असंयत, अविरत अप्रत्याख्यानी आदि के असंयम, अविरति और अप्रत्याख्यान आस्रव हैं। संयतासंयत, विरताविरत और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी के संयम और असंयम, विरति और अवरति तथा प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान क्रमशः संवर और आस्रव हैं।

इस तरह संवर और आस्रव दोनों जीव के ही सिद्ध होते हैं। वे जीव-परिणाम हैं। जो संवर को जीव मानते हुए भी आस्रव को अजीव कहते हैं उनको मिथ्या अभिनिवेश

१—(क) भगवती ७.२

(ख) वही ८.७

२—वही १.१

३—वही १.१

४—औपपातिक सू० ६४

है। संयत, विरत, आदि के संयम, विरति आदि संवर रूप होने से जीव-परिणाम हैं तो फिर असंयत, अविरत आदि के असंयम, अविरति आदि आस्रव रूप होने से जीव-परिणाम क्यों नहीं होंगे ?

अनुयोगद्वार में चार प्रकार के संयोग बतलाए गए हैं :

(१) द्रव्यसंयोग—छत्र के संयोग से छत्री, दण्ड के संयोग से दण्डी, गाय के संयोग से गोपाल, पशु के संयोग से पशुपति, हल के संयोग से हली, नाव के संयोग से नाविक आदि द्रव्यसंयोग हैं।

(२) क्षेत्रसंयोग—भारत के संयोग से भारती, मगध के संयोग से मागधी आदि।

(३) कालसंयोग—जैसे वर्षा के संयोग से बरसाती, वसन्त के संयोग से वासन्ती आदि।

(४) भावसंयोग—यह संयोग दो प्रकार का कहा गया है। प्रशस्त और अप्रशस्त।

ज्ञान के संयोग से ज्ञानी, दर्शन के संयोग से दर्शनी, चरित्र के संयोग से चारित्री आदि प्रशस्त भाव संयोग हैं।

क्रोध के संयोग से क्रोधी, मान के संयोग से मानी, माया के संयोग से मायावी और लोभ के संयोग से लोभी—ये अप्रशस्त भाव संयोग हैं।

भावसंयोग से सम्बन्धित पाठ इस प्रकार है :

से किं ते संजोगेणं, संजोगेणं चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्व संजोगे, खेत्त संजोगे, काल संजोगे, भाव संजोगे···

से किं तं भाव संजोगे? भाव संजोगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा...पसत्थेय अपसत्थेय। से किं तं पसत्थे ? पसत्थे णाणेणं णाणी, दंसणेणं दंसणी, चरित्तेणं चरित्ती से तं पसत्थे। से किं तं अपसत्थे ? अपसत्थे कोहेण कोही, माणेण माणी, मायाए मायी, लोभेणं लोभी से तं अपसत्थे, से तं भाव संजोगे, से तं संजोगेणं......

उपरोक्त प्रसंग से यह स्पष्ट है कि ज्ञानी, दर्शनी, चारित्री, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी आदि ज्ञान, दर्शन यावत् लोभ आदि भावों के संयोग से होते हैं। ये ज्ञानादिक भाव जीव के ही हैं जिससे वह ज्ञानी आदि कहलाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ भी यहाँ जीव के भाव कहे गये हैं। ये कषाय आस्रव के भेद हैं।

इसी तरह असयंम, अविरति, अप्रत्याख्यान आदि अप्रशस्त भाव जीव के ही हैं

जिनसे वह असंयत, अविरत, अप्रत्याख्यानी आदि कहलाता है। जैसे क्रोधादि भाव कषाय आस्रव हैं वैसे ही असंयम, अविरति, अप्रत्याख्यान आदि भाव अविरति आस्रव हैं।

अनुयोगद्वार में कहा है—भावलाभ दो प्रकार का है—(१) आगम भावलाभ और (२) नो-आगम भावलाभ। उपयोगपूर्वक सूत्र पढ़ना आगम भावलाभ है। नो-आगम भावलाभ दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त भावलाभ तीन प्रकार का है—ज्ञानलाभ, दर्शनलाभ और चारित्रलाभ। अप्रशस्त लाभ चार प्रकार का है—क्रोधलाभ, मानलाभ, मायालाभ और लोभलाभ। मूल पाठ इस प्रकार है :—

से किं तं भावाए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—आगमओय, नो आगमओय। से किं तं आगमतो भावाए? आगमतो भावाए जाणए, ऊवऊत्ते, से तं आगमतो भावाए। से किं तं नो आगमतो भावाए? नो आगमतो भावाए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा पसत्थे अप्पसत्थे। से किं तं पसत्थे? पसत्थे तिविहे पण्णत्त तं जहा णाणाए, दंसणाए, चरित्ताए, से तं पसत्थे। से किं तं अप्पसत्थे? अप्पसत्थे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए से तं अप्पसत्थे। से तं नो आगमतो भावाए, से तं भावाए, से ते आए।

यहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र को प्रशस्त भाव में और क्रोध, मान, माया और लोभ को अप्रशस्त भाव में समाविष्ट किया है। इससे फलित है कि क्रोध आदि चारों भाव भाव-कषाय हैं। भाव-कषाय कषाय आस्रव है। अत: कषाय आस्रव जीव-परिणाम सिद्ध होता है।

इसी तरह अविरति, असंयम आदि भी जीव के अप्रशस्त भाव हैं। जीव के ये भाव अविरति आस्रव हैं। इस तरह अविरत आस्रव जीव-परिणाम है।

२३—किस-किस तत्त्व की घट-बढ़ होती है[1] (गा० ५६-५८) :

आगम में कहा है : "जो आस्रव हैं—कर्म-प्रवेश के द्वार हैं वे ही अनुन्मुक्त अवस्था में परिस्रव हैं—कर्म-प्रवेश को रोकने के हेतु हैं। जो परिस्रव हैं—कर्म-प्रवेश को रोकने के उपाय हैं वे ही (उन्मुक्त अवस्था में) आस्रव हैं—कर्म-प्रवेश के द्वार हैं। जो अनास्रव हैं—कर्म-प्रवेश के कारण नहीं वे भी (अपनाये बिना) संवर—कर्म-प्रवेश के रोकने वाले नहीं होते। जो आस्रव कर्म-प्रवेश के कारण हैं—वे ही (रोकने पर) अनास्रव—संवर होते हैं[1]।"

१—आचाराङ्ग १।४.२

जे आसवा ते परिस्सवा

जे परिस्सवा ते आसवा

जे अणासवा ते अपरिस्सवा

जे अ.रिस्सवा ते अणासवा

जैसे मकान के प्रवेश-द्वार को ढक देने पर वही अप्रवेश-द्वार हो जाता है वैसे ही आस्रव को रोक देने पर संवर होता है। जैसे मकान के बंद द्वार को खोल देने पर अप्रवेश-द्वार ही प्रवेश-द्वार हो जाता है वैसे ही संवर को खोल देने पर वह आस्रव-द्वार हो जाता है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—इन आस्रवों का जैसे-जैसे निरोध होता है संवर बढ़ता जाता है। सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग जैसे-जैसे घटते हैं—आस्रव बढ़ता जाता है।

स्वामीजी कहते हैं आस्रव जीव पर्याय है या अजीव पर्याय इसका निर्णय करने के लिए यह घट-बढ़ किस वस्तु की होती है यह विचारना चाहिए। अविरति उदयभाव है। इसके निरोध से विरति संवर होता है, जो क्षयोपशम भाव है। इस तरह आस्रव और संवर में जो घट-बढ़ होती है वह घट-बढ़ जीव के भावों की होती है। जिस प्रकार संवर भाव-जीव है उसी प्रकार आस्रव भी भाव-जीव है।

सावद्य योग घटने से निरवद्य योग बढ़ते हैं। स्वभाव का प्रमाद घटने से अप्रमाद संवर निरवद्य गुण बढ़ता है। कषाय आस्रव घटने से अकषाय संवर निरवद्य गुण बढ़ता है। अविरति घटने से विरति बढ़ती है। मिथ्यात्व घटने से संवर बढ़ता है। ऐसी परि-स्थिति में संवर को जीव-पर्याय मानना और आस्रव को अजीव-पर्याय मानना परस्पर संगत नहीं[1]। यदि संवर जीव और अरूपी है तो उसका प्रतिपक्षी आस्रव भी जीव और अरूपी है।

असंयम के सत्रह प्रकारों का वर्णन पहले किया जा चुका है। वे अविरति आस्रव हैं। इन्हीं के प्रतिपक्षी सत्रह प्रकार के संयम हैं। इन्हें भगवान ने संवर कहा है। संवर जीव-लक्षण—परिणाम हैं वैसे ही आस्रव जीव-लक्षण—परिणाम हैं।

यहाँ प्रश्न किया जाता है—"आगम में आस्रव को ध्यान द्वारा क्षपण करने का उल्लेख है। यदि आस्रव जीव है तो फिर उसके क्षपण की बात कैसे ? अनुयोगद्वार में कहा है—"भावक्षपण दो प्रकार का है—आगम भावक्षपण, नो-आगम भावक्षपण। समझ कर उपयोग पूर्वक सूत्र पढ़ना—आगम भावक्षपण है। नो-आगम क्षपण दो प्रकार का है—(१) प्रशस्त और (२) अप्रशस्त। प्रशस्त चार प्रकार का है—क्रोधक्षपण, मानक्षपण,

१—टीकम डोसी की चर्चा

मायाक्षपण और लोभक्षपण। अप्रशस्त तीन प्रकार का है—ज्ञानक्षपण, दर्शनक्षपण और चारित्रक्षपण[1]।"

इसका तात्पर्य है—प्रशस्त भाव से क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षपण और अप्रशस्त भाव से ज्ञान, दर्शन और चारित्र का क्षपण होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र जीव के निजी गुण हैं। वे जीव-भाव हैं। जिस तरह अशुभ भाव से ज्ञान, दर्शन और चारित्र का क्षपण होता है पर ज्ञानादिक अजीव नहीं उसी प्रकार भले भाव से अशुभ आस्रव का क्षपण होता है पर आस्रव अजीव नहीं होता।

१—से किं तं भावज्झवणा? भावज्झवणा दुविहा पण्णत्ता तं जहा आगमओ, नो-आगमओ। से किं तं आगमओ भावज्झवणा? आगमओ भावज्झवणा जाणए उवओ से तं आगमो भावज्झवणा। से किं तं नो-आगमओ भावज्झवणा? नो-आगमओ भावज्झवणा, दुविहा पण्णत्ता तं जहा पसत्था य अपसत्था य। से किं तं पसत्था? पसत्था चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—कोहज्झवणा माणज्झवणा, मायाज्झवणा, लोभज्झवणा, से तं पसत्था। से किं ते अपसत्था? अपसत्था तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—णाणज्झवणा, दंसणज्झवणा, चरित्तज्झवणा, से तं अपसत्था। से तं नो-आगमओ भावज्झवणा, से तं भावज्झवणा, से तं उह निष्फन्ने।

: ६ :

संवर पदार्थ

: ६ :

संवर पदारथ

दुहा

१—छठो पदार्थ संवर कह्यों, तिणरा थिरीभूत परदेस ।
आश्रव दुवार नों रूंधणो, तिण सूं मिटीयो करमां रो परवेस ॥

२—आश्रव दुवार करमां रा बारणा, ढकीयां छें संवर दुवार ।
आतमा वश कीयां संवर हूओ, ते गुण रतन श्रीकार ॥

३—संवर पदारथ ओलख्यां विनां, संवर न नीपजें कोय ।
संका कोइ मत राखजो, सूतर सांह्मो जोय ॥

४—संवर तणा भेद पांच छें, त्यां पांचां रा भेद अनेक ।
त्यांरा भाव भेद परगट करूं, ते सुणजो आंण विवेक ॥

ढाल

(पूज जी पधारे हो नगरी सेविया—ए देशी)

१—नव ही पदार्थ सरधें यथातथ, तिणनें कहिजे समकत निधांन हो । भ० ज०* ।
पछें त्याग करें उंधा सरधण तणा, ते समकत संवर परधांन हो । भ० ज०* ।
संवर पदार्थ भवीयण ओलखो* ॥

* भविक जन । प्रत्येक गाथा के अन्त में इसी प्रकार समझें ।

: ६ :

संवर पदार्थ

दोहा

१—छठा पदार्थ 'संवर' कहा गया है। इसके प्रदेश स्थिर होते हैं। यह आस्रव-द्वार का अवरोध करनेवाला है। इससे आत्मप्रदेशों में कर्मों का प्रवेश रुकता है।

संवर पदार्थ का स्वरूप (दो० १-२)

२—आस्रव-द्वार कर्म आने के द्वार हैं। इन द्वारों को बंद करने पर संवर होते हैं। आत्मा को वश में करने से—आत्म-निग्रह से संवर होता है। यह उत्तम गुण-रत्न है।

३—संवर पदार्थ को पहचाने बिना संवर नहीं होता। सूत्रों पर दृष्टि डाल इस पदार्थ के विषय में कोई शंका मत रहने दो[1]।

संवर की पहचान आवश्यक

४—संवर के (मुख्य) पाँच भेद हैं और अन्तर-भेद अनेक हैं। अब मैं उनके अर्थ और भेदों को कहता हूं, विवेकपूर्वक सुनो[2]।

संवर के मुख्य पाँच भेद

ढाल

१—जीवादि नव पदार्थों में यथातथ्य श्रद्धा—प्रतीति करना सम्यक्त्व है। उससे युक्त हो विपरीत श्रद्धा का त्याग करना प्रथम 'सम्यक्त्व संवर' है[3]।

सम्यक्त्व संवर

२—त्याग कीयां सर्व सावद्य जोग रा, जावजीव तणा पचखांण हो।
आगार नहीं त्यांरे पाप करण तणो, ते सर्व विरत संवर जांण हो॥

३—पाप उदे सूं जीव परमादी थयो, तिण पाप सूं परमादी थाय हो।
ते पाप खय हूआं के उपसम हूआं, अपरमाद संवर हुवें ताय हो॥

४—कषाय करम उदे छें जीव रे, तिणसूं कषाय आश्रव छें तांम हो।
ते कषाय करम अलगा हुवां जीव रे, जब अकषाय संवर हुवें आंम हो॥

५—थोड़ा २ सा जोगां ने रूंधीयां, अजोग संवर नहीं थाय हो।
मन वचन काया रा जोग रूंधे सरवथा, ते अजोग संवर हुवें ताय हो॥

६—सावद्य माठा जोग रूंध्यां सरवथा, जब तो सर्व विरत संवर होय हो।
पिण निरवद जोग बाकी रह्या तेहनें, तिण सूं अजोग संवर नहीं कोय हो॥

७—परमाद आश्रव नें कषाय जोग आश्रव, ए तो न मिटे कीयां पचखांण हो।
ए तो सहजांइ मिटे छें करम अलगा हुवां, तिणरी अंतरंग करजो पिछांण हो॥

८—सुभ ध्यांन नें लेस्या सूं करम कटियां थकां, जब अपरमाद संवर थाय हो।
इमहिज करतां अकषाय संवर हुवें, इम अजोग संवर होय जाय हो॥

९—समकत संवर ने सर्व विरत संवर, ए तो हुवें छें कीयां पचखांण हो।
अपरमाद अकषाय अजोग संवर हुवें, ते तो करम खय हूआं जांण हो।

२—सर्व सावद्य योगों का पापमय प्रवृत्तियों की कोई छूट रखे बिना जीवनपर्यन्त के लिए प्रत्याख्यान करना 'सर्व विरति संवर' है। — विरति संवर

३—पापोदय से जीव प्रमादी होता है। जिन पापों के उदय से प्रमाद आस्रव होता है उन्हीं पाप कर्मों के उपशम या क्षय होने से 'अप्रमाद संवर' होता है। — अप्रमाद संवर

४—कषाय कर्मों के उदय में होने से कषाय आस्रव होता है। इन कर्मों के अलग होने पर 'अकषाय संवर' होता है। — अकषाय संवर

५-६-किंचित-किंचित सावद्य-निरवद्य योगों के निरोध से या सावद्य योगों के सर्वथा निरोध से अयोग संवर नहीं होता। सर्व सावद्य योगों के त्याग करने पर 'सर्व विरति संवर' होता है। निरवद्य योग अवशेष रहते हैं जिस कारण से अयोग संवर नहीं होता। यह संवर उस अवस्था में होता है जब कि मन-वचन-काय की सावद्य-निरवद्य सब प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध किया जाता है। — अयोग संवर (गा० ५-६)

७—प्रमाद आस्रव, कषाय आस्रव और योग आस्रव ये तीनों प्रत्याख्यान (त्याग) करने से नहीं मिटते। कर्मों के दूर होने से सहज ही अपने आप मिटते हैं। इस बात को अंतरंग में अच्छी तरह समझो। — अप्रमाद, अकषाय और अयोग संवर प्रत्याख्यान से नहीं होते

८-९-सम्यक्त्व संवर और सर्व विरति संवर प्रत्याख्यान करने से होते हैं और अप्रमाद, अकषाय और अयोग संवर कर्म-क्षय से। शुभ ध्यान और शुभ लेश्या द्वारा कर्म-क्षय होने पर ही अप्रमाद संवर होता है; प्रत्याख्यान से नहीं। अकषाय और अयोग संवर भी इसी प्रकार कर्म-क्षय से होते हैं[४]। — सम्यक्त्व संवर और सर्व विरति संवर प्रत्याख्यान से होते हैं (गा० ८-९)

१०—हिंसा झूठ चोरी मैथुन परिग्रहो, ए तो जोग आश्रव में समाय हो।
ए पांचूं आश्रव नें त्यागे दीयां, जब विरत संवर हुवें ताय हो॥

११—पांचूं इंदर्‍यां नें मेले मोकली, त्यांनें पिण जोग आश्रव जांण हो।
इंदर्‍यां नें मोकली मेलवारा त्याग छें, ते पिण विरत संवर ल्यो पिछांण हो॥

१२—भला भूंडा किरतब तीनूंइ जोगां तणा, ते तो जोग आश्रव छें तांम हो।
त्यां तीनूंइ जोगां नें जाबक रूंधियां, अजोग संवर हुवें आंम हो॥

१३—अजेंणा करें भंड उपगरण थकी, तिणनें पिण जोग आश्रव जांण हो।
सुची-कुसग सेवे ते जोग आश्रव कह्यों, त्यांनें त्याग्यां विरत संवर पिछांण हो॥

१४—हिंसादिक पनरें जोग आश्रव कह्यां, त्यांनें त्याग्यां विरत संवर जांण हो।
त्यां पनरां नें माठा जोग मांहें गिण्या, निरवद जोगां री करजों पिछांण हो॥

१५—तीनूंइ निरवद जोग रूंध्यां थकां, अजोग संवर होय जात हो।
ए बीसूंइ संवर तणों विवरो कह्यों, ते बीसूंइ पांच संवर में समात हो॥

१६—कोइ कहें कषाय नें जोगां तणा, सूतर मांहें चाल्या पचखांण हो।
त्यांनें पचख्यां विनां संवर किण विधि होसी, हिवें तिणरी कहुं छूं पिछांण हो॥

१७—पचखांण चाल्या छें सुतर में सरीर नां, ते सरीर सूं न्यारो हुवां तांम हो।
इमहिज कषाय ने जोग पचखांण छें, सरीर पचखांण ज्यूं आंम हो॥

१०—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह—इन आस्रवों का समावेश योग आस्रव में होता है। इन पाँचों आस्रव के त्याग से विरति-संवर होता है।

११—इसी तरह पाँच इन्द्रियों की विषयों में स्वच्छन्दता योग आस्रव जानो। इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करने का त्याग भी विरति संवर जानो।

१२—मन-वचन-काय की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति योग आस्रव है। इन तीनों योगों के सर्वथा निरोध से योग संवर होता है।

हिंसा आदि १५ योगों के त्याग से विरति संवर होता है अयोग संवर नहीं। (गा० १०-१३)

१३—वस्त्र, पात्रादि के रखने-उठाने में अयतनाचार को भी योग आस्रव जानो। इसी तरह सूची-कुशाग्र का सेवन करना भी योग आस्रव है। इनके प्रत्याख्यान से अयोग संवर नहीं होता; केवल विरति संवर होता है।

१४—हिंसादि जो पन्द्रह योग आस्रव कहे हैं वे अशुभ योग रूप हैं। उनके त्याग से विरति संवर होता है। निरवद्य योग उनसे भिन्न हैं। उनकी पहचान करो।

१५—मन-वचन-काय के सर्व निरवद्य योगों के निरोध से अयोग संवर होता है। मैंने बीसों ही संवरों का ब्यौरा कहा है, वैसे तो बीसों पाँच में ही समा जाते हैं[५]।

सावद्य-निरवद्य योगों के निरोध से अयोग संवर (गा० १४-१५)

१६—कई कहते हैं कि कषाय आस्रव और योग आस्रव के प्रत्याख्यान का उल्लेख सूत्रों में आया है अतः इनका त्याग किए बिना अकषाय संवर और अयोग संवर कैसे होंगे? अब मैं इसका खुलासा करता हूँ।

१७—सूत्रों में शरीर-प्रत्याख्यान का भी उल्लेख है परन्तु वास्तव में शरीर का त्याग नहीं होता केवल शरीर की ममता का त्याग किया जाता है। शरीर प्रत्याख्यान की तरह ही कषाय और योग प्रत्याख्यान के विषय में समझना चाहिए[६]।

कषाय आस्रव और योग आस्रव के प्रत्याख्यान का मर्म (गा० १६-१७)

१८—सामायक आदि पांचूं चारित भणी, सर्व वरत संवर जांण हो।
पुलाग आदि दे छहूंइ नियंठा, ए पिण लीज्यो संवर पिछांण हो॥

१९—चारितावर्णी षयउपसम हूआं, जब जीव नें आवे वेंराग हो।
जब कांम नें भोग थकी विरक्त हुवें, जब सर्व सावद्य दे त्याग हो॥

२०—सर्व सावद्य जोग नें त्यागे सरवथा, ते सर्व वरत संवर जांण हो।
जब इविरत रा पाप न लागे सरवथा, ते तो चारित छें गुण खांण हो॥

२१—धूर सूं तो सामायक चारित आदस्यो, तिणरे मोह करम उदे रह्यों ताय हो।
ते करम उदे सूं किरतब नीपजें, तिण सूं पाप लागें छें आय हो॥

२२—भला ध्यान नें भली लेस्या थकी, मोह करम उदे थी घट जाय हो।
जब उदे तणा किरतब पिण हलका पड़ें, जब हलकाइ पाप लगाय हो॥

२३—मोह करम जाबक उपसम हुवें, जब उपसम चारित हुवें ताय हो।
जब जीव हुवें सीतलभूत निरमलो, तिणरे पाप न लागें आय हो॥

२४—मोहणीय करम तें जाबक खय हुवां, खायक चारित हुवें जथाख्यात हो।
जब सीतलभूत हूओ जीव निरमलो, तिणरे पाप न लागें अंसमात हो॥

२५—सामायक चारित लीये छें उदीर नें, सावद्य जोग रा करें पचखांण हो।
उपसम चारित आवें मोह उपसम्यां, ते चारित इग्यारमें गुणठांण हों॥

सामायिक आदि पाँच चारित्र सर्व विरति संवर हैं

१८—सामायिक आदि पाँचों चारित्र सर्व विरति संवर हैं। पुलाक आदि छहों निग्रंथ भी संवर हैं[७]।

१९—चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव को वैराग्य की उत्पत्ति होती है जिससे काम-भोगों से विरक्त हो कर वह सर्व सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर देता है।

२०—सर्व सावद्य योग का सर्वथा त्याग कर देने से सर्व विरति संवर होता है। सर्व सावद्य के त्याग के बाद अविरति का पाप सर्वथा नहीं लगता। यह गुणों की खानरूप सकल चारित्र है[८]।

२१—प्रथम सामायिक चारित्र को अंगीकार करने पर भी मोह कर्म उदय में रहता है। उस कर्मोदय से सावद्य कर्तव्य—क्रियाएँ होती हैं जिससे पापास्रव होता है।

२२—शुभ ध्यान और शुभ लेश्या से मोह कर्म का उदय कुछ घटता है तब मोहकर्म के उदय से होने वाले सावद्य व्यापार भी कम होते हैं। इससे पाप कर्म भी हल्के (कम) लगते हैं।

२३—मोहकर्म के सर्वथा उपशम हो जाने से उपशम चारित्र होता है जिससे जीव-प्रदेश शीतल (अचंचल) और निर्मल हो जाते हैं और जीव के पाप कर्म नहीं लगते[९]।

२४—मोहनीयकर्म के सर्वथा क्षय होने से क्षायक यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती है। इससे जीव के प्रदेश शीतल होते हैं, उनमें निर्मलता आती है जिससे जरा भी पापास्रव नहीं होता[१०]।

२५—सामायिक चारित्र उदीर कर—इच्छापूर्वक ग्रहण किया जाता है और इसमें मनुष्य सर्व सावद्य योगों का प्रत्याख्यान करता है। उपशम चारित्र मोहकर्म के उपशम से ग्यारहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है।

२६—खायक चारित आवें मोह करम नें खय कीयां, पिण नावे कीयां पचखांण हो।
ते आवे सुकल ध्यांन ध्यायां थकां, चारित छेहले तीन गुणठांण हो ॥

२७—चारितावर्णी खयउपसम हुआं, षयउपसम चारित आवें निधांन हो।
ते उपसम हूआं उपसम चारित हुवें, खय हूआं खायक चारित परधांन हो ॥

२८—चारित निज गुण जीव रा जिण कह्या, ते जीव सूं न्यारा नहीं थाय हो।
ते मोहणी करम अलगो हूआं परगट्या, त्यां गुणां सूं हुवा मुनीराय हो ॥

२९—चारितावर्णी ते मोहणी करम छें, तिणरा अनंत परदेस हो।
तिणरा उदा सूं निज गुण विगड्या, तिण सूं जीव ने अतंत कलेस हो ॥

३०—तिण करम रा अनंत परदेस अलगा हूआं, जब अनंत गुण उजलो थाय हो।
जब सावद्य जोग नें पचख्या छें सरवथा, ते सर्व विरत संवर छें ताय हो ॥

३१—जीव उजलो हुवो ते तो हुइ निरजरा, विरत संवर सूं रुकीया पाप करम हो।
नवा पाप न लागें विरत संवर थकी, एहवो छें चारित धर्म हो ॥

३२—जिम २ मोहणी करम पतलो पड़ें, तिम २ जीव उजलो थाय हो।
इम करतां मोहणी करम खय जाए सरवथा, जब जथाख्यात चारित होय जाय हो॥

२६—क्षायक चारित्र मोहकर्म के सम्पूर्ण क्षय करने से होता है, प्रत्याख्यान से नहीं। शुक्ल ध्यान के ध्याने से ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थान में यह उत्पन्न होता है।

२७—चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से क्षयोपशम चारित्र, उपशम से उपशमचारित्र और क्षय से सर्व प्रधान क्षायिक चारित्र होता है[११]।

२८—जिन भगवान ने चारित्र को जीव का स्वाभाविक गुण कहा है। चारित्र गुण गुणी जीव से अलग नहीं होता। मोहकर्म के अलग होने से चारित्र गुण प्रकट होता है, जिससे जीव मुनित्व को धारण करता है।

२९—चारित्रावरणीय मोहनीयकर्म (का एक भेद) है। इसके अनन्त प्रदेश होते हैं। इसके उदय से जीव के स्वाभाविक गुण विकृत हैं, जिससे जीव को अत्यन्त क्लेश है।

३०—मोहनीयकर्म के अनन्त प्रदेशों के अलग होने पर आत्मा अनन्तगुण उज्जवल होती है। इस उज्जवलता के आने पर जीव सावद्य योगों का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है। यही सर्व विरति संवर है।

३१—संयम से जीव निर्मल (उज्जवल) हुआ वह निर्जरा हुई और विरति संवर हुआ जिससे पाप कर्मों का आना रुका। संवर से नये कर्म नहीं लगते। इस प्रकार चारित्र धर्म संवर-निर्जरात्मक है।

३२—जैसे-जैसे मोहनीयकर्म पतला (क्षीण) होता जाता है वैसे-वैसे जीव उत्तरोत्तर निर्मल होता जाता है। इस प्रकार क्षीण होते-होते जब मोहनीयकर्म सर्वथा क्षय हो जाता है तब यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है[१२]।

३३—जघन सामायक चारित तेहनां, अनंता गुण पजवा जांण हो।
अनंता करम परदेस उदे था ते मिट गया, तिण सूं अनंत गुण परगट्या आंण हो॥

३४—जघन समायक चारितीया तणा, अनंत गुण उजला परदेस हो।
वले अनंता परदेस उदे थी मिट गया, जब अनंत गुण उजलो वशेष हो॥

३५—मोह करम घटे छ उदे थी इण विधे, ते तो घटे छें असंखेज्ज वार हो।
तिण सूं सामायक चारित नां कह्यां, असंख्यात थानक श्रीकार हो।

३६—अनंत करम परदेस उदे थी मिट गया, चारित थानक नीपजें एक हो॥
चारित गुण पजवा अनंता नीपजें, सामायक चारित रा भेद अनेक हो॥

३७—जगन सामायक चारित जेहना, पजवा अनंता जांण हो।
तिण थी उतकष्टा सामायक चारित तणा, पजवा अनंत गुणां वखांण हो॥

३८—पजवा उतकष्टा सामायक चारित तणा, तेह थी सुषम संपराय नां वशेष हो।
अनंत गुण कह्यां छें जिगन चारित तणा, ए सुषम संपराय लो पेख हो॥

३९—छठा गुणठांणा थकी नवमां लगें, सामायक चारित जांण हो।
तिणरा असंख्याता थानक पजवा अनंत छें, सुषम संपराय दसमों गुणठांण हो॥

४०—सुषम संपराय चारित तेहनां, थानक असंखेज जांण हो।
एक २ थानक रा पजवा अनंत छें, तिणनें सामायक ज्यूं लीज्यो पिछांण हो॥

३३—जघन्य सामायिक चारित्र के अनन्त गुण पर्यव जानो। उदय में आए हुए अनन्त कर्म-प्रदेशों के दूर हो जाने से आत्मा के अनन्तगुण प्रकट हुए।

३४—जघन्य सामायिक चारित्रवाले के आत्म-प्रदेश अनन्तगुण उज्ज्वल होते हैं। उदय में आए हुए अनन्त कर्म-प्रदेशों के दूर होने से वे और भी विशेष रूप से अनन्तगुण उज्ज्वल होते हैं।

३५—मोहकर्म का उदय इस प्रकार घटता है। ऐसी उदय की हानि असंख्य बार होती है। इसीलिए सामायिक चारित्र के उत्तम असंख्यात स्थानक बतलाए हैं।

३६—अनन्त कर्म-प्रदेशों का उदय मिट जाने से एक चारित्र स्थानक उत्पन्न होता है तथा अनन्त चारित्र गुण पर्यव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सामायिक चारित्र के अनेक भद हैं।

३७—जघन्य सामायिक चारित्र के अनन्त पर्यव जानो तथा उससे उत्कृष्ट सामायिक चारित्र के पर्यव उससे अनन्तगुण जानो।

३८—उत्कृष्ट सामायिक चारित्र की पर्यव-संख्या से भी सूक्ष्म संपराय चारत्र की पर्यव-संख्या अधिक होती है; जघन्य सूक्ष्म संपराय चारित्र की पर्यव संख्या सामायिक चारित्र की उत्कृष्ट पर्यव-संख्या से अनन्त हैं।

३६—छठे गुणस्थान से लेकर नौव तक सामायिक चारित्र जानो। इसके असंख्यात स्थानक और अनन्त पर्यव हैं। सूक्ष्म-संपराय चारित्र दसवें गुणस्थान में होता है।

४०—सूक्ष्मसंपराय चारित्र के भी असंख्यात स्थानक जानने चाहिए तथा सामायिक चारित्र की तरह एक-एक स्थानक के अनन्त-अनन्त पर्यव समझना चाहिए।

४१—सुषम संपराय चारितीया रे सेष उदे रह्या, मोह करम रा अनंत परदेस हो।
ते अनंत परदेस खस्यां निरजरा हुइ, बाकी उदे नहीं रह्यों लवलेस हो ॥

४२—जब जथाख्यात चारित परगट हुवो, तिण चारित रा पजवा अनंत हो।
सुषम संपराय रा उतकष्टा पजवा थकी, अनंत गुणां कह्यां भगवंत हो ॥

४३—जथाख्यात चारित उजल हुओ सरवथा, तिण चारित रो थानक एक हो।
अनंता पजवा तिण थानक तणा, ते थानक छें उतकष्टो वशेख हो ॥

४४—मोह करम परदेस अनंता उदे हुवें, ते तो पुदगल री पर्याय हो।
अनंता अलगा हूआं अनंत गुण परगटे, ते निज गुण जीव रा छें ताय हो॥

४५—ते निज गुण जीव रा ते तो भाव जीव छें, ते निज गुण छें वंदणीक हो।
ते तो करम खय हूआं सूं नीपनां, भाव जीव कह्या त्यांनें ठीक हो ॥

४६—सावद्य जोगां रा त्याग करें ने रूंधीया, तिण सूं विरत संवर हुवो जांण हो।
निरवद जोंग रूंध्यां संवर हुवें, तिणरी करजो पिछांण हो॥

४७—निरवद जोग मन वचन काया तणा, ते घटीयां संवर थाय हो।
सरवथा घटीयां अजोग संवर हुवें, तिणरी विध सुणो चित्त ल्याय हो ॥

४८—साधु तो उपवास बेलादिक तप करें, करम काटण रे कांम हो।
जब संवर सहचर साधु रे नीपजें, निरवद जोग रूंध्यां सूं तांम हो ॥

४१—सूक्ष्मसंपराय चारित्र वालों के मोहकर्म के अनन्त प्रदेश अन्त में उदय में रहते हैं। उनके झड़ जाने से निर्जरा होती है फिर मोहकर्म का लेशमात्र भी उदय नहीं रह जाता।

४२—इस प्रकार मोहकर्म का लेश मात्र भी उदय न रहने से यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है, जिसके अनन्त पर्यव होते हैं। भगवान ने इस चारित्र के पर्यव सूक्ष्मसंपराय चारित्र के उत्कृष्ट पर्यव संख्या से अनन्त गुण कहे हैं।

४३—यथाख्यात चारित्र अर्थात् जीव का सर्वथा उज्ज्वल होना। इसका एक ही स्थानक होता है जिसके अनन्त पर्यव हैं। यह स्थानक विशेष उत्कृष्ट है[१३]।

४४—मोहकर्म के जो अनन्त प्रदेश उदय में आते हैं, वे पुद्गल की पर्याय हैं। इन अनन्त कर्म-प्रदेशों के अलग होने—झड़ जाने से जीव के अनन्त गुण प्रकट होते हैं। ये जीव के स्वाभाविक गुण हैं।

४५—जीव के इस प्रकार प्रकट हुए स्वाभाविक गुण भाव-जीव हैं और वन्दनीय हैं। ये गुण कर्म क्षय से उत्पन्न हुए हैं और उन्हें भाव जीव ठीक ही कहा गया है।

अयोग संवर (गा० ४६-५४)

४६—सावद्य योग का प्रत्याख्यान पूर्वक निरोध करने से विरति संवर होता है और निरवद्य योग के निरोध से संवर होता है। बुद्धिवान यह अच्छी तरह पहचानें।

४७—मन-वचन-काय के निरवद्य योगों के घटने से संवर होता है और उनके सर्वथा मिट जाने से अयोग संवर होता है। इसका विस्तार ध्यानपूर्वक सुनो।

४८—साधु जब कर्म-क्षय के हेतु उपवास, बेलादि तप करता है तो निरवद्य योग के निरोध से उसके सहचर संवर होता है।

४६—श्रावक उपवास बेलादिक तप करें, करम काटण रे कांम हो।
जब विरत संवर पिण सहचर नीपनों, सावद्य जोग रूंध्यां सूं तांम हो॥

५०—श्रावक जे जे पुदगल भोगवे, ते सावद्य जोग व्यापार हो।
त्यांरो त्याग कीयां थी विरत संवर हुवें, तप पिण नीपजें लार हो॥

५१—साधु कल्पें ते पुदगल भोगवे, ते निरवद जोग व्यापार हो।
त्यांनें त्याग्यां सूं तपसा नीपनीं, जोग रूंध्यां रो संवर श्रीकार हो॥

५२—साधु रो हालवो चालवो बोलवो, ते तो निरवद जोग व्यापार हो।
निरवद जोग रूंध्यां जितलों संवर हुवो, तपसा पिण नीपजें श्रीकार हो॥

५३—श्रावक रे हालवो चालवो बोलवो, सावद्य निरवद व्यापार हो।
सावद्य रा त्याग सूं विरत संवर हुवें, निरवद त्याग्यां सूं संवर श्रीकार हो॥

५४—चारित नें तो विरत संवर कह्यों, ते तो इविरत त्याग्यां होय हो।
अजोग संवर सुभ जोग रूंध्यां हुवें, तिण मांहें संक न कोय हो।

५५—संवर निज गुण निश्चेंइ जीव रा, तिणनें भाव जीव कह्यों जगनाथ हो।
जिण दरब नें भाव जीव नहीं ओलख्या, तिणरो घट सूं न गयो मिथ्यात हो॥

५६—संवर पदार्थ नें ओलखायवा, जोड़ कीधी नाथदुवारा मझार हो।
समत अठारे वरसें छपनें, फागुण विद तेरस सुक्रवार हो॥

४९—श्रावक जब कर्म-क्षय के हेतु उपवास, वेलादि तप करता है तो सावद्य योग के निरोध करने से सहचर विरति संवर भी होता है।

५०—श्रावक के सारे पौद्गलिक भोग-मन-वचन-काय के सावद्य व्यापार है। उनके प्रत्याख्यान से विरति संवर होता है और साथ-साथ तप भी होता है।

५१—साधु कल्प्य पुद्गल वस्तुओं का सेवन करता है वह निरवद्य योग—व्यापार हैं। इन वस्तुओं के त्याग से तपस्या होती है और योगों के निरोध से उत्तम संवर होता है।

५२—साधु का चलना, फिरना, बोलना आदि सब क्रियाएँ (यदि वे उपयोग पूर्वक की जांय तो) निरवद्य योग—व्यापार हैं। निरवद्य योगों के निरोध के अनुपात से संवर होता है आर साथ-साथ उत्तम तपस्या भी निष्पन्न होती है।

५३—श्रावक का चलना, फिरना, बोलना आदि क्रियाएँ सावद्य और निरवद्य दोनों ही योग हैं। सावद्य योग के त्याग से विरति संवर हाता है और निरवद्य योग के त्याग से उत्तम संवर होता है।

५४—चारित्र को 'विरति संवर' कहा गया है और वह अविरति के प्रत्याख्यान से होता है। अयोग संवर शुभ योगों के निरोध से होता है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है[१४]।

५५—संवर निश्चय ही जीव का स्वगुण है। भगवान ने इसे भाव-जीव कहा है। जो द्रव्य-जीव और भाव-जीव को नहीं पहचान सका उसके हृदय से मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ—ऐसा समझो[१५]। — संवर भाव जीव है

५६—यह जोड़ संवर पदार्थ का परिचय कराने के लिए श्रीजीद्वार में सं० १८५६ की फाल्गुन बदी १३ शुक्रवार के दिन की है। — रचना स्थान और संवत

टिप्पणियाँ

१—संवर छठा पदार्थ है (दो० १-३) :

इन दोहों में स्वामीजी ने निम्न बातें कही हैं :

(१) संवर छठा पदार्थ है।

(२) संवर आस्रव-द्वार का अवरोधक पदार्थ है।

(३) संवर का अर्थ है—आत्म-प्रदेशों का स्थिरभूत होना।

(४) संवर आत्म-निग्रह से होता है।

(५) मोक्ष-मार्ग की आराधना में संवर उत्तम गुण-रत्न है।

नीचे इन पर क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा है।

(१) संवर छठा पदार्थ है :

स्वामीजी ने नव पदार्थों में संवर का जो छठा स्थान बतलाया है वह आगम-सम्मत है[1]। पदार्थों की संख्या नौ मानने वाले दिगम्बर-ग्रन्थों में भी इसका स्थान छठा ही है[2]। तत्त्वार्थ सूत्र में सात पदार्थों के उल्लेख में इसका स्थान पाँचवां है[3]। पुण्य-पाप पदार्थों की पूर्व में गिनती करने से इसका स्थान सातवाँ होता है। हेमचन्द्र सूरि ने सात पदार्थों की गणना में इसे चौथे स्थान पर रखा है[4]। इससे पुण्य और पाप को पूर्व में गिनने से भी इसका छठा स्थान सुरक्षित रहता है।

भगवान महावीर ने कहा है—"ऐसी संज्ञा मत करो कि आस्रव और संवर नहीं हैं, पर ऐसी संज्ञा करो कि आस्रव और संवर हैं[5]।" ठाणाङ्ग तथा उत्तराध्ययन में इसे

१—(क) उत्त० २८.१४ (पृ० २५ पर उद्धृत); २८.१७

(ख) ठाणाङ्ग ९.३.६६५ (पृ० २२ पा० टि० १ में उद्धृत)

२—पञ्चास्तिकाय २.१०८ (पृ० १५० पा० टि० ५ में उद्धृत)

३—देखिए पृ० १५१ पा० टि० १

४—देखिए पृ० १५१ पा० टि० ३

५—सुयगडं २.५-१७ :

नत्थि आसवे संवरे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि आसवे संवरे वा एवं सन्नं निवेसए॥

सद्भाव पदार्थ अथवा तथ्यभावों में रक्खा गया है[1]। इन सब से प्रमाणित है कि जैन-धर्म में संवर एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में प्ररूपित है।

एक नौका को जल में डालने पर यदि उसमें जल प्रवेश करने लगता है तो वह आस्रविनी—सछिद्र सिद्ध होती है, यदि उसमें जल प्रवेश नहीं करता तो वह अनास्रविनी—छिद्ररहित सिद्ध होती है। इसी तरह जिस आत्मा के मिथ्यात्व आदि रूप छिद्र होते हैं, वह सास्रव आत्मा है और जिसके मिथ्यात्व आदि रूप छिद्र नहीं होते, वह संवृत्त आत्मा है। सास्रव आत्मा मानने से संवृत्त आत्मा अपने आप सिद्ध हो जाती है।

(२) संवर आस्रव-द्वार का अवरोधक पदार्थ है :

ठाणाङ्ग में कहा है—आस्रव और संवर प्रतिद्वन्द्वी पदार्थ हैं[2]। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"जो शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन के लिए द्वार रूप है, वह आस्रव है। जिसका लक्षण आस्रव का निरोध करना है, वह संवर है[3]।

स्वामीजी ने संवर के स्वरूप को उदाहरणों द्वारा निम्न प्रकार समझाया है[4] :

१—तालाब के नाले को निरुद्ध करने की तरह जीव के आस्रव का निरोध करना संवर है।

२—मकान के द्वार को बन्द करने की तरह जीव के आस्रव का निरोध करना संवर है।

३—नौका के छिद्र को निरुद्ध करने की तरह जीव के आस्रव का निरोध करना संवर है।

संवर और आस्रव के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए हेमचन्द्र सूरि लिखते हैं—

"जिस तरह चौराहे पर स्थित बहु-द्वारवाले गृह में द्वार बंद न होने पर निश्चय ही रज प्रविष्ट होती है और चिकनाई के योग से तन्मय रूप से वहीं बंध जाती—स्थिति

१—(क) उत्त० २८.१४ (पृ० २५ पर उद्धृत)

(ख) ठा० ६.६६५ (पृ० २२ पा० टि० १ में उद्धृत)

२—ठाणाङ्ग २.५६ :

जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं, तंजहा—......आसवे चेव संवरे चेव

३—तत्त्वा० १.४ सर्वार्थसिद्धि :

शुभाशुभकर्मागमद्वाररूप आस्रवः। आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः।

४—तेराद्वार : दृष्टान्त द्वार

हो जाती है और यदि द्वार बंद हो तो रज प्रविष्ट नहीं होती और न चिपकती है; वैसे ही योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत्त जीव के प्रदेशों में कर्मद्रव्य का प्रवेश नहीं होता।

"जिस तरह तालाब में सर्व द्वारों से जल का प्रवेश होता है, पर द्वारों को प्रतिरुद्ध कर देने पर थोड़ा भी जल प्रविष्ट नहीं होता; वैसे ही योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत्त जीव के प्रदेशों में कर्मद्रव्य का प्रवेश नहीं होता।

"जिस तरह नौका में छिद्रों से जल प्रवेश पाता है और छिद्रों को रूंध देने पर थोड़ा भी जल प्रविष्ट नहीं होता; वैसे ही योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत्त जीव के प्रदेशों में कर्मद्रव्य का प्रवेश नहीं होता[1]।"

संवर सर्व आस्रवों का निरोधक होता है या केवल पापास्रवों का—यह एक प्रश्न रहा। यह मतभेद संवर की भिन्न-भिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। एक परिभाषा के अनुसार—"जो सर्व आस्रवों के निरोध का हेतु होता है, उसे संवर कहते हैं[2]।" दूसरी परिभाषा के अनुसार—"जो अशुभ आस्रवों के निग्रह का हेतु है, उसे संवर कहा जाता है[3]।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् ११८-१२२ :

यथा चतुष्पथस्थस्य, बहुद्वारस्य वेश्मनः।
अनावृतेषु द्वारेषु, रजः प्रविशति ध्रुवम्॥
प्रविष्टं स्नेहयोगाच्च, तन्मयत्वेन बध्यते।
न विशेन्न च बध्यते, द्वारेषु स्थगितेषु च॥
यथा वा सरसि क्वापि, सर्वैर्द्वारैर्विशेज्जलम्।
तेषु तु प्रतिरुद्धेषु, प्रविशेन्न मनागपि॥
यथा वा यानपात्रस्य, मध्ये रन्ध्रैर्विशेज्जलम्।
कृते रन्ध्रपिधाने तु, न स्तोकमपि तद्विशेत्॥
योगादिष्वाश्रवद्वारेष्वेवं रुद्धेषु सर्वतः।
कर्मद्रव्यप्रवेशो न, जीवे संवरशालिनि॥

२—वही : १११ : सर्वेषामाश्रवाणां यो, रोधहेतुः स संवरः।

३—वही : देवेन्द्रसूरिकृत नवतत्त्वप्रकरणम् : ४१ :

तो असुहासवनिग्गहहेऊ इह संवरो विणिद्दिट्ठो।

वास्तव में संवर केवल अशुभ आस्रवों के निग्रह का ही हेतु नहीं है अपितु वह शुभ आस्रवों के निग्रह का भी हेतु है।

(३) संवर का अर्थ है आत्म-प्रदेशों को स्थिरभूत करना :

सास्रव अवस्था में जीव के प्रदेशों में परिस्पंदन होता रहता है। आस्रवों के निरोध से जीव के चञ्चल प्रदेश स्थिर होते हैं। आत्मप्रदेश की चञ्चलता आस्रव-द्वार है और उनकी स्थिरता संवर-द्वार[1]। आस्रव से नये-नये कर्म प्रविष्ट होते रहते हैं। संवर से नये कर्मों का प्रवेश रुक जाता है[2]।

(४) संवर आत्म-निग्रह से होता है :

आस्रव पदार्थ ही एक ऐसा पदार्थ है जिसका निरोध किया जा सकता है। संवर, निर्जरा और मोक्ष के निरोध का प्रश्न नहीं उठता। निरोध एक आस्रव-द्वार को लेकर उठता है। इसीलिए कहा है—"**आस्रवनिरोधः संवरः**[3]"—आस्रव द्वार का निरोध करना संवर है।

जितने निरोध्य कर्तव्य—कर्म हैं वे सब आस्रव हैं। निरवद्य-कर्तव्य पुण्य आने के द्वार—निरवद्य आस्रव-द्वार हैं। सावद्य-कर्तव्य पाप आने के द्वार—सावद्य आस्रव-द्वार हैं। निरोध्य कर्तव्यों का निरोध संवर-द्वार है।

संवर आत्म-निग्रह से—आत्मा को संवृत्त करने—उसको वश में करने से निष्पन्न होता है। वह निवृत्ति-परक है; प्रवृत्ति-परक नहीं। प्रवृत्तिमात्र आस्रव है और निग्रह-मात्र संवर।

श्री हेमचन्द्र सूरि लिखते हैं—

"जिस उपाय से जो आस्रव रुके उस आस्रव के निरोध के लिए उसी उपाय को काम में लाना चाहिए। मनुष्य क्षमा से क्रोध को, मृदुभाव से मान को, ऋजुता से माया को और निःस्पृहता से लोभ का निरोध करे। असंयम से हुए विषसदृश उत्कृष्ट विषयों को अखंड संयम से नष्ट करे। तीन गुप्तियों से तीन योगों को, अप्रमाद से प्रमाद

१—**टीकम डोसी की चर्चा**

२—**तत्त्वा० ६.१ सर्वार्थसिद्धि :**

अभिनवकर्मादानहेतुरास्रवो.........तस्य निरोधः संवर इत्युच्यते

३—**तत्त्वा० ६.१**

को और सावद्य योग के त्याग से विरति को साधे। सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व और मन की शुभ स्थिरता द्वारा आर्त-रौद्रध्यान को जीते[1]।'

(५) मोक्ष-मार्ग की आराधना में संवर उत्तम गुण-रत्न है :

मोक्ष संसारपूर्वक है। पहले संसार और फिर मोक्ष ऐसा क्रम है। पहले मोक्ष और फिर संसार ऐसा नहीं[2]। मोक्ष साध्य है। संसार मोच्य। इस संसार के प्रधान हेतु आस्रव और बन्ध हैं और मोक्ष के प्रधान हेतु संवर और निर्जरा[3]। संवर से आस्रव—नये कर्मों के प्रवेश का निरोध होता है। निर्जरा से बंधे हुए कर्मों का परिशाट। इस तरह संवर मोक्ष-साधना में एक अनिवार्य साधन के रूप में सामने आता है। जो संवरयुक्त होता है वह मोक्ष के अमोघ साधन से युक्त है—अत्यन्त गुणवान है। सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र को त्रि-रत्न कहा जाता है। संवर चारित्र है और इस तरह यह उत्तम गुण-रत्न है।

२—संवर के भेद, उनकी संख्या-परम्पराएँ और ५७ प्रकार के संवर (दो० ४):

द्रव्य संवर और भाव संवर :

संवर के ये दो भेद श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों ग्रंथों में मिलते हैं। इन भेदों की निम्न परिभाषाएँ मिलती हैं :

(१) जल मध्यगत नौका के छिद्रों का, जिन से अनवरत जल का प्रवेश होता है, तथाविध द्रव्य से स्थगन द्रव्य संवर है। जीव-द्रोणि में कर्म-जल के आस्रव के हेतु इन्द्रियादि छिद्रों का समिति आदि से निरोध करना भाव संवर है[4]।

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : श्रीहेमचन्द्रसूरिकृतं सप्ततत्त्वप्रकरणम् : ११३-११७

२—तत्त्वा० १.४ सर्वार्थसिद्धि :

स च संसारपूर्वकः

३—वही :

संसारस्य प्रधानहेतुरास्रवो बन्धश्च। मोक्षस्य प्रधानहेतुः संवरो निर्जरा च

४—ठाणाङ्ग १.१४ की टीका :

अयं द्विविधो द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो जलमध्यगतनावादेरनवरतप्रविशज्ज-लानां छिद्राणां तथाविधद्रव्येण स्थगनं संवरः, भावतस्तु जीवद्रोण्यामाश्रवत्कर्म्म-जलानामिन्द्रियादिच्छिद्राणां समित्यादिना निरोधनं संवर इति

(२) कर्मपुद्गलों के आदान—ग्रहण का उच्छेद करना द्रव्य संवर है और संसार की हेतु क्रियाओं का त्याग भाव संवर है[1]। श्री हेमचन्द्र सूरि कृत यह परिभाषा आचार्य पूज्यपाद कृत परिभाषा पर आधारित है[2]।

(३) जो चैतन्य परिणाम कर्मों के आस्रव के निरोध में हेतु होता है वही भाव संवर है और द्रव्यास्रव के अवरोध में जो हेतु होता है वह द्रव्य संवर है[3]।

(४) मोह, राग और द्वेष परिणामों का निरोध भाव संवर है। उस भाव संवर के निमित्त से योगद्वारों से शुभाशुभ कर्म-वर्गणाओं का निरोध होना द्रव्य संवर है[4]।

(५) शुभ-अशुभ कर्मों के निरोध में समर्थ शुद्धोपयोग भाव संवर है ; भाव संवर के आधार से नए कर्मों का निरोध द्रव्य संवर है[5]।

पाठक देखेंगे कि उपर्युक्त परिभाषाओं में वास्तव में तो अन्तिम चार ही संवर पदार्थ के दो भेदों का प्रतिपादन कर द्रव्य संवर और भाव संवर की परिभाषाएँ देती हैं। श्री अभयदेव ने वस्तुत: संवर पदार्थ के दो भेद नहीं बतलाये हैं पर संवर के द्रव्यसंवर और भावसंवर ऐसे दो भेद कर द्रव्यसंवर की उपमा द्वारा भावसंवर को समझाया है। जैसे द्रव्य अग्नि के स्वभाव द्वारा भाव अग्नि—क्रोधादि को समझाया जा सकता है वैसे ही नौका के स्थूल दृष्टान्त द्वारा उन्होंने भाव संवर को समझाया है। उन्होंने नौका के

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : श्री हेमचन्द्र सूरि कृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् : ११२ :
य : कर्मपुद्‌गलादानच्छेद: स द्रव्यसंवरः।
भवहेतुक्रियात्यागः स पुनर्भावसंवरः ॥

२—तत्त्वा० ९.१ सर्वार्थसिद्धि :
तत्र संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः। तन्निरोधे तत्पूर्वकर्मपुद्‌गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः।

३—द्रव्यसंग्रह २.३४
चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥

४—पञ्चास्तिकाय २. १४२. अमृतचन्द्रवृत्ति :
मोहरागद्वेषपरिणामनिरोधो भावसंवरः। तन्निमित्त : शुभाशुभकर्मपरिणामनिरोधो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्‌गलानां द्रव्यसंवर :

५—वही : जयसेनवृत्ति :
शुभाशुभसंवरसमथ : शुद्धोपयोगो भावसंवरः भावसंवराधारेण नवतरकर्मनिरोधो द्रव्यसंवर इति

लौकिक दृष्टान्त द्वारा आध्यात्मिक भाव—आस्रव पदार्थ का सम्यक् बोधमात्र उपस्थित किया है। स्वामीजी के प्रतिपादन में आस्रव पदार्थ के द्रव्य और भाव भेदों का उल्लेख नहीं और न आगमों में ही इन भेदों का उल्लेख मिलता है।

आस्रव नूतन कर्मों के ग्रहण का हेतु है और संवर उसका निरोध[1]। जिस परिणाम से कर्म-कारण प्राणातिपातादि का संवरण—निरोध होता है, वह संवर है[2]।

संवर-संख्या की परम्पराएँ :

जितने आस्रव हैं उतने ही संवर हैं। जैसे आस्रव की अन्तिम संख्या का निर्धारण असंभव है वैसे ही संवर की अन्तिम संख्या का भी। संवर की संख्या अनेक होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से संवर के भेदों की निश्चित संख्या का प्रतिपादन करने वाली अनेक परम्पराएँ प्राप्त हैं। उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं :

(१) सत्तावन संवर की परम्परा : इसके अनुसार पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा (भावना), बाईस परीषह और पाँच चारित्र—इस तरह कुल मिलाकर संवर के सत्तावन भेद होते हैं[3]।

(२) चार संवर की परम्परा : इस परम्परा के अनुसार (१) सम्यक्त्व संवर, (२) देशव्रत महाव्रतरूप विरति संवर, (३) कषाय संवर और (४) योगाभाव संवर—ये चार संवर हैं[4]।

१—तत्त्वा० ९.१ सर्वार्थसिद्धि :

देखिए पृ० ५०७ पाद टि० २

२—ठाणाङ्ग १.१४ टीका

संव्रियते—कर्मकारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स संवरः आश्रव-निरोध इत्यर्थः

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवेन्द्रसूरिकृत नवतत्त्वप्रकरणम् ४२ :

तत्थ परीसह समिई, गुत्ती भावण चरित्तधम्मेहिं ।
बावीसपणतिबारसपण दसभेएहिं जहसंखं ॥

४—द्वादशानुप्रेक्षा : संवरानुप्रेक्षा ६५ :

सम्मत्तं देसवयं, महव्वयं तह जओ कसायाणं ।
एदे संवरणामा, जोगाभावो तहच्चेव ॥

(३) चार संवर की दूसरी परम्परा : इसके अनुसार मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग—आस्रवों के निरोध रूप चार संवर हैं[1] ।

(४) पाँच संवर की परम्परा : इस परम्परा के अनुसार संवर पाँच हैं।—(१) सम्यक्त्व संवर, (२) विरति संवर, (३) अप्रमाद संवर, (४) अकषाय संवर और (५) अयोग संवर[2] ।

(५) बीस संवर की परम्परा : इसके अनुसार बीस संवर ये हैं—(१) सम्यक्त्व संवर, (२) विरति संवर, (३) अप्रमाद संवर, (४) अकषाय संवर, (५) अयोग संवर, (६) प्राणातिपात-विरमण संवर, (७) मृषावाद-विरमण संवर, (८) अदत्तादान-विरमण संवर (९) अब्रह्मचर्य-विरमण संवर, (१०) परिग्रह-विरमण संवर, (११) श्रोत्रेन्द्रिय संवर, (१२) चक्षुरिन्द्रिय संवर, (१३) घ्राणेन्द्रिय संवर, (१४) रसनेन्द्रिय संवर, (१५) स्पर्शनेन्द्रिय संवर, (१६) मन संवर, (१७) वचन संवर, (१८) काय संवर, (१९) भण्डोपकरण संवर और (२०) सूची-कुशाग्र संवर[3] ।

१—समयसार संवर अधिकार १९०-१९१ :

मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥

हेउअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।

२—(क) ठाणाङ्ग ५.२.४१८

पंच संवरदारा पं० तं० सम्मत्तं विरती अपमादो अकसात्तितमजोगित्तं

(ख) समावायाङ्ग ५

पंच संवरदारा पन्नता तं जहा-सम्मत्तं विरई अप्पमत्तया अकसाया अजोगया

३—आगमों के आधार पर बीस की संख्या इस प्रकार बनती है—

(क) देखिए—पाट टि० २

(ख) जंबू ! एत्तो संवरदाराइं पंच वोच्छामि आणुपुव्वीए ।

जह भणियाणि भगवया सव्वदुहविमोक्खणट्ठाए ॥

पढमं होइ अहिंसा वितियं सच्चवयणंति पन्नत्तं ।

दत्तमणुन्नाय संवरो य बंभचेरमपरिग्गहत्तं च ॥

(प्रश्नव्याकरण : संवर द्वार)

(ग) दसविधे संवरे पं० तं० सोतिंदियसंवरे जाव फासिंदितसंवरे मण० वय० काय० उवकरणसंवरे सूचीकुसग्गसंवरे । (ठाणाङ्ग १०.१.७०९)

इन परम्पराओं में पहली परम्परा का उल्लेख श्वेताम्बर-दिगम्बर मान्य तत्त्वार्थसूत्र तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध है[1], पर आगमों में नहीं[2]।

संवर आस्रव का प्रतिपक्षी पदार्थ है। एक-एक आस्रव का प्रतिपक्षी एक-एक संवर होना चाहिए। संवरों की संख्या सूचक पहली परम्परा, आस्रव-द्वारों की संख्या का निरूपण करनेवाली परम्पराओं[3] में से प्रत्यक्षतः किसी भी परम्परा की प्रतिपक्षी नहीं है और संवरों की संख्या स्वतंत्र रूप से प्रतिपादित करती है।

उपर्युक्त चार संवर की सूचक परम्पराएँ आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा समर्थित हैं और अपने निरूपण में क्रमशः उस-उस आस्रव की प्रतिपक्षी हैं[4]।

चौथी और पाँचवीं परम्पराएँ आगमिक हैं। उनका प्ररूपण आस्रव के उतने ही भेदों को बतलाने वाली परम्पराओं के प्रतिपक्षी रूप में है[5]। चौथी परम्परा के अन्तिम पंद्रह भेद विरत संवर के ही भेद हैं। इस तरह ये दोनों परम्पराएँ एक ही हैं केवल संक्षेप-विस्तार की अपेक्षा से ही वे दो कही जा सकती हैं।

स्वामीजी ने इसी ढाल (गा० १-१५) में आगमिक परम्परा सम्मत संवर के बीस भेदों का विवेचन किया है।

हम यहाँ पाठकों के लाभ के लिए प्रथम परम्परा सम्मत संवर के सत्तावन भेदों का संक्षिप्त विवेचन दे रहे हैं।

संवर के सत्तावन भेदों का विवेचन :

संवर के भेद अधिक से अधिक ५७ बतलाये गये हैं। देवेन्द्रसूरि लिखते हैं—"संवर के भेद तो अनेक हैं। आचार्यों ने इतने ही कहे हैं[6]"

१—(क) तत्त्वा० ६.२, ४-१८

(ख) नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह के सर्व नवतत्त्वप्रकरण

२—**नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : भाग्यविजयकृत श्रीनवतत्त्वस्तवनम् ८८ :**

भेद वीश संवरना कह्या, ठाणाङ्ग सूत्र मोझार।
भेद सत्तावन पण कह्या, ग्रन्थातरथी विचार॥

३—**इन परम्पराओं के लिए देखिए पृ० ३७२ टि० ५**

४—**देखिए वही**

५—**ठाणाङ्ग ५.२ ४१ टीका :**

संवरद्वाराणि—मिथ्यात्वादीनामाश्रवाणां क्रमेण विपर्यया :

६—**नवतत्त्वसाहित्यसग्रह : देवेन्द्रसूरिकृत नवतत्त्वप्रकरणम् : ४१**

सो पुण णेगविहोवि हु, इह भणिओ सत्तवन्नविहो॥

संवर के ५७ भेदों का वर्णन छह गुच्छों में किया जाता है। इन गुच्छों के क्रम भिन्न-भिन्न मिलते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में गुच्छों का अनुक्रम—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र—इस रूप में है[1]। दूसरे निरूपण में परीषह-जय, समिति, गुप्ति, भावना, चारित्र, धर्म—यह क्रम है[2]। तीसरे प्ररूपण में चारित्र, परीषह-जय, धर्म, भावना, समिति और गुप्ति—यह क्रम है[3]। इसी प्रकार अन्य क्रम भी उपलब्ध हैं[4]। यहाँ तत्त्वार्थ-सूत्र के गुच्छ-क्रम से ही ५७ संवरों का विवेचन किया जाता है।

वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य में संवर पदार्थ की परिभाषा में कहते हैं : "आस्रव के ४२ भेद बतलाये जा चुके हैं। उनके निरोध को संवर कहते हैं। इस संवर की सिद्धि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र से होती है[5]।" गुप्ति आदि के ही कुल मिलाकर ५७ भेद हैं। इन का विवरण इस प्रकार है :

१—**पाँच गुप्ति।** जिससे संसार के कारणों से आत्मा का गोपन—बचाव हो उसे गुप्ति कहते हैं[6]। मन, वचन और काय—तीनों योगों का सम्यक् निग्रह गुप्ति है[7]। भाष्य के अनुसार

१—तत्त्वा० ९.२

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहचारित्रैः

२—पृ० ५१० पाद-टिप्पणी ३

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : जयशेखरसूरि निर्मित नवतत्त्वप्रकरणम् १९-२३

४—देखिए—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह में संगृहीत नवतत्त्वप्रकरण

५—(क) तत्त्वा० ९.१ :

आस्रवनिरोधः संवरः

(ख) वही : भाष्य :

यथोक्तस्य काययोगादेर्द्विचत्वारिंशद्विधस्य निरोधः संवरः

(ग) स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः

(घ) वही : भाष्य :

स एष संवरः एभिर्गुप्त्यादिभिरभ्युपायैर्भवति

६—तत्त्वा० ९.२ सर्वार्थसिद्धि :

यतः संसारकारणादात्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः

७—तत्त्वा० ९.४ :

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः

'सम्यक्' शब्द का अर्थ है—विधिपूर्वक, जानकर, स्वीकार कर, सम्यक्दर्शनपूर्वक[1]। श्री अकलङ्कदेव के अनुसार इस का अर्थ है—सत्कार, लोक-प्रसिद्धि, विषय-सुख की आकांक्षा आदि को छोड़कर[2]। इस प्रकार योगों का निरोधन करना गुप्ति है। इसके तीन भेद हैं :

(१) **कायगुप्ति** : सोने, बैठने, ग्रहण करने, रखने आदि क्रियाओं में जो शरीर की चेष्टाएँ हुआ करती हैं, उनके निरोध को कायगुप्ति कहते हैं[3]।

(२) **वाक्गुप्ति** : वचन-प्रयोग का निरोध करना अथवा सर्वथा मौन रहना वाक्गुप्ति है[4]।

(३) **मनोगुप्ति** : मन में सावद्य संकल्प होते हैं उन के निरोध, अथवा शुभ संकल्पों के धारण, अथवा कुशल-अकुशल दोनों ही तरह के संकल्पमात्र के निरोध करने को मनोगुप्ति कहते हैं[5]।

वाचक उमास्वाति ने गुप्तियों की जो पूर्वोक्त परिभाषाएँ दी हैं वे प्रायः निवृत्तिपरक हैं। केवल मनोगुप्ति में कुशल संकल्पों के धारण को भी स्थान दिया है।

अभयदेवसूरि ने तीनों ही गुप्तियों को अकुशल से निवृत्ति और कुशल में प्रवृत्तिरूप कहा है[6]।

१—तत्त्वा० ९.४ : भाष्य :

सम्यगिति विधानतो ज्ञात्वाभ्युपेत्य सम्यग्दर्शनपूर्वकं त्रिविधस्य योगस्य निग्रहो गुप्तिः

२—तत्त्वार्थवार्तिक ९.४.३ :

सम्यगिति विशेषणं सत्कारलोकपङ्क्त्याद्याकाङ्क्षानिवृत्त्यर्थम्

३—तत्त्वा० ९.४ : भाष्य :

तत्र शयनासनादाननिक्षेपस्थानचंक्रमणेषु कायचेष्टानियमः कायगुप्तिः

४—वही : भाष्य :

याचनपृच्छनपृष्टव्याकरणेषु वाङ्नियमो मौनमेव वा वाग्गुप्ति :

५—वही : भाष्य :

सावद्यसंकल्पनिरोधः कुशलसंकल्पः कुशलाकुशलसंकल्पनिरोध एव वा मनोगुप्तिरिति

६—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरणम् : गा० १० भाष्य :

मणगुत्तिमाइयाओ, गुत्तीओ तिण्ण हुंति नायव्वा ।
अकुसलनिवित्तिरूवा, कुसलपवित्तिसरूवा य ॥

गुप्ति और समिति में अन्तर बताते हुए पण्डित भगवानदास लिखते हैं—"समिति सम्यक् प्रवृत्तिरूप है और गुप्ति प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप। दोनों में यही अन्तर है[1]।"

स्वामीजी के अनुसार—मन, वचन और काय की सम्यक् प्रवृत्तिरूप गुप्ति संवर नहीं हो सकती। उनका कहना है—ऐसी प्रवृत्ति शुभ योग में आती है और वह पुण्य का कारण है फिर उसे संवर कैसे कहा जा सकता है? संवररूप गुप्ति में शुभ योगों को समाविष्ट नहीं किया जा सकता।

देवेन्द्रसूरि भी इसी का समर्थन करते हैं। उन्होंने पाप-व्यापार से मन, वचन और काया के गोपन को ही क्रमशः मनोगुप्ति आदि कहा है[2]। उत्तराध्ययन में कहा है—'गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसुसावसो'—सर्व अशुभ योगों से निवृत्ति गुप्ति है। श्री अकलङ्क भी गुप्ति का स्वरूप निवृत्तिपरक ही बतलाते हैं—'गुप्त्यादि प्रवृत्तिनिग्रहार्थं (०.६.१), 'गुप्तिर्हि निवृत्तिप्रवणा' (९.६.११)।

२—**पाँच समिति**। सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं[3]।

(४) **ईर्या समिति** : धर्म में प्रयत्नमान साधु का आवश्यक कार्य के लिए अथवा संयम की सिद्धि के लिए चार हाथ भूमि को देखकर अनन्यमन से धीरे-धीरे पैर रखकर विधिपूर्वक चलना ईर्यासमिति है[4]।

(५) **भाषा समिति**: साधु का हित (मोक्षप्रापक), मित, असंदिग्ध और अनवद्य वचनों का बोलना भाषासमिति है[5]।

(६) **एषणा समिति** : अन्न, पान, रजोहरण, पात्र, चीवर तथा अन्य धर्म-साधनों को ग्रहण करते समय साधु द्वारा उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषों का वर्जन करना एषणासमिति है[6]।

१—नवतत्त्वप्रकरण (आवृ० २) पृ० ११२,११५

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : नवतत्त्वप्रकरणम् : १६।४१ वृत्ति :
 पापव्यापारेभ्यो मनोवाक्कायगोपनान्मनोवचनकायगुप्तयः

३—(क) तत्त्वा० ९.२ सर्वार्थसिद्धि :
 सम्यगयनं समितिः
 (ख) नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवगुप्त सूरि प्रणीत नवतत्त्वप्रकरण गा० १० भाष्य :
 सम्मं जा उ पवित्ती। सा समिई पञ्चहा एवं॥

४—(क) तत्त्वा० ९.५ भाष्य
 (ख) वही : राजवार्तिक : ३

५—(क) तत्त्वा० ९.५ भाष्य
 (ख) वही : राजवार्तिक : ५

६—(क) तत्त्वा० ९.५ भाष्य
 (ख) वही : राजवार्तिक : ६

(७) आदाननिक्षेपण समिति : आवश्यकतावश धर्मोपकरणों को उठाते या रखते समय उन्हें अच्छी तरह शोध कर उठाने-रखने को आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं[1]।

(८) उत्सर्ग समिति : त्रस-स्थावर जीव रहित प्रासुक स्थान पर, उसे अच्छी तरह देख और शोधकर मल-मूत्र का विसर्जन करना उत्सर्गसमिति है[2]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुनियों की निरवद्य प्रवृत्तियों के नियमों को ही 'समिति' नाम से विहित किया गया है[3]। श्री अकलङ्कदेव लिखते हैं—"गुप्तियों के पालन में असमर्थ मुनि की कुशल में प्रवृत्ति को समिति कहते हैं[4]।" आगम में भी ऐसा ही कथन मिलता है[5]।

यहाँ प्रश्न उठता है—समितियाँ प्रवृत्तिरूप होने पर भी उन्हें संवर के भेदों में कैसे गिनाया गया। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—"विहित रूप से प्रवृत्ति करनेवाले के असंयमरूप परिणामों के निमित्त से जो कर्मों का आस्रव होता है उसका संवर होता है[6]।" श्री अकलङ्कदेव कहते हैं—"जाना, बोलना, खाना, रखना, उठना और मलोत्सर्ग आदि क्रियाओं में अप्रमत्त सावधानी से प्रवृत्ति करने पर इन निमित्तों से आनेवाले कर्मों का संवर हो जाता है[7]।"

१—(क) तत्त्वा० ९.५ भाष्य
(ख) वही : राजवार्तिक : ७

२—(क) तत्त्वा० ९.५ भाष्य
(ख) वही : राजवार्तिक : ८

३—तत्त्वा० ९.४ सर्वार्थसिद्धि :
तत्राशक्तस्य मुनेर्निरवद्यप्रवृत्तिख्यापनार्थमाह

४—तत्त्वा० ९.५, राजवार्तिक ९ :
तत्रासमर्थस्य कुशलेषु वृत्तिः समितिः

५—उत्त० २४.२६ :
एयाओ पंच समिईओ चरणस्स य पवत्तणे।

६—(क) तत्त्वा० ९.५ सर्वार्थसिद्धि :
तथा प्रवर्तमानस्यासंयमपरिणामनिमित्तकर्मास्रवात्संवरो भवति।

७—तत्त्वा० ९.५ राजवार्तिक :
अतो गमनभाषणाभ्यवहरणग्रहणनिक्षेपोत्सर्गलक्षणसमितिविधावप्रमत्तानां तत्प्रणालिकाप्रसृतकर्माभावान्निभृतानां प्रासीदत् संवरः।

स्वामीजी का कथन है—मुनि का विधिपूर्वक आना-जाना, बोलना आदि कार्य शुभ योग हैं। वे पुण्य के हेतु हैं। उन्हें संवर कहना संगत नहीं। यदि शुभ योगों में प्रवृत्त मुनि के शुभ योगों से संवर माना जायगा तो उसका अर्थ यह होगा कि साधु के पुण्य का बंध होता ही नहीं। आगम में शुभ योगों से मुनि के भी स्पष्टत: पुण्य का बंध कहा है।

बावन बोल के स्तोक में प्रश्न है—पाँच समिति, तीन गुप्ति कौन-सा भाव और कौन-सी आत्मा है? उत्तर में कहा बताया गया है—भावों में गुप्ति उदय को छोड़कर चार भाव है और आठ आत्माओं में गुप्ति चारित्र आत्मा है। समिति—क्षायक क्षयोपशम और पारिणामिक भाव है और आत्माओं में योग आत्मा है।

इससे भी समितियाँ योग ठहरती हैं।

गुप्तियों, समितियों का उल्लेख ठाणाङ्ग, समवायाङ्ग, उत्तराध्ययन आदि आगमों में मिलता है[1]। पाँच समिति और तीन गुप्तियों को आगमों में प्रवचन-माता कहा गया है[2]।

३—दस धर्म : जो इष्ट स्थान में धारण करे उसे धर्म कहते हैं[3]। धर्म के दस भेद को यतिधर्म, अनगार धर्म आदि भी कहा जाता है। इनका ब्यौरा इस प्रकार है :

(९) उत्तम क्षमा : उमास्वाति के अनुसार क्षमा का अर्थ है तितिक्षा, सहिष्णुता, क्रोध का निग्रह[4]। आ० पूज्यपाद के अनुसार निमित्त के उपस्थित होने पर भी कलुषता को उत्पन्न न होने देना क्षमा है[5]।

(१०) उत्तम मार्दव : उमास्वाति के अनुसार मृदुभाव अथवा मृदुकर्म को मार्दव कहते हैं। मदनिग्रह, मानविघात मार्दव है। जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, विज्ञान, श्रुत, लाभ

१—(क) ठाणाङ्ग ६०३
(ख) समवायाङ्ग ३
(ग) उत्त० २४.१,२, १९-२६
२—(क) उत्त० २४.१,३ ;
(ख) समवायाङ्ग ८
३—तत्त्वा० ९.२ सर्वार्थसिद्धि :
इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः
४—तत्त्वा० ९.६ भाष्य
५—वही : सर्वार्थसिद्धि

और वीर्य—इन आठ मदस्थानों से मत्त हो दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा करने का निग्रह मार्दव है[1]। पूज्यपाद के अनुसार भी अभिमान का अभाव, मान का निर्हरण मार्दव है[2]।

(११) **उत्तम आर्जव** : उमास्वाति कहते हैं—भाव विशुद्धि और अविसंवादन आर्जव के लक्षण हैं। ऋजुभाव अथवा ऋजुकर्म को आर्जव कहते हैं[3]। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार योगों की अवक्रता आर्जव है[4]।

(१२) **उत्तम शौच** : अलोभ। शुचिभाव या शुचिकर्म शौच है। अर्थात् भावों की विशुद्धि, कल्मषता का अभाव और धर्म के साधनों में भी आसक्ति का न होना शौच धर्म है[5]। प्रकर्षप्राप्त लोभ की निवृत्ति शौच है[6]।

प्रश्न है—मनोगुप्ति और शौच में क्या अन्तर है? श्री अकलङ्कदेव कहते हैं—मनोगुप्ति में मन के परिस्पन्दन का सर्वथा निरोध किया जाता है जब कि शौच में पर वस्तु विषयक अनिष्ट विचारों की शान्ति का ही समावेश होता है। लोभ चार हैं—जीवनलोभ, आरोग्यलोभ, इन्द्रियलोभ और उपभोगलोभ। इन चारों का परिहार शौच में आता है[7]।

(१३) **उत्तम सत्य** : सत्यर्थ में प्रवृत्त वचन अथवा सत्पुरुषों के हित का साधक वचन सत्य कहलाता है। अनृत, परुषता, चुगली आदि दोषों से रहित वचन उत्तम सत्य है[8]।

पूज्यपाद कहते हैं भाषासमिति में मुनि हित और मित ही बोल सकता है अन्यथा वह राग और अनर्थदण्ड का दोषी होता है। परन्तु उत्तम सत्य में धर्मवृद्धि के निमित्त बहु बोलना भी आ जाता है[9]।

१—तत्त्वा० ६.६ भाष्य
२—वही : सर्वार्थसिद्धि
३—तत्त्वा० ६.६ भाष्य
४—वही : सर्वार्थसिद्धि
५—तत्त्वा० ६.६ भाष्य
६—वही : सर्वार्थसिद्धि
७—वही : राजवार्तिक : ८
८—वही : भाष्य
९—वही : सर्वार्थसिद्धि

(१४) **उत्तम संयम :** योग-निग्रह को संयम कहते हैं[1] । श्री अकलङ्कदेव के अनुसार संयम में प्राणी-संयम और इन्द्रिय-संयम ही आते हैं। मन, वचन और काय का निग्रह गुप्तियों में आ जाता है[2] । उमास्वाति ने संयम के सतरह भेद दिये हैं[3] ।

(१५) **उत्तम तप :** कर्मक्षय के लिए उपवासादि बाह्य तप और स्वाध्याय, ध्यान आदि अन्तर तपों का करना तप धर्म है[4] । इच्छा-निरोध को भी तप कहा है—"इच्छा-निरोध-स्तपः ।"

(१६) **उत्तम त्याग :** उमास्वाति के अनुसार बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि तथा शरीर, अन्नपानादि के आश्रय से होनेवाले भावदोष का परित्याग त्याग धर्म है[5] । आचार्य पूज्यपाद के अनुसार संयति को योग्य ज्ञानादि का दान देना त्याग है[6] । श्री अकलङ्कदेव के अनुसार परिग्रह-निवृत्ति को भी त्याग कहते हैं[7] । कई जगह निर्ममत्व को त्याग कहा गया है—'निर्ममत्वं त्यागः ।'

(१७) **उत्तम आकिञ्चन्य :** उमास्वाति के अनुसार शरीर और धर्मोपकरणों में ममत्व न रखना उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है[8] । आ० पूज्यपाद के अनुसार 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिञ्चन्य है[9] ।

(१८) **उत्तम ब्रह्मचर्य :** उमास्वाति के अनुसार इसके दो अर्थ हैं : (१) व्रतों के परिपालन ज्ञान की अभिवृद्धि एवं कषाय-परिपाक आदि हेतुओं से गुरुकुल में वास करना और (२) भावनापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करना[10] ।

१—तत्त्वा० ६.६ भाष्य

२—वही : राजवार्तिक ११-१४

३—वही : ६.६ भाष्य

४—(क) तत्त्वा० ६.६ भाष्य

(ख) वही : सर्वार्थसिद्धि

५—तत्त्वा० ६.६ भाष्य

६—वही : सर्वार्थसिद्धि

७—वही : राजवार्तिक १८

८—तत्त्वा० ६.६ भाष्य

६—वही : सर्वार्थसिद्धि

१०—वही : भाष्य

दस धर्मों का उल्लेख ठाणाङ्ग में भी है;—**दसविहे समणधम्मे प० तं. खंती मुत्ती अज्जवे मद्दवे लाघवे सच्चे संजमे तवे चिताते बंभचेरवासे** (ठा० १० १.७१२)। यहाँ 'शौच' और 'आकिञ्चन्य' के बदले 'मुक्ति' और 'लाघव' मिलता है।

दस धर्मों में उत्तम सत्य की परिभाषा सत्य बोलना की गयी है। यहाँ प्रवृत्ति को संयम कहा गया है। स्वामीजी के अनुसार शुभ योग संवर नहीं हो सकता। प्रवृत्तिपरक अन्य धर्मों के सम्बन्ध में भी यही बात समझ लेनी आवश्यक है।

४— **बारह अनुप्रेक्षा**। अनुप्रेक्षा भावना को कहते हैं। बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। बारह अनुप्रेक्षाओं का विवरण इस प्रकार है :

(१९) **अनित्य अनुप्रेक्षा** : शरीर आदि सर्व पदार्थ और संयोग अनित्य हैं—ऐसा पुनः पुनः चिन्तन।

(२०) **अशरण अनुप्रेक्षा** : जन्म, जरा, मरण, व्याधि आदि से ग्रस्त होने पर प्राणी का संसार में कोई भी शरण नहीं है—ऐसा पुनः पुनः चिन्तन।

(२१) **संसार अनुप्रेक्षा** : संसार अनादि है : उसमें पड़ा हुआ जीव नरकादि चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। इसमें जन्म,जरा, मरण आदि के दुःख ही दुःख हैं—ऐसा पुनः पुनः चिन्तन।

(२२) **एकत्व अनुप्रेक्षा** : इस संसार में मैं अकेला ही हूँ, यहाँ पर मेरा कोई स्वजन परजन नहीं। मैं अकेला ही उत्पन्न हुआ, अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होऊँगा। मैं जो कुछ करूँगा उसका फल मुझ अकेले को ही भोगना पड़ेगा। कर्मजन्य दुःख को बाँटने में दूसरा कोई समर्थ नहीं—ऐसा बार-बार चिन्तन।

(२३) **अन्यत्व अनुप्रेक्षा**—मैं शरीर आदि बाह्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न हूँ और शरीर आदि मुझ से भिन्न हैं। आत्मा अमर है और शरीर आदि नाशवान हैं—ऐसा पुनः पुनः चिन्तन।

(२४) **अशुचि अनुप्रेक्षा** : शरीर की अपवित्रता का बार-बार चिन्तन करना।

(२५) **आस्रव अनुप्रेक्षा** : मिथ्यात्व आदि आस्रव जीवों को अकल्याण से युक्त और कल्याण से वंचित करते हैं—ऐसा पुनः पुनः चिन्तन।

(२६) **संवर अनुप्रेक्षा**—संवर नए कर्मों के आदान को रोकता है। संवर की इस गुण-वत्ता का चिन्तन।

(२७) **निर्जरा अनुप्रेक्षा :** निर्जरा बंधे हुए कर्मों का परिशाटन करती है। निर्जरा की इस गुणवत्ता का पुनः पुनः चिन्तन।

(२८) **लोकानुप्रेक्षा :** स्थिति-उत्पत्ति-व्ययात्मक द्रव्यों से निष्पन्न, कटिस्थकर पुरुष की आकृतिवाले लोक के स्वरूप का पुनः पुनः चिन्तन।

(२६) **बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा :** सम्यक्‌दर्शन—विशुद्ध बोधि का बार-बार प्राप्त करना दुर्लभ है—ऐसा पुनः पुनः चिन्तन करना।

(३०) **धर्मस्याख्याततत्त्वानुप्रेक्षा :** परमर्षि भगवान अरहंतदेव ने जिसका व्याख्यान किया है वही एक ऐसा धर्म है जो जीव को इस संसार-समुद्र से पार उतारनेवाला और मोक्ष को प्राप्त करानेवाला है—ऐसा पुनः पुनः चिन्तन।

५—**बाईस परीषह**। मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए जिन्हें सहन करना योग्य है, उन्हें परीषह कहते हैं। बाईस परीषहों का विवरण इस प्रकार है :

(३१) **क्षुधा परीषह :** क्षुधा-सहन करना ; जैसे—क्षुधा से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी प्रासुक आहारी साधु फल आदि को न छेदे और न दूसरे से छिदवाए ; न स्वयं पकावे और न दूसरे से पकवाए। अकल्प्य आहार का सेवन न करे और धीर मन से संयम में विचरे।

(३२) **पिपासा परीषह :** तृषा-सहन करना ; जैसे—तृषा से अत्यन्त व्याकुल होने पर भी अकल्प्य सचित्त जल का सेवन न करे।

(३३) **शीत परीषह :** शीत-सहन करना ; जैसे—शीत-काल में वस्त्र और स्थान के अभाव में अग्नि-सेवन न करे।

(३४) **उष्ण परीषह :** ताप-सहन करना ; जैसे—ताप से तप्त होने पर भी स्नान की इच्छा न करे, शरीर पर जल न छिड़के, पंखे से हवा न ले।

(३५) **दंशमशक परीषह :** दंशमशकों के कष्ट को सहन करना ; जैसे—उनके द्वारा डँसे जाने पर भी उनको किसी तरह का त्रास न दे, उनके प्राणों का विघात न करे।

(३६) **नाग्न्य परीषह :** नग्नता को सहन करना ; जैसे—वस्त्र जीर्ण हो जाने पर साधु यह चिन्ता न करे कि वह अचेलक हो जाएगा अथवा यह न सोचे कि अच्छा हुआ वस्त्र जीर्ण हो गए और अब वह नए वस्त्र से सचेलक होगा। उत्तराध्ययन में इसे अचेलक परीषह कहा है।

(३७) **अरति परीषह :** कष्ट पड़ने पर संयम के प्रति अरुचि को उत्पन्न न होने देना।

(३८) **स्त्री परीषह :** स्त्री के लुभाने पर भी समभावपूर्वक रहना—मोहित न होना।

(३९) **चर्या परीषह :** ग्रामानुग्राम विचरने की मुनि-चर्या से विचलित न होना।

(४०) **नैषेधिकी परीषह :** स्वाध्याय के लिए किसी स्थान में रहते समय उपसर्ग होने पर उसे समभावपूर्वक सहन करना ; जैसे—दूसरे को त्रास न पहुँचाना और स्वयं शंका-भीत हो वहाँ से अन्य स्थान में न जाना।

(४१) **शय्या परीषह :** वास-स्थान अथवा शय्या न मिलने अथवा कष्टकारी मिलने पर समभाव रखना ; जैसे—उच्चावच शय्या के कारण स्वाध्याय आदि के समय का उल्लंघन न करना।

(४२) **आक्रोश परीषह :** दुष्ट वचनों के सम्मुख समभाव रखना ; जैसे—किसी के आक्रोश करने पर क्रोध न करना।

(४३) **वध परीषह :** वध-कष्ट उपस्थित होने पर समभाव रखना ; जैसे—किसी के पीटने पर भी मन में द्वेष न कर तितिक्षा-भाव रखना।

(४४) **याचना परीषह :** याचना करने की क्रिया से दुःख-बोध नहीं करना ; जैसे—यह न सोचना कि हाथ पसारने की अपेक्षा तो घर में ही रहना अच्छा।

(४५) **अलाभ परीषह :** आहारादि न मिलने अथवा अनुकूल न मिलने पर मन में कष्ट न होने देना।

(४६) **रोग परीषह :** रोग होने पर व्याकुल न होना।

(४७) **तृणस्पर्श परीषह :** तृण पर सोने से उत्पन्न वेदना से अविचलित रहना।

(४८) **जल्ल परीषह :** पसीने और मैल के कष्टों से न घबड़ाना।

(४९) **सत्कार-पुरस्कार परीषह :** किसी द्वारा सत्कारित किए जाने पर उत्कर्ष का अनुभव न करना। इसका लक्षण उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार दिया है—दूसरे के सत्कार-सम्मानादि को देखकर वैसे सत्कार-सम्मानादि की कामना न करना[१]।

(५०) **प्रज्ञा परीषह :** अपने में प्रज्ञा की कमी देख कर खेदखिन्न न होना।

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : अव० वृत्त्यादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरणम् : १८ : बहुलोकनरेश्वरादिकृतस्तुतिवंदनादेः चित्तोन्मादो न कार्यः, उत्कर्षो मनसि न कार्यः।

(५१) **अज्ञान परीषह :** अपने अज्ञान से खेदखिन्न न होना ; जैसे—मैंने व्यर्थ ही मैथुन आदि से निवृत्ति तथा इन्द्रियों के दमन का प्रयत्न किया, जो मुझे साक्षात् धर्म और पाप का ज्ञान नहीं ।

(५२) **अदर्शन परीषह :** जिनोपदिष्ट तत्त्वों में अश्रद्धा उत्पन्न न होने देना ; जैसे—परलोक नहीं है, जिन नहीं हुए अथवा संयम-ग्रहण कर मैं छला गया आदि नहीं सोचना ।

बाईस परीषहों का वर्णन उत्तराध्ययन (अ० २), समवायाङ्ग (सम० २२) और भगवती (८.८) में मिलता है । भगवती में 'अज्ञान-परीषह' के स्थान में 'ज्ञान-परीषह' का उल्लेख है ।

परीषह निर्जरा पदार्थ के अन्तर्गत आते हैं । स्वामीजी के अनुसार वे संवर के भेद नहीं हैं । वे षट् द्रव्यों में जीव और नव पदार्थों में जीव और निर्जरा के अन्तर्गत आते हैं[1] ।

६—पाँच चारित्र :

(५३) **सामायिक चारित्र :** सर्व सावद्य योगों का त्याग कर पाँच महाव्रतों को ग्रहण करना सामायिक चारित्र कहलाता है ।

(५४) **छेदोपस्थापनीय चारित्र :** दीक्षा लेने के बाद विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर चुकने पर पुनः महाव्रतों का ग्रहण करना अथवा प्रथम दीक्षा में दोष लगने से उसका छेद कर पुनः दीक्षा लेना छेदोपस्थापनीय चारित्र है । संक्षेप में सामायिक चारित्र के सदोष अथवा निर्दोष पर्याय का छेद कर पुनः महाव्रतों का ग्रहण करना छेदोपस्थापनीय चारित्र है ।

(५५) **परिहारविशुद्धि चारित्र :** जिसमें तप विशेष द्वारा आत्म-शुद्धि की जाती है, उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं । विशेष तपस्या से विशुद्ध होना इस चारित्र की विशेषता है ।

(५६) **सूक्ष्मसंपराय चारित्र :** जिस चारित्र में मात्र सूक्ष्मसंपराय—लोभ-कषाय का उदय होता है, उसे सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहते हैं ।

(५७) **यथाख्यात चारित्र :** जिस चारित्र में कषाय के सर्वथा उपशम अथवा क्षय होने से वीतराग भाव की प्राप्ति होती है, उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं ।

पाँचों चारित्र संवर हैं क्योंकि उनमें सर्व सावद्य व्यापार का प्रत्याख्यान रहता है । स्वामीजी ने भी पाँचों चारित्रों को संवर माना है ।

१—बावन बोल को थोकड़ो : बोल ५०

३—सम्यक्त्वादि बीस संवर एवं उनकी परिभाषाएँ (गा० १,२,५,१०,१३) :

नीचे सम्यक्त्व आदि बीस आस्रवों की परिभाषाएँ दी जा रही हैं। इनका आधार प्रस्तुत ढाल तो है ही साथ ही स्वामीजी की अन्य कृति 'टीकम डोसी की चर्चा' भी है। बीस संवरों की परिभाषाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं :

(१) सम्यक्त्व संवर (गा० १) :

यह मिथ्यात्व आस्रव का प्रतिपक्षी है। स्वामीजी ने इसकी परिभाषा देते हुए उसके दो अङ्ग बतलाए हैं : (क) नौ पदार्थों में यथातथ्य श्रद्धान और (ख) विपरीत श्रद्धा का त्याग।

(२) विरति संवर (गा० २) :

यह अविरति आस्रव का प्रतिपक्षी है। सावद्य कार्यों का तीन करण और तीन योग से जीवनपर्यन्त के लिए प्रत्याख्यान करना सर्व विरति संवर है। अंश-त्याग देश विरति संवर है।

(३) अप्रमाद संवर :

यह तीसरे प्रमाद आस्रव का प्रतिपक्षी है। प्रमाद का सेवन न करना अप्रमाद संवर है[1]। प्रमाद का अर्थ अनुत्साह है। आत्म-स्थित अनुत्साह का क्षय हो जाना अप्रमाद संवर है।

(४) अकषाय संवर :

यह कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी है। कषाय न करना अकषाय संवर है[2]। कषाय का अर्थ है—आत्म-प्रदेशों का क्रोध-मान-माया-लोभ से मलीन रहना। कषाय का क्षय हो जाना अकषाय संवर है।

(५) अयोग संवर (गा० ५,१२) :

यह योग आस्रव का प्रतिपक्षी है। योग दो तरह के होते हैं—सावद्य और निरवद्य। दोनों का सर्वतः निरोध योग संवर है। सावद्य योगों का आंशिक या सार्वत्रिक त्याग अयोग संवर नहीं। यह विरति संवर है। सावद्य-निरवद्य सर्व प्रवृत्तियों का निरोध अयोग संवर है।

१—टीकम डोसी की चर्चा :

प्रमाद न सेवे तेहिज अप्रमाद संवर।

२—टीकम डोसी की चर्चा :

कषाय न करे तेहिज अकषाय संवर।

(६) प्राणातिपात विरमण संवर (गा० १०) :

प्राणातिपात विरमण संवर प्राणातिपात आस्रव का प्रतिपक्षी है। हिंसा करने का त्याग करना अप्राणातिपात संवर है।

(७) मृषावाद विरमण संवर (गा० १०) :

यह मृषावाद आस्रव का प्रतिपक्षी है। झूठ बोलने का त्याग करना अमृषावाद संवर है।

(८) अदत्तादान विरमण संवर (गा० १०) :

यह अदत्तादान आस्रव का प्रतिपक्षी है। चोरी करने का त्याग करना अदत्तादान संवर है।

(९) मैथुन विरमण संवर (गा० १०):

यह मैथुन आस्रव का प्रतिपक्षी है। मैथुन-सेवन का त्याग करना अमैथुन संवर है।

(१०) परिग्रह विरमण संवर (गा० १०) :

यह परिग्रह आस्रव का प्रतिपक्षी है। परिग्रह और ममताभाव का त्याग अपरिग्रह संवर है।

(११) श्रोत्रेन्द्रिय संवर (गा० ११) :

यह श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। अच्छे-बुरे शब्दों में राग-द्वेष करना श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव है। प्रत्याख्यान द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय को वश में करना, शब्दों में राग-द्वेष न करना श्रोत्रेन्द्रिय संवर है।

(१२) चक्षुरिन्द्रिय संवर (गा० ११) :

यह चक्षुरिन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। प्रत्याख्यान द्वारा चक्षुरिन्द्रिय को वश में करना, अच्छे-बुरे रूपों में राग-द्वेष न करना चक्षुरिन्द्रिय संवर है।

(१३) घ्राणेन्द्रिय संवर (गा० ११) :

यह घ्राणेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। सुगंध-दुर्गन्ध में राग-द्वेष करना घ्राणेन्द्रिय आस्रव है। प्रत्याख्यान द्वारा घ्राणेन्द्रिय को वश में करना, गंधों में राग-द्वेष न करना घ्राणेन्द्रिय संवर है।

(१४) रसनेन्द्रिय संवर (गा० ११) :

यह रसनेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। सुस्वाद-कुस्वाद में राग-द्वेष करना रसने-

न्द्रिय आस्रव है। प्रत्याख्यान द्वारा रसनेन्द्रिय को वश में करना, स्वादों में राग-द्वेष न करना रसनेन्द्रिय संवर है।

(१५) स्पर्शनेन्द्रिय संवर (गा० ११) :

यह स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। भले-बुरे स्पर्शों में राग-द्वेष न करना स्पर्शनेन्द्रिय आस्रव है। प्रत्याख्यानपूर्वक स्पर्शनेन्द्रिय को वश में करना, स्पर्शों में राग-द्वेष न करना स्पर्शनेन्द्रिय संवर है।

(१६) मन संवर (गा० १२) :

यह मनयोग आस्रव का प्रतिपक्षी है। अच्छे-बुरे मनोयोगों का संपूर्ण निरोध मन संवर है।

(१७) वचन संवर (गा० १२) :

यह वचनयोग आस्रव का प्रतिपक्षी है। शुभाशुभ दोनों प्रकार के वचनों का सम्पूर्ण निरोध वचन संवर है।

(१८) काय संवर (गा० १२) :

यह काययोग आस्रव का प्रतिपक्षी है। शुभाशुभ दोनों प्रकार के कार्यों का सम्पूर्ण निरोध काय संवर है।

(१९) भंडोपकरण संवर (गा० १३) :

यह भंडोपकरण आस्रव का प्रतिपक्षी है। त्यागपूर्वक भंडोपकरणों का सेवन न करना भंडोपकरण संवर है। मुनि के लिए उनमें ममत्व न करना अथवा उनसे अयतना न करना संवर है।

(२०) सूची-कुशाग्र संवर (गा० १३) :

यह सूची-कुशाग्र आस्रव का प्रतिपक्षी है। त्यागपूर्वक सूची-कुशाग्र का सेवन न करना सूची-कुशाग्र संवर है। मुनि के लिए उनमें ममत्व न करना अथवा उनसे अयतना न करना संवर है।

टीकम डोसी ने स्वामीजी से चर्चा करते हुए कहा था—"संवर दो तरह के होते हैं—(१) निवर्तक और (२) प्रवर्तक। अप्रमाद में प्रवृत्ति, अकषाय में प्रवृत्ति, शुभ योगों में प्रवृत्ति, दया में प्रवृत्ति, सत्य में प्रवृत्ति, दत्तग्रहण में प्रवृत्ति, शील में प्रवृत्ति, अपरिग्रह में प्रवृत्ति, पाँचों इन्द्रियों की शुभ प्रवृत्ति, मन-वचन-काय की भली प्रवृत्ति आदि सब प्रवर्तक संवर हैं[1]।"

१—**टीकम डोसी की चर्चा।**

स्वामीजी का इससे मतभेद रहा। उन्होंने लिखा है—"संवर निरोध लक्षणात्मक है, वह प्रवर्तक नहीं हो सकता। कषायरहित प्रवृत्ति, प्रमादरहित प्रवृत्ति, शुभ योग, मन-वचन-काय की शुभ प्रवृत्ति, दया में प्रवृत्ति, सत्य में प्रवृत्ति, दत्तग्रहण में प्रवृत्ति, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में प्रवृत्ति, पाँचों इद्रियों की भली प्रवृत्ति आदि-आदि प्रवृत्तियाँ निर्जरा की करनी हैं। उनसे निर्जरा होती है, उनमें संवर का अंश भी नहीं। संवर तो उसी पदार्थ को कहा जाता है जो आते हुए नए कर्मों को रोकता है। आस्रव उस पदार्थ को कहते हैं जो नए कर्मों को ग्रहण करता है। निर्जरा उस पदार्थ को कहते हैं जो बंधे हुए कर्मों को तोड़ता है। इनके भिन्न-भिन्न लक्षणों से वस्तु का निर्णय करना चाहिए। संवर में शुभ प्रवृत्तियों का समावेश नहीं होता[1]।"

४—सम्यक्त्व आदि पाँच संवर और प्रत्याख्यान का सम्बन्ध (गा० ३-६) :

इन गाथाओं में स्वामीजी ने संवर कैसे उत्पन्न होते हैं, इसपर प्रकाश डालते हुए दो बातें कही हैं :

(१) सम्यक्त्व संवर और सर्व विरति संवर प्रत्याख्यान से निष्पन्न होते हैं।

(२) अप्रमाद, अकषाय और अयोग संवर कर्म-क्षय से निष्पन्न होते हैं।

नीचे इनका क्रमशः स्पष्टीकरण किया जा रहा है :

१ (क) **सम्यक्त्व संवर :** निर्ग्रन्थ प्रवचन में हड्डी और मज्जा की तरह प्रेमानुराग होना श्रद्धा है। जिनप्ररूपित तत्त्वों में शङ्कारहित, कांक्षारहित, विचिकित्सारहित श्रद्धा, रुचि प्रतीति को सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्त्व कहते हैं। निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, केवलज्ञानी द्वारा कहा हुआ है, प्रतिपूर्ण है, मोक्ष की ओर ले जानेवाला है, संशुद्ध है, शल्य का नाश करनेवाला है, सिद्धि-मार्ग है, मुक्ति-मार्ग है, निरूपम यानरूप है और निर्वाण का मार्ग है। यही सत्य है, यही परमार्थ है शेष सब अनर्थ हैं—ऐसी दृढ़ प्रतीति सम्यक्त्व है। ऐसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर भी सम्यक्त्व संवर नहीं होता। सम्यक्त्व संवर तब होता है जब मिथ्यात्व का त्याग किया जाता है। विपरीत श्रद्धान का त्याग ही सम्यक्त्व संवर है। इस तरह सम्यक्त्व संवर की निष्पत्ति त्याग—प्रत्याख्यान से होती है।

श्री जयाचार्य कहते हैं—"पहले गुणस्थान में बीस आस्रव होते हैं। दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व आस्रव नहीं होता, अवशेष उन्नीस होते हैं। तीसरे गुणस्थान में पुनः बीस और चौथे में पुनः उन्नीस आस्रव होते हैं। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व पुनः दूर होता है और सम्यक्त्व आता है। इधर संवर के बीस भेद पहले चार गुणस्थानों में नहीं होते। दूसरे और चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने पर भी सम्यक्त्व संवर नहीं होता। इसका कारण यही है कि चौथे गुणस्थान में प्रत्याख्यान नहीं होता और प्रत्याख्यान बिना संवर नहीं होता। यहाँ तर्क किया जाता है कि चौथा गुणस्थान सम्यक्त्व प्रधान है फिर सम्यक्त्व संवर कैसे नहीं होगा?

१—टीकम डोसी की चर्चा।

इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—सिद्धों में सम्यक्त्व होने पर भी सम्यक्त्व संवर क्यों नहीं है ? जैसे त्याग न होने से उनमें सम्यक्त्व संवर नहीं; वैसे ही दूसरे और चौथे गुण-स्थान में सम्यक्त्व होने पर भी त्याग के अभाव में सम्यक्त्व संवर नहीं होता[1] ।"

(ख) **सर्व विरति संवर :**

भगवान महावीर ने कहा है—"जो प्राणी असंयत, अविरत और अप्रतिहतप्रत्याख्यात पापकर्मा होता है, वह सक्रिय, असंवृत्त, एकान्तदण्ड देनेवाला, एकान्तबाल, एकान्तसुप्त होता है। ऐसा मनुष्य मन, वचन और काय से पाप करने का विचार भी न करे, वह पाप-पूर्ण स्वप्न भी न देखे तो भी वह पाप-कर्म करता है।

"जो आत्मा पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के प्राणियों के प्रति असंयत, अविरत और अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा होता है, वह सदा निष्ठुर और प्राणीघात में चित्त वाला होता है। इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् परिग्रह, क्रोध यावत् मिथ्यादर्शनशल्य में चित्तवाला होता है। वह पाप न भी करे, पापपूर्ण स्वप्न भी न देखे तो भी पाप-कर्म करनेवाला है क्योंकि ऐसा मनुष्य दिन में, रात में, सोते, जागते, सदा अमित्र होता है, मिथ्यासंस्थित होता है, नित्य शठ व्यवहारवाला और घात में चित्तवाला होता है। वह सर्व प्राणी; सर्व सत्त्व का रात और दिन, सोते और जागते सदा बैरी बना रहता है। वह अठारह पापों में विद्यमान रहता है। इसलिए मन, वचन और काय से पाप करने का न सोचे, पाप न करे यहाँ तक कि पापपूर्ण स्वप्न भी न देखें तो भी वह पाप करता है[2] ।"

अविरति भाव-शस्त्र है। जैसे बारूद, आग का संयोग मिलते ही, भड़क उठता है वैसे ही स्वच्छन्द इच्छाएँ संयोग मिलते ही पाप में प्रवृत्त हो जाती हैं। इच्छाओं को अनियंत्रित

१—झीणी चर्चा ढा० ६.

पहिलै गुणठाणे आश्रव बीस, दूजै भेद कह्या उगणीस ।
टलियो मिथ्यात्व तमीस रे ॥१॥
तीजै बीस चौथे उगणीस, यां पिण टलियो मिथ्यात तमीस ।
च्यार सम्यक्त सखर जगीस रे ॥२॥
हिवै संवर नां भेद बीस, पहिला च्यार गुणठाण न दीस ।
आवता कर्म नहीं रुकीस रे ॥२३॥
बीजै चौथे सम्यक्त पाय, पिण मिथ्यात त्यागा विन ताहि ।
संवर कहीजै नांहि रे ॥२४॥
कोई कहे चोथो गुणस्थान, सम्यक्त तो अधिक प्रधान ।
तो सम्यक्त संवर क्यूं नहीं जाण रे ॥३६॥
सिद्धा मांहि पिण सम्यक्त भावै, विण त्याग संवर नहीं थावै ।
तिम चौथे गुणठाणै न पावै रे ॥३७॥

२—सूयगडं २.४

—खुली रखने का अर्थ है—पदार्थों की आशा—उनको भोगने की पिपासा को बनाये रखना। पापपूर्ण कार्यों के करने की संभावना को जीवित रखना। इसीलिए अत्याग भाव—आशा-वाञ्छारूप अविरति को आस्रव कहा गया है।

एक बार शिष्य ने पूछा—"जीव क्या करता हुआ और क्या कराता हुआ संयत, विरत और प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा होता है ?" आचार्य ने उत्तर दिया—"भगवान ने पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक—इन छहों प्रकार के प्राणियों को कर्म-बंध का हेतु कहा है। जो यह सोच कर कि जैसे मुझे हिंसाजनित दुःख और भय होते हैं वैसे ही सब प्राणियों को होते हैं, प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह पापों से विरत होता है, वह सावद्य क्रिया-रहित, हिंसा-रहित, क्रोध-मान-माया-लोभ-रहित, उपशान्त और परिनिर्वृत्त होता है। ऐसा संयत, विरत और प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा आत्मा अक्रिय, संवृत्त और एकान्तपण्डित होता है[1]।"

इस वार्त्तालाप से स्पष्ट है कि अविरति आस्रव का निरोध विरति—पाप-प्रत्याख्यान से होता है। विरति संवर अठारह पापों के प्रत्याख्यान से निष्पन्न होता है।

श्री जयाचार्य ने कहा है—"पाँचवें गुणस्थान में सम्यक्त्व संवर होता है परन्तु सर्व व्रत न होने से, सर्व विरति की अपेक्षा से विरति संवर का अभाव कहा गया है। पाँचवें गुणस्थान में पाँचों चारित्र नहीं होते। देशचारित्र होता है जो उनसे भिन्न है। अतः विरति संवर नहीं कहा गया है। पाँचवें गुणस्थान में चारित्र आत्मा भी इसी कारण नहीं कही गई है। देशचारित्र की अपेक्षा से पाँचवें गुणस्थान में भी विरति संवर और चारित्र कहने में कोई दोष नहीं[2]।"

(२) अप्रमाद, अकषाय और अयोग संवर :

ठाणाङ्ग में अठारह पापों की विरति का उल्लेख है[3]। यह विरति छठे गुणस्थान

१—सुयगडं २.४

२—झीणी चर्चा ढा० ६ :

> पंचमें सम्यक्त संवर पाय, सर्व व्रती तणी अपेक्षाय।
> वरती संवर कहीजै नांहि रे ॥२५॥
> पंचमें पांचूं चारित्र नांहि, देश चारित्र जुदो कह्यो ताहि।
> तिण सूं वरती संवर न जणाय रे ॥२६॥
> पंचमें चारित्र आत्मा नांहि, चारित्र आत्मावाला ताहि।
> असंख्याता कह्या अर्थ रै मांहि रे ॥२७॥
> तिणसुं पंचमा गुणठाणा मांही वरती संवर कह्यो नहीं ताहि।
> सर्व व्रत चारित्र नी अपेक्षाय रे ॥२८॥
> देश चारित्र नी अपेक्षाय, वरती संवर ने चारित्र सुहाय।
> न्याय सूं कह्यो दोषण नांहि रे ॥२९॥

३—ठाणाङ्ग, ४८ :

में सम्पूर्ण हो जाती है। यह सर्व विरति गुणस्थान कहलाता है। इसके बाद सावद्य कार्यों की अविरति नहीं रहती। सावद्य कार्यों के सर्व त्याग—प्रत्याख्यान इस गुणस्थान में हो जाते हैं। सर्व सावद्य कर्मों के प्रत्याख्यान हो जाने पर भी आगे के गुणस्थानों में प्रमाद, कषाय और योग आस्रव देखे जाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्व सावद्य कार्यों के प्रत्याख्यान से भी ये नहीं मिटते और उस समय तक अवशेष रहते हैं जब तक सम्बन्धित कर्मों का क्षय या क्षयोपशम नहीं होता।

श्री जयाचार्य लिखते हैं—

"आठवें और नौवें गुणस्थान में शुभ लेश्या और शुभ योग हैं। सावद्य योगों का सर्वथा परिहार है फिर भी कषाय आस्रव है। सर्व सावद्य योगों के प्रत्याख्यान से भी कषाय आस्रव दूर नहीं हुआ। जब जीव ग्यारहवें गुणस्थान में क्रोध, मान, माया और लोभ का उपशम करता है तब उदय का कर्तव्य दूर होता है और कषाय संवर होता है। छठे गुण-स्थान में प्रमाद आस्रव होता है पर लेश्या और योग शुभ होते हैं। सावद्य योगों का प्रत्याख्यान होने पर भी प्रमाद आस्रव दूर नहीं हुआ। शुभ योगों की जब अधिक प्रबलता होती है तो सातवें गुणस्थान में अप्रमाद संवर होता है। छठे गुणस्थान तक निरन्तर प्रमाद आस्रव होता है और कषाय आस्रव निरन्तर दसवें गुणस्थान तक। सातवें गुणस्थान में अप्रमाद संवर होता है फिर प्रमाद का पाप नहीं बढ़ता। ग्यारहवें गुणस्थान में अकषाय संवर होता है और फिर कषाय के पाप नहीं लगते[1]।"

१—झीणी चर्चा ढा० २२ :

नवमे अष्टम गुणठाण छै जी, शुभ लेश्या शुभ जोग।
पिण क्रोधादिक स्यूं बिगड्या प्रदेश नें जी, कषाय आस्रव प्रयोग ॥ १४ ॥
क्रोध मान माया लोभ सर्वथा जी, उपशमाया इग्यारमें गुणठाण।
उदय नों किरतब मिट गयो जी, जब अकषाय संवर जाण ॥ २७ ॥
असंख्याता जीव रा प्रदेश में, अणउछापणो अधिकाय।
ते दीसै तीनूं जोगां स्यूं जुदोजी, प्रमाद आस्रव ताय ॥ ३० ॥
ते कर्म उदय बहु मिट गया जी, जबर आवै शुभ जोग।
तिण वेल्यां गुणठाणो सातमो जी, अतंर मुहूर्त प्रयोग ॥ ३१ ॥
छठे प्रमाद आस्रव थकां जी, लेश्या जोग शुभ आय।
अधिक शुभ जोग आया थकां जी, अप्रमादी सातमें थाय ॥ ३२ ॥
छठे प्रमाद आस्रव निरन्तरे, दशमा लग निरन्तर कषाय।
निरन्तर पाप लागे तेहने, तीनूं जोगां स्यूं जुदो कहाय ॥ ४५ ॥
जद आवै गुणठाणे सातमें, प्रमाद रो नहीं बधै पाप।
अकषाई हुवां स्यूं कषाय रा, नहीं लागे पाप संताप ॥ ४६ ॥

अयोग संवर के सम्बन्ध में श्री जयाचार्य लिखते हैं :

"छठे गुणस्थान में अठारह आस्रव होते हैं। मिथ्यात्व आस्रव और अविरति आस्रव नहीं होते। भगवती सूत्र में इस गुणस्थान में दो क्रियाएँ कही हैं—(१) माया-प्रत्यया क्रिया। यह कषाय है। (२) आरम्भ-प्रत्यया क्रिया। यह अशुभ योग है। सातवें गुणस्थान में भी पाँच आस्रव होते हैं—कषाय आस्रव, योग आस्रव, मन आस्रव, वचन आस्रव और काय आस्रव। इस गुणस्थान में माया-प्रत्यया क्रिया होती है। अशुभ योगरूप आरम्भिका क्रिया नहीं होती। आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में भी सातवें गुणस्थानवर्ती पाँचों आस्रव पाये जाते हैं। दो क्रियाएँ होती हैं—माया-प्रत्यया और साम्परायिकी। ग्यारहवें गुणस्थान में चार आस्रव होते हैं—शुभ योग, शुभ मन, शुभ वचन और शुभ काय। बारहवें-तेरहवें गुणस्थान में भी ये ही चार आस्रव होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में कोई आस्रव नहीं होता—अयोग संवर होता है[1]।"

इससे भी स्पष्ट है कि सर्व सावद्य योगों का प्रत्याख्यान छठे गुणस्थान में कर लेने पर भी योग आस्रव नहीं मिटता। वह तेरहवें गुणस्थान तक रहता है।

१—झीणी चर्चा ढा० ६ :

छठे आश्रव कह्या अठार, टलियो मिथ्यात अव्रत धार।
क्रिया दोय कही जगतार रे ॥ ४ ॥
मायावतिया कषाय नी तांहि, आरंभिया अशुभ जोग कहिवाय।
भगवती पहिला शतक मांहि रे ॥ ५ ॥
सातमां गुणठाणा मांहि, पंच आश्रव भेदज पाय।
कषाय जोग मन वच काय रे ॥ ६ ॥
मायावतिया क्रिया तिहां होय, आरंभिया अशुभ जोग न कोय।
ए पिण पाठ भगोती में जोय रे ॥ ७ ॥
अष्टम नवमां दशमां रैं मांहि, पंच आश्रव तेहिज पाय।
क्रिया मायावतिया संपराय रे ॥ ८ ॥
इग्यारमें है आश्रव च्यार, जोग मन वच काय उदार।
अशुभ आश्रव ना परिहार रे ॥ ९ ॥
बारमें तेरमें पिण च्यार, जोग मन वच काय उदार।
चवदमें नहीं आश्रव लिगार रे ॥ १० ॥

छट्ठे गुणस्थान में सर्व प्रत्याख्यान निष्पन्न सर्व विरति संवर होता है, पर अयोग संवर तेरहवें गुणस्थान तक नहीं होता। वह प्रत्याख्यान से नहीं; कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है। अतः चौदहवें गुणस्थान में होता है[1]।

स्वामीजी के सामने वाद आया—"योग को छोड़ कर बीस आस्रवों में से उन्नीस को जीव जब करना चाहे कर सकता है और वैसे ही जब छोड़ना चाहे छोड़ सकता है; यह अपने वश की बात है।" स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा है—"जो यह कहते हैं कि उन्नीस आस्रव जब इच्छा हो छोड़े जा सकते हैं—उनसे पूछना चाहिए कि साधु छठे गुणस्थान में प्रमाद आस्रव को क्यों नहीं छोड़ता, कषाय आस्रव को क्यों नहीं छोड़ता? माया-प्रत्यया, लोभ-प्रत्यया, मान-प्रत्यया और क्रोध-प्रत्यया क्रियाओं को क्यों नहीं छोड़ता? रागद्वेष-प्रत्यया क्रिया को क्यों नहीं छोड़ता? तीन वेद की क्रिया को क्यों नहीं छोड़ता? इसी तरह अनेक उदय के कर्तव्य हैं, जिनसे पाप लगते हैं, उन्हें क्यों नहीं छोड़ता? पुनः अठारह पाप-स्थानकों के क्षयोपशम से क्षयोपशम सम्यक्त्व और क्षयोपशम चारित्र आता है। इस तरह अठारह पाप-स्थानक क्षयोपशम चारित्र और सम्यक्त्व वाले के निरन्तर उदय में रहते हैं; जिससे उदय के कर्तव्य निरन्तर होते रहते हैं और निरन्तर पापकर्म लगते रहते हैं। यदि योग आस्रव को वर्जित कर अन्य उन्नीस आस्रव टालने से टल सकते हों तो जीव उन आस्रवों को क्यों नहीं टालता? मिथ्यात्व आस्रव, अविरति

१—झीणी चर्चा ढाल ६ :

छठे संवर कह्या दोय, सम्यक्त नें वरती संवर होय।
व्रती संवर चारित्र संजोय रे ॥ ३० ॥
सातमा गुणठाणां सोभावै पनरै भेद संवर ना पावै।
अशुभ जोग तिहां नहीं आवै रे ॥ ३१ ॥
अकषाय अजोग छहाय, वले वश करै मन वच काय।
ए पांचूं संवर पावै नाहिं रे ॥ ३२ ॥
आठमें नवमें दशमें मंत, पनरै भेद हैं तंत।
पूर्व कह्या ते पांचुं टलंत रे ॥ ३३ ॥
ग्यारमें सौले अजोग नाहिं, बले बश करै मन वच काय।
ए च्यारूँ संवर नहीं पाय रे ॥ ३४ ॥
बारमें तेर में चवदमें सोल, चउदमें बीसूं बोल अडोल।
सिद्धा मांही नहीं बीस बोल रे ॥ ३५ ॥

आस्रव (जो प्रत्याख्यान से उत्पन्न होते हैं) भी कर्म के घटने से घटते हैं। कर्म घटे बिना ये भी घटाये नहीं जा सकते फिर प्रमाद आस्रव, कषाय आस्रव और योग आस्रव की तो बात ही क्या[1] ?"

इससे स्पष्ट है कि अप्रमाद संवर, अकषाय संवर और अयोग संवर की उत्पत्ति प्रत्याख्यान से नहीं होती; अपितु कर्मों के क्षय और क्षयोपशम से होती है।

५—अन्तिम पंद्रह संवर विरति संवर के भेद क्यों ?(गा० १०-१५) :

टिप्पणी क्रमाङ्क तीन में बीस संवरों का विवेचन है। स्वामीजी यहाँ कहते हैं—"बीस संवरों में प्रथम पाँच—सम्यक्त्व संवर, विरति संवर, अप्रमाद संवर, अकषाय संवर और योग संवर—ही प्रधान हैं। प्राणातिपात संवर से लेकर सूची-कुशाग्र संवर तक का समावेश विरति संवर में होता है। ये विरति संवर के भेद हैं। इन पंद्रह भेदों में प्रत्याख्यान—त्याग की अपेक्षा रहती है।

प्राणातिपात से लेकर सूची-कुशाग्र-सेवन तक पंद्रह आस्रव योगास्रव हैं। इन अशुभ योगास्रवों के प्रत्याख्यान से विरति संवर होता है। मन-वचन-काय के शुभ योग अवशेष रहते हैं। उनका सर्वथा निरोध होने पर अयोग संवर होता है।

यहाँ प्रश्न उठता है—प्राणातिपात आदि पन्द्रह आस्रव योगास्रव के भेद हैं तो फिर प्राणातिपात विरमण आदि पंद्रह संवर अयोग संवर के भेद न होकर विरति संवर के भेद क्यों ?

इसका उत्तर यह है—अविरति आस्रव के आधार प्राणातिपातादि अठारह पाप हैं। पंद्रह आस्रव इन्हीं पापों में समाविष्ट हैं। पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग न होना ही अविरति आस्रव है।

उधर पंद्रह आस्रव प्रवृत्तिरूप हैं। मन-वचन-काय-योग की असत् प्रवृत्ति से ही प्राणातिपात आदि किये जाते हैं। प्रवृत्ति योग आस्रव का लक्षण है अतएव पंद्रह आस्रव योगास्रव में समाविष्ट हो जाते हैं।

इन पंद्रह आस्रवों का प्रत्याख्यान करने से अत्याग-भावनारूप अविरति आस्रव का निरोध होता है, विरति संवर होता है, क्योंकि पापकारी वृत्तियाँ ही अविरति आस्रव हैं और उनका प्रत्याख्यान ही विरति संवर है।

अब प्रश्न यह रहा कि इनके प्रत्याख्यान से अयोग संवर क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि यौगिक प्रवृत्ति दो प्रकार की है—शुभ और अशुभ। अयोग संवर

१—टीकम डोसी की चर्चा

इन दोनों के सर्वथा निरोध से होता है। अशुभ प्रवृत्तियों का आंशिक प्रत्याख्यान पाँचवें गुणस्थान में और पूर्ण प्रत्याख्यान छठे गुणस्थान में हो जाता है; लेकिन शुभ प्रवृत्ति तो तेरहवें गुणस्थान तक चालू रहती है। उसका पूर्णरूपेण निरोध तो मुक्त होने की पार्श्ववर्ती दशा में—चौदहवें गुणस्थान में होता है। अतः प्राणातिपात आदि सावद्य प्रवृत्तियों के प्रत्याख्यान से विरति संवर होता है। योग पर उसका असर सिर्फ इतना ही होता है कि शुभ और अशुभ कार्य-क्षेत्रों में दौड़नेवाली योगरूप अस्थिरता—चञ्चलता अशुभ कार्य-क्षेत्र से दूर हो शुभ कार्य-क्षेत्र में सीमित हो आती है, पर उसकी प्रवृत्ति रुकती नहीं। अतः सावद्य प्रवृत्ति को त्यागने से अयोग संवर नहीं होता[1]।

श्री हेमचन्द्रसूरि लिखते हैं—"**सावद्ययोगहानेन, विरतिं चापि साधयेत्**[2]।" सावद्य योग के त्याग से विरति की सिद्धि करो। इससे भी स्वामीजी ने जो कहा है वह समर्थित होता है। विरति संवर की उत्पत्ति सावद्य योगों के त्याग से होती है।

६—अप्रमादादि संवर और शंका-समाधान(गा० १६-१७) :

स्वामीजी ने गाथा ७ से ९ में यह कहा है कि अप्रमाद, अकषाय और अयोग संवर त्याग—प्रत्याख्यान से नहीं होते। यहाँ प्रश्न उठाया जाता है—

"आगम में कहा है—'प्रत्याख्यान से इच्छानिरोध होता है—प्राणी आस्रव को निरुद्ध करता है[3]'। इसी तरह कहा है—'प्रत्याख्यान का फल संयम है और संयम का फल आस्रव-निरोध[4]।' प्रत्याख्यान से आस्रव का निरोध स्पष्ट कहा है अतः प्रमाद-प्रत्याख्यान कषाय-प्रत्याख्यान और योग-प्रत्याख्यान से भी वे वे संवर सिद्ध होते हैं।

१—जीव-अजीव पृ० १६४-१६५

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : श्री हेमचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् : गा० १६

३—उत्त० २९. १३ :

पच्चक्खाणेणं भन्ते जीवे किं जणयइ ॥ प० आसवदाराइं निरुम्भइ। पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ।

४—भगवती २.५ :

से णं भंते ! पच्चक्खाणे किं फले ? संजमफले। से णं भंते ! संजमे किं फले ? अणण्हयफले।

"आगम में कषाय-प्रत्याख्यान और योग-प्रत्याख्यान का उल्लेख भी स्पष्ट रूप से प्राप्त है। यदि कषाय और योग के प्रत्याख्यान से अकषाय और अयोग संवर नहीं होते तो कषाय-प्रत्याख्यान और योग-प्रत्याख्यान का उल्लेख ही क्यों आता ? उत्तराध्ययन में निम्नोक्त दो प्रश्नोत्तर प्राप्त हैं :

(१) 'हे भन्ते ! कषाय-प्रत्याख्यान से जीव को क्या होता है ?' 'कषाय-प्रत्याख्यान से जीव वीतराग भाव का उपार्जन करता है, जिससे जीव सुख-दुःख में समभाववाला होता है[1] ।'

(२) 'हे भगवन् ! योग-प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?' 'योग-प्रत्याख्यान से जीव अयोगीत्व प्राप्त करता है। अयोगी जीव नए कर्मों का बन्ध नहीं करता और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा करता है[2] ।'

"इन प्रश्नोत्तरों से भी स्पष्ट है कि अकषाय और अयोग संवर भी प्रत्याख्यान से होते हैं। अप्रमाद संवर के विषय में भी यही बात लागू पड़ती है।"

इस प्रश्न का समाधान करते हुए स्वामीजी कहते हैं—"आगम में उपर्युक्त प्रत्याख्यान के साथ ही शरीर-प्रत्याख्यान का भी उल्लेख है[3]। पर जैसे शरीर का प्रत्याख्यान करने पर भी शरीर छूटता नहीं; वैसे ही प्रमाद, कषाय आर शुभ योगों का प्रत्याख्यान करने पर भी उनसे छुटकारा नहीं होता। शरीर-प्रत्याख्यान का अर्थ है शरीर के ममत्व का त्याग। वैसे ही कषाय-प्रत्याख्यान और योग-प्रत्याख्यान का अर्थ है कषाय और योग के ममत्व का त्याग। जिस तरह शरीर-प्रत्याख्यान से शरीर-मुक्ति नहीं होती; वैसे ही कषाय-प्रत्याख्यान और योग-प्रत्याख्यान से कषाय-आस्रव और योगास्रव से मुक्ति नहीं होती। उनसे अकषाय संवर अथवा अयोग संवर नहीं होते। अप्रमाद, कषाय और अयोग संवर तो तत्सम्बन्धी कर्मों के क्षय और उपशम से ही होते हैं[4]।"

१—उत्त० २९. ३६ :

कसायपच्चक्खाणेणं भन्ते जीवे किं जणयइ॥ क० वीयरागभावं जणयइ। वीयराग भावपाडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ॥

२—उत्त० २९. ३७ :

जोगपच्चक्खाणेणं भन्ते जीवे किं जणयइ॥ जो० अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं निज्जरेइ॥

३—उत्त० २९. ३८ :

सरीरपच्चक्खाणेणं भन्ते जीवे किं जणयइ॥ स० सिद्धाइसयगुणकित्तणं निव्वत्तेइ। सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ॥

४—टीकम डोसी की चर्चा

७—पाँच चारित्र और पाँच निर्ग्रन्थ संवर हैं (गा० १८) :

स्वामीजी यहाँ दो बातें कहते हैं :

१—पाँचों चारित्र संवर हैं।

२—पाँचों निर्ग्रन्थ-स्थान संवरयुक्त हैं।

नीचे इनपर क्रमशः प्रकाश डाला जाता है :

१ पाँचों चारित्र संवर हैं :

पाँच चारित्रों का वर्णन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ० ५२३)। इन पाँच चारित्रों को आगम में पाँच संयम कहा है[1]। जो इन संयमों से युक्त होते हैं उन्हें संयत कहा गया है। भगवती में संयतों के विषय में निम्न वर्णन मिलता है :

"संयत पाँच प्रकार के हैं : (१) सामायिक संयत, (२) छेदोपस्थापनीय संयत, (३) परिहारविशुद्धिक संयत, (४) सूक्ष्मसंपराय संयत और (५) यथाख्यात संयत।

"जो सर्व सावद्य योगों का त्याग कर चार महाव्रतरूप अनुत्तर धर्म का त्रिविध से अच्छी तरह पालन करता है, वह 'सामायिक संयत' है।

"जो पूर्व दीक्षा-पर्याय का छेद कर अपनी आत्मा को पुनः पाँच महाव्रतरूप धर्म में उपस्थापित करता है, वह 'छेदोपस्थापनीय संयत' है।

"जो पाँच महाव्रतरूप अनुत्तर धर्म का त्रिविध रूप से अच्छी तरह पालन करता हुआ परिहार-तप से विशुद्धि करता है, वह 'परिहारविशुद्धिक संयत' है।

"जो लोभ के अणुओं का वेदन करता हुआ चारित्रमोह का उपशमन अथवा क्षय करता है, वह 'सूक्ष्मसंपराय संयत' है।

"मोहनीयकर्म के उपशम या क्षय होने पर जो छद्मस्थ अथवा जिन होते हैं, उन्हें 'यथाख्यात संयत' कहते हैं[2]।"

स्वामीजी कहते हैं इन संयतों के जो सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-संपराय और यथाख्यात चारित्र या संयम हैं, वे संवर हैं।

१—ठाणाङ्ग ५.२.४२७ :

पंचविधे संजमे पं. तं. सामातितसंजमे छेदोवट्ठावणियसंजमे परिहारविसुद्धित-संजमे सुहुमसंपरागसंजमे अहक्खायचरित्तसंजमे

२—भगवती २५.७ :

(२) पाँच निर्ग्रन्थ संवरयुक्त हैं।

भगवती में निर्ग्रन्थों का वर्णन इस प्रकार मिलता है :

"निर्ग्रन्थ पाँच प्रकार के हैं—(१) पुलाक, (२) बकुश, (३) कुशील, (४) निर्ग्रन्थ और (५) स्नातक[१]।"

जो साधु संयमी होने तथा वीतराग-प्रणीत आगम से चलित न होने पर भी मूल उत्तरगुण में दोष लगाने से संयम को पुलाक—निस्सार धान के कण की तरह कुछ निस्सार करता है अथवा उसमें परिपूर्णता नहीं प्राप्त करता, उसे 'पुलाक निर्ग्रन्थ' कहते हैं।

जो साधु उत्तरगुण में दोष लगाता है, शरीर और उपकरणों को सुशोभित रखने की चेष्टा में प्रयत्नशील होता है, ऋद्धि और कीर्ति का इच्छुक होता है तथा अतिचारयुक्त होता है, उसे 'बकुश निर्ग्रन्थ' कहते हैं।

जिसका शील उत्तरगुण में दोष लगने से अथवा संज्वलन कषाय से कुत्सित हुआ हो, उसे 'कुशील निर्ग्रन्थ' कहते हैं।

जिसके कषाय क्षय को प्राप्त हो गए हों, वैसे—क्षीणकषाय अथवा जिसका मोह शान्त हो गया हो वैसे उपशान्तमोह मुनि को 'निर्ग्रन्थ' कहते हैं।

जो समस्त घाती कर्मों का प्रक्षालन कर स्नात—शुद्ध हो गया हो और जो सयोगी अथवा अयोगी केवली हो, उसे 'स्नातक निर्ग्रन्थ' कहते हैं।

स्वामीजी कहते हैं—पाँचों ही प्रकार के निर्ग्रन्थ सर्वविरति चारित्र में अवस्थित हैं। चारित्र मोहनीयकर्म की क्षयोपशमादि जन्य विशेषता के कारण निर्ग्रन्थों के पुलाक आदि पाँच भेद हैं। पाँचों निर्ग्रन्थों में संयम है। सब संवरयुक्त हैं।

श्री जयाचार्य कहते हैं : "छह निर्ग्रन्थ छठे से चौदहवें गुणस्थानों में से भिन्न-भिन्न गुणस्थान में होते हैं। यदि कोई साधु नई दीक्षा आए वैसे दोष का सेवन करता है अथवा दोष की स्थापना करता है तभी छठा गुणस्थान लुप्त होता है। मासिक अथवा चौमासिक दण्ड से छठा गुणस्थान नहीं जाता। वह तो विपरीत श्रद्धा और स्थापना से तथा बड़े दोष के सेवन से जाता है[१]।"

१—झीणी चर्चा ढाल २१ :

भगवती शतक पचीस में रे, छठे उदैसे जोय रे।
छै नेठा कह्या जुवा २ रे भाई २, छठा स्युं चवदमें जोय ॥३॥
नूंइ दिख्या आवै जीसो रे, दोषण सेवै कोय रे।
अथवा थाप करै दोषनी रे भाई २, फिरै छठो गुणठांणो सोय ॥२०॥
मासी चउमासी डड थकी रे, छठो गुणठाणो नहीं फिरै कोय रे।
फिरै उंधी श्रद्धा तथा थाप थी रे भाई २, तथा जबर दोष थी जोय ॥२२॥

एक बार गौतम के प्रश्न पर भगवान महावीर ने उत्तर में कहा था—"पुलाक निर्ग्रन्थ सामायिक संयम और छेदोपस्थापनीय संयम में होता है, पर परिहारविशुद्धिक और सूक्ष्मसंपराय अथवा यथाख्यात संयम में नहीं होता। यही बात बकुश निर्ग्रन्थ और प्रतिसेवनाकुशील निर्ग्रन्थ के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ सामायिक संयम यावत् सूक्ष्मसम्पराय संयम में होता है, पर यथाख्यात संयम में नहीं होता। निर्ग्रन्थ सामायिक यावत् सूक्ष्मसम्पराय संयम में नहीं होता, पर यथाख्यात संयम में होता है। स्नातक के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए[1]।"

इस वार्त्ता से स्पष्ट है कि पाँचों ही निर्ग्रन्थ संवृतात्मा होते हैं—संवरयुक्त होते हैं।

८—सामायिक चारित्र (गा० १६-२०)

सपंक जल को साफ करने के लिए जब उसके साथ कतक (फिटकरी) आदि द्रव्यों का सम्बन्ध किया जाता है तब एक अवस्था ऐसी होती है कि जिसमें पंक का कुछ भाग नीचे बैठ जाता है और कुछ भाग जल में ही मिला रहता है। उसी तरह जीव के साथ बंधे हुए चार घनघाती कर्मों की एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें कुछ कर्मांशों का क्षय और कुछ कर्मांशों का उपशम होता है। इस अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं[2]। कर्मों के क्षयोपशम से जीव में जो भाव निष्पन्न होते हैं, उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

आठ कर्मों में मोहनीयकर्म का स्वभाव विकार पैदा करने का है। मिथ्यात्व दर्शन-मोहनीयकर्म के और अविरति (असंयम) चारित्र-मोहनीयकर्म के उदय से निष्पन्न भाव हैं[3]। जब दर्शन और चारित्र-मोहनीयकर्म का क्षयोपशम होता है तब क्रमशः सम्यक्त्व और चारित्र उत्पन्न होते हैं। चारित्र-मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न चारित्र को क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं। सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धिक और

१—भगवती २५.६

२—तत्त्वा० २.१ सर्वार्थसिद्धि :

उभयात्मको मिश्रः। यथा तस्मिन्नेवाम्भसि कतकादिद्रव्यसम्बन्धात्पङ्कस्य क्षीणाक्षीणवृत्तिः

३—झीणी चर्चा ढा० १६.४ :

तीन माठी लेश्या ने च्यार कषाय नें रे, तीन वेद मिथ्याती नें अव्रत रे।
ए बारै बोलां नें सावज जांणज्यो रे, मोह उदा स्यूं याँ रो प्रवत रे॥

सूक्ष्मसंपराय—ये चार चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव हैं अतः क्षायोपशमिक हैं[1]।

स्वामीजी ने गा० १६-२० में सामायिक चारित्र की उत्पत्ति का क्रम बड़े सुन्दर ढंग से उपस्थित किया है। संक्षेप में वह इस प्रकार है :

१—चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से वैराग्य उत्पन्न होता है।

२—वैराग्योत्पत्ति से जीव काम-भोगों से विरक्त होता है।

३—काम-भोगों से विरक्त होने पर वह सावद्य कार्यों का त्याग—प्रत्याख्यान कर देता है।

४—सर्व सावद्य कार्यों के सर्वथा त्याग से सर्व विरति संवर होता है। यही सामायिक चारित्र है। सामायिक चारित्र में सर्व सावद्य योगों का त्याग होने से सर्वविरत साधु के अविरति के पाप सर्वथा नहीं लगते। सामायिक चारित्र एकान्त गुणमय होता है।

६—औपशमिक चारित्र (गा० २१-२३) :

सर्व सावद्य योगों का त्याग कर सामायिक चारित्र ग्रहण कर लेने पर अविरति आस्रव का सर्वथा अभाव हो जाता है। पर मोहकर्म का उदय नहीं मिटता। अविरति के कर्म नहीं लगने पर भी मोहकर्म के उदय से सामायिक चारित्रवालों द्वारा भी ऐसे कर्तव्य हो जाते हैं जिनसे उनके भी पाप कर्म लगते रहते हैं। शुभ ध्यान और शुभ लेश्या से मोहकर्म का उदय घटता है तब उदयजनित सावद्य कर्तव्य भी कम हो जाते हैं। वैसी हालत में उदय के कर्तव्यों के पाप भी कम लगते हैं। इस तरह मोहकर्म का उदय कम होते २ उसका सम्पूर्ण उपशम हो जाता है तब औपशमिक चारित्र उत्पन्न होता है। इसी कारण कहा है--सम्यक्त्व और चारित्र—ये दो औपशमिक भाव हैं[2]। मोहकर्म के उपशम से जीव निर्मल तथा शीतल हो जाता है और उसके पापकर्म नहीं लगते।

१—झीणी चर्चा १६.१६ :

मोह कर्म क्षयोपशम थकी लहै रे, देशवरत चिहूं चारित्र देख रे।
ए पाँचूंई निरवद्य करणी लेखै कह्या रे, त्रिदृष्टी उज्वल निरवद्य लेख रे॥

२—(क) तत्त्वा० २.३ भाष्य :

सम्यक्त्वं चारित्रं च द्वावौपशमिकौ भावौ भवत इति।

(ख) झीणी चर्चा १६.१० :

उपशम मोहकर्म पुद्‌गल छ रे, उपशम निपन्न जीव पवित्र रे।
उपशम निपन्न रा दोय भेद छै, उपशम समकित उपशम चारित्र रे॥

जैसे जल को स्वच्छ करने की प्रक्रिया में कतक (फिटकरी) आदि द्रव्यों के सम्बन्ध से जल में पंक नीचे बैठ जाता है और जल गँदला नहीं रहता उसी प्रकार जीव के बंधे हुए कर्म भी निमित्त पाकर उपशमित हो जाते हैं। कर्म की स्वशक्ति का किसी कारण से प्रकट न होना उपशम कहलाता है[1]। कर्मों के उपशम से जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं। औपशमिक चारित्र समस्त मोहनीयकर्म के उपशम से उत्पन्न होता है[2]। अतः अपने इस निमित्त के अनुसार औपशमिक चारित्र कहलाता है।

यथाख्यात चारित्र औपशमिक चारित्र है।

१०—यथाख्यात चारित्र (गा०२४) :

सपंक जल को कतक आदि से स्वच्छ करने की प्रक्रिया में एक स्थिति ऐसी आती है जब सारा पंक नीचे बैठ जाता है। अब यदि निर्मल जल को दूसरे बर्तन में ढाल लिया जाय तो उसमें पंक की सत्ता भी नहीं पाई जाती। इसी प्रकार जब जीव बंधे हुए कर्मों का सर्वथा क्षय कर देता है तब क्षायिक अवस्था उत्पन्न होती है[3]। क्षायिक अवस्था से जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें क्षायिकभाव कहते हैं।

जो यथाख्यात चारित्र चारित्र-मोहनीयकर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है, वह क्षायिक चारित्र कहलाता है[4]।

औपशमिक और क्षायिक चारित्र की निर्मलता में अन्तर नहीं होता पर औपशमिक चारित्र में मोहनीयकर्म की सत्ता रहती है; भले ही उसका प्रभाव न रहे। क्षायिक

१—तत्त्वा० २.१ सर्वार्थसिद्धि :

आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः। यथा कतकादिद्रव्य-सम्बन्धादम्भसि पङ्कस्य उपशमः

२—तत्त्वा० २.३ सर्वार्थसिद्धि :

कृत्स्नस्य मोहनीयस्योपशमादौपशमिकं चारित्रम्

३—तत्त्वा० २.१ सर्वार्थसिद्धि :

क्षय आत्यन्तिकी निवृत्तिः। यथा तस्मिन्नेवाम्भसि शुचिभाजनान्तरसंक्रान्ते पङ्कस्यात्यन्ताभावः

४—झीणी चर्चा १९.१३ :

मोहणी क्षय थी क्षायक सम्यक्त लहै रे, शुद्ध सरधा ते निरवद्य उज्वल लेख रे।
क्षायक चारित्र दूजो गुण वली रे, करणी लेखै निरवद्य संपेख रे॥

चारित्र में उस की सत्ता भी नहीं रहती। औपशमिक चारित्र की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है जब कि क्षायिक चारित्र की उत्कृष्ट स्थिति देशन्यून करोड़ पूर्वों की और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

यथाख्यात चारित्र औपशमिक और क्षायिक दोनों प्रकार का होता है।

११—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक चारित्रों की तुलना (गा० २५-२७) :

सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, परिहारविशुद्धिक चारित्र और सूक्ष्म-संपराय चारित्र—ये क्षायोपशमिक चारित्र हैं और यथाख्यात चारित्र औपशमिक तथा क्षायिक।

सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र और परिहारविशुद्धिक चारित्र इच्छाकृत होते हैं। उनमें से प्रथम दो में सर्व सावद्य योगों का त्याग किया जाता है। तीसरे में विशिष्ट तप किया जाता है। सूक्ष्मसंपराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र इच्छाकृत नहीं होते, न उनमें सावद्य योगों के त्याग ही करने पड़ते हैं। वे आत्मिक निर्मलता की स्वाभाविक स्थितिस्वरूप है। यथाख्यात चारित्र मोहनीयकर्म के उपशम अथवा क्षय से उत्पन्न होता है। सामायिक आदि चार चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव हैं। ये उपशम अथवा क्षायिक भाव नहीं।

सामायिक चारित्र छठे से नवें गुणस्थान में, औपशमिक यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें गुणस्थान में और क्षायिक यथाख्यात चारित्र बारहवें, तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में होता है[१]।

१२—सर्वविरति चारित्र एवं यथाख्यात चारित्र की उत्पत्ति (गा० २८-३२) :

स्वामीजी ने चारित्र को जीव का स्वाभाविक गुण कहा है उसका आधार आगम की निम्न गाथा है :

१—झीणी चर्चा १२.७-८

चारित्र मोह नों उदै कहीजे, पहला सूं ले दशमां लग जांण।
चारित्र मोह रो सर्वथा उपशम छे० एक एकादश में गुणठाण॥
चारित्र मोह तणो क्षायक कहीजै, बारमें तेरमें चवदमें होय।
चारित्र मोह तणो क्षयोपशम, पहला सूं ले दशमां लग जोय॥

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं[1] ॥

चारित्र जीव का स्वाभाविक गुण है अतः वह जीव से पृथक् नहीं किया जा सकता। पर वह चारित्रावरणीय कर्म के प्रभाव से ढक जाता है। जब मोहनीयकर्म घटता है तब चारित्र गुण प्रकट होता है और मनुष्य सामायिक चारित्र ग्रहण कर गुण-सम्पन्न होता है। चारित्रावरणीय कर्म मोहनीयकर्म का ही एक भेद है। उसके अनन्त प्रदेश होते हैं। उसके उदय से जीव के स्वाभाविक गुण बिकृत हो जाते हैं और इससे जीव को अनेक तरह के क्लेश प्राप्त होते हैं। जब चारित्रावरणीय कर्म के अनन्त प्रदेश अलग होते हैं तो जीव अनन्तगुना उज्ज्वल हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह सावद्य योग का सर्वथा त्याग—प्रत्याख्यान करता है। यही सर्वविरति संवर है।

मोहनीयकर्म के प्रदेशों के दूर होने से दो बातें होती हैं—(१) जीव के प्रदेशों से कर्म झड़ते हैं—वह उज्ज्वल होता है। यह निर्जरा है। (२) सर्वविरति संवर होता है। नये कर्म नहीं बंधते।

सर्वविरति संवर की विशेषता यह है कि उसके द्वारा सावद्य योगों की अविरति का सम्पूर्ण अवरोध हो जाने से नये कर्मों का आना रुक जाता है।

मोहनीयकर्म क्षीण होते-होते अन्त में सम्पूर्ण क्षय को प्राप्त होता है अब जीव अत्यन्त स्वच्छ होता है और उसे यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती है। यथाख्यात चारित्र मोहनीयकर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न भाव है और सर्वोत्कृष्ट उज्ज्वल चारित्र है।

१३—संयम-स्थान और चारित्र-पर्यव (गा० ३३-४३) :

संयम (चारित्र) की शुद्धि-अशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा से उसके अनेक भेद होते हैं। चारित्र मोहनीयकर्म का क्षयोपशम एक-सा नहीं होता। वह विविध मात्राओं में होता है। और इसी कारण संयम अथवा चारित्र के असंख्यात पर्यव-भेद अथवा स्थानक होते हैं। स्वामीजी ने संयतों के संयम-स्थान और चारित्र-पर्यवों के विषय में जो प्रकाश गा० ३३-४३ में डाला है उसका आधार भगवती सूत्र है।

पाँच संयतों के संयम-स्थानों के विषय में उस सूत्र में निम्नलिखित वार्त्तालाप है :

"हे भगवन् ! सामायिक संयत के कितने संयम-स्थान कहे गए हैं ?"

१—उत्त० २८.११

"हे गौतम ! असंख्य संयम-स्थान कहे गए हैं। इसी प्रमाण यावत् परिहारविशुद्धिक-संयत तक जानने चाहिए।"

"हे भगवन् ! सूक्ष्मसंपराय संयत के कितने संयम-स्थान कहे गए हैं ?"

"हे गौतम ! उसके अन्तर्मुहूर्त वाले असंख्य संयम-स्थान कहे गए हैं"

"हे भगवन् ! यथाख्यात संयत के कितने संयम-स्थान कहे गए हैं ?"

"हे गौतम ! उसका अजघन्य और अनुत्कृष्ट एक संयम-स्थान कहा गया है।"

"हे भगवन् ! सामायिक संयत, छेदोपस्थापनीय संयत, परिहारविशुद्धिक संयत, सूक्ष्मसंपराय संयत और यथाख्यात संयत—इनके संयम-स्थानों में किसके संयम-स्थान किस से विशेषाधिक हैं ?"

"हे गौतम ! यथाख्यात संयत का अजघन्य और अनुत्कृष्ट एक संयम-स्थान होने से सबसे अल्प है। उससे सूक्ष्मसंपराय संयत के अन्तर्मुहूर्त तक रहनेवाले संयम-स्थान असंख्यगुना हैं। उससे परिहारविशुद्धिक के संयम-स्थान असंख्यगुना हैं। उससे सामायिक संयत और छेदोपस्थापनीय संयत के संयम-स्थान असंख्यगुना हैं और परस्पर समान हैं[1]।"

चारित्र-पर्यवों के विषय में निम्नलिखित संवाद मिलता है :

"हे भगवन् ! सामायिक संयत के कितने चारित्र-पर्यव कहे गये हैं ?"

"हे गौतम ! उसके अनन्त चारित्र-पर्यव कहे गये हैं। इसी प्रकार यथाख्यात संयत तक जानना चाहिए।"

"हे भगवन् ! सामायिक संयत दूसरे सामायिक संयत के सजातीय चारित्रपर्यवों की अपेक्षा हीन होता है, तुल्य होता है या अधिक होता है ?"

"हे गौतम ! कदाचित् हीन होता है, कदाचित् तुल्य होता है और कदाचित् अधिक। और हीनाधिकत्व में छह स्थान पतित होता है।"

"हे भगवन् ! एक सामायिक संयत छेदोपस्थापनीय संयत के विजातीय चारित्रपर्यवों के सम्बन्ध की अपेक्षा से क्या हीन होता है ?"

"हे गौतम ! कदाचित् हीन होता है, इत्यादि छह स्थान पतित होता है। इसी प्रकार परिहारविशुद्धिक संयत के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।"

"हे भगवन् ! एक सामायिक संयत सूक्ष्मसंपराय संयत के विजातीय चारित्रपर्यवों की अपेक्षा क्या हीन होता है ?"

१—भगवती २५.७

"हे गौतम ! हीन होता है, तुल्य नहीं होता, न अधिक होता है। अनन्तगुना हीन होता है। इसी प्रकार यथाख्यात संयत के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय भी नीचे के तीन चारित्र की अपेक्षा छह स्थान पतित होता है और ऊपर के दो चारित्र से उसी प्रकार अनन्तगुना हीन होता है। जिस प्रकार छेदोपस्थापनीय संयत के सम्बन्ध में कहा है उसी प्रकार परिहारविशुद्धिक के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।"

"हे भगवन् ! सूक्ष्मसंपराय संयत सामायिक संयत के विजातीय पर्यवों की अपेक्षा क्या हीन है ?"

"हे गौतम ! वह हीन नहीं, तुल्य नहीं, पर अधिक है और अनन्तगुना अधिक है। इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धिक के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। अपने सजातीय पर्यवों की अपेक्षा कदाचित् हीन होता है, कदाचित् तुल्य होता है और कदाचित् अधिक होता है। हीन होने पर अनन्तगुना हीन होता है और अधिक होने पर अनन्तगुना अधिक होता है।"

"हे भगवन् ! सूक्ष्मसंपराय संयत यथाख्यात संयत के विजातीय चारित्रपर्यवों की अपेक्षा क्या हीन होता है ?"

"हे गौतम ! वे हीन हैं, तुल्य नहीं, अधिक नहीं। वे अनन्तगुना हीन हैं। यथाख्यात संयत नीचे के चारों की अपेक्षा हीन नहीं, तुल्य नहीं, पर अधिक है और वह अनन्तगुना अधिक है। अपने स्थान में हीन और अधिक नहीं, पर तुल्य है।"

"हे भगवन्! सामायिक संयत, छेदोपस्थापनीय संयत, परिहारविशुद्धिक संयत, सूक्ष्मसंपराय संयत और यथाख्यात संयत इनके जघन्य और उत्कृष्ट चारित्रपर्यवों में कौन किससे विशेषाधिक है ? ।"

"हे गौतम ! सामायिक संयत और छेदोपस्थापनीय संयत—इन दो के जघन्य चारित्र पर्यव परस्पर तुल्य और सबसे थोड़े हैं। उससे परिहारविशुद्धिक संयत के जघन्य चारित्र पर्यव अनन्तगुना हैं और उससे उसी के उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं। उससे सामायिक संयत और छोदोपस्थापनीय संयत के उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना और परस्पर तुल्य हैं। उससे सूक्ष्म संपराय संयत के जघन्य चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं और उससे उसके ही उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं। और उससे यथाख्यात संयत के अजघन्य और अनुत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुना हैं[१] ।"

१—भगवती २५.७

१४—योग-निरोध और फल (गा० ४६-५४) :

योग दो तरह के होते हैं—सावद्य और निरवद्य। इनके निरोध से क्या फल होता है, इसका विवेचन उक्त गाथाओं में है।

प्रत्याख्यान द्वारा सावद्य योगों के निरोध से विरति संवर होता है। निरवद्य योगों के रूँधने से संवर होता है। मन-वचन-काय के निरवद्य योग घटने से संवर होता है और सर्व योगों के सर्वथा क्षय से अयोग संवर होता है।

साधु का कल्पनीय वस्तुओं का आहार करना निरवद्य योग है। श्रावक का आहार करना सावद्य योग है। जब साधु कर्म-निर्जरा के लिये आहारादि का त्यागकर उपवास आदि तप करता है तब तप के साथ निरवद्य योग कें रूँधने से सहचर संवर होता है। जब श्रावक कर्म-निर्जरा के लिए आहार-त्याग कर उपवास आदि तप करता है तब तप के साथ सावद्य योग के निरोध से सहचररूप से विरति संवर होता है। श्रावक पुद्गलों का उपभोग करता है, वह सावद्य योग—व्यापार है। इसके त्याग से विरति संवर होता है और साथ ही तप—निर्जरा भी होती है। साधु कल्प्य-पुद्गलों के भोग का त्याग करता है तब तपस्या होती है तथा निरवद्य योग के निरोध से संवर होता है।

साधु का चलना, बैठना, बोलना आदि सारी क्रियाएँ निरवद्य योग हैं। इन निरवद्य योगों का जितना-जितना निरोध किया जाता है उतना-उतना संवर होता है साथ ही तप भी होता है। श्रावक का चलना, बैठना, बोलना आदि क्रियाएँ सावद्य-निरवद्य दोनों प्रकार की होती हैं। सावद्य के त्याग से विरति संवर होता है। निरवद्य के त्याग से संवर होता है।

चारित्र विरति संवर है। वह अविरति के त्याग से उत्पन्न होता है। अयोग संवर शुभ योग के निरोध से होता है।

१५—संवर भाव जीव है (गा० ५५) :

जीव के दो भेद हैं—द्रव्य-जीव और भाव-जीव। चैतन्य गुणयुक्त पदार्थ द्रव्य-जीव है। उसके पर्याय भाव-जीव हैं।

भगवती सूत्र में आठ आत्माएँ कही हैं—द्रव्य-आत्मा, कषाय-आत्मा, योग-आत्मा, उपयोग-आत्मा, ज्ञान-आत्मा, दर्शन-आत्मा, चारित्र-आत्मा और वीर्य-आत्मा[1]। ये

१—पाठ के लिए देखिये पृ० ४०५ टि० २४

आठों ही आत्माएँ जीव हैं। द्रव्य-आत्मा मूल जीव है। अवशेष ७ आत्माएँ भाव-जीव हैं। द्रव्य-आत्मा की पर्याय हैं। उसके गुण हैं। उसके लक्षण हैं। इन आठ आत्माओं में चारित्र-आत्मा भी समाविष्ट है। अतः वह भी भाव-जीव है। चारित्र संवर ही है अतः संवर भाव-जीव है।

आस्रव को अजीव और रूपी मानते हुए भी संवर को प्रायः जीव और अरूपी माना जाता रहा[1]। स्वामीजी के समय में सवंर को अजीव माननेवाला कोई समुदाय था, ऐसा नहीं देखा जाता। श्री जयाचार्य ने ऐसे सम्प्रदाय का उल्लेख किया है[2] और सवंर किस प्रकार भाव जीव है, यह भी सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्न प्रमाण उपस्थित किए हैं :

१—उत्तराध्ययन में ज्ञान, दर्शन, तप, वीर्य और उपयोग के साथ चारित्र को भी जीव का लक्षण कहा है[3]। चारित्र विरति संवर है। इस तरह संवर भी जीव का लक्षण सिद्ध होता है। जिस तरह ज्ञान, दर्शन, उपयोग—जीव के ये लक्षण भाव जीव हैं उसी प्रकार चारित्र—विरति संवर भी भाव-जीव है।

२—अनुयोग द्वार में लिखा है—"गुणप्रमाण दो प्रकार का कहा गया है—(१) जीव गुणप्रमाण और (२) अजीव गुणप्रमाण। अजीव गुणप्रमाण पाँच प्रकार का है—(१) वर्ण गुणप्रमाण (२) गंध गुणप्रमाण (३) रस गुणप्रमाण (४) स्पर्श गुणप्रमाण और (५) संस्थान गुणप्रमाण। जीव गुणप्रमाण तीन प्रकार का है—(१) ज्ञान गुणप्रमाण, (२) दर्शन गुणप्रमाण और (३) चारित्र गुणप्रमाण[4]।"

१—(क) नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : वृत्त्यादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरणम् :

जीवो संवर निज्जर मुक्खो चत्तारि हुंति अरूवी।
रूपी बंधासवपुन्नपावा मिस्सो अजीवो य ॥ [१०५।१३३]

(ख) वही पृ० ८० यंत्र

(ग) वही : हेमचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् (पृ० १८)

२—भ्रमविध्वंसनम् : संवराऽधिकार पृ० ६२८ :

केतला एक अज्ञानी संवर ने अजीव कहे छै।

३—उत्त० २८.११ (पृ० ५४२ पर उद्धृत)

४—अनुयोग द्वार :

जीव गुणप्रमाण में चारित्र गुण का भी उल्लेख है। चारित्र संवर है। अतः वह जीव-प्रमाण सिद्ध होता है।

चारित्र गुणप्रमाण का भेद बताते हुए पाँचों चारित्रों का नामोल्लेख करने के बाद लिखा है—'से तं चरित्तगुणप्पमाणे, से तं जीवगुणप्पमाणे।' इससे पाँचों ही चारित्र—विरति संवर भाव-जीव ठहरते हैं।

३—ठाणाङ्ग में दसविध जीव-परिणाम में ज्ञान और दर्शन को जीव-परिणाम कहा है। वैसे ही चारित्र को भी जीव-परिणाम कहा है[1]। जिस तरह जीव-परिणाम ज्ञान और दर्शन भाव-जीव हैं उसी तरह जीव-परिणाम चारित्र भी भाव-जीव है।

४—पार्श्वनाथ के वंश में हुए कालास्यवेषिपुत्र नामक अनगार ने महावीर के स्थविरों के पास आकर कुछ वार्त्तालाप के बाद प्रश्न किया—"हे आर्यो! सामायिक क्या है, सामायिक का अर्थ क्या है; प्रत्याख्यान क्या है, प्रत्याख्यान का अर्थ क्या है; संयम क्या है, संयम का अर्थ क्या है; संवर क्या है, संवर का अर्थ क्या है; विवेक क्या है, विवेक का अर्थ क्या है; और व्युत्सर्ग क्या है, व्युत्सर्ग का अर्थ क्या है?"

स्थविरों ने उत्तर दिया—"हे कालास्यवेषिपुत्र! हमारी आत्मा ही सामायिक और हमारी आत्मा ही सामायिक का अर्थ है; हमारी आत्मा ही प्रत्याख्यान और हमारी आत्मा ही प्रत्याख्यान का अर्थ है; हमारी आत्मा ही संयम और हमारी आत्मा ही संयम का अर्थ है; हमारी आत्मा ही संवर और हमारी आत्मा ही संवर का अर्थ है; हमारी आत्मा ही विवेक और हमारी आत्मा ही विवेक का अर्थ है तथा हमारी आत्मा ही व्युत्सर्ग और हमारी आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है[2]।"

यहाँ सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, विवेक और कायोत्सर्ग को आत्मा कहा है वहाँ संवर को भी आत्मा कहा है। अतः संवर भाव-जीव है।

५—गौतम ने पूछा—"भगवन्! प्राणातिपात विरमण यावत् परिग्रह विरमण, क्रोध-विवेक यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विवेक—इनके कितने वर्ण यावत् स्पर्श कहे गए हैं?"

भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! प्राणातिपात विरमण यावत् मिथ्यादर्शनशल्य विवेक अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श हैं[3]।"

१—पाठ के लिए देखिए—पृ० ४०५ टि० २४

२—भगवती १.९

३—भगवती १२.५

अठारह पाप का विरमण सर्वविरति संवर है अतः संवर अरूपी है, वह अरूपी और भाव-जीव सिद्ध होता है।

६—उत्तराध्ययन में चारित्र का गुण—कर्मों को रोकना बताया गया है[1]। कर्मों को रोकनेवाला संवर जीव ही हो सकता है अजीव कर्म कैसे रोकेगा ?

७—चारित्रावरणीय कर्म का अर्थ है वह कर्म जो चारित्र का आवरण हो। यह जीव के गुण का आवरण है, अजीव का नहीं।

८—एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन् ! आराधना कितने प्रकार की कही गई हैं?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! आराधना तीन प्रकार की कही गई हैं—(१) ज्ञानाराधना, (२) दर्शनाराधना और (३) चारित्राराधना[2]।"

चारित्राराधना का अर्थ है—चारित्र-गुण की आराधना। चारित्र जीव का गुण—भाव है। उसकी आराधना चारित्राराधना है। अजीव की आराधना क्या होगी ! चारित्र संवर है। इस तरह संवर भी जीव-गुण, भाव-जीव सिद्ध होता है।"

१—उत्त० २८.३५

चरित्तेण निगिएहाइ

२—भगवती ८.१०

: ७ :

निर्जरा पदार्थ

: ७ :

निरजरा पदारथ (ढाल १)

दुहा

१—निरजरा पदार्थ सातमों, ते तो उजल वसत अनूप।
ते निज गुण जीव चेतन तणो, ते सुणजो धर चूंप ॥

ढाल : १

(धन्य धन्य जंबू स्वाम नें—ए देशी)

१—आठ करम छें जीव रे अनाद रा, त्यांरी उतपत आश्रव दुवार हो। मुणिंद*
ते उदे थइ नें पछे निरजरे, वले उपजें निरंतर लार हो॥ मुणिंद*
निरजरा पदार्थ ओलखो* ॥

२—दरब जीव छ तेहनें, असंख्याता परदेम हो।
सारां परदेसा आश्रव दुवार छें, सारां परदेसां करम परवेस हो॥

३—एक एक परदेस तेहनें, समें समें करम लागत हो।
ते परदेस एकीका करम नां, समें समें लागे अनंत हो॥

४—ते करम उदे थइ जीव रे, समें समें अनंता झड़ जाय हो।
भरीया नींगल जं करम मिटें नहीं, करम मिटवा रो न जांणें उपाय हो॥

*चिन्हित शब्द और आँकड़ी इन्हीं स्थलों पर आगे की गाथाओं में भी पढ़ने चाहिए।

: ७ :

निर्जरा पदार्थ (ढाल १)

दोहा

१—निर्जरा सातवाँ पदार्थ है। यह अनुपम उज्ज्वल वस्तु है और जीव चेतन का स्वाभाविक गुण है। निर्जरा का विवेचन ध्यान लगा कर सुनो[1]।

निर्जरा सातवाँ पदार्थ है।

ढाल : १

१—अनादिकाल से जीव के आठ कर्मों का बंध है। इन कर्मों की उत्पत्ति के हेतु आश्रव-द्वार हैं। बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं और फिर झड़ जाते हैं। कर्म इस तरह झड़ते और निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं।

निर्जरा कैसी होती हैं (गा० १-८)

२—जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं। प्रत्येक प्रदेश कर्म आने का द्वार है। प्रत्येक प्रदेश से कर्मों का प्रवेश होता है।

३—आत्मा के एक-एक प्रदेश के प्रतिसमय अनन्त कर्म लगते हैं। इस प्रकार एक-एक प्रकार के कर्म के अनन्त-अनन्त प्रदेश, आत्मा के एक-एक प्रदेश के लगते हैं।

४—ये कर्म उदय में आकर जीव के प्रदेशों से प्रतिसमय अनन्त संख्या में झड़ जाते हैं। परन्तु भरे घाव की तरह कर्मों का अन्त नहीं आता। कर्मों के अन्त करने के उपाय को न जानने से उनका अन्त नहीं आ सकता[2]।

५—आठ करमां में च्यार घनघातीया, त्यासूं चेतन गुणां री हुइ घात हो।
ते अंसमात्र षयउपसम रहे सदा, तिण सूं उजलो रहे अंसमात हो॥

६—कायंक घनघातीया षयउपसम हूआं, जब कायंक उदे रह्या लार हो।
षयउपसम थी जीव उजलो हुवो, उदे थी उजलो नहीं छें लिगार हो॥

७—कायंक करम खय हुवें, कायंक उपसम हुवें ताय हो।
ते षयउपसम भाव छें उजलो, चेतन गुण पर्याय हो॥

८—जिम २ करम षयउपसम हुवें, तिम २ जीव उजल हुवें आंम हो।
जीव उजलो तेहिज निरजरा, ते भाव जीव छें तांम हो॥

९—देस थकी जीव उजलो हुवें, तिणनें निरजरा कही भगवांन हो।
सर्व उजल ते मोष छें, ते मोष छें परम निघांन हो॥

१०—ग्यांनावरणी षयउपसम हूआं नीपजें, च्यार ग्यांन नें तीन अग्यांन हो।
भणवो आचारंग आदि दे, चवदे पूर्व रो ग्यांन हो॥

११—ग्यांनवरणी री पांच प्रकत मझै, दोय षयउपसम रहें छें सदीव हो।
तिण सूं दोय अग्यांन रहें सदा, अंस मात्र उजल रहें जीव हो॥

५—आठ कर्मों में चार घनघाती कर्म हैं। इन कर्मों से चेतन जीव के स्वाभाविक गुणों की घात होती है ; परन्तु इन कर्मों का भी सब समय कुछ-न-कुछ क्षयोपशम रहता है जिससे जीव कुछ अंश में उज्ज्वल रहता है।

६—घनघाती कर्मों का कुछ क्षयोपशम होने से कुछ उदय बाकी रहता है। जीव कर्मों के क्षयोपशम से उज्ज्वल होता है। पर वह कर्मों के उदय से जरा भी उज्ज्वल नहीं होता।

७—कर्मों के कुछ क्षय और कुछ उपशम से क्षयोपशम भाव होता है। यह क्षयोपशम भाव उज्ज्वल भाव है और चेतन जीव का गुण अथवा पर्याय है।

निर्जरा की परिभाषा

८—जैसे-जैसे कर्मों का क्षयोपशम अधिक होता है वैसे-वैसे जीव अधिकाधिक आवरणरहित—उज्ज्वल होता जाता है। इस प्रकार जीव का उज्ज्वल होना निर्जरा है। यह निर्जरा भाव-जीव है[३]।

निर्जरा और मोक्ष में अन्तर

९—जीव के देशरूप उज्ज्वल होने को ही भगवान ने निर्जरा कहा है। सर्वरूप उज्ज्वल होना मोक्ष है और यह मोक्ष ही परम निधान—सम्पूर्ण कर्मक्षय का स्थान है[४]।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से निष्पन्न भाव (गा० १०-१८)

१०—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से चार ज्ञान और तीन अज्ञान उत्पन्न होते हैं तथा आचाराङ्ग आदि चौदह पूर्व का अभ्यास होता है।

११—ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियों में से दो का सदा क्षयोपशम रहता है, जिससे दो अज्ञान सदा रहते हैं और जीव सदा अंशमात्र उज्ज्वल रहता है।

१२—मिथ्याती रे तो जगन दोय अग्यांन छें, उतकष्टा तीन अग्यांन हो।
देस उणों दस पूर्व उतकष्टो भणे, इतरो उतकष्टो षयउपसम अग्यांन हो॥

१३—समदिष्टी रे जगन दोय ग्यांन छें, उतकष्टा च्यार ग्यांन हो।
उतकष्टो चवदें पूर्व भणें, एहवो षयउपसम भाव निधांन हो॥

१४—मत ग्यांनावरणी षयउपसम हूआं, नीपजें मत ग्यांन मत अग्यांन हो।
सुरत ग्यांनावरणी खयउपसम हूआं, नीपजें सुरत ग्यांन अग्यांन हो॥

१५—वले भणवो आचारंग आदि दे, समदिष्टी रे चवदें पूर्व ग्यांन हो।
मिथ्याती उतकष्टो भणे, देस उणो देस पूर्व लग जांण हो॥

१६—अवधि ग्यांनावरणी षयउपसम हूआं, समदिष्टी पांमें अवध ग्यांन हो।
मिथ्यादिष्टी नें विभंग नांण उपजें, षयउपसम परमांण जांण हो॥

१७—मन पजवावर्णी षयउपसम्यां, उपजें मनपजव नांण हो।
ते साधु समदिष्टी नें उपजें, एहवो षयउपसम भाव परधांन हो॥

१८—ग्यांन अग्यांन सागार उपीयोग छें, दोयां रो एक सभाव हो।
करम अलगा हुआं नीपजें, ए षयउपसम उजल भाव हो॥

१९—दरसणावर्णी खयउपसम हूआं, आठ बोल नीपजें श्रीकार हो।
पांच इंद्री नें तीन दरसण हुवें, ते निरजरा उजला तंत सार हो॥

१२—मिथ्यात्वी के कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक तीन अज्ञान रहते हैं। उत्कृष्ट में देश-न्यून दस पूर्व पढ़ सके, इतना उत्कृष्ट क्षयोपशम अज्ञान उसको होता है।

१३—समदृष्टि के कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक चार अज्ञान होते हैं। अधिक-से-अधिक चौदह पूर्व तक पढ़ सके, ऐसा क्षयोपशम भाव उसके रहता है।

१४—मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम होने से मतिज्ञान और मति-अज्ञान उत्पन्न होते हैं। और श्रुतज्ञानावरणीय के क्षयोपशम होने से श्रुतज्ञान और श्रुत-अज्ञान।

१५—समदृष्टि आचाराङ्ग आदि १४ पूर्व का ज्ञानाभ्यास कर सकता है और मिथ्यात्वी देश-न्यून दस पूर्व तक का ज्ञानाभ्यास।

१६—अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से समदृष्टि अवधि-ज्ञान प्राप्त करता है और मिथ्यादृष्टि को क्षयोपशम के परिमाणानुसार विभङ्ग अज्ञान उत्पन्न होता है।

१७—मनःपर्यवज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम होने से मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न होता है। यह प्रधान क्षयोपशम भाव सम्यक् दृष्टि साधु को उत्पन्न होता है[५]।

ज्ञान, अज्ञान दोनों साकार उपयोग

१८—ज्ञान, अज्ञान दोनों साकार उपयोग हैं और इन दोनों का स्वभाव एक-सा है। ये कर्मों के दूर होने से उत्पन्न होते हैं और उज्ज्वल क्षयोपशम भाव हैं[६]।

दर्शनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव

१९—दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से आठ उत्तम बोल उत्पन्न होते हैं—पाँच इन्द्रियां और तीन दर्शन। ये निर्जरा-जन्य उज्ज्वल बोल हैं।

(गा० १९-२३)

२०—दरसणावर्णी री नव प्रकत मझे, एक प्रकत षयउपसम सदीव हो।
तिण सूं अचषू दरसण नें फरस इंदरी सदा रहें, षयउपसम भाव जीव हो॥

२१—चषू दरसणावर्णी षयउपसम हूआं, चषू दरसण नें चषू इंद्री होय हो।
करम अलगा हूआं उजलो हूओ, जब देखवा लागो सोय हो॥

२२—अचषू दरसणावर्णी वशेष थी, षयउपसम हुवें तिण वार हो।
चषू टाले सेष इंद्री, षयउपसम हुवें इंद्री च्यार हो॥

२३—अवधि दरसणावर्णी षयउपसम हुआं, उपजें अवधि दरसण वशेष हो।
जब उतकष्टो देखे जीव एतलो, सर्व रूपी पुदगल ले देख हो॥

२४—पांच इंद्री नें तीनूंइ दरसण, ते षयउपसम उपीयोग मणागार हो॥
ते वांनगी केवल दरसण माहिली, तिणमें संका म राखो लिगार हो॥

२५—मोह करम षयउपसम हूआं, नीपजें आठ बोल अमांम हो।
च्यार चारित नें देस विरत नीपजें, तीन दिष्टी उजल होय तांम हो॥

२६—चारित मोह री पचीस प्रकत मझे, केइ सदा षयउपसम रहें ताय हो।
तिण सूं अंस मात उजलो रहें, जब भला वरते छें अधवसाय हो॥

२७—कदे षयउपसम इधकी हूवें, जब इधका गुण हुवें तिण मांय हो।
षिमा दया संतोषादिक गुण वधें, भली लेस्यादि वरतें जब आय हो॥

२०—दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियों में से एक प्रकृति सदा क्षयोपशमरूप रहती है। उससे अचक्षु दर्शन और स्पर्श इन्द्रिय सदा रहती हैं। यह क्षयोपशम भाव-जीव है।

२१—चक्षुदर्शनावरणीय के क्षयोपशम होने से चक्षु दर्शन और चक्षु इन्द्रिय होता है। कर्म दूर होने से जीव उज्ज्वल होता है, जिससे देखने में सक्षम होता है।

२२—अचक्षुदर्शनावरणीय के विशेष क्षयोपशम से चक्षु को छोड़ कर बाकी चार क्षयोपशम इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं।

२३—अवधिदर्शनावरणीय के क्षयोपशम होने से विशेष अवधि-दर्शन उत्पन्न होता है। अवधि-दर्शन उत्पन्न होने से जीव उत्कृष्ट में सर्व रूपी पुद्गल को देखने लगता है।

अनाकार उपयोग

२४—पाँच इन्द्रियाँ और तीनों दर्शन दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से होते हैं। ये अनाकार उपयोग हैं। ये केवलदर्शन के नमूने हैं। इसमें जरा भी शंका मत करो[७]।

मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव (गा० २५-४०)

२५—मोहनीयकर्म के क्षयोपशम होने से आठ विशेष बोल उत्पन्न होते हैं—चार चारित्र, देश-विरति और उज्ज्वल तीन दृष्टि।

२६—चारित्रमोहनीय कर्म की पचीस प्रकृतियों में से कई सदा क्षयोपशम रूप में रहती हैं, इससे जीव अंशतः उज्ज्वल रहता है। और इस उज्ज्वलता से शुभ अध्यवसाय का वर्तन होता है।

२७—कभी क्षयोपशम अधिक होता है तब उससे जीव के अधिक गुण उत्पन्न होते हैं। क्षमा, दया, संतोषादि गुणों की वृद्धि होती है और शुभ लेश्याएँ वर्तती हैं।

२८—भला परिणांम पिण वरते तेहनें, भला जोग पिण वरते ताय हो।
धर्म ध्यांन पिण ध्यावें किण समें, ध्यावणी आवें मिटीयां कषाय हो॥

२९—ध्यांन परिणांम जोग लेस्या भली, वले भला वरते अधवसाय हो।
सारा वरते अंतराय षयउपसम हूआं, मोह करम अलगा हूवां ताय हो॥

३०—चोकडी अंताणुबंधी आदि दे, घणीं प्रकृत्यां षयउपसम हुवें ताय हो।
जब जीव रे देस विरत नीपजें, इण विध च्यांरू चारित आय हो॥

३१—मोहणी षयउपसम हुआं नीपनों, देस विरत नें चारित च्यार हो।
वले षिमा दयादिक गुण नीपनां, सगलाइ गुण श्रीकार हो॥

३२—देस विरत नें च्यारूंई चारित भला, ते गुण रतनां री खांन हो।
ते खायक चारित री वांनगी, एहवो षयउपसम भाव परधांन हो॥

३३—चारित नें विरत संवर कह्यों, तिण सूं पाप रूंधें छें ताय हो।
पिण पाप झरी नें उजल हुओं, तिणनें निरजरा कही इण न्याय हो॥

३४—दरसण मोहणी षयउपसम हुआं, नीपजें साची सुध सरधांन हो।
तीनूं दिष्ट में सुध सरधान छें, ते तो षयउपसम भाव निधांन हो॥

३५—मिथ्यात मोहणी षयउपसम हुआं, मिथ्या दिष्टी उजली होय हो।
जब केयक पदार्थ सुध सरधलें, एहवो गुण नीपजें छें सोय हो॥

२८—चारित्रमोहनीय कर्म के विशेष क्षयोपशम से जीव के शुभ परिणाम तथा शुभ योगों का वर्तन होता है। कभी-कभी धर्म-ध्यान भी होता है परन्तु बिना कषाय के दूर हुए पूरा धर्म-ध्यान नहीं हो सकता।

२९—शुभ ध्यान, शुभ परिणाम, शुभ योग, शुभ लेश्या और शुभ अध्यवसाय—ये सब उसी समय वर्तते हैं जब अंतराय कर्म का क्षयोपशम हो जाता है तथा मोहकर्म दूर हो जाता है।

३०—अनन्तानुबंधी आदि कषाय की चौकड़ी तथा अन्य बहुत-सी प्रकृतियों के क्षयोपशम होने से जीव के देश-विरति उत्पन्न होती है और इसी तरह से चारों चारित्र प्राप्त होते हैं।

३१—मोहनीयकर्म के क्षयोपशम होने से देश-विरति और चार चारित्र तथा क्षमा, दया आदि उत्पन्न होते हैं। ये उत्तम गुण हैं।

३२—देश-विरति और चारों चारित्र—ये गुणरूपी रत्नों की खान हैं। ये क्षायिक चारित्र की बानगी हैं। क्षयोपशम भाव ऐसा ही प्रधान है।

३३—चारित्र को विरति-संवर कहा गया है। उससे जीव पापों का निरोध करता है। पाप-क्षय होकर जीव उज्ज्वल हुआ, इस न्याय से इसे निर्जरा कहा है।

३४—दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से सच्ची एवं शुद्ध श्रद्धा उत्पन्न होती है। तीनों दृष्टियों में शुद्ध श्रद्धान है। क्षयोपशम भाव ऐसा उत्तम है।

३५—मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के क्षयोपशम होने से मिथ्या-दृष्टि उज्ज्वल होती है। जिससे जीव कई पदार्थों में ठीक-ठीक श्रद्धा करने लगता है। मिथ्यात्व मोहनीय के क्षयोपशम से ऐसा गुण उत्पन्न होता है।

३६—मिश्र मोहणी षयउपसम हुआं, सममिथ्या दिष्टी उजली हुवें तांम हो।
जब घणां पदार्थ सुध सरधलें, एहवो गुण नीपजें अमांम हो॥

३७—समकत मोहणी षयउपसम हूआं, नीपजें समकत रतन परधांन हो।
नव ही पदार्थ सुध सरधलें, एहवो षयउपसम भाव निधांन हो॥

३८—मिथ्यात मोहणी उदे छें ज्यां लगे, सममिथ्या दिष्टी नहीं आंवत हो।
मिश्र मोहणी रा उदे थकी, समकत नहीं पांवत हो॥

३९—समकत मोहणी ज्यां लगें उदे रहें, त्यां लग षायक समकत आवें नांहि हो।
एहवी छाक छै दरसण मोह करम नीं, न्हांखै जीव नें भ्रमजाल मांय हो॥

४०—षयउपसम भाव तीनूंइ दिष्टी छें, ते सगलोइ सुध सरधांन हो।
ते खायक समकत मांहिली वांनगी, मातर गुण निधांन हो॥

४१—अंतराय करम षयउपसम हूआं, आठ गुण नीपजें श्रीकार हो।
पांच लब्द तीन वीर्य नीपजें, हिवें तेहनों सुणो विसतार हो॥

४२—पाचूंइ प्रकत अंतराय नीं, सदा षयउपसम रहें छें साख्यात हो।
तिण सूं पांचूं लब्द बालवीर्य, उजल रहें छें अल्प मात हो॥

४३—दानांतराय षयउपसम हूआं, दांन देवा री लब्द उपजंत हो।
लाभांतराय षयउपसम हूआं, लाभ री लब्द खुलंत हो॥

३६—मिश्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से सममिथ्या दृष्टि उज्ज्वल होती है। तब जीव अधिक पदार्थों को शुद्ध श्रद्धने लगता है। क्षयोपशम से ऐसा गुण उत्पन्न होता है।

३७—सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से सम्यक्त्व रूपी प्रधान रत्न उत्पन्न होता है। इस क्षयोपशम से जीव नवों ही पदार्थों की शुद्ध श्रद्धा करने लगता है। क्षयोपशम भाव ऐसा ही गुणकारी है।

३८—जब तक मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म उदय में रहता है, तब तक सममिथ्या दृष्टि नहीं आती। मिश्र-मोहनीय कर्म के उदय से जीव सम्यक्त्व नहीं पाता।

३९—सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म जब तक उदय में रहता है तब तक क्षायिक सम्यक्त्व नहीं आता। मोहनीय कर्म का ऐसा ही आवरण है कि यह जीव को भ्रम-जाल में डाल देता है।

४०—तीनों ही दृष्टियाँ क्षयोपशम भाव हैं। ये तीनों ही शुद्ध श्रद्धा रूप हैं। ये तो क्षायिक सम्यक्त्व की बानगी—नमूने मात्र हैं[८]।

अंतराय कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव (गा० ४१-५५)

४१—अंतराय कर्म के क्षयोपशम होने से आठ उत्तम गुण उत्पन्न होते हैं—पाँच लब्धि और तीन वीर्य। अब इनका विस्तार सुनो।

४२—अंतराय कर्म की पाँचों ही प्रकृतियाँ सदा प्रत्यक्षतः क्षयोपशम रूप में रहती हैं, जिससे पाँच लब्धि और बालवीर्य अल्प प्रमाण में उज्ज्वल रहते हैं।

४३—दानांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से दान देने की लब्धि उत्पन्न होती है; लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से लाभ की लब्धि प्रकट होती है।

४४—भोगांतराय षयउपसम्यां, भोग लब्द उपजें छें ताय हो।
उपभोगांतराय खयउपसम हूआं, उपभोग लब्द उपजें आय हो॥

४५—दांन देवा री लब्द निरंतर, दांन देवे ते जोग व्यापार हो।
लाभ लब्द पिण निरतंर रहें, वस्त लाभे ते किण ही वार हो॥

४६—भोग लब्द तो रहें छें निरंतर, भोग भोगवे ते जोग व्यापार हो।
उपभोग पिण लब्द छें निरंतर, उपभोग भोगवे जिण वार हो॥

४७—अंतराय अलगी हूआं जीव रे, पुन सारूं मिलसी भोग उपभोग हो।
साधु पुदगल भोगवे ते सुभ जोग छें, ओर भोगवें ते असुभ जोग हो॥

४८—वीर्य अंतराय षयउपसम हूआं, वीर्य लब्द उपजें छें ताय हो।
वीर्य लब्द ते सगत छें जीव री, उत्कष्टी अनंती होय जाय हो॥

४९—तिण वीर्य लब्द रा तीन भेद छें, तिणरी करजो पिछांण हो।
बाल वीर्य कह्यों छें बाल रो, ते चोथा गुणठाणा तांई जांण हो॥

५०—पिंडत वीर्य कह्यों पिंडत तणो, छठा थी लेइ चवदमें गुणठांण हो।
बालपिंडत वीर्य कह्यों छें श्रावक तणो, ए तीनोंई उजल गुण जांण हो॥

५१—कदे जीव वीर्य नें फोडवे, ते छें जोग व्यापार हो।
सावद्य निरवद्य तो जोग छें, ते वीर्य सावद्य नहीं छें लिगार हो॥

४४—भोगांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से भोग की लब्धि उत्पन्न होती है और उपभोगांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से उपभोगलब्धि उत्पन्न होती है।

४५—दान देने की लब्धि बराबर रहती है। दान देना योग-व्यापार है। लाभ की लब्धि भी निरन्तर रहती है जिससे यदा-कदा वस्तु का लाभ होता रहता है।

४६—भोग की लब्धि भी निरन्तर रहती है। भोग-सेवन योग-व्यापार है। उपभोग-लब्धि भी निरन्तर रहती है जिससे उपभोग-सेवन होता रहता है।

४७—अंतराय कर्म का क्षयोपशम होने से जीव को पुण्यानुसार भोग-उपभोग मिलते हैं। साधु पुद्गलों का सेवन करते हैं, वह शुभ योग है। साधु के सिवा अन्य जीव पुद्गलों का भोग करते हैं, वह अशुभ योग है।

४८—वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम होने से वीर्य-लब्धि उत्पन्न होती है। वीर्य-लब्धि जीव की स्वाभाविक शक्ति है और वह उत्कृष्ट रूप में अनन्त होती है।

४९—वीर्यलब्धि के तीन भेद हैं उसकी पहचान करो। बाल-वीर्य बाल के होता है और चतुर्थ गुणस्थान तक रहता है।

५०—पण्डितवीर्य पण्डित के बतलाया गया है, यह छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक रहता है। बालपण्डितवीर्य श्रावक के होता है। इन तीनों ही वीर्यों को जीव के उज्ज्वल गुण जानो।

५१—जीव कभी इस वीर्य को फोड़ता है, वह योग-व्यापार है। सावद्य-निरवद्य योग होते हैं परन्तु वीर्य जरा भी सावद्य नहीं होता।

५२—वीर्य तो निरंतर रहें, चवदमां गुण ठांणा लग जांण हो।
बारमा तांइ तो षयउपसम भाव छें, खायक तेरमे चवदमे गुण ठांण हो॥

५३—लब्द वीर्य नें तो वीर्य कह्यों, करण वीर्य नें कह्यों जोग हो।
ते पिण सगत वीर्य ज्यां लगे, त्यां लग रहें पुदगल संजोग हो॥

५४—पुदगल विण वीर्य सगत हुवें नहीं, पुदगल विनां नहीं जोग व्यापार हो।
पुदगल लागा छें ज्यां लग जीव रे, जोग वीर्य छें संसार मभार हो॥

५५—वीर्य निज गुण छें जीव रो, अंतराय अलगा हूआं जांण हो।
ते वीर्य निश्चेंइ भाव जीव छें, तिण में संका मूल म आंण हो॥

५६—एक मोह करम उपसम हुवें, जब नीपजें उपसम भाव दोय हो।
उपसम समकत उपसम चारित हुवें, ते तो जीव उजलो हुवो सोय हो॥

५७—दरसण मोहणी करम उपसम हुवां, निपजें उपसम समकत निधांन हो।
चारित मोहणी उपसम हूआं, परगटे उपसम चारित परधांन हो॥

५८—च्यार घणघातीया करम षय हुवें, जब परगट हुवें खायक भाव हो।
ते गुण सरवथा उजला, त्यांरो जूओ २ सभाव हो॥

५९—ग्यांनावरणी सरवथा खय हूआं, उपजें केवल ग्यांन हो।
दरसणावर्णी पिण खय हुवें सरवथा, उपजें केवल दरसण परधांन हो॥

५२—वीर्य-लब्धि निरन्तर चौदहवें गुणस्थान तक रहती है। बारहवें गुणस्थान तक क्षयोपशम भाव है तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में क्षायिक भाव।

५३—लब्धि-वीर्य को वीर्य कहा गया है और करण-वीर्य को योग कहा गया है। जब तक लब्धि-वीर्य रहता है तभी तक करण-वीर्य रहता है और तभी तक पुद्गल-संयोग रहता है।

५४—पुद्गल के बिना वीर्य शक्ति नहीं होती। पुद्गल के बिना योग-व्यापार भी नहीं होता। जब तक जीव से पुद्गल लगे रहते हैं तब तक योग वीर्य रहता है।

५५—वीर्य जीव का स्वाभाविक गुण है और यह अंतराय कर्म अलग होने से प्रकट होता है। यह वीर्य भाव-जीव है, इसमें जरा भी शंका मत करो[९]।

उपशम भाव (गा० ५६-५७)

५६—एक मोहकर्म के उपशम होने से दो उपशम-भाव उत्पन्न होते हैं—(१) उपशम सम्यक्त्व और (२) उपशम चारित्र। यह जीव का उज्ज्वल होना है।

५७—दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम होने से प्रधान उपशम चारित्र प्रकट होता है[१०]।

क्षायिक भाव (गा० ५८-६२)

५८—चार घनघाती कर्मों के क्षय होने से क्षायिक-भाव प्रकट होता है। ये जीव के सर्वथा उज्ज्वल गुण हैं। इनके स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं।

५९—ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है और दर्शनावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने से प्रधान केवलदर्शन उत्पन्न होता है।

६०—मोहणी करम खय हुवें सरवथा, बाकी रहें नहीं अंसमात हो।
जब खायक समकत परगटें, वले खायक चारित जथाख्यात हो॥

६१—दरसण मोहणी खय हवें सरवथा, जब निपजें खायक समकत परधांन हो।
चारित मोहणी खय हूआं, नीपजें खायक चारित निधांन हो॥

६२—अंतराय करम अलगो हुआं, खायक वीर्य सगते हुवें ताय हो।
खायक लब्द पांचूंइ परगटे, किण ही वात री नहीं अंतराय हो॥

६३—उपसम खायक षयउपसम भाव निरमला, ते निज गुण जीवरा निरदोष हो।
ते तो देस थकी जीव उजलो, सर्व उजलो ते मोख हो॥

६४—देस विरत श्रावक तणी, सर्व विरत साधु री छें ताय हो।
देस विरत समाइ सर्व विरत में, ज्यूं निरजरा समाइ मोख मांय हो॥

६५—देस थी जीव उजले ते निरजरा, सर्व उजलो ते जीव मोख हो।
तिण सूं निरजरा नें मोख दोनूं जीव छें, उजल गुण जीवरा निरदोष हो॥

६६—जोड़ कीधी निरजरा ओलखायवा, नाथ दुवारा सहर मझार हो।
संवत अठारे वरस छपनें, फागण सुद दसम गुरवार हो॥

६०—मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने से—उसके अंशमात्र भी न रहने से क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है और यथाख्यात क्षायिक चारित्र प्रकट होता है।

६१—दर्शनमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से प्रधान क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है। चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय होने से क्षायिक चारित्र उत्पन्न होता है।

६२—अंतराय कर्म के सम्पूर्ण दूर होने से क्षायिक वीर्य—शक्ति उत्पन्न होती है तथा पाँचों ही क्षायिक लब्धियाँ प्रकट होती हैं। किसी भी बात की अंतराय नहीं रहती[११]।

तीन निर्मल भाव

६३—उपशम, क्षायिक और क्षयोपशम—ये तीनों निर्मल भाव हैं। ये जीव के निर्दोष स्वगुण हैं। इनसे जीव देशरूप निर्मल होता है, वह निर्जरा है और सर्वरूप निर्मल होता है, वह मोक्ष है।

निर्जरा और मोक्ष (गा० ६४-६५)

६४—श्रावक की देशविरति होती है और साधु की सर्वविरति। जिस तरह श्रावक की देशविरति साधु की सर्वविरति में समा जाती है, उसी तरह निर्जरा मोक्ष में समा जाती है।

६५—जीव का एक देश उज्ज्वल होना निर्जरा है और सर्व देश उज्ज्वल होना मोक्ष। इसलिए निर्जरा और मोक्ष दोनों भावजीव हैं। दोनों ही जीव के निर्दोष उज्ज्वल गुण हैं[१२]।

रचना-स्थान और काल

६६—निर्जरा को समझाने के लिए यह जोड़ नाथद्वारा शहर में सं० १८५६ की फाल्गुन शुक्ला दशमी गुरुवार को की गई है।

टिप्पणियाँ

१—निर्जरा सातवाँ पदार्थ है (दो० १) :

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार, पुण्य और पाप को यथास्थान रखने पर, निर्जरा पदार्थ का स्थान आठवाँ होता है[१]। उत्तराध्ययन में भी इसका क्रम आठवाँ है[२]। अन्य आगमों में इसका स्थान सातवाँ है[३]। दिगम्बर ग्रन्थों में इसका क्रम प्रायः सातवाँ है[४]।

आगम में इसकी गिनती सद्भाव पदार्थ और तथ्यभावों में की गई है[५]।

भगवान महावीर ने कहा है—"ऐसी संज्ञा मत करो कि वेदना और निर्जरा नहीं हैं, पर ऐसी संज्ञा करो कि वेदना और निर्जरा हैं[६]।"

द्विपदावतारों में इसे वेदना का प्रतिपक्षी पदार्थ कहा है[७]।

उमास्वाति ने 'वेदना' को 'निर्जरा' का पर्यायवाची बतलाया है[८]। पर आगम इसे निर्जरा का प्रतिद्वन्दी तत्त्व बतलाते हैं[९]। वेदना का अर्थ है—कर्म-भोग; निर्जरा का अर्थ है—कर्मों को दूर करना।

१—तत्त्वा० १.४ (देखिए पृ० १५१ पाद-टिप्पणी १)

२—उत्त० २८.१४ (पृ० २५ पर उद्धृत)

३—ठाणाङ्ग ९.३.६६५ (पृ० २२ पाद-टि० १ में उद्धृत)

४—(क) गोम्मटसार जीवकांड ६२१ :

णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं।
आसवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो य होंतित्ति॥

(ख) पञ्चास्तिकाय २.१०८ (पृ० १५० पाद-टि० २ में उद्धृत)

५—(क) उत्त० २८.१४ (पृ० २५ पर उद्धृत)

(ख) ठाणाङ्ग ९.३.६६५ (पृ०२२ पाद-टि० १ में उद्धृत)

६—सूयगडं २.५.१८ :

नत्थि वेयणा निज्जरा वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि वेयणा निज्जरा वा एवं सन्नं निवेसए॥

७—ठाणाङ्ग २.५७ :

जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं, तंजहा⋯⋯वेयणा चेव निज्जरा चेव

८—तत्त्वा० ९.७ भाष्य :

निर्जरा वेदना विपाक इत्यनर्थान्तरम्

९—भगवती ६.१

इन सब आगम-प्रमाणों से यह स्वयंसिद्ध है कि भगवान महावीर ने निर्जरा को एक स्वतंत्र पदार्थ माना है।

आगम में कहा है—"बुद्ध कर्मों के संवर और क्षपण में सदा यत्नशील हो[1]।" इसका अर्थ है वह नये कर्मों को न आने दे और पुराने कर्मों का नाश करे।

आगमों में कहा है:"ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—ये चार मुक्ति के मार्ग हैं[2]।" "इसी मार्ग को प्राप्त कर जीव सुगति को प्राप्त करता है[3]।"

षट् द्रव्य और नव पदार्थों के गुण और पर्याय के यथार्थ ज्ञान को सम्यक्ज्ञान कहा जाता है[4]। नव तथ्यभावों की स्वभाव से या उपदेश से भावपूर्वक श्रद्धा करना सम्यक् दर्शन अथवा सम्यक्त्व है[5]। चारित्र कर्मास्रव को रोकता है । तप बंधे हुए कर्मों को झाड़ता है[6]।

भगवान ने कहा है: "संयम (चारित्र) और तप से पूर्व कर्मों का क्षय कर जीव समस्त दुःखों से रहित हो मोक्ष को प्राप्त करता है[7]।"

चारित्र संवर का हेतु है। तप निर्जरा का हेतु है।

जीव अनादिकालीन कर्म-बंध से संसार में भ्रमण कर रहा है। जब तक जीव कर्मों से मुक्त नहीं होता तब तक निर्वाण प्राप्त नहीं होता—"**नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं**" (उत्त० २८.३०)। जो संयम और तप से युक्त नहीं उस अगुणी की कर्मों से मुक्ति नहीं होती—"**अगुणिस्स नत्थि मोक्खो**" (उत्त० २८.३०)।

१—उत्त० ३३.२५ :

तम्हा एएसि कम्माणं अणुभागा वियाणिया ।
एएसि संवरे चेव खवणे य जए बुहो ॥

२—वही २८.१

३—वही २८.२

४—वही २८.५-१४,३५

५—वही २८.१५,३५

६—वही २८.३५ :

नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ॥

७—वही २८. ३६ :

खवेत्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो ॥

संवर और निर्जरा ही ऐसे गुण हैं जिनसे सद्ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि जीव को निर्वाण की प्राप्ति होती है।

मोक्ष-मार्ग में निर्जरा पदार्थ को जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, वह उपर्युक्त विवेचन से भलीभाँति समझा जा सकता है।

तप को चारित्र की तरह ही जीव का लक्षण कहा है[1]। तप निर्जरा का ही दूसरा नाम है। अतः निर्जरा जीव का लक्षण है।

कर्मों का एक देशरूप से आत्मा से छूटना निर्जरा है—"**एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा**" (**तत्त्वा० १.४ सर्वार्थसिद्धि**)। कर्मों के क्षय से आत्म-प्रदेशों में स्वाभाविक उज्ज्वलता प्रकट होती है। जीव की स्वच्छता निर्जरा है। इसीलिए कहा है—"देशतः कर्मों का क्षय कर देशतः आत्मा का उज्ज्वल होना निर्जरा है[2]।"

आगम में कहा है—"जब अनास्रवी जीव तप से संचित पापकर्मों का शोषण करता है तब पापकर्मों का क्षय होता है। जिस प्रकार एक महा तालाब हो, वह पानी से भरा हो और उसे रिक्त करने का सवाल हो तो पहले उस के स्रोतों को रोका जाता है और फिर उसके जल को उलीच कर उसे खाली किया जाता है, उसी प्रकार पापकर्म के आस्रव को पहले रोकने से संयमी करोड़ों भवों से संचित कर्मों को तपस्या द्वारा झाड़ सकता है[3]।"

२—अनादि कर्मबंध और निर्जरा (गा० १-४) :

गुरु और शिष्य में निम्न संवाद हुआ :

शिष्य—"जीव और कर्म का आदि है, यह बात मिलती है या नहीं ?"

१—उत्त० २८.११ :

णाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥

२—**तेराद्वार : दृष्टान्तद्वार**

३—**उत्त० ३०.५-६ :**

जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे॥
एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ॥

गुरु—"नहीं मिलती, क्योंकि जीव अनुत्पन्न है—अनादि है।"

शिष्य—"पहले जीव फिर कर्म, यह बात मिलती है या नहीं?"

गुरु—"नहीं मिलती, क्योंकि कर्म बिना जीव कहाँ रहा? मोक्ष जाने के बाद तो जीव वापिस नहीं आता।"

शिष्य—"पहले कर्म पीछे जीव, यह बात मिलती है या नहीं?"

गुरु—"नहीं मिलती, क्योंकि कर्म कृत होते हैं। जीव बिना कर्म को किसने किया?"

शिष्य—"दोनों एक साथ उत्पन्न हैं, यह बात मिलती है या नहीं?"

गुरु—"नहीं मिलती, क्योंकि जीव और कर्म को उत्पन्न करनेवाला कौन है?"

शिष्य—"जीव कर्मरहित है, यह बात मिलती है या नहीं?"

गुरु—"नहीं मिलती। यदि जीव कर्मरहित हो तो फिर करनी करने की चेष्टा ही कौन करेगा? कर्मरहित जीव मुक्ति पाने के बाद वापिस नहीं आता।"

शिष्य—"फिर जीव और कर्म का मिलाप किस तरह होता है?"

गुरु—"अपश्चाताानुपूर्वी न्याय से जीव और कर्म का मिलाप चला आ रहा है। जैसे अंडे और मुर्गी में कौन पहले है और कौन पीछे, यह नहीं कहा जा सकता, वैसे ही प्रवाह की अपेक्षा जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है[1]।"

स्वामीजी ने जो यह कहा है—**'आठ करम छें जीव रे अनाद रा'** उसका भावार्थ उपरोक्त वार्त्तालाप से अच्छी तरह समझा जा सकता है। इन कर्मों की उत्पत्ति आस्रव पदार्थ से होती है क्योंकि मिथ्यात्व आदि आस्रव ही जीव के कर्मागमन के द्वार हैं।

जैसे वृक्ष से लगा हुआ फल पक कर नीचे गिर जाता है वैसे ही कर्म उदय में—विपाक अवस्था में आते हैं और फल देकर झड़ जाते हैं। कर्मों से बंधा हुआ संसारी जीव इस तरह कर्मों के झड़ने पर भी कर्मों से सर्वथा मुक्त नहीं होता क्योंकि वह आस्रव-द्वारों से सदा कर्म-संचय करता रहता है। यह पहले बताया जा चुका है कि जीव असंख्यात प्रदेशी चेतन द्रव्य है। उसका एक-एक प्रदेश आस्रव-द्वार है[2]। जीव के एक-एक प्रदेश से प्रतिसमय अनन्तानन्त कर्म लगते रहते हैं। एक-एक प्रकार के अनन्तानन्त कर्म एक-एक प्रदेश से लगते हैं। ये कर्म जैसे लगते हैं वैसे ही फल देकर प्रतिसमय अनन्त

१—तेराद्वार : दृष्टान्तद्वार

२—देखिए पृ० ४१७ टि० ३७ (२)

संख्या में झड़ते भी रहते हैं। इस तरह बंधने और झड़ने का चक्र चलता रहता है और जीव कर्मों से मुक्त नहीं होता।

स्वामीजी कहते हैं—"कर्मों को झाड़ने की प्रक्रिया को अच्छी तरह समझे बिना कर्मों से मुक्त होना असम्भव है। जैसे घाव में सुराख हो और पीप आती रहे तो उस अवस्था में ऊपर का मवाद निकलने पर भी घाव खाली नहीं होता, वैसे ही जब तक नये कर्मों के आगमन का स्रोत चलता रहता है तब तक फल देकर पुराने कर्मों के झड़ते रहने पर भी जीव कर्मों से मुक्त नहीं होता।"

३—उदय आदि भाव और निर्जरा (गा० ५-८) :

उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और परिणामी—इन पांच भावों का विवेचन पहले विस्तार से किया जा चुका है (देखिए पृ० ३८ टि० ६)।

संसारी जीव अनादि काल से कर्मबद्ध अवस्था में है। बंधे हुए कर्मों के निमित्त से जीव की चेतना में परिणाम—अवस्थान्तर होते रहते हैं। जीव के परिणामों के निमित्त से नए पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते हैं। नए कर्म-पुद्गलों के परिणमन से आत्मा में फिर नए भाव होते हैं[1]। यह क्रम इस तरह चलता ही रहता है। पुद्गल-कर्म जन्य जैविक परिवर्तन पर आत्मिक विकास-ह्रास, आरोह-अवरोह का क्रम अवलम्बित रहता है।

कर्म-परिणमन से जीव में नाना प्रकार की अवस्थाएँ और परिणाम होते हैं। उससे जीव में निम्न पारिणामिक भाव उत्पन्न होते हैं—

१-गति परिणाम—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवगति रूप
२-इन्द्रिय परिणाम—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि रूप
३-कषाय परिणाम—राग द्वेष रूप
४-लेश्या परिणाम—कृष्णलेश्यादि रूप
५-योग परिणाम—मन-वचन-काय व्यापार रूप
६-उपयोग परिणाम—बोध-व्यापार
७-ज्ञान परिणाम
८-दर्शन परिणाम—श्रद्धान रूप
९-चारित्र परिणाम
१०-वेद परिणाम[2]—स्त्री, पशु, नपुंसक वेद रूप

१—जीवपरिणामहेऊ कम्मत्ता पोग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मनिमित्तं जीवो वि तहेव परिणमइ ॥

२—ठाणाङ्ग १०.७१३

बंधे हुए कर्मों के उदय में आने पर जीवों में निम्न ३३ औदयिक भाव-अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं :

गति—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवगति ।

काय—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय ।

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ ।

वेद—स्त्री, पुरुष, नपुंसक ।

लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म, शुक्ल ।

अन्यभाव—मिथ्यात्व, अविरति, असंज्ञीभाव, अज्ञानता, आहारता, छद्मस्थता, सयोगित्व, अकेवलीत्व, सांसारिकता, असिद्धत्व ।

उदयावस्था परिपाक अवस्था है। बंधे हुए कर्म सत्तारूप में पड़े रहते हैं। फल देने का समय आने पर वे उदय में आते हैं। उदय में आने पर जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे औदयिक भाव हैं।

उदय आठों कर्मों का होता है। कर्मोदय जीव में उज्ज्वलता उत्पन्न नहीं करता।

आस्रव पदार्थ उदय और पारिणामिक भाव है। वह बंध-कारक है। वह संसार बढ़ाता है, उसे घटने नहीं देता।

मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से सम्यक् श्रद्धा और चारित्र का प्रादुर्भाव होता है। उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र—ये दो भाव उत्पन्न होते हैं। क्षय से अटल सम्यक्त्व और परम विशुद्ध यथाख्यात चारित्र उत्पन्न होते हैं।

संवर औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव है।

मोक्ष-प्राप्ति के दो चरण हैं—

(१) नये कर्मों का संचय न होने देना और

(२) पुराने कर्मों का दूर करना।

संवर प्रथम चरण है। वह नवीन मलीनता को उत्पन्न नहीं होने देता अतः आत्म-शुद्धि का ही प्रबल उपक्रम है। निर्जरा द्वितीय चरण है। वह बंधे हुए कर्मों को दूर करती है।

निर्जरा क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव है।

आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म घनघाती हैं, यह पहले बताया जा चुका है (देखिए पृ० २९८-३०० टि० ३)। इन

कर्मों के स्वभाव का विस्तृत वर्णन भी किया जा चुका है (देखिए पृ० ३०३–३२७ टि० ४-८)।

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त श्रद्धा और चारित्र तथा अनन्त वीर्य—ये जीव के स्वाभाविक गुण हैं। ज्ञानावरणीय कर्म अनन्त ज्ञान को प्रकट नहीं होने देता—उसे आवृत्त कर रखता है। दर्शनावरणीय कर्म अनन्त दर्शन-शक्ति को आवृत्त कर रखता है। मोहनीय कर्म जीव की अनन्त श्रद्धा और चारित्र को प्रकट नहीं होने देता—उसे मोह-विह्वल रखता है। अन्तराय कर्म अनन्त वीर्य के प्रकट होने में बाधक होता है। इस तरह ज्ञानावरणीय आदि चारों कर्म जीव के स्वाभाविक गुणों को प्रकट नहीं होने देते। घन—बादलों की तरह वे उनको आच्छादित कर रखते हैं इससे वे घनघाती कहलाते हैं।

इन घनघाती कर्मों का उदय चाहे कितना ही प्रबल क्यों न हो, वह जीव के ज्ञान' दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य गुणों को सम्पूर्णतः आवृत्त नहीं कर सकता। ये शक्तियाँ कुछ-न कुछ मात्रा में सदा अनावृत्त रहती हैं। ज्ञानावरणीय आदि घाति कर्म —ज्ञानादि गुणों की घात करते हैं पर उनके अस्तित्व को सर्वथा नहीं मिटा सकते। यदि मिटा सकते तो जीव अजीव हो जाता। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का सदा काल कुछ-न-कुछ क्षयोपशम रहता ही है जिससे ज्ञानादि गुण जीव में न्यूनाधिक मात्रा में हमेशा प्रकट रहते हैं। कहा है—"सब जीवों के अक्षर का अनन्तवाँ भाग नित्य प्रकट रहता है यदि वह भी आवृत्त होता तो जीव अजीवत्व को प्राप्त होता। अत्यन्त घोर बादलों द्वारा सूर्य और चन्द्रमा की किरणें तथा रश्मियों का आच्छादन होने पर भी उनका एकान्त तिरोभाव नहीं हो पाता। अगर ऐसा हो तो फिर रात और दिन का अन्तर ही न रहे। प्रबल मिथ्यात्व के उदय के समय भी दृष्टि किंचित् शुद्ध रहती है। इसी से मिथ्यादृष्टि के भी गुणस्थान संभव होता है[१]।"

१—कर्मग्रन्थ २ टीका :

'सव्व जीवाणं पि अणं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ, जइ पुण सोवि आवरिज्जा, तेणं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा', इत्यादि। तथाहि समुन्नतातिबहलजीमूतपटलेन दिनकररजनीकरकरनिकरतिरस्कारेऽपिनैकान्तेन तत्प्रभानाशः संपद्यते, प्रतिप्राणिप्रसिद्धदिनरजनीविभागाभावप्रसङ्गात्। एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदये काचिदविपर्यस्तापि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसंभवः।

इसी तरह कर्मों के क्षयोपशम से जीव हमेशा कुछ-न-कुछ स्वच्छ—उज्ज्वल रहता है। जीव प्रदेशों की यह स्वच्छता—उज्ज्वलता निर्जरा है। जैसे-जैसे कर्मों का क्षयोपशम बढ़ता है वैसे-वैसे आत्मा के स्वाभाविक गुण अधिकाधिक प्रकट होते जाते हैं—आत्मा की स्वच्छता—निर्मलता—उज्वलता बढ़ती जाती है। उज्वलता का यह क्रमिक विकास ही निर्जरा है।

४—निर्जरा और मोक्ष में अन्तर (गा० ६) :

निर्जरा शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा गया है—"**निर्ज्जरणं निर्जरा विशरणं परिशटनमित्यर्थः**[१] ।" इसका अर्थ है—कर्मों का परिशटन—दूर होना निर्जरा है। मोक्ष भी कर्मों का दूर होना ही है। फिर दोनों में क्या अन्तर है? इसका उत्तर है—"**देशतः कर्मक्षयो निर्जरा सर्वतस्तु मोक्ष इति**[२] ।" देश कर्मक्षय निर्जरा है और सर्व कर्मक्षय मोक्ष। आचार्य पूज्यपाद ने भी यही अन्तर बतलाया है—"**एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा। कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः**[३] ।" निर्जरा का लक्षण है एकदेश कर्मक्षय और मोक्ष का लक्षण है सम्पूर्ण कर्म-वियोग।

५—ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम और निर्जरा (गा० १०-१७) :

गा० १०-१७ के भाव को समझने के लिए निम्न बातों की जानकारी आवश्यक है :

(१)—ज्ञान पाँच प्रकार का है—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्यवज्ञान और (५) केवलज्ञान[४] । इनकी संक्षिप्त परिभाषा पहले दी जा चुकी है[५] । यहाँ इन ज्ञानों की विशेषताओं पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है :

(१) आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान) : अभिमुख आये हुए पदार्थ का जो नियमित बोध कराता है उस इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को आभिनिबोधिकज्ञान कहते हैं[६] ।

१—ठाणाङ्ग १.१६ टीका

२—वही

३—तत्त्वा० १.४ सर्वार्थसिद्धि

४—(१) भगवती ८.२

(ख) नन्दी : सूत्र १

५—देखिए पृ० ३०४

६—नन्दी सू० २४ :

अभिणिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहियनाणं

आभिनिवोधिक ज्ञानी आदेश से (सामान्य रूप से) सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व भाव को जानता-देखता है[१]।

(२) श्रुतज्ञान : जो सुना जाए वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। परन्तु मति श्रुतपूर्विका नहीं होती[२]। उपयुक्त (उपयोग सहित) श्रुतज्ञानी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व भाव को जानता-देखता है[३]।

(३) अवधिज्ञान : द्रव्य से अवधिज्ञानी बिना किसी इन्द्रिय और मन की सहायता से जघन्य अनन्त रूपी द्रव्यों को और उत्कृष्ट सभी रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है। क्षेत्र से जघन्य अंगुल मात्र क्षेत्र को और उत्कृष्ट लोकप्रमाण असंख्य खण्डों को अलोक में जानता-देखता है। काल से जघन्य आवलिका के असंख्य काल भाव को और उत्कृष्ट असंख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप अतीत-अनागत काल को जानता-देखता है। भाव से जघन्य और उत्कृष्ट से अनन्त भावों को जानता-देखता है। सर्व भावों के अनन्तवें भाग को जानता-देखता है[४]।

(४) मनःपर्यवज्ञान : यह ज्ञान बिना किसी मन या इन्द्रिय की सहायता से सभी जीवों के मन में सोचे हुए अर्थ को प्रकट करनेवाला है[५]। ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी द्रव्य से अनन्त प्रदेशी अनन्त स्कन्धों को जानता-देखता है। क्षेत्र से जघन्य अंगुल के असंख्यात भाग और उत्कृष्ट नीचे—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी भाग के नीचे के छोटे प्रतरों तक जानता है, उपर ज्योतिष्क विमान के उपरी तलपर्यन्त, तथा तिर्यक्-मनुष्य क्षेत्र के भीतर

१—भगवती ८.२ :

दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वदव्वाइं जाणइ पासति, खेत्तओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वखेत्तं जाणइ पासति, एवं कालओ वि, एवं भावओ वि।

२—नन्दी : सूत्र २४ :

सुणेइत्ति सुयं

३—भगवती ८.२ :

दव्वओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणति पासति, एवं खेत्तओ वि, कालओ वि। भावओ णं सुयनाणी उवउत्ते सव्वभावे जाणति, पासति।

४—नन्दी : सूत्र १६

५—नन्दी : सूत्र १८ गा० ६५ :

मणपज्जवनाणं पुण, जणमणपरिचिंतिअत्थपागडणं

ढाई द्वीप समुद्र पर्यन्त रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के मनोगत भावों को जानता-देखता है। काल से जघन्य और उत्कृष्टतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग भूत व भविष्य काल को जानता-देखता है। भाव से अनन्त भावों को जानता-देखता है। सभी भावों के अनन्तवें भाग को जानता-देखता है। विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को कुछ अधिक विपुल, विशुद्ध तथा अन्धकाररहित जानता-देखता है[1]।

(५) केवलज्ञान : केवलज्ञानी बिना किसी इन्द्रिय और मन की सहायता से द्रव्य से सर्व द्रव्यों को, क्षेत्र से लोकालोक सर्व क्षेत्र को, काल से सर्व काल को, भाव से सर्व भावों को जानता-देखता है। केवलज्ञान सभी द्रव्यों के परिणाम और भावों का जाननेवाला है। वह अनन्त, शाश्वत तथा अप्रतिपाती—नहीं गिरनेवाला होता है। केवलज्ञान एक प्रकार का है[2]।

२—अज्ञान तीन हैं—(१) मतिअज्ञान, (२) श्रुतअज्ञान और (३) विभंगज्ञान। यहाँ अज्ञान शब्द ज्ञान के विपरीतार्थ रूप में प्रयुक्त नहीं है। उसका अर्थ ज्ञान का अभाव ऐसा नहीं है। मिथ्यादृष्टि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान को ही क्रमशः मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान कहा गया है[3]।

(१) मतिअज्ञान: मतिअज्ञानी मतिअज्ञान के विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानता-देखता है।

(२) श्रुतअज्ञान : श्रुतअज्ञानी श्रुतअज्ञान के विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को कहता, जानता और प्ररूपित करता है।

१—(क) नन्दी : सू० १८

(ख) भगवती ८.२

२—(क) नन्दी : सू० २२ गा० ६६ :

अह सव्वदव्वपरिणाम,—भावविण्णत्तिकारणमणंतं।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं नाणं॥

(ख) भगवती ८.२

३—नन्दी : सू० २५ :

विसेसिया सम्मदिट्ठिस्स मई मइनाणं, मिच्छदिट्ठिस्स मई मइअन्नाणं।....
विसेसिअं सुयं सम्मदिट्ठिस्स सुअं सुयनाणं, मिच्छदिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं।

(३) विभंगज्ञान : विभंगज्ञानी विभंगज्ञान के विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानता-देखता है[१]।

३—ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार का है--मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्यव ज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय। इनके स्वरूप का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ० ३०४)।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से समुच्चयरूप में निम्न आठ बोल उत्पन्न होते हैं।

(१) केवलज्ञान को छोड़कर बाकी चार ज्ञान।

(२) तीनों अज्ञान

(३) आचाराङ्गादि १२ अङ्गों का अध्ययन और उत्कृष्ट में १४ पूर्वों का अभ्यास भिन्न-भिन्न ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम का परिणाम इस प्रकार होता है :

(१) मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यक्त्वी के मतिज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यात्वी के मतिअज्ञान।

(२) श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यक्त्वी के श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यात्वी के श्रुतअज्ञान। सम्यक्त्वी उत्कृष्ट १४ पूर्व का अभ्यास करता है और मिथ्यात्वी देशन्यून १० पूर्व तक।

(३) अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्यक्त्वी के अवधिज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यात्वी के विभंगज्ञान।

(४) मनःपर्यव ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ऋद्धिप्राप्त अप्रमत्त साधु को मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्यात्वी को यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

(५) केवलज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता। ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

१—भगवती ८.२ :

(क) दव्वओ णं मइअन्नाणी मइअन्नाणपरिगयाइं दव्वाइं जाणइ पासइ, एवं जाव भावओ मइअन्नाणी मइअन्नाणपरिगए भावे जाणइ पासइ।

(ख) दव्वओ णं सुयअन्नाणी सुयअन्नाणपरिगयाइं दव्वाइं आघवेति, पन्नवेइ, परूवेइ।

(ग) दव्वओ णं विभंगनाणी विभंगनाणपरिगयाइं दव्वाइं जाणइ पासइ; एवं जाव भावओ णं विभंगनाणी विभंगनाणपरिगए भावे जाणइ पासइ।

पाँच ज्ञानावरणीय कर्मों में से मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय का सदा कुछ-न-कुछ क्षयोपशम रहता है जिससे हर परिस्थिति में जीव के कुछ-न-कुछ मात्रा में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अनाच्छादित रहते हैं। अर्थात् प्रत्येक जीव के कुछ-न-कुछ मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान रहते ही हैं। मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय कर्मों का किंचित् क्षयोपशम नित्य रहने से, उस क्षयोपशम के अनुपात से जीव कुछ मात्रा में स्वच्छ—उज्ज्वल रहता है। जीव की यह उज्ज्वलता निर्जरा है। भगवती सूत्र के अनुसार दो ज्ञान अथवा दो अज्ञान से कमवाले जीव नहीं होते। उत्कृष्ट में चार ज्ञान अथवा तीन अज्ञान होते हैं। केवल केवलज्ञानी के एक केवलज्ञान होता है[1]। नन्दीसूत्र में भी मति और श्रुतज्ञान को तथा मति और श्रुतअज्ञान को एक दूसरे का अनुगत कहा है[2]। इससे भी कम-से-कम दो ज्ञान अथवा दो अज्ञानवाले ही जीव सिद्ध होते हैं।

६—ज्ञान और अज्ञान साकार उपयोग और क्षायोपशमिक भाव हैं (गा०१८):

उपयोग अर्थात् बोधरूप व्यापार। यह जीव का लक्षण है।

जो बोध ग्राह्यवस्तु को विशेषरूप से जानता है, उसे साकार उपयोग कहते हैं और जो बोध ग्राह्यवस्तु को सामान्यरुप से जानता है, उसे निराकार उपयोग कहते हैं। ज्ञान साकार उपयोग है और दर्शन निराकार उपयोग।

उपयोग के विषय में आगम में निम्न वार्त्तालाप मिलता है[3]—

"हे भगवन्! उपयोग कितने प्रकार का है?"

"हे गौतम! वह दो प्रकार का है—एक साकार उपयोग और दूसरा अनाकार उपयोग।"

"हे भगवन्! साकार उपयोग कितने प्रकार का है?"

१—भगवती ८.२ :

गोयमा! जीवा नाणी वि अन्नाणी वि; जे नाणी ते अत्थेगतिया दुन्नाणी··· ······जे दुन्नाणी ते आभिणिबोहियनाणी य सुयनाणी य। ············ जे अन्नाणी ते अत्थेगतिया दुअन्नाणी·········जे दुअन्नाणी ते मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य।

२—नन्दी : सू० २४ :

जत्थ आभिणिबोहियनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थाभिणिबोहियनाणं दोऽवि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं

३—(क) पन्नवणा पद २६

(ख) भगवती १६.७

"हे गौतम ! वह आठ प्रकार का कहा गया है—आभिनिबोधिकज्ञान साकारोपयोग (मतिज्ञान सा०), श्रुतज्ञान सा०, अवधिज्ञान सा०, मनःपर्यवज्ञान सा०, केवलज्ञान सा०, मतिअज्ञान सा०, श्रुतअज्ञान सा० और विभंगज्ञान साकारोपयोग।"

"हे भगवन् ! अनाकार उपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?"

"हे गौतम ! चार प्रकार का—चक्षुदर्शन अनाकारोपयोग, अचक्षुदर्शन अना०, अवधिदर्शन अना०, और केवलदर्शन अनाकारोपयोग।"

स्वामीजी का कथन इसी आगम उल्लेख पर आधारित है।

ज्ञान और अज्ञान दोनों साकार उपयोग हैं और दोनों का स्वभाव वस्तु को विशेष धर्मों के साथ जानना है। जो ज्ञान मिथ्यात्वी के होता है, उसे अज्ञान कहते हैं। ज्ञान और अज्ञान में इतना ही अन्तर है, विशेष नहीं। जैसे कुएँ का जल निर्मल, ठण्डा, मीठा, एक-सा होता है पर ब्राह्मण के पात्र में शुद्ध गिना जाता है और मातङ्ग के पात्र में अशुद्ध, वैसे ही मिथ्यात्वी के जो ज्ञान गुण प्रकट होता है, वह मिथ्यात्वसहित होने से अज्ञान कहा जाता है। वही विशेष बोध जब सम्यक्त्वी के उत्पन्न होता है तब ज्ञान कहलाता है।

ज्ञान-अज्ञान दोनों उज्ज्वल क्षायोपशमिक भाव हैं। वे आत्मा की निर्मलता—उज्ज्वलता के द्योतक हैं। ज्ञान-अज्ञान को प्रकट करनेवाली क्षयोपशमजन्य निर्मलता निर्जरा है।

७—दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम और निर्जरा (गा० १६-२३):

१—दर्शन चार प्रकार का कहा गया है—(१) चक्षुदर्शन (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन। इनकी परिभाषाएँ पहले दी जा चुकी हैं। (देखिए पृ० टि० ३०७)।

२—इन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रिय (२) चक्षुरिन्द्रिय, (३) घ्राणेन्द्रिय, (४) रसनेन्द्रिय और (५) स्पर्शनेन्द्रिय।

३—दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ हैं—(१) चक्षुदर्शनावरणीय, (२) अचक्षुदर्शनावरणीय, (३) अवधिदर्शनावरणीय, (४) केवलदर्शनावरणीय, (५) निद्रा, (६) निद्रा-निद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचला-प्रचला और (९) स्त्यानर्धि (स्त्यानगृद्धि)। इनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है (देखिए पृ० ३०७ टि० ५)।

समुच्चय रूप से दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से आठ बोल उत्पन्न होते हैं—पाँचों इन्द्रियाँ तथा केवलदर्शन को छोड़कर तीन दर्शन।

भिन्न-भिन्न दर्शनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से निम्न बोल उत्पन्न होते हैं :

(१) चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से दो बोल उत्पन्न होते हैं—(१) चक्षु इन्द्रिय और (२) चक्षु दर्शन।

(२) अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रोत्र, घ्राण, रस और स्पर्शन—ये चार इन्द्रियाँ और अचक्षुदर्शन प्राप्त होता है

(३) अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिदर्शन उत्पन्न होता है।

(४) केवलदर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता। दर्शनावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से केवलदर्शन उत्पन्न होता है।

दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियों में अचक्षुदर्शनावरणीय प्रकृति का किंचित् क्षयोपशम सदा रहता है। इससे अचक्षुदर्शन और स्पर्शनइन्द्रिय जीव के सदा रहते हैं। विशेष क्षयोपशम होने से चक्षु को छोड़ कर अवशेष चार इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं और उनसे अचक्षुदर्शन भी विशेष उत्कर्ष को प्राप्त होता है।

इसी तरह जिस-जिस प्रकृति का और जैसा-जैसा क्षयोपशम होता है उसके अनुसार वैसा-वैसा गुण जीव के प्रकट होता जाता है।

दर्शन किस तरह निराकार उपयोग है, यह पहले बताया जा चुका है। कर्मों के सम्पूर्ण क्षय होने पर जीव अनन्त दर्शन से सम्पन्न होता है तथा मन और इन्द्रियों की सहायता बिना वह सर्व भावों को एक साथ देखने लगता है। क्षयोपशमजनित पाँच इन्द्रिय और तीन दर्शनों से जीव में देखने की परिमित शक्ति उत्पन्न होती है। इस तरह क्षायोपशमिक दर्शन केवलदर्शन में समा जाता है। केवलदर्शन से जो देखने की अनन्त शक्ति प्रकट होती है उसी का अविकसित अंश क्षयोपशमजनित दर्शन है।

दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव में जो यह दर्शन-विषयक विशुद्धि—उज्ज्वलता उत्पन्न होती है, वह निर्जरा है।

८—मोहनीय कर्म का क्षयोपशम और निर्जरा (गा० २५-४०) :

उपर्युक्त गाथाओं के मर्म को समझने के लिए निम्न लिखित बातों को याद रखना आवश्यक है—

१—चारित्र पाँच हैं :—(१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र, (३) परिहारविशुद्धिक चारित्र, (४) सूक्ष्मसम्पराय चारित्र और (५) यथाख्यात चारित्र। इनका विवेचन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ० ५२३)। ये चारित्र सकल चारित्र हैं।

२—देशविरति : यह श्रावक के बारह व्रतरूप है ।

३—दृष्टियाँ तीन हैं—(१) सम्यक्‌दृष्टि, (२) मिथ्यादृष्टि और (३) सम्यक्‌मिथ्या दृष्टि ।

४—चारित्र मोहनीयकर्म की २५ प्रकृतियाँ हैं । (१-४) अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ, (५-८) अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ, (९-१२) प्रत्याख्याना-वरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ, (१३-१६) संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ, (१७) हास्य मोहनीय, (१८) रति मोहनीय, (१९) अरति मोहनीय, (२०) भय मोहनीय, (२१) शोक मोहनीय, (२२) जुगुप्सा मोहनीय, (२३) स्त्री वेद, (२४) पुरुष वेद और (२५) नपुसंक वेद ।

५—दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ होती हैं—(१) सम्यक्त्व मोहनीय, (२) मिथ्यात्व मोहनीय और (३) मिश्र मोहनीय ।

मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से समुच्चयरूप से आठ बातें उत्पन्न होती हैं—यथा-ख्यात चारित्र को छोड़कर अवशेष चार चारित्र, देशविरति और तीन दृष्टियाँ । चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से चार चारित्र और देशविरति तथा दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से तीन दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं ।

स्वामीजी ने चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से किस प्रकार उत्तरोत्तर चारित्रिक विशुद्धता प्राप्त होती है, इसका वर्णन यहाँ बड़े सुन्दर ढंग से किया है । क्रम इस प्रकार है :

(१) चारित्र मोहनीय की २५ प्रकृतियों में से कुछ सदा क्षयोपशमरूप में रहती हैं । इससे जीव अंशतः उज्ज्वल रहता है । इस उज्ज्वलता में शुभ अध्यवसाय का वर्तन होता है ।

(२) जब क्रमशः यह क्षयोपशम बढ़ता है तब गुणों में उत्कृष्टता आती है—क्षमा, दया आदि गुणों में वृद्धि होती है । शुभ लेश्या, शुभ योग, शुभ ध्यान, और शुभ परि-णाम का वर्तन होता है । ऐसा अन्तराय कर्म के क्षयोपशम और मोहनीयकर्म के दूर होने से होता है ।

(३) इस तरह शुभ ध्यान-परिणाम-योग-लेश्या से क्षयोपशम की वृद्धि होती है । अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ की प्रकृतियाँ क्षयोपशम को प्राप्त होती हैं और देश-विरति उत्पन्न होती है । इसी तरह क्षयोपशम की वृद्धि होते-होते यथाख्यात चारित्र के सिवाय चारों चारित्र उत्पन्न होते हैं ।

(४) चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न उपर्युक्त सारे गुण उत्तम हैं। सर्वचारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न यथाख्यात चारित्र के प्राप्त होने से जो गुण उत्पन्न होते हैं उनके ही अंशरूप हैं—उन्हीं के नमूने हैं।

(५) चारित्र विरति संवर है। उससे नए कर्मों का आगमन रुकता है। जीव पापों के दूर होने से निर्मल होता है तब चारित्र उत्पन्न होता है। चारित्र की क्रिया शुभयोग में है और उससे कर्म कटते हैं तथा क्षयोपशम भाव से जीव उज्ज्वल होता है। जीव के आत्म-प्रदेशों की यह निर्मलता निर्जरा है।

दर्शन मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से समुच्चयरूप से शुभ श्रद्धान उत्पन्न होता है—तीन उज्ज्वल दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं।

मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से मिथ्यादृष्टि उज्ज्वल होती है। इससे जीव कुछ पदार्थों की सत्य श्रद्धा करने लगता है।

मिश्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से सममिथ्यादृष्टि उज्ज्वल होती है। अब जीव और भी पदार्थों की शुद्ध श्रद्धा करने लगता है।

सम्यक्त्व मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से शुद्ध सम्यक्त्व प्रकट होता है और जीव नवों ही पदार्थों की शुद्ध श्रद्धा करने लगता है।

जब तक मिथ्यात्व मोहनीयकर्म का उदय रहता है तब तक सम्यक्‌मिथ्या दृष्टि नहीं आती। सम्यक्त्व मोहनीय का उदय रहता है तब तक क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता।

दर्शन मोहनीयकर्म का स्वभाव ही मनुष्य को भ्रम-जाल में डाले रहना—शुभ दृष्टि उत्पन्न न होने देना है।

दर्शन मोहनीयकर्म के सम्पूर्ण क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व सम्पूर्णतः विशुद्ध और अटल होता है। दर्शन मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न तीनों दृष्टियाँ क्षायिक सम्यक्त्व की अंशरूप हैं।

६—अन्तराय कर्म का क्षयोपशम और निर्जरा (गा०४१-५५) :

१—पाँच लब्धियाँ इस प्रकार हैं—(१) दान लब्धि, (२) लाभ लब्धि, (३) भोग लब्धि, उपभोग लब्धि और (५) वीर्य लब्धि।

२—तीन वीर्य इस प्रकार हैं—(१) बाल वीर्य, (२) पण्डित वीर्य और (३) बालपण्डित वीर्य। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है (देखिए पृ० ३२५ टि० ८ (५)।

३ —अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं—(१) दानान्तराय कर्म (२) लाभान्तराय कर्म (३) भोगान्तराय कर्म (४) उपभोगान्तराय कर्म और (५) वीर्यान्तराय कर्म।

अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से दान लब्धि उत्पन्न होती है जिससे जीव दान देता है।

अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से समुच्चयरूप में पाँच लब्धियाँ और तीन वीर्य उत्पन्न होते हैं।

दानान्तराय कर्म के क्षयोपशम से दान लब्धि उत्पन्न होती है जिससे जीव दान देता है।

लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से लाभ लब्धि प्रकट होती है जिससे जीव वस्तुओं को प्राप्त करता है।

भोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से भोग लब्धि उत्पन्न होती है जिससे जीव वस्तुओं का भोग करता है।

उपभोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उपभोग लब्धि उत्पन्न होती है जिससे जीव वस्तुओं का बार-बार भोग करता है।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से वीर्य लब्धि उत्पन्न होती है जिससे शक्ति उत्पन्न होती है।

अन्तराय कर्म की पाँचों प्रकृतियों का सदा देश क्षयोपशम रहता है जिससे जीव में पाँचों लब्धियाँ कुछ-न-कुछ मात्रा में रहती ही हैं।

अन्तराय कर्म की पाँचों प्रकृतियों का सदा देश क्षयोपशम रहने से पाँचों लब्धियों का निरन्तर अस्तित्व रहता है और जीव अंशमात्र उज्ज्वल रहता है।

जीव जब लब्धियों के अस्तित्व के कारण दान देता, लाभ प्राप्त करता, भोगोपभोगों का सेवन करता है तब योग-प्रवृत्ति होती है।

अन्तराय कर्म के न्यूनाधिक क्षयोपशम के अनुसार जीव को भोगोपभोगों की प्राप्ति होती है। साधु का खाना-पीना आदि भोगोपभोग निरवद्य योग है और गृहस्थ का भोगोपभोग सावद्य योग।

ऊपर कहा जा चुका है कि वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम भी निरन्तर रहता है। इसके परिणाम स्वरूप वीर्य लब्धि भी किंचित् मात्रा में हर समय मौजूद रहती है। जीव के हर समय कुछ-न-कुछ बालवीर्य रहता ही है।

वीर्य लब्धि का अस्तित्व निरन्तर रूप से चौदहवें गुणस्थान तक रहता है। बारहवें गुणस्थान तक यह क्षायोपशमिक भाव के रूप में रहती है और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में क्षायिक भाव के रूप में। वीर्य लब्धि जीव का गुण है। वह जीव की एक प्रकार की शक्ति है और उत्कृष्ट रूप में वह अनन्त होती है। अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से वह देश रूप से प्रकट होती है और क्षय से अनन्त रूप में।

यह पहले कहा जा चुका है कि वीर्य के तीन भेद हैं—बाल वीर्य, पण्डित वीर्य और बालपण्डित वीर्य।

जो अविरत होता है उसके वीर्य को बाल वीर्य कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान तक जीव के विरति नहीं होती। अतः उस गुणस्थान तक के जीवों के वीर्य को बाल वीर्य कहते हैं।

जो सम्पूर्ण संयमी होता है उसके वीर्य को पण्डित वीर्य कहते हैं। संयमी छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होता है। अतः पंडित वीर्य का अस्तित्व भी इन गुणस्थानों में रहता है।

जो कुछ अंशों में विरत और कुछ अंशों में अविरत होता है, उसे बालपंडित, श्रमणोपासक अथवा श्रावक कहते हैं। देशविरति पाँचवें गुणस्थान में होती है अतः बाल-पंडित वीर्य का अस्तित्व पाँचवें गुणस्थान में ही होता है।

वीर्य शक्ति है और योग वीर्य के स्फोटन से उत्पन्न मन, वचन और काय का व्यापार। योग दो तरह के होते हैं—सावद्य और निरवद्य। पर वीर्य क्षयोपशम और क्षायिक भाव है अतः वह किंचित् भी सावद्य नहीं।

वीर्य के अन्य दो भेद भी मिलते हैं—एक लब्धि वीर्य और दूसरा करण वीर्य। लब्धि वीर्य जीव की सत्तात्मक शक्ति है। लब्धि वीर्य सब जीवों के होता है। करण वीर्य क्रिया-त्मक शक्ति है—योग है—मन, वचन और काय की प्रवृत्तिस्वरूप है। यह जीव और शरीर दोनों के सहयोग से उत्पन्न होती है।

लब्धि वीर्य जीव की स्वाभाविक शक्ति है और करण वीर्य उस शक्ति का प्रयोग। जब तक जीव के शरीर-संयोग रहता है तभी तक करण वीर्य रहता है।

जब तक करण वीर्य रहता है तब तक पुद्गल-संयोग होता रहता है। पौद्गलिक संयोग के अभाव में करण वीर्य नहीं होता। और न उसके अभाव में योग-व्यापार होता है। जब तक जीव के कर्म लगते रहते हैं उसके योग और करण वीर्य समझना चाहिए।

लब्धि वीर्य तो जीव का स्वगुण है और वह अन्तराय कर्म के दूर होने से प्रकट होता है। आठ आत्माओं में वीर्य आत्मा का उल्लेख है। अतः लब्धि वीर्य भाव जीव है।

अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न लब्धियाँ आत्मा की अंशतः उज्ज्वलता की द्योतक हैं।

क्षयोपशम से उत्पन्न यह स्वच्छता—उज्ज्वलता निर्जरा है।

१०—मोहकर्म का उपशम और निर्जरा (गा० ५६-५७) :

आठ कर्मों में उपशम एक मोहकर्म का ही होता है। अन्य सात कर्मों का उपशम नहीं होता[१]। मोहनीयकर्म के उपशम से जीव में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं। सम्यक्त्व और चारित्र औपशमिक भाव हैं। मोहनीयकर्म दो प्रकार का है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के उपशम से उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और चारित्र मोहनीय के उपशम से उपशम चारित्र।

श्री जयाचार्य ने कहा है—"कर्म के उपशम से उत्पन्न भावों को उपशम भाव कहते हैं। प्रश्न है उपशम भाव छह द्रव्यों में कौन-सा द्रव्य है एवं नव पदार्थों में कौन-सा पदार्थ ? उपशम भाव षट् द्रव्यों में जीव है तथा नव पदार्थों में जीव और संवर[२]।"

११—क्षायिक भाव और निर्जरा (गा० ५८-६२)

कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें क्षायिक भाव कहते हैं। क्षय आठों ही कर्मों का होता है[३]।

१—(क) अनुयोगद्वार ११३ :

से किं तं उवसमे ? उवसमे मोहणिज्ज कम्मस उवसमेणं, से तं उवसमे

(ख) झीणी चर्चा ढा० २.२१ :

सात कर्म रो तो उपशम न होवै, मोहकर्म रो होय।

२—(क) झीणीचर्चा ढा० २.८ :

उपशम निपन छ में जीव कहीजै, नवतत्त्व मांहि दोय वर न्याय।
जीव अनें संवर विहुं जांणो, कर्म उपशमिया निपना उपशम भाव ॥

(ख) वही ढा० ३.५ :

मोहकम्र्म उपशम निपन्न ते, छ द्रव्य मांहि जीव।
नव में जीव संवर कह्यो, उत्तम गुण है अतीव ॥

३—अनुयोग द्वार ११४ :

से किं तं खइए ? खइए अट्ठण्हं कम्म पगडीणं खएणं से तं खइए

स्वामीजी ने यहाँ घनघाती कर्मों के क्षय से उत्पन्न क्षायिकभावों की चर्चा की है।

चारों घनघाती कर्मों के क्षय से समुच्चयरूप से जीव के नौ बोल उत्पन्न होते हैं—केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, दान लब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि और वीर्य लब्धि।

भिन्न-भिन्न घाती कर्मों की अपेक्षा क्षय से उत्पन्न भावों का विवरण इस प्रकार है :

ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय होने से क्षायिकभाव केवलज्ञान उत्पन्न होता है। दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से क्षायिकभाव केवलदर्शन उत्पन्न होता है। मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से क्षायिकभाव सम्यक्त्व और क्षायिकभाव चारित्र प्राप्त होते हैं। अन्तराय कर्म के सर्वथा क्षय से पाँचों क्षायिक लब्धियाँ—दानलब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि और वीर्य लब्धि प्रकट होती हैं। क्षायिक अनन्त वीर्य उत्पन्न होता है।

घाती कर्मों के सर्वथा क्षय से जो भाव उत्पन्न होते हैं—वे आत्मा की विशुद्ध स्थिति के द्योतक हैं। इन कर्मों के क्षय से आत्मा में अनन्त चतुष्टय उत्पन्न होता है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य। घाती कर्मों के क्षय से आत्मा का इस प्रकार से उज्ज्वल होना निर्जरा है।

श्री जयाचार्य लिखते हैं—

"ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से निष्पन्न क्षायिक केवलज्ञान षट् द्रव्यों में जीव और नौ पदार्थों में जीव और निर्जरा है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से निष्पन्न क्षायिक केवल दर्शन षट् द्रव्यों में जीव और नौ पदार्थों में जीव और निर्जरा है। मोहकर्म के क्षय से निष्पन्न क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र षट् द्रव्यों में जीव और नौ पदार्थों में जीव, संवर और निर्जरा है। दर्शनमोह के क्षय से उत्पन्न क्षायिक सम्यक्त्व षट् द्रव्यों में जीव और नौ पदार्थों में जीव, संवर और निर्जरा है। चतुर्थ गुणस्थान में होनेवाला क्षायिक सम्यक्त्व षट् द्रव्यों में जीव और नौ पदार्थों में जीव और निर्जरा है। वह संवर नहीं है। विरत की क्षायिक सम्यक्त्व षट् द्रव्यों में जीव और नौ पदार्थों में जीव और संवर है। यह पाँचवें गुणस्थान से शुरू होता है। चारित्रमोह के क्षय से उत्पन्न क्षायिक चारित्र षट् द्रव्यों में जीव और नव पदार्थों में जीव और संवर है। अन्तराय कर्म के क्षय से

उत्पन्न पाँच क्षायिक लब्धियाँ षट् द्रव्यों में जीव और नौ पदार्थों में जीव और निर्जरा है[1]।"

१२—तीन निर्मल भाव (गा० ६३-६५)

उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम—इन चार भावों में उदयभाव बंध का हेतु है और बाद के तीन भाव मुक्ति के हेतु। कर्मों के उदय से आत्मा मलीन होती है और उनके उपशम, क्षय और क्षयोपशम से निर्मल—उज्ज्वल। उपशम और क्षयोपशम आत्मा के प्रदेशों को सर्वतः उज्ज्वल नहीं करते, पर उनमें देश उज्ज्वलता लाते हैं। कर्मों के उपशम और क्षयोपशम से उत्पन्न भाव जीव के गुणरूप होते हैं। इन भावों से जीव को आत्मा के मूल स्वरूप की देश अनुभूति होती है। निर्जरा और मोक्ष में इतना ही अन्तर है कि मोक्ष आत्मा के शुद्ध स्वरूप की सम्पूर्ण अनुभूति है और निर्जरा अकृत्स्न अनुभूति। "स्वामीजी कहते हैं—जैसे देश विरति सम्पूर्ण विरति का अंश है वैसे ही निर्जरा मोक्ष का अंश है। जैसे सम्पूर्ण त्याग कर देने से देश विरति ही सम्पूर्ण विरति में परिणत होती है वैसे ही सम्पूर्ण कर्म-क्षय होने पर निर्जरा ही मोक्ष का रूप धारण कर लेती है। जैसे

१—झीणीचर्चा ३ :

ज्ञानावर्णी क्षायक निपन्न ते, छ में जीव पिछांण।
नव में जीव ने निर्जरा, केवलज्ञान सुजांण॥
दर्शनावर्णी क्षायक निपन्न ते, छ में जीव पिछांण।
नव में दोय जीव निर्जरा, केवलदर्शण जांण॥
मोह कर्म क्षायक निपन्न ते, छ में जीव सुजोय।
नव में जीव संवर निर्जरा, दर्शण चारित्र दोय॥
दर्शण मोह क्षायक निपन्न ते, छ में जीव है तांम।
नव में जीव संवर निर्जरा, क्षायक सम्यक्त पाम॥
क्षायक सम्यक्त चौथा गुण ठाणां तणी, छ में जीव विख्यात!
नव में दोय जीव निर्जरा, संवर नहीं तिलमात॥
क्षायक सम्यक्त विरतवंत री, छ में जीव सुजांण।
नव में जीव संवर कह्यो, पांचमां सूं पिछांण॥
चारित्र मोह क्षायक निपन्न ते, छ में जीव सुजांण।
नव में जीव संवर बिरत ते, क्षायक चारित्र पिछांण॥
अंतराय क्षायक निपन्न ते, छ में जीव पिछांण।
नव में दोय जीव निर्जरा, पांच क्षायक लबध जांण॥

समुद्र के जल का एक बिंदु समुद्र के समग्र जल से भिन्न नहीं होता वैसे ही निर्जरा मोक्ष से भिन्न तत्त्व नहीं, पर केवल उसका एक अंश है। देशतः कर्मों का क्षय कर आत्म-प्रदेशों का देशतः उज्ज्वल होना निर्जरा है और सम्पूर्णरूप से कर्म-क्षय कर आत्म-प्रदेशों का सम्पूर्णतः उज्ज्वल होना मोक्ष।

"जैसे संवर आस्रव का प्रतिपक्ष है वैसे ही निर्जरा बन्ध का प्रतिपक्ष है। आस्रव का संवर और बन्ध की निर्जरा होती है। निर्जरा से आत्मा का परिमित स्वरूपोदय होता है। पूर्ण संयम और पूर्ण निर्जरा होते ही आत्मा का पूर्णोदय हो जाता है—मोक्ष हो जाता है[1]।"

१—जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व पृ० २८२

निरजरा पदारथ (ढाल : २)

दुहा

१—निरजरा गुण निरमल कह्यों, ते उजल गुण जीव रो वशेख ।
ते निरजरा हुवें छें किण विधें, सुणजो आंण ववेक ॥

२—भूख तिरषा सी तापादिक, कष्ट भोगवें विविध परकार ।
उदे आया ते भोगव्यां, जब करम हुवें छें न्यार ॥

३—नरकादिक दुःख भोगव्यां, करम घस्यां थी हलको थाय ।
आ तो सहजां निरजरा हुइ जीव रे, तिणरो न कीयों मूल उपाय ॥

४—निरजरा तणो कामी नहीं, कष्ट करें छें विविध परकार ।
तिणरा करम अल्प मातर झरें, अकांम निरजरा नों एह विचार ॥

५—अह लोक अर्थे तप करें, चक्रवतादिक पदवी कांम ।
केइ परलोक नें अर्थे करें, नहीं निरजरा तणा परिणांम ॥

६—केइ जस महिमा वधारवा, तप करें छें तांम ।
इत्यादिक अनेक कारण करें, ते निरजरा कही छें अकांम ॥

७—सुध करणी करें निरजरा तणी, तिण सूं करम कटें छें तांम ॥
थोडो घणों जीव उजलो हुवें, ते सुणजो राखे चित ठांम ॥

निर्जरा पदार्थ (ढाल २)

दोहा

१—भगवान ने निर्जरा को निर्मल गुण कहा है। निर्जरा जीव का विशेष उज्ज्वल गुण है। अब निर्जरा किस प्रकार होती है, यह विवेकपूर्वक सुनो।

अकाम सकाम निर्जरा (दो० २-६)

२—जीव भूख, प्यास, शीत, तापादि के विविध कष्टों को भोगता है। उदय में आए हुए कर्मों को इस तरह भोगने से कर्म अलग होते हैं।

३—नरकादिक दुःखों के भोगने से उदय में आए हुए कर्म घिस कर हल्के हो जाते हैं। यह जीव के सहज निर्जरा होती है। इसके लिए जीव की ओर से जरा भी प्रयास नहीं होता।

४—जो निर्जरा का कामी नहीं होता फिर भी अनेक तरह के कष्ट करता है, उसके कर्म अल्पमात्र झड़ते हैं। यह अकाम निर्जरा का स्वरूप है।

५-६—कई इस लोक के सुख के लिए—चक्रवर्ती आदि पदवियों की कामना से, कई परलोक के सुख के लिए और कई यश-महिमा बढ़ाने के लिए तप करते हैं। इत्यादि अनेक कारणों से जो तप किया जाता है तथा जिस तप में कर्म-क्षय करने के परिणाम नहीं रहते—वह अकाम निर्जरा कहलाती है[१]।

७—अब निर्जरा की शुद्ध करनी के विषय में ध्यानपूर्वक सुनो, जिससे कम अधिक मात्रा में कर्म कटते हैं।

ढाल : २

(दूजो मंगल सिद्ध नमुं नित—ए देशी)

१—देस थकी जीव उजल हुवो छें, ते तो निरजरा अनूप जी।
हिवें निरजरा तणी सुध करणी कहूं छूं, ते सुणजो धर चूंप जी॥
आ सुध करणी छें करम काटण री*॥

२—ज्यूं साबू दे कपडा नें तपावें, पांणी सूं छांटे करें संभाल जी।
पछें पांणी सूं धोवें कपडा नें, जब मेल छूटे ततकाल जी॥

३—ज्यूं तप कर नें आतम नें तपावे, ग्यांन जल सूं छांटे ताय जी।
ध्यांन रूप जल मांहें झखोले, जब करम मेल छूट जाय जी॥

४—ग्यांन रूप साबण सुध चोखें, तप रूपी निरमल नीर जी।
धोबी ज्यूं छें अंतर आतमा, ते धोवे छें निज गुण चीर जी॥

५—कांमी छें एकंत करम काटण रो, और वंछा नहीं काय जी।
ते तो करणी एकंत निरजरा री, तिण सूं करम झड जाय जी॥

६—करम काटण री करणी चोखी, तिणरा छें बारे भेद जी।
तिण करणी कीयां जीव उजल हुवें छें, ते सुणजो आंण उमेद जी॥

७—अणसण करे च्यारूं आहार त्यागे, करें जावजीव पचखांण जी।
अथवा थोडा काल तांइ त्यागे, एहवी तपसा करें जांण २ जी॥

---

*आगे की प्रत्येक गाथा के अन्त में यह आँकड़ी पढ़नी चाहिए।

ढाल : २

१—जीव का एकदेश उज्ज्वल होना अनुपम निर्जरा है। अब निर्जरा की शुद्ध करनी का विवेचन करता हूँ। स्थिर चित्त रहकर सुनो। नीचे बताई हुई करनी कर्म काटने की शुद्ध विधि है।

निर्जरा और धोबी का दृष्टान्त (गा० २-४)

२-३—जिस तरह पहिले साबुन डालकर कपड़ों को तपाया जाता है फिर उनको संभाल कर जल से छाँटा जाता है और फिर साफ जल से धोने से तत्काल कपड़ों का मैल छूट जाता है, उसी तरह आत्मा को पहिले तप द्वारा तपाने से, फिर ज्ञानरूपी जल से छाँटने से और अन्त में ध्यानरूपी जल में धोने से जीव का कर्मरूपी मैल दूर हो जाता है।

४—ज्ञानरूपी शुद्ध साबुन से, तपरूपी निर्मल नीर से, अंतर आत्मारूपी धोबी अपने निज गुणरूपी कपड़ों को धोता है[२]।

निर्जरा की शुद्ध करनी

५—जो केवल कर्म-क्षय करने का ही कामी है, जिसे और किसी प्रकार की कामना नहीं है, वही निर्जरा की सच्ची करनी करता है और उसका कर्म-मैल झड़ जाता है।

निर्जरा की करनी के बारह भेद (गा० ६-४५)

६—कर्म-क्षय करने की उत्तम करनी के बारह भेद हैं। उन्हें उल्लासपूर्वक सुनो। इस करनी से जीव उज्ज्वल होता है[३]।

अनशन (गाथा ७-९)

७—निर्जरा की हेतु प्रथम करनी अनशन है। चार प्रकार के आहार का कुछ काल के लिए या यावज्जीवन के लिए स्वेच्छापूर्वक त्याग कर तपस्या करना अनशन कहलाता है।

८—सुध जोग रूंध्या साधु रे हूवो संवर, श्रावक रे विरत हुइ ताय जी।
पिण कष्ट सह्यां सूं निरजरा हुवे, तिणसूं घाल्यो छे निरजरा मांय जी॥

९—ज्यूं २ भूख तिरषा लागें, ज्यूं २ कष्ट उपजें अतंत जी।
ज्यूं २ करम कटें हुवें न्यारा, समें २ खिरे छें अनंत जी ॥

१०—उणो रहें ते उणोदरी तप छें, ते तो दरब नें भाव छें न्यार जी।
दरब ते उपगरण उणा राखें, वले उणोइ करें आहार जी ॥

११—भाव उणोदरी क्रोधादिक वरजे, कलहादिक दिये छें निवार जी।
समता भाव छें आहार उपधि थी, एहवो उणोदरी तप सार जी॥

१२—भिष्याचरी तप भिष्या त्याग्यां हुवें, ते अभिग्रहा छें विवध परकार जी ।
ते तो दरब षेतर काल भाव अभिग्रह छें, त्यांरो छें बोहत विस्तार जी ॥

१३—रस रो त्याग करें मन सुधे, छांड्यो विगयादिक रो सवाद जी।
अरस विरस आहार भोगवे समता सूं, तिणरे तप तणी हुवें समाद जी ॥

१४—काया कलेस तप कष्ट कीयां हुवें, आसण करें विविध परकार जी ।
सी तापादिक सहे खाज न खणे, वलें न करें सोभा नें सिणगार जी ॥

८—इस प्रकार अनशन करने से साधु के शुभ योगों का निरोध होने से संवर होता है। श्रावक के अविरति दूर होने से विरति संवर होता है। परन्तु कष्ट सहने से दोनों के कर्मों का क्षय होता है, इसलिए अनशन को निर्जरा के भेदों में स्थान दिया है।

९—जैसे-जैसे भूख और प्यास बढ़ती है वैसे-वैसे कष्ट भी बढ़ता जाता है और जैसे-जैसे कष्ट बढ़ता जाता है वैसे-वैसे अधिकाधिक कर्म क्षय होकर अलग होते जाते हैं। इस तरह प्रतिसमय अनन्त कर्म आत्म-प्रदेशों से झड़ते हैं[४]।

१०—ऊन रहना ऊनोदरी तप है। द्रव्य और भाव, इस तरह ऊनोदरी तप के दो भेद हैं। उपकरण कम रखना और भरपेट आहार न करना—द्रव्य ऊनोदरी तप है।

ऊनोदरी (गा० १०-११)

११—क्रोधादिक का रोकना, कलह आदि का निवारण करना भाव ऊनोदरी तप है। आहार और उपधि में समभाव रखना उत्तम ऊनोदरी तप है[५]।

१२—भिक्षा-त्याग से भिक्षाचरी तप होता है। भिक्षा-त्याग की प्रतिज्ञा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से विविध प्रकार की होती है। इन अभिग्रहों का विस्तार बहुत लम्बा है[६]।

भिक्षाचरी

१३—शुद्ध मन से रसों का त्याग कर, घी आदि विकृतियों के स्वाद को छोड़ने से तथा अरस और विरस आहार के भोजन में भी समभाव—अम्लानभाव रखने से जीव के रस-परित्याग तप की साधना होती है[७]।

रसत्याग

१४—शरीर को कष्ट देने से कायक्लेश तप होता है। विविध प्रकार के आसन करना, शीत तापादि सहना, शरीर न खुजलाना, शरीर-शोभा और श्रृंगार न करना आदि अनेक प्रकार का कायक्लेश तप है[८]।

कायक्लेश

१५—परीसंलीणीया तप च्यार परकारें, त्यारां जूआजूआ छें नांम जी ।
इंद्री कषाय नें जोग संलीणीया, विवतसेंणासणसेवणा तांम जी ॥

१६—सोतइंद्री नें विषें नां सब्द सूं रूंधे, विषें सब्द न सुणे किं वार जी ।
कदा विषें रा सब्द कानां में पडीया, तो राग धेष न करें लिगार जी ॥

१७—इम चषूइंद्री रूप सूं संलीनता, घणइंद्री गंध सूं जांण जी ।
रसइंद्री रस सूं नें फरसइंद्री फरस सूं, सुरतइंद्री ज्यूं लीजो पिछांण जी ॥

१८—क्रोध उपजावारो रूंधण करवो, उदे आयों निरफल करें तांम जी ।
मांन माया लोभ इम हिज जांणों, कषाय संलीणीया तप हूवें आंम जी ॥

१९—माठुआ मन नें रूंधे देणों, भलो मन परवरतावणो तांम जी ।
इम हिज वचन नें काया जांणों, जोग संलीणीया हूवें आंम जी ॥

२०—अस्त्री पसू पिंडग रहीत थांनक सेवे, ते सुध निरदोषण जांण जी ।
पीढ पाटादिक निरदोषण सेवें, विवतसेंणासण एम पिछांण जी ॥

२१—छव परकारें बाह्य तप कह्यों छें, ते प्रसिध चावो दीसंत जी ।

१५—प्रतिसंलीनता तप चार प्रकार का होता है। अलग-अलग नाम ये हैं—(१) कषाय प्रतिसंलीनता, (२) इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, (३) योग प्रतिसंलीनता और (४) विविक्त-शयनासनसेवनता।

प्रतिसंलीनता (गा० १५-२०)

१६—श्रुत इन्द्रिय को विषयपूर्ण शब्दों से रोकना, विषय के शब्द न सुनना, विषय के शब्द कान में पड़ें तो उन पर राग-द्वेष न लाना श्रुत इन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप है।

१७—इसी तरह चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप, घ्राणेन्द्रिय का विषय गंध, रसनेन्द्रिय का विषय रस और स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श है। इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोकना क्रमशः श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप कहलाता है।

१८—क्रोध को उत्पन्न न होने देना, उदय में आने पर उसे निष्फल करना; इसी तरह मान, माया और लोभ को रोकना और उदय में आने पर उन्हें निष्फल करना कषाय संलीनता तप कहलाता है।

१९—मन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना और शुभ भावों में उसकी प्रवृत्ति करना और इसी तरह वचन और काय के सम्बन्ध में करना योग संलीनता तप कहलाता है।

२०—स्त्री, पशु और नपुंसकरहित तथा निर्दोष स्थानक एवं शय्या आसन का सेवन करना विविक्तशय्यासन तप कहलाता है[९]।

२१—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रस-परित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता—ये जो तप ऊपर में कहे गए हैं, वे छहों बाह्य तप हैं। वे लोक-प्रसिद्ध और बाहर से प्रकट होते हैं अतः उन्हें बाह्य तप कहा गया है। भगवान ने आभ्यन्तर तप भी छह बतलाए हैं। अब उनका वर्णन करता हूँ[१०]।

बाह्य तप : आभ्यन्तर तप

२२—प्रायछित कह्यों छें दस परकारें, दोष आलोए प्रायछित लेवंत जी।
ते करम खपाय आराधक थावें, ते नो मुगत में बेगो जावंत जी॥

२३—विनों तप कह्यों सात परकारें, त्यांरो छें बोहत विसतार जी।
ग्यांन दरसण चारित मन विनों, वचन काया नें लोग ववहार जी॥

२४—पांचूं ग्यांन तणा गुण ग्रांम करणा, ए ग्यांन विनों करणो छें एह जी।
दरसण विनां रा दोय भेद छें, सुसरषा नें अणासातणा तेह जी॥

२५—सुसरषा बडां री करणी, त्यांनें बंदणा करणी सीस नांम जी।
ते सुसरषा दस विध कही छें, त्यांरा जूआजूआ नांम छें तांम जी॥

२६—गुर आयां उठ उभो होवणो, आसन छोंडणो तांम जी।
आसन आमंत्रणो हरष सूं देणो, सतकार नें समांण देणो आंम जी॥

२७—बंदणा कर हाथ जोडी रहें उभो, आवता देख सांह्मो जाय जी।
गुर उभा रहें त्यां लग उभा रहिणो, जायें जब पोहचावण जावें ताय जी॥

२८—अणअसातणा विनां रा भेद, पेंतालीस कह्या जिणराय जी।
अरिहंत नें अरिहंत परूप्यो धर्म, वले आचार्य नें उवभाय जी॥

२९—थिवर कुल गण संघ नों विनों, किरीयावादी संभोगी जांण जी।
मति ग्यांनादिक पांचूंई ग्यांन रो, ए पनरेंइ बोल पिछांण जी॥

२२—प्रथम आभ्यन्तर तप प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त दस प्रकार का बताया गया है। प्रायश्चित्त का अर्थ दोषों की आलोचना कर उनके लिए दण्ड लेना होता है। जो दोषों की आलोचना कर प्रायश्चित्त करते हैं, वे कर्मों का क्षय करते हैं और आराधक बन शीघ्र मोक्ष को पहुँचते हैं[११]। — प्रायश्चित्त

२३—विनय दूसरा आभ्यन्तर तप है। यह सात प्रकार का कहा गया है—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) चारित्र, (४) मन, (५) वचन, (६) काय और (७) लोक-व्यवहार विनय। इनका बहुत विस्तार है। — विनय (गा० २३-३७)

२४—पाँचों प्रकार के ज्ञान की गुणगरिमा करना ज्ञानविनय है। दर्शनविनय के दो भेद हैं—(१) शुश्रूषा और (२) अनासातना।

२५—शुश्रूषा अर्थात् वयोवृद्ध साधुओं की सेवा करना, नत मस्तक हो उनकी वन्दना करना। यह शुश्रूषा भिन्न-भिन्न नाम से दस प्रकार की है।

२६-२७—गुरु आने से खड़ा होना, आसन छोड़ना, आसन के लिए आमन्त्रण कर हर्षपूर्वक आसन देना, सत्कार-सन्मान देना, वन्दना कर हाथ जोड़े खड़ा रहना, आते देखकर सामने जाना, जब तक गुरु खड़े रहें खड़ा रहना, जब जायें तब पहुँचाने जाना—शुश्रूषा विनय है।

२८-२९—अनासातनाविनय के भगवान ने ४५ भेद कहे हैं। अरिहंत और अरिहंतप्ररूपित धर्म, आचार्य और उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, क्रियावादी, संभोगी (समान धार्मिक), मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान—ये पंद्रह बोल हैं।

३०—यांरी आसातना टालणी न विनां करणों, भगत कर देणो बहु संमाण जी।
गुणग्रांम करे नें दीपावणा त्यांनें, दरसण विनों छें सुध सरधांन जी॥

३१—यां पनरां बोलां में पांच ग्यांन फेर कह्यां छें, ते दीसे छें चारित सहीत जी।
ए पांच ग्यांन ने फेर कह्या त्यांरी, विनां तणी ओर रीत जी॥

३२—सामायक आदि दे पांचूंई चारित, त्यांरो विनों करणो जथा जोग जी।
सेवा भगत त्यांरी हरष सूं करणी, त्यांसूं करणो निरदोष संभोग जी॥

३३—सावद्य मन नें परो निवारे, ते सावद्य छें बारे परकार जी।
बारे परकार निरवद मन परवरतावे, तिण सूं निरजरा हुवें श्रीकार जी॥

३४—इम हिज सावद्य वचन बारे भेदे, तिण सावद्य नें देवे निवार जी।
निरवद वचन बोले निरदोषण, बारेइ बोल वचन विचार जी॥

३५—काया अजेंणा सूं नहीं प्रवरतावे, तिणरा भेद कह्या सात जी।
ज्यूं सात भेद काया जेंणा सूं परवरतावे, जब करम तणी हुवें घात जी॥

३६—लोग ववहार विनों कह्यों सात परकारे, गुर समीपे वरतवो तांम जी।
गुरवादिक रे छांदे चालणो, ग्यांनादिक हेते करणों त्यांरो कांम जी॥

३७—भणायो त्यांरो विनों वीयावच करणी, आरत गवेष करणों त्यांरो काम जी।
प्रसताव अवसर नों जांण हुवेणों, सर्व कार्य करणो अभिरांम जी॥

३०—इनकी असातना से दूर रह इनका विनय करना, भक्ति कर बहुमान देना तथा गुणगान कर उनकी महिमा बढ़ाना—यह दर्शन विनय की शुद्ध रीति है।

३१—उपर्युक्त पन्द्रह बोलों में पाँच ज्ञान का पुनरुल्लेख हुआ है। वे चारित्र-सहित ज्ञान मालूम देते हैं। ये जो यहाँ पाँच ज्ञान कहे हैं, उनके विनय की रीति भिन्न है।

३२—सामायिक आदि पाँचों चारित्रशीलों का यथायोग्य विनय करना, उनकी हर्षपूर्वक सेवा-भक्ति करना और उनसे निर्दोष संभोग करना—ज्ञान विनय है

३३—सावद्य मन, जो बारह प्रकार का है, उसे दूर करना और उतने ही प्रकार का जो निरवद्य मन है उसकी प्रवृत्ति करना मन-विनय है। इससे उत्तम निर्जरा होती है।

३४—इसी तरह सावद्य भाषा बारह प्रकार की है। सावद्य को दूर कर निर्दोष—निरवद्य भाषा बोलना वचन-विनय है।

३५—अयतनापूर्वक काय-प्रवृत्ति के ७ भेद हैं। इनको दूर कर काय की यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से कर्मों का क्षय होता है। यतनापूर्वक काय-प्रवृत्ति के भी सात भेद हैं, यह काय-विनय तप है।

३६-३७—लोक व्यवहार (लोकोपचार) विनय के सात भेद हैं—(१) गुरु के समीप रहना, (२) गुरु की आज्ञा अनुसार चलना, (३) ज्ञानादि के लिए उनका कार्य करना, (४) ज्ञान दिया हो उनकी वैयावृत्त्य करना, (५) आर्त-गवेषणा करना, (६) अवसर का जानकार होना और (७) गुरु के सब कार्य अच्छी तरह करना[१२]।

३८—वीयावच तप छें दस परकारे, ते वीयावच साधां री जांण जी।
करमां री कोड खपे छें तिण थी, नेड़ी हुवें छें निरवांण जी॥

३९—सभाय तप छें पांच परकारे, जे भाव सहीत करें सोय जी।
अर्थ नें पाठ विवरा सुध गिणीया, करमां रा भड खय होय जी॥

४०—आरत रुदर ध्यांन निवारे, ध्यावें धर्म नें सुकल ध्यांन जी।
ध्यावतो २ उतकष्टों ध्यावें, तो उपजें केवलग्यांन जी॥

४१—विउसग तप छें तजवा रो नांम, ते तो दरब नें भाव छें दोय जी।
दरब विउसग च्यार परकारे, ते विवरो सुणो सहू कोय जी॥

४२—सरीर विउसग सरीर रो तजवो, इम गण नों विउसग जांण जी।
उपधि नों तजवो ते उपधि विउसग, भात पांणी रो इमहिज पिछांण जी॥

४३—भाव विउसग रा तीन भेद छें, कषाय संसार नें करम जी।
कषाय विउसग च्यार परकारे, क्रोधादिक च्यांरू छोड्यां छें धर्म जी॥

४४—संसार विउसग संसार नों तजवो, तिणरा भेद छें च्यार जी।
नरक तिर्यंच मिनष नें देवा, त्यांनें तज नें त्यांसूं हुवें न्यार जी॥

४५—करम विउसग छें आठ परकारे, तजणां आठूंइ करम जी।
त्यांनें ज्यूं ज्यूं तजे ज्यूं हलको होवें, एहवी करणी थी निरजरा धर्म जी॥

३८—वैयावृत्त्य तीसरा आभ्यन्तर तप है। यह तप दस प्रकार का है। ये दसों ही वैयावृत्त्य साधु की होती हैं। इनसे कर्म-कोटि का क्षय होता है और जीव मोक्ष के समीप होता है[१३]। — वैयावृत्त्य

३९—स्वाध्याय तप चौथा आभ्यन्तर तप है। स्वाध्याय तप पाँच प्रकार का है। शुद्ध अर्थ और पाठ का भाव सहित स्वाध्याय करने से कर्म-कोटि का नाश होता है[१४]। — स्वाध्याय

४०—आर्त और रौद्र ध्यान का निवारण कर धर्म और शुक्ल ध्यान का ध्याना—ध्यान नामक पाँचवां आभ्यन्तर तप है। इस प्रकार ध्यान ध्याते-ध्याते उत्कृष्ट शुक्ल और धर्मध्यान के ध्याने से केवलज्ञान प्राप्त होता है[१५]। — ध्यान

४१—व्युत्सर्ग तप छठा आभ्यन्तर तप है। व्युत्सर्ग का अर्थ है—त्यागना। यह द्रव्य और भाव—इस तरह दो प्रकार का होता है। द्रव्य व्युत्सर्ग चार प्रकार का होता है। उसका विवरण सब कोई सुनें। — व्युत्सर्ग (गा० ४१-४५)

४२—शरीर को छोड़ना शरीर-व्युत्सर्ग है, गण को छोड़ना गण-व्युत्सर्ग है, उपधि को छोड़ना उपधि-व्युत्सर्ग है और भात-पानी को छोड़ना भात-पानी-व्युत्सर्ग।

४३—भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं। (१) कषाय-व्युत्सर्ग अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों कषायों का त्याग करना। इन चारों के त्याग से निर्जरा धर्म होता है।

४४—(२) संसार-व्युत्सर्ग अर्थात् संसार का त्याग करना। इसके चार प्रकार हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—इन चारगतियों की अपेक्षा चार संसार का त्याग।

४५—(३) कर्म-व्युत्सर्ग—आठों कर्मों को त्यजना। इनको ज्यों-ज्यों जीव छोड़ता है त्यों-त्यों हल्का होता जाता है। ऐसी करनी से निर्जरा धर्म होता है[१६]।

४६—बारे परकारे तप निरजरा री करणी, जे तपसा करें जांण २ जी ।
ते करम उदीर उदे आंण खेरे, त्यांनें नेड़ी होसी निरवांण जी ॥

४७—साध रे बारे भेदे तपसा करतां, जिहां २ निरवद जोग रूंधाय जी ।
तिहां २ संवर हुवें तपसा रे लारे, तिण सूं पुन लागता मिट जाय जी ॥

४८—इण तप माहिलो तप श्रावक करतां, कठे उसभ जोग रूंधाय जी ।
जब विरत संवर हुवें तपसा लारे, लागता पाप मिट जाय जी ॥

४९—इण तप माहिलो तप इविरती करतां, तिणरे पिण करम कटाय जी ।
कोइ परत संसार करें इण तप थी, वेगो जाए मुगत रे मांय जी ॥

५०—साध श्रावक समदिष्टी तपसा करतां, त्यांरे उतकष्टी टले करम छोत जी ।
कदा उतकष्टो रस आवें तिणरे, तो वंधे तीर्थंकर गोत जी ॥

५१—तप थी आंणे संसार नों छेहडो, वले आंणे करमां रो अंत जी ।
इण तपसा तणे परतापे जीवडो, संसारी रो सिध होवंत जी ॥

५२—कोड भवां रा करम संचीया हुवें तो, खिण में दिये खपाय जी ।
एहवो छें तप रतन अमोलक, तिणरा गुण रो पार न आय जी ॥

५३—निरजरा तो निरवद उजल हुवां थी, करम निवरते हुओ न्यार जी ।
तिण लेखे निरजरा निरवद कही ए, बीजुं तो निरवद नहीं छें लिगार जी ॥

तपस्या का फल (गा० ४६-५२)

४६—उपर्युक्त बारह प्रकार का तप निर्जरा की क्रिया है। जो इच्छा-पूर्वक तपस्या करता है वह कर्मों को उदीर्ण कर—उदय में लाकर बिखेर देता है। मोक्ष उसके नजदीक आता जाता है।

४७—उपर्युक्त बारह प्रकार के तप करते समय जहाँ-जहाँ साधु के निरवद्य योगों का निरोध होता है, वहाँ-वहाँ तपस्या के साथ-साथ संवर होता है। और संवर होने से पुण्य का नवीन बंध रुक जाता है।

४८—उपर्युक्त बारह प्रकार के तपों में से कोई तप करते हुए जब श्रावक के अशुभ योगों का निरोध होता है, तब तपस्या के साथ-साथ विरति संवर होता है जिससे नए पाप कर्मों का आना रुक जाता है।

४९—इन तपों में से यदि अविरत भी कोई तप करता है तो उसके भी कर्म-क्षय होता है। कई इस तपस्या से संसार को संक्षिप्त कर शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

५०—साधु और समदृष्टि श्रावक के तपस्या द्वारा उत्कृष्ट कर्म-भार दूर होता है। और यदि तप में कदाचित् उत्कृष्ट तीव्र भाव आता है तो तीर्थंकर गोत्र तक का बंध होता है।

५१—तपस्या से जीव संसार का अन्त करता है, कर्मों का अन्त लाता है और इसी तपस्या के प्रताप से घोर संसारी जीव भी सिद्ध होता है।

५२—तप करोड़ों भवों के संचित कर्मों को एक क्षण में खपा देता है। तप-रत्न ऐसा अमूल्य है। इसके गुणों का पार नहीं आता[१७]।

निर्जरा निरवद्य है

५३—निर्जरा—जीव का उज्ज्वल होना, कर्मों से निवृत्त होना—उनसे अलग होना है—इसलिए निर्जरा निरवद्य है। निर्जरा उज्ज्वलता की अपेक्षा निर्मल है अन्य किसी अपेक्षा से नहीं।

५४—इण निरजरा तणी करणी छें निरवद, तिण सूं करमां री निरजरा होय जी ।
निरजरा नें निरजरा री करणी, ए तो जूआजूआ छें दोय जी ॥

५५—निरजरा तो मोष तणो अंस निश्चें, देश थकी उजलो छें जीव जी ।
जिणरे निरजरा करण री चूंप लागी छें, तिण दीधी मुगत री नींव जी ॥

५६—सहजां तो निरजरा अनाद री हुवे छें, ते होय २ नें मिट जाय जी ।
करम बंधण सूं निवरत्यो नांहीं, संसार में गोता खाय जी ॥

५७—निरजरा तणी करणी ओलखावण, जोड कीधी नाथदुवारा मभार जी ।
समत अठारे वरस छपनें, चेत विद बीज नें गुरवार जी ॥

निर्जरा और निर्जरा की करनी भिन्न-भिन्न हैं (गा० ५४-५६)

५४—निर्जरा की करनी से कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए वह निरवद्य है। निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

५५—निर्जरा निश्चय ही मोक्ष का अंश है। जीव का देशतः उज्ज्वल होना निर्जरा है। जिसके निर्जरा की करनी से प्रेम हो गया है, उसने मुक्ति की नींव डाल दी है।

५६—वैसे तो निर्जरा सहज ही अनादि काल से हो रही है, पर वह हो-हो कर मिट जाती है। जो जीव नये कर्म-बंध से निवृत्त नहीं होता, वह संसार में ही गोता खाता रहता है[१८]।

५७—निर्जरा की करनी को समझाने के लिए श्रीनाथद्वारा में संवत् १८५६ के चैत बदी २ गुरुवार को यह जोड़ की गई है।

टिप्पणियाँ

१—निर्जरा कैसे होती है ? (दो० १-७) :

स्वामीजी ने प्रथम ढाल में निर्जरा के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। इस टिप्पणी से सम्बन्धित दोहों में स्वामीजी निर्जरा किस प्रकार होती है, यह बतलाते हैं।

स्वामीजी के अनुसार निर्जरा निम्न प्रकार से होती है :

(१) उदय में आए हुए कर्मों के फलानुभव से।

(२) कर्म-क्षय की कामना से विविध तप करने से।

(३) कर्म-क्षय की आकांक्षा बिना नाना प्रकार के कष्ट करने से।

(४) इहलोक-परलोक के लिए नाना प्रकार के तप करते हुए।

इन पर क्रमशः विस्तृत प्रकाश डाला जा रहा है।

(१) उदय में आए हुए कर्मों के फलानुभव से :

बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं। इससे क्षुधा, तृषा, शीत, ताप आदि नाना प्रकार के कष्ट जीव के उत्पन्न होते हैं। वैसे ही सुख भी उत्पन्न होते हैं। सुख-दुःखरूप विविध प्रकार के फल दे चुकने के बाद कर्म-पुद्गल आत्म-प्रदेशों से स्वतः निर्जीर्ण होते हैं[1]। यह कर्म-भोग जन्य निर्जरा है।

(२) कम-क्षय की कामना से विविध तप करने से :

तपों का वर्णन आगे आयगा। जो कर्म-क्षय की अभिलाषा से—आत्मशुद्धि के अभिप्राय से उन विविध तपों का अनुष्ठान करता है उसके भी निर्जरा होती है। यह ...जा निर्जरा है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की निर्जरा के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न विवेचन बड़े बोधपूर्ण :

(अ) श्री देवेन्द्रसूरि कहते हैं—"एकेन्द्रिय आदि तिर्यञ्च छेदन, भेदन, शीत, ताप, वर्षा, अग्नि, क्षुधा, तृषा तथा चाबुक और अंकुशादि की मार द्वारा ; नारकीय जीव तीन प्रकार की वेदना द्वारा; मनुष्य क्षुधा, तृषा, आधि, दारिद्र्य और कारागारवास आदि के कष्ट

१—तत्त्वा० ८.२२ भाष्य ; ८.२४ भाष्य :

सर्वासां प्रकृतीनां फलं विपाकोदयोऽनुभावो भवति । विविधः पाको विपाकः ततश्चानुभावात्कर्मनिर्जरा भवतीति

द्वारा और देवता परवशता और किल्विषता आदि द्वारा असातवेदनीय कर्म का अनुभव कर उसका परिशाटन करते हैं। यह अकाम निर्जरा है। यह सब के होती है। कर्म-क्षय की अभिलाषा से बारह प्रकार के तपों के करने से जो निर्जरा होती है, वह सकाम निर्जरा है। यह निर्जराभिलाषियों के होती है[1]।"

(आ) "जिससे आत्मा दुर्जर शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा करती है, वह निर्जरा दो प्रकार की है। जो व्रत के उपक्रम से होती है, वह सकाम निर्जरा है और जो नरकवासी आदि जीवों के कर्मों के स्वतः विपाक से होती है, वह अकाम निर्जरा है[2]।"

(इ) वाचक उमास्वाति लिखते हैं—"निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक अबुद्धिपूर्वक और दूसरी कुशलमूल। इनमें से नरकादि गतियों में जो कर्मों के फल का अनुभवन बिना किसी तरह के बुद्धिपूर्वक प्रयोग के हुआ करता है, उसको अबुद्धिपूर्वक निर्जरा कहते हैं। तप और परीषहजय कृत निर्जरा कुशलमूल है[3]।"

(ई) स्वामी कार्तिकेय कहते हैं—"ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों की फल देने की शक्ति को विपाक-अनुभाग कहते हैं। उदय के बाद फल देकर कर्मों के झड़ जाने को निर्जरा कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है—(१) स्वकालप्राप्त और (२) तपकृत। उनमें

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण अ० ६ :

सकामनिज्जरा पुण निज्जराहिलासीणं'''छव्विहं बाहिरं''''''''छव्विहमब्भंतरं च तवंतवेंताणं

२—धर्मशर्माभ्युदयम् २१.१२२-१२३ :

दुर्जरा निर्जरत्यात्मा यया कर्म शुभाशुभम्।
निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया सकामाकामभेदतः॥
सा सकामा स्मृता जैनैर्या व्रतोपक्रमैः कृता।
अकामा स्वविपाकेन यथा श्वभ्रादिवासिनाम्॥

३—तत्त्वा० ६.७ भाष्य ६ :

स द्विविधोऽबुद्धिपूर्वः कुशलमूलश्च। तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाको योऽबुद्धिपूर्वकस्तमुग्रतोऽनुचिन्तयेदकुशलानुबन्ध इति। तपः परीषहजयकृतः कुशलमूलः। तं गुणतोऽनुचिन्तयेत् शुभानुबन्धो निरनुबन्धो वेति।

पहिली स्वकाल प्राप्त निर्जरा तो चारों ही गति के जीवों के होती है और दूसरी तप द्वारा की हुई व्रतयुक्त जीवों के[1] ।"

(उ) 'चन्द्रप्रभचरित' में कहा है: "कर्मक्षपण लक्षणवाली निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक कालकृत और दूसरी उपक्रमकृत। नरकादि जीवों के कर्म-मुक्ति से जो निर्जरा होती है, वह यथाकालजा निर्जरा है और जो तप से निर्जरा होती है, वह उपक्रमकृत निर्जरा है[2] ।

(ऊ) 'तत्त्वार्थसार' में लिखा है—"कर्मों के फल देकर झड़ने से जो निर्जरा होती है, वह विपाकजा निर्जरा है और अनुदीर्ण कर्मों को तप की शक्ति से उदयावलि में लाकर वेदने से जो निर्जरा होती है वह अविपाकजा निर्जरा है[3] ।"

स्वामीजी ने पहली प्रकार की निर्जरा को सहज निर्जरा कहा है। उनके अनुसार यह अप्रयत्नमूला है। यह बिना उपाय, बिना चेष्टा और बिना प्रयत्न होती है। यह इच्छाकृत नहीं; स्वयंभूत है। इस निर्जरा को स्वकालप्राप्त, विपाकजा आदि जो विशेषण प्राप्त हैं, वे इस बात को अच्छी तरह सिद्ध करते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि स्वामीजी ने कर्मभोग-

---

१—द्वादशानुप्रेक्षा : निर्जरा अनुप्रेक्षा १०३,१०४ :

सेव्वसि कम्माणं, सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ ।
तदणंतरं तु सडणं, कम्माणं णिज्जरा जाण ॥
सा पुण दुविहा णेया, सकालपत्ता तवेण कयमाणा ।
चादुगदीणं पढमा, वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥

२—चन्द्रप्रभचरितम् १८.१०६-११० :

यथाकालकृता काचिदुपक्रमकृतापरा ।
निर्जरा द्विविधा ज्ञेया कर्मक्षपणलक्षणा ॥
या कर्मभुक्तिः श्वभ्रादौ सा यथाकालजा स्मृता ।
तपसा निर्जरा या तु सा चोपक्रमनिर्जरा ॥

३—तत्त्वार्थसार : ७.२-४ :

उपात्तकर्मणः पातो निर्जरा द्विविधा च सा ।
आद्या विपाकजा तत्र द्वितीया चाविपाकजा ॥
अनादिबन्धनोपाधिविपाकवशवर्त्तिनः ।
कर्मारब्धफलं यत्र क्षीयते सा विपाकजा ॥
अनुदीर्णं तपः शक्त्या यत्रोदीर्णोदयावलीम् ।
प्रवेश्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा ॥

जन्य निर्जरा को 'अकाम निर्जरा' नहीं कहा है। कारण इस निर्जरा में उन हेतुओं—क्रियाओं—साधनों के प्रयोग का सर्वथा अभाव है जिनसे निर्जरा होती है। यह निर्जरा तो कर्मों के स्वाभाविक तौर पर फल देकर दूर होने से स्वतः उत्पन्न होती है। अकाम निर्जरा तब होती है जब क्रिया—साधन तो रहते हैं पर उनका प्रयोग कर्म-क्षय की अभिलाषा से नहीं होता। कर्मभोग-जन्य निर्जरा में साधनों का ही अभाव है।

दूसरे प्रकार की निर्जरा, जो शुद्ध करनी द्वारा उत्पन्न होती है, उसे स्वामीजी ने अनुपम निर्जरा कहा है। इस अनुपम निर्जरा से ही जीव मुक्ति को समीप लाता है। अपनी क्रिया की उत्कृष्टता के अनुसार उसकी आत्मा न्यूनाधिक उज्ज्वल होती जाती है। यह निर्जरा इच्छाकृत होती है। जब कर्म-क्षय की अभिलाषा से शुद्ध क्रिया की जाती है तभी यह निर्जरा उत्पन्न होती है अतः यह सहज नहीं, प्रयोगजा है।

आगमों में 'अकाम निर्जरा' शब्द मिलता है। 'सकाम निर्जरा' शब्द नहीं मिलता। 'सकाम निर्जरा' शब्द आगमों में उपलब्ध न होने पर भी 'अकाम निर्जरा' के प्रतिपक्षी तत्त्व के रूप में वह अपने आप फलित होता है। पहली निर्जरा सहज है क्योंकि वह बिना अभिलाषा—बिना उपाय—बिना चेष्टा होती है। दूसरी निर्जरा सकाम निर्जरा है क्योंकि वह प्रयत्नमूला है। वह कर्म-क्षय की अभिलाषा से उत्पन्न उपाय—चेष्टा, प्रयत्न से होती है। कहा है—"कर्मणां फलवत् पाको, यदुपायात् स्वतोऽपि च"—फल की तरह कर्मों का पाक भी दो तरह से होता है—उपाय से और स्वतः। सकाम निर्जरा उपायकृत होती है और अकाम निर्जरा सहज रूप से स्वतः होनेवाली। अकाम निर्जरा सब के होती है और सकाम निर्जरा बारह प्रकार के तपों को करनेवाले निजराभिलाषी व्यक्तियों के।

पहली प्रकार की निर्जरा किस के होती है, इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। वह सर्वमत से 'सव्वजीवाणं'—सर्व जीवों के होती है। दूसरी प्रकार की निर्जरा के विषय में मतभेद है।

श्री हेमचन्द्रसूरि कहते हैं—"सकाम निर्जरा यमियों—संयमियों के ही होती है और अन्य दूसरे प्राणियों के[1]।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : हेमचन्द्रसूरिप्रणीत सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १२८ :
ज्ञेया सकामा यमिनामकामान्यदेहिनाम्।

स्वामी कार्तिकेय ने भी लिखा है—"प्रथम चार गतियों के जीवों के होती है और दूसरी व्रतियों के[1]।" "अविपाका मुनीन्द्राणां सविपाकाखिलात्मनाम्"—भी इसी बात को प्रकट करता है। एक मत यह भी है कि सकाम निर्जरा सम्यक्दृष्टि के ही होती है, वह मिथ्यादृष्टि के नहीं होती।

स्वामीजी के अनुसार सकाम निर्जरा साधु-श्रावक, व्रती-अव्रती, सम्यक्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि सब के हो सकती है[2]। शर्त इतनी ही है कि तप निरवद्य और लक्ष्य कर्म-क्षय हो। जहाँ लक्ष्य कर्म-क्षय नहीं वहाँ शुद्ध तप भी सकाम निर्जरा का हेतु नहीं होता[3]।

पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने एक विचार दिया है—"यथाकाल निर्जरा सभी संसारी जीवों के और सदाकाल हुआ करती है, क्योंकि बंधे हुए कर्म अपने समय पर फल देकर निर्जीर्ण होते ही रहते हैं। अतएव इसको निर्जरा-तत्त्व में नहीं समझना चाहिये। दूसरी तरह की निर्जरा तप आदि के प्रयोग द्वारा हुआ करती है। यह निर्जरा-तत्त्व है और इसीलिए मोक्षका कारण है। इस प्रकार दोनों के हेतु में और फल में अन्तर है[4]...।"

इसी विचार को मुनि सूर्यसागरजी ने इस प्रकार उपस्थित किया है : "औदयिक भाव से प्रेरा हुआ यथा क्रमानुसार विपाक काल को प्राप्त हुआ जो शुभ-अशुभ कर्म अपनी बंधी हुई स्थिति के पूर्ण होने पर उदय में आता है, उसके भोग चुकने पर जो कर्म की आत्म-प्रदेशों से जुदाई होती है वह सविपाक निर्जरा कहलाती है। यह द्रव्य रूप है।... इस निर्जरा से आत्मा कभी भी कर्म से मुक्त नहीं होता। क्योंकि जो कर्म छूटता है उससे अधिक उसी समय बंध जाता है[5]...। जो तपस्या द्वारा बिना फल दिये हुए

१—द्वादशानुप्रेक्षा : निर्जरा अनुप्रेक्षा १०४ (पृ० ६१० पा० टि० १ में उद्धृत)

२—देखिए गा० ४७-५०

३—इस प्रश्न का आगे विस्तार से विवेचन किया जायगा।

४—सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र पृ० ३७८

५—संयम-प्रकाश (उत्तरार्द्ध) प्रथम किरण पृ० ५८-५९

इस बात को समझाने के लिए उन्होंने उदाहरण दिया है—जैसे एक मनुष्य को चारित्र मोहनीय के उदय से क्रोध आया और क्रोध आने पर उसने क्रोधवश निज पर का मन-वचन-काय से अनेक कष्ट दिये और अनेकों से बैर बाँध लिया। ऐसी दशा में पहिला कर्म तो क्रोध को उत्पन्न करके दूर हो गया, परन्तु, क्रोधवश जो क्रियायें उस जीव ने की उनसे फिर अनेक प्रकार के नवीन कर्म बंध गये। अतः मोक्षार्थी के लिए सविपाक निर्जरा काम की नहीं है।

कर्मों की निर्जरा होती है अर्थात् तपश्चरण द्वारा कर्मों की फल देने की शक्ति का नाश करके जो निर्जरा होती है उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं।...वही आत्मा का हित करनेवाली है। इसीसे शनैः शनैः सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है'।"

वाचक उमास्वाति ने भी तप और परीषहजय कृत निर्जरा को ही कुशलामूल तथा शुभानुबन्धक और निरनुबन्धक कहा है। अबुद्धिपूर्वा निर्जरा को उन्होंने अकुशलानुबन्धक कहा है[2]।

स्वामीजी ने अपनी बात निम्न रूप में कही है—

आठ कर्म छे जीव रे अनाद रा, त्यांरी उतपत आश्रव द्वार हो।
ते उदे थइ नें पछे निरजरे, वले उपजें निरंतर लार हो॥
ते करम उदे थइ जीव रे, समें समें अनन्ता झड जाय हो।
भरीया नींगल जूं करम मिटें नहीं, करम मिटवा रो न जांणे उपाय हो॥
बारे परकारे तप निरजरा री करणी, जे तपसा करे जांण २ जी।
ते करम उदीर उदे आंण खेरे, त्यांनें नेड़ी होसी निरवाण जी॥
सहजां तो निरजरा अनाद री हुवे छें, ते होय २ नें मिट जाय जी।
करम बंधण सूं निवरत्यो नांही, संसार में गोता खाय जी॥
सावद्य जोगां सूं सेवे पाप अठारें, ते तों पाप री करणी जांणो रे।
ते सावद्य करणी करतां पिण निरजरा हुवें छें, त्यांरो न्याय हीया में पिछांणो रे॥
उदीरी उदीरी नें करें क्रोधादिक, जब लागे छें पाप ना पूरो रे।
उदीरी नें क्रोधादिक उदें आण्या ते, करम झरें पड़े दूरो रे॥
पाप री करणी करतां निरजरा हुवें छें, तिण करणी में जाबक खांमी रे।
सावद्य जोगां पाप ने निरजरा हुवें छें, ते निरजरा तणों नहीं कांमी रे[3]॥

(३) कर्म-क्षय की आकांक्षा बिना नाना प्रकार के कष्ट करने से :

इस निर्जरा के उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं :

(क) एक मनुष्य को कर्म-क्षय की या मोक्ष की अभिलाषा तो नहीं है पर वह तृषा, क्षुधा, ब्रह्मचर्यवास, अस्नान, सर्दी, गर्मी, दंश-मशक, स्वेद, धूलि, पंक और मल के तप, कष्ट, परीषह से थोड़े या अधिक समय के लिए आत्मा को परिक्लेशित करता है। इस कष्ट से कर्मों की निर्जरा होती है।

१—संयम-प्रकाश (पूर्वार्द्ध) चतुर्थ किरण पृ० ६५५-५६

२—देखिए पृ० ६०९ पा० टि० ३

३—(क) १.१,४; (ख) २.४६,५६ (ग) टीकम डोसी री चर्चा ३.२१-२३

(ख) एक स्त्री है। उसका पति कहीं चला गया अथवा मर गया है। वह बाल विधवा है, अथवा पति द्वारा छोड़ दी गई है। वह मातादि से रक्षित है। वह अपने शरीर का संस्कार नहीं करती। उसके नख, केश और कांख के बाल बढ़े होते हैं। वह धूप, पुष्प, गन्ध, माल्य और अलंकारों को धारण नहीं करती। वह अस्नान, स्वेद, जल्ल, मल, पंक के कष्टों को सहन करती है। दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, नमक, मधु, मद्य और मांस का भोजन नहीं करती। वह ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई पति की शय्या का उल्लघंन नहीं करती। ऐसी स्त्री के निर्जरा होती है।

स्वामीजी कहते हैं—"इस प्रकार जो नाना प्रकार के कष्ट किए जाते हैं उनसे भी अल्प मात्रा में कर्मों का क्षय होता है—निर्जरा होती है। पर यह अकाम निर्जरा है क्योंकि इन कष्टों के करने वाले का लक्ष्य कर्म-क्षय नहीं।" यहाँ क्रिया शुद्ध होने पर भी लक्ष्य न होने से जो निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा है। जो कर्म-क्षय की दृष्टि से बारह प्रकार के तपों को करता है अथवा परीषहों का सहन करता है उसको सकाम निर्जरा होती है और जो बिना ऐसी अभिलाषा के इन तपों को करता है अथवा परी-षहों का सहन करता है उसको अकाम निर्जरा होती है।

श्री जयाचार्य के सामने एक सिद्धान्त आया—"जो अग्नि, जल आदि में प्रवेश कर मरते हैं वे इस कष्ट से देवता होते हैं।"

श्री जयाचार्य ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया—"ते तो आगला भव में अशुभ कर्म बांध्या ते उदय आया भोगवे छै। पिण जीव री हिंसा रूप सावद्य कार्य ते निर्जरा री करणी नहीं। एह थी पुन्य पिण बंधे नहीं। इम सावद्य कार्य नां कष्ट थी पुन्य बंधे तो नीलो घास काटतां कष्ट ह्वै। संग्राम में मनुष्यां ने खड़गादिक थी मारतां हाथ ठंठ ह्वै। कष्ट ह्वै। मोटा अणाचार सेवतां, शीत काल में प्रभाते स्नान करतां कष्ट ह्वै। तिण रे लेखे एह थी पिण पुन्य बंधे। ते माटे ए सावद्य करणी थी पुन्य बंधे नहीं अने जे जीव हिंसारहित कार्य शीतकाल में शीत खमैं, उष्णकाल में सूर्य नी आतापना लेवै, भूख तृषादिक खमैं निर्जरा अर्थे ते सकाम निर्जरा छै। तिणरी केवली आज्ञा देवे। तेहथी पुन्य बंधे। अने बिना मन भूख तृषा शीत तावड़ादि खमैं, बिना मन ब्रह्मचर्य पाले तें निर्जरा रा परिणाम बिना तपसादि करे ते पिण अकाम निर्जरा आज्ञा मांहि छै[1]।"

१—भगवती नी जोड़ : खंधक अधिकार ८

(४) इहलोक-परलोक के लिए तप कर हुए :

मुझे स्वर्ग प्राप्त हो, मेरा अमुक लौकिक कार्य सिद्ध हो, मुझे यश-कीर्ति प्राप्त हो—इस भावना से जो क्षुधा, तृष्णा आदि का कष्ट सहन करता है अथवा तपस्या करता है उसके भी स्वामीजी ने अकाम निर्जरा की निष्पत्ति बतलायी है। स्वामीजी कहते हैं—"इहलोक-परलोक के हेतु से जो तपस्या की जाती है वह अकाम निर्जरा है। कारण यहाँ लक्ष्य कर्म-क्षय नहीं, पर लौकिक-पारलौकिक सिद्धियाँ हैं।"

दशवैकालिक सूत्र में कहा है—इस लोक के लिए तप न करे, परलोक के लिए तप न करे, कीर्ति-वर्ण-शब्द और श्लोक के लिए तप न करे। एक निर्जरा को छोड़ कर अन्य लक्ष्य के लिए तप न करे। पाठ इस प्रकार है :

चउव्विहा खलु तव-समाही भवइ, तं जहा। नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो कित्ति-वण-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा चउत्थं पयं भवइ[1]।

ऐसा ही पाठ आचार-समाधि के विषय में भी है।

स्वामीजी ने दशवैकालिक सूत्र के उपर्युक्त स्थल को ध्यान में रखते हुए निम्न विचार दिए हैं—

विनें करें सूतर भणें रे, करें तपसा नें पालें आचार रे।
इहलोक परलोक जस कारणें रे लाल, ते तो भगवंत री आग्या बार रे॥
इहलोकादिक अर्थे तपसा करें रे, वले करें संलेखणा संथार रे।
कह्यो दसवीकालक नवमा अधेन में रे, आग्यां लोपी नें परीया उजाड रे[2]॥

स्वामीजी ने अन्यत्र निम्न गाथा दी है—

जिण आगना विण करणी करें, ते तो दुरगतना आगेंवाण।
जिण आग्या सहीत करणी करें, तिण सूं पामें पद निरवांण[3]॥

इन दोनों को मिलाने से ऐसा लगता है कि इहलोक-परलोक के अर्थ तप करने से जीव की दुर्गति होती है।

स्वामीजी ने पौषध व्रत के प्रकरण में निम्नलिखित गाथाएँ दी हैं—

भाव थकी राग द्वेष रहीत करे, वले चोखे चित उपीयोग सहीत जी।
जब कर्म रुकै छे आवतां, वले निरजरा हुवे रुडी रीत जी॥

१—दशवै० ६.४.७

२—भिक्षु-ग्रन्थरत्नाकर (प्र०ख०) आचार की चौपई ढा० १७.५४-!

३—वही : जिनाग्या री चौपई ढा० २.२६

इहलोक रे अर्थ करे नहीं, न करे खावा पीवा रे हेत जी ।
लोभ लालच हेते करे नहीं, परलोक हेते न करे तेथ जी ॥
संवर निरजरा रे हेतें करे, और वंछा नहि काय जी ।
इण परिणांमां पोसो करे, तो भाव थकी सुध थाय जी ॥
कोई लाडूआं साटे पोसो करे, कोई परिग्रह लेवा करे तांम जी ।
कोई और द्रव्य लेवा पोसो करे, ते कहिवा रो पोसो छै नांम जी ॥
ते तो अरथी छै एकंत पेट रो, ते मजूरीया तणी छै पांत जी ।
त्यांरा जीव रो कार्य सझे नहीं, उलटी घाली गला मांहें रांत जी ॥
विरक्त होय काम भोग थी, त्यांनें त्याग्या छै सुध परिणांम जी ।
मोख रे हेत पोसो करे, ते असल पोसो कह्यो तांम जी ॥
इण विध पोसा नें कीजीये , तो सीझसी आतम काज जी ।
कर्म रुकसी नें वले टूटसी, इम भाषीयो श्री जिणराज जी[1] ॥

उन्होंने अन्यत्र लिखा है—

लाडूआ साटें पोषा करें, तिणमें जिण भाष्यों नहीं धर्म जी ।
ते तो इहलोक रे अरथे करें, तिणरो मूरख न जांणें मर्म जी[2] ॥

सामायिक के सम्बन्ध में स्वामीजी के निम्न उद्‌गार मिलते हैं—

भाव थी राग द्वेष रहीत छै, तब संवर निरजरा गुण थाय जी ।
इण रीते समाइ ओलख करे, जब भावे समाइ हुवें ताय जी[3] ॥

अतिथिसंविभाग व्रत के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

जो उ दांन दे मुगत रे कारणे, और वंछा नहि काय ।
जब नीपजें व्रत बारमों, इम भाष्यो जिणराय ॥ ३ ॥
पुन्य री वंछा कर देवें नहिं, समदिष्टी साधां नें दांन जी ।
देवे संवर निरजरा कारणे, पुन्य तो सहिजां बंधे आसान जी[4] ॥

१—भिक्षु-ग्रन्थरत्नाकर (प्र० ख०) श्रावक ना बारे व्रत ढा० १२.५,१६-२२,२८-२६

२—वही : अणुकम्पा री चौपई ढा० १२.४७

३—वही : श्रावक ना बारे व्रत ढा० १०.३४

४—वही : वही १२.३८

इन तथा अन्य स्थलों के ऐसे उद्‌गारों से यह धारणा बनती है कि इहलोक-परलोक के अर्थ तपादि क्रिया करने में धर्म नहीं है।

श्री जयाचार्य के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ लगता है। उन्होंने इसका स्पष्टीकरण बड़े विस्तार से किया है।

श्री जयाचार्य लिखते हैं—"पूजा श्लाघा रे अर्थे तपसादिक करे ते पिण अकाम निर्जरा छै। ए पूजा श्लाघा नी बांछा आज्ञा मांहि नथी तेथी निर्जरा पिण नहीं हुवे। ते बांछा थी पुन्य पिण नहीं बंधे। अने जे तपसा करे भूख तृषा खमै तिण में जीव री घात नथी ते माटै ए तपस्या आज्ञा मांहि छै। निर्जरा रो अर्थी थको न करै तिण सूं अकाम निर्जरा छै। एह थकी पिण पुन्य बंधे छै पिण आज्ञा बारला कार्य थी पुन्य बंधै नथी[1]।"

श्री जयाचार्य ने अन्यत्र लिखा है :

"कोई कहै दशवैकालक में कह्यो इहलोक परलोक रा जश कीर्त्त नें अर्थे तप न करणो, एक निर्जरा ने अर्थे तप करणो। सो इहलोक-परलोक जश-कीर्त्त अर्थे तप करे सो तप खोटो, ते तप सूं पाप बंधे, ते तप आज्ञा बाहिर छै, ते तप सावद्य छै, ते तप सूं दुर्गति जाय, इम कहै ते नो उत्तर—

१—ए तप खोटो नहीं, इहलोक-परलोक नी बंछा खोटी छै। बंछा आसरे भेलो पाठ कह्यो.........

२—घणा वर्ष संजम तप पाली नियाणों करे तो बंछा खोटी पिण तप संजम पाल्यो ते खोटो नहीं तिम वर्तमान आगमियां काल रो पिण तप बंछा सहित छै ते बंछा खोटी पिण तप खोटो नहीं।.........

३—सुयगडांग श्रु० १ अ० ८ गाथा २४ "तेसिं पि तवो असुद्धो"—जे साधु अनेरा गृहस्थ ने जणावी तप करे तप करी पूजा श्लाघा बंछे ते तप अशुद्ध कह्यो। इहां पिण पूजा-श्लाघा आसरी अशुद्ध बंछा छै पिण तप चोखो। छठे गुणठाणे पिण तप करे आचार पाले छै सो तिहे पिण पूजा-श्लाघा री लहर आवा रो ठिकाणो छै तो त्यांरे लेखे ते पिण तप शुद्ध न कहिए। अप्रमादी रे खोटी लहर न आवे तो त्यांरे तप शुद्ध कहिए।

४—भगवती श० २ उ० ५—तुंगीया नगरी रा श्रावकां रा अधिकारे सराग संजम १ सराग तप २ बाकी कर्म ३ कर्म पुद्‌गल नो संग ४ यां च्यारां स्यूं साधु देवलोक जाय

१—भगवती नी जोड़ : खंधक अधिकार ८

इम कह्यो तो रागपणो सावज छै अने तप निरवद्य छै सराग स्यूं तो पाप बंध ने तप स्यूं कर्म कटे ते निरवद्य छै। इयां सरागपणे में त्याग रो अभिप्राय छै सो तप छै तिम तप चोखो पिण वंछा चोखी नहीं।

५—उववाई में कह्यो चार प्रकारे देवता हुवे ते सराग संजम १ संजमासंजम २ बाल तप ३ अकाम निर्जरा ४। इण में संजमासंजम ते कांई संजम कांई असंजम, ते असंजम तो खोटो ने संजम थी देवता थाये। बाल तप कहिये तप तो चोखो ते तप थी तो देवता हुवे ने बालपणो खोटो। अकाम निर्जरा ते तप चोखो तिण थी देवता हुवे अकाम ते निर्जरा नी बंछा नहीं ते अकाम पणो शुद्ध नहीं। तिम तिहां पिण तप चोखो ने बंछा खोटी छै।

६—उववाई प्रश्न ५ में कह्यो—निर्जरा री बंछा रहित तप, कष्ट, भूख, तृषा, सी, तावड़ो, शीलादिक थी दस सहस्र वर्ष ने आऊखे देवता हुवे ए निर्जरा नी वंछा नहीं ते खोटी पिण भूखादिक खमे ते निरवद्य छै तेह थी देवता हुवे छै।

७—प्रश्न ८ में कह्यो जे बाल-विधवा सासरे-पीहर नी लाजे करी निर्जरा री वंछा बिना शील पाले तो ६४ हजार वर्षे आऊखे देवगति में उपजे। इहां लाजे करी पाले ते संसार नी कीर्त्त नी अर्थे ठहरी। जे पोतां नो अपजश टालवा रखे अजश हुवे लोकभूंडा कहे इसा भाव सूं शील पाले तेह ने शोभा नी कीर्त्त नी वंछा छै। तेह ने पिण शील पालवा रो लाभ छै तिण सूं शील पाल्यां अवगुण नहीं।

८—तथा कोई शोभारे निमत्ते साधु ने दान देवे, पुत्रादिक ने अर्थे देवे। साधु ज्ञान सूं तथा उनमान सूं जाणे तो आहार लेवे के नहीं, तेह ने धर्म नहीं जाणे तो क्यूं लेवे? तेह पुत्रादि नी वंछा नो तो पाप छै, ने साधु ने देवे ते धर्म छै तिण सूं साधु बहिरे छै। इमिज शील तप जाणवो।

९—भगवती श० १ उद्देशे २ कह्यो असंजती भवि द्रव्य देव उत्कृष्टो नवग्रीवेग में जाय। तिहां टीका में कह्यो भव्य तथा अभव्य पिण जावे। ते किम जाय? साधु नो रूप अखण्ड क्रिया आचार ना पालवा थी। तो जे अभव्य पिण जाये ते किम? अखण्ड साधु नी क्रिया किण अर्थे पाले? तेहनो उत्तर—साधु ने चक्रवर्तादिक पूजता देखी ते पूजा श्लाघा ने अर्थे बाह्य क्रिया अखण्ड पाले तेह थी नवग्रीवेग जाय एहवूं कह्यूं छै। जे अभव्य नवग्रीवेगे जाये ए तो प्रसिद्ध छै। ते तो मोक्ष सरधे नहीं। तेह ने सकाम निर्जरा तो नथी दीसती। ते तो पूजा-प्रशंसा रे अर्थे साधु री क्रिया आचार पाले ते भलो छे

तिवारे तेहथी नवग्रीवेग जाय एतो पाधरो न्याय छे। तिम कीर्त्ति ने अर्थे, तिम राज, धन, पुत्रादिक ने अर्थे शील पाले ते पिण जाणवो। पिण सावज करणी सूं देवता न थाय।"

मुनि श्री नथमलजी का इस विषयक विवेचन इस प्रकार है :

"स्वामीजी का मुख्य सिद्धान्त था—'अनाज के पीछे तूड़ी या भूसा सहज होता है, उसके लिए अलग प्रयास जरूरी नहीं।' आत्मिक अभ्युदय के साथ लौकिक उदय अपने आप फलता है। संयम, व्रत या त्याग सिर्फ आत्म-आनन्द के लिए ही होना चाहिए। लौकिक कामना के लिए चलने वाला व्रत सही फल नहीं लाता। उससे मोह बढ़ता है।

'पुण्य की—लौकिक-उदय की कामना लिए तपस्या मत करो', यह तेरापंथ का ध्रुव-सिद्धान्त है।

धर्म का लक्ष्य भौतिक-प्राप्ति नहीं, आत्म-विकास है। भौतिक सुख आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसलिए वह न तो धर्म है और न धर्म का साध्य ही। इसलिए उसकी सिद्धि के लिए धर्म करना उद्देश्य के प्रतिकूल हो जाता है।

इच्छा प्रेरित तपस्या नहीं होनी चाहिए। वह व्यक्ति को सही दिशा में नहीं ले जाती। फिर भी कोई व्यक्ति ऐहिक इच्छा से प्रेरित हो तपस्या करता है वह तपस्या बुरी नहीं है। बुरा है उसका लक्ष्य। लक्ष्य के साहचर्य से तपस्या भी बुरी मानी जाती है। किन्तु दोनों को अलग करें तब यह साफ होगा कि लक्ष्य बुरा है और तपस्या अच्छी।

ऐहिक सुख-सुविधा व कामना के लिए तप तपने वालों को, मिथ्यात्व-दशा में तप तपने वालों को परलोक का अनाराधक कहा जाता है वह पूर्ण अराधना की दृष्टि से कहा जाता है। वे अंशतः परलोक के आराधक होते हैं। जैसे उनका ऐहिक लक्ष्य और मिथ्यात्व विराधना की कोटि में जाते हैं वैसे उनकी तपस्या विराधना की कोटि में नहीं जाती।

ऐहिक लक्ष्य से तपस्या करने की आज्ञा नहीं है इसमें दो बाते हैं—तपस्या का लक्ष्य और तपस्या की करणी। तपस्या करने की सदा आज्ञा है। हिंसारहित या निरवद्य तपस्या कभी आज्ञा बाह्य धर्म नहीं होता। तपस्या का लक्ष्य जो ऐहिक है उसकी आज्ञा नहीं है—निषेध लक्ष्य का है, तपस्या का नहीं। तपस्या का लक्ष्य जब ऐहिक होता है तब वह आज्ञा में नहीं होता—धर्ममय नहीं होता। किन्तु 'करणी' आज्ञा बाह्य नहीं

होती। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने इस कोटि की करणी को जिन-आज्ञा में माना है। यदि यह जिनाज्ञा में नहीं होती तो इसे अकाम निर्जरा नहीं कहा जाता।

जो अकाम निर्जरा है वह सावद्य करणी नहीं है और जो सावद्य करणी नहीं है वह जिन-आज्ञा बाह्य नहीं है।

इसलिए तत्त्व विवेचन के समय लक्ष्य और करणी को सर्वथा एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए।

सावद्य ध्येय के पीछे प्रवृत्ति ही सावद्य हो जाती है यह कारण बताया जाये तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि निरवद्य ध्येय के पीछे प्रवृत्ति निरवद्य हो जाती है।

ऐहिक उद्देश्य से की गई तपस्या को हेतु की दृष्टि से निस्सार माना गया है उसके स्वरूप की दृष्टिसे नहीं। जहाँ स्वरूप की मीमांसा का अवसर आया वहाँ स्वामीजी ने स्पष्ट बताया कि इस कोटि की तपस्या से थोड़ी-बहुत भी निर्जरा और पुण्य-बंध नहीं होता—ऐसा नहीं है। जैसा कि उन्होंने लिखा है—'पाछे तो वो करसी सो उणने होय। पिण लाडू खवायां धर्म नहीं कोय[1]।'

निष्कर्ष यह निकलता है कि सर्व श्रेष्ठ तपस्या वही है जो आत्म-शुद्धि के लिए की जाती है, जो सकाम निर्जरा है।

उद्देश्य बिना सहज भाव से भूख-प्यास आदि सहन करने से होनेवाली तपस्या अकाम निर्जरा है, यह उससे कम आत्म-शोधनकारक है।

वर्णनागनतुआ के मित्र ने वर्ण नागनतुआ का अनुकरण किया (भग० ७-९)। यह अज्ञानपूर्वक तप है। अल्प निर्जरा कारक है।

अन्तिम दोनों प्रकार के तप अकाम निर्जरा होते हुए भी विकृति नहीं हैं।

१—स्वामीजी के सामने दो प्रश्न थे—पौषध कराने के लिए लड्डू खिलाने वाले को क्या होता है और लड्डू के लिए पौषध करने वाले को क्या होता है। उद्धृत गाथा में स्वामीजी ने प्रथम प्रश्न का उत्तर दिया है। दूसरे प्रश्न का उत्तर यहाँ नहीं है। दूसरे प्रश्न का उत्तर उन्होंने जो दिया वह इस प्रकार है :

लाडुआ साटें पोषा करें, तिण में जिन भाख्यों नहीं धर्म जी।
ते तो इहलोक रे अरथे करें, तिणरो मूर्ख न जांणे मर्म जी॥

वैसी हालत में "पाछे तो वो करसी सो उणने होय।" इस अंश से जो यह निष्कर्ष निकाला गया है कि—"जहाँ स्वरूप की मीमांसा का अवसर आया वहाँ स्वामीजी ने स्पष्ट बताता है कि इस कोटि की तपस्या से थोड़ी-बहुत भी निर्जरा और पुण्य बन्ध नहीं होता, ऐसा नहीं है"—वह फलित नहीं होता।

पौद्गलिक अभिसिद्धि के लिए जो तपस्या की जाती है वह स्वार्थपूर्ति की भावना होने के कारण शुद्धरूप की अपेक्षा विकृति भी है। इसीलिए ऐहिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए तपस्या नहीं करनी चाहिए। किन्तु कोई कर लें तो वह तपस्या सावद्य होती है ऐसा नहीं है।

अभव्य आत्म-कल्याण के लिए करणी नहीं करता सिर्फ बाह्य—दृष्टि—पूजा—प्रतिष्ठा, पौद्गलिक सुख की दृष्टि से करता है। क्या ऐसी क्रिया निर्जरा नहीं? अवश्य अकाम निर्जरा है।

निर्जरा के बिना क्षयोपशमिक भाव यानि आत्मिक उज्ज्वलता होती नहीं। अभव्य के भी आत्मिक उज्ज्वलता होती है। दूसरे निर्जरा के बिना पुण्य-बन्ध नहीं होता। पुण्य-बन्ध निर्जरा के साथ ही होता है—यह ध्रुव सिद्धान्त है। अभव्य के निर्जरा धर्म और पुण्य बन्ध दोनों होते हैं। निर्जरा के कारण वह अंशरूप में उज्ज्वल रहता है। पुण्य-बन्ध से सद्गति में जाता है। इहलोक आदि की दृष्टि से की गयी तपस्या लक्ष्य की दृष्टि से अशुद्ध है किन्तु करणी की दृष्टि से अशुद्ध नहीं है।"

२—निर्जरा, निर्जरा की करनी और उसकी प्रक्रिया (गा० १-४) :

ठाणाङ्ग सूत्र में कहा है—'एगा णिज्जरा' (१.१६)—निर्जरा एक है। दूसरी ओर 'बारसहा निज्जरा सा उ' निर्जरा बारह प्रकार की है, ऐसा माना जाता है। इसका कारण यह है कि जैसे अग्नि एक रूप होने पर भी निमित्त के भेद से काष्ठाग्नि, पाषाणाग्नि—इस प्रकार पृथक्-पृथक् संज्ञा को प्राप्त हो अनेक प्रकार की होती है वैसे ही कर्मपरिशाटन रूप निर्जरा तो वास्तव में एक ही है पर हेतुओं की अपेक्षा से बारह प्रकार की कही जाती है[1]।

चूंकि तप से निकाचित कर्मों की भी निर्जरा होती है अतः उपचार से तप को निर्जरा कहते हैं[2]। तप बारह प्रकार के हैं अतः कारण में कार्य का उपचार कर निर्जरा भी

१—शान्तसुधारस : निर्जरा भावना २-३ :

काष्ठोपलादिरूपाणां निदानानां विभेदतः।
वह्निर्यथैकरूपोऽपि पृथग्रूपो विवक्ष्यते॥
निर्जरापि द्वादशधा तपोभेदैस्तथोदिता।
कर्मनिर्जरणात्मा तु सैकरूपैव वस्तुतः॥

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : श्रीदेवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण १

जम्हा निकाइयाणऽवि, कम्माण तवेण होइ निज्जरणं।
तम्हा उवयाराओ, तवो इहं निज्जरा भणिया॥

बारह प्रकार की कही गई है। कनकावलि आदि तप के और भी अनेक भेद हैं। उनकी अपेक्षा से निर्जरा के भी अनेक भेद हैं[१]।

श्री अभयदेव लिखते हैं—"अष्टविध कर्मों की अपेक्षा निर्जरा आठ प्रकार की है। द्वादश विध तपों से उत्पन्न होने के कारण निर्जरा बारह प्रकार की है। अकाम, क्षुधा, पिपासा, शीत, आतप, दंश-मशक और मल-सहन, ब्रह्मचर्य-धारण आदि अनेक विध कारण जनित होने से निर्जरा अनेक प्रकार की है[२]।

निर्जरा की परिभाषाएँ चार प्रकार की मिलती हैं :

१—'अणुभूअरसाणं कम्मपुग्गलाणं परिसडणं निज्जरा। सा दुविहा पण्णत्ता, सकामा अकामा य[३]।' वेदना—फलानुभाव के बाद अनुभूतरस कर्म-पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से छूटना निर्जरा है। वह अकाम और सकाम दो प्रकार की है।

इसका मर्म है—कर्मों की वेदना अनुभूति होती है, निर्जरा नहीं होती। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के बाद कर्म-परमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है[४]।

कर्म-परमाणुओं का कर्मत्वनष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है, यह बात निम्न वार्त्तालाप से स्पष्ट हो जायगी[५] :

"हे भगवन्! जो वेदना है क्या वह निर्जरा है और जो निर्जरा है वह वेदना?"

"हे गौतम! यह अर्थ योग्य नहीं। कारण वेदना कर्म है और निर्जरा नो-कर्म।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : श्री देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण ११......

अणसणभेयाइ तवा, बारसहा तेण निज्जरा होइ।

कणगावलिभेया वा, अहव तवोऽणेगहा भणिओ॥

२—ठाणाङ्ग १.१६ टीका :

साचाष्टविधकर्म्मापेक्षयाऽष्टविधाऽपि द्वादशविधतपोजन्यत्वेन द्वादशविधाऽपि अकाम-क्षुत्पिपासाशीतातपदंशमशकमलसहनब्रह्मचर्यधारणाद्यनेकविधकारणजनित

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्व प्रकरण अ० ६

४—ठाणाङ्ग १.१६ टीका :

अनुभूतरसं कर्म प्रदेशेभ्यः परिशटतीति वेदनानन्तरं कर्मपरिशटनरूपां निर्जरां

५—भगवती ७.३

"हे भगवन् ! जो वेदा गया क्या वह निर्जरा-प्राप्त है और जो निर्जरा-प्राप्त है वह वेदा गया ?"

"हे गौतम ! यह अर्थ योग्य नहीं। कारण कर्म वेदा गया होता है और नो-कर्म निर्जरा-प्राप्त।"

"हे भगवन् ! जिसको वेदन करता है क्या जीव उसकी निर्जरा करता है और जिसकी निर्जरा करता है उसका वेदन ?"

"हे गौतम ! यह अर्थ योग्य नहीं। कारण जीव कर्म को वेदन करता है और नो-कर्म की निर्जरा।"

"हे भगवन् ! जिसका वेदन करेगा क्या उसकी निर्जरा करेगा और जिसकी निर्जरा करेगा उसी का वेदन ?"

"हे गौतम ! यह अर्थ योग्य नहीं। कारण वह कर्म का वेदन करेगा और नो-कर्म की निर्जरा।"

"हे भगवन् ! जो वेदना का समय है क्या वही निर्जरा का समय है और जो निर्जरा का समय है वही वेदना का ?"

"हे गौतम ! यह अर्थ योग्य नहीं। कारण जिस समय वेदन करता है उस समय निर्जरा नहीं करता और जिस समय निर्जरा करता है उस समय वेदन नहीं करता। अन्य समय वेदन करता है, अन्य समय निर्जरा करता है, वेदन का समय भिन्न है और निर्जरा का समय भिन्न है।"

उक्त प्रथम परिभाषा में कर्मों का स्वतः झड़ना और तप से झड़ना दोनों का समावेश होता है।

२—'सा पुण देसेण कम्मखओ[1]'—देशरूप कर्म-क्षय निर्जरा है।

'अनुभूतरसकर्म' अर्थात् 'अकर्म' को उपचार से कर्म मान कर ही यह परिभाषा की गई है अतः पहली और इस दूसरी परिभाषा में कोई अन्तर नहीं।

३—"महा ताप से तालाब का जल शोषण को प्राप्त होता है वैसे ही जिससे पूर्वनिबद्ध कर्म निर्जरा को प्राप्त होते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं। वह बारह प्रकार की है[2]।" "संसार के बीजभूतकर्म जिससे जीर्ण हों, उसे निर्जरा कहते हैं[3]।"

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण गा० ११ का भाष्य ९५

२—(क) नवतत्त्वसाहित्य संग्रह : देवेन्द्रसूरिकृत नवतत्त्वप्रकरण गा० ७९ :

पुव्वनिबद्धं कम्मं, महातवेणं सरंमि सलिलं व।
निज्जिज्जइ जेण जिए, बारसहा निज्जरा सा उ॥

३—वही : हेमचन्द्रसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १२७ :

कर्मणां भवहेतूनां, जरणादिह निर्जरा।

यह परिभाषा हेतु-प्रधान है। जिन हेतुओं से निर्जरा होती है उन्हें ही उपचार से कार्य मानकर यह परिभाषा दी गई है। निर्जरा के हेतु बारह प्रकार के तप हैं, उन्हें ही यहाँ निर्जरा कहा है[१]।

४—स्वामीजी के अनुसार देशरूप कर्मों का क्षय कर आत्म का देशरूप उज्ज्वल होना निर्जरा है। इस परिभाषा के अनुसार निर्जरा कार्य है और जिससे निर्जरा होती है, वह निर्जरा की करनी है। निर्जरा एक है और निर्जरा की करनी बारह प्रकार की। कर्मों का देशरूप क्षय कर आत्म-प्रदेशों का देशतः निर्मल होना निर्जरा है और बारह प्रकार के तप, जिनसे निर्जरा होती है, निर्जरा की करनी के भेद हैं। स्वामीजी कहते हैं— 'निर्जरा' और 'निर्जरा की करनी'—दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं—एक नहीं।

निर्जरा पदार्थ के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं—

"देशतः (अंशत): कर्मों को तोड़कर जीव का देशतः (अंशतः) उज्ज्वल होना निर्जरा है। इसे समझने के लिए तीन दृष्टान्त हैं—

(१) जिस तरह तालाब के पानी को मोरी आदि द्वारा निकाला जाता है, उसी तरह भले भाव की प्रवृत्ति द्वारा कर्म को दूर करना निर्जरा है।

(२) जिस तरह मकान का कचरा झाड़-बुहार कर बाहर निकाला जाता है, उसी तरह भले भाव की प्रवृत्ति द्वारा कर्म को बाहर निकालना निर्जरा है।

(३) जिस तरह नाव का जल उलीच कर बाहर फेंक दिया जाता है, उसी तरह भले भावों की प्रवृत्ति द्वारा कर्मों को बाहर करना निर्जरा है[२]।"

स्वामीजी ने गाथा १-४ में आत्मा को विशुद्ध करने की प्रक्रिया को धोबी के रूपक द्वारा स्पष्ट किया है। धोबी द्वारा वस्त्रों को साफ करने की प्रक्रिया इस प्रकार होती है :

(१) धोबी जल में साबुन डाल कपड़ों को उसमें तपाता है।

(२) फिर उन्हें पीट कर उनके मैल को दूर करता है।

१—शान्तसुधारस : निर्जरा भावना १ :

यन्निर्जरा द्वादशधा निरुक्ता।
तद् द्वादशानां तपसां विभेदात्॥
हेतुप्रभेदादिह कार्यभेदः।
स्वातंत्र्यतस्त्वेकविधैव सा स्यात्॥

२—तेराद्वार : दृष्टान्तद्वार

(३) फिर उन्हें साफ जल में खँगाल कर स्वच्छ करता है।

ऐसा करने के बाद वस्त्रों से मैल दूर हो जाता है।

स्वामीजी धोबी की तुलना को दो तरह से घटाते हैं। तप साबुन के समान है और आत्मा वस्त्र के समान। ज्ञान जल है और ध्यान स्वच्छ जल। तपरूपी साबुन लगाकर आत्मा को तपाने से, ज्ञानरूपी जल में छांटने से और फिर ध्यानरूपी जल में धोने-खँगालने से आत्मारूपी वस्त्र से लगा हुआ कर्मरूपी मैल दूर होता है और आत्मा स्वच्छ रूप में प्रकट होती है।

यदि ज्ञान को साबुन माना जाय तो तप निर्मल नीर का स्थान ग्रहण करेगा। अन्तरात्मा धोबी के समान होगी और आत्मा के निजगुण वस्त्र के समान होंगे। स्वामीजी कहते हैं—"जीव ज्ञानरूपी शुद्ध साबुन और तपरूपी निर्मल नीर से अपने आत्मारूपी वस्त्र को धोकर स्वच्छ करे।"

३—निर्जरा की एकांत शुद्ध करनी (गा० ५-६) :

प्रथम टिप्पणी में यह बताया गया था कि निर्जरा चार प्रकार से होती है। उनमें से तीन प्रकार ऐसे हैं जिनमें कर्म-क्षय की भावना नहीं होती। जिन्हें जीव आत्मा की विशुद्धि के लक्ष्य से नहीं अपनाता। चौथा उपाय जीव कर्म-क्षय के लक्ष्य से अपनाता है।

यहाँ स्वामीजी कहते हैं कि निर्जरा की एकांन्त शुद्ध करनी वही है जिसका एकमात्र लक्ष्य कर्म-क्षय है। जिस करनी का लक्ष्य कर्म-क्षय के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होता, वही करनी जीव के प्रदेशों से कर्म-मैल को दूर कर आत्मा को अनन्य रूप से स्वच्छ करती है। जिस तप के साथ ऐहिक कामना—कर्म-क्षय के सिवाय अन्य आकांक्षा या भावना जुड़ी रहती है अथवा जो उद्देश्य रहित होता है उस तप से अल्प मात्रा में कर्म-क्षय होने पर भी—अकाम निर्जरा होने पर भी आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया में उसका स्थान नहीं होता। आत्म-विशुद्धि की प्रक्रिया इच्छाकृत निष्काम तपस्या ही है। वह ऐहिक-लक्ष्य के साथ नहीं चलती। उसका लक्ष्य एकान्त आत्म-कल्याण ही होता है। जो तप एकान्ततः कर्म-क्षय के लिए किया जाता है वही तप विशुद्ध होता है और उससे कर्मों का क्षय भी चरम कोटि का होता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इन चार को मोक्षमार्ग कहा गया है। यहाँ सम्यक् तप का ग्रहण है। सम्यक् तप वही है जिसका लक्ष्य सम्पूर्णतः आत्म-विशुद्धि हो।

मोक्ष-मार्ग में कर्म-क्षय की ऐसी ही करनी स्वीकृत और उपादेय है। उस के बारह भेद हैं।

४—अनशन (गा० ७-९) :

स्वामीजी ने अनशन दो प्रकार का बताया है। इसका आधार निम्नलिखित आगम-गाथा है :

इत्तरिय मरणकाला य अणसणा दुविहा भवे ।
इत्तरिय सावकंखा निरवकंखा उ बिइज्जिया[1] ॥

इसका भावार्थ है—अनशन दो प्रकार का होता है—एक इत्वरिक—अल्पकालिक और दूसरा यावत्कथिक—यावज्जीविक । इत्वरिक तप अवकांक्षा सहित होता है और यावत्कथिक अवकांक्षा रहित ।

इत्वरिक अनशन, सावधिक होने से उसमें अमुक अवधि के बाद भोजन-ग्रहण की भावना होती है इससे उसे सावकांक्ष—आकांक्षा सहित कहा है। यावत्कथिक अनशन मृत्यु-पर्यन्त का—मरणकाल पर्यन्त का होने से उसमें आहार-ग्रहण की आकांक्षा को अवकाश नहीं होता अतः उसे निरवकांक्ष—आकांक्षा रहित कहा है।

दोनों प्रकार के अनशनों का नीचे विस्तार से विवेचन किया जाता है।

१—इत्वरिक अनशन :

औपपातिक सूत्र में इत्वरिक तप को अनेक प्रकार का बताते हुए उसके चौदह भेदों का उल्लेख किया गया है यथा—(१) चतुर्थभक्त—उपवास, (२) षष्ठभक्त—दो दिन का उपवास, (३) अष्टमभक्त—तीन दिन का उपवास, (४) दशम भक्त—चार दिन का उपवास, (५) द्वादशभक्त—पाँच दिन का उपवास, (६) चतुर्दशभक्त—छह दिन का उपवास, (७) षोडशभक्त—सात दिन का उपवास, (८) अर्धमासिकभक्त—पन्द्रह दिन का उपवास, (९) मासिकभक्त—एक मास का उपवास, (१०) द्वैमासिकभक्त—दो मास का उपवास, (११) त्रैमासिकभक्त—तीन मास का उपवास, (१२) चतुर्थमासिक भक्त—चार मास का उपवास, (१३) पंचमासिकभक्त—पाँच मास का उपवास और (१४) षट्मासिकभक्त—छह महीने का उपवास।

जैन परम्परा के अनुसार उपवास में चार बेला का आहार छूटता है—उपवास के दिन की सुबह-शाम दो बेला का तथा पहले दिन की एक और पारणा के दिन की एक बेला का आहार। इसी कारण उपवास को चतुर्थ भक्त कहा है। बेले में—बेले के दो दिनों की चार बेला और बेले के आरंभ के पहले दिन की एक बेला और पारणा के दिन

१—उत्त० ३०.९

की एक बेला—इस तरह छह बेला के भोजन का वर्जन होता है अतः उसे षष्ठभक्त कहा है। आगे भी इसी तरह समझना चाहिए। ऐसा लगता है कि जैन परम्परा के अनुसार उपवास २४ घंटे से अधिक का होना चाहिए। उपवास के पहले दिन सूर्यास्त होने के पहले-पहले वह आरंभ होना चाहिए। उपवास के दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व उपवास का पारणा नहीं होना चाहिए[1]।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इत्वरिक तप जघन्य से एक दिन का और उत्कृष्ट से षट् मास तक का होता है। टीका भी इसका समर्थन करती है—'इत्वरं चतुर्थादि षण्मासान्तमिदं तीर्थमाश्रित्येति'[2]।

कहीं-कहीं 'नवकारसहित' को भी इत्वरिक तप कहा है पर उपवास से कम इत्वरिक तप नहीं होना चाहिए।

उत्तराध्ययन में यह तप छह प्रकारका बताया गया है—(१) श्रेणितप (२) प्रतरतप (३) घनतप, (४) वर्गतप, (५) वर्गवर्गतप और (६) प्रकीर्णतप[3]। संक्षेप में इनका स्वरूप इस प्रकार है :

(१) **श्रेणितप**—ऊपर में इत्वरिक तप के जो उपवास से षट्मासिक तप तक के भेद बताये गये हैं, उन्हें क्रमशः निरन्तर एक के बाद एक करने को श्रेणितप कहते हैं ; यथा—उपवास के पारणा के दूसरे दिन बेला करना दो पद का श्रेणितप है। उपवास कर, बेला कर, तेला कर, चोला करना—चार पदों का श्रेणितप है। इस तरह एक उपवास से क्रमशः षट्-मासिक तप की अनेक श्रेणियाँ हो सकती हैं। पंक्ति उपलक्षित तप को श्रेणितप कहते हैं[4]।

१—ठाणाङ्ग ३.३.१८२ की टीका :

एकं पूर्वदिने द्वे उपवासदिने चतुर्थं पारणकदिने भक्तं—भोजनं परिहरति यत्र तपसि तत् चतुर्थभक्तम्

२—ठाणाङ्ग ५.३.५१२ की टीका

३—उत्त० ३०.१०-११ :

जो सो इत्तरियतवो सो समासेण छव्विहो ।
सेढितवो पयरतवो घणो य तह होइ वग्गो य ॥
तत्तो य वग्गवग्गो पंचमो छट्ठओ पइण्णतवो ।
मणइच्छियचित्तत्थो नायव्वो होइ इत्तिरिओ ॥

४—उत्त० ३०.१० की नेमिचन्द्रीय टीका :

पङ्क्तिस्तदुपलक्षितं तपः श्रेणितपः

(२) **प्रतरतप**—एक श्रेणितप को जितने क्रम-प्रकारों से किया जा सकता है उन सब क्रम-प्रकारों को मिलाने से 'प्रतरतप' होता है। उदाहरण स्वरूप उपवास, बेला, तेला और चौला—इन चार पदों की श्रेणि लें। इसके निम्नलिखित चार क्रम-प्रकार बनते हैं :

क्रम प्रकार	१	२	३	४
१	उपवास	बेला	तेला	चौला
२	बेला	तेला	चौला	उपवास
३	तेला	चौला	उपवास	बेला
४	चौला	उपवास	बेला	तेला

यह प्रतरतप है। इसमें कुल पदों की संख्या १६ है। इस तरह यह तप श्रेणि को श्रेणिपदों से गुणा करने से बनता है (**श्रेणिरेव श्रेण्या गुणिता प्रतर तप उच्यते—श्री नेमिचन्द्राचार्य**)

(३) **घनतप**—जितने पदों की श्रेणि है प्रतर को उतने पदों से गुणा करने से घनतप बनता है (**पदचतुष्टयात्मिकया श्रेण्या गुणितो घनो भवति—श्री नेमिचन्द्राचार्य**)। यहाँ चार पदों की श्रेणि है। अतः उपर्युक्त प्रतर तप को चार से गुणा करने से अर्थात् उसे चार बार करने से घनतप होता है। घनतप के ६४ पद बनते हैं।

(४) **वर्गतप**—घन को घन से गुणा करने पर वर्गतप बनता है (**घन एव घनेन गुणितो वर्गो भवति—श्री नेमिचन्द्राचार्य**) अर्थात् घनतप को ६४ बार करने से वर्गतप बनता है। इसके ६४×६४=४०९६ पद बनने हैं।

(५) **वर्गवर्गतप**—वर्ग को वर्ग से गुणा करने पर वर्गवर्गतप बनता है(**वर्ग एव यदा वर्गेण गुण्यते तदा वर्गवर्गो भवति—वही**) अर्थात् वर्गतप को ४०९६ बार करने से वर्गवर्गतप बनता है। इसके ४०९६×४०९६=१६७७७२१६ पद बनते हैं।

(६) **प्रकीर्णतप**—यह तप श्रेणि आदि निश्चित पदों की रचना बिना ही अपनी शक्ति अनुसार किया जाता है (**श्रेण्यादिनियत रचनाविरहितं स्वशक्त्यपेक्षं—वही**)। यह अनेक प्रकार का है।

उत्तराध्ययन (३०.११) में इत्वरिक तप के विषय में कहा है—'**मणइच्छियचित्तत्थो नायव्वो होइ इत्तरिओ**' इसका अर्थ श्री नेमिचन्द्राचार्य कृत उत्तराध्ययन की टीका के अनुसार इस प्रकार होता है :

"मनस ईप्सितः—इष्टः; चित्रः—अनेक प्रकारः; अर्थः—स्वर्गापवर्गादिः तेजो-लेश्यादिर्वा यस्मात् तद् मनईप्सितचित्रार्थं ज्ञातव्यं भवति इत्वरकं तपः।"

दसवैकालिक में इहलोक और परलोक के लिए तप करना वर्जित है। वैसी हालत में इत्वरिक तप स्वर्ग तेजोलेश्यादि मनोवाञ्छित अर्थ के लिए किया जा सकता है या किया जाता है[1]—ऐसा अर्थ सूत्र की गाथा का है या नहीं, यह जानना आवश्यक है।

आचार्य श्री आत्मारामजी ने इसका अर्थ भिन्न किया है—"मनोवांछित स्वर्गापवर्ग फलों को देनेवाला यह इत्वरिक तप सावधिक तप है" (उत्तराध्ययन अनुवाद : भाग ३ पृ० ११३७)। श्री सन्तलालजी ने भी अपने अनुवाद में प्रायः ऐसा ही अर्थ किया है (देखिए पृ० २७८)। यह अर्थ भी ठीक है या नहीं, देखना रह जाता है।

इस पद का शब्दार्थ है—"मनइच्छित विचित्र अर्थवाला इत्वरिक तप जानने योग्य है"। इसका भावार्थ है—इत्वरिक तप करने वाले की इच्छानुसार विचित्र होता है—वह एक दिन से लगाकर छह मास तक का हो सकता है। वह इच्छा अनुसार भिन्न-भिन्न रूप से किया जा सकता है। करनेवाला चाहे तो उसे श्रेणितप के रूप में कर सकता है या अन्य किसी रूप में। विचित्र अर्थवाला—इसका तात्पर्य यहाँ यह नहीं है कि वह स्वर्ग-अपवर्ग आदि भिन्न-भिन्न फल—हेतुओं के लिए किया जा सकता है। यहाँ 'अर्थ' का पर्याय शब्द फल—हेतु नहीं लगता। इसमें सन्देह नहीं कि तप स्वर्ग-अपवर्ग आदि भिन्न-भिन्न फलों को दे सकता है पर 'अर्थ' शब्द का व्यवहार यहाँ फल के रूप में हुआ नहीं लगता। इस तप के औपपातिक और उत्तराध्ययन में जो अनेक प्रकार बताये गए हैं और जो ऊपर वर्णित हैं, वे इत्वरिकतप की विचित्रता के प्रचुर प्रमाण हैं। इत्वरिकतप करनेवाले की इच्छा या सामर्थ्य के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ—प्रकार—अभिव्यंजना—प्रतिपत्ति—रचना—रूप को लेकर हो सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर हमने इस पद का अर्थ किया है—मनइच्छित—मन अनुसार, विचित्र—नाना प्रकार के, अर्थ—रूप-भेद वाला इत्वरिक तप है।

२—यावत्कथिक अनशन :

यावत्कथिक—मारणान्तिक अनशन दो प्रकार का कहा गया है —(१) सविचार और (२) अविचार[2]। यह भेद काय-चेष्टा के आश्रय से है।

१—डॉ० याकोबी आदि ने ऐसा ही अर्थ किया है। (देखिए सी. बी. ई. वो० ४० पृ० १७५)

२—उत्त० ३०.१२ :

जा सा अणसणा मरणे दुविहा सा वियाहिया।
सवियारमवियारा कायचिट्ठं पई भवे॥

जिसमें उद्वर्तनादि आवश्यक शारीरिक क्रियाओं का विचार हो— उनके लिए अवकाश हो—वे की जा सकती हों, उसे सविचार मारणांतिक अनशन कहते हैं। जिसमें किसी भी प्रकार की शारीरिक क्रियाओं का विचार न हो—उनके लिए अवकाश न हो—वे न की जा सकती हों, वह अविचार मारणांतिक अनशन कहलाता है।

औपपातिक में यावत्कथिक—मारणांतिक अनशन दो प्रकार का कहा गया है—(१) पादोपगमन और (२) भक्तप्रत्याख्यान। समवायाङ्ग सम० १७ में इस अनशन के तीन भेद बताये हैं—(१) पादोपगमन, (२) इंगिनी और (३) भक्तप्रत्याख्यान। इन तीनों भेदों के लक्षण इस प्रकार हैं :

(१) पादोपगमन :

चारों प्रकार के आहार का जीवनपर्यन्त के लिए त्याग कर किसी खास संस्थान में स्थित हो यावज्जीवन पतित-पादप की तरह निश्चल रहकर जो किया जाय, उसे पादोपगमन अनशन कहते हैं। पादप सम-विषम जैसी भी भूमि पर जिस रूप में गिर पड़ता है वहाँ उसी रूप में निष्कंप पड़ा रहता है। गिरे हुए पादप की उपमा से शरीर की सारी क्रियाओं को छोड़ एक स्थान पर किसी खास मुद्रा में स्थित हो निष्कंप रह जो अनशन किया जाय, वह पादोपगमन है। कहा है :

समविसमम्मि य पडिओ, अच्छइ सो पायवो व्व निक्कंपो।
चलणं परप्पओगा, नवर दुमस्सेव तस्स भवे[1] ॥

(२) इंगिनीमरण :

इंगित देश में स्वयं चार प्रकार के आहार का त्याग करे और उद्वर्तन-मर्दन वगैरह खुद करे पर दूसरों से न करावे, वह इंगिनीमरण कहलाता है। इस मरण में चार प्रकार के आहार का त्याग कर इंगित—नियत देश के अन्दर रहना पड़ता है और चेष्टाएँ भी इसी नियत देश-क्षेत्र में ही की जा सकती हैं। इसके लक्षण को बतलानेवाली निम्न गाथा स्मरण रखने जैसी है :

इंगियदेसंमि सयं चउव्विहाहारचायनिप्फन्नं।
उव्वत्तणाइजुत्तं नऽण्णेण उ इंगिणीमरणं[2] ॥

इसे इंगितमरण भी कहा जाता है।

१—उत्त० ३०. १३ की टीका में उद्धृत
२—ठाणाङ्ग २.४.१०२ की टीका में उद्धृत

(३) भक्तप्रत्याख्यान :

भक्तप्रत्याख्यान या भक्तपरिज्ञा अनशन तीन अथवा चार प्रकार के आहार-त्याग से निष्पन्न होता है। यह नियम से सप्रतिकर्म—जिस प्रकार समाधि हो शरीर की वैसी ही प्रतिक्रिया से युक्त कहा गया है। भक्तप्रत्याख्यान अनशन करनेवाला स्वयं उद्वर्त्तन-परिवर्तन करता है और समर्थ न होने पर समाधि के लिए थोड़ा अप्रतिबद्धरूप से दूसरे से भी कराता है। इसके लक्षण बतलानेवाली निम्नलिखित गाथाएँ स्मरण रखने योग्य हैं[1] :

भत्तपरिन्नाणसणं तिचउव्विहाहारचायणिप्फन्नं ।
सप्पडिकम्मं नियमा जहासमाही विणिद्दिट्ठं ॥
उव्वत्तइ परियत्तइ, सयमन्नेणावि कारए किंचि ।
जत्थ समत्थो नवरं, समाहिजणयं अपडिबद्धो ॥

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पादोपगमन और इंगिनी में चार प्रकार के आहार का त्याग होता है और भक्तप्रत्याख्यान में तीन प्रकार के आहार का भी त्याग हो सकता है। पादोपगमन सर्व चेष्टाओं से रहित होता है। इंगिनीमरण में दूसरे का सहारा लिए बिना नियत चेष्टाएँ की जा सकती हैं और भक्तप्रत्याख्यान में दूसरे के सहारे से भी चेष्टाएँ की जा सकती हैं। दूसरे शब्दों में पादोपगमन अविचार अनशन है और इंगिनी मरण तथा भक्तप्रत्याख्यान सविचार अनशन है। पादोपगमन में जो स्थान ग्रहण किया हो उससे लेशमात्र भी इधर-उधर नहीं हुआ जा सकता अर्थात् पतित-पादप की तरह उसी स्थान पर बिना हिले-डुले रहना पड़ता है। इंगिनी में नियत स्थान में हलचल की जा सकती है। भक्तप्रत्याख्यान में क्षेत्र की नियति नहीं होती अतः लम्बा विहार आदि किया जा सकता है।

व्याघात और निर्व्याघात भेद :

पादोपगमन अनशन और भक्तप्रत्याख्यान दोनों दो-दो प्रकार के कहे गये हैं—(१) व्याघात और (२) निर्व्याघात।

सिंह, दावानल आदि उपसर्गों से अभिभूत होने पर हठात् जो अनशन किया जाता है, वह व्याघात और बिना ऐसी परिस्थितियों के यथाकाल किया जाय, वह निर्व्याघात अनशन है।

१—(क) ठाणाङ्ग २.४.१०२ की टीका में उद्धृत

(ख) उत्त० ३०.१२ की टीका में उद्धृत

साधारण नियम ऐसा है कि मारणांतिक अनशन संलेषनापूर्वक किया जाना चाहिए—अर्थात् शरीर और कषायों की यथाविधि तप से संलेषना करते—उन्हें क्षीण करते हुए बाद में यथासमय यावज्जीवन आहार का त्याग करना चाहिए अन्यथा आर्तध्यान की संभावना रहती है। पर कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ बन जाती हैं कि संलेषना का अवसर ही नहीं रहता। सिंह, दावानल, भूकम्प आदि ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाती हैं कि तुरन्त ही समाधिमरण करने की आवश्यकता हो जाती है। ऐसे समय में जब अचानक काल समीप दिखाई देने लगता है उस समय जो मारणांतिक अनशन किया जाता है, वह व्याघात कहलाता है[1]। सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ—तीनों जाननेवाला मुमुक्षु परिकर्म—संलेषनात्मक तप कर यथासमय जो मारणांतिक अनशन करता है, वह निर्व्याघात कहा गया है[2]।

अनशन के व्याघात और निर्व्याघात भेदों को सपरिकर्म और अपरिकर्म शब्दों के द्वारा भी व्यक्त किया गया है। यथा—

अहवा सपरिकम्मा अपरिकम्मा य आहिया।
नीहारिमनिहारी आहारच्छेओ दोसु वि[3]॥

सपरिकर्म का अर्थ है जो संलेषनापूर्वक किया जाय (**संलेषना सा यत्राऽस्ति तत् सपरिकर्म**)। अपरिकर्म का अर्थ है जो संलेषना बिना किया जाय (**तद्विपरीतं तु अपरिकर्म**)। इस तरह स्पष्ट है कि व्याघात-निर्व्याघात और अपरिकर्म-सपरिकर्म शब्द पर्याय-वाची हैं।

निर्व्याघात पादोपगमन अनशन की विधि को बतलानेवाली १९ गाथाएँ ठाणाङ्ग (२.४.१०२) की टीका में उद्धृत मिलती हैं।

निर्हारिम और अनिर्हारिम भेद :

पादोपगमन और भक्त प्रत्याख्यान अनशन अन्य तरह से भी दो-दो प्रकार के होते हैं : (१) निर्हारिम और (२) अनिर्हारिम[4]।

१—उत्त० ३०.१३ की श्री नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका :
व्याघाते संलेखनामविधायैव क्रियेतेभक्तप्रत्याख्यानादि

२—वही : अव्याघाते त्रयमप्येत्सूत्रार्थोभयनिष्ठितो निष्पादितशिष्यः संलेखनापूर्वकमेव विधत्ते।

३—उत्त० ३० : १३

४—(क) भगवती : २५.७
(ख) ठाणाङ्ग २.४.१०२

निर्हारिम और अनिर्हारिम शब्दों की व्याख्याएँ निम्न रूप में मिलती हैं :

(क) जो वसति या उपाश्रय के एक भाग में किया जाता है जिससे कि कलेवर को उस आश्रय से निकालना पड़ता है, वह निर्हारिम अनशन है। जो गिरिकंदरादि में किया जाता है, वह अनिर्हारिम अनशन कहलाता है (भगवती २५.७; ठाणाङ्ग २.४.१०२ टीका)।

(ख) जो गिरिकन्दरादि में किया जाता है जिससे ग्रामादि के बाहर गमन करना होता है, वह निर्हारि और उससे विपरीत जो व्रजिकादि में किया जाता है और जिसमें शव उठाया जाय ऐसी अपेक्षा है, वह अनिर्हारी कहा जाता है[1]।

(ग) जो ग्रामादि के बाहर गिरिकंदरादि में किया जाता है, वह निर्हारिम। जो शव उठाया जाय इस कामना से व्रजिकादि में किया जाता है और जिसका अन्त वहीं होता है, वह अनिर्हारी कहलाता है—

बहिया गामाईणं, गिरिकंदरमाइ नीहारिं।
वइयाइसु.जं अंतो, उट्ठेउमणाण ठाइ अणिहारिं[2]॥

इन व्याख्याओं में निर्हारिम-अनिर्हारिम शब्दों के अर्थ के विषय में मतभेद स्पष्ट है। यह देखकर एक आचार्य कहते हैं—'**परमार्थं तु बहुश्रुता विदन्ति।**'

सारांश यह है कि मारणांतिक अनशन दो तरह का होता है एक जो ग्रामादि स्थानों में किया जाता है और दूसरा जो एकांत पर्वतादि स्थानों पर किया जाता है।

पादोपगमन अनशन नियम से अप्रतिकर्म होता है और भक्तप्रत्याख्यान अनशन नियम से सप्रतिकर्म[3]।

सपरिकर्म और अपरिकर्म शब्दों का अर्थ संलेषनापूर्वक और बिना संलेषना—ऐसा ऊपर बताया जा चुका है। इनका दूसरा अर्थ भी है। **सपरिकर्म—स्थाननिषदनादि-रूपपरिकर्मयुक्तम्, अपरिकर्म—तद्विपरीतम्**[4]।

१—उत्त० ३०.१३ की नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका :
निर्हरणं निर्हारः—गिरिकन्दरादिगमनेन ग्रामादेर्बहिर्गमनं तद्विद्यते यत्र तन्निर्हारि, तदन्यदनिर्हारि यदुत्थातुकामे व्रजिकादौ विधीयते

२—उत्त० ३०.१३ की नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका में उद्धृत

३—मूल शब्द 'सप्पडिकम्म' 'अप्पडिकम्मे' हैं। उत्तराध्ययन (३०.१३) में मूल शब्द 'सपरिकम्मा'—सपरिकर्म, 'अपरिकम्मा'—अपरिकर्म हैं।
अप्रतिकर्म—शरीर-प्रतिक्रिया—सेवा का वर्जन जिस में हो।
सप्रतिकर्म—शरीर प्रतिक्रिया—सेवा का वर्जन जिसमें न हो।

४—उत्त० ३०.१३ की श्री नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका

५—ऊनोदरिका (गा० १०-११) :

दूसरे बाह्य तप के 'ऊणोयरिया'—ऊनोदरिका[1], 'ओमोयरियाओ'—अवमोदरिका[2] और 'ओमोयरणं', 'ओमाणं'—अवमौदर्य[3]—ये तीन नाम मिलते हैं।

'ऊण' और 'ओम' दोनों का अर्थ है—कम। उत्तराध्ययन में इसी अर्थ में इनका प्रयोग मिलता है[4]। 'उयर'—उदर का अर्थ है पेट। प्रमाणोपेत मात्रा से आहार की मात्रा कम रखना—पेट को न्यून, हल्का रखना ऊनोदरिका अथवा अवमोदरिका तप कहलाता है। उपलक्षण से सब बातों की—आहार, उपधि, मान, क्रोधादि की न्यूनता के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। इसी कारण आगम में इसके तीन भेद मिलते हैं—१-उपकरण अवमोदरिका, २-भक्तपान अवमोदरिका और ३-भाव अवमोदरिका[5]। इस तप के विषय में आगमों में निम्न प्रश्नोत्तर मिलता है[6] :

"अवमोदरिका तप कितने प्रकार का है?" "वह दो प्रकार का है—द्रव्य अवमोदरिका और भाव अवमोदरिका।" "द्रव्य अवमोदरिका कितने प्रकार का है?" "वह दो प्रकार का है—उपकरण अवमोदरिका और भक्तपान अवमोदरिका।"

१—(क) उत्त० ३०.८
(ख) समवायाङ्ग सम० ६
(ग) भगवती २५.७

२—(क) औपपातिक सम० ३०
(ख) ठाणाङ्ग ३.३.१८२
(ग) भगवती २५.७

३—(क) उत्त० ३०.१४,२३
(ख) तत्त्वा० ९.१९

४—उत्त० ३०.१५,२०,२१,२४

५—ठाणाङ्ग ३.३.१८२ :
तिविधा ओमोयरिया पं० तं० उवगरणोमोयरिया भत्तपाणोमोदरिता भावोमोदरिता

६—(क) औपपातिक सम० ३० :
से किं तं ओमोयरियाओ ? दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—दव्वोमोदरिया य भावोमोदरिया य। से किं तं दव्वोमोदरिया ? दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—उवगरणदव्वोमोदरिया य भत्तपाणदव्वोमोदरिया य।
(ख) भगवती २५.७

इस वार्त्तालाप से भी तीन ही भेद फलित होते हैं। नीचे तीनों प्रकार के अवमोदरिका तपों का स्वरूप संक्षेप में दिया जा रहा है :

१—उपकरण अवमोदरिका :

यह तीन प्रकार का होता है[1] :

(क) एक वस्त्र से अधिक का उपयोग न करना।

(ख) एक पात्र से अधिक का उपयोग न करना।

(ग) चियत्तोपकरणस्वदनता। संयमीसम्मत उपकरण का धारण करना अथवा मलीन वस्त्र, उपकरण—उपधि आदि में भी अप्रीतिभाव न करना।

साधु आगमविहित वस्त्र-पात्र रख सकता है। विध्यानुसार रखे हुए वस्त्र-पात्रों से साधु असंयमी नहीं होता। अधिक रखनेवाला अथवा यतनापूर्वक व्यवहार नहीं करनेवाला साधु असंयमी होता है—

> **जं वट्टइ उवगारे, उवकरणं तं सि होइ उवगरणं।**
> **अइरेगं अहिगरणं, अजओ अजयं परिहरंतो[2] ॥**

साधारणतः साधु के लिए अधिक वस्त्रादि का अग्रहण ही अवमोदरिका तप है। जो साधु विहित वस्त्र-पात्र-उपधि को भी न्यून करता है, वह अवमोदरिका तप करता है।

मलीन वस्त्र-पात्रों में अप्रीतिभाव का होना उपकरण मूर्छा है। इस मूर्छा का घटाना-मिटाना उपकरण अवमोदरिका है।

२—भक्तपान अवमोदरिका :

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्याय की अपेक्षा से यह तप पाँच प्रकार का बताया गया है[3]।

१—(क) ठाणाङ्ग ३.३ १८२ :

उवगरणोमोदरिता तिविहा पं० तं०—एगे वत्थे एगे पाते चियत्तोवहिसातिज्जणता

(ख) औपपातिक सम० ३०

(ग) भगवती २५.७

२—ठाणाङ्ग ३.३.१८२ की टीका में उद्धृत

३—उत्त० ३०.१४ :

ओमोयरणं पंचहा समासेण वियाहियं।
दव्वओ खेत्तकालेणं भावेणं पज्जवेहिं य ॥

(क) जिसका जितना आहार है उसमें से जघन्य में एक कवल भी न्यून करना द्रव्य से भक्तपान अवमोदरिका तप है[1]। आगम में कहा है[2] :

कुकड़ी के अण्डे जितने बत्तीस कवल का आहार करना प्रमाण प्राप्त आहार कहलाता है। इससे एक भी कवल अल्प आहार करनेवाला श्रमणनिर्ग्रन्थ प्रकामरसभोजी नहीं होता।

कुकड़ी के अण्डे जितने इकतीस कवल से अधिक आहार न करना किंचित् भक्तपान अवमोदरिका है।

कुकड़ी के अण्डे जितने चौबीस कवल से अधिक आहार न करना एकभाग-प्राप्त भक्तपान अवमोदरिका है।

कुकड़ी के अण्डे जितने सोलह कवल से अधिक आहार न करना दोभाग-प्राप्त अवमोदरिका है।

कुकड़ी के अण्डे जितने बारह कवल से अधिक आहार न करना अपार्ध भक्तपान अवमोदरिका है।

कुकड़ी के अण्डे जितने आठ कवल से अधिक आहार न करना अल्पाहार है[3]।

१—उत्त० ३०.१५ :

जो जस्स उ आहारो तत्तो ओमं तु जो करे।
जहन्नेणेगसित्थाई एवं दव्वेण ऊ भवे ॥

२—(क) औपपातिक सम० ३०

(ख) भगवती २५.७

(ग) ठाणाङ्ग० ३.३.१८२ की टीका में उद्धृत :

बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं भवे कवला ॥
कवलाण य परिमाणं कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्तं तु।
जो वा अविगिअवयणो वयणंमि छुहेज्ज वीसत्थो ॥
अप्पाहार १ अवड्ढा २ दुभाग ३ पत्ता ४ तहेव किंचूणा।
अट्ठ १ दुवालस २ सोलस ३ चउवीस ४ तहेक्कतीसा य ५ ॥

३—यहाँ दिया हुआ अनुवाद औपपातिक सूत्र के क्रम से ठीक उल्टा है। मूल "कुकड़ी के अण्डे जितने आठ कवल से अधिक आहार न करना अल्पाहार है"—से शुरू होता है और ···"प्रकामरसभोजी नहीं कहलाता" में शेष होता है। समझने की सुगमता की दृष्टि से क्रम उल्टा रखा गया है।

(ख) ग्राम आदि नाना प्रकार के क्षेत्र भिक्षा के लिए हैं। इनमें इस प्रकार अमुक क्षेत्रादि में ही भिक्षा करना मुझे कल्पता है—साधु का ऐसा या अन्य नियम करना क्षेत्र से भक्तपान अवमोदरिका है[1]।

'इस प्रकार' शब्द विधि के द्योतक हैं। (१) पेटा (२) अर्द्धपेटा, (३) गोमूत्रिका, (४) पतंगवीथिका, (५) शंबूकावर्त्त और (६) आयतंगत्वाप्रत्यागता—ये भिक्षाटन के प्रकार हैं[2]। इनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है :

(१) पेटा : एक घर से भिक्षा शुरू कर दूसरे ऐसे घरों से भिक्षा करना कि स्पर्शित घरों का एक चौकोर पेटी का आकार बन जाय, वह पेटाविधि कहलाती है।

(२) अर्द्धपेटा : एक घर से भिक्षा शुरू कर दूसरे ऐसे घरों से भिक्षा करना कि स्पर्शित घरों का एक अर्द्ध पेटा का आकार बन जाय, वह अर्द्धपेटा विधि कहलाती है।

(३) गोमूत्रिका : गोमूत्रिका की तरह भिक्षाटन करना गोमूत्रिका विधि कहलाती है। एक पंक्ति के एक घर में जाकर सामने की पंक्ति के घर में जाना, फिर पहली पंक्ति के घर में जाना गोमूत्रिका विधि कहलाती है।

(४) पतंगवीथिका : पतंग के उड़ने की तरह अनियत क्रम से भिक्षा करना अर्थात् एक घर से भिक्षा ले फिर कई घर छोड़कर फिर किसी घर में भिक्षा लेना पतंगवीथिका विधि कहलाती है।

(५) शंबूकावर्त्त : जिस भिक्षाटन में शंख के आवृत्त की तरह पर्यटन हो, उसे शंबूकावर्त्त विधि कहते हैं।

(६) आयतंगत्वाप्रत्यागता : एक पंक्ति के घरों से भिक्षा लेते हुए आगे क्षेत्र पर्यन्त

१—उत्त० ३०.१६-१८ :

गामे नगरे तह रायहाणिनिगमे य आगरे पल्ली।
खेडे कब्बडदोणमुहपट्टणमडम्बसंबाहे॥
आसमपए विहारे सन्निवेसे समायघोसे य।
थलिसेणाखन्धारे सत्थे संवट्टकोट्टे य॥
वाडेसु व रच्छासु व घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं।
कप्पइ उ एवमाई एवं खेत्तेण ऊ भवे॥

२—वही : ३०.१९ :

पेडा य अद्धपेडा गोमुत्तिपयंगवीहिया चेव।
सम्बुक्कावट्टायययगन्तुंपच्चागया छट्ठा॥

चला जाना और फिर लौटते हुए दूसरी पंक्ति के घरों से भिक्षा लेना आयतंगत्वा-प्रत्यागता अथवा गत्वाप्रत्यागता विधि कहलाती है।

(ग) दिवस की चारों पौरुषियों में जितना काल रखा हो उस नियत काल में साधु का भिक्षाटन करना काल अवमौदर्य है। अथवा तीसरी पौरुषी कुछ कम हो जाने पर या चौथाई भाग कम हो जाने—बीत जाने पर आहार की गवेषणा करना काल से भक्तपान अवमोदरिका है[1]।

आगम में तीसरी पौरुषी में भिक्षा करने का विधान है। तीसरी पौरुषी के भी दो-दो घड़ी प्रमाण चार भाग होते हैं। इन चार भागों में से किसी अमुक भाग में ही भिक्षा के लिए जाने का अभिग्रह काल की अपेक्षा से अवमोदरिका है क्योंकि इसमें भिक्षा के विहित काल को भी न्यून—कम कर दिया जाता है।

(घ) स्त्री अथवा पुरुष, अलंकृत अथवा अनलंकृत, अमुक वयस्क अथवा अमुक प्रकार के वस्त्र को धारण करनेवाला, अन्य किसी विशेषता—हर्ष आदि को प्राप्त अथवा विशेष वर्णवाला—इन भावों से संयुक्त कोई देगा तो ग्रहण करूँगा—साधु का इस प्रकार अभिग्रह पूर्वक भिक्षाटन करना भाव से भक्तपान अवमौदर्य है[2]।

(ङ) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में जो भाव कथन किये गये हैं उन सब भावों—पर्यायों से साधु का भक्तपान अवमोदरिका करना पर्याय अवमौदर्य कहलाता है। ऐसा भिक्षु पर्यवचरक कहलाता है[3]।

१—उत्त० ३०.२०-२१ :

> दिवसस्स पोरुसीणं चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो।
> एवं चरमाणो खलु कालोमाणं मुणेयव्वं॥
> अहवा तइयाए पोरिसीए ऊणाइ घासमेसन्तो।
> चउभागूणाए वा एवं कालेण ऊ भवे॥

२—उत्त० ३०. २२-२३ :

> इत्थी वा पुरिसो वा अलंकिओ वा नलंकिओ वा वि।
> अन्नयरवयत्थो वा अन्नयरेणं व वत्थेणं॥
> अन्नेण विसेसेणं वण्णेणं भावमणुमुयन्ते उ।
> एवं चरमाणो खलु भावोमाणं मुणेयव्वं॥

३—वही : ३०.२४ :

> दव्वे खेत्ते काले भावम्मि य आहिया उ जे भावा।
> एएहि ओमचरओ पज्जवचरओ भवे भिक्खू॥

३—भाव अवमोदरिया :

यह तप अनेक प्रकार का कहा गया है, यथा—(क) अल्पक्रोध—क्रोध को कम करना, (ख) अल्पमान—मान को कम करना, (ग) अल्प माया—माया को अल्प करना, (घ) अल्पलोभ—लोभ को कम करना (ङ) अल्पशब्द—बोलने को घटाना और (च) अल्पझंझा—झंझा को कम करना। (छ) अल्प तूं-तूं—तूं-तूं, मैं-मैं को कम करना[1]।

वाचक उमास्वाति ने अवमौदर्य के स्वरूप को बतलाते हुए लिखा है—"अवम' शब्द ऊन—न्यून का पर्याय वाचक है। इसका अर्थ कम या खाली होता है। कम पेट—खाली पेट रहना अवमौदर्य है। उत्कृष्ट और जघन्य को छोड़कर मध्यम कवल की अपेक्षा से यह तप तीन प्रकार का होता है—अल्पाहार अवमौदर्य, उपधि अवमौदर्य और प्रमाणप्राप्त से किंचित् ऊन अवमौदर्य। कवल का प्रमाण बत्तीस कवल से पहले का ग्रहण करना चाहिए[2]।'

वाचक उमास्वाति के अनुसार साधु को ज्यादा-से-ज्यादा बत्तीस कवल आहार लेना चाहिए। एक ग्रास और बत्तीस ग्रास को छोड़कर मध्य के दो से लेकर इकतीस ग्रास तक का आहार लेना अवमौदर्य तप है। दो, चार, छह आदि अल्प ग्रास लेने को अल्पाहार अवमौदर्य, आधे के करीब—पंद्रह-सोलह ग्रास लेने को उपधि अवमौदर्य और इकतीस ग्रास के आहार तक को प्रमाणप्राप्त से किंचित् ऊन अवमौदर्य कहते हैं।

उमास्वाति ने एक ग्रास ग्रहण को अवमौदर्य क्यों नहीं माना—यह समझ में नहीं आता। पूर्ण आहार न करना जब अवमौदर्य है तब उसे भी ग्रहण करना चाहिए था। श्री अकलङ्कदेव ने उसे ग्रहण किया है—"**आशितंभवो य ओदनः तस्य चतुर्भागे-मार्द्धग्रासेन वा अवममूनं उदरमस्यासाववमोदरः, अवमोदरस्य भावः कर्म वा अवमोदर्यम्**[3]।

१—(क) औपपातिक सम० २० :

से किं तं भावोमोयरिया? २ अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा—अप्पकोहे अप्पमाणे अप्पमाए अप्पलोहे अप्पसद्दे अप्पझंझे

(ख) भगवती २५.७ :

भावोमोयरिया अणेगविहा पं० तं—अप्पकोहे जाव—अप्पलोभे, अप्पसद्दे, अप्पझंझे अप्पतुमंतुमे। सेत्तं भावोमोयरिया

२—तत्त्वा० ६.१९ भाष्य २

३—तत्त्वा० ६.१९ राजवार्तिक ३

आ० पूज्यपाद ने संयम की जागृति, दोषों के प्रशम तथा सन्तोष और स्वाध्याय की सुखपूर्वक सिद्धि के लिए इसे आवश्यक बताया है[1]।

६—भिक्षाचर्या तप (गा०१२) :

उत्तराध्ययन, औपपातिक, भगवती और ठाणाङ्ग में इस तप का यही नाम मिलता है।

इस तप के वृत्तिसंक्षेप[2] और वृत्तिपरिसंख्यान[3], नाम भी प्राप्त हैं।

प्रश्न हो सकता है कि अनशन—आहार-त्याग को तप कहा है तब भिक्षाचर्या—भिक्षाटन को तप कैसे कहा? इसका कारण यह है कि अनशन कि तरह भिक्षाटन में भी कष्ट होने से साधु को निर्जरा होती है। अतः वह भी तप है। अथवा विशिष्ट और विचित्र प्रकार के अभिग्रह से संयुक्त होने से वह साधु के लिए वृत्तिसंक्षेप रूप है और इस तरह वह तप है[4]। आ० पूज्यपाद ने इसका लक्षण इस प्रकार बताया है—"मुनेरेकागारादिविषयः सङ्कल्पः चिन्तावरोधो वृत्तिपरिसंख्यानम्।" इसका फल आशा-निवृत्ति है।

अभिग्रह के उपरांत भिक्षा न करने से स्वामीजी ने इसका लक्षण भिक्षा-त्याग किया है। उन्होंने भिक्षाचर्या को अनेक प्रकार का कहा है। आगम में निम्न भेदों का उल्लेख मिलता है[5] :

१—तत्त्वा० ९-१९ सर्वार्थसिद्धि :

संयमप्रजागरदोषप्रशमसन्तोषस्वाध्यायादिसुखसिद्ध्यर्थमवमौदर्यम्।

२—समवायाङ्ग : सम० ६

३—(क) तत्त्वा० १९.१९

(ख) दशवैकालिक निर्युक्ति गा० ४७

४—ठाणाङ्ग ५.३.५११ टीका :

भिक्षाचर्या सव तपो निर्जराङ्गत्वादनशनवद् अथवा सामान्योपादानेऽपि विशिष्टा विचित्राभिग्रहयुक्तत्वेन वृत्तिसंक्षेपरूपा सा ग्राह्या।

५—औपपातिक सम० ३० :

दव्वाभिग्गहचरए खेत्ताभिग्गहचरए कालाभिग्गहचरए भावाभिग्गहचरए उक्खित्तचरए णिक्खित्तचरए उक्खित्तणिक्खित्तचरए णिक्खित्तउक्खित्तचरए वट्टिज्जमाणचरए साहरिज्जमाणचरए उवणीयचरए अवणीयचरए उवणीयअवणीयचरए अवणीयउवणीयचरए संसट्ठचरए असंसट्ठचरए तज्जायसंसट्ठचरए अणायचरए मोणचरए दिट्ठलाभिए अदिट्ठलाभिए पुट्ठलाभिए अपुट्ठलाभिए भिक्खालाभिए अभिक्खालाभिए अण्णागिलाए ओवणिहिए परिमियपिंडवाइए सुद्धेसणिए संखादत्तिए।

(१) द्रव्याभिग्रह चर्या : द्रव्य सम्बन्धी अभिग्रह कर भिक्ष
भाले के अग्र भाग पर स्थित द्रव्य विशेष को लूंगा—इत्यादि प्रतिज्ञा द्रव्याभिग्रह है।

(२) क्षेत्राभिग्रह चर्या: क्षेत्र सम्बन्धी अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। उदाहरणार्थ देहली के दोनों ओर पैर रखकर बैठा हुआ कोई दे तो लूंगा—इत्यादि प्रतिज्ञा क्षेत्राभिग्रह है।

(३) कालाभिग्रह चर्या : काल विषयक अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। उदाहरणार्थ सब भिक्षाचर गोचरी कर चुके होंगे उस समय भिक्षाटन करूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा कालाभिग्रह है।

(४) भावाभिग्रह चर्या : भाव विषयक अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। उदाहरणार्थ हँसता, रोता या गाता हुआ पुरुष देगा तो लूंगा आदि प्रतिज्ञा भावाभिग्रह है।

(५) उक्षिप्त चर्या : गृहस्थ द्वारा स्वप्रयोजन के लिए पाक-भाजन से निकाला हुआ द्रव्य ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(६) निक्षिप्त चर्या : पाक-भाजन से निकाली हुई वस्तु को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(७) उक्षिप्तनिक्षिप्त चर्या : उक्षिप्त एवं निक्षिप्त दोनों को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना अथवा पाक-भाजन से निकाल कर उसी में या अन्यत्र रखी हुई वस्तु ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(८) निक्षिप्तउक्षिप्त चर्या : निक्षिप्त और उक्षिप्त दोनों को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना अथवा पाक-भाजन में रखी हुई वस्तु भोजन-पात्र में निकाली हुई हो उसे ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(९) परिवेष्यमाण-चर्या : परोसे जाते हुए में से लेने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(१०) संह्रियमाण चर्या : फैलाई हुई वस्तु बटोर कर पुन: भाजन में रखी जा रही हो उसे ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(११) उपनीत चर्या : किसी द्वारा समीप लाई हुई वस्तु को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(१२) अपनीत चर्या : देय द्रव्य में से प्रसारित—अन्यत्र स्थापित वस्तु को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना।

(१३) **उपनीतापनीत चर्या :** उपनीत-अपनीत दोनों को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। अथवा दाता द्वारा जिसका गुण कहा गया हो वह उपनीत, जिसका गुण नहीं कहा गया हो वह अपनीत। एक अपेक्षा से जिसका गुण कहा हो और दूसरी अपेक्षा से दोष—उस वस्तु को ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। उदाहरण स्वरूप—यह जल शीतल है पर क्षारयुक्त है—दाता द्वारा इस तरह प्रशंसित वस्तु को ग्रहण करना

(१४) **अपनीतोपनीत चर्या :** जिस वस्तु में एक अपेक्षा से दोष और एक अपेक्षा से गुण बताया गया हो उसे ग्रहण करने का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। उदाहरण स्वरूप—यह जल क्षारयुक्त है पर शीतल है—दाता द्वारा इस तरह अप्रशंसित-प्रशंसित वस्तु को ग्रहण करना।

(१५) **संसृष्ट चर्या :** भरे हुए हाथ या पात्रादि से देने पर लेने का नियम कर भिक्षाटन करना।

(१६) **असंसृष्ट चर्या :** बिना भरे हुए हाथ या पात्रादि से देने पर लेने का नियम कर भिक्षाटन करना।

(१७) **तज्जातसंसृष्ट चर्या :** जो देय वस्तु है उसी से संसृष्ट हाथ या पात्रादि से देने पर लेने का नियम कर भिक्षाटन करना।

(१८) **अज्ञात चर्या :** स्वजाति या सम्बन्ध आदि को जताये बिना भिक्षाटन करना।

(१९) **मौन चर्या :** मौन रह कर भिक्षाटन करना।

(२०) **दृष्टलाभ चर्या :** दृष्ट आहार आदि की प्राप्ति के लिए भिक्षाटन करना अथवा पूर्व देखे हुए दाता से भिक्षा ग्रहण करना।

(२१) **अदृष्टलाभ चर्या :** अदृष्ट आहार आदि की प्राप्ति के लिए भिक्षाटन करना अथवा पहले न देखे हुए से भिक्षा ग्रहण करना।

(२२) **पृष्टलाभ चर्या :** साधु ! आप को क्या दें ? —ऐसा प्रश्न कर कोई वस्तु दी जाए तो उसे लेना।

(२३) **अपृष्टलाभ चर्या :** बिना कुछ पूछे कोई वस्तु दी जाए उसे लेना।

(२४) **भिक्षालाभ चर्या :** तुच्छ या अज्ञात वस्तु को ग्रहण करना।

(२५) **अभिक्षालाभ चर्या :** तुच्छ या अज्ञात वस्तु न लेने का अभिग्रह करना।

(२६) **अन्नग्लायकचरकत्व चर्या** : अन्न बिना विषादप्राप्त साधु के लिए भिक्षाटन करना। इस के दो नाम और मिलते हैं—अन्नग्लानकचरकत्व तथा अन्यग्लायकचरकत्व। अन्यग्लायकचरकत्व का अर्थ है—अन्य वेदनादि वाले साधु के लिए भिक्षाटन करना। यहाँ 'अन्नवेल' पाठान्तर मिलता है, जिसका अर्थ है—भोजन की बेला के समय भिक्षाटन करना।

(२७) **औपनिहित चर्या** : जो वस्तु किसी तरह समीप में प्राप्त हो उसके लिए भिक्षाटन करना। इसका अपर नाम 'औपनिधिकत्व चर्या' भी है, जिसका अर्थ होता है—जो वस्तु किसी प्रकार से समीप लाई गई हो उसके लिए भिक्षाटन करना।

(२८) **परिमितपिण्डपात चर्या** : द्रव्यादि की संख्या से परिमित पिण्डपात के लिए भिक्षाटन करना।

(२९) **शुद्धैषणा चर्या** : सात या वैसी ही अन्य एषणाओं द्वारा शंकितादि दोषों का वर्जन करते हुए भिक्षाटन करना।

एषणाएँ सात हैं—संसृष्ट, असंसृष्ट, उद्धृता, अल्पलेपा, उद्गृहीता, प्रगृहीता और उज्झितधर्मा[1]।

संसृष्ट हाथ या पात्र से देने पर लेना 'संसृष्टा', असंसृष्ट हाथ या पात्र से देने पर लेना 'असंसृष्टा', रांधने के वर्तन से निकाला हुवा लेना 'उद्धृता', अल्प लेपवाली वस्तु या लेपरहित वस्तु से लेना 'अल्पलेपा', परोसने के लिए लाई जाती हुई वस्तु में से लेना 'उद्गृहीता', परोसने के लिए हाथ में ग्रहण की गई या परोसते समय भोजन करनेवाले ने अपने हाथ से ले ली हो, उसमें से लेना—'प्रगृहीता' और जो परित्यक्त वस्तु हो — ऐसी वस्तु जो दूसरा न लेता हो, उसको लेना, 'उज्झितधर्मा' एषणा कहलाती है।

(३०) **संख्यादत्ति चर्या** : इतनी दत्ति को ग्रहण करूँगा इस प्रकार का अभिग्रह कर भिक्षाटन करना। धार टूटे बिना एक बार में जितना गिरे उसे एक दत्ति कहते हैं। यदि वस्तु प्रवाही न हो तो एक बार में जितना दिया जाय वह एक दत्ति कहलाती है[2]।

औपपातिक (सम० ३०) और भगवती (२५.७) में भिक्षाचर्या के उपर्युक्त तीस भेद हैं, पर यह भेद-संख्या अन्तिम नहीं लगती। ठाणाङ्ग (५.१.३९६) में दो भेद और मिलते हैं :

१—उत्त० ३०.२५ की टीका में उद्धृत :

संसट्ठमसंसट्ठा उद्धड तह अप्पलेवडा चेव।
उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया॥

२—ठाणाङ्ग ५.१.३९६ की टीका में उद्धृत :

दत्ती उ जत्तिए वारे खिवई होंति तत्तिया।
अवोच्छिन्ननिवायाओ दत्ती होइ दवेतरा॥

(३१) पुरिमाकर्ष चर्या : पूर्वाह्न में भिक्षाटन करने का अभिग्रह।

(३२) भिन्नपिण्डपात चर्या : टुकड़े किए हुए पिण्ड को ग्रहण करने का अभिग्रह।

उत्तराध्ययन में कहा है : "आठ प्रकार के गोचाराग्र, आठ प्रकार की एषणा तथा अन्य जो अभिग्रह हैं उन्हें भिक्षाचर्या कहते हैं[1]।"

गाय की तरह भिक्षाटन करना—जिस तरह गाय छोटे-बड़े सब घास को चरती हुई आगे बढ़ती है, उसी तरह धनी-गरीब सब घरों में समान भाव से भिक्षाटन करना—गोचरी कहलाती है।

अग्र अर्थात् प्रधान—आठ प्रकार की प्रधान गोचरी का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—(१) पेटा, (२) अर्द्धपेटा, (३) गोमूत्रिका, (४) पतंगवीथिका, (५) आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्त, (६) बहिर्शम्बूकावर्त्त, (७) आयतगंतुं और (८) प्रत्यागत। कहीं-कहीं अंतिम दो को एक मान कर ८वें स्थान में ऋजुगति का उल्लेख मिलता है। प्रायः गोचराग्रों का अर्थ पहले दिया जा चुका है।

शम्बूकावर्त्त के लक्षण का वर्णन पहले किया जा चुका है। शंख के नाभिक्षेत्र से आरंभ हो आवृत्त बाहर आता है, उसी प्रकार भीतर के घरों में गोचरी करते हुए बाहर वस्ति में आना आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्त गोचरी है। शंख में बाहर से भीतर की ओर आवृत्त जाता है, उस प्रकार बाहर वस्ति में भिक्षाटन करते हुए आभ्यन्तर वस्ति में प्रवेश करना बहिर्शम्बूकावर्त गोचरी कहलाती है। इन शब्दों के अर्थ में सम्प्रदाय भेद रहा है, यह निम्न उद्धरणों हरणों से प्रकट होगा :

"यस्यां क्षेत्रबहिर्भागात् शंखवृत्तत्वगत्याऽटन् क्षेत्रमध्यभागमायाति साऽभ्यन्तरसंबुका, यस्यां तु मध्यभागाद् बहिर्याति सा बहिः सम्बुक्केति" (ठाणाङ्ग ५.३.५१४ की टीका)

"तत्थ अब्भिंतरसंबुकाए संखनाभिखेत्तोवमाए आगिईए अंतो आढवइ बाहिरओ सन्नियट्टइ, इयरीए विवज्जओ।" (उत्त० ३०.१९ की टीका)

"अब्भिंतरसंबुक्का मज्झाभमिरो बहिं विणिस्सरइ। तव्विवरीया भणइ बहिं संबुका य भिक्ख त्ति।"

सात प्रकार की एषणाओं का वर्णन पहले किया जा चुका है। (देखिए पृ० ६४३)

१—उत्त० ३०.२५ :

अट्ठविहगोयरग्गं तु तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया॥

अभिग्रह—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का कहा गया है। उनके लक्षण पहले दिये जा चुके हैं। (देखिए पृ० ६४०-१)

७—रसपरित्याग (गा० १३) :

रसों के परिवर्जन को रस-परित्याग व्रत कहते हैं[1]। यह अनेक प्रकार का कहा गया है। औपपातिक सूत्र में इसके नौ भेद मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) निर्विकृति (२) प्रणीतरसपरित्याग, (३) आचाम्ल, (४) अवश्रावणगतसिक्थभोजन, (५) अरसाहार, (६) विरसाहार, (७) अन्त आहार, (८) प्रान्त्य आहार और (९) लूक्षाहार[2]।

संक्षेप में इनका विवरण इस प्रकार है :

(१) निर्विकृति : विकृतियां नौ हैं[3]—दूध[4], दही, नवनीत, घी[5], तेल[6], गुड़[7], मधु[8], मद्य[9]

१—उत्त० ३०.२६

खीरदहिसप्पिमाई पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु भणियं रसविवज्जणं॥

२—औपपातिक सम० ३०

से किं तं रसपरिच्चाए ? २ अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ निव्वीइए २ पणीयरसपरिच्चाए ३ आयंबिलिए ४ आयामसित्थभोई ५ अरसाहारे ६ विरसाहारे ७ अंताहारे ८ पंताहारे ९ लूहाहारे।

३—ठाणाङ्ग ९.३.६७४ :

णव विगतीतो पं० तं० खीरं दधिं णवणीतं सप्पिं तेलं गुलो महुं मज्जं मंसं

४—वृद्धगाथा के अनुसार गाय, भैंस, ऊंटनी, बकरी और भेड़ का दूध।

५—वृद्धगाथा में कहा गया है कि ऊँटनी के दूध का दही आदि नहीं होता अतः गाय, भैंस, बकरी और भेड़ के भेद से दही, नवनीत और घी चार-चार प्रकार के होते हैं।

६—वृद्धगाथा के अनुसार तिल, अलसी, कुसुंभ और सरसव का तेल। अन्य महुआ आदि के तेल विकृति में नहीं आते।

७—वृद्धगाथा के अनुसार गुड़ दो प्रकार का होता है—द्रवगुड़ (नरम गुड़) और पिंडगुड़ (कठोर गुड़)।

८—वृद्धगाथा के अनुसार मधु तीन प्रकार का होता है (१) माक्षिक—मक्खी सम्बन्धी, (२) कौंतिक—छोटी मक्खी सम्बन्धी और (३) भ्रमरज—भ्रमर सम्बन्धी।

९—वृद्धगाथा के अनुसार मद्य दो तरह का होता है—(१) काष्ठनिष्पन्न—ताड़ी आदि और (२) पिष्टनिष्पन्न—चावल आदि के पिष्ट से बना।

और मांस[1]। इनका परिवर्जन निर्विकृति तप है।

जो शरीर और मन को प्रायः विकार करनेवाली हों, उन्हें विकृति कहा है (**विकृतयः शरीरमनसोः प्रायो विकार हेतुत्वात्**)। मधु, मांस, मद्य और नवनीत—इन चार को महाविकृयिाँ कहा जाता है (ठाणाङ्ग ४.१.२७४)। इसका कारण यह है कि महा रस के फलस्वरूप ये महा विकार तथा महा जीवोपघात की हेतु हैं।

ठाणाङ्ग में उल्लिखित नौ विकृतियों के उपरांत औप० टीका द्वारा उद्धृत वृद्धगाथा में 'ओगाहिमगं'—अवगाहिम—घृत या तेल में तली वस्तु को भी विकृति कहा है। गाथा इस प्रकार है—

> खीरदहि णवणीयं, घयं तहा तेल्लमेव गुडमज्जं।
> महु मंसं चेव तहा, ओगाहिमगं च दसमी उ[2] ॥

(२) प्रणीतरस-परित्याग—प्रणीत[3]—घी आदि से अत्यन्त स्निग्ध—रसयुक्त पेय और भोजन का विवर्जन।

(३) आचाम्ल—कुल्माप, ओदन आदि और जल का आहार।

१—वृद्धगाथा के अनुसार जलचर, थलचर और खेचर जीवों की अपेक्षा से माँस तीन प्रकार का होता है। अथवा माँस, वसा—चरबी और शोणित के भेद से तीन प्रकार का होता है।

२—वहां यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रथम तीन पावों में तली वस्तु ही विकृति है। घी या तेल-भरी कड़ाही में जब प्रथम बार पुरियाँ डाली जाती हैं तो उसे प्रथम पावा कहा जाता है। चौथे पावे में तली पुरियाँ विकृति में नहीं आती यथा—

> आइह्ल तिन्नी चल चल, ओगाहिमगं च विगईओ।
> सेसा न होंति विगई अ, जोगवाहीण ते उ कप्पंती ॥

इसी प्रकार स्पष्ट किया गया है कि तवे पर घी आदि डालकर पहली बार जो चीज पूरी जाती है, वह विकृति है। पर उसी तवे के उसी घी में जो दूसरी-तीसरी बार में पूरी जाती है, वह वस्तु विकृति नहीं है। उसे लेपकृत कहा जाता है—

> एक्केण चेव तवओ, पूरिज्जइ पूयएण जो ताओ।
> विईओऽवि स पुण कप्पइ, निव्विगईअ लेवडो नवरं ॥

३—(क) अतिस्नेहवान्—समवायाङ्ग सम० २५ टीका
(ख) गलद्घृतदुग्धादि बिन्दुः—औपपातिक सम० ३० टीका
(ग) अति बृंहकं—उत्तराध्ययन ३०: २६ टीका

(४) अवश्रावणगत सिक्थभोजन—पकाये पदार्थों से दूर किये गये जल में आये सिक्थों का भोजन।

(५) अरसाहार—हिंगादि व्यंजनों से असंस्कृत आहार का सेवन।

(६) विरसाहार—विगतरस—पुराने धान्य ओदनादि आहार का सेवन।

(७) अन्त आहार[1]—घरवालों के भोजनोपरान्त अवशेष रहे आहार का सेवन।

(८) प्रान्त्य आहार[2]—घरवालों के खा चुकने के बाद बचे-खुचे अत्यन्त अवशेष आहार का सेवन।

(९) लूक्षाहार[3]—रूखे आहार का सेवन।

वाचक उमास्वाति ने रस-परित्याग तप की परिभाषा देते हुए कहा है—"मद्य, मांस, मधु और नवनीत आदि जो-जो रसविकृतियाँ हैं, उनका प्रत्याख्यान तथा विरस—रूक्ष आदि का अभिग्रह रसपरित्याग तप है[4]।"

आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—"घृतादि वृष्य—गरिष्ठ रसों का परित्याग करना रस-परित्याग तप है[5]।"

कहीं-कहीं षट्रस के त्याग को ही रस-परित्याग तप कहा है[6]। षट्-रस का अर्थ दो प्रकार से किया जाता है। कहीं घृत, दूध, दही, शक्कर, तेल, और नमक को षट्-रस कहा है और कहीं मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, लवण और तिक्त इन छह स्वादों को।

१—(क) अन्तेभवम् अन्त्यं जघन्यधान्यं वल्लादि (औपपातिक सम० ३० टीका)
(ख) अन्ते भवम् आन्तं—भुक्तावशेषं वल्लादि (ठाणाङ्ग ५.१.३९६ टीका)

२—(क) प्रकर्षेण अन्त्यं वल्लादि एव भुक्तावशेषं पर्युषितं वा (औप० सम० ३० टीका)
(ख) प्रकृष्टं अन्तं प्रान्तं—तदेव पर्युषितं (ठाणाङ्ग ५.१.३९६ टीका)

३—कहीं-कहीं तुच्छाहार मिलता है। तुच्छ—अल्प सारवाला

४—तत्त्वा० ९. १९ भाष्य ४ :
रसपरित्यागोऽनेकविधः। तद्यथा—मांसमधुनवनीतादीनां मद्यरसविकृतीनांप्रत्याख्यानं विरसरूक्षाद्यभिग्रहश्च

५—तत्त्वा० ९. १९ सर्वार्थसिद्धिः
घृतादिवृष्यरसपरित्यागश्चतुर्थंतपः

६—नवतत्त्वस्तवन (श्री विवेकविजय विरचित) : ८.
षट् रसनों करे त्याग, ए चोथो लह्यो सोभागी ॥

यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि सिक्था का भोजन, असंस्कृत पदार्थों का भोजन, विगतरस पदार्थों का भोजन आदि आदि तप नहीं पर सिक्थों से भिन्न भोजन का त्याग, संस्कृत पदार्थों का त्याग आदि तप है। यही बात आचाम्ल तप के विषय में समझनी चाहिए। उड़द आदि का खाना आचाम्ल तप नहीं, इनके सिवा अन्य पदार्थों का न खाना तप है।

इन्द्रियों के दर्प-निग्रह, निद्रा-विजय और सुखपूर्वक स्वाध्याय की सिद्धि के लिए यह तप अत्यन्त सहायक है[1]।

अनशन आदि प्रथम चार तपों में परस्पर इस प्रकार अन्तर है—अनशन में आहार मात्र की निवृत्ति होती है, अवमौदर्य में एक दो आदि कवल का परित्याग कर आहार मात्रा घटायी जाती है, वृत्तिपरिसंख्यान में क्षेत्रादि की अपेक्षा कायचेष्टा आदि का नियमन किया जाता है। रस-परित्याग में रसों का ही परित्याग किया जाता है[2]।

८—कायक्लेश तप (गा० १४) :

उत्तराध्ययन (३०.२७) में इस तप की परिभाषा इस प्रकार मिलती है : "वीरासनादि उग्र कायस्थिति के भेदों को यथारूप में धारण करना कायक्लेश तप है।" पाठ इस प्रकार है :

ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं॥

स्वामीजी की परिभाषा इसी आगम गाथा पर आधारित है।

कायक्लेश तप अनेक प्रकार का कहा गया है[3]। ठाणाङ्ग में एक स्थल पर इसके

१—तत्त्वा ९. १९ सर्वार्थसिद्धि :

इन्द्रियदर्पनिग्रहनिद्राविजयस्वाध्यायसुखसिद्ध्याद्यर्थो

२—तत्त्वा ९. १९ राजवार्तिक :

भिक्षाचरणे प्रवर्तमानः साधुः एतावत्क्षेत्रविषयां कायचेष्टां कुर्वीत कदाचिद्यथाशक्तीति विषयगणनार्थं वृत्तिपरिसंख्यानं क्रियेत, अनशनमभ्यवहर्त्तव्यनिवृत्तिः, एवम् अवमोदर्यरसपरित्यागौ अभ्यवहर्तव्यैकदेशनिवृत्तिपराविति महान् भेदः।

३—(क) औपपातिक सम० ३०

(ख) भगवती २५.७ :

से किंत कायकिलेसे ? कायकिलेसे अणेगविहे प०

सात भेद बतलाये गये हैं[1]। अन्य स्थल पर दो पंचकस्थानकों में दस नाम मिलते हैं[2]। औपपातिक में इसके बारह भेद बतलाये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि कायक्लेश तप के भेदों की कोई निश्चित संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती। वह अनेक प्रकार का है।

औपपातिक में वर्णित इस तप के बारह भेदों के नाम इस प्रकार हैं : १—स्थानायतिक, २—उत्कटुकासनिक, ३—प्रतिमास्थायी, ४—वीरासनिक, ५—नैषधिक, ६—दंडायतिक, ७—लगंडशायी, ८—आतापक, ९—अप्रावृतक, १०—अकण्डूयक, ११—अनिष्ठिवक और १२—सर्वगात्रप्रतिकर्मविभूषाविप्रमुक्त[3]।

इन भेदों की व्याख्या क्रमशः इस प्रकार है :

१—**स्थानायतिक** : कायोत्सर्ग में स्थित होना। इस काय-क्लेश तप के 'स्थानस्थितिक' 'स्थानातिग', 'स्थानातिय' आदि नामों का भी उल्लेख पाया जाता है[4]।

२—**उत्कटुकासनिक** : उत्कटुक आसन में स्थित होना। जिसमें केवल पैर जमीन को स्पर्श करें, पुत जमीन से ऊपर रहे, इस तरह बैठने को 'उत्कटुक आसन' कहते हैं।

३—**प्रतिमास्थायी** : प्रतिमाओं में स्थित होना। एक रात्रिक आदि कायोत्सर्ग विशेष में स्थित होना प्रतिमा है।

४—**वीरासनिक** : वीरासन में स्थित होना। जमीन पर पैर रखकर सिंहासन पर

१—ठाणाङ्ग ७.३.५५४ :
सत्तविधे कायकिलेसे पराणत्ते, तं०—ठाणातिते उक्कुडुयासणिते पडिमठाती वीरासणिते णेसज्जिते दंडातिते लगंडसाती।

२—ठाणाङ्ग ५.१ ३९६ :
पंच ठाणाइं० भवंति, तं०—ठाणातिते उक्कडुआसणिए पडिमट्ठाती वीरासणिए णेसज्जिए, पंच ठाणाइं० भवंति, तं०—दंडायतिते लगंडसाती आतावते अवाउडते अकंडूयते।

३—औपपातिक सम० ३० :
से किं तं कायकिलेसे? २ अणेगविहे पराणत्ते। तं जहा—१ ठाणट्ठिइए [ठाणाइए] २ उक्कुडुयासणिए ३ पडिमट्ठाई ४ वीरासणिए ५ नेसज्जिए [दंडायतिए लउडसाई] ६ आयावए ७ अवाउडए ८ अकंडुयए ९ अणिठ्ठूहए [धुयकेसमंसुलोमे] १० सव्वगायपरिकम्मविभूसविप्पमुक्के, से तं कायकिलेसे।

४—(क) ठाणाङ्ग सू० ५.१.३९६ और ७.३.५५४ की टीका
(ख) औपपातिक सम० ३० की टीका

बैठे हुए पुरुष के नीचे से सिंहासन निकाल लेने पर जो आसन बनता है, उसे वीरासन कहते हैं।

५—नैषद्यिक : निषद्या आसन में स्थित होना। बैठने के प्रकार विशेषों को निषद्या कहते हैं। निषद्या पाँच प्रकार की कही गई है :

(१) आसन पर केवल पैर हों और पुत लगा हुआ न हो—इस प्रकार पैरों के बल पर बैठने के आसन को उत्कटुक कहते हैं। इस आसन से बैठना—उत्कटुक निषद्या कहलाता है।

(२) गाय दुहते समय जो आसन बनता है, उसे गोदोहिका आसन कहते है। उसमें बैठना गोदोहिका निषद्या कहा जाता है। दूसरी परिभाषा के अनुसार गाय की तरह बैठने रूप आसन गो निषद्या कहलाता है।

(३) जमीन को पैर और पुत दोनों स्पर्श करें, ऐसे आसन को समपादपुत आसन कहते हैं। उसमें बैठना समपादपुत निषद्या कहलाता है।

(४) पद्मासन को—पलत्थी मार कर बैठने को पर्यंक-आसन कहते हैं। इस आसन में बैठना पर्यंक निषद्या है।

(५) जंघा पर एक पैर चढ़ाकर बैठना 'अर्द्धपर्यंक-आसन' कहलाता है। इस आसन में बैठना अर्द्ध-पर्यंक निषद्या है।

६—दंडायतिक : दण्ड की तरह आयाम—देह प्रसारित कर—पैर लम्बे कर बैठना

७—लगंडशायी[1] : टेढ़े-बांके लकड़े की तरह भूमि के पीठ नहीं लगाकर सोना।

८—आतापक : सर्दी-गर्मी—शीत-आतप आदि सहनरूप आतापना तप। बृहत् कल्प में आतापना तप के बारे में निम्न वर्णन मिलता है :

(१) आतापना तप के तीन भेद हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। सोते हुए की उत्कृष्ट, बैठे हुए की मध्यम और खड़े हुए की जघन्य आतापना है—

आयावणा य तिविहा उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना य।
उक्कोसा उ निवन्ना निसन्न मज्झा ठिय जहन्ना॥

---

[1]—वीरासनिक, दण्डायतिक और लगंडशायी के बृहत्कल्प में निम्न लक्षण दिए हैं—

वीरासणं तु सीहासणेव्व जहमुक्कजाणुगणिविट्ठो।
दंडे लगंडउवमा आययकुज्जे य दोण्हंपि॥

(२) सोते हुए की उत्कृष्ट आतापना तीन प्रकार की है—(क) नीचे मुखकर सोना—उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, (ख) पार्श्व—बाजू के बल सोना—उत्कृष्ट-मध्यम और (ग) उत्तान-चित होकर सोना उत्कृष्ट जघन्य—

तिविहा होइ निवन्ना ओमंथियपास तइय उत्ताण ।

(३) मध्यम आतापना के तीन भेद हैं—(क) गोदोहिका रूप मध्यम-उत्कृष्ट, (ख) उत्कुटिका रूप मध्यम-मध्यम और (ग) पर्यंक रूप मध्यम-जघन्य—

गोदुहउक्कुडथलियं कमेस तिविहाय मज्झिमा होई ।

(४) जघन्य आतापना के तीन भेद हैं—(क) हस्तिसौंडिका[1] रूप जघन्य-उत्कृष्ट, (ख) एक पैर अद्धर और एक पैर जमीन पर रखकर खड़े रहना जघन्य-मध्यम और (ग) दोनों पैर जमीन पर खड़े रह आतापना लेना जघन्य-जघन्य आतापना है—

तइया उ हत्थिसोडंग पावस भवाइया चेव ।

९—**अप्रावृतक** : अनाच्छादित देह—नग्न रहना ।

१०—**अकण्डूय** : खाज न करना ।

११—**अनिष्ठिवक** : थूक न निगलना ।

१२—**सर्वगात्रप्रतिकर्मविभूषाविप्रमुक्त** : शरीर के किसी भी अङ्ग का प्रतिकर्म—शुश्रूषा और विभूषा नहीं करना ।

६—प्रतिसंलीनता तप (गा० १५-२८) :

छठा तप प्रतिसंलीनता तप है। यह चार प्रकार का कहा गया है : १—इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, २—कषाय संलीनता, ३—योग प्रतिसंलीनता और ४—विविक्तशयनासन-सेवनता[2] ।

उत्तराध्ययन (३०.८) में छह बाह्य तपों के नाम बताते समय छठा बाह्य तप 'संलीयणा'—'संलीनता' बतलाया गया है। यही नाम समवायाङ्ग (सम० ६) में मिलता है। छठे बाह्य तप का लक्षण बताते समय उत्तराध्ययन (३०.२८) में 'विवित्तसयणासणं'—'विविक्तशयनासनता' शब्द का प्रयोग किया है। टीकाकार स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं : "**अनेन च विविक्तचर्या नाम संलीनतोक्ता। शेष संलीनतोपलक्षणमेषा यतश्चचतुर्विधा**

१—पुत पर बैठकर एक पैर को उठाना हस्तिसौण्डिका आसन है ।

२—उत्त० ३०.२८ की टीका में उद्धृत :

इंदियकसायजोगे, पडुच्च संलीणया मुणेयव्वा ।
तह जा विवित्तचरिया, पन्नत्ता वीयरागेहिं ॥

इयमुक्ता।" यहाँ आचार्य नेमिचन्द्र ने स्पष्ट कर दिया है कि चार संलीनताओं में केवल एक का ही यहाँ उल्लेख है अतः वह छठे तप का नाम नहीं उसके एक भेदमात्र का संलीनता तप के उपलक्षण रूप से उल्लेख है। औपपातिक और भगवती से भी स्पष्ट है कि 'विविक्तशयनासन' प्रतिसंलीनता तप का एक भेदमात्र है। तत्त्वार्थसूत्र (९.१९) में बाह्य तपों का नाम बताते हुए भी इसका नाम 'विविक्तशय्यासन' कहा है और उसका स्थान पाँचवाँ—कायक्लेश के पहले रखा है।

प्रति अर्थात् विरुद्ध में, संलीनता अर्थात् सम्यक् प्रकार से लीन होना। क्रोधादि विकारों के विरुद्ध में—उनके निरोध में सम्यक् प्रकार से लीन—उद्यत होना—'प्रति-संलीनता तप' है।

उपर्युक्त चार प्रकार के तपों का स्पष्टीकरण नीचे दिया जाता है :

१—इन्द्रियप्रतिसंलीनता तप पाँच प्रकार का कहा गया है :

(१) श्रोतेन्द्रिय की विषय-प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए श्रोतेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(२) चक्षुरिन्द्रिय की विषय-प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए चक्षुरिन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(३) घ्राणेन्द्रिय की विषय-प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए घ्राणेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(४) रसनेन्द्रिय की विषय-प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए रसनेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय की विषय-प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त हुए स्पर्शनेन्द्रिय के विषयों या अर्थों में राग-द्वेष का निग्रह।

२—कषायप्रतिसंलीनता तप चार प्रकार का कहा गया है[1] :

(१) क्रोध के उदय का निरोध—क्रोध को उदय न होने देना अथवा उदयप्राप्त—उत्पन्न हुए क्रोध को विफल करना।

---

[1]—ठाणाङ्ग ४.२.२७८ की टीका में उद्धृत :

उदयस्सेव निरोहो उदयप्पत्ताण वाऽफलीकरणं।
जं एत्थ कसायाणं कसायसंलीणया एसा॥

(२) मान के उदय का निरोध—मान को उदय न होने देना अथवा उदयप्राप्त—उत्पन्न हुए मान को विफल करना।

(३) माया के उदय का निरोध—माया को उदय न होने देना अथवा उदयप्राप्त—उत्पन्न माया को विफल करना।

(४) लोभ के उदय का निरोध—लोभ को उदय न होने देना अथवा उदयप्राप्त—उत्पन्न लोभ को विफल करना।

३—योगप्रतिसंलीनता तप तीन प्रकार का कहा गया है[1] :

(१) अकुशल मन का निरोध, कुशल मन की उदीरणा—प्रवृत्ति और मन को एकाग्रभाव करना[2]—यह मनयोग प्रतिसंलीनता है।

(२) अकुशल वचन का निरोध, कुशल मन की उदीरणा—प्रवृत्ति और वचन को एकाग्रभाव करना[3]—यह वचनयोग प्रतिसंलीनता है।

(३) हाथ-पैरों को सुसमाहित कर कुम्भ की तरह गुप्तेन्द्रिय और सर्व अंगों को प्रतिसंलीन कर स्थिर रहना—यह काययोग प्रतिसंलीनता है[4]।

१—योगसंलीनता के विषय में ठाणाङ्ग ४.२.२७८ की टीका में उद्धृत निम्न गाथा मिलती है :

अपसत्थाण निरोहो जोगाणमुदीरणं च कुसलाणं।
कज्जंमि य विही गमण जोगे संलीणया भणिया॥

२—मूल—'मणस्स वा एगत्तीभावकरणं' (भगवती २५.७)। इस तीसरे भेद का औपपातिक में उल्लेख नहीं है।

३—मूल—'वइए वा' एगत्तीभावकरणं' (भगवती २५.७)। इस तीसरे भेद का औपपातिक में उल्लेख नहीं है।

४—औपपातिक (सम० ३०) का मूल पाठ इस प्रकार है :

"जंणं सुसमाहियपाणिपाए कुम्मी इव गुत्तिदिए सव्वगायपडिसंलीणे चिट्ठइ, से तं कायजोगपडिसंलीणया"।

भगवती सूत्र में (२५.७) काययोगप्रतिसंलीनता की परिभाषा इस प्रकार है—"जन्नं सुसमाहियपसंतसाहरियपाणिपाए कुम्मो इव गुत्तिदिए अल्लीणे पल्लीणे चिट्ठति; सेत्तं कायपडिसंलीणया।"

अर्थ इस प्रकार है—सुसमाहित प्रशांत हो हाथ-पैरों को सकोच कुंभ की तरह गुप्तेन्द्रिय और आलीन-प्रलीन स्थिर रहना काययोग प्रतिसंलीनता है।

४—विविक्तसयनासनसेवनता आराम, उद्यान, देवकुल, सभा, पौ, प्रणीतगृह, प्रणीतशाला, स्त्री-पशु-नपुंसक के संसर्ग से रहित बस्ती में प्रासुक एषणीय पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक को प्राप्त कर रहना विविक्तसयनासनसेवनता तप है।

उत्तराध्ययन में कहा है :

"एकांत में जहाँ स्त्रियों आदि का अतिपात न होता हो वहाँ तथा स्त्री-पशु से विवर्जित—रहित शयन, आसन का सेवन विविक्तशयनासनसेवनता कहलाता है[1]।"

१०—बाह्य और आभ्यन्तर तप (गा० २१) :

ऊपर में जिन छह तपों का वर्णन आया है, स्वामीजी ने उन्हें बाह्य तप कहा है। आगे जिन छह तपों का वर्णन करने जा रहे हैं उन्हें स्वामीजी ने आभ्यन्तर तप कहा है।

उत्तराध्ययन में कहा है—"तप दो प्रकार का होता है। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का है वैसे ही आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है। अनशन, अवमोदरिका, भिक्षाचर्या, रसत्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता—ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये छह आभ्यन्तर तप हैं[2]।"

स्वामीजी का विवेचन इसी क्रम से चल रहा है।

बाह्य तप और आभ्यन्तर तप की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं :

(१) जो तप मुख्य रूप से बाह्य शरीर का शोषण करते हुए कर्मक्षय करता है, वह बाह्य तप कहलाता है और जो मुख्य रूप से अन्तरवृत्तियों को परिशुद्ध करता हुआ

१—उत्त० ३०.२८ :

एगंतमणावाए इत्थीपसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया विवित्तसयणासणं॥

२—वही : ३०. ७-८, ३० :

सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो॥
अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ॥
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विओसग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो॥

कर्मक्षयका हेतु होता है, वह आभ्यन्तर तप कहलाता है[१]।

(२) प्रायः बाह्य शरीर को तपानेवाला होने से जो लौकिक दृष्टि में भी तप रूप से माना जाय वह बाह्य तप और जो मुख्यतः आन्तर शरीर को तपानेवाला होने से दूसरों की दृष्टि में शीघ्र तप रूप प्रतिभाषित न हो, जिसे केवल सम्यक् दृष्टि ही तप रूप माने वह आभ्यन्तर तप है[२]।

(३) लोकप्रतीत्य होने से कुतीर्थिक भी जिसका अपने अभिप्राय के अनुसार आसेवन करते हैं, वह बाह्य तप है और उससे भिन्न आभ्यन्तर तप है[३]।

(४) जो बाह्य-द्रव्य के आलम्बन से होता है और दूसरों के देखने में आता है, उसे बाह्य तप कहते हैं तथा जो मन का नियमन करनेवाला होता है, वह आभ्यन्तर तप है[४]।

(५) अनशन आदि बाह्य तप निम्न कारणों से बाह्य कहलाते हैं :

(क) इनमें बाह्य-द्रव्य की अपेक्षा रहती है, इससे इन्हें बाह्य संज्ञा प्राप्त है। ये अशनादि द्रव्यों की अपेक्षा से किए जाते हैं।

(ख) ये तप दूसरों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञेय होते हैं अतः बाह्य हैं।

१—समवायाङ्ग सम० ६ की अभयदेव सूरिकृत टीका :

बाह्यतपः बाह्यशरीरस्य परिशोषणेन कर्मक्षपणहेतुत्वादिति, आभ्यन्तरं—चित्तनिरोध-प्राधान्येन कर्मक्षपणहेतुत्वादिति।

२—औपपातिक सूत्र ३० की अभयदेव सूरिकृत टीका :

अब्भिंतरए—अभ्यन्तरम्—आन्तरस्यैव शरीरस्य तापनात्सम्यग्दृष्टिभिरेव तपस्तया प्रतीयमानत्वाच्च, 'बाहीरए' त्ति बाह्यस्यैव शरीरस्य तापनान्मिथ्यादृष्टि-भिरपि तपस्तया प्रतीयमानत्वाच्चेति।

३—उत्त० ३०.७ की श्री नेमिचन्द्राचार्य कृत टीका :

लोकप्रतीतत्वात् कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणाऽऽसेव्यमानत्वाद् बाह्यं तदितरच्चाऽ-भ्यन्तरमुक्तम्।

४—तत्त्वा० ६.१९-२० सर्वार्थसिद्धि :

बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम्। कथमस्याभ्यन्तरत्वम्? मनोनियम-नार्थत्वात्।

(ग) अनशन आदि तप अन्यतीर्थी और गृहस्थों द्वारा भी किए जाते हैं अतः ये बाह्य हैं[1]।

प्रायश्चितादि आभ्यन्तर तप निम्न कारणों से आभ्यन्तर कहलाते हैं :

(१) ये अन्य तीर्थियों से अनभ्यस्त और अप्राप्तपार होते हैं अतः आभ्यन्तर हैं।

(२) ये अन्तःकरण के व्यापार से होते हैं अतः आभ्यन्तर हैं।

(३) इन्हें बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं होती अतः ये आभ्यन्तर हैं[2]।

निश्चय से बाह्य और आभ्यन्तर तप दोनों अन्तरङ्ग हैं क्योंकि जब दोनों ही वैराग्य-वृत्ति और कर्मों को क्षय करने की दृष्टि से किये जाते हैं तभी शुद्ध होते हैं।

११—प्रायश्चित (गा० २२) :

जिससे पाप का छेद हो अथवा जो प्रायः चित्त की विशोधि करता हो, उसे प्रायश्चित कहते हैं। कहा है :

> **पापं छिनति यस्मात् प्रायश्चितमिति भण्यते तस्मात्।**
>
> **प्रायेण वापि चित्तं विशोधयति तेन प्रायश्चितम्[3] ॥**

दोष-शुद्धि के लिए योग्य प्रायश्चित ग्रहण कर उसे सम्यक् रूप से वहन करना प्रायश्चित तप कहलाता है।

> **आलोयणारिहाईयं पायच्छित्तं तु दसविहं।**
> **जं भिक्खू वहइ सम्मं पायच्छित्तं तमाहियं[4]।**

प्रायश्चित तप दस प्रकार का कहा गया है—(१) आलोचनार्ह, (२) प्रतिक्रमणार्ह, (३) तदुभयार्ह, (४) विवेकार्ह, (५) व्युत्सर्गार्ह, (६) तपार्ह, (७) छेदार्ह, (८) मूलार्ह,

---

१—तत्त्वा० ९.१९ राजवार्तिक :
बाह्यद्रव्यापेक्षत्वाद् बाह्यत्वम्। १७।
परप्रत्यक्षत्वात्। १८।
तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्च। १९। अनशनादि हि तीर्थ्यैर्गृहस्थैश्च क्रियते ततोऽप्यस्य बाह्यत्वम्।

२—**वही ९.२० राजवार्तिक :**
अन्यतीर्थ्यानभ्यस्तत्वादुत्तरत्वम्। १।
अन्तःकरणव्यापारात्। २।
बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च। ३।

३—**दसवैकालिक सूत्र १.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत**

४—**उत्त० ३० : ३१**

(९) अनवस्थाप्यार्ह और (१०) पारांचिकार्ह[1]। प्रत्येक की व्याख्या नीचे दी जाती है :

(१) आलोचनार्ह : आलोचना[2] करने से जिस दोष की शुद्धि होती हो, वह आलोचनार्ह दोष[3] कहलाता है। ऐसे दोष की आलोचना करना आलोचनार्ह प्रायश्चित कहलाता है[4]।

(२) प्रतिक्रमणार्ह : प्रतिक्रमण[5] से जिस दोष की शुद्धि होती हो[6] उसके लिए प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित है।

(३) तदुभयार्ह : आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से जिस दोष की शुद्धि होती हो[7] उसकी आलोचना और प्रतिक्रमण करना तदुभयार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(४) विवेकार्ह : किसी वस्तु के विवेक—त्याग—परिष्ठापन से दोष की शुद्धि हो तो उसका विवेक—त्याग करना—उसे परठना विवेकार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

१—(क) औपपातिक सम० ३०

(ख) आलोयणपडिक्कमणे मीसविवेगे तहा विउस्सग्गे।
तवछेअमूलअणवट्ठया य पारंचिए चेव॥
(दश० १.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

२—अपने दोष को गुरु के सम्मुख प्रकाशित करना—गुरु से कहना आलोचना कहलाती है।

३—भिक्षाचर्या आदि में कोई अतिचार हो जाता है, वह आलोचनार्ह दोष है। कहा है—भिक्षाचर्या आदि में कोई दोष न होने पर भी आलोचना न करने पर अविनय होता है। दोष हो जाने पर तो आलोचना आवश्यक है ही।

४—ठाणाङ्ग १०.१.७३३ की टीका :

आलोचना गुरुनिवेदनं तयैव यत् शुद्धयति अतिचारजातं तत्तदर्हत्वादालोचनार्हं तच्च शुद्धयर्थं यत्प्रायश्चित्तं तदपि आलोचनार्हं तत् च आलोचना एव इत्येव सर्वत्र

५—मिथ्यादुष्कृत ग्रहण को प्रतिक्रमण कहते हैं। 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो'—ऐसी भावना प्रतिक्रमण कहलाती है।

६—समिति या गुप्ति की कमी से जो दोष हो जाता है, वह प्रतिक्रमणार्ह दोष कहलाता है।

७—मन से राग-द्वेष का होना तदुभयार्ह दोष है। उपयोगयुक्त साधु द्वारा एकेन्द्रियादि जीवों को संघट्ट से जो परिताप आदि हो जाता है, वह तदुभयार्ह दोष कहलाता है

(५) व्युत्सर्गार्ह : व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग—कायचेष्टा के निरोध करने से जिस दोष की शुद्धि हो[1] उसके लिए वैसा करना व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(६) तपार्ह : तप करने से जिस दोष की शुद्धि हो उसके लिए तप करना तपार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(७) छेदार्ह : चारित्र पर्याय के छेद से जिस दोष की शुद्धि होती हो, उसके लिए चारित्र पर्याय का छेद करना छेदार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(८) मूलार्ह : जिस दोष की शुद्धि सर्व व्रतपर्याय का छेद कर पुनः मूल—महाव्रतों के आरोपन से होती हो उसके लिए वैसा करना मूलार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(९) अनवस्थाप्यार्ह : जिस दोष[2] की शुद्धि अनावस्था से—अमुक विशिष्ट तप न करने तक महाव्रत और वेष में न रहने से होती हो उसके लिए वैसा करना अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित कहलाता है।

(१०) पारांचितकार्ह : जिस महादोष[3] की शुद्धि पारांचितक—वेश और क्षेत्र त्याग कर महातप करने से होती हो उसके लिए वैसा करना पारांचितकार्ह प्रायश्चित कहलाता है।[4]

१—उदाहरणस्वरूप नाव से नदी पार करने पर यह प्रायश्चित किया जाता है।

२—साधर्मिक की चोरी करना, परधर्मी की चोरी करना, किसी को हाथ से मारना—ऐसे दोष हैं।

३—दुष्ट, प्रमत्त और अन्योन्य मैथुनसेवी ऐसे दोष के भागी होते हैं।

४—छेदार्ह, मूलार्ह, अनवस्थाप्यार्ह और पारांचिकार्ह प्रायश्चितों में परस्पर निम्नलिखित भेद है :

छेदार्ह में चारित्र-पर्याय—चारित्रिक आयु एक हद तक घटा दी जाती है। दोषानुसार पूर्व चारित्र-पर्याय—चारित्रिक आयु को दिवस, पक्ष, मास या वर्ष से छेद—घटा कर साधु को छोटा कर देना छेदार्ह प्रायश्चित है। मूलार्ह में सम्पूर्ण चारित्र-पर्याय—चारित्रिक आयु का छेद कर दिया जाता है और साधु-जीवन पुनः शुरू करना पड़ता है। अनवस्थाप्यार्ह में साधु अमुक काल के लिए व्रतों से अनवस्थापित कर दिया जाता—हटा दिया जाता है और फिर अमुक तप कर चुकने के बाद उसे पुनः व्रतों में स्थापित किया जाता है। पारांचिक में विशेषता यह है कि साधु को लिङ्ग, क्षेत्र आदि से भी बहिर्भूत कर दिया जाता है (ठाणाङ्ग १०.१.७३३ की टीका)।

१२—विनय (गा० २३-२७) :

विनय तप सात प्रकार का कहा है : १-ज्ञान विनय, २-दर्शन विनय, ३-चारित्र विनय, ४-मन विनय, ५-वचन विनय, ६-काय विनय और ७-लोकोपचार विनय[1]। इनमें प्रत्येक का स्वरूप संक्षेप में नीचे दिया जाता है :

१—ज्ञान विनय पाँच प्रकार का कहा है—(१) आभिनिबोधिक ज्ञानविनय, (२) श्रुतज्ञान विनय, (३) अवधिज्ञान विनय, (४) मनःपर्यवज्ञान विनय और (५) केवलज्ञान विनय[2]।

२—दर्शन विनय[3] दो प्रकार का कहा गया है : (१) शुश्रूषाविनय और (२) अनाशातना विनय।

(१) शुश्रूषा विनय अनेक प्रकार का कहा गया है[4] : अभ्युत्थान—आसन से खड़ा

१—(क) औपपातिक सम० ३०

(ख) भगवती २५.७

(ग) णाणे दंसणचरणे मणवइकाओवयारिओ विणओ ।
णाणे पंचपगारो मइणाणाईण सद्दहणं ॥
भत्ती तह बहुमाणो तद्दिट्ठत्थाण सम्मभावणया ।
विहिगहणब्भासोवि अ एसो विणओ जिणाभिहिओ ॥
(दश० १.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

ज्ञान के प्रति श्रद्धा, भक्ति, बहुमान; दृष्टार्थों की सम्यग्भावनता—विचारना; तथा विधिपूर्वक ज्ञान-ग्रहण और उसके अभ्यास को ज्ञान विनय कहते हैं। ज्ञानी साधु के प्रति विनय को भी ज्ञान विनय कहते हैं।

२—पादटिप्पणी १ (ग)

३—सम्यक्त्व का विनय। दर्शन से दर्शनी अभिन्न होने से गुणाधिक सकल चारित्री में श्रद्धा करना—उसकी सेवा और अनाशातना को दर्शन विनय कहते हैं।

४—मिलावें उत्तराध्ययन ३.३२ की निम्नलिखित गाथा :

अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं तहेवासणदायणं
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा विणओ एस वियाहिओ ॥

तथा निम्नलिखित गाथाएँ :

सुस्सूसणा अणासायणा य विणओ अ दसंणे दुविहो ।
दंसणगुणाहिएसुं कज्जइ सुस्सूसणाविणओ ॥
सक्कारब्भुट्ठाण सम्माणासण अभिग्गहो तह य ।
आसणअणप्पयाणं किइकम्मं अंजलिगहो अ ॥
एंतस्सणुगच्छणया ठिअस्स तह पज्जुवासणा भणिया ।
गच्छंताणुव्वयणं एसो सुस्सूसणाविणओ ॥
(दसवेकालिक १.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

होना, (२) आसनाभिग्रह—जहाँ-जहाँ बैठने की इच्छा करे वहाँ-वहाँ आसन ले जाना[१], (३) आसनप्रदान—आसन देना[२], (४) सत्कार-स्तवन वन्दनादि करना, (५) सम्मान करना, (६) कृतिकर्म—वंदना करना, (७) अञ्जलिकरणग्रह—दोनों हाथ जोड़ना, (८) अनुगच्छना—सम्मुख जाना, (९) पर्युपासना—बैठे हुए की सेवा करना और (१०) प्रतिसंसाधनता—जाने पर पीछे जाना।

अनाशातना विनय[३] ४५ प्रकार का कहा है[४] : (१) अरिहंतों की अनाशातना, (२) अरिहंत प्ररूपित धर्म की अनाशातना, (३) आचार्यों की अनाशातना, (४) उपाध्यायों की अनाशातना, (५) स्थविरों[५] की अनाशातना, (६) कुल[६] की अनाशातना, (७)गण[७] की अनाशातना, (८) संघ[८] की अनाशातना, (९) क्रियावादियों[९] की अनाशातना, (१०) संभोगी (एक समाचारी वालों) की अनाशातना, (११) आभिनिबोधिक

१—यह अर्थ अभयदेव (औपपातिक टीका) के अनुसार है। ठाणाङ्ग टीका में उन्होंने इसका अर्थ भिन्न ही किया है—"आसनाभिग्रहः पुनस्तिष्ट आदरेण आसनानयनपूर्वकमुपविशतात्रेति भणं"—इसका अर्थ है—बैठने के बाद आदरपूर्वक आसन लाकर 'यहाँ बैठ' इस प्रकार निमंत्रित करना।

२—ठाणाङ्ग टीका में उद्धृत गाथा में 'आसणअनुप्रदान' नाम मिलता है—जिसका अर्थ अभयदेव ने किया है—आसनस्य स्थानात्स्थानान्तरसञ्चारणं। यही अर्थ उन्होंने औपपातिक की टीका में 'आसनाभिग्रह' का किया है।

३—शुश्रूषा विनय और अनाशातना विनय में अन्तर यह है कि शुश्रूषा विनय उचित क्रिया-करण रूप है और अनाशातना विनय अनुचित क्रिया-निवृत्त रूप।

४—मिलाव—

तित्थगर धम्म आयरिअ वायगे थेर कुलगणे संघे।
संभोइय किरियाए मइणाणाईण य तहेव ॥
कायव्वा पुण भत्ती बहुमाणो तह य वण्णवाओ अ।
अरिहंतमाइयाणं केवलणाणावसाणाणं ॥

(दश० १.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

५—जो गच्छ की संस्थिति करे वह स्थविर अथवा जो दीक्षावय या श्रुतपर्याय में बड़ा हो।

६—साधुओं के गच्छ—समुदाय को 'कुल' कहते हैं।

७—साधुओं के कुल समुदाय को 'गण' कहते हैं।

८—गण के समुदाय को 'संघ' कहते हैं।

९—जीव है, अजीव है आदि में श्रद्धा रखता है, उसे क्रियावादी कहते हैं।

ज्ञान की अनाशातना, (१२) श्रुतज्ञान की अनाशातना, (१३) अवधिज्ञान की अनाशातना, (१४) मन:पर्यवज्ञान की अनाशातना, (१५) केवलज्ञान की अनाशातना, (१६-३०) अरिहंत यावत् केवलज्ञान—इन पंद्रह की भक्ति और बहुमान, (३१-४५) अरिहंत यावत् केवलज्ञान—इन पंद्रह का गुणवर्णन कर कीर्ति फैलाना।

३—चारित्र विनय[1] पाँच प्रकार का कहा है : (१) सामायिक चारित्र विनय, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र विनय, (३) परिहारविशुद्धि चारित्र विनय, (४) सूक्ष्म-संपराय चारित्र विनय और (५) यथाख्यातचारित्र विनय।

४—मन विनय[2] दो प्रकार का कहा है: (१) अप्रशस्त मनविनय और (२) प्रशस्त मनविनय।

(१) अप्रशस्त मन विनय बारह प्रकार का कहा है : (१) सावद्य—मन का हिंसा आदि पापों में प्रवृत्त होना (२) सक्रिय—मन का कायिक आदि क्रियाओं से युक्त होना (३) कर्कश—मन का कर्कशभावोपेत होना (४) कटुक—मन का अनिष्ट होना (५) निष्ठुर—मन का निष्ठुर—मार्दव रहित होना (६) कठोर—मन का कठोर—स्नेहरहित होना (७) आश्रवकर—मन का अशुभ कर्मों का उपार्जन करनेवाला होना (८) छेदनकारी—मन का छेदनकारी होना (९) भेदनकारी —मन का भेदनकारी होना (१०) परितापकारी—मन का परितापकारी होना (११) उपद्रवकारी—मन का मारणान्तिक वेदना करनेवाला होना और (१२) भूतोपघातिक—मन का भूतोपघातिक होना। इस प्रकार अप्रशस्त मन का प्रवर्तन नहीं करना चाहिए।

(२) प्रशस्त मन विनय बारह प्रकार[3] का कहा है : (१) असावद्य—मनकी पाप

१—चारित्र में श्रद्धा तथा काय से चारित्र का संस्पर्श तथा भव्य सत्त्वों को उसकी प्ररूपणा करना चारित्र विनय कहलाता है। कहा है :

सामाइयाइचरणस्स सद्दहाणं तहेव काएणं।
संफासणं परूवणमह पुरओ भव्वसत्ताणं॥
(दश : १.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

२—मन को असावद्य, अपापक आदि रखना मन विनय तप है।

३—औपपातिक में अप्रशस्त मन के १२ भेद बताये हैं और उनसे विपरीत प्रशस्त मन के भेद जान लेने को कहा है।

भगवती (२५.७) में प्रशस्त मन के सात ही भेद बताये गए हैं जो इस प्रकार हैं —(१) अपापक (२) असावद्य (३) अक्रियक (४) निरुपक्लेशक (५) अनाश्रवकर (६) अक्षयिकर (७) अभूताभिशङ्कन। अप्रशस्त मन के सात भेद ठीक इनके विपरीत बताये हैं यथा पापक, सावद्य इत्यादि।

ठाणाङ्ग (७.३.५८५) में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों मन-विनय के सात-सात भेद उल्लिखित हैं जो भगवती के वर्णन से मिलते हैं।

व्यापार में अप्रवृत्ति (२) अक्रिय—मन का कायिकादि क्रिया रहित होना (३) अकर्कश—मन का कर्कश भावरहित होना (४) अकटुक—मन का इष्ट होना (५) अनिष्ठुर—मन का मार्दवभावयुक्त होना (६) अकठोर—मन का कठोरता रहित होना (७) अनाश्रव-कर—मन का अशुभ कर्मों को उपार्जन करनेवाला न होना (८) अछेदनकारी—मन की वृत्ति का छेदनकारी न होना (९) अभेदकारी—मन की वृत्ति का अभेदनकारी होना (१०) अपरितापकारी—मन से दूसरों को परिताप पहुँचानेवाला न होना (११) अनुपद्रवकारी—मन से उपद्रव करनेवाला न होना और (१२) अभूतोपघातिक—मन से प्राणियों की घात करनेवाला न होना।

५—वचन विनय[1] दो प्रकार का कहा है—(१) अप्रशस्त वचन विनय और (२) प्रशस्त वचन विनय। अप्रशस्त वचन विनय और प्रशस्त वचन विनय का वर्णन क्रमशः अप्रशस्त मन विनय और प्रशस्त मन विनय की तरह ही करना चाहिए[2]।

६—काय विनय[3] दो प्रकार का कहा है (१) प्रशस्तकाय विनय (२) अप्रशस्त काय विनय।

(१) अप्रशस्त काय विनय सात प्रकार का कहा गया है : (१) अनायुक्त गमन—बिना उपयोग (सावधानी) जाना (२) अनायुक्त स्थिति—बिना उपयोग ठहरना (३) अनायुक्त निषदन—बिना उपयोग बैठना (४) अनायुक्त शयन—बिना उपयोग सोना (५) अनायुक्त उल्लंघन—बिना सावधानी कर्दम आदि के ऊपर से निकलना

१—वचन को असावद्य आदि रखना—वचन-विनय तप है

२—औपपातिक में १२-१२ भेदों का वर्णन है जब कि भगवती (२५.७) और ठाणाङ्ग (७.३.५८५) में ७-७ भेदों का ही वर्णन है।

३—गमनादि क्रियाएँ करते समय काय (शरीर) को सावधान रखना—काय विनय तप है। मन, वचन और काय विनय की परिभाषा निम्न गाथा में मिलती है :

मणवइकाइयविणओ आयरियाईण सव्वकालंपि।

अकुसलमणोनिरोहो कुसलाण उदीरणं तहय॥

(दश० १.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

इसका अर्थ है—आचार्यादि के प्रति सदा अकुशल मनादि का निरोध और कुशल मनादि की उदीरणा। पर यह अर्थ मन-वचन-काय विनय के यहाँ वर्णित भेदों को देखने से घटित नहीं होता।

(६) अनायुक्त प्रलंघन और (७) अनायुक्त सर्वेन्द्रियकाययोगयोजनता[1]—सर्व इन्द्रियों की बिना उपयोग योगप्रवृत्ति।

(२) प्रशस्त काय विनय सात प्रकार का कहा गया है : (१) आयुक्त गमन—उपयोगपूर्वक गमन (२) आयुक्त स्थिति—उपयोगपूर्वक ठहरना (३) आयुक्त निषदन—उपयोगपूर्वक बैठना (४) आयुक्त शयन—उपयोगपूर्वक लेटना (५) आयुक्त उल्लंघन—उपयोगपूर्वक ऊपर से निकलना (६) आयुक्त प्रलंघन—उपयोगपूर्वक बार-बार उल्लंघन (७) आयुक्त सर्वेन्द्रियकाययोगयोजनता—सर्व इन्द्रिय की उपयोगपूर्वक योगप्रवृत्ति।

७—लोकोपचार विनय[2] के सात प्रकार[3] हैं : (१) अभ्यासवृत्तिता—आचार्यादि के समीप में रहना (२) पराभिप्रायानुवर्तन—उनके अभिप्राय का अनुसरण (३) कार्यहेतु[4] कार्य के लिए हेतु प्रदान—उदाहरणस्वरूप ज्ञानादि के लिए आहार देना (४) कृतप्रतिकृतिता[5]—प्रसन्न आचार्य अधिक ज्ञान देंगे, ऐसी बदले की भावना (५) आर्तगवेषणता—आर्त—रोगी आदि साधु की सारसंभाल (६) देशकालज्ञता—अवसरोचित कार्य-सम्पादन

१—ठाणाङ्ग (७.३.५८५) में इसका नाम सर्वेन्द्रिययोगयोजनता मिलता है।

२—लोकव्यवहारानुकूल वर्तन।

३—लोकोपचार विनय को 'उपचार' विनय भी कहा गया है। उसके प्रकारों का वर्णन निम्न गाथा में मिलता है :

अब्भासऽच्छणछंदाणुवत्तणं कयपडिकिई तहय।
कारियणिमित्तकरणं दुक्खत्तगवेसणा तहय॥
तह देसकालजाणण सव्वत्थेसु तहयणुमई भणिया।
उवआरिओ उ विणओ एसो भणिओ समासेणं॥

(दशवैकालिक १.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

४—टिप्पणी न० ३ में उद्धृत गाथा में 'कार्यहेतु' के स्थान में 'कारियनिमित्तकरणं' भेद बतलाया है। इसका अर्थ किया है—सम्यगर्थपदम् अध्यापितं अस्माकं विनयेन विशेषेण वर्त्तितव्यं—हरिभद्र।

५—इसका अर्थ हरिभद्र ने (दश० १.१ की टीका में) इस प्रकार किया है : प्रसन्ना आचार्याः सूत्रमर्थं तदुभयं वा दास्यन्ति न नाम निर्जरेति आहारादिना यतितव्यं

और (७) सर्वार्थ में[1] अप्रतिलोमता—आराध्यप्रयोग सर्व प्रयोजनों में अनुकूलता।

यह विनय तप है[2]।

१३—वैयावृत्त्य (गा० ३८) :

आचार्यादि की यथाशक्ति सेवा करना वैयावृत्त्य तप[3] कहा गया है। वह दस प्रकार का है[4] :

(१) आचार्य का वैयावृत्त्य।

(२) उपाध्याय का वैयावृत्त्य।

१—'सर्वार्थ' का अर्थ मालवणियाजी ने स्थानांग समवायांग (पृ० १४६) में सर्वार्थ न कर—'सेवार्थ' किया है जो अशुद्ध मालूम देता है।

२—विनय तप के फल के विषय में (दश० ९.१ की हारिभद्रीय टीका में) निम्नलिखित गाथाएँ मिलती हैं :

विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम्।
ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥
संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जरा फलं दृष्टम्।
तस्मात्क्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥
योगनिरोधाद्भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः।
तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ॥

३—वैयावृत्त्य शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार है :

(क) आहार आदि के द्वारा उपष्टम्भ—सेवा—करना वैयावृत्त्य है। व्यावृतभाव तथा धर्मसाधन के निमित्त अन्नादि का आचार्यादि को विधि से देना वैयावृत्त्य कहलाता है :

वेयावच्चं वावडभावो तह धम्मसाहणनिमित्तं।
अन्नाइयाण विहिणा संपायणमेस भावत्थो ॥

(उत्त० ३०.३३ की नेमिचन्द्राचार्य टीका में उद्धृत)

(ख) व्यापृतस्य शुभव्यापारवतो भावः कर्म वा वैयावृत्त्य—शुभ व्यापारवाले का भाव अथवा कर्म वैयावृत्त्य कहलाता है।

(ठाणाङ्ग ५.१.३९६ की टीका)

(ग) व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यं भक्तादिभिरुपष्टम्भः—विशेष रूप से रहने का भाव अथवा कर्म—भोजन आदि के द्वारा उपष्टम्भ—मदद।

(ठाणाङ्ग ३.३ १८८ की टीका)

४—उत्त० ३०.३३ :

आयरियमाइए वेयावच्चमि दसविहे।
आसेवणं जहाथामं वेयावच्चं तमाहियं ॥

(३) शैक्ष[1] का वैयावृत्त्य ।

(४) ग्लान[2] का वैयावृत्त्य ।

(५) तपस्वी साधु का वैयावृत्त्य ।

(६) स्थविर[3] का वैयावृत्त्य ।

(७) साधर्मिक[4] का वैयावृत्त्य ।

(८) कुल[5] का वैयावृत्त्य ।

(९) गण[6] का वैयावृत्त्य ।

(१०) संघ[7] का वैयावृत्त्य[8] ।

ठाणाङ्ग में कहा है—आचार्यादि की अग्लान मन से—अखिन्न भाव से वैयावृत्त्य करनेवाला श्रमण निर्ग्रंथ महा निर्जरा और महा पर्यवसान का करनेवाला होता है[9] ।

१—नव प्रव्रजित साधु

२—रोगी साधु

३—वृद्ध साधु

४—साधु-साध्वी

५—कुल=साधुओं का गच्छ—समुदाय

६—गण=कुल समुदाय

७—संघ=गण समुदाय

८—वैयावृत्त्य के ये दस भेद सेवा-पात्र की अपेक्षा से किये गये हैं । यहाँ जो क्रम बताया गया है वह औपपातिक सूत्र के अनुसार है । भगवती सूत्र (२५.७) तथा ठाणाङ्ग (५.१.३९६-९७) में क्रम इससे भिन्न है ; यथा—१-(१), २-(२), ३-(६), ४-(५), ५-(४), ६-(३), ७-(८), ८-(९), ९-(१०), १०-(७) ।
एक और भी क्रम मिलता है जो निम्न गाथा में परिलक्षित है :

आयरिय उवज्झाए थेर तवस्सी गिलाण सेहाणं ।
साहम्मिय कुल गण संघसंगयं तमिह कायव्वं ॥

(उत्त० ३०.३३ की नेमिचन्द्रीय टीका में उद्धृत)

९—ठाणाङ्ग ५.१.३९६-३९७

१४—स्वाध्याय तप (गा० ३६) :

स्वाध्याय[1] पाँच प्रकार का कहा गया है : (१) वाचना[2] (२) प्रच्छना

१—उत्तम मर्यादापूर्वक अध्ययन—श्रुत के विशेष अनुसरण को स्वाध्याय कहते हैं। नन्दि आदि सूत्र विषयक वाचना को स्वाध्याय कहते हैं।

ठाणाङ्ग के अनुसार चार महा प्रतिपद—आषाढ़ की पूर्णिमा के बाद की प्रतिपदा—इंद्रमहप्रतिपदा, कार्तिक की प्रतिपदा और चैत्र प्रतिपदा—में स्वाध्याय करना नहीं कल्पता (४.२.२८५)।

इसी तरह ठाणाङ्ग में पहली संध्या, पश्चिमा संध्या, मध्याह्न और अर्द्धरात्रि में स्वाध्याय करना अकल्पनीय बताया गया है तथा पूर्वाह्न, अपराह्न, प्रदोष और प्रत्युष में स्वाध्याय करना कल्पनीय बताया है। पहली संध्या—सूर्योदय के पहले, पश्चिमा-संध्या—सूर्यास्त के समय, पूर्वाह्न—दिन का प्रथम प्रहर और अपराह्न—दिन का द्वितीय प्रहर। प्रदोष—रात्रि का प्रथम प्रहर और प्रत्युष—रात्रि का अन्तिम प्रहर (४.२.२८५)।

अकाल में स्वाध्याय करना असमाधि के बीस स्थानों में एक स्थान कहा गया है (समवायाङ्ग सम. २०)।

अकाल स्वाध्याय के दोष इस प्रकार बताये गये हैं :

सुयणाणंमि अभत्ती लोगविरुद्धं पमत्तछलणा य।
विज्जासाहणवेगुन्नधम्मया एव मा कुणसु॥

२—वाचना, प्रच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा शब्दों का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—अध्ययन, पूछना, आवृत्ति, सूत्र और अर्थ का बार-बार चिंतन-मनन तथा व्याख्यान।

इन सबका परस्पर सम्बन्ध इस प्रकार है : पढ़ाने के लिए कहने पर शिष्य के प्रति गुरु का प्रयोजक भाव अर्थात् पाठ धराना वाचना है। वाचना ग्रहण करने के बाद संशयादि उत्पन्न होने पर पुनः पूछना अर्थात् पूर्व अधीत सूत्रादि में शङ्का होने पर प्रश्न करना प्रच्छना कहलाता है। प्रच्छना से विशोधित सूत्र कहीं फिर न भूल जाय, इस हेतु से सूत्र का बार-बार अभ्यास—गुणन करना परिवर्तना कहलाती है। सूत्र की तरह ही अर्थ के विषय में भी विस्मृति का होना संभव होने से अर्थ का बार-बार अनुप्रेक्षण—चिन्तन अनुप्रेक्षा कहलाता है। हरिभद्रसूरि के अनुसार मन से गुणन करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं—वाचा से नहीं। इस प्रकार अभ्यास किये हुए श्रुत द्वारा धर्म-कथा कहना—श्रुतधर्म की व्याख्या करना धर्मकथा है (ठाणाङ्ग २.१.६५ की टीका)। हरिभद्रसूरि के अनुसार सर्वज्ञप्रणीत अहिंसादि लक्षणरूप धर्म का अनुयोग—कथन धर्मकथा है (दश. १.१ की टीका)।

(३) परिवर्तना (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा[1]।

स्वाध्याय के भेदों का फल-वर्णन इस प्रकार मिलता है :

(१) वाचना से जीव निर्जरा करता है। श्रुत के अनुवर्तन से वह अनाशातना में वर्तता है। इससे तीर्थ—धर्म का अवलम्बन करता है। जिससे कर्मों की महा निर्जरा और महा पर्यवसानवाला होता है।

(२) प्रतिपृच्छा से जीव, सूत्र और अर्थ दोनों की, विशुद्धि करता है तथा कांक्षा-मोहनीय कर्म को व्युच्छिन्न करता है।

(३) परिवर्तना से जीव व्यंजनों को प्राप्त करता है तथा व्यंजन-लब्धि को उत्पादित करता है।

(४) अनुप्रेक्षा से जीव आयु छोड़ सात कर्म प्रकृतियों को, जो गाढ़े बंधन से बंधी हुई होती हैं, शिथिल बंधन से बंधी करता है, दीर्घकाल स्थितिवाली से ह्रस्वकाल स्थितिवाली करता है। बहुप्रदेशवाली को अल्प-प्रदेशवाली करता है। आयुष्य कर्म को वह कदाचित् बांधता है, कदाचित् नहीं बांधता तथा असातवेदनीय को बार-बार नहीं बांधता तथा अनादि, अनन्त, दीर्घ चारगति रूप संसार-कान्तार को शीघ्र ही व्यतिक्रम कर जाता है।

(५) धर्मकथा से निर्जरा करता है। धर्मकथा से प्रवचन की प्रभावना करता है और इससे जीव भविष्यकाल में केवल शुभ कर्मों का ही बंध करता है[2]।

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है[3]। कहा है :

> कम्ममसंखेज्जभवं खवेइ अणुसमयेव उवउत्तो।
> अन्नयरम्मि वि जोए सज्झायम्मि य विसेसेणं[4] ॥

१—उत्तराध्ययन (३०.३४) में इनकी संग्राहक गाथा इस प्रकार है :

> वायणा पुच्छणा चेव तहेण परियट्टणा।
> अणुप्पेहा धम्मकहा सज्झाओ पंचहा भवे ॥

२—उत्त० २६.१६-२३

३—उत्त० २६.१८

४—उत्त० २६.१८ की नेमिचन्द्रीय टीका में उद्धृत

१५—ध्यान तप (गा० ४०) :

ध्यान[1] तप चार प्रकार का कहा गया है : (१) आर्त ध्यान (२) रौद्र ध्यान (३) धर्म ध्यान और (४) शुक्ल ध्यान ।

१—आर्त ध्यान[2] चार प्रकार का होता है : (१) अमनोज्ञ-सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उसके विप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना[3] (२) मनोज्ञ-सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उसके अविप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना[4] (३) आतंक-सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उसके विप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना (४) भोग में प्रीति-कारक कामभोगों के सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उनके अविप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना ।

आर्त ध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं : (१) क्रन्दन, (२) सोच-फ़िक्र-दीनता, (३) तेपनता—अश्रु बहाना और (४) विलपनता[5]—बार-बार क्लेशयुक्त बात कहना ।

२—रौद्र ध्यान[6] चार प्रकार का कहा गया है : (१) हिंसानुबंधी[7] (२) मृषानुबंधी[8]

१—स्थिर अध्यवसान को ध्यान कहते हैं। चित्त चल है, इसका किसी एक बात में स्थिर हो जाना ध्यान है (जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं)। एकाग्र चिन्तानिरोध ध्यान है (ठाणाङ्ग ४.३.५११ की टीका)।

२—भोग-उपभोगों में मोहवश अति इच्छा—अभिलाषा का होना आर्त ध्यान है।

३—इसका अर्थ है अरुचिकर संयोग से संयुक्त होने पर उसका वियोग हो जाय, इस कामना से निरन्तर ग्रस्त रहना।

४—इसका अर्थ है रुचिकर संयोग से संयुक्त होने पर उसका वियोग न हो जाय, इस कामना से निरन्तर ग्रस्त रहना।

५—भगवती सूत्र (२५.७) में 'विलवणया'—विलपनता (औप० सम० २०) के स्थान में 'परिदेवणया'—परिदेवना शब्द है। इसका अर्थ है बार-बार क्लेश उत्पन्न करनेवाली भाषा का बोलना। ठाणाङ्ग (४.१.२४७) में भी 'परिदेवणया' ही मिलता है।

६—आत्मा का हिंसा आदि रौद्र—भयानक भावों में परिणत होना रौद्र ध्यान है। जिसका छेदन-भेदन-मारण आदि क्रूर भावों में राग होता है उसके रौद्र ध्यान कहा जाता है।

७—दूसरों को मारने-पीटने, काटने-बाढ़ने की भावना करते रहने को हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान कहते हैं।

८—झूठ बोलने की भावना करते रहना मृषानुबंधी रौद्र ध्यान है।

(३) स्तेयानुबंधी[1] और (४) संरक्षणानुबंधी[2]।

रौद्र ध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं: (१) आसन्न दोष[3] (२) बहुल दोष[4] (३) अज्ञान दोष[5] और (४) आमरणान्त दोष[6]।

३—धर्म ध्यान[7] चार प्रकार का कहा गया है: (१) आज्ञाविचय[8] (२) अपाय विचय[9] (३) विपाक विचय[10] और (४) संस्थान विचय[11]।

धर्म ध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं: (१) आज्ञारुचि[12] (२) निसर्ग रुचि[13] (३) उपदेश रुचि[14] और (४) सूत्र रुचि[15]।

धर्म ध्यान के चार अवलंबन कहे गये हैं—(१) वाचना (२) प्रतिपृच्छा

१—परधन अपहरण की भावना करते रहना स्तेयानुबंधी रौद्र ध्यान है।

२—धन आदि वस्तुओं के संरक्षण के लिए क्रूर भावों को पोषित करते रहना संरक्षणानुबंधी रौद्र ध्यान है।

३—हिंसा आदि पापों से बचने की चेष्टा का न होना।

४—हिंसा आदि पापों में रात-दिन प्रवृत्ति करते रहना।

५—हिंसा आदि पापों को धर्म मानते रहना।

६—मरने तक पाप का पश्चाताप न होना।

७—सर्वभूतों के प्रति दया की भावना, पांचों इन्द्रियों के विषयों से व्युपरम—उपशान्त भाव, बन्ध और मोक्ष, गमन और आगमन के हेतुओं पर विचार, पंच महाव्रतादि ग्रहण की भावना—ये सब धर्म ध्यान हैं।

८—प्रवचन की पर्यालोचना—जिन-आज्ञा के गुणों का चिंतन।

९—रागद्वेषादि जन्य दोषों की पर्यालोचना।

१०—कर्मफल का चिन्तन।

११—जीव,लोक आदि के संस्थान का विचार।

१२—जिन-आज्ञा—जिन-प्रवचन में रुचि का होना।

१३—स्वाभाविक तत्त्वरुचि।

१४—साधु-सन्तों के उपदेश में रुचि। औपपातिक (सम० ३०) में मूल शब्द 'उवएसरुई' है। इसके स्थान में भगवती (२५.७) में 'ओगाढ़रुयि'—अवगाढ़ रुचि है और ठाणाङ्ग (४.१.२४७) में 'ओगाढ़रुती' है। इस शब्द का अर्थ है आगम में विस्तृत अवगाहन की रुचि।

१५—आगमों में रुचि का होना।

(३) परिवर्तना और (४) धर्मकथा[1] ।

धर्म ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं : (१) अनित्य अनुप्रेक्षा[2] (२) अशरण अनुप्रेक्षा[3] (३) एकत्व अनुप्रेक्षा[4] और (४) संसार अनुप्रेक्षा[5] ।

४—शुक्ल ध्यान[6] चार प्रकार का कहा गया है : (१) पृथक्त्ववितर्क सविचारी[7] । (२) एकत्ववितर्क अविचारी[8] (३) सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति[9] और (४) समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती[10] ।

शुक्ल ध्यान के चार लक्षण[11] कहे गये हैं : (१) विवेक[12] (२) व्युत्सर्ग[13] (३) अव्यथा[14] और (४) असंमोह[15] ।

१—ठाणाङ्ग सूत्र में 'धर्मकथा' के स्थान पर 'अणुप्पेहा' (अनुप्रेक्षा) शब्द है । इसका अर्थ है गहरा चिन्तन ।

२—संपत्ति आदि सर्व वस्तुएं अनित्य हैं—ऐसी भावना या चिन्तन ।

३—दुःख से मुक्त करने के लिए धर्म के सिवा कोई शरण नहीं—ऐसी भावना ।

४—मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं इत्यादि चिन्तन ।

५—संसार जरा-मरणादि स्वरूपवाला है आदि चिन्तन ।

६—जिसकी इन्द्रियाँ विषयों से सर्वथा पराङ्मुख होती हैं, संकल्प-विकल्प का विकार जिसे नहीं सताता, जिसके तीनों योग वश में हो चुके हों और जो सम्पूर्ण रूप से अन्तरात्मा होता है उसका सर्वोत्तम स्वच्छ ध्यान शुक्ल ध्यान कहलाता है ।

७—एक द्रव्य के आश्रित नाना पर्यायों का श्रुत (शास्त्र) के अवलम्बन से भिन्न-भिन्न विचार करना ।

८—उत्पाद आदि पर्यायों में किसी एक पर्याय को अभेदरूप से लेकर श्रुत के आलंबन से अर्थ और शब्द के विचार से रहित चिन्तन ।

९—उस वक्त का ध्यान जब मन-वचन-योग रोका जा चुका हो, पर काययोग—उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रियाओं से निवृत्ति न हो पाई हो । यह चौदहवें गुणस्थान में योग-निरोध करते समय केवली के होता है ।

१०—जिस समय समस्त क्रियाओं का उच्छेद हो जाता है उस समय का अनुपरत स्वभाववाला ध्यान ।

११—भगवती सूत्र (२५.७) में इन्हें शुक्ल ध्यानका अवलंबन कहा गया है ।

१२—शरीर से आत्मा की भिन्नता का विवेक ।

१३—निःसङ्गता—देह और उपधि का निसंकोच त्याग ।

१४—व्यथा या भय का अभाव ।

१५—विषयों में मूढ़ता—संमोहन का अभाव ।

शुक्ल ध्यान के चार अवलम्बन कहे गये हैं: (१) क्षान्ति[1] (२) मुक्ति[2] (३) आर्जव[3] और (४) मार्दव[4]।

शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं: (१) अपायानुप्रेक्षा[5] (२) अशुभानुप्रेक्षा[6] (३) अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा[7] और (४) विपरिणामानुप्रेक्षा[8]।

आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़ कर सुसमाहित भाव से धर्म और शुक्ल ध्यान के ध्याने को बुद्धों ने ध्यान तप कहा है[9]।

१६—व्युत्सर्ग तप (गा० ४१-४५) :

व्युत्सर्ग[10] तप दो प्रकार का कहा गया है: १-द्रव्य व्युत्सर्ग[11] और (२)-भाव व्युसर्ग[12]।

१—द्रव्य व्युत्सर्ग तप चार प्रकार का कहा है: (१) शरीर-व्युत्सर्ग[13] (२) गण-

---

१—क्षमा

२—निर्लोभता

३—ऋजुता—सरलता

४—मृदुता—निरभिमानता

५—हिंसा आदि आश्रव जन्य अनर्थों का चिन्तन।

६—यह संसार अशुभ है—ऐसा चिन्तन।

७—अनन्तवृत्तिता—संसार की जन्म-मरण की अनन्तता का चिन्तन।

८—वस्तुओं में प्रति समय परिणाम—अवस्थान्तर होता है, उसका चिन्तन।

९—उत्त० ३०.३५ :

अट्टरुद्दाणि वज्जिता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं झाणं तं तु बुहावए॥

१०—व्युत्सर्ग अर्थात् त्याग।

११—शारीरिक हलन-चलनादि क्रियाओं के त्याग, साधु-समुदाय के सहवास, वस्त्र, पात्रादि उपधि तथा आहार के त्याग को द्रव्य व्युत्सर्ग तप कहते हैं।

१२—क्रोधादि भाव तथा संसार और कर्म-उत्पत्ति के हेतुओं का त्याग—भाव व्युत्सर्ग-तप कहलाता है।

१३—शरीर व्युत्सर्ग तप की परिभाषा निम्न प्रकार मिलती है (उत्त० ३०.३६) :

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

—शयन, आसन और स्थान में जो भिक्षु चलनात्मक क्रिया नहीं करता—शरीर को हिलाता-डुलाता नहीं, उसके काय-व्युत्सर्ग नामक छठा आभ्यन्तर तप कहा गया है।

व्युत्सर्ग[1] (३) उपधि-व्युत्सर्ग[2] और (४) आहार-व्युत्सर्ग[3]।

२—भाव व्युत्सर्ग तप तीन प्रकार का कहा है—(क) कषाय-व्युत्सर्ग[4] (ख) संसार-व्युत्सर्ग और (ग) कर्म-व्युत्सर्ग।

(क) कषाय-व्युत्सर्ग तप[5] चार प्रकार का कहा है: (१) क्रोधकषाय-व्युत्सर्ग, (२) मानकषाय-व्युत्सर्ग (३) मायाकषाय-व्युत्सर्ग और (४) लोभकषाय-व्युत्सर्ग।

(ख) संसार-व्युसर्ग तप[6] चार प्रकार का कहा है: (१) नैरयिकसंसार-व्युत्सर्ग (२) तिर्यक्संसार[7]-व्युत्सर्ग (३) मनुष्यसंसार-व्युत्सर्ग और (४) देवसंसार-व्युत्सर्ग।

(ग) कर्म-व्युत्सर्ग तप[8] आठ प्रकार का कहा है: (१) ज्ञानावरणीयकर्म-व्युत्सर्ग (२) दर्शनावरणीयकर्म-व्युत्सर्ग (३) वेदनीयकर्म-व्युत्सर्ग (४) मोहनीयकर्म-व्युत्सर्ग (५) आयुष्यकर्म-व्युत्सर्ग (६) नामकर्म-व्युत्सर्ग (७) गोत्रकर्म-व्युत्सर्ग और (८) अन्तरायकर्म-व्युत्सर्ग।

१—तपस्या या उत्कृष्ट साधना के लिये साधु-समुदाय का त्याग कर एकाकी रहना—गण-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

२—वस्त्र, पात्र आदि उपधि का त्याग—उपधि-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

३—भक्त-पान आदि का त्याग—आहार-व्युत्सर्ग कहलाता है।

४—अनुच्छेद १, २ और ३ के विषय को संग्रह करनेवाली निम्नलिखित गाथाएँ मिलती हैं:

> दव्वे भावे अ तहा दुहा, विसग्गो चउव्विहो दव्वे।
> गणदेहोवहिभत्ते, भावे कोहादिचाओ त्ति॥
> काले गणदेहाणं, अतिरित्तासुद्धभत्तपाणाणं।
> कोहाइयाण सययं, कायव्वो होई चाओ त्ति॥
>
> (दश० १.१ की हारिभद्रीय टीका में उद्धृत)

५—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय हैं। इनमें से प्रत्येक का त्याग कषाय-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

६—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—ये चार गतियाँ हैं। इन गतियों में जीव के भ्रमण को संसार कहते हैं। उन भावों—कृत्यों का त्याग जिनसे जीव का नरकादि गतियों में भ्रमण होता है—संसार-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

७—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति—इन एकेन्द्रिय से लेकर पशु, पक्षी आदि तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय तक के जीवों की गति।

८—जिनसे जीव संसार में बंधा हुआ है और भव-भ्रमण करता है, उन्हें कर्म कहते हैं। ये ज्ञानावरणीय भेद से आठ प्रकार के हैं। उन भावों—कार्यों का त्याग जो इन आठ प्रकार के कर्मों की उत्पत्ति के हेतु हों—कर्म-व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

१७— तप, संवर, निर्जरा (गा० ४६-५२) :

इन गाथाओं में स्वामीजी ने निम्न तथ्यों पर प्रकाश डाला है :

१—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक की हुई तपस्या किस प्रकार कर्म-क्षय करती है (गा० ४६)।

२—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक तप किसके हो सकता है (गा० ४७-५१)।

३—संवर और निर्जरा का सम्बन्ध (गा० ४७-५१)।

४—तपस्या की महिमा (५०-५२)।

नीचे इन पर क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा है :

१—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक की हुई तपस्या किस प्रकार कर्म-क्षय करती है :

स्वामीजी ने सकाम तप की कार्य-प्रणाली को चुम्बक रूप में इस प्रकार बताया है : "ते करम उदीर उदे आंण खेरे"—वह कर्मों को उदीर्ण कर, उदय में ला उन्हें बिखेर देता है। इस विषय का सामान्य स्पष्टीकरण पहले आ चुका है।[1] जिस तरह समय पाकर फल अपने आप पक जाते हैं उसी तरह नाना गति और जीव-जातियों में भ्रमण करते हुए प्राणी के शुभाशुभ कर्म क्रम से परिपाक-काल को प्राप्त हो अनुभवोदयावलि में प्रविष्ट हो फल देकर अपने आप झड़ जाते हैं। यह विपाकजा निर्जरा है। सकाम तप इस स्वाभाविक क्रम से कार्य नहीं करता। वह अपने सामर्थ्य से जिन कर्मों का उदय-काल नहीं आया होता है, उन्हें भी बलात् उदयावलि में लाकर झाड़ देता है। जिस तरह आम और पनस को औपक्रमिक क्रिया अकाल में ही पका डालती है उसी तरह सकाम तप उदयावलि के बाहर स्थित कर्मों को खींचकर उदयावलि में ले आता है। इस तरह उन कर्मों का वेदन हो उनकी निर्जरा होती है। सकाम तप अविपाकजा निर्जरा का हेतु होता है[2]।

१—देखिए पृ० ६१० (ऊ)

२—तत्त्वा० ८.२३ सर्वार्थसिद्धि :

तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते संसारमहार्णवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मणः क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्यानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा। यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रिया-विशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्योदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा।

कर्म-प्रायोग्य पुद्गल ग्रात्मा की सत्-असत् प्रवृत्ति द्वारा गृहीत होकर कर्म बनते हैं। कर्म की पहली अवस्था बंध है और अन्तिम अवस्था है वेदना। कर्म के विसम्बन्ध की अवस्था निर्जरा है। कर्म-फल का अनुभव वेदना है। वेदना के बाद भुक्तरस कर्म-पुद्गल आत्मा से दूर हो जाते हैं। यह निर्जरा है। बन्ध और वेदना या निर्जरा के बीच कर्म सत्तारूप में अवस्थित रहता है, किसी प्रकार का फल नहीं देता। अबाधा काल—पकने का काल पूरा नहीं होता, तब तक कर्म फल देने योग्य नहीं बनता। अबाधा काल पूर्ण होने के पश्चात् फल देने योग्य निषेक बनते हैं, और फिर विपाकप्राप्त कर्म वेदना—फलानुभव के बाद झड़ जाते हैं।

बन्धे हुए कर्म-पुद्गल विपाकप्राप्त हो फल देने में समर्थ हो जाते हैं, तब उनके निषेक प्रकट होने लगते हैं—यह उदय है।

अबाधा काल में कर्म का अवस्थान मात्र होता है, पर कर्म का कर्तृत्व प्रकट नहीं होता। उस समय कोरा अवस्थान होता है, अनुभव नहीं। अनुभव अबाधा काल पूरा होने के बाद होता है।

काल मर्यादा पूर्ण होने पर कर्म का वेदन या भोग प्रारम्भ होता है। यह प्राप्त-काल उदय है। ऐसे स्वाभाविक प्राप्त-काल उदय के अतिरिक्त दूसरे प्रकार का उदय अर्थात् अप्राप्त-काल उदय भी सम्भव है।

भगवान महावीर ने गौतम से कहा था—"अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा-भव्य कर्म-पुद्गलों की उदीरणा सम्भव है[1]।"

कर्म के काल-प्राप्त (स्वाभाविक) उदय में नये पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। बन्ध-स्थिति पूरी होती है, कर्म-पुद्गल अपने आप उदय में आ जाते हैं। उदीरणा द्वारा कर्मों को स्थिति-क्षय के पहले उदय में लाया जाता है। यह पुरुषार्थ-साध्य है।

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! अनुदीर्ण, उदीरणा-भव्य (कर्म-पुद्गलों) की जो उदीरणा होती है, वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य पुरुषकार और पराक्रम के द्वारा होती है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम के द्वारा?"

भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! जीव उत्थान आदि के द्वारा अनुदीर्ण, उदीरणा

१—भगवती १.३

गोयमा! नो उदिण्णं उदीरेइ, नो अणुदिण्णं उदीरेइ, अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ, णो उदयाणं तरपच्छाकडं कम्मं उदीरेइ।

भव्य (कर्म-पुद्गलों) की उदीरणा करता है, किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा उदीरणा नहीं करता[1] ।"

उदीरक पुरुषार्थ के दो रूप हैं। कर्म की उदीरणा करण के द्वारा होती है। करण का अर्थ है—योग। योग तीन प्रकार के हैं—(१) काय व्यापार, (२) वचन व्यापार और (३) मन व्यापार। उत्थान आदि इन्हीं के प्रकार हैं। योग शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है। शुभ योग तपस्या है, सत्प्रवृत्ति है। वह उदीरणा का हेतु है। उदीरणा द्वारा लम्बे समय के बाद तीव्र भाव से उदय में आने वाले कर्म तत्काल और मन्द भाव से उदय में आ जाते हैं। इससे आत्मा शीघ्र उज्वल बन जाती है।

क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्ति अशुभ योग है। उससे भी उदीरणा होती है, पर आत्म-शुद्धि नहीं होती; पाप कर्मों का बन्ध होता है[2] ।

उदीरणा उदयावलिका के वहिर्भूत कर्म पुद्गलों की ही होती है। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म पुद्गलों की उदीरणा नहीं होती। उदीरणा अनुदीर्ण कर्मों की ही होती है। अनुदित कर्मों की उदीरणा तप के द्वारा सम्भव है।

यहाँ प्रश्न उठता है क्या उदीरणा सभी कर्मों की सम्भव है? कर्म दो प्रकार के होते हैं—एक निकाचित और दूसरे दलिक। निकाचित उन कर्मों को कहते हैं जिनका विपाक अन्यथा नहीं हो सकता। दलिक उन कर्मों को कहते हैं जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है। इसी आधार पर कर्म के अन्य दो भेद मिलते हैं—(१) सोपक्रम और (२) निरूपक्रम। जो कर्म उपचार-साध्य होता है वह सोपक्रम है। जिसका कोई प्रतीकार नहीं होता, जिसका उदय अन्यथा नहीं हो सकता वह निरूपक्रम है।

ऊपर में एक जगह ऐसा वर्णन आया है कि तप निकाचित कर्मों का भी क्षय करता है। यह एक मत है। दूसरा मत यह है कि निकाचित कर्मों की अपेक्षा जीव परवश है।

१—वही

गोयमा ! तं उट्ठाणेण वि, कम्मेण वि, बलेण वि, वीरियेण वि, पुरिसक्कारपरक्कमेण वि अणुदिण्णं उदीरणाभवि यंकम्मं उदीरेइ ; णो तं अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं अबलेणं, अवीरिएणं, अपुरिसक्कारपरिक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ।

२—देखिए पृ० ६१३

निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की अपेक्षा दोनों बातें हैं। जहाँ जीव उन्हें अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता वहाँ वह उस कर्म के अधीन होता है और जहाँ जीव तप की सहायता से सत्प्रयत्नशील होता है वहाँ वह कर्म उसके अधीन होता है। उदय काल से पूर्व कर्मों को उदय में ला तोड़ डालना, उनकी स्थिति और रस को मन्द कर देना—यह सब इसी स्थिति में हो सकता है। यही उदीरणा है[१]।

२—आत्म-शुद्धि के लिए इच्छापूर्वक तप किसके हो सकता है ?

उमास्वाति लिखते हैं—"संवृततपउपधानात्तु निर्जरा[२]"—संवरयुक्त जीव का तप उपधान निर्जरा है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—"सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, मोहोपशमक, उपशांतमोह, मोहक्षपक, क्षीणमोह और जिन—इनके क्रमशः असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा हुआ करती है[३]।"

साधु रत्नसूरि लिखते हैं—"सकाम निर्जरा साधु के होती है। वह बारह प्रकार के तप से होनेवाली कर्मक्षयरूप निर्जरा है[४]।"

स्वामी कार्तिकेय लिखते हैं : "निदानरहित, अहंकार-शून्य ज्ञानी के बारह प्रकार के तप से तथा वैराग्य भावना से निर्जरा होती है[५]।"

१—जैन धर्म और दर्शन पृ० २९२-९६ ; ३०४-३०७ ; ३१०-११

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : उमास्वातीय नवतत्त्वप्रकरण गा० ३३

३—तत्त्वा० ९.४७

४—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : वृत्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरण गा० १६ । ४१ की साधु रत्नसूरिकृत अवचूर्णि :

तत्र सकामा साधूनां। …………तत्र सकामा द्वादश प्रकारतपोविहित-कर्मक्षयरूपा

५—द्वादशानुप्रेक्षा : निर्जरा अनुप्रेक्षा गा० १०२ :

वारसविहेण तवसा, णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि ।
वेरग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स ॥

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि सकाम तप का पात्र कौन है, इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। कई विद्वानों ने साधु को ही इसका पात्र माना है और कइयों ने श्रावक और सम्यक्दृष्टि को भी। पर मिथ्यात्वी का उल्लेख किसी ने भी नहीं किया। इससे सामान्य मत यह लगता है कि सकाम तप मिथ्यादृष्टि के नहीं होता।

स्वामीजी ने साधु, श्रावक और सम्यक्दृष्टि की तरह मिथ्यात्वी के भी सकाम तप माना है, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वे लिखते हैं :

निरवद करणी करे समदिष्टी, तेहीज करणी करें मिथ्याती तांम।
यां दोयां रा फल आछा लागें, ते सूतर में जोवों ठांम ठांम[1] ॥

पेंहलें गुणठांणे करणी करें, तिणरे हुवें छें निरजरा धर्म।
जो घणों घणों निरवद प्राकम करें, तो घणा घणा कटे छें कर्म[2]।

उपर्युक्त उद्‌गारों से स्पष्ट है कि स्वामीजी ने मिथ्यात्वी के लिए भी निरवद्य करनी का फल वैसा ही अच्छा बतलाया है जैसा कि सम्यक्त्वी को होता है। मिथ्यात्वी गुण-स्थान में स्थित व्यक्ति के भी निरवद्य करनी से निर्जरा धर्म होता है। उसका निरवद्य पराक्रम जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे उसे अधिक निर्जरा होती है। मिथ्यात्वी के भी शुभ योग होता है—"मिथ्याती रे पिण सुभ जोग जाण हो।" वह भी निरवद्य करनी से कर्मों को चकचूर करता है—"ते पिण कर्म करें चकचूर रे।"

आगम में शीलसम्पन्न, पर श्रुत और सम्यक्त्व रहित को भी मोक्ष-मार्ग का देश आराधक कहा है। स्वामीजी कहते हैं—मिथ्यात्वी को देश आराधक कैसे कहा ? उसके जरा भी विरति नहीं फिर भी उसे देश आराधक कहने का क्या कारण है ? मिथ्यात्वी भी यदि शीलसम्पन्न होता है तो उसके निर्जरा धर्म होता है इसी अपेक्षा से उसे देश आराधक कहा है :

सीलें आचार करें सहीत छें रे, पिण सूतर नें समकत तिणरें नांहि रे।
तिणनें आराधक कह्यों देस थी रे, विचार कर जोवो हीया मांहि रे ॥

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) : मिथ्याती री करणी री चौपई ढा० १ गा० ३६

२—वही : ढा० २ दो० ३

देस थकी तो आराधक कह्यों रे, पेंहलें गुणठांणे ते किण न्याय रे।
विरत नहीं छें तिणरें सर्वथा रे, निरजरा लेखें कह्यों जिणराय रे[1] ॥

भगवती में असोच्चा केवली का उल्लेख है। वह धर्म सुने बिना निरवद्य करनी करते-करते केवली बन जाता है। यदि उसके मिथ्यात्व दशा में निर्जरा नहीं होती तो वह केवली कैसे बनता ? स्वामीजी लिखते हैं :

असोचा केवली हूआ इण रीत सूं रे, मिथ्याती थकां तिण करणी कीध रे।
कर्म पतला पड्या मिथ्याती थकां रे, तिण सूं अनुक्रमें सिवपुर लीध रे॥
जो मिथ्यात्वी थकों तपसा करतों नहीं रे, मिथ्याती थकों नहीं लेतो आताप रे,
क्रोधादिक नहीं पाडतो पातला रे, तो किण विध कटता इणरा पाप रे॥
जो लेस्या परिणाम भला हुंता नहीं रे, तो किण विध पांमत विभंग अनांण रे।
इत्यादिक कीयां सूं हुवों समकती रे, अनुक्रमें पोंहतो छें निरवांण रे॥
पेंहलें गुणठांणे मिथ्याती थकां रे, निरवद करणी कीधीं छें तांम रे।
तिण करणी थी नींव लागी छें मुगत री रे, ते करणी चोखी ने सुध परिणांम रे[2] ॥

मिथ्यात्वी भी वैरागी हो सकता है। उसकी निरवद्य करनी वैराग्य भावनाओं से उत्पन्न हो सकती है। स्वामीजी लिखते हैं :

"मिथ्यात्वी वैराग्यपूर्वक शील का पालन कर सकता है, वैराग्यपूर्वक तपस्या कर सकता है, वैराग्यपूर्वक वनस्पति का त्याग कर सकता है—इस तरह वह वैराग्यपूर्वक अनेक निरवद्य कार्य कर सकता है।"

शील पालें मिथ्याती वेंराग सूं रे, तपसा करें वेंराग सूं ताय रे।
हरियादिक त्यागें वेंराग सूंरे लाल, तिणरें कहें दुरगत रो उपाय रे॥
इत्यादिक निरवद करणी करें रे, वेंराग मन मांहें आंण रे।
तिणरी करणी दुरगत रो कारण कहें रे लाल, ते जिण मारग रां अजांण रे[3] ॥

मिथ्यात्वी के जैसे वैराग्य संभव है, वैसे ही उसके लेश्या और परिणाम भी प्रशस्त हो सकते हैं अतः सकाम निर्जरा भी संभव है।

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) : मिथ्याती री करणी री चौपई : ढा० २ गा० २४-२५
२—वही : ढा० २ गा० ४७-५०
३—वही : ढा० ३ गा० २९-३०

तामली तापस की तपस्या का वर्णन करते हुऐ स्वामीजीने लिखा है :

तामलीतापस तप कीधों घणो रे, साठ सहंस वरसां लग जांण रे।
बेले बेले निरंतर पारणों रे, वेंराग भावे सुमता आंण रे ॥
आहार वेंहरी नें ल्यायों तेहनें रे, पांणी सूं धोयो इकवीस वार रे।
सार काढ़नें कूकस राखीयो रे, ऐहवो पारणें कीयों आहार रे ॥
तिष संथारो कीयों भला परिणांम सूं रे, जब देवदेवी आया तिण पास रे।
त्यां नाटक पोड विवध परकारना रे, पछे हाथ जोडी करें अरदास रे ॥
म्हे चमरचंचा राजध्यांनी तणा रे, देवदेवी हूआ म्हें सर्व अनाथ रे।
इन्द्र हूंतों ते म्हारो चव गयो रे, थे नीहाणों कर हुवों म्हांरा नाथ रे ॥
इम कहे नें देवदेवी चलता रह्या रे, पिण तामली न कीयों नीहाणों ताय रे।
तिण करम निरजरिया मिथ्याती थकां रे, ते इसांण इन्द्र हुवों छें जाय रे ॥
ते देव चवी नें होसी मांनवी रे, महाविदेह खेतर मझार रे।
ते साध थइ नें सिवपुर जावसी रे, संसार नी आवागमण निवार रे ॥
इण करणी कीधीं छें मिथ्याती थकें रे, तिण करणी सूं घटीयों छें संसार रे।
इन्द्र हुवों छें तिण करणी थकी रे, इण करणी सूं हुवों एका अवतार रे[1] ।

मिथ्यात्वी के सकाम निर्जरा होती है या नहीं, इस विषय की चर्चा 'सेन प्रश्नोत्तर' में भी है। सार इस प्रकार है—"चरक, परिव्राजक, तामल्य आदि मिथ्यात्वी तपश्चर्यादि अज्ञान कष्ट करते हैं उनके सकाम निर्जरा होती है अथवा अकाम ? कुछ लोगों का मत है कि उनके अकाम निर्जरा ही होती है। इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है। मिथ्यादृष्टि चरक, परिव्राजक आदि हमारा कर्मक्षय हो—ऐसी बुद्धि से तपश्चरणादि अज्ञान कष्ट करते हैं उनके सकाम निर्जरा सम्भव है। सकाम निर्जरा का हेतु द्विविध तप है। बाह्य तपों को, बाह्य द्रव्य की अपेक्षा होने से, पर-प्रत्यक्षत्व होने से तथा कुतीर्थिकों द्वारा स्वाभिप्राय से आसेव्यत्व प्राप्त होने से, बाह्यत्व माना गया है। इसके अनुसार षट्विध बाह्य तप कुतीर्थिकों द्वारा भी आसेव्य होता है और उनके भी सकाम निर्जरा होती है भले ही वह सम्यग्दृष्टि की सकाम निर्जरा की अपेक्षा थोड़ी हो। भगवती (८.१०) में कहा है—बालतपस्वी—'देसाराउए'—देशाराधक होता है। सम्यग्बोध के न

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) : मिथ्याती री करणी री चौपई : ढा० २ गा० २८-३४

होने से भले ही उसे मोक्ष-प्राप्ति न होती हो पर क्रियापरक होने से स्वल्प कर्मांश की निर्जरा उसके भी होती है।"

३—संवर और निर्जरा का सम्बन्ध:

वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र (९.२) में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से संवर की सिद्धि बतलाई है—"स गुप्तिसमितिधर्मानुपेक्षापरीषहजय चारित्रैः।" इसके बाद अन्य सूत्र दिया है—"तपसा निर्जर च (९.३)" इसका अर्थ उन्होंने स्वयं इस प्रकार किया है—"तप बारह प्रकार का है। उससे संवर होता है और निर्जरा भी[1]।"

संवर के उपर्युक्त हेतुओं में उल्लिखित 'धर्म' के भेदों का वर्णन करते हुए तप को भी उसका एक भेद माना है[2]। प्रश्न होता है कि धर्म में तप समाविष्ट है तब सूत्रकार ने "तपसा निर्जरा च" यह सूत्र अलग रूप से क्यों दिया? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"तप संवर और निर्जरा दोनों का कारण है और संवर का प्रमुख कारण है, यह बतलाने के लिये अलग कथन किया है[3]।"

श्री अकलङ्कदेव कहते हैं—"तप का अलग कथन अनर्थक नहीं क्योंकि वह निर्जरा का कारण भी है[4]। तथा सब संवर-हेतुओं में तप प्रधान है। यह दिखाने के लिये भी तप का अलग उल्लेख किया गया है[5]।

१—तत्त्वा० ९.३ भाष्य :

तपो द्वादशविधं वक्ष्यते। तेन संवरो भवति निर्जरा च।

२—तत्त्वा० ९.६

३—तत्त्वा० ९.३ सर्वार्थसिद्धि :

तपो धर्मेऽन्तर्भूतमपि पृथगुच्यते उभयसाधनत्वख्यापनार्थं संवरं प्रति प्राधान्यप्रतिपादनार्थं च।

४—तत्त्वा० ९.३ राजवार्तिक १ :

धर्मे अन्तर्भावात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति चेत्; न; निर्जराकारणत्वख्यापनार्थत्वात्

५—तत्त्वा० ९.३ राजवार्तिक २ :

सर्वेषु संवरहेतुषु प्रधानं तप इत्यस्य प्रतिपत्त्यर्थं च पृथग्ग्रहणं क्रियते।

उपर्युक्त विवेचन से निम्न निष्कर्ष लिखते हैं :

(१) संवर के कथित साधन—गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तप में केवल तप ही संवर और निर्जरा दोनों का हेतु है, अन्य नहीं।

(२) तप से निर्जरा भी होती है पर वह प्रधान हेतु संवर का ही है[1]।

(३) संवर से गुप्ति, समिति आदि कथित हेतुओं में तप सर्व प्रधान है।

(४) समिति, अनुप्रेक्षा और परिषहजय जो शुभ योग रूप हैं उनसे भी संवर होता है।

(५) गुप्ति और चारित्र की तरह समिति, अनुप्रेक्षा आदि योग भी संवर के हेतु हैं।

इन निष्कर्षों पर नीचे क्रमशः विचार किया जाता है :

प्रथम निष्कर्ष :

श्री उमास्वाति ने परीषहजय को अन्यत्र निर्जरा का हेतु माना है[2]। अतः अलग सूत्र के औचित्य को सिद्ध करने के लिये टीकाकारों द्वारा जो प्रथम समाधान 'उभयसाधनत्वख्यापनार्थम्' दिया गया है, वह एकान्ततः ठीक प्रतीत नहीं होता। कारण संवर के अन्य कथित हेतुओं में भी निर्जरा सिद्ध होती है।

द्वितीय निष्कर्ष :

एक बार भगवान महावीर से पूछा गया—"भगवन् ! तप से जीव क्या उत्पन्न करता है ?" भगवान ने उत्तर दिया—"तप से जीव पूर्व के बंधे हुए कर्मों का क्षय करता है[3]।"

इसी तरह दूसरी बार प्रश्न किया गया—"भगवन् ! तप का क्या फल है ?" भगवान ने उत्तर दिया—"हे गौतम ! तप का फल वोदाण—पूर्व-संचित कर्मों का क्षय है[4]।"

१—(क) तत्त्वा० ६.३ राजवार्तिक १ :
तपो निर्जराकारणमपि भवतीति

(ख) वही : राजवार्तिक २ :
तपसा हि अभिनवकर्मसंबन्धाभावः पूर्वोपचितकर्मक्षयश्च, अविपाकनिर्जरा-प्रतिज्ञानात्

२—(क) तत्त्वा० ६.७ भाष्य ६ :
निर्जरा...कुशलमूलश्च...तपः परीषहजयकृतः कुशलमूलः

(ख) वही ६.८ :
मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

३—उत्त० २६.२७ :
तवेणं भन्ते जीवे किं जणयइ ॥ तवेणं वोदाणं जणयइ ॥

४—(क) भगवती २.५ :
तवे वोदाणफले

(ख) ठाणाङ्ग ३.३.१६० :
तवे चेव वोदाणे

इन वार्त्तालापों से स्पष्ट है कि तप निर्जरा का हेतु है ; संवर का नहीं। संवर का हेतु संयम है[1]। 'तवसा निज्जरिज्जइ'[2]—तप से निर्जरा होती है, ऐसा उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त है।

आगम में कहा है—"जैसे शकुनिका पक्षिणी अपने शरीर में लगी हुई रज को पँख झाड़-झाड़ कर दूर कर देती है, उसी तरह से जितेन्द्रिय अहिंसक तपस्वी अनशन आदि तप द्वारा अपने आत्म-प्रदेशों से कर्मों को झाड़ देता है[3]"

इससे भी तप का लक्षण निर्जरा ही सिद्ध होता है, संवर नहीं।

अन्यत्र आगम में कहा है—"तपरूपी वाण कर्मरूपी कवच को भेदन करनेवाला है[4]।"

"तप-समाधि में सदा लीन मनुष्य तप से पुराने कर्मों को धुन डालता है[5]।"

इन सब से स्पष्ट है कि तप को संवर का हेतु मानना और प्रधान हेतु मानना आगमिक परम्परा नहीं है।

"तप से संवर होता है और निर्जरा भी" स्वामीजी ने इस सूत्र के स्थान पर निम्न विवेचन दिया है—"तप से निर्जरा होती है। तप करते समय साधु के जहाँ-जहाँ निरवद्य योग का निरोध होता है वहाँ संवर भी होता है। श्रावक तप करता है तब जहाँ सावद्य योग का निरोध होता है वहाँ विरति संवर होता है। तप निर्जरा का ही हेतु है। तप

१—भगवती २.५ :

संजमे णं भंते ! किं फले ? तवे णं भंते ! किं फले ? संजमे णं अज्जो ! अणण्हय-फले तवे वोदाणफले।

२—उत्त० ३०.६

३—सुयडांग १,२.१.१५ :

सउणी जह पंसुगुण्डिया, विहुणिय धंसयइ सियं रयं।
एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवइ तवस्सि माहणे॥

४—उत्त० ९.२२ :

तवनारायजुत्तेण भित्तूण कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो भवाओ परिमुच्चए॥

५—दश० ९.४ :

विविहगुणतवोरए निच्चं भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए॥

करते समय जहाँ-जहाँ शुभ-अशुभ योगों का निरोध होता है वहाँ तत्सम्बन्धित संवर की भी निष्पति होती है। संवर का हेतु योग-निरोध है और निर्जरा का हेतु तप।"

स्वामीजी का यह कथन उमास्वाति के निम्न उद्गारों से महत्वपूर्ण अन्तर रखता है—"तप संवर का उत्पादक होने से नये कर्मों के उपचय का प्रतिषेधक है और निर्जरण का फलक होने से पूर्व कर्मों का निर्जरक है[1]।" वास्तव में तप संवर का हेतु नहीं योग-निरोध—संयम—संवर का हेतु है।

भगवान महावीर से पूछा गया—"भगवन् ! संयम से जीव क्या प्राप्त करता है।" भगवान ने उत्तर दिया—"संयम से जीव आस्रव-निरोध करता है।" भगवान से फिर पूछा गया—"भगवन् ! तप से क्या होता है?" भगवान ने उत्तर दिया—"तप से पूर्व-बद्ध कर्मों का क्षय होता है[2]"

आगम में संवर के जो पाँच हेतु बताये गये हैं[3] उनमें भी तप का उल्लेख नहीं है। ऐसी हालत में तप संवर का प्रधान हेतु है, ऐसा प्रतिपादन फलित नही होता।

तृतीय निष्कर्ष :

तप जब संवर का हेतु नहीं तब कथित संवर-हेतुओं में वह सब से प्रधान है, इस कथन का आधार ही नहीं रहता। संवर के हेतु गुप्ति और चारित्र ही कहे जा सकते हैं, तप नहीं। कहा भी है—"**चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई**[4]"—चारित्र से कर्माश्रव का निरोध—संवर होता है और तप से परिशुद्धि—कर्मों का परिशाटन।

चौथा निष्कर्ष :

सम्यक रूप से आना-जाना, बोलना, उठाना-रखना आदि समिति है। शरीर आदि के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। क्षुदादि वेदना के होने पर उसे सहना परिषह-जय है[5]। ये सब प्रत्यक्षतः योग रूप हैं। श्री उमास्वाति के अनुसार

१—तत्त्वा० ९.४६ भाष्य :

तदाभ्यन्तरं तपः संवरत्वादभिनवकर्मोपचयप्रतिषेधकं निर्जरणफलत्वात्कर्मनिर्जरकम्

२—(क) उत्त० २९.२६-२७ :

संजमएणं भंते जीवे किं जणयइ ॥ सं० अणण्हयत्तं जणयइ ॥

तवेणं भन्ते जीवे किं जणयइ ॥ तवेणं वोदाणं जणयइ ॥

(ख) ठाणाङ्ग ३.३.१९०

३—समवायाङ्ग सम० ५

४—उत्त० २८.३५

५—तत्त्वा० ९.२ सर्वार्थसिद्धि :

सम्यगयनं समितिः ; शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा ; क्षुदादिवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थं सहनं परिषहः। परिषहस्य जयः परिषहजयः

योग से भी संवर होता है। स्वामीजी कहते हैं शुभयोग से निर्जरा होती है और पुण्य का बंध होता है—"शुभ योगां थी निर्जरा धर्म पुण्य पिण थाय रे" पर संवर नहीं होता। शुभयोग संवर नहीं निर्जरा का जनक है।

आगम में भी शुभ योगों से निर्जरा ही बताई गयी है।

पाँचवा निष्कर्ष :

गुप्ति—निवृत्ति रूप है और चारित्र भी निवृत्ति रूप। ये दोनों योग नहीं। उधर समिति, अनुप्रेक्षा, परिषह्-जय और तप योग हैं। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों से ही निर्जरा सिद्ध नहीं हो सकती। संयम से संवर सिद्ध होता है और शुभ योग से निर्जरा। संयम और शुभ योग दोनों निर्जरा के साधक नहीं हो सकते।

स्वामीजी ने उपर्युक्त विषयों पर विशद प्रकाश डाला है। हम यहाँ उनके विवेचन को उद्धृत करते हैं :

सुभ जोग संवर निश्चें नहीं, सुभ जोग निरवद व्यापार ।
ते करणी छें निरजरा तणी, तिण सूं करम न रूकें लिगार ॥
समुदघात करें जब केवली, कांय जोग तणों व्यापार ।
तिण सूं करम तणी निरजरा हुवें, पुन पिण लागें तिण वार ॥
त्यांरी निरजरा सूं पुदगल झरया, त्यां सूं सर्व लोक फरसाय ।
जोगां सूं निश्चें निरजरा हुवें, चोडे देखो सूतर रों न्याय[1] ॥
अकुशल जोग रुंधता निरजरा हुवें, ते निरजरा रुंधें त्यां लग जांणों रे ।
वले निरजरा हुवें कुसल जोग उदीरयां, ते प्रवरतें छे त्यां लग पिछांणो रे ॥
ओं तो परिसलीणया तप कह्यों श्री जिणेसर, सूतर उवाई मांह्यो रे ।
त्यां सुभ जोगां नें कोई संवर सरधें, ते तों चोडे भूला जायो रे ॥
प्रसस्त जोग पडवजीयों साधु, अणंतघाती करमां नें खपायो रे ।
ए उत्तराधेन गुणतीसमें अधेनें, सातमों बोल कह्यों जिणरायो रे ॥
सामायक रो फल सावद्य जोग निवरतें, इणरो ए गुण नीपनों ताह्यों रे ।
ए पिण उतराधेन गुणतीस में धेनें, कह्यो आठमां बोल रे मांह्यो रे ॥

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) : टीकम डोसी री चौपई ढा० ३ दो० १-३

पांच परकार नीं सझाय कीयां सूं, निरजरा हुइ कटीया करमों रे ।
सझाय करें ते निरवद जोगां सूं, जब नीपनों निरजरा धर्मो रे ॥
ए पिण उत्तराधेन गुणतीसमें धेनें, उगणीस सूं तेबीस तांई रे ॥
त्यां सुभ जोगां ने संवर सरधें, ते भूल गया भर्म मांही रे ।
जोग तणां पचखांण कीयां सूं, अजोग संवर हुवो रे ॥
ते अजोग संवर चारित नांहीं, अजोग संवर चारित सूं जूवो रे ॥
अजोग संवर सुभ जोग रूंध्यां नीपनों, जब छूटो निरवद व्यापारो रे ।
चारित नीपनों सर्व इवरित त्याग्यां, बाकी इवरित न रही लिगारो रे ॥
अजोग संवर हुवें निरवद जोग त्याग्यां, तिणमें सावद्य रो नहीं परिहारो रे ।
चारित हुवें सर्व इविरत त्याग्यां, नव कोटि त्याग्यों सावद्य व्यापारो रे ॥
तीन करण जोगां सर्व सावद्य त्याग्यों, ते तों तीन गुपत संवर धर्मो रे ।
पांच सुमति छें निरवद जोग व्यापार, त्यांसूं कटें छें आगला करमों रे ॥
गुपत संवर तो निरंतर साधु रे, पांच सुमत निरंतर नांही रे ।
पांच सुमत तो निरंतर नहीं छें, ए तों प्रवरते छें जठा तांई रे ॥
इर्या सुमत तो चाले जठां ताइ, भाषा सुमत बोलें जठा तांइ रे ।
एसणा सुमत तों प्रवरतें छे त्यां लग, त्यांने संवर कहीजें नाहीं रे ॥
आयाणभंडमतनिखेवणा सुमत, ते तो लेवें मूंके तठा तांई रे ।
परठणा सुमति परेठं जठा तांइ, त्यांनें पिण संवर कहीजें नाहीं रे ॥
सुमति छें सुभ जोग निरजरा री करणी, सुभ जोगां ने संवर कहें कोयो रे ।
यानें एक कहें तिणरी उंधी सरधा, संवर ने सुभ जोग छे दोयो रे ॥
सुभ जोग रुंध्यां मिटें निरजरा री करणी, पुन ग्रहवारा दुवार रूंधांणा रे ।
जब अजोग संवर नीपनों तिण कालें, करण वीर्य जोग मिटांणो रे ॥
जीव तणा प्रदेश चलावें, तेहीज जोग व्यापारो रे ।
ते प्रदेश थिर हुवां अजोग संवर छें, सुभ जोग मिट्या तिणवारो रे ॥
सुभ जोग व्यापार सूं करम कटे छें, जब जीव रा प्रदेस चाले रे ।
जीव रा प्रदेस चालें तठा तांई, पुन रा प्रदेस झालें रे ॥
चारित ना परिणांम थिर प्रदेस, त्यांरो सीतलभूत सभावो रे ।
तिण सूं सुभ जोग नें चारित न्यारा न्यारा छें, ओंतों देखों उघाडो न्यावो रे१।

वीयावच करण रो फल बतायों, बंधे तीर्थंकर नाम करमो रे।
ते वीयावच करें सुभ जोगां सूं, त्यांसूं हुवों निरजरा धर्मो रे ॥
वंदणा करता नीच गोत खपावें, वले बांधे उंच गोत करमों रे।
वंदणा करें छें सुभ जोगां सूं, तिण सूं हुवों निरजरा धर्मो रे ॥
निरजरा री करणी करंता पुन हुवें छें, तिण करणी मांहि नहीं खामी रे।
निरवद जोगां सूं निरजरा ने पुन हुवें छें, ते पुन तणा नहीं कांमी रे ॥
सुभ जोगां सूं निरजरा हुवें छें, तिण सूं निरजरा री करणी में चाल्या रे।
वले सुभ जोगां सूं पुन पिण लागें, तिण सूं आश्रव मांहे घाल्या रे[1] ॥

स्वामीजी ने इसी विषय पर दूसरी तरह इस प्रकार प्रकाश डाला है :

चारित संवर नें सुभ जोग सरधें, इण सरधा सूं हांसी घणा खराब।
सुभ जोग नें संवर जिण कह्या न्यारा, त्यांरो मुणजों विवरा सुध जाब।
तेरमें गुणठांणे आतमा सात, तिहां कषाय आतमा टल गइ ताय।
चवदमें गुणठाणे छ आतमा छें, तिहां जोग आतमा गइ छें विललाय ॥
जोग आतमा मिटी चवदमें गुणठांणे, चारित आतमा तो मिटी नहीं कोय।
इण लेखें चारित नें सुभ जोग, प्रतख जूआ जूआ छें दोय ॥
चारित ने जोग एक सरधें तो, आठ आतमा री हुवें आतमा सात।
सुभ जोग नें चारित एक सरधें तिण, चोडेई पडवजीयो मिथ्यात ॥
बारमें तेरमें चवदमें गुणठांणें, पायक चारित छें जथाख्यात।
ते चारित निरंतर एकधारा छें, ते तो बंधें घटें नहीं छें तिलमात ॥
चारित मोहणी षय हुवें जब,पायक चारित नीपजें ताय।
इण चारित संवर रो एक सभाव, सुभ जोग ते चारित कदेय न थाय ॥
चारित मोहणी उपसम हुवें जब, उपसम चारित नीपजें ताय।
षयउपसम हूआं षयउपसम चारित, खय हूआं पायकं चारित थाय ॥
चारित मोहणी षय पयउपसम हूआं, तिण सूं तो सुभ जोग नीपजें नांहीं।
मोह घट्यां सुभ जोग नींपना सरधें, ते पड गया मोह मिथ्यात रे मांहीं ॥
अन्तराय करम षय षयउपसम हूआं, नीपजें पायक षयउपसम ताय।
ते लबद वीर्य छें उजलों निरमल, तिण वीर्य सूं करम न लागें आय ॥
तिण लबध वीर्य सूं करम न रुकें, वले वीर्य सूं करम कटें नहीं ताय।
लबद वीर्य छें पुदगल नें संजोगें, तिण नें वीर्य आतमा कही जिणराय ॥

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) : टीकम डोसी री चौपई ढा० ३ गा० १-२०,२६,३५

लबद वीर्य तणों जीव करें व्यापार, ते व्यापार छें करण वीर्य जोग ।
तिण व्यापार नें भाव जोग कहीजें, त्यांरों व्यापार छें पुदगल रे संजोग ।।
सावद्य कांम करें ते सावद्य जोग, निरवद काम करें ते निरवद जोग ।
तेतो दरब जोग पुदगल नें संघातें, दरब नें भाव जोग रों भलों संजोग ।।
सावद्य जोगां सूं पाप लागें छें, निरवद जोगां सूं निरजरा होय ।
वले निरवद जोगां सूं पुन पिण लागें, सुभ जोगां ने संवर सरधों मत कोय ।।
सुभ जोग छें करणी करम काटण री, संवर सूं तो रुकें छें करम ।
सुभ जोगां नें संवर सरधें छें भोला, तेतो करमां तणें वस भूला छे मर्म ।।
मन वचन जोग उतकष्टा रहें तों, अन्तर मोहरत तांइ जांण ।
चारित तो उतकष्टों रहें तों, देसउणों कोड पूर्व परमांण ।।
सुभ मन वचन जोग चारित हुवें तों, चारित पिण अंतर मोहरत तांइ ।
जो उ चारित री थित इधकी परूपें, तिणनें आपरा बोल्या री समझ न कांई ।
मन वचन रा दोय दोय तीन काया रा, ए सात जोग तेरमें गुणठांणे ।
जोग नें संवर कहें तिण नें पूछा कीजें, तूं किसा जोग नें संवर जांणें ।।
कदेयक तो सत मन जोग वरतें, कदेयक वरते जोग ववहार मन ।
एक एक समें दोनूं मन नहीं वरतें, इमहीज वरतें दोनूं जोग वचन ।।
काया रा तीन जोग साथे नहीं वरतें, एक समय वरतें काया रो जोग एक ।
चारित संवर तो निरंतर एक, जोग तो जूजूवा वरतें अनेक ।।
जो उ सातोंइ जोगां नें संवर सरधें, ते सातोंइ जोग नहीं एक साथ ।
कदे कोई वरतें कदे कोई वरतें छें, संवर तो एकधारा रहें छें साख्यात[१] ।।

स्वामीजी ने अपने विचारों का उपसंहार इस प्रकार दिया है :

जोग तो व्यापार जीव तणों छें, जीव रा प्रदेश हालें त्यांही ।
थिर प्रदेस नें जोग सरधें छें, तिणरें मोटों मिथ्यात रह्यो घट मांहि ।।
सुभ जोग नें संवर जूआ जूआ छें, त्यां दोयां रो जूओ जूओ छें सभाव ।
त्यां दोयां नें एक सरधें अग्यांनी, तिण निश्चेंइ कीधों छें मोटो अन्याव ।।
सुभ जोगां सूं पुन करम लागें छें, असुभ जोगां सूं लागें पाप करम ।
सुभ असुभ करम संवर सूं रुके छें, वले सुभ जोग सूं हुवें निरजरा धर्म ।।

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) : टीकम डोसी री चौपइ ढाल २ गा० १-८,११-२२

संवर सूं जीवा रा प्रदेस बंध हुवे छें जोग सूं जीव रा प्रदेस री हुवें छे छूट।
या दोयां नें एक सरधें छें अग्यांनी, ते निश्चेंइ नेमा छें हीया फूट[1] ॥

४—तप की महिमा :

"तपसा निर्जरा च" इस सूत्र की टीका में टीकाकारों ने एक महत्त्वपूर्ण शंका-समाधान किया है। प्रश्न है—तप को अभ्युदय का कारण मानना इष्ट है, क्योंकि वह देवेन्द्र आदि स्थान विशेष की प्राप्ति का हेतु स्वीकार किया गया है। वह निर्जरा का हेतु कैसे हो सकता है? आचार्य पूज्यपाद कहते हैं—"जैसे अग्नि एक है तो भी उसके विक्लेदन, भस्म और अङ्गार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते हैं, वैसे ही तप को अभ्युदय और कर्म-क्षय दोनों का हेतु मानने में कोई विरोध नहीं है[2]।"

इस बात को श्री अकलङ्क देव ने बड़े ही सुन्दर ढंग से समझाया है। वे कहते हैं—"जैसे किसान को खेती से अभीष्ट धान्य के साथ-साथ पयाल भी मिलता है, उसी तरह तप-क्रिया का प्रयोजन कर्मक्षय ही है। अभ्युदय की प्राप्ति तो पयाल की तरह आनुषंगिक है[3]।"

स्वामीजी ने कहा है :

"गोहूं नींपावे छें गोहां कें कारणें, पिण खाखला री नहीं चावो रे।
तो पिण साथें खाखलो नींपजे छें, बुधवंत समझों इण न्यावो रे॥
ज्यूं करणी करें निरजरा रे काजें, पिण पुन तणी नहीं चावो रे।
पिण पुन नीपजें छें निरजरा करता, खाखला ने गोहां रे न्यावो रे[4] ॥"

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख० १) : टीकम डोसी री चौपई ढा० ५ गा० १४-१७

२—तत्त्वा० ६.३ सर्वार्थसिद्धि :

ननु च तपोऽभ्युदयाङ्गमिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात्, तत् कथं निर्जराङ्गं स्यादिति ? नैष दोषः, एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत्। यथाऽग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्मांगरादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः।

३—तत्त्वा० ६.३ राजवार्तिक ५ :

गुणप्रधानफलोपपत्तेर्वा कृषीवलवत्। अथवा, यथा कृषीवलस्य कृषिक्रियायाः पलालशस्यफलगुणप्रधानफलाभिसम्बन्धः तथा मुनेरपि तपस्क्रियायां प्रधानोपसर्जनाभ्युदयनिःश्रेयसफलाभिसम्बन्धोऽभिसन्धिवशाद्वेदितव्यः।

४—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) : टीकम डोसी री चौपई ढा० ३ गा० ३६-३७

श्री अकलङ्कदेव ने आगे जाकर लिखा है—"किसीको अभिसन्धि—विशेष इच्छा से तप के द्वारा अभ्युदय की भी सहज प्राप्ति होती है[१] ।"

पंडित सुखलालजी तत्त्वार्थसूत्र के उक्त सूत्र (९.३) की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"सामान्य तौर पर तप अभ्युदय अर्थात् लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन माना जाता है, ऐसा होने पर भी यह जानना चाहिए कि वह निःश्रेयस् अर्थात् आध्यात्मिक सुख का भी साधन बनता है; कारण कि तप एक होने पर भी उसके पीछे रही हुई भावना के भेद को लेकर वह सकाम और निष्काम दोनों प्रकार का होता है। सकाम तप अभ्युदय को साधता है, और निष्काम तप निःश्रेयस् को साधता है[२] ।"

आगमों में ऐसे स्थल मिलते हैं जहाँ देखा जाता है कि लौकिक कामना से तपस्या करनेवाले का लौकिक अभीष्ट पूरा हुआ है। उदाहरणस्वरूप गर्भवती रानी धारिणी को मन्द-मन्द वर्षा में भ्रमण करने का दोहद उत्पन्न हुआ। उस समय वर्षा-काल नहीं था। अभयकुमार ने आभूषण, माला, विलेपन, शस्त्रादि उतार डाले और पौषध-शाला में जा ब्रह्मचर्यपूर्वक पौषध-ग्रहण कर दर्भसंस्तारक बिछा, उसपर स्थित हो तेला ठान दिया और देव को मन में स्मरण करने लगा। तेला सम्पूर्ण होने पर देव का आसन चला। वह अभयकुमार के पास आया। वर्षा-काल न होने पर भी उसने वर्षा उत्पन्न की। इस तरह धारिणी का दोहद पूरा हुआ[३] । ऐसी घटनाओं से तप लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन है—ऐसी मान्यता चल पड़े तो आश्चर्य नहीं पर उससे सर्व व्यापक सिद्धान्त के रूप में ऐसा प्रतिपादन युक्तियुक्त नहीं कि "सकाम तप अभ्युदय को साधता है, और निष्काम तप निःश्रेयस् को साधता है।" तथ्य यह है कि निष्काम तप (आत्म-शुद्धि की कामना के अतिरिक्त अन्य किसी कामना से नहीं किया हुआ तप) कर्मों का क्षय करता है अतः वह निःश्रेयस् का कारण है। शुभ योग की प्रवृत्ति के कारण कर्म-क्षय के साथ-साथ पुण्य का भी बन्ध होता है जो सांसारिक अभ्युदय का हेतु होता है। जब तप के साथ ऐहिक कामना जोड़ दी जाती है तब वह तप सकाम होता है। तप के साथ जुड़ी हुई ऐहिक कामना कभी-कभी ऐहिक सुख की प्राप्ति द्वारा सफल होती देखी जाती

१—देखिए पा० टि० २ का अन्तिम अंश

२—तत्त्वार्थसूत्र गुजराती (तृ० आ०) पृ० ३४६

३—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग १.१६

है पर वह सफल होती ही है —ऐसा नियम नहीं है। आत्मिक दृष्टि से तप के साथ जुड़ी हुई कामना पाप-बन्ध का ही कारण होती है। स्वामीजी ने कहा है :

पुन तणी वंछा कीयां, लागे छें एकंत पाप हो लाल ।
तिण सुं दुःख पामें संसार में, वधतो जाये सोग संताप हो लाल ॥
पुन री वंछा सुं पुन न नींपजें, पुन तो सहजे लागे छें आय हो लाल ।
ते तो लागे छें निरवद जोग सुं, निरजरा री करणी सूं ताय हो लाल ॥
भली लेश्या ने भला परिणांम थी, निश्चेंइ निरजरा थाय हो लाल ।
जब पुन लागे छें जीव रे, सहजे सभावे ताय हो लाल ॥
जे करणी करें निरजरा तणी, पुन तणी मन में धार हो लाल ।
ते तो करणी खोए नें बापड़ा, गया जमारो हार हो लाल[1] ॥

आगम में कहा है—धर्म-क्रिया केवल कर्म-क्षय के लिए करनी चाहिए अन्य किसी सांसारिक-हेतु के लिए नहीं। इससे सम्बन्धित एक अन्य सिद्धान्त भी है। जैसे धर्म-क्रिया मोक्ष के लिए करना उचित है उसी तरह धर्म-क्रिया करने के बाद उसके बदले में सांसारिक फल की कामना करना भी उचित नहीं। जो धर्म-क्रिया कर बदले में निदान—सांसारिक फल की कामना करता है, उसकी धर्म-करनी संसार-वृद्धि का कारण होती है। स्वामीजी लिखते हैं :

जिन सासण में इम कह्यों, करणी करनी छें मुगत रें काज ।
करणी करें नीहांणो नहीं करें, ते पामें मुगत रों राज ॥
करणी करें नीहाणों करें, ते गया जमारो हार ।
संभूत नीहांणों कर ब्रह्मदत्त हूवों, गयो सातमीं नरक मझार ॥
करणी करें नीहांणों नहीं करें, ते गया जमारो जीत ।
तामली तापस नीहांणों कीधो नहीं, तो इसाण इन्द्र हुवो वदीत ॥

जब देवताओं ने बाल तपस्वी तामली तापस को इन्द्र बनने के लिए निदान करने की प्रार्थना की तब उसके मन में जो विचार उठे उनको स्वामीजी ने उसके मुंह से बड़े ही मार्मिक रूप से प्रकट करवाया है। तामली सोचता है :

मूंन साझ रह्यों पिण बोल्यों नहीं, नींहाणो पिण न कीयों कोय ।
बले मन में विचार इसडो कीयों, करणी वेच्यां आछो नहीं होय ॥

१—पुण्य पदार्थ : ढाल १ गा० ५२, ५५-५७,

जो तपसा करणी म्हारे अल्प छें, घणो चिंतव्यों हुवे नहीं कोय ।
जो तपसा करणी म्हारे अति घणी, थोड़ो चिंतव्यो सताव सूं होय ॥
जेहवी करणी तेहवा फल लागसी, पिण करणी तो बांझ न कोय ।
तो निहांणों करूं किण कारणें, आछीं कियां निश्चें आछो होय ॥

स्वामीजी उपसंहार करते हुए कहते हैं :

जिन मत मांहे पिण इम कह्यो, नीहाणों करे तप खोय ।
ते तो नरक तणों हुवे पावणों, वले चिहूं गति मांहे दुखियो होय ॥

तप की महिमा बताते हुए श्री हेमचन्द्रसूरि ने लिखा है—"जिस प्रकार सदोष स्वर्ण प्रदीप्त अग्नि द्वारा शुद्ध होता है, वैसे ही आत्मा तपाग्नि से विशुद्ध होती है। बाह्य और आभ्यन्तर तपाग्नि के देदीप्यमान होने पर यमी दुर्जर कर्मों को तत्क्षण भस्म कर देता है[1]।" उत्तराध्ययन में कहा है—"कोटि भवों के संचित कर्म तप द्वारा जीर्ण होकर झड़ जाते हैं[2]।" उसी आगम में कहा : "तपरूपी बाण से संयुक्त हो, कर्मरूपी कवच का भेदन करनेवाला मुनि, संग्राम का अन्त ला, संसार से—जन्म-जन्मान्तर से मुक्त हो जाता है[3]।" स्वामीजी कहते हैं उत्कृष्ट भावना से तप करनेवाला तीर्थंकर गोत्र तक का बंध करता है। अधिक क्या तप से अनन्त संसारी जीव क्षणभर में करोड़ो भवों के कर्मों को खपाकर सिद्ध हो जाता है।

१८—निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनों निरवद्य हैं (गा०५३-५६) :

इन गाथाओं में स्वामीजी ने निम्न बातों पर प्रकाश डाला है :

१—निर्जरा और निर्जरा की करनी दोनों भिन्न-भिन्न हैं पर दोनों ही निरवद्य हैं।

२—निर्जरा मोक्ष का अंश है

३—नये कर्मों के बंध से निवृत्त हुए बिना संसार-भ्रमण नहीं मिटता

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : श्री हेमचन्द्रसूरिप्रणीत सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १२९, १३२ :

सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यथा ।
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ॥
दीप्यमाने तपोवह्नौ, बाह्ये चाभ्यन्तरेऽपि च ।
यमी जरति कर्माणि, दुर्जराण्यपि तत्क्षणात् ॥

२—उत्त० ३०.६:

भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ

३—उत्त० ९.२२ (पृ० पा० टि० में उद्धृत)

नीचे इन पर क्रमशः प्रकाश डाला जायगा।

१—कर्मों के देश-क्षय से आत्मा का देशरूप उज्ज्वल होना निर्जरा है। जिससे ऐसा होता है, वह निर्जरा की करनी है।

निर्जरा आत्म-प्रदेशों की उज्ज्वलता है। इस अपेक्षा वह निरवद्य है। निर्जरा की करनी शुभ योगरूप होने से निर्मल होती है। अतः वह निरवद्य है।

२—निर्जरा मोक्ष का अंश किस प्रकार है, इस पर कुछ प्रकाश पूर्व में डाला जा चुका है। "धर्म हेतुक निर्जरा नव तत्त्वों में सातवां तत्त्व है। मोक्ष उसीका उत्कृष्ट रूप है। कर्म की पूर्ण निर्जरा (विलय) जो है, वही मोक्ष है। कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है। दोनों में मात्रा भेद है, स्वरूप भेद नहीं[1]।"

जैसे जल का एक बून्द समुद्र का ही अंश होता है, वैसे ही निर्जरा भी मोक्ष का अंश है। अन्तर एक देश और पूर्णता का है। अकृत्स्न कर्म-क्षय निर्जरा है और कृत्स्न कर्म-क्षय मोक्ष[2]।

३—निर्जरा पुराने कर्मों को दूर करती है पर उससे कर्मों का अन्त तभी आ सकता है जब नये कर्मों का संचय न किया जाय। जब तक नये कर्मों का संचार होता रहता है पुराने कर्मों का क्षय होने पर भी कर्मों का अन्त नहीं आता। जिस तरह कर्ज उतारने की विधि यह है कि नया कर्ज न किया जाय और पुराना चुकाया जाय। उसी प्रकार कर्म से निवृत्त होने की प्रक्रिया यह है कि नये कर्मों के आगमन को रोका जाय और पुराने कर्मों का क्षय किया जाय। इस विधि से ही जीव कर्मों से मुक्त हो सकता है। उत्तराध्ययन में इसी विधि का उल्लेख तालाब के उदाहरण द्वारा किया गया है। वहाँ कहा है—"प्राणिवध, मृषावाद, चोरी, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रि-भोजन से विरत जीव अनास्रव—नये कर्म-प्रवेश से रहित हो जाता है। जो जीव पाँच समितियों से संवृत्त, तीन गुप्तियों से गुप्त, चार कषाय से रहित, जितेन्द्रिय तथा तीन प्रकार के गर्व और तीन प्रकार के शल्य से रहित होता है, वह अनास्रव—नये कर्म-संचय से रहित होता है। जिस तरह जल आने के मार्ग को रोक देने पर बड़ा तालाब पानी के उलीचे जाने और सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है, उसी तरह आस्रव—पाप-कर्म के प्रवेश-मार्गों को रोक देनेवाले संयमी पुरुष के करोड़ों भवों के संचित कर्म तप के द्वारा जीर्ण होकर झड़ जाते हैं[3]।"

१—जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व पृ० १४७

२—तत्त्वा० १.४ सर्वार्थसिद्धि :

एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा, कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः

३—उत्त० ३०.२-३, ५-६

: ८ :

बंध पदार्थ

: ८ :

बंध पदारथ

दुहा

१—आठमों पदार्थ बंध छें, तिण जीव नें राख्यो छें बंध ।
जिण बंध पदार्थ नहीं ओलख्यो, ते जीव छें मोह अंध ॥

२—बंध थकी जीव दबीयो रहें, काई न रहें उघाडी कोर ।
तिण बंध तणा प्रबल थकी, कांई न चले जोर ॥

३—तलाव रूप तो जीव छें, तिण में पडीया पांणी ज्यूं बंध जांण ।
नीकलता पांणी रूप पुन पाप छें, बंध नें लीजो एम पिछांण ॥

४—एक जीव दरब छें तेहनें, असंख्यात परदेस ।
सगला परदेसां आश्रव दुवार छें, सगला परदेसां करम परवेस ॥

५—मिथ्यात इविरत नें परमाद छें, वले कषाय जोग विख्यात ।
यां पांचां तणा बीस भेद छें, पनेर आश्रव जोग में समात ॥

६—नाला रूप आश्रव नाला करम नां, ते रूंध्यां हुवें संवर दुवार ।
करम रूप जल आवतो रहें, जब बंध न हुवें लिगार ॥

: ८ :

बंध पदार्थ

दोहा

१—आठवाँ पदार्थ बंध है। इसने जीव को बाँध रखा है। जिसने बंध पदार्थ को नहीं पहचाना, वह मोहांध है[1]।

बंध पदार्थ और उसका स्वरूप (दो० १-३)

२—बंध से जीव दबा रहता है (उसके सर्व प्रदेश कर्मों से आच्छादित रहते हैं)। उसका कोई भी अंश जरा भी खुला नहीं रहता। बंध की प्रबलता के कारण जीव का जरा भी वश नहीं चलता[2]।

३—जीव तालावरूप है। तालाब में पड़े हुए—स्थित जलरूप बंध है। पुण्य-पाप को निकलते हुए जलरूप समझना चाहिए। इस प्रकार बंध को पहचान लो[3]।

४—प्रत्येक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं। सर्व प्रदेश आश्रव-द्वार हैं—(कर्म-ग्रहण करने के मार्ग हैं)। सर्व प्रदेशों से कर्मों का प्रवेश होता है[4]।

कर्म-प्रवेश के मार्ग: जीव-प्रदेश

५—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँच प्रधान आश्रव हैं। इनमें योग आश्रव के पन्द्रह भेदों को जोड़ देने से कुल बीस आस्रव होते हैं[5]।

बंध के हेतु

६—जल के आने के नाले की तरह आश्रव कर्मों के आने के नाले हैं। इन नालों को रोक देने पर संवर होता है जिस से कर्मरूपी जल का आना रुक जाता है। और नया बंध नहीं होता।

बंध से मुक्त होने का उपक्रम (दो० ६-८)

७—तलाव नों पांणी घटे तिण विधें, जीव रे घटे छें करम ।
जब कांयक जीव उजल हुवें, ते तो छें निरजरा धर्म ॥

८—कदे तलाव रीतो हुवें, सर्व पांणी तणो हुवें सोष ।
ज्यूं सर्व करमां नों सोषंत हुवें, रीता तलाव ज्यूं मोष ॥

९—बंध तो छें आठ करमां तणो, ते पुदगल नीं पर्याय ।
तिण बंध तणी ओलखणा कहूं, ते सुणजो चित ल्याय ॥

ढाल : १

(अइ २ कर्म विट ......)

१—बंध नीपजें छें आश्रव दुवार थी, तिण बंध नें कह्यों पुन पापो जी ।
ते पुन पाप तो दरब रूप छें, भावे बंध कह्यों जिण आपो जी ॥
बंध पदार्थ ओलखो* ॥

२—ज्यूं तीर्थंकर आय उपनां, ते तो दरब तीर्थंकर जांणों जी ।
भावे तीर्थंकर तो जिण समे, होसी तेरमें गुणठांणों जी ॥

३—ज्यूं पुन नें पाप लागो कह्यों, ते तो दरब छें पुन ने पापो जी ।
भावे पुन पाप तो उदे आयां हुसी, सुख दुःख सोग संतापो जी ॥

४—तिण बंध तणा दोय भेद छें, एक पुन तणो बंध जांणों जी ।
बीजो बंध छें पाप रो, दोनूं बंध री करजो पिछांणो जी ॥

---

* यह आँकड़ी प्रत्येक गाथा के अन्त में इसी प्रकार समझें ।

७—जिस तरह (सूर्य की गर्मी या उत्सिंचन से) तालाब का पानी घटता है, उसी प्रकार (तप आदि से) जीव के कर्म घटते हैं। कर्मों के घटने से जीव कुछ—एक देश उज्ज्वल—निर्मल होता है, यही निर्जरा है।

८—जिस तरह (धीरे-धीरे) सर्व जल के सूख जाने से समय पाकर तालाब रिक्त हो जाता है, ठीक उसी तरह सर्व कर्मों के क्षय हो जाने पर जीव कर्मों से मुक्त हो जाता है। इस तरह मोक्ष रिक्त तालाब के समान है[६]।

९—बंध आठ कर्मों का होता है। बंध पुद्गल की पर्याय है। मैं इस बंध तत्त्व की पहचान कराता हूँ। ध्यानपूर्वक सुनो[७]।

बंध आठ कर्मों का होता है

ढाल : १

१—बंध आश्रव-द्वार से उत्पन्न होता है। बंध को पुण्य और पापात्मक दो प्रकार का कहा गया है। ये पुण्य-पाप तो द्रव्य-बंधरूप हैं। भगवान ने भाव बंध भी कहा है।

द्रव्य बंध और भाव बंध (गा० १-३)

२-३—जिस तरह तीर्थंकर उत्पन्न होने पर द्रव्य तीर्थंकर होते हैं परन्तु भाव तीर्थंकर उस समय होते हैं जब कि वे तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। उसी तरह जो पुण्य-पाप का बंध कहा गया है, वह द्रव्य पुण्य-पाप का बंध है। भाव पुण्य-पाप बन्ध तब होता है जब कि कर्म उदय में आकर सुख-दुःख, हर्ष-शोक उत्पन्न करते हैं।

४—बंध दो प्रकार का होता है—एक पुण्य कर्मों का और दूसरा पाप कर्मों का। इन दोनों प्रकार के बंध को अच्छी तरह पहचानो।

पुण्य-बंध और पाप-बंध का फल (गा० ४-५)

५—पुन नों बंध उदे हूआं, जीव नें साता सुख हुवें सोयो जी।
पाप नों बंध उदे हूआं, विविध पणे दुःख होयो जी॥

६—बंध उदे नहीं ज्यां लग जीव नें, सुख दुःख मूल न होय जी।
बंध तो छता रूप लागो रहें, फोड़ा न पाडे कोय जी॥

७—तिण बंध तणा च्यार भेद छें, त्यानें रूडी रीत पिछांणों जी।
प्रकत बंध नें थित बंध दुसरो, अनुभाग नें परदेस बंध जाणों जी॥

८—प्रकत बंध छें करमां री जूजूइ, ते करमां रा सभाव रे न्यायो जी।
बांधी छें तिण समें बंध छें, जेसी बांधी तेसी उदे आयो जी॥

९—तिण प्रकत नें मागी छें काल सूं, इतरा काल तांइ रहसी तांमो जी।
पछेंतो प्रकत विललावसी, थित सूं प्रकत बंध छें आंमो जी॥

१०—अनुभाग बंध रस विपाक छें, जेसो २ रस देसी ताह्यो जी।
ते पिण प्रकत नों बंध रस कह्यों, बांध्या तेसां इज उदे आयो जी॥

११—परदेस बंध कह्यों प्रकत बंध तणो, प्रकत २ रा अनंत परदेसो जी।
ते लोलीभूत जीव सूं होय रह्या, प्रकत बंध ओलखाई वशेषो जी॥

१२—आठ करमां री प्रकत छें, जूजूई एकीकी रा अनंत परदेसो जी।
ते एकीकी परदेस जीव रे, लोलीभूत हुवा छें वशेषो जी॥

५—पुण्य-बंध के उदय से जीव को सात-सुख प्राप्त होते हैं और पाप-बंध के उदय होने से नाना प्रकार के दुःख होते हैं।

कर्मों की सत्ता और उदय

६—जब तक बंध उदय में नहीं आता तब तक जीव को जरा भी सुख-दुःख नहीं होता। (उदय में आने तक) बंध सतारूप ही रहता है और थोड़ी भी तकलीफ नहीं देता[८]।

बंध के चार भेद (गा० ७-१२)

७—बंध के चार भेद हैं : (१) प्रकृति बन्ध, (२) स्थिति बन्ध, (३) अनुभाग बन्ध और (४) प्रदेश बन्ध। इनको अच्छी तरह से पहचानना चाहिए।

८—प्रत्येक कर्म की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। प्रकृति बन्ध कर्मों के स्वभाव की अपेक्षा से होता है। प्रकृति के बंधने पर प्रकृति बन्ध होता है। प्रकृति जैसी बांधी जाती है वैसी ही उदय में आती है।

९—प्रत्येक प्रकृति काल से मापी गयी है। प्रत्येक प्रकृति अमुक काल तक रहती है, बाद में विलीन हो जाती है। इस प्रकार स्थिति बन्ध कर्म-प्रकृति के कालमान की अपेक्षा से होता है।

१०—अनुभाग बन्ध रस-विपाक—कर्म जिस-जिस तरह का रस देगा उसकी अपेक्षा से होता है। यह रस बन्ध भी प्रत्येक प्रकृति का ही होता है। जैसा रस जीव बांधता है वैसा ही उदय में आता है।

११-१२—प्रदेश बन्ध भी प्रकृति बन्ध का ही होता है। एक-एक प्रकृति के अनन्त-अनन्त प्रदेश होते हैं। वे जीव के प्रदेशों से लोलीभूत हो रहे हैं। प्रकृति बंध की यही विशेष पहचान है। आठों कर्मों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। एक-एक प्रकृति के अनन्त प्रदेश जीव के एक-एक प्रदेश के विशेषरूप से लोलीभूत हैं[९]।

१३—ग्यांनावरणी दरसणावरणी वेदनी, वले आठमों करम अंतरायो जी ।
यांरी थित छें सगला री सारिषी, ते सुणजो चित्त ल्यायो जी ॥

१४—थित छें यां च्यारूं करमां तणी, अंतरमुहरत परिमांणो जी ।
उतकष्टी थित यां च्यारूं करमां तणी, तीस कोडाकोड सागर जांणों जी ॥

१५—थित दरसण मोहणी करम नीं, जगन तो अंतरमुहरत परमांणों जी ।
उतकष्टी थित छें एहनी, सितर कोडाकोड सागर जांणों जी ॥

१६—जिगन थित चारित मोहणी करम नीं, अंतरमुहरत कही जगदीसो जी ।
उतकष्टी थित छें एहनीं, सागर कोडाकोड चालीसो जी ॥

१७—थित कही छें आउखा करम नीं, जिगन अंतरमुहरत होयो जी ।
उतकष्टी थित सागर तेतीस नीं, आगे थित आउखा री न कोयो जी ॥

१८—थित नांम नें गोत्र करम तणी, जगन तो आठ मुहरत सोयो जी ।
उतकष्टी एकीका करम नीं, बीस कोडाकोड सागर होयो जी ॥

१९—एक जीव रे आठ करमां तणा, पुदगल रा परदेस अनन्तो जी ।
ते अभवी जीवां थी मापीयां, अनंत गुणां कह्या भगवंतो जी ॥

२०—ते अवस उदे आसी जीव रे, भोगवीयां विण नहीं छूटायो जी ।
उदे आयां विण सुख दुःख हुवें नहीं, उदे आयां सुख दुःख थायो जी ॥

कर्मों की स्थिति (गा० १३-१८)

१३—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म और आठवें अंतराय कर्म—इन सबकी स्थिति एक समान है। चित लगा कर सुनो।

१४—इन चारों कर्मों की जघन्य स्थिति अंतर मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागर जितनी है।

१५—दर्शनमोहनीय कर्म की कम-से-कम स्थिति अंतर मुहूर्त प्रमाण और अधिक-से-अधिक स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागर जितनी है।

१६—भगवान ने चारित्रमोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अंतर मुहूर्त की बतलाई है। उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोटाकोटि सागर की होती है।

१७—आयुष्य कर्म की जघन्य स्थिति अंतर मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की होती है। इसकी इससे अधिक स्थिति नहीं होती।

१८—नाम और गौत्र—इनमें से प्रत्येक कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है और उत्कृष्ट बीस कोटाकोटि सागर जितनी[१०]।

अनुभाग बंध (गा० १९-२१)

१९—प्रत्येक जीव के आठ कर्मों के अनन्त पुद्गल-प्रदेश लगे रहते हैं। अभव्य जीवों की संख्या के माप से भगवान ने इन पुद्गलों की संख्या अनन्त गुणा बतलाई है।

२०—ये कर्म जीव के अवश्य ही उदय में आवेंगे ; भोगे बिना (बांधे हुए कर्मों से) छुटकारा नहीं हो सकता। कर्मों के उदय में आने से ही सुख-दुःख होता है। बिना उदय के सुख-दुःख नहीं होता।

२१—सुभ परिणांमां करम बांधीया, ते सुभ पणे उदे आसी जी ।
असुभ परिणांमां करम बांधीया, तिण करमां थी दुःख थासी जी ॥

२२—पांच वरणा आठोंइ करम छें, दोय गंध नें रस पांचूंई जी ।
चोफरसी आठूंइ करम छें, रूपी पुदगल करम आठोंइ जी ॥

२३—करम तो लूखा नें चोपड्या, वले ठंढा उंना होइ जी ।
करम हलका नहीं भारी नहीं, सुहालो नें खरदरा न कोइ जी ॥

२४—कोइ तलाव जल सूं पूर्ण भर्‍यो, खाली कोर न रही कायो जी ।
ज्यूं जीव भर्‍यो करमां थकी, आ तो उपमा देस थी ताह्यो जी ॥

२५—असंख्याता परदेस एक जीव रे, ते असंख्याता जेम तलावो जी ।
सारा परदेस भरीया करमां थकी, जांणें भरीया चोखूणी बावो जी ॥

२६—एक २ परदेस छें जीव नों, तिहां अनंता करम नां परदेसो जी ।
ते सारा परदेस भरीया छें बाव ज्यूं, करम पुदगल कीयों छें परवेसो जी ॥

२७—तलाव खाली हुवे छें इण विधे, पेंहला तो नाला देवे रूंधायो जी ।
पछें मोरीयादिक छोडे तलाव री, जब तलाव रीतो थायो जी ॥

२८—ज्यूं जीव रे आश्रव नालो रूंध दे, तपसा करें हरष सहीतो जी ।
जब छेहडो आवें सर्व करम नों, तब जीव हुवें करम रहीतो जी ॥

२१—जो कर्म शुभ परिणाम से बांधे गये हैं, वे शुभ रूप से उदय में आयेंगे और जो कर्म अशुभ परिणामों से बांधे गये हैं उनसे दुःख होगा[११]।

प्रदेश-बंध और तालाब का दृष्टान्त (गा० २२-२६)

२२—आठों ही कर्म पाँच वर्ण, दो गंध और पाँच रसों से युक्त होते हैं। आठों ही कर्म चोस्पर्शी होते हैं। आठों ही कर्म पौद्गलिक और रूपी हैं।

२३—कर्म रूक्ष और स्निग्ध तथा ठण्डे और गर्म होते हैं। कर्म हल्के, भारी, सुहावने या खरदरे नहीं होते।

२४—जैसे कोई तालाब जल से भरा हो, जरा भी खाली न हो उसी तरह जीव के प्रदेश कर्मों से भरे रहते हैं। यह उपमा एक देश समझनी चाहिए।

२५—प्रत्येक जीव के असंख्यात प्रदेश असंख्यात तालाबों की तरह हैं। ये सब प्रदेश कर्मों से भरे रहते हैं मानो चतुष्कोण वापियाँ जल से भरी हों।

२६—जहाँ जीव का एक प्रदेश है वहाँ कर्मों के अनन्त प्रदेश रहे हुए हैं। इसी तरह असंख्यात प्रदेशी जीव के सर्व प्रदेश कर्मों से उसी प्रकार भरे रहते हैं जिस प्रकार वापियाँ जल से। आत्मा के एक-एक प्रदेश में कर्मों का प्रवेश है[१२]।

मुक्ति की प्रक्रिया (गा० २७-२८)

२७-२८—जिस तरह जल आने के नाले को बन्ध कर जल निकलने के नाले को खोल दिया जाय तो भरा हुआ तालाब खाली हो जाता है, उसी प्रकार आस्रवरूपी नाले को रोक कर हर्षित चित्त होकर तप करने से कर्मों का अन्त आता है और जीव कर्मरहित हो जाता है।

२९—करम रहीत हुवो जीव निरमलो, तिण जीव नें कहिजे मोखो जी।
ते सिध हूवो छें सासतो, सर्व करम बंध कर दीयों मोषो जी॥

३०—जोड कीधीं छें बंध ओलखायवा, नाथदुवारा सहर मझारो जी।
संवत अठारें नें वरस छपनें, चेत विद बारस सनीसर वारो जी॥

२६—कर्म रहित जीव निर्मल होता है। ऐसे जीव को मुक्त कहा जाता है। वह जीव शाश्वत सिद्ध होता है। उसने कर्म-बन्ध का आत्यन्तिक क्षय कर दिया[13]।

मुक्त जीव

३०—यह जोड़ बंध तत्त्व को समझाने के लिए श्रीजीद्वार में सं० १८५६ की चैत्र बदी १२ वार शनिवार को रची गई है।

रचना-स्थल व काल

टिप्पणियाँ

१—बंध पदार्थ (दो० १) :

स्वामीजी ने बंध को आठवाँ पदार्थ कहा है और उसका विवेचन भी ठीक मोक्ष के पूर्व किया है। उसका आधार आगमिक कथन है[१]। दिगम्बर आचार्य भी उसका यह स्थान स्वीकार करते हैं[२] उत्तराध्ययन में नव पदार्थों के नाम निर्देश में उसका स्थान तृतीय है अर्थात् इसका उल्लेख जीव और अजीव पदार्थ के बाद ही आ जाता है[३]। सात पदार्थों का उल्लेख करते हुए वाचक उमास्वाति ने इसे चतुर्थ स्थान पर रखा है अर्थात् इसे आस्रव के बाद और संवर, निर्जरा और मोक्ष के पहले रखा है[४]। हेमचन्द्रसूरि ने सात पदार्थों में इसे छठा पदार्थ बलाता है[५]।

आगमों में अन्य पदार्थों की तरह बंध को भी सद्भाव पदार्थ, तथ्यभाव आदि कहा गया है[६]। श्रद्धा के बोलों में कहा है—"ऐसी संज्ञा मत करो कि बंध और मोक्ष नहीं हैं पर ऐसी संज्ञा करो कि बंध और मोक्ष हैं[७]।" द्विपदावतारों में बंध और मोक्ष को प्रतिद्वन्द्वी तत्त्वों में गिना गया है[८]। इस तरह यह स्पष्ट है कि बंध को जैन दर्शन में एक स्वतंत्र तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

जीव और पुद्गल क्रमशः चेतन और जड़ होने से परस्पर विरोधी स्वभाववाले पदार्थ हैं फिर भी दोनों परस्पर बद्ध हैं और इसी सम्बन्ध से यह संसार है। लोक के

१—ठाणाङ्ग ९. ६६५ (पृ० २२ पा० टि० १ में उद्धृत)

२—पञ्चास्तिकाय २.१०८ (पृ० १५० पा० टि० ५ (क) में उद्धृत)

३—उत्त० २८.१४ (पृ० २५ पर उद्धृत)

४—तत्त्वा० १.४

५—देखिए पृ० १४१ पा० टि० ३

६—(क) ठाणाङ्ग ९.६६५

(ख) उत्त० २८.१४

७—सुयगडं २.५.१५:

णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि बन्धे व मोक्खे वा, एवं सन्नं निवेसए॥

८—ठाणाङ्ग २.५९ :

जदत्थिणं लोगे तं सव्वं दुपओआरं तं जहा......बन्धे चेव मोक्खे चेव

एक भाग विशेष को—उसकी चोटी को—अलग रख दिया जाय तो ऐसा कोई भी स्थान न मिलेगा जहाँ कि स्वतन्त्र जीव—पुद्गल-मुक्त जीव प्राप्त हो सके। जीव और पुद्गल सत् पदार्थ होने से—उनका पारस्परिक बन्ध भी सत्य है और वह सत् पदार्थ है। जीव और कर्म का बंध काल्पनिक बात नहीं पर क्षण-क्षण होनेवाली घटना है। इसीलिए बंध को आठवाँ सद्भाव पदार्थ माना गया है।

जीव और कर्म के संश्लेष को बंध कहते हैं[1]। जीव अपनी वृत्तियों से कर्म-योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इन ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गल और जीव-प्रदेशों का बंधन—संयोग बंध हैं[2]।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं—"जिस चैतन्य परिणाम से कर्म बंधता है, वह भाव बंध है तथा कर्म और आत्मा के प्रदेशों का अन्योन्य प्रवेश—एक दूसरे में मिल जाना—एक क्षेत्रावगाही हो जाना द्रव्य बंध है[3]।

अभयदेवसूरि कहते हैं—"बेड़ी का बन्धन द्रव्य बन्ध है और कर्म का बन्धन भाव बन्ध[4]।"

जीव और कर्म के प्रदेश-बन्ध को समझाते हुए स्वामीजी ने तीन दृष्टान्त दिए हैं :

१—जिस तरह तेल और तिल लोलीभूत—ओतप्रोत होते हैं, उसी तरह बन्ध में जीव और कर्म लोलीभूत होते हैं।

२—जिस तरह घृत और दूध लोलीभूत होते हैं, उसी तरह बन्ध में जीव और कर्म लोलीभूत होते हैं।

१—उत्त० २८.१४ नेमिचन्द्रीय टीका :

'बन्धश्च'—जीवकर्मणोः संश्लेष :

२—ठाणाङ्ग० १.४.६ की टीका :

(क) बन्धनं बन्धः सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते यत् स बन्ध इति भाव :

(ख) ननु बन्धो जीवकर्म्मणोः संयोगोऽभिप्रेतः

३—द्रव्यसंग्रह २.३२ :

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबन्धो सो।
कम्मादपदेसाणंअण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥

४—ठाणाङ्ग १.४.६ टीका :

द्रव्यतो बन्धो निगडादिभिर्भावतः कर्म्मणा

३—जिस तरह धातु और मिट्टी लोलीभूत होते हैं, उसी तरह बन्ध में जीव और कर्म लोलीभूत होते हैं[1]।

जीव और कर्म का यह पारस्परिक बन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि है[2]। न जीव पहले उत्पन्न हुआ, न कर्म पहले उत्पन्न हुआ, न दोनों साथ उत्पन्न हुए, न दोनों अनादि काल से उत्पन्न हैं पर दोनों आदि रहित हैं और दोनों का सम्बन्ध आदि रहित है[3]।

बन्ध पदार्थ बेड़ी की तरह है। इसने जीव को जकड़ रखा है। जो मनुष्य अपने बन्धन को बन्धन नहीं समझता, वह मोहान्ध है। जो बन्धन को बन्धन नहीं समझता वह बन्धन को तोड़ कर मुक्त नहीं हो सकता। भगवान ने कहा है—"बन्धन को जानो और तोड़ो[4]।"

२—बन्ध और जीव की परवशता (दो० २) :

आचार्य पूज्यपाद ने बन्ध की परिभाषा देते हुए लिखा है—"**आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः**[5]।" जीव और कर्म के इस ओत-प्रोत संश्लेष को दूध और जल के उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। जिस तरह मिले हुए दूध और पानी में यह नहीं बतलाया जा सकता कि कहाँ पानी है और कहाँ दूध है—परन्तु सर्वत्र एक ही पदार्थ नजर आता है ठीक वैसे ही जीव और कर्मों के सम्बन्ध में भी यह नहीं बतलाया जा सकता कि किस अंश में जीव है और किस अंश में कर्म-पुद्गल। परन्तु सभी प्रदेशों में जीव और कर्म का अन्योन्य सम्बन्ध रहता है। जीव के सर्व प्रदेश कर्मों से प्रभावित रहते हैं। उसका थोड़ा भी अंश कर्मों से उन्मुक्त नहीं रहता। कर्म रहित जीव में—मुक्त जीव में अनेक स्वाभाविक शक्तियाँ होती हैं। परन्तु संसारी जीव अनन्त काल से कर्म संयुक्त होने से उन शक्तियों को प्रकट नहीं कर सकता। जीव के साथ कर्मों के बन्ध से उसके सब स्वाभाविक गुण दबे हुए रहते हैं। इससे वह परवश—पराधीन

१—तेराद्वार : दृष्टान्तद्वार

२—ठाणाङ्ग १.४.६ टीका :

आदि रहितो जीवकर्मयोग इति पक्षः

३—ठाणाङ्ग १.४.६ टीका

४—सुयगडं १,१.१.१ :

बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टिजा बन्धनं परिजाणिया।

५—तत्वा० १.४ सर्वार्थसिद्धि

हो जाता है। न वह पूरा देख सकता है और न पूरा जान सकता है। वह पूर्ण चारित्रवान भी नहीं हो सकता। उसे नाना प्रकार के सुख-दुःख वेदन करने पड़ते हैं। एक नियत आयु तक शरीर विशेष में रहना पड़ता है। उसे अनेक रूप करने पड़ते हैं—नाना गतियों में भटकना पड़ता है। नीच या उच्च गोत्र में जन्म लेना पड़ता है। वह अपनी अनन्त वीर्य शक्ति को स्फुरित नहीं कर सकता। इस तरह कर्म के बंधन से जकड़ा हुआ जीव नाना प्रकार से पराधीन हो जाता है—वह अपनी शक्तियों को प्रकट करने का बल खो-सा चुका होता है। इस प्रकार कर्म की पराधीनता से जीव निःसत्त्व हो जाता है। उसका कोई वश नहीं चलता।

श्री हेमचन्द्रसूरि लिखते हैं—"जीव कषाय से कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यह बन्ध है। वह जीव की अस्वतंत्रता का कारण है[1]।"

३—बंध और तालाब का दृष्टान्त (दो० ३) :

जिस तरह तालाब गृहीत जल से परिपूर्ण रहता है, इसी तरह संसारी जीव के आत्म-प्रदेश-गृहीत कर्मरूप परिणाम पाए हुए पुद्गल-स्कंधों से परिपूर्ण रहते हैं। जिस तरह संचित जल तालाब में स्थित रहता है, उसी प्रकार गृहीत कर्म आत्म-प्रदेशों में स्थित रहते हैं। यही बंध है। जिस तरह तालाब में स्थित जल निकलता रहता है, वैसे ही संचित कर्म भी सुख या दुःखरूप फल देकर आत्म-प्रदेशों से निकलते रहते हैं, इस तरह पुण्य-पाप निकलते हुए जल के तुल्य हैं और बन्ध तालाब में स्थित जल तुल्य। कर्मों का सत्तारूप अवस्थान बंध है और उनकी उदयरूप परिणति पुण्य-पाप। संचित कर्म फल नहीं देते केवल सत्तारूप में रहते हैं, यह बंध है। संचित कर्म उदय में आ सुख या दुःख देते हैं, तब वे पुण्य या पाप संज्ञा से प्रज्ञापित होते हैं।

४—जीव-प्रदेश और कर्म-प्रदेश (दो० ४) :

इस विषय में पूर्व में विशेष प्रकाश डाला जा चुका है[2]।

जीव असंख्यात प्रदेशी द्रव्य है[3]। वह प्रत्येक प्रदेश से कर्म-स्कंध ग्रहण करता है। कर्म-ग्रहण आत्मा के खास प्रदेशों द्वारा ही नहीं होता परन्तु ऊपर, नीची, तिरछी सब दिशाओं के आत्म-प्रदेशों द्वारा होता है।

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १३३ :

सकषायतया जीवः कर्मयोग्यांस्तु पुद्गलान् ।
यदादत्ते स बन्धः स्याज्जीवास्वातन्त्र्यकारणम् ॥

२—देखिए पृ० २८५ अनुच्छेद ५ तथा पृ० ४१७

३—देखिए पृ० २८ अनुच्छेद ४; पृ० २६ टि० ७ का अन्तिम अनुच्छेद और पृ० ४१-४२

५—बंध-हेतु (दो० ५) :

आगमों में बन्ध-हेतु दो कहे गए हैं—(१) राग और (२) द्वेष[1]। —"**रागो य दोसो वि य कम्मबीयं**[2]"—राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। जो भी पाप कर्म हैं, वे राग और द्वेष से अर्जित होते हैं—"**जहा उ पावगं कम्मं, रागदोस समज्जियं**[3]।" इन आगम वाक्यों में भी दो ही बन्ध-हेतुओं का उल्लेख है।

टीकाकार ने राग-से माया और लोभ—इन दो को ग्रहण किया है और द्वेष से क्रोध और मान को[4]। आगम में अन्यत्र कहा है कि जीव चार स्थानों से आठों कर्म-प्रकृतियों का चयन करता है। भूत में किया है और भविष्यत् में करेगा। ये चार स्थान क्रोध, मान माया और लोभ हैं[5]।

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन्! जीव कर्म-प्रकृतियों का बंध कैसे करते हैं?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम! जीव दो स्थानों से कर्मों का बंध करते हैं—एक राग और दूसरे द्वेष से। राग दो प्रकार का है—माया और लोभ। द्वेष भी दो प्रकार का है—क्रोध और मान[6]।"

क्रोध, मान, माया और लोभ का संग्राहक शब्द कषाय है। इस तरह उपर्युक्त विवेचन से एक कषाय ही बन्ध-हेतु होता है।

१—(क) ठाणाङ्ग २.४.९६

(ख) समवायाङ्ग सम० २

२—उत्त० ३२.७

३—उत्त० ३०.१

४—ठाणाङ्ग २.४.९६ की टीका :

रागो मायालोभकषायलक्षणः द्वेषस्तु क्रोधमानकषायलक्षणः यदाह—

मायालोभकषायश्चेत्येतद् रागसंज्ञितं द्वन्द्वम्।
क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्टः॥

५—ठाणाङ्ग २५० :

जीवा णं चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु, तं० कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं

६—प्रज्ञापना २३.१.३

दूसरा कथन है—"योग प्रकृतिबंध और प्रदेशबन्ध का हेतु है और कषाय स्थिति बंध और अनुभागबन्ध का हेतु[1]।" इससे योग और कषाय—ये दो बन्ध-हेतु ठहरते हैं।

तीसरा कथन है—"मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये बन्ध-हेतु हैं[2]।" "इन चार बन्ध-हेतुओं के ५७ भेद होते हैं[3]।"

उपर्युक्त बन्ध-हेतुओं में प्रमाद का उल्लेख नहीं है। आगम में उसे भी बंध-हेतु कहा है (भग० १.२)। श्री उमास्वाति ने प्रमाद को भी बन्ध-हेतु माना है—

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः[4]।"

इस तरह बन्ध-हेतुओं की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है। कोई एक ही बन्ध-हेतु मानते हैं, कोई दो, कोई चार और कोई पाँच।

जहाँ एक कषाय को ही बन्धहेतु कहा है, वहाँ उस कथन को बन्ध-हेतुओं में कषाय की प्रधानता का सूचक समझना चाहिए। अथवा बन्ध-हेतुओं का एकदेश कथनमात्र समझना चाहिए।

इन भिन्न-भिन्न परम्पराओं का समन्वय इस प्रकार किया गया है—"प्रमाद एक प्रकार का असंयम ही है और इसलिए यह अविरति या कषाय में आ जाता है; इसी दृष्टि से 'कर्मप्रकृति' आदि ग्रन्थों में केवल चार बन्धहेतु ही बताए गए हैं। बारीकी से देखने से मिथ्यात्व और असंयम—ये दोनों कषाय के स्वरूप से भिन्न नहीं पड़ते; इसलिए कषाय और योग—ये दो ही बन्ध-हेतु गिने गए हैं[5]।"

मिथ्यात्वादि पाँच हेतुओं का परस्पर पार्थक्य पहले बताया जा चुका है। ऐसी हालत में यह समन्वय बहुत दूर तक नहीं जाता।

१—ठाणाङ्ग २.४.९६ टीका :

जोगा पयडिपदेसं ठितिअणुभागं कषायओ कुणइ

२—ठाणाङ्ग २.४.९६ टीका :

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बन्धहेतवः

३—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवगुप्तसूरिप्रणीत नवतत्त्वप्रकरण गा० १२ का भाष्य गा० १०० :

मिच्छत्तमविरई तह, कषायजोगा य बंधहेउत्ति।
एवं चउरो मूले, भेएण उ सत्तवण्णत्ति॥

४—तत्त्वा० ८.१

५—तत्त्वार्थसूत्र (गुजराती तृ० आ०) पृ० ३२२-३२३

स्वामीजी ने प्रस्तुत ढाल में बन्ध-हेतु अथवा उनकी संख्या का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने कहा है--"बंध की उत्पत्ति आस्रवों से है। आस्रवों के निरोध से संवर होता है। फिर कर्मों का बन्ध नहीं होता।" इस तरह स्वामीजी ने प्रकारान्तर से बीस आस्रवों को ही बन्ध हेतु माना है।

पाँच प्रधान आस्रव और योगास्रव के १५ भेदों का विवेचन पहले किया जा चुका है[1]।

भिन्न-भिन्न कर्मों के बन्ध-हेतुओं का उल्लेख भी प्रसंग वश पहले भिन्न-भिन्न स्थलों पर आ चुका है। इन सब का समावेश पाँच बन्ध-हेतुओं में हो जाता है।

नीचे भगवती सूत्र (७.१० तथा ८.९) पर आधारित भिन्न-भिन्न कर्मों के बन्ध-हेतुओं की एकत्रित संक्षिप्त तालिका उपस्थित की जाती है :

कर्म	बंध-हेतु
१—ज्ञानावरणीय—	(१) ज्ञानप्रत्यनीकता (२) ज्ञान-निह्नव (३) ज्ञानान्तराय (४) ज्ञान-प्रद्वेष (५) ज्ञानाशातना (६) ज्ञानविसंवादन-योग
२—दर्शनावरणीय—	(१) दर्शनप्रत्यनीकता (२) दर्शननिह्नव (३) दर्शनान्तराय (४) दर्शनप्रद्वेष (५) दर्शनाशातना (६) दर्शनविसंवादन-योग
३—वेदनीय—	
सातवेदनीय—	(१) अदुःख (२) अशोक (३) अझूरण (४) अटिप्पण (५) अपिट्टण (६) अपरितापन
असातवेदनीय—	(१) पर दुःख (२) पर शोक (३) पर झूरण (४) पर टिप्पण (५) पर पिट्टण (६) पर परितापन
४—मोहनीय—	(१) तीव्र क्रोध (२) तीव्र मान (३) तीव्र माया (४) तीव्र लोभ (५) तीव्र दर्शन मोहनीय (६) तीव्र चारित्र मोहनीय
५—आयुष्य	
नारकीय—	(१) महा आरम्भ (२) महा परिग्रह (३) मांसाहार (४) पंचेन्द्रियवध
तिर्यञ्च—	(१) माया (२) वञ्चना (३) असत्य वचन (४) कूट तौल, कूट माप
मनुष्य—	(१) प्रकृतिभद्रता (२) प्रकृतिविनीतता (३) सानुक्रोशता (४) अमत्सरता

१—देखिए पृ० ३७३ और आगे

६—नाम—

शुभ— (१) काय-ऋजुता (२) भाव-ऋजुता (३) भाषा-ऋजुता (४) अविसंवादनयोग

अशुभ— (१) काय-अऋजुता (२) भाव-अऋजुता (३) भाषा-अजुऋता (४) विसंवादनयोग

७—गोत्र—

उच्च— (१) जाति-अमद (२) कुल-अमद (३) बल-अमद (४) रूप-अमद (५) तप-अमद (६) श्रुत-अमद (७) लाभ-अमद (८) ऐश्वर्य-अमद

नीच— (१) जाति-मद (२) कुल-मद (३) बल मद (४) रूप-मद(५) तप-मद (६) श्रुत-मद (७) लाभ-मद (८) ऐश्वर्य-मद

८—अन्तराय— (१) ज्ञानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय (५) वीर्यान्तराय

मिथ्यादर्शनादि जो पाँच बन्ध-हेतु हैं उनमें से पूर्व हेतु विद्यमान होने पर उत्तर हेतु विद्यमान रहता है ; किन्तु उत्तर हेतु हो तो पूर्व हेतु हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है—इसकी भजना समझनी चाहिए[1] । प्रत्येक गुणस्थान में पाँचों बन्ध-हेतु नहीं होते । केवल प्रथम गुणस्थान में ही पाँचों समुदायरूप से रहते हैं । दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में अविरति, प्रमाद, कषाय और योग होते हैं । पाँचवें में देश अविरति, प्रमाद, कषाय और योग होते हैं । छठे गुणस्थान में प्रमाद, कषाय और योग—ये तीन होते हैं । सातवें, आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय और योग—ये दो ही होते हैं । ग्यारहवें में सत्तारूप से कषाय है पर उदय में नहीं है अर्थात् वहाँ पर भी कषाय प्रत्ययिक बन्ध नहीं है । बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में केवल योग होता है । चौदहवें गुणस्थान में एक भी बन्ध-हेतु नहीं होता । यह अपुनर्बन्धक होता है[2] ।

इन सम्बन्ध में श्री जयाचार्य के विचार प्रसंग-वश पहले बताये जा चुके हैं (पृ० ३८० ; पृ०५२७-५३१) । पाठक उन स्थलों को अवश्य देख लें ।

१—आर्हतदर्शन दीपिका—चतुर्थ उल्लास, बन्ध अधिकार पृ० ६७५

२—वही : पृ० ६७६

६—आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष (दो० ६-८) :

इन दोहों में स्वामीजी ने संक्षेप में, पर बड़े ही सुन्दर ढंग से आस्रव, संवर आदि का स्वरूप और परस्पर सम्बन्ध बतला दिया है।

बन्ध का स्वरूप समझाने के लिए स्वामीजी ने जो तालाब का दृष्टान्त दिया था (दो० ३), उसी को विस्तारित करते हुए वे कहते हैं :

जिस तरह तालाब में नालों द्वारा जल का संचार होता है, उसी तरह जीव के प्रदेशों में आस्रव द्वारा कर्मों का प्रवेश होता है। आस्रव, जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल आने के नाले हैं। नालों को रोक देने से जिस तरह तालाब में नए जल का संचार होना रुक जाता है, उसी तरह मिथ्यात्वादि आस्रवों के निरोध से संवर होता है—अर्थात् नए कर्मों का आगमन रुक जाता है। जिस तरह नए जल के स्राव को रोक देने से तालाब ऊपर नहीं उठता, उसी प्रकार आत्मप्रदेशों में नए कर्मों के प्रवेश को रोक देने से फिर बंध नहीं होता।

जल के नए संचार के अभाव में जिस तरह पूर्व एकत्रित हुआ जल सूरज की गर्मी तथा व्यवहार आदि से क्रमशः घटता जाता है और नीचे तालाब का पेंदा दिखलाई देने लगता है, ठीक उसी तरह संवरयुक्त आत्मा के प्रदेशों में से कर्म कुछ तो फल दे दे कर और कुछ तपस्या आदि क्रियाओं से क्षय को प्राप्त होते हैं। इस तरह कर्मों के कमी पड़ जाने से आत्मा में निर्मलता आ जाती है। आत्मा के प्रदेशों का इस प्रकार अंशरूप उज्ज्वल होना निर्जरा है।

जिस तरह कम होते-होते तालाब का जल सम्पूर्ण सूख जाता है और नीचे से सूखी जमीन निकल आती है, उसी तरह तपस्यादि से जीव के प्रदेशों से कर्मों का परिशाटन होते-होते अन्त में आत्यन्तिक क्षय हो जाता है और आत्मा अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ प्रकट हो जाता है। आत्मा का सम्पूर्ण निर्मल हो जाना—उसके प्रदेशों में कर्म रूपी पुद्गलों का लेश भी न रहना, यही जीव का मोक्ष है। इस तरह मुक्त आत्मा रिक्त तालाब के तुल्य होती है।

आस्रव से कर्म आत्म-प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं। बंध से कर्म आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट होते हैं। संवर से नवीन कर्मों का प्रवेश रुकता है अतः नया बंध नहीं हो पाता। आत्मा और कर्मपुद्गलों का पुनः वियोग होता है। जो आंशिक वियोग है, वह निर्जरा है और सम्पूर्ण वियोग है, वह मोक्ष।

बन्ध आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। आस्रव के द्वारा पौद्गलिक कर्म आत्म-प्रदेशों में आते हैं। निर्जरा के द्वारा वे आत्म-प्रदेशों से बाहर निकलते हैं। कर्म-परमाणुओं के आत्म-प्रदेशों में आने और फिर से चले जाने के बीच की दशाको संक्षेप में बंध कहा जाता है[1]।

७—बंध पुद्गल की पर्याय है (दो० ६) :

जड़ द्रव्य पुद्गल की वर्गणाएँ अनेक होती हैं उनमें से एक वर्गणा ऐसी है जो कर्मरूप परिणमित हो सकती है। जीव अपने आस-पास के क्षेत्र में से इस कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणा के स्कंधों को ग्रहण करता है और उन्हें काषायिक विकार से कर्मरूप में परिणमन करता है। कर्म-भाव से परिणाम पाए हुए पुद्गलों का जो आत्म-प्रदेशों के साथ सम्बन्ध है, उसी का नाम बंध है। इस तरह यह साफ प्रकट है कि बंध पुद्गल की पर्याय है।

आत्मा के साथ जिन कर्मों का बंध होता है, वे अनन्त प्रदेशी होते हैं। उनमें चतुःस्पर्शित्व होता है। वे आत्मा की सत्-असत् प्रवृत्ति द्वारा गृहीत होते हैं।

बन्ध की अपेक्षा जीव और पुद्गल फूल और गन्ध, तिल और तेल की तरह अभिन्न हैं—एकमेक हैं। लक्षण की अपेक्षा भिन्न हैं—कोई अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन, जीव अमूर्त्त है और पुद्गल मूर्त्त। मूर्त्त कर्म का आत्मा में अवस्थान बंध है। कर्म-पुद्गलों की आत्मप्रदेशों में अवस्थान रूप परिणति ही बन्ध है अतः बन्ध पुद्गल-पर्याय है।

८—द्रव्य-बंध भाव-बंध (गा० १-६) :

पहले कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों में आगमन होता है और फिर बंध। कर्म-पुद्गलों का आगमन आस्रव बिना नहीं होता अतः बंध पदार्थ की उत्पत्ति का मूलाधार आस्रव पदार्थ है। मिथ्यात्वादि हेतुओं के अभाव में कर्म-पुद्गलों का प्रवेश नहीं होता और उनके अभाव में बंध नहीं हो सकता। इसलिए मिथ्यात्व आदि हेतु या आस्रव ही बंधोत्पत्ति के कारण हैं।

कर्म आत्म-प्रदेशों के साथ सम्बन्धित होकर उसी समय फल दें, ऐसा कोई नियम नहीं है। बंधने के समय से फल देने की अवस्था में आने तक कर्म सत्तारूप में अवस्थित रहते हैं। यह अबाधा काल है। इस अवस्था में बंध द्रव्य-बंध कहलाता है। अबाधा-काल के बाद फल देने की अवस्था में आकर कर्म सुख-दुख या हर्ष-शोक उत्पन्न करते

१—जैन धर्म और दर्शन पृ० २८६

हैं। कर्मों का फल देने के लिए उदय में आना भाव-बंध है। उदाहरणस्वरूप जन्म-ग्रहण करने पर भावी तीर्थंकर द्रव्य-तीर्थंकर होता है। बाद में जब वह तेरहवें गुण-स्थान को प्राप्त कर वास्तव में तीर्थंकर होता है, तभी वह भाव-तीर्थंकर कहलाता है। उसी तरह से बंधे हुए कर्मों का सत्तारूप में रहना द्रव्य-बंध है और उन्हीं कर्मों का उदय में आकर फल देने की शक्ति का प्रदर्शन करना भाव-बंध है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—शुभ या अशुभ। शुभ कर्म पुण्य कहलाते हैं और अशुभ कर्म पाप। जीव के प्रदेशों के साथ शुभ या अशुभ कर्मों के संश्लेष की अपेक्षा से बंध भी शुभ और अशुभ दो तरह का होता है। शुभ बंध को पुण्य-बंध और अशुभ बंध को पाप-बंध कहते हैं।

बंधे हुए प्रत्येक कर्म में फल देने की शक्ति होती है परन्तु जिस तरह आम में रस देने की शक्ति होने तथा बीज में सत्तारूप से वृक्ष रहने पर भी विना पके हुए आम से रस नहीं निकलता तथा अवसर आए विना वृक्ष प्रगट नहीं होता, ठीक उसी प्रकार कर्मों में फल देने की शक्ति रहने पर भी वे विपाक अवस्था में आए विना फल नहीं दे पाते। सत्तारूप पुण्य-बंध जब विपाक-काल को प्राप्त हो उदयावस्था में आता है तब जीव को नाना भाँति के सुखों की प्राप्ति होती है और इसी तरह जब सत्तारूप पाप-बंध का उदय होता है तो अनेक प्रकार के दुखों की प्राप्ति होती है।

६—बंध के चार भेद (गा० ७-१२) :

जीव आश्रवों द्वारा कर्म-प्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें कर्मरूप परिणमन करता हैं। कर्म आठ हैं—(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६)नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय। जो ज्ञान को न होने दे, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। जिस तरह आँखों पर पट्टी बांध लेने से वस्तुएँ दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म तत्वज्ञान नहीं होने देता। जो दर्शन को रोकता है, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। जिस तरह द्वारपाल राजा का दर्शन नहीं होने देता, उसी तरह यह कर्म सामान्य बोध नहीं होने देता। मोहनीय का स्वभाव मदिरा के समान है। जिस तरह मदिरा जीव को बेभान कर देती है, उसी तरह उससे आत्मा-मोह-विह्वल हो जाती है, वह मोहनीय कर्म है। जिससे सुख-दुःख का अनुभव हो, वह वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म का स्वभाव शहद लपेटी हुई तीक्ष्ण छुरी के समान है। जैसे ऐसी छुरी चाटने से मीठी

लगती है, परन्तु जीभ का छेदन करती है, उसी प्रकार वेदनीय कर्म सुख-दुख अनुभव कराता है। जिससे भवधारण हो, उसे आयुकर्म कहते हैं। आयु का स्वभाव खोडे(बेड़ी) के समान है। जिस तरह खोड़े में रहते हुए प्राणी का उसमें से निकलना संभव नहीं, उसी तरह आयु कर्म की समाप्ति के बिना जीवन का अन्त नहीं आता। जिससे विशिष्ट गति, जाति, आदि प्राप्त होते हैं, उसे नाम कर्म कहते हैं। इसका स्वभाव चित्रकार के समान है। चित्रकार नाना आकार बनाता है, उसी प्रकार यह कर्म नाना मनुष्य, तिर्यचादि के आकार बनाता है। जिससे उच्चता या नीचता प्राप्त होती है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं। गोत्र कर्म का स्वभाव कुंभकार के समान है। जिस प्रकार कुंभकार छोटे-बड़े नाना प्रकार के बर्तन बनाता है, उसी प्रकार यह कर्म उच्च-नीच गोत्र प्राप्त कराता है। जो दान, लाभ आदि में अन्तराय डालता है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। उसका स्वभाव राजभण्डारी के समान है। जिस तरह राजा की इच्छा होने पर भी राजभण्डारी दान नहीं देने देता, उसी तरह अन्तराय कर्म दानादि नहीं देने देता[1]।

इस प्रकार कर्मों के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। कर्मों का अपने-अपने स्वभाव सहित जीव से सम्बन्धितहोना प्रकृति बंध है।

प्रत्येक प्रकृति का कर्म अमुक समय तक आत्म-प्रदेशों के साथ लगा रहता है। इस काल-मर्यादा को स्थिति-बंध कहते हैं। आत्मा के द्वारा ग्रहण की हुई उपर्युक्त कर्मपुद्गलों की राशि कितने काल तक आत्म-प्रदेशों में रहेगी, उसकी मर्यादा स्थिति बंध है।

जीव के व्यापार द्वारा ग्रहण की हुई शुभाशुभ कर्मों की प्रकृतियों का तीव्र मंद इत्यादि प्रकार का अनुभव अनुभाग बंध कहलाता है। कर्म के शुभाशुभ फल की तीव्रता या मंदता को रस कहते हैं। उदय में आने पर कर्म का अनुभव तीव्र या मंद कैसा होगा, यह प्रकृति आदि की तरह ही कर्म-बन्ध के समय ही नियत हो जाता है। इसी का नाम अनुभाग बन्ध है।

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : अव० वृत्त्यादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरणम् ७४ :

पडपडिहारासि मज्जहडचित्तकुलाल भंडगारिणं।
जह एएसिं भावा कम्माणि वि जाण तह भाव॥

आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं। इन असंख्य प्रदेशों में से एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-वर्गणाओं का संग्रह होना प्रदेश-बंध कहलाता है। जीव के प्रदेश और पुद्गल के प्रदेशों का एक क्षेत्रावगाही होकर स्थित होना प्रदेश बंध है।

प्रकतिः समुदायः स्यात्, स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशो दलसंचयः॥

बंध के स्वरूप को सम्यक् रूप से समझाने के लिए मोदक का दृष्टान्त दिया जाता है:

(१) द्रव्य विशेष से बना हुआ मोदक कोई कफ को दूर करता है, कोई वायु को और कोई पित्त को। इस तरह मोदकों की भिन्न-भिन्न प्रकृति होती है। इसी प्रकार किसी कर्म का स्वभाव ज्ञान रोकने का, किसी कर्म का स्वभाव दर्शन रोकने का, किसी का चारित्र रोकने का होता है। इस तरह कर्म के स्वभाव की अपेक्षा से प्रकृति बंध होता है।

(२) कोई मोदक एक पक्ष तक, कोई एक महीने तक, कोई दो, कोई तीन, कोई चार महीने तक एक रूप में रहता है। उसके बाद वह नष्ट हो जाता है। इस तरह प्रत्येक मोदक की एक रूप में रहने की अपनी-अपनी काल-मर्यादा—स्थिति होती है। इसी तरह कोई कर्म उत्कृष्ट रूप से बीस कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिवाला होता है, कोई तीस कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिवाला और कोई सत्तर कोटाकोटि सागर प्रमाण स्थितिवाला। बंधे हुये कर्म जितने काल तक स्थित रहते हैं, उसे स्थिति बंध कहते हैं।

(३) कोई मोदक मधुर होता है, कोई कटुक और कोई तीव्र होता है। इसी तरह कोई एक अणु, कोई दो अणु, कोई तीन अणु, कोई चार अणु मधुर आदि होता है। मोदक के रस भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी तरह कर्मों में किसी का मधुर रस, किसीका कटुक रस, किसी का तीव्र रस और किसी का मंद रस होता है। इसको रसबंध रस कहते हैं।

(४) कोई मोदक अल्पदल—परिमाण निष्पन्न, कोई बहुदल निष्पन्न, कोई बहुतर दल निष्पन्न होता है। मोदकों की रचना—पुद्गल परिमाण भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी तरह बन्धे हुए कर्मों का जो पुद्गल-परिमाण होता है, उसको प्रदेशबंध कहते हैं[1]।

इस सम्बन्ध में पं सुखलालजी ने तत्त्वार्थ सूत्र के गुजराती विवेचन में बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। उसका अनुवाद यहाँ दिया जाता है—

"पुद्गल की वर्गणाएँ—प्रकार अनेक हैं। उनमें से जो वर्गणा कर्मरूप परिणाम पाने की योग्यता रखती है, उसी को जीव ग्रहण कर अपने प्रदेशों के साथ विशिष्ट प्रकार से

१—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : अव० वृत्यादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरण गा० ७१ की वृत्ति

जोड़ देता है। ···जिस तरह दीपक वाट द्वारा तेल को ग्रहण कर अपनी उष्णता से उसे ज्वाला रूपसे परिणामता है, उसी प्रकार जीव काषायिक विकार से योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उसे कर्मभावरूप से परिणामता है। ···कर्मपुद्गल जीव द्वारा गृहीत होकर कर्मरूप परिणाम पाते हैं, इसका अर्थ यह है कि उसी समय उसमें चार अंशों का निर्माण होता है; ये ही अंश बंध के प्रकार हैं। जिस तरह बकरी, गाय, भैंस आदि द्वारा खाया गया घास आदि दूध रूप में परिणमित होता है, उस समय उसमें मधुरता का स्वभाव बंधता है; उस स्वभाव के अमुक वक्त तक उसी रूप में टिके रहने की काल-मर्यादा निर्मित होती है; इस मधुरता में तीव्रता, मंदता आदि विशेषताएँ आती हैं; और इस दूध का पौद्गलिक परिणाम भी साथ ही में निर्मित होता है। उसी तरह जीव द्वारा गृहीत होने पर उसके प्रदेशों में संश्लेष पाए हुए कर्म पुद्गलों में भी चार अंशों का निर्माण होता है : प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश।

१-कर्म पुद्गलों में जो ज्ञान को आवृत करने का, दर्शन को अटकाने का, सुख-दुःख अनुभव कराने वगैरह का जो भाव बंधता है, वह स्वभाव-निर्माण ही प्रकृतिबंध है।

२-स्वभाव बंधने के साथ ही उस स्वभाव से अमुक वक्त तक च्युत न होने की मर्यादा पुद्गलों में निर्मित होती है, इस काल-मर्यादा का निर्माण ही स्थितिबंध है।

३-स्वभाव के निर्माण होने के साथ ही उसमें तीव्रता, मंदता आदि रूप फलानुभव करानेवाली विशेषताएँ बंधती हैं। ऐसी विशेषताएँ ही अनुभावबंध है।

४-गृहीत होकर भिन्न-भिन्न स्वभाव में परिणाम पाती हुई पुद्गल-राशि स्वभाव के अनुसार अमुक-अमुक परिणाम में बंट जाती है, यह परिमाण-विभाग ही प्रदेशबंध है[1]।"

१०—कर्मों की प्रकृतियाँ और उनकी स्थिति (गा० १२-१८) :

कर्म की प्रकृतियों का वर्णन स्वामीजी पुण्य (ढा० १) और पाप की ढाल में कर चुके हैं अतः उनका पुनः विवेचन यहाँ नहीं किया है।

पाठकों की सुविधा के लिए हम कर्मों की मूल-प्रकृतियों और उनकी उत्तर-प्रकृतियों की एकत्र तालिका नीचे दे रहे हैं[2] :

१—तत्त्वार्थसूत्र (गुज० तृ० आ०) पृ० ३२६-३२

२—उत्त० ३३ ; प्रज्ञापना पद ; भगवती ८.१० ; ठाणाङ्ग १०५, ४६४, ४८८, ५९६, ६६८; समवायाङ्ग सम० ४२

मूल कर्म-प्रकृतियाँ	उत्तर प्रकृतियाँ
१—ज्ञानावरणीय	(१) आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मनःपर्यायज्ञानावरणीय, (५) केवल ज्ञानावरणीय ।
२—दर्शनावरणीय	(१) चक्षुदर्शनावरणीय, (२) अचक्षुदर्शनावरणीय, (३) अवधिदर्शनावरणीय, (४) केवलदर्शनावरणीय, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचलाप्रचला, (९) स्त्यानर्धि ।
३—वेदनीय	(१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय ।
४—मोहनीय	(१) दर्शन मोहनीय, (२) चारित्र मोहनीय ।
५—आयुष्य	(१) नरकायु, (२) तिर्यञ्चायु, (३) मनुष्यायु, (४) देवायु ।
६—गति	(१) गति नाम, (२) जाति नाम, (३) शरीर नाम, (४) शरीर-अङ्गोपाङ्गनाम, (५) शरीर-बंधन नाम, (६) शरीर-संघात नाम, (७) संहनन नाम, (८) संस्थान नाम, (९) वर्ण नाम, (१०) गन्ध नाम, (११) रस नाम, (१२) स्पर्श नाम, (१३) अगुरुलघु नाम, (१४) उपघात नाम, (१५) पराघात नाम, (१६) आनुपूर्वी नाम, (१७) उच्छ्वास नाम, (१८) आतप नाम, (१९) उद्योत नाम, (२०) विहायोगति नाम, (२१) त्रस नाम, (२२) स्थावर नाम, (२३) सूक्ष्म नाम, (२४) बादर नाम, (२५) पर्याप्त नाम, (२६) अपर्याप्त नाम, (२७) साधारण-शरीर नाम, (२८) प्रत्येक-शरीर नाम, (२९) स्थिर नाम, (३०) अस्थिर नाम, (३१) शुभ नाम, (३२) अशुभ नाम, (३३) सुभग नाम, (३४) दुर्भग नाम, (३५) सुस्वर नाम, (३६) दुःस्वर नाम, (३७) आदेय नाम, (३८) अनादेय नाम, (३९) यशकीर्त्ति नाम, (४०) अयशकीर्त्ति नाम, (४१) निर्माण नाम, (४२) तीर्थंकर नाम ।
७—गोत्र	(१) उच्चगोत्र, (२) नीच गोत्र ।

८—अन्तराय	(१) दान-अन्तराय, (२) लाभ-अन्तराय, (३) भोग-अन्तराय, (४) उपभोग-अन्तराय, (५) वीर्य-अन्तराय[1] ।

स्वामीजी ने भिन्न-भिन्न कर्मों की स्थितियाँ इस प्रकार बतलायी हैं :

कर्म	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१—ज्ञानावरणीय	अन्तर मुहूर्त	३० कोटाकोटि सागर
२—दर्शनावरणीय	"	"
३—वेदनीय	"	"
४—मोहनीय	"	"
दर्शन मोहनीय	"	७० "
चारित्र ,,	"	४० "
५—आयुष्य	"	३३ "
६—नाम	८ मुहूर्त	२० "
७—गोत्र	"	२० "
८—अन्तराय	अन्तर "	३० "

इस स्थिति-वर्णन का आधार उत्तराध्ययन सूत्र है[2] । प्रज्ञापना सूत्र में आठ कर्म ही नहीं उनकी उत्तर प्रकृतियों का भी स्थिति-वर्णन मिलता है[3] ।

स्वामीजी ने वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बतलाई है। यह प्रज्ञापना और उत्तराध्ययन सूत्र के आधार पर है। भगवती में इस कर्म की स्थिति दो समय

१—मूल प्रकृतियाँ, उत्तर प्रकृतियाँ और उनके उपभेदों की व्याख्या अर्थ के लिए देखिए पृ० ३०३-४४ ; १५५-५६ ; १५६-६८ ।

२—उत्त० ३३.१६-२२

३—प्रज्ञापना २३.२.२१-२६ । कोष्ठक रूप में इसका संकलन 'जैन धर्म और दर्शन' नामक पुस्तक में प्राप्त है। देखिए पृ० २८३-५८७ ।

की कही गई है[1]। कई ग्रन्थों में इस कर्म की जघन्य स्थिति बारह अन्तर्मुहूर्त की कही गई है[2]।

भगवती सूत्र में आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि त्रिभाग उपरान्त ३३ सागरोपम वर्ष की कही गयी है[3]।

बन्ध-काल से लेकर फल देकर दूर हो जाने तक के समय को कर्मों की स्थिति कहते हैं। कम-से-कम स्थिति जघन्य और अधिक-से-अधिक स्थिति उत्कृष्ट कहलाती है। बन्धने के बाद कर्म का विपाक होता है और फिर वह उदय में आकर फल देता है। विपाककाल में कर्म फल नहीं देता केवल सत्तारूप में आत्म-प्रदेशों में पड़ा रहता है। उस काल के बाद कर्म उदय में आता है और फलानुभव कराने लगता है। फलानुभव के काल को कर्म-निषेक काल कहते हैं। यहाँ कर्मों की जो स्थितियाँ बतलायी गई हैं वह दोनों काल को मिला कर कही गई है। अबाधाकाल को जानने का तरीका यह है कि जिस कर्म की स्थिति जितने सागरोपम की होती है, उतने सौ वर्ष अबाधाकाल होता है। उदाहरणस्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति ३० कोटाकोटि सागरोपम है। उसका अबाधाकाल ३००० वर्ष का कहा है। इतने वर्षों तक वह सत्तारूप में रहता है, फल नहीं देता। यह विपाककाल है। भगवती सूत्र में अबाधा और निषेक काल का वर्णन इस प्रकार मिलता है:

कर्म	अबाधा काल	निषेक काल
१—ज्ञानावरणीय	३००० वर्ष	३० कोटाकोटि सागर कम ३००० वर्ष
२—दर्शनावरणीय	"	"
३—वेदनीय	"	"

१—भगवती ६.३ :
वेदणिज्जं जह० दो समया

२—(क) तत्त्वा० ८.१९ :
अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य—वेदनीयप्रकृतेरपरा द्वादशमुहूर्ता स्थितिरिति (भाष्य)

(ख) नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण :
जहन्ना ठिई वेअणीअस्स बारस मुहुत्ता

३—भगवती ६.३ :
आउगं...... उक्को० तेत्तीसं सागरोवमाणि पुव्वकोडितिभागम

कर्म	अबाधा काल	निषेक काल
४—मोहनीय	७००० वर्ष	७० कोटाकोटि सागर कम ७००० वर्ष
५—आयुष्य	पूर्वकोटि त्रिभाग	पूर्वकोटि त्रिभाग उपरान्त तेतीस सागरोपम कम पूर्व कोटि त्रिभाग
६—नाम	२००० वर्ष	२० सागरोपम कम २००० वर्ष
७—गोत्र	"	"
८—अंतराय	३००० वर्ष	३० कोटाकोटि सागर कम ३००० वर्ष

आठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के अबाधा और निषेक काल का वर्णन प्रज्ञापना सूत्र में उल्लिखित है[1]।

११—अनुभाव बंध और कर्म-फल (गाथा १९-२१) :

उपर्युक्त गाथाओं में अनुभाग-बन्ध और कर्म-फल पर विशेष प्रकाश डाला गया है। जीव के साथ कर्मों का तादात्म्यसम्बन्ध ही बन्ध है। मिथ्यात्व आदि हेतुओं से कर्म-योग्य पुद्गल-वर्गणाओं के साथ आत्मा का—दूध और जल की तरह अथवा लोहपिण्ड और अग्नि की तरह—अन्योन्यानुगमरूप अभेदात्मक सम्बन्ध होता है, वही बन्ध है[2]

आठ कर्मों के पुद्गल-प्रदेश अनन्त होते हैं। इन प्रदेशों की संख्या संसार के अभव्य जीवों से अनन्त गुणी और अनन्त सिद्धों के अनन्तवें भाग जितनी होती है[3]।

बन्ध के समय अध्यवसाय की तीव्रता या मंदता के अनुसार कर्मों में तीव्र या मंद फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है। विविध प्रकार की फल देने की शक्ति का नाम अनुभाव है।

ये बांधे हुए कर्म अवश्य उदय में आते हैं। वे उदय में आए बिना नहीं रह सकते और न फल भोगे बिना उनसे छुटकारा हो सकता है। उदय में आकर फल दे चुकने पर कर्म अकर्म हो अपने आप आत्म-प्रदेशों से दूर हो जाते हैं। जब तक फल देने का काल नहीं आता है तब तक बंधे हुए कर्मों से सुख-दुःख कुछ भी अनुभव नहीं होता।

१—प्रज्ञापना २३.२.२१-२९

२—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : वृत्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरणम् : गाथा ७१ की प्राकृत अवचूर्णि :

मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिः कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनः क्षीरनीरवद्वन्हयःपिण्ड-वद्वान्योन्यानुगमाभेदात्मकः सम्बन्धो बन्धः।

३—उत्त० ३३.१७ (पृ० १५७ टि० ४ में उद्धृत)

कर्मों के उदय में आने पर ही सुख-दुःख होता है। बांधे हुए कर्म शुभ होते हैं तो उन कर्मों का विपाक—फल शुभ—सुखमय होता है। बांधे हुए कर्म अशुभ होते हैं तो उदय काल में उन कर्मों का विपाक अशुभ—दुःखरूप होता है।

कर्म तीव्र भाव से बांधे हुए होते हैं तो उनका फल तीव्र होता है और मन्द भाव से बांधे हुए होते हैं तो फल मन्द होता है।

उदय में आने पर कर्म अपनी मूल प्रकृति के अनुसार फल देता है। ज्ञानावरणीय कर्म अपने अनुभाव—फल देने की शक्ति के अनुसार ज्ञान का आच्छादन करता है और दर्शनावरणीय दर्शन का। इस तरह दूसरे कर्म भी अपनी-अपनी मूल प्रवृत्ति के अनुसार ही तीव्र या मन्द फल देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से दर्शन का आच्छादन नहीं हो सकता और न दर्शनावरणीय कर्म से ज्ञान का। इसी तरह अन्य कर्मों के विषय में समझना चाहिए। यह नियम मूल प्रकृतियों में ही परस्पर लागू होता है। मूल प्रकृतियां फलानुभव में परस्पर अपरिवर्तनशील हैं। पर कुछ अपवादों को छोड़ कर उत्तर प्रकृतियों में यह नियम लागू नहीं पड़ता। एक कर्म की उत्तर प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर प्रकृतिरूप परिणति कर सकती है। उदाहरणस्वरूप मतिज्ञानावरणीय कर्म, श्रुतज्ञानावरणीय कर्म में बदल सकता है। और ऐसा होने पर उसका फल भी श्रुतज्ञानावरणीय रूप ही होता है।

उत्तर प्रकृतियों में दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का संक्रम नहीं होता। इसी प्रकार सम्यक् वेदनीय और मिथ्यात्व वेदनीय उत्तर प्रकृतियों का भी संक्रम नहीं होता। आयुष्य की उत्तरप्रकृतियों का भी परस्पर संक्रम नहीं होता। उदाहरणस्वरूप नारक आयुष्य, तिर्यञ्च आयुष्य रूप में संक्रम नहीं करता। इसी तरह अन्य आयुष्य भी परस्पर असंक्रमशील हैं[1]।

१—(क) तत्त्वा० ८.२२ भाष्य :

उत्तरप्रकृतिषु सर्वासु मूलप्रकृत्यभिन्नासु न तु मूलप्रकृतिषु संक्रमो विद्यते,······ उत्तरप्रकृतिषु च दर्शनचारित्रमोहनीययोः सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्यायुष्कस्य च··· ।

(ख) तत्त्वा० ८.२२ सर्वार्थसिद्धि :

अनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च । सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः । उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्र मोहवर्जानाम् । न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते । नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेनन, चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखन

प्रकृति-संक्रम की तरह बन्धकालीन रस में भी बाद में अन्तर हो सकता है। तीव्र रस मन्द और मन्द रस तीव्र हो सकता है।

एक बार गौतम ने पूछा[1]—"भगवन् ! किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्ति नहीं होती, क्या यह सच है?" भगवान ने उत्तर दिया—"गौतम ! यह सच है। नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—सर्व जीव किए हुए पाप कर्मों का फल भोगे बिना उनसे मुक्त नहीं होते। गौतम ! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाये हैं—प्रदेश-कर्म[2] और अनुभाग-कर्म[3]। जो प्रदेश-कर्म हैं, वे नियमतः भोगे जाते हैं। जो अनुभाग-कर्म हैं, वे कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नहीं भोगे जाते।"

एक बार गौतम ने पूछा—"भगवन् ! अन्ययूथिक कहते हैं—सब जीव एवंभूत-वेदना (जैसा कर्म बांधा है वैसे ही) भोगते हैं, यह कैसे है?" भगवान बोले—"गौतम ! अन्य-यूथिक जो ऐसा कहते हैं, वह मिथ्या कहते हैं। मैं तो ऐसा कहता हूँ—कई जीव एवं-भूत वेदना भोगते हैं और कई अन् एवंभूत वेदना भी भोगते हैं। जो जीव किए हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवंभूत वेदना भोगते हैं और जो जीव किए हुए कर्मों से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं, वे अन्-एवंभूत वेदना भोगते हैं[4]।"

आगम में कहा है—"एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है[5]।"

१—भगवती १.४

हंता गोयमा ! नेरेइयस्स वा तिरिक्खमणुदेवसस्स वा जे कडे पावे कम्मे नत्थि तस्स अवेइत्ता मोक्खो······ एवं खलु मए गोयमा ! दुविहे कम्मे पन्नत्ते तं जहा—पएसकम्मे य अणुभागकम्मेय य। तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ, तत्थ णं जं तं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेएइ अत्थेगइयं णो वेएइ

२—भगवती १.४ वृत्ति :

प्रदेशाः कर्मपुद्गला जीवप्रदेशेष्वोतप्रोताः तद्रूपं कर्म प्रदेशकर्म।

३—भगवती १.४ वृत्ति :

अनुभागः तेषामेव कर्मप्रदेशानां संवेद्यमानताविषयो रसः तद्रूपं कर्मोऽनुभाग-कर्म

४—भगवती ५.५

५—ठाणाङ्ग ४.४ ३१२

प्रश्न हो सकता है इन सबका कारण क्या है ?

आगम के अनुसार बंधे हुए कर्मों में निम्न स्थितियाँ घट सकती हैं : (१) अपवर्तना (२) उद्वर्तना, (३) उदीरणा और (४) संक्रमण। इनका अर्थ संक्षेप में इस प्रकार है :

(१) अपवर्तना : स्थिति-घात और रस-घात। कर्म-स्थिति का घटना और रस का मन्द होना।

(२) उद्वर्तना : स्थिति-वृद्धि और रस-वृद्धि। कर्म की स्थिति का दीर्घ होना और रस का तीव्र होना।

(३) उदीरणा : लम्बे समय के बाद तीव्र भाव से उदय में आनेवाले कर्मों का तत्काल और मन्द भाव से उदय में आना।

(४) संक्रमण : कर्मों की उत्तर प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण। "जिस अध्यवसाय से जीव कर्म-प्रकृति का बन्ध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूर्व बद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रान्त कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है—यह संक्रमण है। संक्रमण के चार प्रकार हैं—(१) प्रकृति संक्रम, (२) स्थिति-संक्रम, (३) अनुभाव-संक्रम और (४) प्रदेश-संक्रम (ठाणाङ्ग ४.२. २१६)। प्रकृति-संक्रम से पहले बन्धी हुई प्रकृति वर्तमान में बंधनेवाली प्रकृति के रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है[1]।"

कर्मों की उद्वर्तना आदि स्थितियाँ उत्थान, कर्म, बल, वीर्य तथा पुरुषकार और पराक्रम से होती हैं।

१२—प्रदेशबंध (गा० २३-२६) :

लोक में अनन्त पुद्गल वर्गणाएँ हैं। उनमें औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण ये आठ वर्गणाएँ मुख्य हैं। इनमें से जीव कार्मण वर्गणा में से अनन्तानन्त प्रदेशों के बने हुए कर्मदलों को ग्रहण करता है। ये कर्मदल बहुत ही सूक्ष्म होते हैं। स्थूल-बादर नहीं होते। इनमें स्निग्ध, रूक्ष, शीत, और गर्म ये चार स्पर्श होते हैं। लघु, गुरु, मृदु, और कर्कश—ये स्पर्श नहीं होते। इस तरह कर्मदल चतुःस्पर्शी होता है। तथा उसमें पाँच वर्ण, दो गंध और पाँच रस रहते हैं। इस तरह प्रत्येक कर्म स्कंध में १६ गुण रहते हैं।

१—जैनधर्म और दर्शन पृ० ३०७

जैसे कोई तालाब पानी से भरा हो, उसी तरह जीव के प्रदेश कर्म स्कंधों से व्याप्त—परिपूर्ण रहते हैं। जीव के असंख्यात प्रदेशों में से प्रत्येक प्रदेश इसी तरह कर्म-दलों से भरा रहता है। जीव अपने प्रत्येक प्रदेश द्वारा कर्म स्कंधों को ग्रहण करता है। जीव के प्रत्येक प्रदेश द्वारा अनन्तानन्त कर्म स्कंधों का ग्रहण होता है। आगम में कहा है :

"हे भगवन्? क्या जीव और पुद्गल अन्योन्य—एक दूसरे में बद्ध, एक दूसरे में स्पृष्ट, एक दूसरे में अवगाढ़, एक दूसरे में स्नेह-प्रतिबद्ध हैं और एक दूसरे में घट-समुदाय होकर रहते हैं।"

"हाँ, हे गौतम!"

"हे भगवन्! ऐसा किस हेतु से कहते हैं?"

"हे गौतम! जैसे एक ह्रद हो जल से पूर्ण, जल से किनारे तक भरा हुआ, जल से छाया हुआ, जल से ऊपर उठा हुआ और भरे हुए घड़े की तरह स्थित। अब यदि कोई पुरुष उस ह्रद में एक महा सौ आस्रव-द्वार वाली, सौ छिद्रवाली नाव छोड़े तो हे गौतम! वह नाव उन आस्रव-द्वारों—छिद्रों से भराती-भराती जल से पूर्ण, किनारे तक भरी हुई, बढते हुए जल से ढकी हुई होकर भरे हुए घड़े की तरह होगी या नहीं?"

"होगी हे भगवन्!"

"उसी हेतु से गौतम! मैं कहता हूँ कि जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ और स्नेह-प्रतिबद्ध हैं और परस्पर घट-समुदाय होकर रहते हैं[1]।"

आत्म-प्रदेश और कर्म-पुद्गलों का यह सम्बन्ध ही प्रदेश बंध है।

प्रदेश बंध के सम्बन्ध में श्री देवानन्द सूरि ने निम्न प्रकाश डाला है। "प्रदेश बंध को कर्म-वर्गणा के दल-संचय रूप समझना चाहिए। इस संसार-पारावार में भ्रमण करता हुआ जीव अपने असंख्यात प्रदेशों द्वारा, अभव्यों से अनन्तगुण प्रदेश-दल से बने और सर्व जीवों से अनन्तगुण रसच्छेद कर युक्त, स्व प्रदेश में ही रहे हुए, अभव्यों से अनन्त गुण परन्तु सिद्धों की संख्या के अनन्तवें भाग जितने, कर्म-वर्गणा के स्कंधों को प्रतिसमय ग्रहण करता है। ग्रहण कर उनमें से थोड़े दलिक आयु कर्म में, उससे विशेषाधिक और परस्पर तुल्य दलिक नाम और गोत्र कर्म में, उससे विशेषाधिक और परस्पर तुल्य दलिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म में, उससे विशेषाधिक मोहनीय कर्म में और उससे विशेषाधिक वेदनीय कर्म में बांट कर क्षीर

१—भगवती १.६

नीर की तरह अथवा लोह अग्नि की तरह उन कर्म-वर्गणा के स्कंधों के साथ मिल जाता है। कर्म दलिकों की इन आठ भागों की कल्पना अष्टविध कर्मबंधक की अपेक्षा समझनी चाहिए। छह और एकविध बंधक के विषय में उतने-उतने ही भाग की कल्पना कर लेनी चाहिए[1]।" यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि प्रत्येक कर्म के दलिकों का विभाग उसकी स्थिति-मर्यादा के अनुपात से होता है अर्थात् अधिक स्थिति वाले कर्म का दल अधिक और कम स्थिति वाले का दल कम होता है। परन्तु वेदनीय कर्म के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। उसकी स्थिति कम होने पर उसके हिस्सेका भाग सबसे अधिक होता है। इसका कारण इस प्रकार बतलाया गया है—"यदि वेदनीय के हिस्से में कम भाग आये तो लोक में सुख-दुःख का पता ही न चले। लोक में सुख-दुःख प्रगट मालूम पड़ते हैं इसलिए वेदनीय के हिस्से में कर्मदल सबसे अधिक आता है[2]"

उतराध्ययन में कहा है—

(१) आठों कर्मों के अनन्त पुद्गल हैं। वे सब मिलकर संसार के अभव्य जीवों से अनन्त गुण होते हैं और अनन्त सिद्धों से अनन्तवें भाग जितने होते हैं।

(२) सब जीवों के कर्म सम्पूर्ण लोक की अपेक्षा से छओं दिशाओं में सर्व आत्म प्रदेशों से सब प्रकार से बंधते रहते हैं।

आचाराङ्ग में कहा है :—

"ऊर्ध्व स्रोत हैं, अधः स्रोत है, तिर्यक् दिशा में भी स्रोत है। देख! पाप-द्वारों को ही स्रोत कहा गया है जिससे आत्मा के कर्मों का सम्बन्ध होता है[3]।"

उपर में जो अवतरण दिए गये हैं उनसे प्रदेशबंध के सम्बन्ध में निम्न लिखित प्रकाश पड़ता है :

१—(क) नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण अ० ४

(ख) वही : अव० वृत्त्यादिसमेतं नवतत्त्वप्रकरणम् गा० ६०-६३ :

२—देखो नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह : अव० वृत्त्यादिसमेतं नवतत्वप्रकरणम् गा० ६२ तथा उसकी अवचूरी :

विग्घावरणे मोहे, सव्वोपरि वेअणीइ जेणप्पे ।
तस्स फुडत्तं न हवइ, ठिईविसेसेण सेसाणं ॥

३—आचारांग श्रु० १,५,६

उड्ढं सोया अहे सोया तिरियं सोया वियाहिया। एए सोया विअक्खाया जेहिं संगंति पासहा।

(१) आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मदल—स्कंधों का अलग-अलग प्रकृतियों में बँटवारा होता है। यह भाग-बँटवारा कर्मों की स्थिति-मर्यादा के अनुपात से होता है। केवल वेदनीय के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं है।

(२) जीव सर्व आत्म-प्रदेशों से कर्म ग्रहण करता है। छओं दिशाओं के आत्म-प्रदेशों द्वारा कर्म ग्रहण होते हैं।

(३) जीव द्वारा ग्रहण किए हुए कर्मदल बहुत सूक्ष्म होते हैं—स्थूल नहीं होते। औदारिक, वैक्रिय आदि वर्गणाओं में से सूक्ष्म परिणति प्राप्त आठवीं कार्मण वर्गणा ही बंध योग्य है।

(४) जिस क्षेत्र में आत्म-प्रदेश रहते हैं उसी प्रदेश में रहे हुए कर्मदल का बंध होता है। उस क्षेत्र से बाहर के कर्म-स्कंधों का बंध नहीं होता। यही एक क्षेत्रावगाढ़ता है।

(५) प्रत्येक कर्म के अनन्त स्कंध सभी आत्मप्रदेशों के बंधते हैं अर्थात् एक-एक कर्म के अनन्त स्कंध आत्मा के एक-एक प्रदेश से बंधते हैं। आत्म के एक-एक प्रदेश पर सभी कर्मों के अनन्त-अनन्त स्कंध रहते हैं।

(६) एक-एक कर्म-स्कंध अनन्तानन्त परमाणुओं का बना होता है। कोई संख्यात, असंख्यात या अनन्त परमाणुओं का बना नहीं होता। प्रत्येक स्कंध अभव्यों से अनन्तगुण प्रदेशों के दल से बने होते हैं।

१३—बंधन-मुक्ति (गा० २७-२६) :

उपर्युक्त गाथाओं में बंधे हुए कर्मों से छुटकारा पाने का रास्ता बतलाया गया है। इस संसार में जीव अपने से विभिन्न जातीय पदार्थ से सदा संयोजित रहता है परन्तु जिस तरह एकाकार हुए दूध और जल को अग्नि आदि प्रयोगों द्वारा पृथक् किया जा सकता है, उसी तरह चेतन और जड़ के संयोग का भी आत्यन्तिक—सदा सर्वदा के लिए पृथक्करण—वियोग किया जा सकता है। जीव और कर्म का सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि उसका अन्त ही न हो सके, कारण आत्मा और जड़ पदार्थ पुद्गल दोनों अनादि काल से दूध-पानी की तरह एक क्षेत्रावगाही—ओत-प्रोत होने पर भी अपने-अपने स्वभाव को लिए हुए हैं, उसे छोड़ा नहीं है। केवल जड़ के प्रभाव से चेतन अपने सहज ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य के गुणों को प्रकट करने में असमर्थ है। जिस तरह जल के मिले रहने पर दूध के मिठास में फर्क पड़ जाता है, उसी प्रकार पुद्गल के प्रभाव से आत्म-गुणों में अन्तर—फीकास आ जाता है। परन्तु इस जड़ पुद्गल को चेतन आत्मा से दूर

करने का उपाय है । इस तथ्य को यहाँ तालाब के उदाहरण द्वारा समझाया गया है।

जिस तरह जल से भरे हुए तालाब को रिक्त करने के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है—एक नए आते हुए जल के प्रवेश को रोकना और दूसरे तालाब में रहे हुए जल को बाहर निकालना। ठीक उसी तरह आत्मा के प्रदेशों को भौतिक सुख-दुःख के कारण कर्मों से मुक्त—शून्य करने के लिए भी दो उपाय हैं—एक तो कर्मों के प्रवेश (आस्रव) को रोकना, दूसरे प्रविष्ट कर्मों का नाश करना। पहला कार्य संवर—संयम से सिद्ध होता है। संवरयुक्त आत्मा के तप करने से दूसरा कार्य सिद्ध होता है। संवर के साधन से आत्म-प्रदेशों में शीतलता आकर उनकी चंचलता, कंपनशीलता मिट जाती है जिससे नए कर्मों का ग्रहण नहीं होता। तप द्वारा आत्म-प्रदेश रूक्ष होने से लगे हुए कर्म झड़ पड़ते हैं। सर्व कर्मों के आत्यन्तिक क्षय से आत्मा अपने सहज निर्मल स्वभाव में प्रकट होता है। जन्म-मरण और व्याधि के चक्र से उसका छुटकारा हो जाता है और वह शाश्वत पद को प्राप्त करता है। उसके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य के स्वाभाविक गुण सम्पूर्ण तेज के साथ प्रकट हो जाते हैं। इस स्वरूप का प्रकट होना ही परमात्म दशा है, यही मोक्ष है।

: ६ :

मोक्ष पदार्थ

: ६ :

मोख पदारथ

दुहा

१—मोख पदार्थ नवमों कह्यों, ते सगला माहें श्रीकार।
सर्व गुणां करी सहीत छें, त्यांरा सुखां रो छेह न पार॥

२—करमां सूं मूकाणा ते मोख छें, त्यांरा छें नांम विशेप।
परमपद निरवांण ते मोख छें, सिद्ध सिव आदि छें नांम अनेक॥

३—परमपद उत्कष्टो पद पामीयो, तिण सूं परमपद त्यांरो नांम।
करम दावानल मिट सीतल थया, तिण सूं निरवांण नांम छें तांम॥

४—सर्व कार्य सिधा छें तेहनां, तिण सूं सिध कह्यां छें तांम।
उपद्रव करें नें रहीत हुआ, तिण सूं सिव कहिजें त्यांरो नांम॥

५—इण अनुसारे जांणजो, मोख रा गुण परमांणे नांम।
हिवें मोख तणा सुख वरणवूं, ते सुणजो राखे चित्त ठांम॥

ढाल

(पाखंड वधसी आरे पांच में)

१—मोख पदार्थ नां सुख सासता रे, तिण सुखां रो कदेय न आवें अंत
ते सुख अमोलक निज गुण जीव रा रे, अनंत सुख भाख्या छें भगवंत रे॥
मोख पदार्थ छें सारां सिरे रे*॥

---

*यह आँकड़ी प्रत्येक गाथा के अन्त में समझनी चाहिए।

: ६ :

मोक्ष पदार्थ

दोहा

१—मोक्ष नवाँ पदार्थ कहा गया है। यह पदार्थों में सर्वोत्तम है[1]। इसमें सब गुणों का वास है। मोक्ष के सुखों का कोई छोर या पार नहीं है।

नवाँ पदार्थ : मोक्ष

२—जीव का कर्मों से मुक्त होना ही उसका मोक्ष है। मुक्त जीवों के अनेक नाम हैं जिनमें 'परमपद', 'निर्वाण', 'सिद्ध' और 'शिव' आदि प्रमुख हैं।

मुक्त जीव के कुछ अभिवचन (दो० २-५)

३-४—सर्वोत्कृष्ट पद प्राप्त कर चुकने से जीव 'परमपद' प्राप्त, कर्मरूपी दावानल को शान्त कर शीतल हो चुकने से 'निर्वाण' प्राप्त, सर्व कार्य-सिद्ध कर चुकने से 'सिद्ध' और सर्व—जन्म-जरा-व्याधि रूप उपद्रवों से रहित हो चुकने से 'शिव' कहलाता है।

५—ये मोक्ष के गुणानुसार नाम हैं[2]। आगे मोक्ष के सुखों का वर्णन करता हूँ स्थिर चित हो कर सुनो।

ढाल

१—मोक्ष के सुख शाश्वत हैं। इन सुखों का कभी अन्त नहीं आता। वीर भगवान ने इन अमूल्य अनन्त सुखों को जीव का स्वाभाविक गुण बतलाया है।

मोक्ष-सुख (गा० १-५)

२—तीन काल रा सुख देवां तणा रे, ते सुख इधका घणां अथाग रे।
ते सगलाइ सुख एकण सिध नें रे, तुले नावें अनंतमें भाग रे॥

३—संसार नां सुख तो छें पुदगल तणा रे, ते तो सुख निश्चें रोगीला जांण रे।
ते करमां वस गमता लागें जीव नें रे, त्यां सुखां री बुधिवंत करो पिछांण रे॥

४—पांव ,रोगीलो हुवें छें तेहनें रे, अतंत मीठी लागें छें खाज रे।
एहवा सुख रोगीला छें पुन तणा रे, तिण सूं कदेय न सीझे आतम काज रे॥

५—एहवा सुखां सूं जीव राजी हुवें रे, तिणरे लागें छें पाप करम रा पूर रे।
पछें दुःख भोगवे छें नरक निगोद में रे, मुगति सुखां सूं पडीयो दूर रे॥

६—छूटा जनम मरण दावानल तेह थी रे, ते तो छें मोष सिध भगवंत रे।
त्यां आठोंइ करमां ने अलगा कीयां रे, जब आठोंइ गुण नीपनां अनंत रे॥

७—ते मोख सिध भगवंत तो इहां हिज हुआं रे, पछें एक समा में उंचा गया छें थेट रे।
सिध रहिवा नो खेतर छें तिहां जाए रह्या रे, अलोक सूं जाए अड्या नेट रे॥

८—अनंतो ग्यांन नें दरसण तेहनों रे, वले आतमीक सुख अनंतो जांण रे।
षायक समकत छें सिध वीतराग तेहनें रे, वले अवगाहणा अटल छें निरवांण रे॥

९—अमूरतीपणो त्यांरो परगट हूवो रे, हलको भारी न लागें मूल लिगार रे।
तिण सूं अगुरुलघु नें अमूरती कह्यां रे, ए पिण गुण त्यांमें श्रीकार रे॥

१०—अंतराय करम सुं तो रहीत छें रे, त्यांरे पुदगल सुख चाहीजे नांय रे।
ते निंज गुण सुखां मांहें झिले रह्यां रे, कांइ उणारत रही न दीसें कांय रे॥

२—देवों के सुख अति अधिक और अपरिमित होते हैं। परन्तु तीनों काल के देव-सुख एक सिद्ध भगवान के सुख के अनन्तव भाग की भी बराबरी नहीं कर सकते।

३-४—ये सांसारिक सुख पौद्गलिक और निश्चय ही रोगीले हैं। जिस तरह पांव-रोगी को खाज अत्यन्त मीठी लगती है, उसी प्रकार पुण्य से प्राप्त ये सांसारिक सुख कर्मों से लिप्त जीव को अच्छे लगते हैं। ऐसे रोगीले सुखों से कभी आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता।

५—जो जीव ऐसे सुखों से प्रसन्न होता है उसके अतीव पाप कर्मों का संचय होता है। ऐसा प्राणी मोक्ष के सुखों से बहुत दूर हो जाता है और बाद में नरक और निगोद के दुखों का भागी होता है।

आठ गुणों की प्राप्ति

६—जिन का कर्मों से मोक्ष हो जाता है—वे सिद्ध भगवान जन्म-मरणरूपी दावानल से मुक्त हो जाते हैं। वे आठों ही कर्मों को दूर कर देते हैं जिससे उनके अनन्त आठ गुणों की प्राप्ति होती है।

जीव सिद्ध कहा होता है ?

७—जीव का मोक्ष तो इस लोक में ही हो जाता है। वह यहीं सिद्ध भगवान बन जाता है। फिर एक ही समय में जीव सीधा सिद्धों के बास-स्थान—लोक के अन्त को पहुंच—आलोक को स्पर्श करता हुआ स्थिर होता है।

सिद्धों के आठ गुण (गा० ८-१०)

८-१०—वीतराग सिद्ध भगवान के (१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन और (३) अनन्त आत्मिक सुख होता है। भगवान के (४) क्षायिक सम्यक्त्व और (५) अटल अवगाहना होती हैं। उनमें (६) अमूर्तित्व और (७) अगुरुलघुत्व ये श्रेष्ठ गुण भी होते हैं। उनके अमूर्तिभाव प्रगट हो जाता है और हलका या भारीपन मालूम नहीं देता, इसलिए वे अमूर्त और अगुरुलघु कहलाते हैं। वे अंतराय कर्म से रहित होते हैं इसलिए उनके (८) अनन्त वीर्य होता है। उनको पौद्गलिक सुखों की कामना नहीं होती, वे तो अपने स्वाभाविक गुण—सहज आनन्द में रमते रहते हैं। उनके कोई कमी नहीं दीखती[३]।

११—छूटा कलकलीभूत संसार थी रे, आठोंइ करमां तणो कर सोष रे।
ते अनंता सुख पांम्यां सिव-रमणी तणा रे, त्यांनें कहिजें अविचल मोख रे॥

१२—त्यांरा सुखां नें नहीं कांई ओपमा रे, तीनूंइ लोक संसार मझार रे।
एक धारा त्यांरा सुख सासता रे, ओछा इधका सुख कदेय न हुवें लिगार रे॥

१३—तीरथ सिधा ते तीरथ मां सूं सिव हुआं रे, अतीरथ सिधा ते विण तीरथ सिध थाय रे॥
तीर्थंकर सिधा ते तीरथ थापने रे, अतीर्थंकर सिधा ते विनां तीर्थंकर ताय रे॥

१४—सयंबुधी सिधा ते पोतें समझनें रे, प्रतेक बुधी सिधा ते कांयक वस्तू देख रे।
बुधबोही सिधा ते समझे ओरां कनें रे, उपदेस सुणे नें ग्यांन विशेष रे॥

१५—स्वलिंगी सिधा साधां रा भेष में रे, अनलिंगी सिधा ते अनलिंगी मांय रे।
ग्रहलिंगी सिधा ग्रहस्थरा लिंग थकां रे, अस्त्रीलिंग सिधा अस्त्रीलिंग में ताय रे॥

१६—पुरषलिंग सिधा ते पुरष ना लिंग छतां रे, निपुंसक सिधा ते निपुंसक लिंग में सोय रे।
एक सिधा ते एक समें एक हीज सिध हूआं रे, अनेक सिधा ते एक समें अनेक सिध होय रे॥

११—जो आठों ही कर्मों का अन्त कर इस कलकलीभूत—जन्म-मरण व्याधिपूर्ण संसार से मुक्त हो गये हैं तथा जिन्होंने मुक्ति-रूपी रमणी के अनन्त सुख प्राप्त किए हैं उन्हीं जीवों को अविचल मोक्ष प्राप्त हुआ कहा जाता है।

मोक्ष के अनन्त सुख (गा० ११-१२)

१२—तीनों लोक में उनके सुखों की कोई उपमा नहीं मिलती। उनके सुख शाश्वत और एकधार रहते हैं। उनमें कभी कम-बेश नहीं होती[४]।

१३-१६—(१) 'तीर्थ सिद्ध'—अर्थात् जैन साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाओं में से सिद्ध हुए, (२) 'अतीर्थ सिद्ध'—जैन तीर्थ के अतिरिक्त और किसी तीर्थ में से सिद्ध हुए, (३) 'तीर्थङ्कर सिद्ध'—तीर्थ की स्थापना कर सिद्ध हुए, (४) 'अतीर्थङ्कर सिद्ध'—विना तीर्थ की स्थापना किए सिद्ध हुए, (५) 'स्वयंबुद्ध सिद्ध'—स्वयं समझ कर सिद्ध हुए, (६) 'प्रत्येकबुद्ध सिद्ध'—किसी वस्तु को देखकर सिद्ध हुए, (७) 'बुद्धबोधित सिद्ध'—दूसरों से समझ कर, उपदेश सुन कर सिद्ध हुए, (८) 'स्वलिंगी सिद्ध'—जैन साधु के वेष में सिद्ध हुए, (९) 'अन्यलिङ्ग सिद्ध'—अन्य साधु के वेष में सिद्ध हुए, (१०) 'गृहलिङ्ग सिद्ध'—गृहस्थ के वेष में सिद्ध हुए, (११) 'स्त्रीलिङ्ग सिद्ध'—स्त्री लिङ्ग में सिद्ध हुए, (१२) 'पुरुषलिङ्ग सिद्ध'—पुरुष लिङ्ग में सिद्ध हुए, (१३) 'नपुंसकलिङ्ग सिद्ध'—नपुंसक के लिङ्ग में सिद्ध हुए, (१४) 'एक सिद्ध'—एक समय में ही सिद्ध हुए, (१५) 'अनेक सिद्ध'—एक समय में अनेक सिद्ध हुए—ये सिद्धों के पंद्रह भेद हैं[५]।

सिद्धों के पन्द्रह भेद (गा० १३-१६)

१७—ग्यांन दरसण नें चारित तप थकी रे, सारा हूआं छें सिध निरवांण रे।
यां च्यारां विनां कोई सिध हूओ नहीं रे, ए च्यारूंई मोष रा मारग जांण रे॥

१८—ग्यांन थी जांणें लेवें सर्व भाव नें रे, दरसण सूं सरध लेवे सयमेव रे।
चारित सूं करम रोके छें आवता रे, तपसा सूं करमां नें दीया खेव रे॥

१९—ए पनरेंइ भेदें सिध हूआं तके रे, सगला री करणी जांणों एक रे।
वले मोष में सुख सगला रा सारिषा रे, ते सिध छें अनंत भेदें अनेक रे॥

२०—मोष पदार्थ नें ओलखायवा रे, जोड कीधी छें नाथदुवारा मझार रे।
समत अठारें नें वरस छपनें रे, चेत सुद चोथ ने सनीसर वार रे॥

१७—ये सब ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से सिद्ध होते और निर्वाण प्राप्त करते हैं । इन चारों के बिना कोई सिद्ध नहीं हुआ। मोक्ष प्राप्ति के ये चार ही मार्ग हैं।

सब सिद्धों की करनी और सुख समान हैं (गा० १७-१६)

१८—ज्ञान से जीव सर्व भावों को जानता है। दर्शन से उनकी यथार्थ प्रतीति करता है। चारित्र से कर्मों का आना रुकता है और तप से जीव कर्मों को बिखेर देता है।

१६—इन पन्द्रह भेदों से जो भी सिद्ध हुए हैं उन सब की करनी एक सरीखी समझो। तथा मोक्ष में उन सब का सुख भी समान ही है। इन पन्द्रह भेदों से अनन्त सिद्ध हुए हैं[६]।

२०—मोक्ष पदार्थ को समझाने के लिए यह ढाल श्रीजीद्वार में सं० १८५६ की चैत्र शुक्ला ४ वार शनिवार को की है।

टिप्पणियाँ

१—मोक्ष नवाँ पदार्थ है (दो० १) :

पदार्थों की संख्या नौ मानी हो अथवा सात, सब ने मोक्ष पदार्थ को अन्त में रखा है। इस तरह मोक्ष पदार्थ नवाँ अथवा सातवाँ पदार्थ ठहरता है। "ऐसी संज्ञा मत करो कि मोक्ष नहीं है पर ऐसी संज्ञा करो कि मोक्ष है[1]।"—यह उपदेश मोक्ष के स्वतंत्र अस्तित्व को घोषित करता है। द्विपदावतारों में[2] तथा अन्यत्र अनेक स्थलों पर मोक्ष को बंध का प्रतिपक्षी तत्त्व कहा गया है। जैसे कारावास शब्द स्वयं ही स्वतंत्रता के अस्तित्व का सूचक होता है वैसे ही जब बन्ध सद्भाव पदार्थ है तो उसका प्रतिपक्षी पदार्थ मोक्ष भी सद्भाव पदार्थ है, यह स्वयं सिद्ध है। बन्ध कर्म-संश्लेष है और मोक्ष कर्म का कृत्स्न-क्षय। मोक्ष की परिभाषा देते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—"**कृत्स्नकर्म-वियोगलक्षणो मोक्षः**[3]"—मोक्ष का लक्षण संपूर्ण कर्म-वियोग है।

स्वामीजी लिखते हैं :

सर्व कर्मों से मुक्ति मोक्ष है। उसे पहचानने के लिए तीन दृष्टान्त हैं :

१—घानी आदि के उपाय से तेल खलरहित होता है, वैसे ही तप-संयम के द्वारा जीव का कर्म-रहित होना मोक्ष है।

२—मथनी आदि के उपाय से घृत छाछ रहित होता है, वैसे ही तप-संयम के द्वारा जीव का कर्म-रहित होना मोक्ष है।

३—अग्नि आदि के उपाय से धातु और मिट्टी अलग होते हैं, वैसे ही तप-संयम के द्वारा जीव का कर्म-रहित होना मोक्ष है[4]।

कर्मों के सम्पूर्ण क्षय का क्रम आगम में इस प्रकार मिलता है—

"प्रेम, द्वेष और मिथ्यादर्शन के विजय से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में तत्पर होता है। फिर आठ प्रकार के कर्मों का ग्रन्थि-भेद आरंभ होता है। उसमें

१—सुयगडं २.५.१५

२—ठाणाङ्ग २.५७

३—तत्त्वा० १.४ सर्वार्थसिद्धि

४—तेराद्वार : दृष्टान्त द्वार

पहले मोहनीयकर्म की अठाइस प्रकृतियों का क्षय होता है, फिर पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय और पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म—इन तीनों का एक साथ क्षय होता है। उसके बाद प्रधान, अनन्त, सम्पूर्ण, परिपूर्ण, आवरण-रहित, अज्ञानतिमिर-रहित, विशुद्ध और लोकालोक प्रकाशक प्रधान केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न होते हैं।

"केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होते ही जीव के ज्ञानावरणीय आदि चार घनघाती कर्मों का नाश हो जाता है और सिर्फ वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये कर्म अवशेष रहते हैं। इसके बाद आयु शेष होने में जब अंतर्मुहूर्त (दो घड़ी) जितना काल बाकी रहता है तब केवली मन, वचन और काय के व्यापार का निरोध कर, शुक्लध्यान की तीसरी श्रेणी में स्थित होता है; फिर वह मनोव्यापार को रोकता है; फिर वचन व्यापार को और फिर कायव्यापार को। फिर श्वास-प्रश्वास को रोकता है; फिर पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय तक शैलेशी अवस्था में रहकर शुक्लध्यान की चौथी श्रेणी में स्थित होता है। वहाँ स्थित होते ही अवशेष वेदनीय, आयुष्य, नाम तथा गोत्र कर्म एक साथ नाश को प्राप्त होते हैं। सर्व कर्मों के नाश के साथ ही औदारिक, कार्मण और तैजस—इन शरीरों से भी सदा के लिए छुटकारा हो जाता है। इस प्रकार इस संसार में रहते-रहते ही वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है एवं सर्व दुःख का अन्त कर देता है[१]।"

मोक्ष सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ है। मोक्ष साध्य है और संवर निर्जरा साधन। साधक की सारी चेष्टाएँ मोक्ष के लिए ही होती हैं। मोक्ष पदार्थ में सर्व गुण होते हैं। उसके सुख अनन्त हैं। परमपद, निर्वाण, सिद्ध, शिव आदि उसके अनेक नाम हैं। मोक्ष के ये नाम गुणनिष्पन्न हैं। मोक्ष के गुणों के सूचक हैं। मोक्ष से ऊँचा कोई पद नहीं, अतः वह 'परमपद' है। कर्म-रूपी दावानल शान्त हो जाने से उसका नाम 'निर्वाण' होता है। सम्पूर्ण कृतकृत्य होने से उसका नाम 'सिद्ध' है। किसी प्रकार का उपद्रव नहीं, इससे मोक्ष का नाम 'शिव' है।

२—मोक्ष के अभिवचन (दो० २-५) :

मोक्ष का अर्थ—जहाँ मुक्त आत्माएँ रहती हैं, वह स्थान—ऐसा नहीं है। **"मोचनं कर्मपाशवियोजनमात्मनो मोक्षः"**—कर्म-पाश का विमोचन—उसका वियोजन मोक्ष है।

१—उत्त० २९.७१-७३

बेड़ी आदि से छूटना द्रव्य मोक्ष है। कर्म-बेड़ी से छूटना भाव मोक्ष है। यहाँ मोक्ष का अभिप्राय भाव मोक्ष से है। धातु और कंचन का संयोग अनादि है पर क्रिया विशेष से उनके सम्बन्ध का वियोग होता है, उसी तरह जीव और कर्म के अनादि संयोग का भी सदुपाय से वियोग होता है। जीव और कर्म का यह वियोग ही मोक्ष है। मोक्ष पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों के क्षय से होता है[1]।

सर्व कर्म विरहित आत्मा के अनेक अभिवचन हैं। उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं :

१—**सिद्ध** : जो कृतार्थ हो चुके, वे सिद्ध हैं अथवा जो लोकाग्र में स्थित हुए हैं और जिनके पुनरागमन नहीं है, वे सिद्ध हैं अथवा जिनके कर्म ध्वस्त हो चुके हैं—जो कर्म-प्रपंच से मुक्त हो चुके हैं, वे सिद्ध हैं[2]।

२—**बुद्ध** : जिनके कृत्स्न ज्ञान और कृत्स्न दर्शन हैं—जो सकल कर्म-क्षय के साथ इनसे संयुक्त हैं।

३—**मुक्त** : जिनके कोई बंधन अवशेष नहीं रहा।

४—**परिनिवृत्त** सर्वथा सकल कर्मकृत विकार से रहित होकर स्वस्थ होना परिनिर्वाण है। परिनिर्वाण धर्मयोग से कर्मक्षय कर जो सिद्ध होता, वह परिनिवृत्त है[3]।

५—**सर्वदुःखप्रहीण** : जो सर्व दुःखों का अन्त कर चुका, वह सर्वदुःखप्रहीण है।

६—**अन्तकृत** : जिसने पुनर्भव का अन्त कर दिया।

७—**पारंगत** : जो अनादि, अनन्त, दीर्घ, चारगतिरूप संसारारण्य को पार कर चुका, वह पारंगत है।

८—**परिनिर्वृत्त** : सर्व प्रकार के शारीरिक मानसिक अस्वास्थ्य से रहित[4]।

३—सिद्ध और उनके आठ गुण (गा० ६-१०)

उत्तराध्ययन में कहा है :

"वेदनीय आदि चार अघाति कर्म और औदारिक आदि शरीरों से छुटकारा पाते ही जीव ऋजु श्रेणि को प्राप्त हो अस्पर्शमानगति और अविग्रह से एक समय में

१—ठाणाङ्ग १.१० टीका
२—वही १.४६ टीका
३—वही १.४६ टीका
४—वही

ऊर्ध्व सिद्ध स्थान को पहुंच साकार ज्ञानोपयोग युक्त सिद्ध, बुद्ध आदि होकर समस्त दुःखों का अन्त करता है[1] ।"

इसी आगम में अन्यत्र कहा है: "सिद्ध कहाँ जाकर रुकते हैं, कहाँ ठहरते हैं ? शरीर का त्याग कहाँ करते हैं ? और कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं —ये प्रश्न हैं ? सिद्ध अलोक की सीमा पर रुकते हैं और लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित हैं । यहाँ शरीर छोड़ कर लोकाग्र पर जाकर सिद्ध होते हैं । महाभाग सिद्ध भव-प्रपंच से मुक्त हो श्रेष्ठ सिद्ध गति को प्राप्त हो लोक के अग्रभाग पर स्थित होते हैं । ये सिद्ध जीव अरूपी और जीवघन हैं । ज्ञान और दर्शन इनका स्वरूप है । जिनकी उपमा नहीं ऐसे अतुल सुख से ये संयुक्त होते हैं[2] । सर्व सिद्ध ज्ञान और दर्शन से संयुक्त होते हैं और संसार से निस्तीर्ण हो सिद्धि गति को पा लोक के एक देश में रहते हैं[2] ।"

यहाँ प्रश्न उठते हैं—सिद्धि-स्थान क्या है ? कर्म-मुक्त जीव उर्ध्वगति क्यों करते हैं ? लोकाग्र पर जाकर क्यों ठहर जाते हैं ? उनकी अवगाहना क्या होती है ? इनका उत्तर नीचे दिया जाता है । सिद्ध-स्थान का वर्णन आगमों में इस प्रकार मिलता है :

"सर्वार्थ सिद्ध नाम के विमान से बारह योजन ऊपर छत्र के आकार की इषत्प्राग्भार नाम की एक पृथ्वी है । वह ४५ लाख योजन आयाम (लम्बी) और उतनी ही विस्तीर्ण है । उसकी परिधि इससे तीन गुनी से कुछ अधिक है । यह पृथ्वी मध्य में आठ योजन मोटी है । फिर धीरे-धीरे पतली होती-होती अन्त में मक्खी की पाँख से भी पतली है । यह पृथ्वी स्वभाव से ही निर्मल, श्वेत सुवर्णमय तथा उत्तान छत्र के आकार की है । यह शंख, अंक नामक रत्न और कुंद पुष्प जैसी पांडुर, निर्मल और सुहावनी है । उस सीता नाम की पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोकांत है । इस योजन का जो अन्तिम कोस है उसके छट्ठे भाग में सिद्ध रहे हुए हैं[3] ।"

वेदनीय आदि कर्मों और औदारिक आदि शरीरों से छुटकारा पाते ही जीव ऊर्ध्वगति से समश्रेणी में (सरल-सीधी रेखा में) तथा अवक्र गति से मोक्षस्थान को जाता है। रास्ते में वह कहीं भी नहीं अटकता और सीधा लोक के अग्रभाग पर जाकर स्थित हो जाता है। वहां पहुंचने में जीव को एक समय लगता है ।

१—उत्त० २९.७३

२—उत्त० ३६.५६-५७,६४,६७-८

३—उत्त० ३६.५८-६२

सिद्ध जीवों की ऊर्ध्वगति क्यों होती है इस सम्बन्ध में निम्न वार्तालाप बड़ा बोधप्रद है :

"हे भगवन् कर्म-रहित जीव के गति मानी गई है क्या ?"

"मानी गई है, गौतम !"

"हे भगवन् ! कर्म-रहित जीव के गति कैसे मानी गई है ?"

"हे गौतम ! निस्संगता से, निरागता से, गति-परिणाम से, बन्धन-छेद से, निरींधनता से और पूर्व-प्रयोग से कर्म-रहित जीव के गति मानी गई है।"

"सो कैसे ? भगवन् !"

"यदि कोई पुरुष एक सूखे छिद्ररहित सम्पूर्ण तूँबे को अनुक्रम से संस्कारित कर दाम और कुश द्वारा कस कर उस पर मिट्टी का लेप करे और धूप में सुखाकर दुबारा लेप करे और इस तरह आठ बार मिट्टी का लेप करके उस बार-बार सुखाये हुए तूंबे को, तिरे न जा सके, ऐसे पुरुष प्रमाण अथाह जल में डाले तो हे गौतम ! वैसे आठ मिट्टी के लेपों से गुरु, भारी और वजनदार बना तूंबा जल के तल को छेद कर अधः धरणी पर प्रतिष्ठित होगा या नहीं ?"

"होगा, हे भगवन् !"

"हे गौतम ! जल में डूबे हुए तूंबे के आठ मिट्टी के लेपों के एक-एक कर क्षय होने पर धरती तल से क्रमशः ऊपर उठता हुआ तूंबा जल के ऊपरी सतह पर प्रतिष्ठित होगा या नहीं ?"

"होगा, हे भगवन् !"

"इसी तरह हे गौतम ! निश्चय ही निसंगता से, निरागता से, गति-परिणाम से कर्म-रहित जीव के गति कही गई है।"

"हे गौतम ! जैसे कलाय-मटर की फली, मूंग की फली, माष (उड़द) की फली, शिम्बिका की फली, एरंड का फल धूप में सुखाया जाय तो सूखने पर फटने से उनके बीज एक ओर जाकर गिरते हैं, उसी तरह हे गौतम ! बन्धन-छेद के कारण कर्म-रहित जीव के गति होती है।"

"हे गौतम ! ईंधन से छूटे हुए धुएँ की गति जैसे स्वाभाविक निराबाध रूप से ऊपर की ओर होती है, उसी तरह हे गौतम ! निश्चय से निरींधन (कर्मरूपी ईन्धन से मुक्त) होने से कर्म-रहित जीव की उर्ध्व गति होती

१—भगवती १.६

सिद्ध जीव लोकाग्र पर जाकर क्यों रुक जाता है—इसके आगम में चार कारण बतलाए हैं—पहला गति-अभाव, दूसरा निरूपग्रह, तीसरा रूक्षता और चौथा लोकानुभाव—लोकस्वभाव[1]।

जीव और पुद्गल का ऐसा ही स्वभाव है कि वे लोक के सिवा अलोक में गति नहीं कर सकते। जिस तरह दीपशिखा नीचे की ओर गति नहीं करती उसी प्रकार ये लोकान्त के ऊपर अलोक में गति नहीं करते।

जीव और पुद्गल दोनों ही गतिशील हैं पर वे धर्मास्तिकाय के सहाय से ही गति कर सकते हैं। लोक के बाहर धर्मास्तिकाय नहीं होता अतः वे लोक के बाहर अलोक में गति नहीं कर सकते।

बालू की तरह रूखे लोकान्त में पुद्गलों का ऐसा रूक्ष परिणमन होता है कि वे आगे बढ़ने में समर्थ नहीं होते। कर्म-पुद्गलों की वैसी स्थिति होने पर कर्म-सहित जीव भी आगे नहीं बढ़ सकते। कर्ममुक्त जीव धर्मास्तिकाय के सहाय के अभाव में आगे गति नहीं कर सकते।

लोक की मर्यादा ही ऐसी है कि गति उसके अन्दर ही हो सकती है। जिस प्रकार सूर्य की गति अपने मण्डल में ही होती है उसी प्रकार जीव और पुद्गल लोक में ही गति कर सकते हैं उसके बाहर नहीं।

जीव की अवगाहना उसके शरीर के बराबर होती है। जैसे दीपक को बड़े घर में रखने से उसका प्रकाश उस घर जितना फैल जाता है और छोटे आले में रखने से वह छोटे आले जितना हो जाता है; उसी प्रकार जीव कर्म-वश छोटा या बड़ा शरीर जैसा प्राप्त करता है उस समूचे शरीर को अपने प्रदेशों से व्याप्त—सचित्त कर देता है। हाथी का जीव हाथी के शरीर को व्याप्त किए होता है—उतनी ही अवगाहना—फैलाव—कद वाला होता है और चींटी का जीव चींटी के शरीर को व्याप्त किए रहता है—उतनी ही अवगाहना—फैलाव—कदवाला होता है।

१—ठाणाङ्ग ४.३.३३७ :

चउहिं ठाणेहिं जीवा य पोग्गला य णो संचातंति बहिया लोगंता गमणताते, तं० गतिअभावेणं णिरुवग्गहताते लुक्खताते लोगाणुभावेणं।

सिद्ध जीव की अवगाहना उसके अन्तिम शरीर की अवगाहना से त्रिभाग हीन होती है अर्थात् मुक्त आत्मा के सघन प्रदेश अन्तिम शरीर से त्रिभाग कम क्षेत्र में व्याप्त होते हैं[1]।

आगम में सिद्धों के ३१ गुण बतलाये गए हैं। वे इस प्रकार हैं—आभिनिबोधिक-ज्ञानावरण का क्षय (२) श्रुतज्ञानावरण का क्षय (३) अवधिज्ञानावरण का क्षय (४) मनःपर्यवज्ञानावरण का क्षय (५) केवलज्ञानावरण का क्षय (६) चक्षुदर्शनावरण का क्षय (७) अचक्षुदर्शनावरण का क्षय (८) अवधिदर्शनावरण का क्षय (९) केवल-दर्शनावरण का क्षय (१०) निद्रा का क्षय (११) निद्रानिद्रा का क्षय (१२) प्रचला का क्षय (१३) प्रचलाप्रचला का क्षय (१४) स्त्यानर्द्धि का क्षय (१५) सातावेदनीय का क्षय (१६) असातावेदनीय का क्षय (१७) दर्शनमोहनीय का क्षय (१८) चारित्र मोहनीय का क्षय (१९) नरकायु का क्षय (२०) तिर्यगायु का क्षय (२१) मनुष्यायु का क्षय (२२) देवायु का क्षय (२३) उच्च गोत्र का क्षय (२४) नीच गोत्र का क्षय (२५) शुभनाम का क्षय (२६) अशुभनाम का क्षय (२७) दानांतराय का क्षय (२८) लाभांतराय का क्षय (२९) भोगांतराय का क्षय (३०) उपभोगांतराय का क्षय और (३१) वीर्यान्तराय कर्म का क्षय[2]।

संक्षेप में आठों मूल कर्म और उनकी सर्व उत्तर-प्रकृतियों का क्षय सिद्धों में पाया जाता है।

कर्मों के क्षय से सिद्धों में आठ विशेषताएँ प्रकट होती हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से केवलदर्शन उत्पन्न होता है। वेदनीय कर्म के क्षय से आत्मिक सुख—अनन्त सुख प्रकट होता है। मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायक सम्यकत्व प्रकट होता है। आयुष्य कर्म के क्षय से अटल अवगा-हना—शाश्वत स्थिरता प्रकट होती है। नाम कर्म के क्षय से अमूर्तिकपन प्रकट होता है।

१—उत्त० ३६.६४ :

उस्सेहो जस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणो तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे॥

२—समवायाङ्ग सम० ३१। उत्तराध्ययन (३१.२०) में सिद्धों के ३१ गुणों का संकेत है। देखिए उक्त स्थल की टीका :

नव दरिसणम्मि चत्तारि आउए पंच आइमे अंते।
सेसे दो दो भेया, खीणभिलावेण इगतीसं॥

गोत्र कर्म के क्षय से अगुरुलघुपन—न छोटापन न बड़ापन प्रकट होता है। और अन्त-राय कर्म के क्षय से लब्धि प्रकट होती है।

केवल ज्ञान, केवल दर्शन, आत्मिक सुख, क्षायक सम्यक्त्व, अटल अवगाहन, अमूर्ति-पन, अगुरुलघुपन और लब्धि—ये आठ सब आत्माओं के स्वाभाविक गुण हैं। कर्म उन गुणों को दबाते रहते हैं, उन्हें प्रकट नहीं होते। कर्म-क्षय से ये सब गुण प्रकट हो जाते हैं। सब सिद्धों में ये गुण होते हैं।

४—सांसारिक सुख और मोक्ष सुखों की तुलना (गा० १-५,११-१२) :

पुण्य की प्रथम ढाल में पौद्गलिक सुख और मोक्ष-सुखों की तुलना आई है[1] और प्रसंगवश प्रायः उन्हीं शब्दों में यहाँ पुनरुक्त हुई है। पूर्व-स्थलों पर दोनों प्रकार के सुखों का पार्थक्य विस्तृत टिप्पणियों द्वारा दिखाया जा चुका है[2]।

मोक्ष के सुख शाश्वत हैं, अनन्त हैं, निरपेक्ष हैं, स्वाभाविक हैं। सर्व काल के सर्व देवों के सुखों को मिला लिया जाय तो भी वे एक सिद्ध के सुख के अनन्तवें भाग के भी तुल्य नहीं होते।

सांसारिक सुख पौद्गलिक हैं। वे वास्तव में सुख नहीं पर कर्म-रूपी पाँव रोग से ग्रस्त होने के कारण खुजली की तरह मधुर लगते हैं। सांसारिक सुखों से आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता। जो सांसारिक सुखों से प्रसन्न होता है, उसके अति मात्रा में पाप कर्मों का बन्ध होता है जिससे उसे नरक और निगोद के दुःखों को भोगना पड़ता है।

श्री उमास्वाति ने लिखा है—

"मुक्तात्माओं के सुख विषयों से अतीत, अव्यय और अव्याबाध हैं। संसार के सुख विषयों की पूर्ति, वेदना के अभाव, पुण्य कर्मों के इष्ट फलरूप हैं जब कि मोक्ष के सुख कर्मक्लेश के क्षय से उत्पन्न परम सुखरूप। सारे लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसकी उपमा सिद्धों के सुख से दी जा सके। वे निरूपम हैं। वे प्रमाण, अनुमान और उपमान के विषय नहीं, इसलिए भी निरूपम हैं। वे अर्हत् भगवान के ही प्रत्यक्ष हैं और उन्हीं के द्वारा वाणी का विषय हो सकते हैं। अन्य विद्वान उन्हीं के कहे अनुसार

१—देखिए दो० २-४ तथा गा० ४६-५१

२—(क) देखिए पृ० १५१-२ टिप्पणी १ (३), १ (५)

(ख) देखिए पृ० १७१-१७३ टि० १३

उसका ग्रहण करते और उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। मोक्ष-सुख छद्मस्थों की परीक्षा का विषय नहीं होता[1]।

औपपातिक सूत्र में सिद्धों के सुखों का वर्णन इस प्रकार मिलता है :

"सिद्ध अशरीर—शरीर रहित होते हैं। वे चैतन्यघन और केवलज्ञान, केवलदर्शन से संयुक्त होते हैं। साकार और अनाकार उपयोग उनके लक्षण हैं। सिद्ध केवलज्ञान से संयुक्त होने पर सर्वभाव, गुणपर्याय को जानते हैं और अपनी अनन्त केवल दृष्टि से सर्वभाव देखते हैं। न मनुष्य को ऐसा सुख होता है और न सब देवों को जैसा कि अव्याबाध गुण को प्राप्त सिद्धों को होता है। जैसे कोई म्लेच्छ नगर की अनेक विध विशेषता को देख चुकने पर भी उपमा न मिलने से उनका वर्णन नहीं कर सकता; उसी तरह सिद्धों का सुख अनुपम होता है। उसकी तुलना नहीं हो सकती। जिस प्रकार सर्व प्रकार के पाँचों इन्द्रियों के भोग को प्राप्त हुआ मनुष्य भोजन कर, क्षुधा और प्यास से रहित हो अमृत पीकर तृप्त हुए मनुष्य की तरह होता है, उसी तरह अतुल निर्वाण प्राप्त सिद्ध सदाकाल तृप्त होते हैं। वे शाश्वत सुखों को प्राप्त कर अव्याबाधित सुखी होते हैं। सर्व कार्य सिद्ध कर चुके होने से वे सिद्ध हैं। सर्व तत्त्व के पारगामी होने से बुद्ध हैं। संसार-समुद्र को पार कर चुके अतः पारंगत हैं, हमेशा सिद्ध रहेंगे, इसलिए परंपरागत हैं। सिद्ध सब दुःखों को छेद चुके होते हैं। वे जन्म, जरा और मरण के बंधन से मुक्त होते हैं। वे अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं और शाश्वत सिद्ध होते हैं। वे अतुल सुखसागर को प्राप्त होते हैं। अनुपम अव्याबाध सुखों को प्राप्त हुए होते हैं। अनन्त सुखों को प्राप्त हुए वे अनन्त सुखी वर्तमान अनागत सभी काल में वैसे ही सुखी रहते हैं[2]।"

उत्तराध्ययन में सिद्ध-स्थान के सुखों के विषय में निम्न वार्तालाप मिलता है :

"हे मुने! सांसारिक प्राणी शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित हो रहे हैं उनके लिए क्षेम, शिव, अव्याबाध स्थान कौन-सा है?"

"लोक के अग्र भाग पर एक ध्रुव स्थान है, जहाँ जरा मृत्यु, व्याधि और वेदना नहीं हैं पर वह दुरारोह है।"

"वह स्थान कौन-सा है?"

१—तत्त्वा० उपसंहार गा० २३-३२

२—औपपातिक सू० १७८-१८९

"उस स्थान का नाम निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि; लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है। उसे महर्षि प्राप्त करते हैं "

"मुने ! वह स्थान शाश्वत निवासरूप है, वह लोकाग्र पर है। वह दुरारोह है पर जिसने भव का अन्त कर उसे पा लिया उसके कोई शोच-फिकर नहीं रहती[1]।" "लोगग्गभावमुवगए परमसुही भवई[2]" —लोक के अग्र भाव पर पहुँचकर जीव परम सुखी होता है ।

आचारांग में लिखा है:

"उस दशा का वर्णन करने में सारे शब्द निवृत्त हो जाते—समाप्त हो जाते हैं। वहाँ तर्क की पहुँच नहीं और न बुद्धि उसे ग्रहण कर पाती है। कर्म-मल रहित केवल चैतन्य ही उस दशा का ज्ञाता होता है।

"मुक्त आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व, न वृत्त—गोल । वह न त्रिकोण है, न चौरस, न मण्डलाकार। वह न कृष्ण है, न नील, न लाल, न पीला और न शुक्ल ही । वह न सुगन्धिवाला है, न दुर्गन्धिवाला है। वह न तिक्त है, न कड़ुआ, न कषैला, न खट्टा और न मधुर। वह न कर्कश है, न मृदु। वह न भारी है, न हल्का। वह न शीत है, न उष्ण। वह न स्निग्ध है, न रूक्ष। वह न शरीरधारी है, न पुनर्जन्मा, न आसक्त। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक।

"वह ज्ञाता है, वह परिज्ञाता है, उसके लिए कोई उपमा नहीं। वह अरूपी सत्ता है। वह अपद है। वचन अगोचर के लिए कोई पद-वाचक शब्द नहीं। वह शब्दरूप नहीं, गन्धरूप नहीं, रसरूप नहीं, स्पर्श रूप नहीं। वह ऐसा कुछ भी नहीं। ऐसा मैं कहता हूँ[3]।"

१—उत्त० २३.८०-८४

२उत्त०.२९-३८

३—आचाराङ्गः श्रु० १ः अ० ५ उ० ६

सव्वे सरा नियट्टन्ति। तक्का जत्थ न विज्जइ। मइ तत्थ न गाहिया। ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने। से न दीहे न हस्से न वट्टे। न तसे न चउरंसे न परिमंडले। न कीराहे न नीले न लोहिए न हालिद्द न सुक्किले। न सुरभिगंधे न दुरभिगधे। न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्खडे। न मउए न गरूए न लहुए। न सिए नं उण्हें न निद्धे न लुक्खे। न काऊ न रुहे न संगे। न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा। परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए। अरूवी सत्ता। अपयस्स पयं नत्थि। से न सद्द न रूवे न गन्धे न रसे न फासे इच्चव त्ति बेमि।

५—पन्द्रह प्रकार के सिद्ध (गा० १३-१६) :

स्वामीजी ने इन गाथाओं में सिद्धों के पंद्रह भेदों का वर्णन किया है। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :

१—तीर्थ सिद्ध : तीर्थङ्कर के तीर्थ स्थापन के बाद जो सिद्ध हुए उन्हें तीर्थ सिद्ध कहते हैं; जैसे गणधर गौतम आदि।

२—अतीर्थ सिद्ध : तीर्थ स्थापन के पहले अथवा तीर्थ का विच्छेद होने के बाद सिद्ध हुए अतीर्थ सिद्ध कहलाते हैं। जैसे मरुदेवी आदि।

३—तीर्थङ्कर सिद्ध : जो तीर्थङ्कर होकर साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप तीर्थ की स्थापना करने के बाद सिद्ध हुए हैं वे तीर्थङ्कर सिद्ध कहलाते हैं। जैसे तीर्थङ्कर ऋषभदेव यावत् महावीर।

४—अतीर्थङ्कर सिद्ध : जो सामान्य केवली होकर सिद्ध हुए हैं उन्हें अतीर्थङ्कर सिद्ध कहते हैं। जैसे गणधर गौतम आदि।

५—स्वयंबुद्ध सिद्ध : जो स्वयं जातिस्मरणादि ज्ञान से तत्त्व जानकर सिद्ध हुए हैं उन्हें स्वयंबुद्ध सिद्ध कहते हैं। जैसे मृगापुत्र।

६—प्रत्येकबुद्धि सिद्ध : जो बाह्य निमित्त से—जैसे किसी वस्तु को देखकर बोध प्राप्त कर सिद्ध हुए हैं वे प्रत्येकबुद्ध सिद्ध कहलाते हैं[१]।

७—बुद्धबोधित सिद्ध : जो धर्माचार्य आदि से बोध प्राप्त कर सिद्ध हुए हैं उन्हें बुद्धबोधित सिद्ध कहते हैं। जैसे मेघकुमार।

८—स्वलिङ्गी सिद्ध : जो मुनि लिङ्ग में सिद्ध हुए हैं उन्हें स्वलिङ्गी सिद्ध कहते हैं। जैसे आदिनाथ भगवान के दस हजार मुनि।

९—अन्यलिङ्गी सिद्ध : जो अन्यमती-सन्यासी आदि के लिङ्ग से सिद्ध हुऐ हैं, उन्हें अन्यलिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे शिवराजर्षि।

१—टीका (ठाणाङ्ग १.५१) में स्वयंबुद्ध और और प्रत्येकबुद्ध सिद्ध का अंतर इस प्रकार बताया है—स्वयंबुद्धों को बाह्य निमित्ति विना ही बोधि प्राप्त होती है जबकि प्रत्येकबुद्धों को बाह्य निमित्त की अपेक्षा होती है। स्वयंबुद्धों के पात्रादि बारह उपधि होती हैं। प्रत्येकबुद्धों को तीन प्राच्छादक-वस्त्र के सिवा नव उपधि होती है। स्वयंबुद्धों के पूर्वभव में श्रुत अध्ययन होता है और नहीं भी होता। प्रत्येक बुद्ध के नियम से होता है। स्वयंबुद्धों को आचार्यादि के समीप हा लिङ्ग-ग्रहण होता है जबकि प्रत्येकबुद्धों को देव ही लिङ्ग धारण कराते हैं।

१०—**गृहलिङ्गी सिद्ध** : जो गृहस्थ के लिङ्ग से सिद्ध हुए हैं उन्हें गृहलिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे सुमति के छोटे भाई नागिल आदि।

११—**स्त्रीलिङ्गी सिद्ध** : जो स्त्री-शरीर से सिद्ध हुए हैं उन्हें स्त्री-लिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे चन्दनबाला।

१२—**पुरुषलिङ्गी सिद्ध** : जो पुरुष-शरीर से सिद्ध हुए हैं उन्हें पुरुषलिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे गणधर आदि।

१३—**नपुंसकलिङ्ग सिद्ध** : जो नपुंसक शरीर से सिद्ध हुए हैं उन्हें नपुंसकलिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे गाङ्गेय अनगार आदि।

१४—**एकसमय सिद्ध** : जो एक समय में अकेले सिद्ध हुए हैं उन्हें एक समयसिद्ध कहते हैं। जैसे महावीर।

१५—**अनेकसमय सिद्ध** : जो एक समय में अनेक सिद्ध हुए हैं उन्हें अनेक सिद्ध कहते हैं। एक समय में दो से लेकर १०८ सिद्ध तक हो सकते हैं।

स्वामीजी के इस वर्णन का आधार ठाणाङ्ग सूत्र है [1]।

उत्तराध्ययन में सिद्धों का वर्णन इस प्रकार मिलता है : "सिद्ध अनेक प्रकार के हैं—स्त्रीलिङ्ग सिद्ध, पुरुषलिङ्ग सिद्ध, नपुंसकलिङ्ग सिद्ध, स्वलिङ्ग सिद्ध, अन्यलिङ्ग सिद्ध और गृहलिङ्ग सिद्ध आदि। सिद्ध जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अवगाहना से हो सकते हैं। ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग् लोक से हो सकते हैं। समुद्र और जलाशय से भी सिद्ध हो सकते हैं। एक समय में नपुंसकलिङ्गी दस, स्त्रीलिङ्गी बीस और पुरुषलिङ्गी एकसौ आठ सिद्ध हो सकते हैं। गृहलिङ्ग में चार, अन्यलिंग में दस, स्वलिंग में एकसौ आठ सिद्ध एक समय में हो सकते हैं। एक समय में जघन्य अवगाहना से चार, उत्कृष्ट अवगाहना से दो और मध्यम अवगाहना से एकसौ आठ सिद्ध हो सकते हैं। एक समय में ऊर्ध्व लोक में चार, समुद्र में दो, नदी में तीन, अधोलोक में से बीस और तिर्यक् लोक में एकसौ आठ सिद्ध हो सकते हैं [2]।'

१—ठाणाङ्ग १.१५१

२—उत्त० ३६.५०-५५

६—मोक्ष-मार्ग और सिद्धों की समानता (गा० १७-१६) :

उत्तराध्ययन में कहा है : "वस्तु स्वरूप स्वरूप को जाननेवाले—परमदर्शी जिनों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस चतुष्टय को मोक्ष-मार्ग कहा है। इस मार्ग को प्राप्त हुए जीव सुगति को पाते हैं। सर्व द्रव्य, उनके सर्व गुण और उनकी सर्व पर्यायों के यथार्थ ज्ञान को ही ज्ञानी भगवान ने 'ज्ञान' कहा है। स्वयं—अपने आप या उपदेश से नौ तथ्य भावों (नव पदार्थों) के अस्तित्व में आन्तरिक श्रद्धा—विश्वास होना सम्यक्त्व है। सच्ची श्रद्धा बिना चारित्र संभव नहीं; श्रद्धा होने से चारित्र होता है।"

यहाँ इन गाथाओं में दो बातें कही गयी हैं : (१) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—यह मुक्ति-मार्ग है और (२) सर्व सिद्धों के सुख समान हैं।

इन पर नीचे क्रमशः प्रकाश डाला जाता है :

(१) ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप मोक्ष-मार्ग है :

आगम में कहा है :

"सम्यक्त्व और चारित्र युगपत् होते हैं, वहाँ पहले सम्यक्त्व होता है। जिसके श्रद्धा नहीं है, उसके सच्चा ज्ञान नहीं होता। सच्चे ज्ञान बिना चारित्रगुण नहीं होते। चारित्रगुणों के बिना कर्म-मुक्ति नहीं होती। कर्म-मुक्ति बिना निर्वाण नहीं होता। ज्ञान से जीव पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से आस्रव का निरोध करता है और तप से कर्मों की निर्जरा कर शुद्ध होता है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप और उपयोग—ये मोक्षार्थी जीव के लक्षण हैं[१]।"

स्वामीजी कहते हैं—जितने भी सिद्ध हुए हैं वे इसी मार्ग से सिद्ध हुए हैं। अन्य मार्ग नहीं जो जीव को संसार से मुक्त कर सके। पन्द्रह प्रकार के जो सिद्ध बतलाये हैं, उन सब का यही मार्ग रहा। सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप का मार्ग ही सवर्दीय का मार्ग है। सिद्धि का कोइ दूसरा मार्ग नहीं।

सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप से सिद्धि-क्रम किस प्रकार बनता है। इसके तीन वर्णन आगमों में मिलते हैं। इन्हें संक्षेप में नीचे किया जाता है।

पहला वर्णन इस प्रकार है :

"जब मनुष्य जीव और अजीव को अच्छी तरह जान लेता है, तब सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है। जब सर्व जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है,

१—उत्त० २८.२-३,५,१५, २६–३०,३५,११

तब पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है। जब मनुष्य इनको जान लेता है, तब देवों और मनुष्यों के कामभोगों को जान कर उनसे विरक्त हो जाता है। जब मनुष्य भोगों से विरक्त होता है, तब अन्दर और बाहर के सम्बन्धों को छोड़ देता है। जब इन सम्बन्धों को छोड़ देता है, तब मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है। अनगारवृत्ति को ग्रहण करने से वह उत्कृष्ट संयम और अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है। ऐसा करने से अज्ञान से संचित की हुई कलुषित कर्मरज को धुन डालता है। कर्मरज को धुन डालने से वह सर्वगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है। अब वह जिन केवली लोकालोक को जान लेता है। इन्हें जान लेने से वह योगों का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है। जब ऐसी अवस्था को प्राप्त करता है, तब कर्मों का क्षय कर निरज सिद्धि को प्राप्त करता है। जब वह निरज सिद्धि को प्राप्त करता है, तब वह लोक के मस्तक पर स्थित हो शाश्वत सिद्ध होता है[1]।"

दूसरा वर्णन इस प्रकार है :

"राग-द्वेष रहित निर्मल चित्तवृत्ति को धारण करने से जीव धर्मध्यान को प्राप्त करता है। जो शङ्का रहित मन से धर्म में स्थित होता है, वह निर्वाण-पद की प्राप्ति करता है। ऐसा मनुष्य संज्ञी-ज्ञान से अपने उत्तम स्थान को जान लेता है। संवृतात्मा शीघ्र ही यथातथ्य स्वप्न को देखता है। जो सर्वकाम से विरक्त होता है, जो भय-भैरव को सहन करता है, उस संयमी और तपस्वी मुनि के अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। जो तप से अशुभ लेश्याओं को दूर हटा देता है, उसका अवधिदर्शन विशुद्ध—निर्मल हो जाता है। फिर वह ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक के जीवादि सर्व पदार्थों को सब तरह से देखने लगता है। जो साधु भली प्रकार स्थापित शुभ लेश्याओं को धारण करनेवाला होता है, जिसका चित्त तर्क-वितर्क से चञ्चल नहीं होता, इस तरह वह सर्व प्रकार से विमुक्त होता है उसकी आत्मा मन के पर्यवों को जान लेती है—उसे मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न होता है। जिस समय उस मुनि का ज्ञानावरणीय कर्म सर्व प्रकार से क्षय-गत हो जाता है, उस समय वह केवलज्ञानी और जिन हो लोक-अलोक को देखने लगता है। जब प्रतिमाओं के विशुद्ध आराधन से मोहनीयकर्म क्षय-गत होता है, तब सुसमाहित आत्मा अशेष—सम्पूर्ण—लोक और अलोक को देखने लगता है। जिस तरह अग्रभाग का छेदन करने से ताड़ का गाछ भूमिपर गिर पड़ता है, उसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय-गत होने से सर्व कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। केवली भगवान इस शरीर को छोड़कर तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीयकर्म का छेदन कर रज से सर्वथा रहित हो जाते हैं[2]।"

१—दश० ४.१४-२५

२—दशाश्रुतस्कंध—५.१-३,५-११,१६।

तीसरा वर्णन इस प्रकार है :

"भगवन् ! तथारूप श्रमण-ब्राह्मण की पर्युपासन का क्या फल है ?"

"गौतम ! उसका फल श्रवण है।"

"भगवन् ! श्रवण का क्या फल है ?"

"गौतम ! उसका फल ज्ञान है।"

"भगवन् ! ज्ञान का क्या फल है ?"

"गौतम ! ज्ञान का फल विज्ञान है।"

"भगवन् ! विज्ञान का क्या फल है ?"

"गौतम ! विज्ञान का फल प्रत्याख्यान त्याग है।"

"भगवन् ! प्रत्याख्यान का क्या फल है ?"

"गौतम ! प्रत्याख्यान का फल संयम है।"

"भगवन् ! संयम का क्या फल है ?"

"गौतम ! संयम का फल अनास्रव है।"

"भगवन् ! अनास्रव का क्या फल है ?"

"गौतम ! अनास्रव का फल तप है।"

"भगवन् ! तप का क्या फल है ?"

"गौतम ! तप का फल व्यवदान—कर्मों का निर्जरण है।"

"भगवन् ! व्यवदान का क्या फल है ?"

"गौतम ! व्यवदान से अक्रिया होती है।"

"भगवन् ! अक्रिया से क्या होता है ?"

"गौतम ! अक्रिया से निर्वाण होता है।"

"भगवन् ! निर्वाण से क्या फल होता है?"

"गौतम ! पर्यवसान फलरूप—अन्तिम प्रयोजनरूप सिद्ध-गति में गमन होता है[1]"

(२) सर्व सिद्धों के सुख समान हैं :

अनेक भेदों से अनन्त सिद्ध हुए हैं पर उन सब के सुख तुल्य हैं। सब सिद्धों के सुखों को अनन्त कहा है। उन सुखों में अन्तर नहीं होता।

सिद्ध जीवों में परस्पर भेद नहीं होता। सिद्धों के पन्द्रह भेद उनके अन्तिम जन्म की अपेक्षा से हैं। संसारी जीवों की विभिन्नता कर्मों की विचित्रता से है। मुक्त जीवों के किसी प्रकार का कर्म बंध न रहने से उनमें विचित्रता भी नहीं। सब सिद्ध जीव एकान्त आत्मिक सुख में रम रहे हैं।

१—ठाणाङ्ग० ३.३.१९०

: १० :

जीव अजीव

: १० :

जीव अजीव

दुहा

१—केइ भेषधारयां रा घट मझे, जीव अजीव री खबर न कांय ।
ते पिण गोला फेंके गालां तणा, ते पिण सुध न दीसें कांय ॥

२—नव पदार्थ रो त्यांरे निरणों नहीं, छ दरबांरो निरणों नांय ।
न्याय निरणा विनां बक बोकरे, तिरणो सोच नहीं मन मांय ॥

३—जीव अजीव दोनूं जिण कह्या, तीजी वस्त न कांय ।
जे जे वस्त छें लोक में, ते दोयां में सर्व समाय ॥

४—नव ही पदार्थ जिण कह्या, यांनें दोयां में घाले नांय ।
त्यांरे अंधकार घट में घणों, ते तो भूल गया भर्म मांय ॥

५—उंधी २ करें छें परूपणा, ते भोला नें खबर न कांय ।
तिण सूं नव पदार्थ रो निरणों कहूं, ते सुणजो चित्त ल्याय ॥

ढाल

(मेघ कुंवर हाथी रा भवमा)

१—जीव ते चेतन अजीव अचेतन, यांनें बादर पणे तो ओलखणा सोरा ।
त्यांरा भेदन भेद जूआजूआ करतां, जब तो ओलखणा छें अति ही दोरा ॥
जीव अजीव सूधा न सरधे मिथ्याती ॥

: १० :

जीव अजीव

दोहा

१—कई वेषधारियों के घट में जीव-अजीव की पहचान नहीं होती। ऐसे अज्ञानी भी वाणी के गोले फेंकते हैं। उनमें कुछ भी सुध-बुध नहीं दिखाई देती।

जीव अजीव का अज्ञान (दो० १-२)

२—उनके नौ पदार्थों और षट् द्रव्यों का विनिश्चय नहीं होता। बिना न्याय-निर्णय के वे बकते रहते हैं। इसका उनके मन में जरा भी विचार नहीं होता।

३—जिन भगवान ने जीव और अजीव दो वस्तुएँ कही हैं। तीसरी कोई वस्तु नहीं। लोक में जो भी वस्तुएँ हैं, वे इन दो में समा जाती हैं।

नौ पदार्थ दो राशियों में समाते हैं। (दो० ३-४)

४—जिन भगवान ने नौ पदार्थ कहे हैं, । जो इन नौ पदार्थों को दो पदार्थों में नहीं डालते, उनके हृदय में अत्यन्त अन्धकार है। वे भ्रमवश भूले हुए हैं।

५—वे विपरीत-विपरीत प्ररूपणा करते हैं। भोले मनुष्यों को इसका पता नहीं चलता। अतः नौ पदार्थों का निर्णय करता हूँ। चित्त लगाकर सुनो।

ढाल

१—जीव चेतन पदार्थ है। अजीव अचेतन पदार्थ। इन्हें स्थूल रूप से पहचानना तो सरल है। पर उनके भेदानुभेद करने से उन्हें पहचानना अत्यन्त कठिन होता है।

पदार्थों को पहचानने की कठिनाई

२—जीव अजीव टाले नें सात पदार्थ, त्यांनें जीव अजीव सरधें छें दोनूंइ ।
एहवी उंधी सरधा रा छें मूढ मिथ्याती, त्यां साधू रो भेष ले आतम विगोइ ॥
जीव अजीव सूधा न सरधें मिथ्याती ॥

३—पुन पाप नें बंध एं तीनूंइ करम, करम ते निश्चेंइ पुदगल जांणों ।
पुदगल छें ते निश्चेंइ अजीव, तिण मांहें संका मूल म आंणो ॥
पुन पाप नें अजीव न सरधें मिथ्याती ॥

४—आठ करमां नें रूपी कह्या छें जिणेसर, त्यांमें पांचूंइ वर्ण नें गंध छें दोय ।
वले पांचूंइ रस नें च्यार फरस छें, एं सोलें बोल पुदगल अजीव छें सोय ॥
पुन पाप नें अजीव न सरधें मिथ्याती ॥

५—पुन पाप बेइं नें ग्रहे आश्रव, पुन पाप ग्रहे ते निश्चें जीव जांणों ।
निरवद जोगां सूं पुन ग्रहे छें, सावद्य जोगां सूं पाप लागें छें आंणो ॥
आश्रव नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

६—करमां नां दुवार आश्रव जीव रा भाव, तिण आश्रव नां बीसोंइ बोल पिछांण ।
ते बीसोंइ बोल छें करमां रा करता, करमां रा करता नेश्चेंइ जीव जांणों ॥
आश्रव नें जीव न सरधें मिथ्याती ।

७—आतमा नें वस करें ते संवर, आतमा वस करें ते निश्चेंइ जीव ।
ते तों उपसम खायक षयउपसम भाव, ए तो जीव रा भाव छें,निरमल अतीव ॥
संवर नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

२—कई जीव और अजीव इन दो पदार्थों के अतिरिक्त अवशेष सप्त पदार्थों को जीव अजीव दोनों मानते हैं। जो मूढ़ ऐसी विपरीत श्रद्धान रखते हैं, उन्होंने साधु-वेष ग्रहण कर आत्मा को डूबा दिया।

सात पदार्थों का जीवाजीव मानना मिथ्यात्व है

३—पुण्य, पाप और बंध—ये तीनों कर्म हैं। कर्मों को निश्चय ही पुद्गल जानो। जो पुद्गल हैं, वे निश्चय ही अजीव हैं। इसमें जरा भी शङ्का मत करो।

पुण्य, पाप, बंध तीनों अजीव हैं (गा० ३-४)

४—जिन भगवान ने आठ कर्मों को रूपी कहा है। उनमें पाँचों वर्ण, दो गन्ध, पाँचों रस और चार स्पर्श हैं। ये सोलह बोल जिसमें हैं, वह पुद्गल अजीव है।

५—पुण्य-पाप दोनों को आस्रव ग्रहण करता है। जो पुण्य और पाप को ग्रहण करता है, उसे निश्चय ही जीव जानो। जीव निरवद्य योगों से पुण्य को ग्रहण करता है और सावद्य योगों से उसके पाप लगते हैं।

आस्रव जीव है (गा० ५-६)

६—आस्रव कर्मों के द्वार हैं। वे जीव के भाव हैं। आस्रव के बीसों बोलों की पहचान करो। बीसों ही आस्रव कर्मों के कर्त्ता हैं। जो कर्मों के कर्त्ता हैं, उन्हें निश्चय से जीव जानो।

७—आत्मा को वश में करना संवर है। जो आत्मा को वश करता है, वह निश्चय ही जीव है। संवर उपशम, क्षायक, क्षयोपशम भाव है। ये जीव के ही अति निर्मल भाव हैं।

संवर जीव है (गा० ७-८)

८—संवर ते आवता करमां नें रोकें, आवता करम रोकें ते निश्चेंइ जीव ।
तिण संवर नें जीव न सरधे अग्यांनी, तिणरे नरक निगोद री लागी छें नींव ॥
तिण संवर नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

९—देस थकी करमां नें तोड़ें, जब देस थकी जाव उजलों होय ।
जीव उजलो हूओ छें तेहिज निरजरा, निरजरा जीव छें तिणमें संका न कोय ॥
इण निरजरा नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

१०—करमां नें तोड़े ते निश्चेंइ जीव, करम तूटां थकां उजलो हुवो जीव ।
उजला जीव नें निरजरा कही जिण, जीव रा गुण छें उजल अत ही अतीव ॥
इण निरजरा नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

११—समसत करम थकी मूंकावें, ते करम रहीत आतमा मोख ।
इण संसार दुख थी छूट पड्या छें, ते तो सीतली भूत थया निरदोष ॥
तिण मोष नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

१२—करमां थकी मूंकावे ते मोष, तिण मोष नें कहिजें सिध भगवांन ।
वले मोष नें परमपद निरवांण कहिजें, ते तों निश्चेंइ निरमल जीव सुध मांन ॥
तिण मोष नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

१३—पुन पाप नें बंध एं तीनूंइ अजीव, त्यांनें जीव नें अजीव सरधें दोनूंइ ।
एहवी उंधी सरधा रा छें मूंढ मिथ्याती, त्यां साध रा भेष में आतम विगोइ ॥
पुन पाप बंध नें अजीव न सरधें मिथ्याती ॥

८—संवर आते हुए कर्मों को रोकता है। जो आते हुए कर्मों को रोकता है, वह निश्चय ही जीव है। जो अज्ञानी संवर को जीव नहीं मानता, उसके नरक-निगोद की नींव लग चुकी।

९—देशतः कर्मों को तोड़ने से जीव देशतः निर्मल होता है। जीव का देशतः उज्ज्वल होना ही निर्जरा है। निर्जरा जीव है, इसमें जरा भी शङ्का नहीं।

निर्जरा जीव है (गा० ९-१०)

१०—जो कर्मों को तोड़ता है, वह निश्चय ही जीव है। कर्मों के टूटने से जीव उज्ज्वल होता है। जिनेश्वर भगवान ने उज्ज्वल जीव को ही निर्जरा कहा है। निर्जरा जीव का अति उज्ज्वल गुण है।

११—जो समस्त कर्मों से रहित होती है, वह कर्मरहित आत्मा ही मोक्ष है। मुक्त जीव इस संसार रूपी दुःख से अलग हो चुके हैं। वे निर्दोष और शीतलभूत हैं।

मोक्ष जीव है (गा० ११-१२)

१२—कर्मों से मुक्त होना मोक्ष है। मोक्ष को सिद्ध भगवान कहा जाता है। मोक्ष को ही परमपद और निर्वाण कहा जाता है। मोक्ष को निश्चय ही शुद्ध निर्मल जीव मानो।

१३—पुण्य, पाप और बन्ध—ये तीनों अजीव हैं। कई इनका जीव-अजीव दोनों मानते हैं। जो मूढ़ मिथ्यात्वी ऐसी उल्टी श्रद्धा रखते हैं, उन्होंने साधु-वेष ग्रहण कर अपनी आत्मा को डूबा दिया।

पाँच जीव चार अजीव (गा० १३-१५)

१४—आश्रव संवर निरजरा नें मोष, एं निमाइ निश्चें जीव च्यांरुइ ।
त्यांनें जीव अजीव दोनूंइ सरधें, तिण उंधी सरधा सूं आतम विगोइ ॥
यां च्यारां नें जीव न सरधें मिथ्याती ॥

१५—नव पदार्थ में पांच जीव कह्या जिण, च्यार पदार्थ अजीव कह्या भगवांन ।
ए नव पदार्थ रो निरणों करसी, तेहिज समकत छें सुध मांन ॥
जीव अजीव नें सुध न सरधें मिथ्याती ॥

१६—जीव अजीव ओलखावण काजें, जोड कीधी पुर सहर मझार ।
समत अठारें सत्तावनें वरषें, भादरवा सुद पूनम नें बुधवार ॥
जीव अजीव नें सुध न सरधें मिथ्याती ॥

१४—आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये चारों नियमतः निश्चय ही जीव हैं। इनको जो जीव-अजीव दोनों मानता है, उसने विपरीत श्रद्धा से अपनी आत्मा को डूबा दिया।

१५—जिन भगवान ने नौ पदार्थों में पाँच जीव और चार अजीव कहे हैं। नौ पदार्थों का इस प्रकार निर्णय करना ही शुद्ध सम्यक्त्व है, ऐसा मानो[१]।

१६—जीव-अजीव की पहचान कराने के लिए यह जोड़ पुर शहर में सं० १८५७ की भाद्र-शुक्ला पूर्णिमा बुधवार के दिन रची है।

टिप्पणी

स्वामीजी ने वस्तुओं की दो कोटियाँ कही हैं : (१) जीव कोटि (२) अजीव कोटि। इसका आधार सूत्र-वाक्य हैं।

ठाणाङ्ग (२.४.९५) में कहा है : "जीवरासी चेव अजीवरासी चेव"—राशि दो हैं—एक जीव राशि और दूसरी अजीव राशि। यही बात समवायाङ्ग में भी कथित है[1]। उत्तराध्ययन में कहा है : "जीव चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए"—यह लोक जीव और अजीवमय कहा गया है।

स्वामीजी कहते हैं नौ पदार्थों में जहाँ तक जीव पदार्थ और अजीव पदार्थ का प्रश्न है उनकी कोटि स्वयं निश्चित है। प्रश्न है अवशेष सात पदार्थ किस कोटि में आते हैं।

एक मत के अनुसार जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये चार पदार्थ जीव हैं तथा अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव और बंध—ये पांच पदार्थ अजीव। इस बात को निम्न कोष्ठक द्वारा उपस्थित किया गया है :

॥ अथैतेषु नवसु तत्त्वेषु जीवाजीवरूप्यरूपिज्ञेयहेयोपादेय विभागयन्त्रकम् ॥

९तत्त्वनामानि	प्रतिभेद	जीव	अजीव	रूपी०	अरूपी	हेय	ज्ञेय	उपादेय
जीवतत्त्वम्	१४	१४	०	१४	०	०	१४	०
अजीवतत्त्वम्	१४	०	१४	४	१०	०	१४	०
पुण्यतत्त्वम्	४२	०	४२	४२	०	४२	०	०
पापतत्त्वम्	८२	०	८२	८२	०	८२	०	०
आश्रवतत्त्वम्	४२	०	४२	४२	०	४२	०	०
संवरतत्त्वम्	५७	५७	०	०	५७	०	०	५७
निर्जरातत्त्वम्	१२	१२	०	०	१२	०	०	१२
बन्धतत्त्वम्	४	०	४	४	०	४	०	०
मोक्षतत्त्वम्	९	९	०	०	९	०	०	९
	२७६	९२	१८४	१८८	८८	१७०	२८	७८

१—समवायाङ्ग सम : २

दुवे रासी पन्नत्ता, तं जहा जीवरासी चेव। अजीवरासी चेव

दूसरे मत के अनुसार जीव जीव है, अजीव अजीव और शेष सात जावाजाव।

स्वामीजी का मत इन दोनों ही अभिप्रायों से भिन्न है। स्वामीजी ने आस्रव की ढालों में आगम के आधार से आस्रव को जीव सिद्ध किया है। उनके अभिप्राय से जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये पाँच जीव हैं और अजीव, पुण्य, पाप और बंध—ये चार अजीव।

जीव और अजीव के सिवा अवशेष सात पदार्थ जीवाजीव हैं, इस बात से भी स्वामीजी सहमत नहीं। आगम में जब दो ही पदार्थ बताये गये हैं तो फिर मिश्र पदार्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। अवशेष सात पदार्थों में से प्रत्येक या तो जीव कोटि में आयेगा अथवा अजीव कोटि में। वे जीवाजीव कोटि के नहीं कहे जा सकते क्योंकि ऐसी कोटि होती ही नहीं। स्वामीजी के मत से पुण्य, पाप और बन्ध अजीव कोटि के हैं और आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव कोटि के। उसका कारण स्वामीजी ने संक्षेप में प्रस्तुत ढाल में ही बतला दिया है।

यहाँ 'पाना की चर्चा' से कुछ प्रश्नोत्तरों को उद्धृत किया जाता है, जिससे स्वामीजी का मन्तव्य स्पष्ट होता है :

प्रश्नोत्तर—१

१—जीव जीव है या अजीव ? जीव। किस न्याय से ? सदाकाल जीव जीव ही रहता है; कभी अजीव नहीं होता।

२—अजीव जीव है या अजीव ? अजीव। किस न्याय से ? अजीव सदाकाल अजीव ही रहता है, कभी जीव नहीं होता।

३—पुण्य जीव है या अजीव ? अजीव। किस न्याय से ? शुभ कर्म पुण्य पुद्गल है। पुद्गल अजीव है।

४—पाप जीव है या अजीव ? अजीव। किस न्याय से ? पाप अशुभ कर्म है। कर्म पुद्गल है। पुद्गल अजीव है।

५—आस्रव जीव है या अजीव ? जीव है। किस न्याय से ? शुभ-अशुभ कर्मों को ग्रहण करनेवाला आस्रव है। वह जीव है।

६—संवर जीव है या अजीव ? जीव है। किस न्याय से ? कर्मों को जो रोकता है, वह संवर जीव है।

७—निर्जरा जीव है या अजीव ? जीव है। किस न्याय से ? कर्म को तोड़ता है, वह जीव है।

८—बन्ध जीव है या अजीव? अजीव है। किस न्याय से ? शुभ-अशुभ कर्म का बंध अजीव है।

९—मोक्ष जीव है या अजीव ? जीव है। किस न्याय से ? समस्त कर्मों को दूर करनेवाला मोक्ष जीव है।

प्रश्नोत्तर—२

१—जीव रूपी है या अरूपी ? अरूपी है। किस न्याय से ? पाँच वर्ण आदि नहीं पाये जाते, इस न्याय से।

२—अजीव रूपी है या अरूपी ? रूपी-अरूपी दोनों ही है। किस न्याय से ? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—ये चार अरूपी हैं और एक पुद्गलास्तिकाय रूपी है।

३—पुण्य रूपी है या अरूपी ? रूपी है। किस न्याय से ? पुण्य शुभ कर्म है। कर्म पुद्गल है, अरूपी है।

४—पाप रूपी है या अरूपी ? रूपी है। किस न्याय से ? पाप अशुभ कर्म है। कर्म पुद्गल है। वह रूपी है।

५—आस्रव रूपी है या अरूपी ? अरूपी। किस न्याय से ? आस्रव जीव का परिणाम है। जीव का परिणाम जीव है। जीव अरूपी है क्योंकि उसमें पाँच वर्ण आदि नहीं पाए जाते।

६—संवर रूपी है या अरूपी ? संवर अरूपी है। किस न्याय से ? क्योंकि उसमें पाँच वर्णादि नहीं पाये जाते।

७—निर्जरा रूपी है या अरूपी ? अरूपी है। किस न्याय से ? निर्जरा जीव का परिणाम है। उसमें पाँच वर्णादि नहीं पाये जाते।

८—बन्ध रूपी है या अरूपी ? रूपी है। किस न्याय से ? बन्ध शुभ-अशुभ कर्मरूप है। कर्म पुद्गल है। वह रूपी है।

९—मोक्ष रूपी है या अरूपी ? अरूपी है। किस न्याय से ? समस्त कर्मों से मुक्त करे, वह मोक्ष है। वह अरूपी है। सिद्ध जीव में पाँच वर्णादि नहीं पाये जाते।

प्रश्नोत्तर—३

१—नव पदार्थों में जीव कितने हैं अजीव कितने हैं ? जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये पाँच जीव हैं और अजीव, पुण्य, पाप और बन्ध—ये चार अजीव हैं।

२—नव पदार्थों में रूपी कितने हैं और अरूपी कितने ? जीव, आस्रव संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये पाँच अरूपी हैं, अजीव रूपी-अरूपी दोनों है। पुण्य, पाप और बन्ध रूपी हैं।

ज्ञेय-अज्ञेय, हेय-उपादेय के विषय में स्वामीजी के विचार नीचे दिये जाते हैं। उन्होंने कहा है :

१—नवों ही पदार्थ ज्ञेय हैं। जीव को जीव जानो। अजीव को अजीव जानो। पुण्य को पुण्य जानो। पाप को पाप जानो। आस्रव को आस्रव जानो। संवर को संवर जानो। निर्जरा को निर्जरा जानो। बन्ध को बन्ध जानो। मोक्ष को मोक्ष जानो। उनके अनुसार केवल जीव और अजीव पदार्थ ही ज्ञेय नहीं जैसा कि यंत्र में कहा है।

२—नौ पदार्थों में तीन आदरणीय हैं—(१) संवर, (२) निर्जरा और (३) मोक्ष और शेष छोडने योग्य हैं। इस विषय में निम्न प्रश्नोत्तर प्राप्त हैं :

(१) जीव छोड़ने योग्य है या आदर-योग्य ? छोड़ने योग्य। किस न्याय से ? जीव स्वयं का भाजन करे अर्थात् आत्म-रमण करे। अन्य जीव पर ममत्व न करे।

(२) अजीव छोड़ने योग्य है या आदर-योग्य ? छोड़ने-योग्य। किस न्याय से ? अजीव है इसलिए।

(३) पुण्य छोड़ने-योग्य है या आदर-योग्य ? छोडने-योग्य। किस न्याय से ? पुण्य शुभ कर्म है। कर्म पुद्गल है, वह छोड़ने-योग्य है।

(४) पाप छोड़ने-योग्य है या आदर-योग्य है ? छोड़ने-योग्य है। किस न्याय से ? पाप अशुभ कर्म है, पुद्गल है, जीव को दुःखदायी है ? अतः छोड़ने-योग्य है।

(५) आस्रव छोड़ने-योग्य है अथवा आदर-योग्य है ? छोड़ने-योग्य। किस न्याय से ? आस्रवद्वार से जीव के कर्म लगते हैं। आस्रव कर्म आने के द्वार हैं, अतः छोड़ने-योग्य हैं।

(६) संवर छोड़ने-योग्य है अथवा आदर-योग्य ? आदर-योग्य। किस न्याय से ? संवर कर्मों को रोकता है, अतः आदर-योग्य है।

(७) निर्जरा छोड़ने योग्य है अथवा आदर-योग्य ? आदर-योग्य। किस न्याय से ? देशत: कर्म तोड़कर जीव का देशत: उज्ज्वल होना निर्जरा है। अत: वह आदर योग्य है।

(८) बंध छोड़ने-योग्य है अथवा आदर-योग्य ? छोड़ने-योग्य। किस न्याय से ? चूंकि शुभ-अशुभ कर्म का बन्ध छोड़ने-योग्य है।

(९) मोक्ष छोड़ने-योग्य है अथवा आदर-योग्य ? आदर-योग्य। किस न्याय से ? सकल कर्मों का क्षयकर जीव निर्मल होता है, सिद्ध होता है, अत: आदर-योग्य है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

उद्धृत, उल्लिखित अथवा अवलोकित ग्रन्थों की तालिका

ग्रन्थ-नाम	प्रकाशक या लेखक
१—अनुयोगद्वार सूत्र	शाह वेणीचंद्र सुरचंद, बम्बई
२—अष्ट प्रकरण (श्री हरिभद्रसूरि)	श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई
३—अष्ट प्रकरण "	श्री भीमसिंह माणेक, बम्बई
४—अनुत्तरोपपातिकदशा सूत्रम्	जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर
५—अंगुत्तर निकाय (हिन्दी अनुवाद)	महाबोधि सभा, कलकत्ता
५-क—अर्हत्दर्शन दीपिका	श्री हीरालाल रसिकलाल कापड़िया
६—आचाराङ्ग सूत्र	जैन साहित्य संशोधक समिति, पूना,
७— "	जैन साहित्य समिति, उज्जैन
८—आचाराङ्ग सूत्र दीपिका	श्री मणिविजय गणिवर ग्रन्थमाला, भावनगर
९—आवश्यक सूत्र	श्री श्वे०स्था० जैन शास्त्रोधार समिति, राजकोट
१०—आत्म-सिद्धि (श्रीमद् राजचन्द्र)	मनसुखलाल रवजीभाई, बम्बई
११—उत्तराध्ययन सूत्र	Dr. Jarl Charpentier
१२—उत्त० सूत्र की नेमिचन्द्रीय टीका	शाह फूलचँद खीमचंद, वलाद
१३—उपासकदशाङ्ग सूत्रम्	श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन संघ, कराची
१४—ओववाइय सुत्तं	प्रो० एन० जी० सुरु
१५—औपपातिक सूत्र	श्री भूरालाल कालीलाल, सूरत
१६—कर्म ग्रन्थ भा० १-४ (हिन्दी)	आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचार मण्डल, आगरा
१७—कर्म ग्रन्थ टीका	
१८—गणधरवाद	गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद
१९—गोम्मटसार	दी सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ
२०—चन्द्रप्रभ चरितम्	
२१—जैनागम-तत्त्व-दीपिका	श्री श्वे० साधुमार्गी जैन हितकारिणी संस्था, बीकानेर
२१-क—जैन तत्त्व प्रकाश (भाग १-२)	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता

२२—जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व — मोतीलाल बेंगानी चेरिटेबल ट्रस्ट, (आदर्श साहित्य संघ), कलकत्ता
२३—जैन धर्म और दर्शन — सेठ मन्नालाल सुराणा मेमोरियल ट्रस्ट, (आदर्श साहित्य संघ), कलकत्ता
२४—जोगां री चर्चा — आचार्य भीखणजी (अप्रकाशित)
२५—जीव-अजीव — श्री जैन श्वे० तेरापंथी सभा, श्री डूंगरगढ़
२६—झीणी चर्चा — श्रीमज्जयाचार्य (निजी संग्रह की हस्तलिखित प्रति)
२७—टीकम डोसी की चर्चा — आचार्य भीखणजी (अप्रकाशित)
२८—तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् (सिद्धसेन वृत्ति) — जीवनचन्द साकरचंद जवेरी, बम्बई
२९—तत्त्वार्थसूत्र सभाष्य — श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई
३०— " सर्वार्थ सिद्धि — भारतीय ज्ञान पीठ, काशी
३१— " राजवार्तिक
३२— " श्रुतसागरीय वृत्ति
३३— " (गुज० तृतीय आवृत्ति) — जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद
३४—तत्त्वार्थसूत्र सार — श्री अ०वि० जैन मिशन, अलीगंज
३५—तीन सौ छः बोल की हुण्डी — श्रीमज्जयाचार्य
३६—तेराद्वार — श्रीमद् भीखणजी
३७—दशाश्रुतस्कन्ध — जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर
३८—दसवेयालिय सुत्तं — सेठ आनन्दजी कल्यानजी, अहमदाबाद
३९—दशवैकालिक सूत्रम् (हारि० वृत्ति) — मनसुखलाल हीरालाल, बम्बई
४०—द्रव्यसंग्रह — जैन साहित्य प्रचारक कार्यालय, बम्बई
४१—द्वादशानुप्रेक्षा — पाटनी दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, मारोठ, राजस्थान
४२—धर्मशर्माभ्युदयम् — भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
४३—नवतत्त्व नो सुन्दर बोध — श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
४४—नवतत्त्व प्रकरणम् (सुमङ्गलाटीका) — श्रीलाल चन्द्र, बडोदरा
४५—नवतत्त्व (हिन्दी अनुवाद सहित) — श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा
४६—नवतत्त्व अर्थ विस्तार सहित — जे०जे० कामदार
४७—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह — श्री माणेकलाल भाई
४८—नवतत्त्व प्रकरण — पं० भगवानदास हरषचंद, अहमदाबाद
४९—नवतत्त्व विस्तारार्थ — जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद

५०—नवतत्त्व प्रकरण — श्री जैन श्रेयस्कर मंडल, मेहसाना
५१—नवतत्त्व स्तवन — श्री विवेक विजय जी
५२—नवसद्भाव पदार्थ निर्णय — श्री धनसुखदास हीरालाल आँचलिया, गंगाशहर
५३—नन्दी सूत्र — रायबहादुर मोतीलाल मुथा, सतारा सिटी
५४—नायाधम्मकहाओ — प्रो० एन० व्ही० वैद्य, पूना
५५—पञ्चास्तिकाय (द्वि० आ०) — श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई
५६— ,, (तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति) — श्री अमृतचन्द्राचार्य
५७— ,, (तात्पर्य वृत्ति) — श्री जयसेनाचार्य
५८—परमात्म प्रकाश — सेठ मणीलाल रेवाशंकर जौहरी, बम्बई
५९—पचीस बोल
६०—पण्णवणा — आगमोदय समिति, मेहसाना
६१—प्रज्ञापना सूत्र (अनु०) — जैन सोसायटी, अहमदाबाद
६२—प्रज्ञापना सूत्र टीका — जैन सोसायटी, अहमदाबाद
६३—प्रवचन सार — श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई
६४—प्रश्नव्याकरण सूत्र — श्री हस्तिमल्लजी सुराणा, पाली,राजस्थान
६५—प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध — श्री धनसुखदास हीरालाल आँचलिया, गंगाशहर
६६—पाँच भाव की चर्चा — आचार्य भीषणजी (अप्रकाशित)
६७—पाँच इन्द्रिया नी ओलखावण
६८—बावन बोल को थोकड़ो
६९—भगवती सूत्र — श्री मनसुखलाल रवजीभाई मेहता, बम्बई
७०—भगवती सार (गुज०) — श्री जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद
७१—भगवती सूत्र (अभयदेव टीका) — आगमोदय समिति, मेहसाना
७२—भगवती सूत्र की टीका — श्री दानशेखर सूरि
७३—भगवती सूत्र के थोकड़े — श्री अगरचंच भैरोंदान सेठिया, बीकानेर
७४—भगवती नी जोड़ — श्री जयाचार्य (अप्रकाशित)
७५—भगवत् गीता — गीता प्रेस, गोरखपुर
७६—भाव संग्रहादि — हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर, बम्बई
७७—भ्रमविध्वंसनम् — श्री ईसरचन्द चोपड़ा, बीकानेर
७८—भिक्षु-ग्रंथ रत्नाकर (खंड १-२) — श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता
७९—योगशास्त्र — श्री जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद
८०—विशेषावश्यक भाष्य — आगमोदय समिति, मेहसाना

८१—स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग) (द्वि० संस्करण)	सेठ माणेकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद
८२—स्थानांग-समवायांग (गुज०)	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
८३—समवायाङ्ग सूत्र	आगमोदय समिति, मेहसाना
८४—समीचीन धर्मशास्त्र	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
८५—समयसार	श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई
८६—सागारधर्मामृत	सरल प्रज्ञा पुस्तकमाला, मडावरा, झाँसी
८७—सद्धर्ममण्डनम्	श्रीतनसुखदास फूसराज दूगड़, सरदारशहर
८८—सूयगडांग सूत्र	श्री विजयदेव सूरि संघ, बम्बई
८९—सयंम प्रकाश	आ० श्रुतसागर दिगम्बर जैन ग्रंथमाला समिति, जयपुर
९०—सुत्तागमे	सूत्रागम प्रकाशक समिति, गुडगाँव कैन्ट
९१—शान्त सुधारस	श्री विनय विजय जी
९२—ज्ञाताधर्म कथा टीका	श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, सूरत
९३—आचार्य कुन्दकुन्दना त्रिरत्नो	श्री जैन साहित्य प्रकाशन समिति अहमदाबाद
९४—A Text Book of Inorganic Chemistry	: J. R. Partington, M.B.E., D. Sc.
९५— do	: G. S. Newth, F. I. C., F. C. S.
९६— do	: Prof. L. M. Mitra, M. Sc., B. L.
९७— The Doctrine of karman in Jain Philsophy	: Dr. Helmuth Von Glasenapp
९८— Foundamental concepts of Inorganic chemistry	: Esmarch S. Gilreath
९९— General and Inorganic Chemistry	: P. J. Durrant, M. A., Ph. D.
१००— General Chemistry	: Linus Pauling
१०१— Panchastikayasara	: A. Chakravarti
१०२— Sacred Books of the East (Vol. XXII, XLV)	: Dr. F. Max Muller

शब्द-सूची

शब्द-सूची